JÑĀNA-PĪTHA-MŪRTIDEVI JAINA GRANTHAMĀLĀ

SANSKRIT GRANTHA No. 3

NYĀYA VINIS'CAYA VIVARANA

OF

S'RĪ VĀDIRĀJA SŪRI

the commentary on

BHATTĀKALANKADEVA'S

NYĀYA VINISCAYA

Vol. I

[PRATYAKSA PRASTĀVA]



EDITED WITH

introduction, appendices, variant readings, comperative notes etc

BY

MAHENDRA KUMĀR JAIN

ACĀRYA JAIN & PRĀCĪNA NYĀYATĪRTHA ETC

Professor of Bauddha Darśana

BANARAS HINDU UNIVERSITY

Published by

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA, KASHI

First Edition } *600 Copies*

MAGHA VIRA SAMVAT 2475
VIKRAMA SAMVAT 2005
FEBRUARY 1949

Price Rs 15/-

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪṬHA, KASHI

FOUNDED BY

SETH SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SRI MŪRTI DEVI

JÑĀNA-PĪṬHA MŪRTI DEVI JAIN GRANTHAMĀLA

IN THIS GRANTHAMĀLA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMIC PHILOSOPHICAL PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRANSHA, HINDI, KANNADA & TAMIL ETC, WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ALSO WILL BE PUBLISHED.

GENERAL EDITOR OF THE SANSKRIT SECTION

MAHENDRA KUMAR JAIN

NYĀYĀCĀRYA JAINA & PRĀCĪNA NYĀYATĪRTHA

Professor of Bauddha Darśana Sanskrit Mahavidyalya

BANARAS HINDU UNIVERSITY.

SANSKRIT GRANTHA NO. 3

PUBLISHER

AYODHYA PRASAD GOYALIYA,

SECY., BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA,

DURGAKUND ROAD, BANARAS CITY.

Founded in Falguna Krishna 9, Vira Sam. 2470

Vikrama Samvat 200
18th Feb. 1944.



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

अनुक्रम

सम्पादकीय

सन् १९३३ से ही जब मैंने न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन आरम्भ किया था, यह संकल्प था कि अकलङ्कदेव के ग्रन्थों का शुद्ध सम्पादन किया जाय। इस संकल्प के अनुसार अकलङ्कग्रन्थत्रय में न्यायविनिश्चय की मूल कारिकाएँ भी उत्थान वाक्यों के साथ प्रकाशित की जा चुकी हैं। इन कारिकाओं को छांटते समय न्यायविनिश्चयविवरण की उत्तरप्रान्तीय कतिपय प्रतियाँ देखी गई थीं। ये प्रतियाँ अशुद्धिबहुल तो थीं हीं पर इनमें एक एक दो दो पत्र तक के पाठ यत्र तत्र छूटे हुए थे। उस समय मूडबिद्री के वीरवाणी विलास भवन से ताडपत्रीय प्रति भी मँगाई थी। उसके देखने से यह आशा हो गई थी कि इसका भी शुद्ध सम्पादन हो सकता है। प्रमाणवार्तिकालङ्कार जैसे पूर्वपक्षीय बौद्ध ग्रन्थों की प्रतियाँ प्राप्त हो जाने से यह कार्य असाध्य नहीं रहा।

सन् १९४४ मे दानवीर साहु शान्तिप्रसाद जी ने ज्ञानपीठ की स्थापना की। इसमें स्व० मातेश्वरी मूर्तिदेवी के स्मरणार्थ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला प्रारम्भ की गई। संस्कृत विभाग मे न्यायविनिश्चयविवरण का सम्पादन लगातार चलता रहा है। इसके संशोधनार्थ बनारस, आरा, सोलापुर, सरसावा, मूडबिद्री और वारंग के मठ से चार कागज की तथा दो ताडपत्र की प्रतियाँ एकत्रित की गईं।

बनारस की प्रति स्याद्वाद जैन विद्यालय के अकलङ्क सरस्वती भवन की है। इसकी संज्ञा ब० रखी गई है। अशुद्ध पर सुवाच्य है।

आरा की प्रति जैन सिद्धान्त भवन की है। इसकी संज्ञा आ० रखी है। यह बनारस की प्रति की तरह ही अशुद्ध है। बनारस की प्रति इसी प्रति से लिखी गई है।

सोलापुर से ब० सुमति बाई शाह ने जो प्रति भिजवाई थी वह बंबई के ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन की प्रति थी। यह भी अशुद्धप्राय है। इसकी संज्ञा स० है।

सरसावा से पं परमानन्द जी शास्त्री ने वीर सेवा मन्दिर की प्रति भिजवाई थी। यह पूर्वोक्त प्रतियों से कुछ शुद्ध है। इसकी संज्ञा प० है। ये प्रतियाँ कागज पर लिखी गई है तथा इनमें पंक्तियाँ तो अनेक स्थानों पर छूटी ही है एक एक दो दो पत्र तक के पाठ छूटे हैं।

वीरवाणी विलास भवन मूडबिद्री से जो ताडपत्रीय प्रति कनडी लिपि में प्राप्त हुई थी, उसे हमने आदर्श प्रति माना है। इसमें २७७ पत्र, एक पत्र मे ९-१० पंक्ति तथा प्रति पंक्ति १५३-१५४ अक्षर हैं। यह प्रति प्रायः पूर्ण और शुद्ध है। मूल कारिकाओं के उत्थान वाक्य के आगे ꣸ इस प्रकार का कारिका भेदक चिन्ह बना हुआ है। इस प्रति में कहीं कहीं टिप्पण भी हैं, जिन्हें इस संस्करण में 'ता० टि०' इस संकेतके साथ टिप्पण मे दे दिया है।

जहाँ इस प्रति में बिलकुल ही अशुद्ध पाठ रहा है वहाँ इसका पाठ पाठान्तरटिप्पण मे देकर अन्य प्रतियों का पाठ ऊपर दिया है। सभी प्रतियों मे जहाँ अशुद्ध पाठ है तथा सम्पादक को शुद्ध पाठ सूझा है, ऐसे स्थान में ताडपत्रीय प्रति का अशुद्ध पाठ ही मूल में रखा है तथा सम्पादक द्वारा किया गया संशोधन गोल ( ) ब्रेकिट में दिया है या सन्देहात्मक (?) चिह्न दे दिया है। हमने स्वसंशोधित पाठ मूल में शामिल करके नई प्रति को जन्म नहीं दिया है। ऐसे स्थान में ताडपत्रीय प्रति के सिवाय अन्य प्रतियों के पाठ टिप्पण में दे दिए है।

एक ताडपत्रीय प्रति वारङ्ग के मठ की भी हमें प्राप्त हुई थी। इसका उपयोग भी संदिग्ध-पाठों के निर्णय के लिए बराबर किया गया है। यह प्रति प्रायः अशुद्ध है।

टिप्पण—इस ग्रन्थ में भी न्यायकुमुदचन्द्र जैसे तुलनात्मक टिप्पण देने का विचार था। वैसी शक्यता भी थी और सामग्री भी। पर यह कार्य बहुत समय और शक्ति ले लेता। अतः मध्यम मार्ग का अवलम्बन लेकर टिप्पण संक्षिप्त कर दिए हैं। इनमें महत्त्व के पाठभेद तथा पूर्वपक्ष का तात्पर्य उद्घाटन

करने के लिए तत्तत्पूर्वपक्षीय ग्रन्थों के पाठ उसकी टीका तथा अर्थबोधक टिप्पण ही विशेषरूप से लिये हैं। ग्रन्थ को समझने में इनसे पर्याप्त सहायता मिलेगी।

टाइप—मूल कारिकाओं के लिए ग्रेट नं १ अवतरण वाक्यों के लिए ग्रेट नं २ और विवरण के लिए ग्रेट नं ४ टाइप का उपयोग किया गया है। टिप्पण में ग्रन्थों के नाम तथा प्रतियों के नाम काले टाइप में दिए गए हैं।

प्रस्तावना—में ग्रन्थ और ग्रन्थकार से सम्बन्ध रखने वाले कुछ खास मुद्दों पर संक्षेप में विचार किया है। कुछ प्रमेयों को नए दृष्टिकोण से देखने का भी लघुप्रयत्न हुआ है। स्याद्वाद और सप्तभंगी के विषय में प्रचलित अनेक भ्रान्तमतों की समीक्षा की गई है। ग्रन्थकार अकलङ्क के समय के सम्बन्ध में विस्तार से लिखने का विचार था पर अपेक्षित सामग्री की पूर्णता न होने से कुछ काल के लिए यह कार्य स्थगित कर दिया है। ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला में आगे न्यायविनिश्चय विवरण का द्वितीय भाग तत्त्वार्थवार्तिक और सिद्धिविनिश्चय टीका ये अकलङ्कीय ग्रन्थ प्रकाशित होने वाले हैं। जिनमें न्यायविनिश्चय विवरण द्वितीय भाग आधा छप भी गया है। तत्त्वार्थवार्तिक तीन ताडपत्रीय तथा अनेक कागज पर लिखी गई प्राचीन प्रतियों से शुद्धतम रूप में सम्पादित हो चुका है तथा सिद्धिविनिश्चयटीका पर भी पर्याप्त श्रम किया जा चुका है। आशा है यह समस्त अकलङ्कवाङ्मय शीघ्र ही प्रकाश में आएगा। तब तक अकलङ्क के समय आदि की साधिका सामग्री पर्याप्त मात्रा में प्रकाश में आयगी।

ज्ञानपीठ के अनुसन्धान विभाग में अप्रकाशित अकलङ्कीय वाङ्मय का प्रकाशन तथा अशुद्ध प्रकाशित का शुद्ध प्रकाशन और तत्त्वार्थसूत्र की अप्रकाशित टीकाओं का प्रकाशन यही कार्य मुख्यतया मेरे कार्यक्रम में हैं। विविध विषय के संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के दर्जनों ग्रन्थ अधिकारी विद्वानों द्वारा सम्पादित हो चुके हैं, जो छपाई की सुविधा होते ही प्रकाशित होंगे। संस्कृतिसेवकों, जिनवाणीभक्तों और साहित्यानुरागियों को ज्ञानपीठ के साहित्य का प्रसार करके उसके इस सांस्कृतिक अनुष्ठान में सहयोग देना चाहिए।

आभार—दानवीर साहु शान्तिप्रसाद जी तथा उनकी समरूपा धर्मपत्नी सौजन्यमूर्ति रमाजी ने सांस्कृतिक साहित्योद्धार और नव साहित्य निर्माण की पुनीत भावना से भारतीय ज्ञानपीठ का संस्थापन किया है और इसमें धर्ममना स्व॰ मातेश्वरी मूर्तिदेवी की भव्य भावना को मूर्तरूप देने के लिए ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला का संस्कृत प्राकृत हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में प्रकाशन किया है। इनकी यह संस्कृति सेवा भारत के गौरवमय इतिहास का आलोकमय पृष्ठ बनेगी। इस भद्र दम्पति से ऐसे ही अनेक सांस्कृतिक कार्य होने की आशा है।

श्रद्धेय ज्ञानधन पं॰ सुखलाल जी की शुभ भावनाएँ तथा उपलब्ध सामग्री का यथेष्ट उपयोग करने की सुविधाएँ और विचारोत्तेजन आदि मेरे मानस विकास के सम्बल हैं। श्रीमान् पं॰ नाथूरामजी प्रेमी का किन शब्दों में स्मरण किया जाय, वे चतुर माली के समान ज्ञानाङ्कुरों को पल्लवित और पुष्पित करने में अपनी शक्ति का लेश भी नहीं छिपाते। आपका वादिराज सूरि वाला निबन्ध ग्रन्थकार भाग में उद्धृत किया गया है। घुमक्कड़ महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी कठिन तिब्बत यात्रा में प्राप्त प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्तिकालङ्कार की प्रति देकर तो इस ग्रन्थ के शुद्ध सम्पादन का द्वार ही खोल दिया है। मैं इन सब ज्ञानपथगामियों का पुनः पुनः स्मरण करता हूँ।

श्री पं॰ देवरभट्ट शर्मा न्यायाचार्य ने ताडपत्रीय कन्नड़ प्रति का आद्यन्त वाचन ही नहीं किया किन्तु सम्पादन में भी अपने वैदुष्य से पूरा पूरा सहयोग दिया है। पं॰ महादेवजी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य ने इस ग्रन्थ के मूल संशोधन में पूर्ण सहकार किया है। श्री पं॰ भुजबली जी शास्त्री तथा पं॰ लोकनाथजी शास्त्री मूडबिद्री ने ताडपत्रीय प्रतियों को भेजा है। श्री पं॰ नेमिचन्द्रजी आरा, पं॰ जुगलकिशोरजी मुख्तार सरसावा आदि महानुभावों ने अपने अपने ग्रन्थ भण्डार की प्रतियाँ सम्पादनार्थ दीं। मैं इन सबका आभार मानता हूँ।

ज्ञानपीठ का अन्य कार्य देखते हुए इन चार वर्षों का समय जितनी भी निराकुलता से इस ज्ञानयज्ञ में लग सका है, उसका बहुत कुछ श्रेय ज्ञानपीठ के कर्ममना मन्त्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय को है। उनने अपनी जिम्मेवारी को सम्हाल कर भी कार्य में मुझे सदा उन्मुक्त रखा है।

प्रत्येक कार्य सामग्री से होता है। मैं उस सामग्री का एक अङ्ग हूँ इससे अधिक कुछ नहीं।

भारतीय ज्ञानपीठ
मार्गशीर्ष शुक्ल १५
वीर सम्वत् २४७५

—महेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशन व्यय

२२५०) छपाई	१००) चित्र कवर
१०००) कागज	७५०) भेंट आलोचना
६००) जिल्द	२००) विज्ञापन
२२५२) सम्पादन	२०००) कमीशन आदि
२५००) व्यवस्था, प्रकाशन आदि	

कुल जोड़ ११६५०)

६०० प्रति छपी, लागत मूल्य १९॥)

कीमत १५) रु०

प्रस्तावना

१ ग्रन्थ विभाग

दर्शन—संसार के यावत् चर अचर प्राणियों में मनुष्य की चेतना सविशेष विकसित है। उसका जीवन अन्य प्राणियों की तरह केवल आहार निद्रा रक्षण और प्रजनन में ही नहीं बीतता किन्तु वह अपने स्वरूप, मरणोत्तर जीवन, जड़ जगत्, उससे अपने सम्बन्ध आदि के विषय में सहज गति से मनन-विचार करने का अभ्यासी है। सामान्यतः उसके प्रश्नों का दार्शनिक रूप इस प्रकार है—आत्मा क्या है? परलोक है या नहीं? यह जड़ जगत् क्या है? इससे आत्मा का क्या सम्बन्ध है? यह जगत् स्वयं सिद्ध है या किसी चेतन शक्ति से समुत्पन्न है? इसकी गतिविधि किसी चेतन से नियन्त्रित है या प्राकृतिक साधारण नियमों से आबद्ध? क्या असत् से सत् उत्पन्न हुआ? क्या किसी सत् का विनाश हो सकता है? इत्यादि प्रश्न मानव जाति के आदिकाल से बराबर उत्पन्न होते रहे हैं और प्रत्येक दार्शनिक मानस इनके समाधान का प्रयास करता रहा है। ऋग्वेद तथा उपनिषत्कालीन प्रश्नों का अध्ययन इस बात का साक्षी है। दर्शन शास्त्र ऐसे ही प्रश्नों के सम्बन्ध में ऊहापोह करता आया है। प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ की व्याख्या में मतभेद हो सकता है पर स्वरूप उसका विवाद से परे है किन्तु परोक्ष पदार्थ की व्याख्या और स्वरूप दोनों ही विवाद के विषय हैं। यह ठीक है कि दर्शन का क्षेत्र इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत दोनों प्रकार के पदार्थ हैं। पर मुख्य विचार यह है कि—दर्शन की परिभाषा क्या है? उसका वास्तविक अर्थ क्या है? वैसे साधारणतया दर्शन का मुख्य अर्थ साक्षात्कार करना होता है। वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान ही दर्शन का मुख्य अभिप्रेत है। यदि दर्शन का यही मुख्य अर्थ हो तो दर्शनों में भेद कैसा?, किसी भी पदार्थ का वास्तविक पूर्ण प्रत्यक्ष दो प्रकार का नहीं हो सकता। अग्नि का प्रत्यक्ष गरम और ठण्डे के रूप में दो तरह से न अनुभवगम्य है और न विश्वासयोग्य ही। फिर दर्शनों में तो पग-पग पर परस्पर विरोध विद्यमान है। ऐसी दशा में किसी भी जिज्ञासु को यह सन्देह स्वभावतः होता है कि—जब सभी दर्शन-प्रणेता ऋषियों ने तत्त्व का साक्षात्दर्शन करके निरूपण किया है तो उनमें इतना मतभेद क्यों है? या तो दर्शन शब्द का साक्षात्कार अर्थ नहीं है या, यदि यही अर्थ है तो वस्तु के पूर्ण स्वरूप का वह दर्शन नहीं है या वस्तु के पूर्ण स्वरूप का दर्शन भी हुआ हो तो उसके प्रतिपादन की प्रक्रिया में अन्तर है? दर्शन के परस्पर विरोध का कोई न कोई ऐसा ही हेतु होना चाहिये। दूर न जाइये, सर्वतः सन्निकट आत्मा के स्वरूप पर ही दर्शनकारों के साक्षात्कार पर विचार कीजिये—सांख्य आत्मा को कूटस्थनित्य मानते हैं। इनके मत से आत्मा का स्वरूप अनादि अनन्त अविकारी नित्य है। बौद्ध इसके विपरीत प्रतिक्षण परिवर्तित ज्ञानक्षणरूप ही आत्मा मानते हैं। नैयायिक वैशेषिक परिवर्तन तो मानते हैं, पर वह गुणों तक ही सीमित है। मीमांसक ने आत्मा में अवस्थाभेदकृत परिवर्तन स्वीकार करके भी द्रव्य नित्य स्वीकार किया है। योगदर्शन का भी यही अभिप्राय है। जैनों ने अवस्थाभेदकृत परिवर्तन के मूल आधार द्रव्य में परिवर्तनकाल में किसी भी अपरिवर्तिष्णु अंश को स्वीकार नहीं किया, किन्तु अविच्छिन्न पर्याय परम्परा के चालू रहने को ही द्रव्यस्वरूप माना है। चार्वाक इन सब पक्षों से भिन्न भूतचतुष्टयरूप ही आत्मा मानता मानता है। उसे आत्मा के स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में दर्शन नहीं हुए। यह तो हुई आत्मा के स्वरूप की बात। उसकी आकृति पर विचार कीजिये तो ऐसे ही अनेक दर्शन मिलते हैं। आत्मा अमूर्त है या मूर्त होकर भी इतना सूक्ष्म है कि वह हमारे चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई दे सकता इसमें किसी को विवाद नहीं है। इसलिए अतीन्द्रियदर्शी कुछ ऋषियों ने अपने दर्शन से बताया कि आत्मा सर्वव्यापक है। दूसरे ऋषियों को दिखा कि आत्मा अणुरूप है, वटबीज के समान अति सूक्ष्म है। कुछ को दिखा कि

देहरूप ही आत्मा है तो किन्हीं ने छोटे बड़े शरीर प्रमाण संकोच-विकासशील आत्मा का आकार बताया। विचारा जिज्ञासु अनेक पगडण्डियों वाले इस शतराहे पर खड़ा होकर दिग्भ्रान्त हुआ या तो दर्शन शब्द के अर्थ पर ही शंका करता है या फिर दर्शन की पूर्णता में ही अविश्वास करने को उसका मन होता है। प्रत्येक दर्शनकार यही दावा करता है कि उसका दर्शन पूर्ण और यथार्थ है। एक ओर मानव की मननशक्तिमूलक तर्क को जगाया जाता है और जब तर्क अपने यौवन पर आता है तभी रोक दिया जाता है और 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' 'तर्काप्रतिष्ठानात्' जैसे बन्धनों से उसे जकड़ दिया जाता है। 'तर्क से कुछ होने जानेवाला नहीं है' इस प्रकार के तर्कनैराश्यवाद का प्रचार किया जाता है। आचार्य हरिभद्र अपने लोकतत्त्वनिर्णय में स्पष्ट रूप से अतीन्द्रिय पदार्थों में तर्क की निरर्थकता बताते हैं—

"ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः॥"

अर्थात्–यदि तर्कवाद से अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप निर्णय की समस्या हल हो सकती होती, तो इतना समय बीत गया, बड़े बड़े तर्कशास्त्री तर्ककेशरी हुए, आज तक उनने इनका निर्णय कर दिया होता। पर अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूपज्ञान की पहेली पहिले से अधिक उलझी हुई है। जय हो उस विज्ञान की जिसने भौतिक तत्त्वों के स्वरूपनिर्णय की दिशा में पर्याप्त प्रकाश दिया है।

दूसरी ओर यह घोषणा की जाती है कि—

"तापात् छेदात् निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न त्वादरात्॥"

अर्थात्–जैसे सोने को तपाकर, काटकर, कसौटी पर कसकर उसके खोटे-खरे का निश्चय किया जाता है उसी तरह हमारे वचनों को अच्छी तरह कसौटी पर कसकर उनका विश्लेषण कर उन्हें ज्ञानाग्नि में तपाकर ही स्वीकार करना केवल अन्धश्रद्धा से नहीं। अन्धी श्रद्धा जितनी सस्ती है उतनी शीघ्र प्रतिपातिनी भी।

तब दर्शन शब्द का अर्थ क्या हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में पहिले ये विचार आवश्यक हैं कि—ज्ञान[1] वस्तु के पूर्णरूप को जान सकता है या नहीं? यदि जान सकता है तो इन दर्शन-प्रणेताओं को पूर्ण ज्ञान था या नहीं? यदि पूर्ण ज्ञान था तो मतभेद का कारण क्या है?

---

१ ज्ञान–जीव चैतन्य शक्तिवाला है। यह चैतन्यशक्ति जब बाह्य वस्तु के स्वरूपको जानती है तब ज्ञान कहलाती है। इसीलिए शास्त्रों में ज्ञान को साकार बताया है। जब चैतन्यशक्ति ज्ञेय को न जान कर स्वचैतन्याकार रहती है तब उस निराकार अवस्था में दर्शन कहलाती है। अर्थात् चैतन्यशक्ति के दो आकार हुए एक ज्ञेयाकार और दूसरा चैतन्याकार। ज्ञेयाकार दशाका नाम ज्ञान और चैतन्याकार दशाका नाम दर्शन है। चैतन्यशक्ति कांच के समान स्वच्छ और निर्विकार है। जब उस कांच को पीछे पारेकी कलई करके इस योग्य बना दिया जाता है कि उसमें प्रतिबिम्ब पड़ सके तब उसे दर्पण कहने लगते हैं। जब तक कांचमें कलई लगी हुई है तब तक उसमें किसी न किसी पदार्थ के प्रतिबिम्ब की सम्भावना है। यद्यपि प्रतिबिम्बाकार परिणमन कांच का ही हुआ है पर वह परिणमन उसका निमित्तजन्य है। उसी तरह निर्विकार चितिशक्ति का ज्ञेयाकार परिणमन जिसे हम ज्ञान कहते हैं मन शरीर इन्द्रिय आदि निमित्तों के आधीन है या यों कहिये कि जब तक उसकी बद्ध दशा है तब तक बाह्य निमित्तों के अनुसार उसका ज्ञेयाकार परिणमन होता रहता है। जब अशरीरी सिद्ध अवस्था में जीव पहुँच जाता है तब सकल उपाधियों से शून्य होने के कारण उसका ज्ञेयाकार परिणमन न होकर शुद्ध चिदाकार परिणमन रहता है। इस विवेचन का संक्षिप्त तात्पर्य यह है–

संसार के समस्त पदार्थ ज्ञेय अर्थात् ज्ञान के विषय होने योग्य हैं तथा ज्ञान पर्याय में ज्ञेय के जानने की योग्यता है, प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म जब हट जाता है तब वस्तु के पूर्ण स्वरूप का भान

---

१ शुद्ध कांच	१ मुक्त जीव का चैतन्य, शुद्ध चिन्मात्र
२ कलई लगा हुआ कांच दर्पण (प्रतिबिम्ब रहित)	२ शरीरी संसारी जीवका चैतन्य, पर ज्ञेयाकार शून्य, दर्शनावस्था निराकार
३ सप्रतिबिम्ब दर्पण	३ ज्ञेयाकार, साकार, ज्ञानावस्था

इस तरह चैतन्य के दो परिणमन—एक निर्विकार अखण्ड अनन्त शुद्ध चैतन्यरूप मोक्षावस्थाभावी और दूसरा शरीर कर्म आदि से बद्ध सविकारी औपाधिक संसारावस्थाभावी। संसारावस्थाभावी चैतन्यके दो परिणमन एक सप्रतिबिम्ब दर्पण की तरह ज्ञेयाकार और दूसरा निष्प्रतिबिम्ब दर्पण की तरह निराकार। ज्ञेयाकार परिणमन का नाम ज्ञान तथा निराकार परिणमन का नाम दर्शन। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में—जीवका लक्षण उपयोग किया है और उपयोग का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।" (त० वा० २।८) अर्थात्—उपलब्धा को (जिस चैतन्य में पदार्थों के उपलब्ध अर्थात् ज्ञान करने की योग्यता है) दो प्रकार के बाह्य तथा दो प्रकार के अभ्यन्तर हेतुओं के मिलने पर जो चैतन्य का अनुविधान करनेवाला परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं। इस लक्षण में आए हुए 'उपलब्धुः' और 'चैतन्यानुविधायी' ये दो पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। चैतन्यानुविधायी पद यह सूचना दे रहा है कि जो ज्ञान और दर्शन परिणमन बाह्याभ्यन्तर हेतुओं के निमित्त से हो रहे हैं वे स्वभावभूत चैतन्य का अनुविधान करनेवाले हैं अर्थात् चैतन्य एक अनुविधाता द्रव्यांश है और उसके ये बाह्याभ्यन्तर हेत्वधीन परिणमन हैं। चैतन्य इससे भी परे शुद्ध अवस्थामें शुद्ध परिणमन करनेवाला है। 'उपलब्धुः' पद चैतन्यकी उस दशाको सूचित करता है जबसे चैतन्यमें बाह्याभ्यन्तर हेतुओंसे निराकार या साकार होनेकी योग्यता होती है और यह अवस्था अनादि कालसे कर्मबद्ध होनेके कारण अनादिसे ही है। तात्पर्य यह कि अनादिसे कर्मबद्ध होनेके कारण चैतन्य कांचमें वह कलई लगी है जिससे वह दर्पण बना है इसीमें बाह्याभ्यन्तर हेतुओंके अधीन निराकार और साकार परिणमन होते रहते हैं जिन्हें क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहते हैं। पर अन्तमें शुद्ध अवस्थामें जब सारी कलई धुल जाती है विशुद्ध निर्विकार निर्विकल्प अनन्त अखण्ड चैतन्यमात्र रह जाता है तब उसका शुद्ध चिद्रूप ही परिणमन होता है। ज्ञान और दर्शन परिणमन बाह्याधीन हैं। उसमें ज्ञान और दर्शनका विभाग ही विलीन हो जाता है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक (१।९) में कहके स्वपरव्यवसायका विचार करते हुए अन्तमें परप्रत्यय ज्ञेयाकारको परका स्वरूप बताया है और निष्प्रतिबिम्ब ज्ञानाकारको परायत्त। यथा—

"चैतन्यशक्तेर्द्वौ आकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः।" इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि चैतन्यशक्तिके दो परिणमन होते हैं—ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार। राजवार्तिकमें ज्ञेयाकार परिणमन उसका साकार परिणमन है तथा ज्ञानाकार परिणमन निराकार। जब तक ज्ञेयाकार परिणमन है तब तक वह वास्तविक अर्थमें ज्ञानपर्यायको धारण करता है और निराकार दशामें दर्शन पर्यायको। धवला टीका (पु० १ पृ० १४८) और बृहद्द्रव्यसंग्रह (पृ० ८१–८२) में सैद्धान्तिक दृष्टिसे जो दर्शनकी व्याख्या की है उसका तात्पर्य भी यही है कि–विषय और विषयीके सन्निपातके पहिले जो चैतन्यकी निराकार परिणति या स्वाकार परिणति है उसे दर्शन कहते हैं। राजवार्तिकमें चैतन्यशक्तिके जिस ज्ञानाकारकी चर्चा है वह वास्तविकमें दर्शन ही है। इस विवेचनसे इतना तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि–चैतन्यकी एक धारा है जिसमें प्रतिक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक परिणमन होता रहता है और जो अनादि-अनन्तकाल तक प्रवाहित रहनेवाली है। इस धारामें कर्मबन्धन शरीर सम्बन्ध मन इन्द्रिय आदि के सन्निधानसे ऐसी कलई लग गई है जिसके कारण इसका ज्ञेयाकार-अर्थात् पदार्थोंके जानने रूप परिणमन होता है। इसका ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमानुसार विकास होता है। सामान्यतः शरीर सम्बन्धके

ज्ञान पर्याय के द्वारा अवश्यम्भावी है। ज्ञान पर्याय की उत्पत्ति का जो क्रम टिप्पणी में दिया है उसके अनुसार भी जिस किसी वस्तु के पूर्णरूप तक ज्ञानपर्याय पहुँच सकती है यह निर्विवाद है। जब ज्ञान वस्तु के अनन्तधर्मात्मक विराट् स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर सकता है और यह भी असम्भव नहीं है कि किसी आत्मा में ऐसी ज्ञान पर्याय का विकास हो सकता है तब वस्तु के पूर्णरूप के साक्षात्कारविषयक प्रश्न का समाधान हो ही जाता है। अर्थात् विशुद्ध ज्ञान में वस्तु के विराट् स्वरूप की झांकी आ सकती है और ऐसा विशुद्ध ज्ञान तत्त्वद्रष्टा ऋषियों का रहा होगा। परन्तु वस्तु का जो स्वरूप ज्ञान में झलकता है उस सब का शब्दों से कथन करना असम्भव है क्योंकि शब्दों में वह शक्ति नहीं है जो अनुभव को अपने द्वारा जता सके।

सामान्यतया यह तो निश्चित है कि वस्तु का स्वरूप ज्ञान का ज्ञेय तो है। जो भिन्न भिन्न ज्ञाताओं के द्वारा जाना जा सकता है वह एक ज्ञाता के द्वारा भी निर्मल ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। तात्पर्य यह कि वस्तु का अखण्ड अनन्तधर्मात्मक विराट्स्वरूप अखण्ड रूप से ज्ञान का विषय तो बन जाता है और तत्त्वज्ञ ऋषियों ने अपने मानसज्ञान और योगिज्ञान से उसे जाना भी होगा। परन्तु शब्दों की सामर्थ्य इतनी अल्प है कि जाने हुए वस्तु के धर्मों में अनन्त बहुभाग तो अनभिधेय हैं अर्थात् शब्द से कहे ही नहीं जा सकते। जो कहे जा सकते हैं उनका अनन्तवाँ भाग ही प्रज्ञापनीय अर्थात् दूसरों के लिए समझाने लायक होता है। जितना प्रज्ञापनीय है उसका अनन्तवाँ भाग शब्द-श्रुतनिबद्ध होता है। अतः कदाचित् दर्शनप्रणेता ऋषियों ने वस्तुतत्त्व को अपने निर्मल ज्ञान से अखण्डरूप जाना भी हो तो भी एक ही वस्तु के जानने के भी दृष्टिकोण जुदे जुदे हो सकते हैं। एक ही पुष्प को वैज्ञानिक, साहित्यिक, आयुर्वेदिक तथा जनसाधारण आखों से समग्र भावसे देखते हैं पर वैज्ञानिक उसके सौन्दर्य पर मुग्ध न होकर उसके रासायनिक संयोग पर ही विचार करता है। कवि को उसके रासायनिक मिश्रण की कोई चिन्ता नहीं, कल्पना भी नहीं, वह तो केवल उसके सौन्दर्य पर मुग्ध है और वह किसी कमनीय कामिनी के उपमालंकार में गूँथने की कोमल कल्पना से आकलित हो उठता है। जब कि वैद्यजी उसके गुणदोषों के विवेचन में अपने मन को केन्द्रित कर देते हैं। पर सामान्य जन उसकी सीधी सीधी मोहक सुवास से वासित होकर ही अपने पुष्पज्ञान की परिसमाप्ति कर देता है। तात्पर्य यह कि वस्तु के अनन्त धर्मात्मक विराट्स्वरूप का अखण्ड भाव से ज्ञान के द्वारा प्रतिभास होने पर भी उसके विवेचक अभिप्राय

साथ ही इस चैतन्यशक्तिका कलईवाले कांचकी तरह दर्पणवत् परिणमन हो गया है। इस दर्पणवत् परिणमनवाले समयमें जितने समय तक वह चैतन्य दर्पण किसी ज्ञेयके प्रतिबिम्बको लेता है अर्थात् उसे जानता है तब तक उसकी वह साकार दशा ज्ञान कहलाती है और जितने समय उसकी निराकार दशा रहती है वह दर्शन कही जाती है। इस परिणामी चैतन्यका सांख्यके चैतन्यसे भेद स्पष्ट है। सांख्यका चैतन्य सदा अविकारी परिणमनशून्य और कूटस्थ नित्य है जब कि जैनका चैतन्य परिणमन करनेवाला परिणामी नित्य है। सांख्यके यहाँ बुद्धि या ज्ञान प्रकृतिका धर्म है जब कि जैनसम्मत ज्ञान चैतन्यकी ही पर्याय है। सांख्यका चैतन्य संसार दशामें भी ज्ञेयाकार परिच्छेद नहीं करता जब कि जैनका चैतन्य उपाधि दशामें ज्ञेयाकार परिणत होता है उन्हें जानता है। स्थूल भेद तो यह है कि ज्ञान जैनके यहाँ चैतन्यकी पर्याय है जब कि सांख्यके यहाँ प्रकृतिकी। इस तरह ज्ञान चैतन्यकी औपाधिक पर्याय है और यह संसार दशामें बराबर चालू रहती है जब दर्शन अवस्था होती है तब ज्ञान अवस्था नहीं होती और जब ज्ञान पर्याय होती होती है तब दर्शन पर्याय नहीं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म इन्हीं पर्यायोंको हीनाधिक रूपसे आवृत करते हैं और इनके क्षयोपशम और क्षयके अनुसार इनका अपूर्ण और पूर्ण विकास होता है। संसारावस्थामें जब ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय हो जाता है तब चैतन्य शक्तिकी साकार पर्याय ज्ञान अपने पूर्ण रूपमें विकासको प्राप्त होती है।

१ "पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो॥"–गो० जीव० गा० ३३३।

व्यक्तिभेद से अनन्त हो सकते हैं। फिर अपने अपने अभिप्राय से वस्तुविवेचन करनेवाले शास्त्र भी अनन्त हैं। एक वैज्ञानिक अपने दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्य मानकर कवि या वैद्य के दृष्टिकोण या अभिप्राय को वस्तुतत्त्व का अग्राहक या असत्य ठहराता है तो वह यथार्थद्रष्टा नहीं है, क्योंकि पुष्प तो अखण्ड भाव से सभी के दर्शन का विषय हो रहा है और उस पुष्प में अनन्त अभिप्रायों या दृष्टिकोणों से देखे जाने की योग्यता है पर दृष्टिकोण और तत्प्रयुक्त शब्द तो जुदे जुदे हैं और वे आपस में टकरा भी सकते हैं। इसी टकराहट से दर्शनभेद उत्पन्न हुआ है। तब दर्शन शब्द का क्या अर्थ फलित होता है जिसे हरएक दर्शनकारियों ने अपने मत के साथ जोड़ा और जिसके नाम पर अपने अभिप्रायों को एक दूसरे से टकराकर उसके नाम को कलंकित किया ? एक शब्द जब लोक में प्रसिद्धि पा लेता है तो उसका लेबिल तत्त्वाभास-मिथ्या वस्तुओं पर भी लोग लगाकर उसके नाम से स्वार्थ साधने का प्रयत्न करते हैं। जब जनता को ठगने के लिए खोली गई दूकानें भी राष्ट्रीय-भण्डार और जनता-भण्डार का नाम धारण कर सकती हैं और गान्धी छाप शराब भी व्यवसाइयों ने चला रखी है। तो दर्शन के नाम पर यदि पुराने जमाने में तत्त्वाभास चल पड़े हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। सभी दार्शनिकों ने यह दावा किया है कि उनके ऋषि ने दर्शन करके तत्त्व का प्रतिपादन किया है। ठीक है, किया होगा ?

दर्शन का एक अर्थ है–सामान्यावलोकन। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्पर्क के बाद जो एक बार ही वस्तु के पूर्ण रूप का अखण्ड या सामान्य भाव से प्रतिभास होता है उसे शास्त्रकारों ने निर्विकल्प दर्शन माना है। इस सामान्य दर्शन के अनन्तर समस्त झगड़ों का मूल विकल्प आता है जो उस सामान्य प्रतिभास को अपनी कल्पना के अनुसार चित्रित करता है।

धर्मकीर्ति आचार्य ने प्रमाणवार्तिक (३।४४) में लिखा है कि—

"तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते ॥"

अर्थात् दर्शन के द्वारा दृष्ट पदार्थ के सभी गुण दृष्ट हो जाते हैं, उनका सामान्यावलोकन हो जाता है। पर भ्रान्ति के कारण उनका निश्चय नहीं हो पाता इसलिए साधनों का प्रयोग करके गतद्गुणों का निर्णय किया जाता है।

तात्पर्य यह कि–दर्शन एक ही बार में वस्तु के अखण्ड स्वरूप का अवलोकन कर लेता है और इसी अर्थ में यदि दर्शनशास्त्र के दर्शन शब्द का प्रयोग है तो मतभेद की गुञ्जाइश रह सकती है क्योंकि यह सामान्यावलोकन प्रतिनियत अर्थक्रिया का साधक नहीं होता। अर्थक्रिया के लिए तो तदंशों के निश्चय की आवश्यकता है। अतः असली कार्यकारी तो दर्शन के बाद होनेवाले सत्प्रयोगवाले विकल्प हैं। जिन विकल्पों को दर्शन का पृष्ठबल प्राप्त है वे प्रमाण हैं तथा जिन्हें दर्शन का पृष्ठबल प्राप्त नहीं है अर्थात् जो दर्शन के बिना मात्र कल्पनाप्रसूत हैं वे अप्रमाण हैं। अतः यदि दर्शन शब्द को आत्मा आदि पदार्थों के सामान्यावलोकन अर्थ में लिया जाता है तो भी मतभेद की गुंजाइश कम है। मतभेद तो उस सामान्यावलोकन की व्याख्या और निरूपण करने में है। एक सुन्दर स्त्री का मृत शरीर देखकर विरागी भिक्षु को संसार की असार दशा की भावना होती है। कामी पुरुष उसे देखकर सोचता है कि कदाचित् यह जीवित होती । तो कुत्ता अपना भक्ष्य समझकर प्रसन्न होता है। यद्यपि दर्शन तीनों को हुआ है पर व्याख्याएँ जुदी जुदी हैं। जहाँतक वस्तु के दर्शन की बात है वह विवाद से परे है। बाद तो शब्दों से शुरू होता है। यद्यपि दर्शन वस्तु के बिना नहीं होता और वही दर्शन प्रमाण माना जा सकता है जिसने अर्थ का बल प्राप्त हो अर्थात् जो पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो। पर यहाँ भी यही विवाद उपस्थित होता है कि कौन दर्शन पदार्थ की सत्ता का अविनाभावी है तथा कौन पदार्थ के बिना केवल काल्पनिक है ? प्रत्येक यही कहता है कि हमारे दर्शन ने आत्मा को उसी प्रकार देखा है जैसा हम कहते हैं, तब यह निर्णय कैसे हो कि यह दर्शन वास्तविक अर्थसमुद्भूत है और यह दर्शन मात्र कपोलकल्पित ? निर्विकल्पक दर्शन को

प्रमाण मानने वालों ने भी इसी निर्विकल्पक को प्रमाण माना है जिसकी उत्पत्ति पदार्थ से हुई है। अतः प्रश्न ज्यों का त्यों है कि दर्शन शब्द का वास्तविक क्या अर्थ हो सकता है?

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि अनन्तधर्मवाले पदार्थ को ज्ञान करने के दृष्टिकोणों को शब्द के द्वारा कहने के प्रकार अनन्त होते हैं। इनमें जो दृष्टियाँ वस्तु का स्पर्श करती हैं तथा अन्य वस्तुस्पर्शी दृष्टियों का समादर करती हैं वे सत्योन्मुख हैं। जिनमें यह आग्रह है कि मेरे द्वारा देखा गया ही वस्तुतत्त्व सच्चा और अन्य मिथ्या वे वस्तुस्वरूप से पराङ्मुख होने के कारण विसंवादिनी हो जाती हैं। इस तरह वस्तु के स्वरूप के आधार से दर्शन शब्द के अर्थ को बैठाने का प्रयास कथमपि सार्थक हो जाता है। जब वस्तु स्वयं नित्य अनित्य, एक-अनेक, भाव-अभाव, आदि विरोधी द्वन्द्वों का अविरोधी क्रीडास्थल है, इसमें उन सब को मिलकर रहने में कोई विरोध नहीं है, तब इन देखनेवालों (दृष्टिकोणों) को क्यों खुराफात सूझता है जो उन्हें एक साथ नहीं रहने देते! प्रत्येक दर्शन के ऋषि अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार वस्तु स्वरूप को देखकर उसका चिन्तन करते हैं और उसी आधार से विश्वव्यवस्था बैठाने का प्रयास करते हैं उनकी मनन-चिन्तनधारा इतनी तीव्र होती है कि उन्हें भावनावश उस वस्तु का साक्षात्कार जैसा होने लगता है। और इस भावनात्मक साक्षात्कार को ही दर्शन संज्ञा मिल जाती है।

सम्यग्दर्शन में भी एक दर्शन शब्द है। जिसका लक्षण तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थश्रद्धान किया गया है। यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ स्पष्टतया श्रद्धान ही है। अर्थात् तत्त्वों में दृढ़ श्रद्धा या श्रद्धान का होना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस अर्थ से जिसकी जिसपर दृढ़ श्रद्धा अर्थात् तीव्र विश्वास है वही उसका दर्शन है। और यह अर्थ जी को लगता भी है कि अमुक अमुक दर्शनप्रणेता ऋषियों को अपने द्वारा प्रणीत तत्त्व पर दृढ़ विश्वास था। विश्वास की भूमिकाएँ तो जुदी जुदी होती हैं। अतः जब दर्शन विश्वास की भूमिका पर आकर प्रतिष्ठित हुआ तब उसमें मतभेद का होना स्वाभाविक बात है। और इसी मतभेद के कारण मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना के जीवित रूप में अनेक दर्शनों की सृष्टि हुई और सभी दर्शनों ने विश्वास की भूमि में उत्पन्न होकर भी अपने में पूर्णता और साक्षात्कार का स्वांग भरा और अनेक अपरिहार्य मतभेदों की सृष्टि की। जिनके समर्थन के लिए शास्त्रार्थ हुए, संघर्ष हुए और दर्शनशास्त्र के इतिहास के पृष्ठ रक्तरंजित किए गए।

सभी दर्शन विश्वास की भूमि में पनपकर भी अपने प्रणेताओं में साक्षात्कार और पूर्ण ज्ञान की भावना को फैलाते रहे फलतः जिज्ञासु सन्देह के चौराहे पर पहुँच कर दिग्भ्रान्त होता गया। इस तरह दर्शनों ने अपने अपने विश्वास के अनुसार जिज्ञासु को सत्य साक्षात्कार या तत्त्व साक्षात्कार का पूरा भरोसा तो दिया पर तत्त्वज्ञान के स्थान में संशय ही उसके पल्ले पड़ा।

जैनदर्शन ने इस दिशा में उल्लेख योग्य मार्ग प्रदर्शन किया है। उसने श्रद्धा की भूमिका पर जन्म लेकर भी वह वस्तुस्वरूपस्पर्शी विचार प्रस्तुत किया है जिससे वह श्रद्धा की भूमिका से निकल कर तत्वसाक्षात्कार के रङ्गमंच पर आ पहुँचा है। उसने बताया कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ मूलतः एक रूप में सत् है। प्रत्येक सत् पर्यायदृष्टि से उत्पन्न विनष्ट होकर भी द्रव्य की अनाद्यनन्त धारा में प्रवाहित रहता है अर्थात् न वह कूटस्थनित्य है न सातिशय नित्य न अनित्य। किन्तु परिणामीनित्य है। जगत् के किसी सत् का विनाश नहीं हो सकता और न किसी असत् की उत्पत्ति। इस तरह स्वरूपतः पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक हैं। प्रत्येक पदार्थ नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् जैसे अनेक विरोधी द्वन्द्वों का अविरोधी आधार है। वह अनन्त शक्तियों का अखण्ड मौलिक है। उसका परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है पर उसकी मूलधारा का प्रवाह न तो कहीं सूखता है और न किसी दूसरी धारा में विलीन ही होता है। जगत्में अनन्त चेतन द्रव्य अनन्त अचेतन द्रव्य एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य एक आकाश द्रव्य, और असंख्यकाल द्रव्य अपनी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। वे कभी एक दूसरे में विलीन नहीं हो सकते और अपना मूलद्रव्यत्व नहीं छोड़ सकते। प्रत्येक प्रतिक्षण परिणामी है। उसका परिणमन सदृश भी होता है विसदृश भी। द्रव्यान्तरसङ्क्रान्ति इनमें कदापि नहीं हो सकती। इस तरह प्रत्येक चेतन

अचेतन द्रव्य अनन्त धर्मों का अखंड अविभागी मौलिक तत्त्व है। इसी अनेकान्त अनन्तधर्मा पदार्थ को प्रत्येक दार्शनिक ने अपने अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है।

कोई दार्शनिक वस्तु की सीमा को भी अपनी कल्पनादृष्टि से लाँघ गए हैं। यथा, वेदान्त दर्शन जगत् में एक ही सद्-ब्रह्म का अस्तित्व मानता है। उसके मत से अनेक सत् प्रातिभासिक हैं। एक सत् का चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त निष्क्रिय सक्रिय आदि विरुद्ध रूप से मायावश प्रतिभास होता रहता है। इसी प्रकार विज्ञानवाद या शून्यवाद ने बाह्य घट पटादि पदार्थों का लोप करके उनके प्रतिभास को वासनामूलक बताया है। जहाँ तक जैन दार्शनिकों ने जगत् का अवलोकन किया है वस्तुकी स्थितिको अनेकधर्मात्मक पाया, और इसीलिए अनेकान्तात्मक तत्त्व का उनने निरूपण किया। वस्तुके पूर्णरूपको अनिर्वचनीय वाङ्मनसागोचर या अवक्तव्य सभी दार्शनिकोंने कहा है। इसी वस्तुरूपको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे जानने और कथन करने का प्रयास भिन्न भिन्न दार्शनिकों-ने किया है। जैन दर्शनने वस्तुमात्र को परिणामीनित्य स्वीकार किया। कोई भी सत् पर्याय रूपसे उत्पन्न और विनष्ट होकर भी द्रव्य रूपसे अविच्छिन्न रहता है, अपनी असङ्कीर्ण सत्ता रखता है।

सांख्य दर्शन में यह परिणामिनित्यता प्रकृति तक ही सीमित है। पुरुष तत्त्व इनके मतमें कूटस्थ नित्य है। उसका विश्व-व्यवस्था में कोई हाथ नहीं है। प्रकृति परिणामिनी होकर भी एक है। एक ही प्रकृति का घटपटादि मूर्त रूप में और आकाशादि अमूर्तरूप में परिणमन होता है। वही प्रकृति बुद्धि अहङ्कार जैसे चैतन भावों रूप से परिणत होती है और वही प्रकृति रूपरस गन्ध आदि जड़भाव रूप में। परन्तु इस प्रकार के विरुद्ध परिणमन एक ही साथ एक ही तत्त्व में कैसे सम्भव हैं? यह तो हो सकता है कि संसार में जितने चेतनभिन्न पदार्थ हैं वे एक जाति के हों पर एक तो नहीं हो सकते। वेदान्ती ने जहाँ चैतन भिन्न कोई दूसरा तत्त्व स्वीकार न करके एक सत् का चेतन और अचेतन, मूर्त-अमूर्त, निष्क्रिय-सक्रिय, आन्तर-बाह्य आदि अनेकधा प्रतिभास माना और इस जगत् की परमार्थ सत्ता न मानकर प्रातिभासिक सत्ता ही स्वीकार की वहाँ सांख्य चेतनतत्त्व को अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मानकर भी, प्रकृति को एक स्वीकार करता है और उसमें विरुद्ध परिणमनों की वास्तविक स्थिति मानना चाहता है। वेदान्ती की विरुद्ध प्रतिभास वाली बात कदाचित् समझ में आ भी जाय पर सांख्य की विरुद्धपरिणमनों की वास्तविक स्थिति स्पष्ट बाधित है।

वेदान्त की इस असङ्गति का परिहार तो सांख्य ने अनेक चेतन और जड़प्रकृति मानकर किया कि-'अद्वैत ब्रह्म तत्त्व में बद्ध और मुक्त चैतन्य जुदा जुदा कैसे हो सकते हैं? एक ही महातत्त्व चेतन और जड़ इन दो महाविरोधी परिणमनों का आधार कैसे बन सकता है?' अनेक चेतन मानने से कोई बद्ध और कोई मुक्त रह सकता है। जड़ प्रकृति मानने से जड़ात्मक परिणमन प्रकृति के हो सकते हैं? परन्तु एक अखण्डसत्ताक प्रकृति अमूर्त आकाश भी बन जाय और मूर्त घड़ा भी बन जाय। बुद्धि अहंकार भी बने और रूपरस भी बने, सो भी परमार्थतः, यह महान् विरोध सर्वथा अपरिहार्य है। एक सेर वजन के घड़े को फोड़कर आधा आधा सेर के दो वजनदार ठोस टुकड़े किये जाते हैं जो अपनी पृथक् ठोस सत्ता रखते हैं। यह विभाजन एक सत्ताक प्रकृति में कैसे हो सकता है। संसार के यावत् जड़ों में सत्त्व रजस्तमस् इन तीन गुणों का अन्वय देखकर एकजातीयता तो मानी जा सकती है एकसत्ता नहीं। इस तरह सांख्य की विश्वव्यवस्था में अपरिहार्य असंगति बनी रहती है।

न्यायवैसेषिकों ने जड़तत्त्व का पृथक् पृथक् विभाजन किया। मूर्तद्रव्य जुदा माने अमूर्त जुदा। पृथिवी आदि के अनन्त परमाणु स्वीकार किए। पर ये इतने भेद पर उतरे कि क्रिया गुण सम्बन्ध सामान्य आदि परिणमनों को भी स्वतंत्र पदार्थ मानने लगे, यद्यपि गुण क्रिया सामान्य आदि की पृथक् उपलब्धि नहीं होती और न ये पृथक्सिद्ध ही हैं। वैशेषिक को संप्रत्ययोपाध्याय कहा है। इसकी प्रकृति है-जितने प्रत्यय हों उतने पदार्थ स्वीकार कर लेना। 'गुणः गुणः प्रत्यय' हुआ तो गुण पदार्थ मान लिया। 'कर्म कर्म' प्रत्यय हुआ एक स्वतन्त्र कर्म पदार्थ माना गया। फिर इन पदार्थों का द्रव्य के साथ सम्बन्ध स्थापित

करने के लिए समवाय नाम का स्वतन्त्र पदार्थ मानना पड़ा। जल में गन्ध की अग्नि में रस की और वायु में रूप की अनुद्भूति देखकर पृथक् पृथक् द्रव्य माने। पर वस्तुतः वैशेषिक का प्रत्यय के आधार से स्वतन्त्र पदार्थ मानने का सिद्धान्त ही गलत है। प्रत्यय के आधार से उसके विषयभूत धर्म तो जुदा जुदा किसी तरह माने जा सकते हैं, पर स्वतन्त्र पदार्थ मानना किसी तरह युक्तिसंगत नहीं है। इस तरह एक ओर वेदान्ती या सांख्य ने क्रमशः जगत् में और प्रकृति में अभेद की कल्पना की वहाँ वैशेषिक ने आत्यन्तिक भेद को अपने दर्शन का आधार बनाया। उपनिषत् में जहाँ वस्तु के कूटस्थनित्यत्व को स्वीकार किया गया है वहाँ अजित केशकम्बलि जैसे उच्छेदवादी भी विद्यमान थे। बुद्ध ने आत्मा के मरणोत्तर जीवन और शरीर से उसके भेदाभेद को अव्याकरणीय बताया है। बुद्ध को डर था कि यदि हम आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं तो नित्यात्मवाद का प्रसङ्ग आता है और यदि आत्मा का नास्तित्व कहते हैं तो उच्छेदवाद की आपत्ति आती है। अतः उनने इन दोनों वादों के डर से उसे अव्याकरणीय कहा है। अन्यथा उनका सारा उपदेश भूतवाद के विरुद्ध आत्मवाद की भित्ति पर है ही।

जैन दर्शन वास्तव बहुत्ववादी है। यह अनन्त चेतनतत्त्व, अनन्त पुद्गलद्रव्य-परमाणुरूप, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्य कालाणुद्रव्य इस प्रकार अनन्त वास्तविक मौलिक अखण्ड द्रव्यों को स्वीकार करता है। द्रव्य सत्-स्वरूप है। प्रत्येक सत् चाहे वह चेतन हो या चेतनेतर परिणामी-नित्य है। उसका पर्यायरूप से परिणमन प्रतिक्षण होता ही रहता है। यह परिणमन अर्थपर्याय कहलाता है। अर्थपर्याय सदृश भी होती है और विसदृश भी। शुद्ध द्रव्यों की अर्थपर्याय सदा एकसी सदृश होती हैं, पर होती हैं अवश्य। धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य कालद्रव्य आकाशद्रव्य शुद्धजीवद्रव्य इनका परिणमन सदा सदृश होता है। पुद्गल का परिणमन सदृश भी होता है विसदृश भी।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में वैभाविक शक्ति है और इस शक्ति के कारण इनका विसदृश परिमन भी होता है। जब जीव शुद्ध हो जाता है तब विलक्षण परिणमन नहीं होता। इस वैभाविक शक्ति का स्वाभाविक ही परिणमन होता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यशाली होने से परिणामीनित्य है। दो स्वतन्त्र सत् में रहनेवाला एक कोई सामान्य पदार्थ नहीं है। केवल अनेक जीवों को जीवत्व नामक सादृश्य से संग्रह करके उनमें एक जीवद्रव्य व्यवहार कर दिया जाता है। इसी तरह चेतन और अचेतन दो भिन्नजातीय द्रव्यों में 'सत्' नाम का कोई स्वतन्त्र सत्ताक पदार्थ नहीं है। परन्तु सभी द्रव्यों में परिणामिनित्यत्व नाम की सदृशता के कारण 'सत्, सत्' यह व्यवहार कर लिया जाता है। अनेक द्रव्यों में रहनेवाला कोई स्वतन्त्र सत् नाम का कोई वस्तुभूत तत्त्व नहीं है। ज्ञान, रूपादि गुण, उत्क्षेपण आदि क्रियाएँ सामान्य विशेष आदि सभी द्रव्य की अवस्थाएँ हैं पृथक् सत्ताक पदार्थ नहीं। यदि बुद्ध इस वस्तुस्थिति पर गहराई से विचार करते तो इस निरूपण में न उन्हें उच्छेदवाद का भय होता और न शाश्वतवाद का। और जिस प्रकार उनने आचार के क्षेत्र में मध्यमप्रतिपदा को उपादेय बताया है उसी तरह वे इस अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व के निरूपण को भी परिणामिनित्यता में ढाल देते।

स्याद्वाद–जैनदर्शन ने इस तरह सामान्यरूप से यावत् सत् को परिणामीनित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनों के अगोचर है। अनेकान्त अर्थ का निर्दुष्टरूप से कथन करने वाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। उसमें जिस धर्म का निरूपण होता है उसके साथ 'स्यात्' शब्द इसलिए लगा दिया जाता है जिससे पूरी वस्तु उसी धर्म रूप न समझ ली जाय। अविवक्षित शेषधर्मों का अस्तित्व भी उसमें है यह प्रतिपादन 'स्यात्' शब्द से होता है।

स्याद्वाद का अर्थ है—स्यात्-अमुक निश्चित अपेक्षा से। अमुक निश्चत अपेक्षा से घट अस्ति ही है और अमुक निश्चत अपेक्षा से घट नास्ति ही है। स्यात् का अर्थ न तो शायद है न संभवतः और न कदाचित् ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोण का प्रतीक है। इस शब्द के अर्थ को पुराने मतवादी दार्शनिकों ने ईमानदारी से समझने का प्रयास तो नहीं ही किया था किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टि की दुहाई देने वाले दर्शनलेखक उसी भ्रान्त परम्परा का पोषण करते आते हैं।

स्याद्वाद—सुनय का निरूपण करनेवाली भाषा पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान हैं। तात्पर्य यह कि—अविवक्षित शेष धर्मों का प्रतिनिधित्व स्यात् शब्द करता है। 'रूपवान् घटः' यह वाक्य भी अपने भीतर 'स्यात्' शब्द को छिपाये हुए है। इसका अर्थ है कि 'स्यात् रूपवान् घटः' अर्थात् चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने से या रूप गुण की सत्ता होने से घड़ा रूपवान् है, पर रूपवान् ही नहीं है उसमें रस गन्ध स्पर्श आदि अनेक गुण, छोटा बड़ा आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुणधर्मों के अस्तित्व की रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। 'स्यात्' का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है किन्तु निश्चय है। अर्थात् घड़े में रूप के अस्तित्व की सूचना तो 'रूपवान्' शब्द दे ही रहा है पर उन उपेक्षित शेष धर्मों के अस्तित्व की सूचना 'स्यात्' शब्द से होती है। सारांश यह कि 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्' के साथ नहीं जुड़ता है, किन्तु अविवक्षित धर्मों के साथ। वह 'रूपवान्' को पूरी वस्तु पर अधिकार जमाने से रोकता है और कह देता है कि वस्तु बहुत बड़ी है उसमें रूप भी एक है। ऐसे अनन्त गुणधर्म वस्तु में लहरा रहे हैं। अभी रूप की विवक्षा या दृष्टि होने से वह सामने है या शब्द से उच्चरित हो रहा है सो वह मुख्य हो सकता है पर वही सब कुछ नहीं है। दूसरे क्षण में रसकी मुख्यता होने पर रूप गौण हो जायगा और वह अविवक्षित शेष धर्मों की राशि में शामिल हो जायगा।

'स्यात्' शब्द एक प्रहरी है, जो उच्चरित धर्म को इधर उधर नहीं जाने देता। वह उन अविवक्षित धर्मों का संरक्षक है। इसलिए 'रूपवान्' के साथ 'स्यात्' शब्द का अन्वय करके जो लोग घड़े में रूप की भी स्थिति को स्यात् का शायद या संभावना अर्थ करके संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे भ्रम में हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्य में 'घटः अस्ति' यह अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। स्यात् शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मों के सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। सारांश यह कि 'स्यात्' पद एक स्वतन्त्र पद है जो वस्तु के शेषांश का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं 'अस्ति' नाम का धर्म जिसे शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है पूरी वस्तु को न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर जाय। इसलिए वह प्रति वाक्य में चेतावनी देता रहता है कि हे भाई अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयों के हक को हड़पने की चेष्टा नहीं करना। इस भय का कारण है—'नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि अंशवाक्यों ने अपना पूर्ण अधिकार वस्तु पर जमा कर अनधिकार चेष्टा की है और जगत् में अनेक तरह से वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवाद ने अनेक कुवादों की सृष्टि करके अहंकार हिंसा संघर्ष अनुदारता परमतासहिष्णुता आदि से विश्व को अशान्त और आकुलतामय बना दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकाल देता है जिससे अहंकार का सृजन होता है और वस्तु के अन्य धर्मों के अस्तित्व से इनकार करके पदार्थ के साथ अन्याय होता है।

'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षा का द्योतन करके जहाँ 'अस्तित्व' धर्म की स्थिति सुदृढ़ सहेतुक बताता है वहाँ वह उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्ति का भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तु का मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीश की तरह तुरन्त कह देता है कि—हे अस्ति, तुम अपने अधिकार की सीमा को समझो। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से जिस प्रकार तुम घट में रहते हो उसी तरह पर द्रव्यादि की अपेक्षा 'नास्ति' नाम का तुम्हारा भाई भी उसी घट में है। इसी प्रकार घट का परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है तुम्हारा प्रयोजन है तुम्हारी विवक्षा है। अतः इस समय तुम मुख्य हो। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तुम अपने समानाधिकारी भाइयों के सद्भाव को भी नष्ट करने का दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो

यह है कि यदि पर की अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़े में तुम रहते हो वह घड़ा घड़ा ही न रहेगा कपड़ा आदि पररूप हो जायगा। अतः जैसी तुम्हारी स्थिति है वैसी ही पर रूप की अपेक्षा 'नास्ति' धर्म की भी स्थिति है तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिए अहिंसा का प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहले ही वाक्य में लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि अनन्य भाइयों को वस्तु मे रहने देते हो और बड़े प्रेम से सबके सब अनन्त धर्मभाई रहते हो, पर इन वस्तुदर्शियों की दृष्टि को क्या कहा जाय। इनकी दृष्टि ही एकांगी है। ये शब्द के द्वारा तुममें से किसी एक 'अस्ति'आदि को मुख्य करके उसकी स्थिति इतनी अहङ्कार पूर्ण कर देना चाहते हैं जिससे वह 'अस्ति' अन्य का निराकरण करने लग जाय। बस, 'स्यात्' शब्द एक अञ्जन है जो उनकी दृष्टि को विकृत नहीं होने देता और उसे निर्मल तथा पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षितसंरक्षक, दृष्टिविषहारी, शब्द को सुधारूप बनानेवाले, सचेतक प्रहरी, अहिंसक भावना के प्रतीक, जीवन्त न्याय-रूप, सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्द के स्वरूप के साथ हमारे दार्शनिकों ने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूप का 'शायद, संभव है, कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायों से विकृत करने का दुष्ट प्रयत्न अवश्य किया है तथा किया जा रहा है।

सब से थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि घड़ा जब अस्ति है तो नास्ति कैसे हो सकता है, घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है' पर विचार तो करो घड़ा घड़ा ही है, कपड़ा नहीं, कुरसी नहीं, टेबिल नहीं, गाय नहीं, घोड़ा नहीं, तात्पर्य यह कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थरूप नहीं है। तो यह कहने में आपको क्यों संकोच होता है कि 'घड़ा अपने स्वरूप से अस्ति है, घटभिन्न पररूपों से नास्ति है। इस घड़े में अनन्त पररूपों की अपेक्षा 'नास्तित्व' धर्म है, नहीं तो दुनिया में कोई शक्ति घड़े को कपड़ा आदि बनने से नहीं रोक सकती। यह 'नास्ति' धर्म ही घड़े को घड़े रूप में कायम रखने को हेतु है। इसी नास्ति धर्म की सूचना 'अस्ति' के प्रयोग के समय 'स्यात्' शब्द दे देता है। इसी तरह घड़ा एक है। पर वही घड़ा रूप रस गन्ध स्पर्श छोटा बड़ा हलका भारी आदि अनन्त शक्तियों की दृष्टि से अनेकरूप में दिखाई देता है या नहीं? यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक रूप में दिखाई देता है तो आपको यह कहने में क्यों कष्ट होता है कि घड़ा द्रव्य एक है, पर अपने गुण धर्म शक्ति आदि की दृष्टि से अनेक है'। कृपा कर सोचिए कि वस्तु में जब अनेक विरोधी धर्मों का प्रत्यक्ष हो ही रहा है और स्वयं वस्तु अनन्त विरोधी धर्मों का अविरोधी क्रीडास्थल है तब हमें उसके स्वरूप को विकृत रूप में देखने की दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। जो 'स्यात्' शब्द वस्तु के इस पूर्ण रूप दर्शन की याद दिलाता है उसे ही हम 'विरोध संशय' जैसी गालियों से दुरदुराते हैं किमाश्चर्यमतः परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यान में आ जाता है कि—

'यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।'

अर्थात्–यदि यह अनेक धर्मरूपता वस्तु को स्वयं पसन्द है, उसमें है, वस्तु स्वयं राजी है तो हम बीच में काजी बनने वाले कौन? जगत् का एक एक कण इस अनन्तधर्मता का आकार है। हमें अपनी दृष्टि निर्मल और विशाल बनाने की आवश्यकता है। वस्तु में कोई विरोध नहीं है। विरोध हमारी दृष्टि में है। और इस दृष्टिविरोध की अमृतौषधि 'स्यात्' शब्द है, जो रोगी को कटु तो जरूर मालूम होती है पर इसके बिना यह दृष्टिविषम-ज्वर उतर भी नहीं सकता।

प्रो० बलदेव उपाध्याय ने भारतीय दर्शन (पृ० १५५) में स्याद्वाद का अर्थ बताते हुए लिखा है कि—"स्यात् (शायद, सम्भवतः) शब्द अस् धातु के विधिलिङ् के रूप का तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़े के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति = संभवतः यह विद्यमान है' इसी रूप में होना चाहिए।" यहाँ 'स्यात्' शब्द को शायद का पर्यायवाची तो उपाध्यायजी स्वीकार नहीं करना चाहते। इसीलिए वे शायद शब्द को कोष्टक में लिखकर भी आगे 'संभवतः' शब्द का समर्थन करते हैं।

वैदिक आचार्यों में शंकराचार्य ने शांकरभाष्य में स्याद्वाद को संशयरूप लिखा है इसका संस्कार आज भी कुछ विद्वानों के माथे में पड़ा हुआ है और वे उस संस्कारवश स्यात् का अर्थ शायद किए ही जाते हैं। अब यह स्पष्ट रूप से अवधारण करके कहा जाता है कि—'घटः स्यादस्ति' अर्थात् घड़ा अपने स्वरूप से है ही। घटः स्यान्नास्ति-घट भिन्न स्वरूप से नहीं ही है' तब संशय को स्थान कहाँ है? स्यात् शब्द जिस धर्म का प्रतिपादन किया जा रहा है उससे भिन्न अन्य धर्मों के सद्भाव को सूचित करता है। वह प्रति समय श्रोता को यह सूचना देना चाहता है कि वक्ता के शब्दों से वस्तु के जिस स्वरूप का निरूपण हो रहा है वस्तु उतनी ही नहीं है उसमें अन्य धर्म भी विद्यमान हैं। जब कि संशय और शायद में एक भी धर्म निश्चित नहीं होता। जैन के अनेकान्त में अनन्त धर्म निश्चित हैं, उसके दृष्टिकोण निश्चित हैं तब संशय और शायद की उस भ्रान्त परम्परा को आज भी अपने को तटस्थ माननेवाले विद्वान् भी चलाए जाते हैं यह रूढ़िवाद का ही माहात्म्य है।

इसी संस्कारवश प्रो॰ बलदेवजी स्यात् के पर्यायवाचियों में शायद शब्द को लिखकर (पृ॰ १०१) जैन दर्शन की समीक्षा करते समय शंकराचार्य की वकालत इन शब्दों में करते हैं कि—"यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरक भाष्य (२, २, ३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है।" पर उपाध्याय जी, जब आप स्यात् का अर्थ निश्चित रूप से 'संशय' नहीं मानते तब शंकराचार्य के खण्डन का मार्मिकत्व क्या रह जाता है? आप कृपाकर स्व॰ महामहोपाध्याय डा॰ गंगानाथ झा के इन वाक्यों को देखें—"जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खंडन पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नहीं समझा।" श्री फणिभूषण अधिकारी तो और स्पष्ट लिखते हैं कि—"जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी। किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन की परवाह नहीं की।"

जैन दर्शन स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार वस्तुस्थिति के आधार से समन्वय करता है। जो धर्म वस्तु में विद्यमान हैं उन्हीं का समन्वय हो सकता है। जैनदर्शन को आप वास्तव बहुत्ववादी लिख आये हैं। अनेक स्वतन्त्र सत् व्यवहार के लिए सद्रूप से एक कहे जावें पर वह काल्पनिक एकत्व वस्तु नहीं हो सकता? यह कैसे सम्भव है कि चेतन और अचेतन दोनों ही एक सत् के प्रातिभासिक विवर्त हों।

जिस काल्पनिक समन्वय की ओर उपाध्याय जी संकेत करते हैं उस ओर भी जैन दार्शनिकों ने प्रारम्भ से ही दृष्टिपात किया है। परम संग्रह नय की दृष्टि से सद्रूप से यावत् चेतन अचेतन द्रव्यों का संग्रह करके 'एकं सत्' इस शब्दव्यवहार के होने में जैन दार्शनिकों को कोई आपत्ति नहीं है। सैकड़ों काल्पनिक व्यवहार होते हैं, पर इससे मौलिक तत्त्वव्यवस्था नहीं की जा सकती? एक देश या एक राष्ट्र अपने में क्या वस्तु है? समय समय पर होने वाली बुद्धिगत देशिक एकता के सिवाय एक देश या एक राष्ट्र का स्वतन्त्र अस्तित्व ही क्या है? अस्तित्व जुदा जुदा भूखण्डों का अपना है। उसमें व्यवहार की सुविधा के लिए प्रान्त और देश संज्ञाएँ जैसे काल्पनिक हैं व्यवहारसत्य हैं उसी तरह एक सत् या एक ब्रह्म काल्पनिकसत् होकर व्यवहारसत्य बन सकता है और कल्पना की दौड़ का परम बिन्दु भी हो सकता है पर उसका तत्त्वसत् या परमार्थसत् होना नितान्त असम्भव है। आज विज्ञान एटम तक का विश्लेषण कर चुका है और सब मौलिक अणुओं की पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। उनमें अभेद और इतना बड़ा अभेद जिसमें चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त आदि सभी लीन हो जाँय कल्पनासाम्राज्य की अन्तिम कोटि है।

और इस कल्पनाकोटि को परमार्थ सत् न मानने के कारण यदि जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त आपको मूलभूत तत्त्व के स्वरूप समझाने में नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है तो हो, पर वह वस्तुसीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता और न कल्पनालोक की लम्बी दौड़ ही लगा सकता है।

स्यात् शब्द को उपाध्यायजी संशय का पर्यायवाची नहीं मानते यह तो प्रायः निश्चित है क्योंकि आप स्वयं लिखते हैं (पृ० १७३) कि—"यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है;" पर आप उसे संभववाद अवश्य कहना चाहते हैं। परन्तु स्यात् का अर्थ 'संभवतः' करना भी न्यायसंगत नहीं है क्योंकि संभावना संशय में जो कोटियाँ उपस्थित होती हैं उनकी अर्धनिश्चितता की ओर संकेत मात्र है, निश्चय उससे भिन्न ही है। उपाध्यायजी स्याद्वाद को संशयवाद और निश्चयवाद के बीच संभावनावाद की जगह रखना चाहते हैं जो एक अनध्यवसायात्मक अनिश्चय के समान है। परन्तु जब स्याद्वाद स्पष्ट रूप से टंके की चोट यह कह रहा है कि-घड़ा स्यादस्ति अर्थात् अपने स्वरूप, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने आकार इस स्वचतुष्टय की अपेक्षा है ही यह निश्चित अवधारण है। घड़ा स्वसे भिन्न यावत् पर पदार्थों की दृष्टि से नहीं ही है यह भी निश्चित अवधारण है। इस तरह जब दोनों धर्मों का अपने अपने दृष्टिकोण से घड़ा अविरोधी आधार है तब घड़े को हम उभय दृष्टि से अस्ति-नास्ति रूप भी निश्चित ही कहते हैं। पर शब्द में यह सामर्थ्य नहीं है कि घट के पूर्णरूप को-जिसमें अस्ति नास्ति जैसे एक-अनेक नित्य-अनित्य आदि अनेकों युगल-धर्म लहरा रहे हैं-कह सके अतः समग्रभाव से घड़ा अवक्तव्य है। इस प्रकार जब स्याद्वाद सुनिश्चित दृष्टिकोणों से तत्तत् धर्मों के वास्तविक निश्चय की घोषणा करता है तब इसे सम्भावनावाद में कैसे रखा जा सकता है? स्यात् शब्द के साथ ही एवकार भी लगा रहता है जो निर्दिष्ट धर्म का अवधारण सूचित करता है तथा स्यात् शब्द उस निर्दिष्ट धर्म से अतिरिक्त अन्य धर्मों की निश्चित स्थिति की सूचना देता है। जिससे श्रोता यह न समझ ले कि वस्तु इसी धर्मरूप है। यह स्याद्वाद कल्पित धर्मों तक व्यवहार के लिए भले ही पहुँच जाय पर वस्तुव्यवस्था के लिए वस्तु की सीमा को नहीं लाँघता। अतः न यह संशयवाद है, न अनिश्चयवाद और न संभावनावाद ही, किन्तु खरा अपेक्षा-प्रयुक्त निश्चयवाद है।

इसी तरह डॉ० देवराज जी का पूर्वी और पश्चिमी दर्शन (पृष्ठ ६५) में किया गया स्यात् शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद भी भ्रामक है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है। इसका सीधा अर्थ है किसी समय। और प्रचलित अर्थ में यह संशय की ओर ही झुकाता है। स्यात् का प्राचीन अर्थ है कथञ्चित्-अर्थात् किसी निश्चित प्रकार से, स्पष्ट शब्दों में अमुक निश्चित दृष्टिकोण से। इस प्रकार अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वाद का अभ्रान्त वाच्यार्थ है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तथा इतः पूर्व प्रो० जैकोबी आदि ने स्याद्वाद की उत्पत्ति को संजय वेलट्ठिपुत्तके मत से बताने का प्रयत्न किया है। राहुलजी ने दर्शन दिग्दर्शन (पृ० ४९६) में लिखा है कि—"आधुनिक जैनदर्शन का आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजय वेलट्ठिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात भंगवाला किया गया है। संजय ने तत्त्वों (परलोक देवता) के बारे में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इन्कार करते हुए उस इन्कार को चार प्रकार कहा है—

१ है? नहीं कह सकता।

२ नहीं है? नहीं कह सकता।

३ है भी और नहीं भी? नहीं कह सकता।

४ न है और न नहीं है? नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिये जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

१ है? हो सकता है (स्यादस्ति)

२ नहीं है? नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)

३ है भी और नहीं भी? है भी और नहीं भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं (= वक्तव्य हैं) ? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

४ स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (= वक्तव्य) है ? नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।

५ 'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

६ 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

७ 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनों के मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहिलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को छोड़कर 'स्याद्' भी अवक्तव्य है, यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।

इस,प्रकार एक भी सिद्धान्त (= वाद) की स्थापना न करना जो कि संजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया और उसकी चतुर्भंगी न्याय को सप्तभंगी में परिणत कर दिया।"

राहुल जी ने उक्त सन्दर्भ में सप्तभंगी और स्याद्वाद के स्वरूप को न समझकर केवल शब्दसाम्य से एक नये मत की सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि चोर से "क्या तुम अमुक जगह गये थे ? यह पूछने पर वह कहे कि मैं नहीं कह सकता कि गया था" और जब अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दे कि चोर अमुक जगह गया था। तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जज का फैसला चोर के बयान से निकला है।

संजयवेलट्ठिपुत्त के दर्शन का विवेचन स्वयं राहुलजी ने (पृ० ४९१) इन शब्दों में किया है— "यदि आप पूछें—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है। परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।"

संजय के परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्ति के सम्बन्ध के ये विचार शतप्रतिशत अनिश्चयवाद के हैं। वह स्पष्ट कहता है कि—"यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" संजय को परलोक मुक्ति आदि के स्वरूप का कुछ भी निश्चय नहीं था इसलिए उसका दर्शन यकौल राहुल जी के मानव की सहजबुद्धि को भ्रम में नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चय कर भ्रान्त धारणाओं की पुष्टि ही करना चाहता है। तात्पर्य यह कि संजय घोर अनिश्चयवादी था।

बुद्ध और संजय—बुद्ध ने "लोक नित्य है', अनित्य है', नित्य-अनित्य है', न नित्य न अनित्य है'; लोक अन्तवान् है', नहीं है', है-नहीं है', न है न नहीं है'; निर्वाण के बाद तथागत होते हैं', नहीं होते', होते-नहीं होते', न होते न नहीं होते'; जीव शरीर से भिन्न है', जीव शरीर से भिन्न नहीं है'।" (माध्यमिक वृत्ति पृ० ४४६) इन चौदह वस्तुओं को अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय (२।२।३) में इनकी संख्या दश है। इसमें आदि के दो प्रश्नों में तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिना गया है। इनके अव्याकृत होने का कारण बुद्ध ने बताया है कि इनके बारे में कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्या के लिए उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद निरोध शान्ति या परमज्ञान निर्वाण के लिए आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्ध की दृष्टि में इनका जानना मुमुक्षु के लिए आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दों में बुद्ध भी संजय की तरह इनके बारे में कुछ कहकर मानव की सहज बुद्धि को भ्रम में नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओं को पुष्ट ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता या अनिश्चय को साफ साफ शब्दों में कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने जानने न जानने का उल्लेख न करके उस रहस्य को शिष्यों के लिए अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। किसी भी तार्किक का यह प्रश्न अभी तक असमाहित ही रह जाता है कि इस अव्याकृतता और संजय के अनिश्चयवाद में

क्या अन्तर है ? सिवाय इसके कि संजय फक्कड़ की तरह खरी खरी बात कह देता है और बुद्ध बड़े आदमियों की शालीनता का निर्वाह करते हैं।

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समय के वातावरण में आत्मा लोक परलोक और मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में—'है (सत्), नहीं (असत्), है-नहीं (सदसत् उभय), न है न नहीं है (अवक्तव्य या अनुभय)।' ये चार कोटियाँ गूँज रही थीं। कोई भी प्राश्निक किसी भी तीर्थङ्कर या आचार्य से बिना किसी संकोच के अपने प्रश्न को एक साँस में ही उक्त चार कोटियों में विभाजित करके ही पूछता था। जिस प्रकार आज कोई भी प्रश्न मजदूर और पूँजीपति शोषक और शोष्य के द्वन्द्व की छाया में ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रश्न सत् असत् उभय और अनुभय-अनिर्वचनीय इस चतुष्कोटि में आवेष्टित रहते थे। उपनिषद् या ऋग्वेद में इस चतुष्कोटि के दर्शन होते हैं। विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में असत् से सत् हुआ ? या सत् से सत् हुआ ? या सदसत् दोनों रूप से अनिर्वचनीय है ? इत्यादि प्रश्न उपनिषद् और वेद में बराबर उपलब्ध होते हैं ? ऐसी दशा में राहुल जी का स्याद्वाद के विषय में यह फतवा दे देना कि संजय के प्रश्नों के शब्दों से या उसकी चतुर्भङ्गी को तोड़मरोड़ कर सप्तभङ्गी बनी—कहाँ तक उचित है यह वे स्वयं विचारें। बुद्ध के समकालीन जो छह तीर्थिक थे उनमें महावीर निगण्ठ नाथपुत्रकी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं यह इस समय की चर्चा का विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्व-विचारक थे और किसी भी प्रश्न को संजय की तरह अनिश्चय कोटि या विक्षेप[1] कोटि में या बुद्ध की तरह अव्याकृत कोटि में डालने वाले नहीं थे और न शिष्यों की सहज जिज्ञासा को अनुपयोगिता के भयप्रद चक्कर में डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघ के पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्व का ठीक निर्णय नहीं कर लेते तब तक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघ के भिक्षुओं के सामने अपनी बौद्धिक दीनता के कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उसके जीवन और आचार पर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्यों को पर्देबन्द पद्मिनियों की तरह जगत के स्वरूप विचार की बाह्य हवा से अपरिचित नहीं रखना चाहते थे, किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक प्राणी अपनी सहज जिज्ञासा और मननशक्ति को वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विचार की ओर लगावे। न उन्हें बुद्ध की तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्मा के सम्बन्ध में 'है' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियों की तरह लोग नित्यत्व की ओर झुक जायँगे और नहीं कहने से उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाक की तरह नास्तित्व का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः इस प्रश्न को अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूद तर्कों का और संशयों का समाधान वस्तुस्थिति के आधार से होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूप का अनुभव कर यह बताया कि जगत् का प्रत्येक सत् चाहे वह चेतनजातीय हो या अचेतनजातीय परिवर्तनशील है। वह निसर्गतः प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। उसकी पर्याय बदलती रहती है। उसका परिणमन कभी सदृश भी होता है कभी विसदृश भी। पर परिणमनसामान्य के प्रभाव से कोई भी अछूता नहीं रहता। यह एक मौलिक नियम है कि किसी भी सत् का विश्व से सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता, वह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता या सत्ता को नहीं खो सकता। एक परमाणु है वह हाइड्रोजन बन जाय, जल बन जाय, भाप बन जाय, फिर पानी हो जाय, पृथिवी बन जाय, और अनन्त आकृतियों या पर्यायों को धारण कर ले, पर अपने द्रव्यत्व या मौलिकत्व को नहीं खो सकता। किसी की ताकत नहीं जो उस परमाणु की हस्ती या अस्तित्व को मिटा सके। तात्पर्य यह कि जगत में जितने 'सत्' हैं उतने बने रहेंगे। उनमें से एक भी कम नहीं हो सकता, एक दूसरे में विलीन नहीं हो सकता। इसी तरह न कोई नया 'सत्' उत्पन्न हो सकता है। जितने हैं उनका ही आपसी

१ प्रो० धर्मानन्द कोसाम्बी ने संजय के वाद को विक्षेपवाद संज्ञा दी है। देखो भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ४७।

संयोग-वियोगों के आधार से यह विश्व जगत् (गच्छतीति जगत् अर्थात् नाना रूपों को प्राप्त होना) बनता रहता है।

तात्पर्य यह कि—विश्व में जितने सत् हैं उनमें से न तो एक कम हो सकता है और न एक बढ़ सकता है। अनन्त जड़ परमाणु, अनन्त आत्माएँ, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश, और असंख्य कालाणु इतने सत् हैं। इनमें धर्म अधर्म आकाश और काल अपने स्वाभाविक रूप में सदा विद्यमान रहते हैं उनका विलक्षण परिणमन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये कूटस्थ नित्य हैं किन्तु इनका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है। वह सदृश स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जिस समय आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय वह भी अपने प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक परिणमन का ही स्वामी रहता है, उसमें विलक्षण परिणति नहीं होती। जब तक आत्मा अशुद्ध है तब तक ही इसके परिणमन पर सजातीय जीवान्तर का और विजातीय पुद्गल का प्रभाव आने से विलक्षणता आती है। इसकी नानारूपता प्रत्येक को स्वानुभवसिद्ध है। जड़ पुद्गल ही एक ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो सदा सजातीय से भी प्रभावित होता है और विजातीय चेतन से भी। इसी पुद्गल द्रव्य का चमत्कार आज विज्ञान के द्वारा हम सब के सामने प्रस्तुत है। इसी के हीनाधिक संयोग-वियोगों के फलस्वरूप असंख्य आविष्कार हो रहे हैं। विद्युत् शब्द आदि इसी के रूपान्तर हैं, इसी की शक्तियाँ हैं। जीव की अशुद्ध दशा इसी के संपर्क से होती है। अनादि से जीव और पुद्गल का ऐसा संयोग है जो पर्यायान्तर लेने पर भी जीव इसके संयोग से मुक्त नहीं हो पाता और उसमें विभाव परिणमन-राग द्वेष मोह अज्ञानरूप दशाएँ होती रहती हैं। जब यह जीव अपनी चारित्रसाधना द्वारा इतना समर्थ और स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है कि उस पर बाह्य जगत् का कोई भी प्रभाव न पड़ सके तो वह मुक्त हो जाता है और अपने अनन्त चैतन्य में स्थिर हो जाता है। यह मुक्त जीव अपने प्रतिक्षण परिवर्तित स्वाभाविक चैतन्य में लीन रहता है। फिर उसमें अशुद्ध दशा नहीं होती। अन्ततः पुद्गल परमाणु ही ऐसे हैं जिनमें शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशा में दूसरे संयोग के आधार से नाना आकृतियाँ और अनेक परिणमन संभव हैं तथा होते रहते हैं। इस जगत् व्यवस्था में किसी एक ईश्वर जैसे नियन्ता का कोई स्थान नहीं है यह तो अपने अपने संयोग-वियोगों से परिणमन शील है। प्रत्येक पदार्थ का अपना सहज स्वभावजन्य प्रतिक्षणभावी परिणमनचक्र चालू है। यदि कोई दूसरा संयोग आ पड़ा और उस द्रव्य ने इसके प्रभाव को आत्मसात् किया तो परिणमन तत्प्रभावित हो जायगा, अन्यथा वह अपनी गतिसे बदलता चला जायगा। हाइड्रोजन का एक अणु अपनी गति से प्रतिक्षण हाइड्रोजन रूप में बदल रहा है। यदि आक्सीजन का अणु उसमें आ जुटा तो दोनों का जलरूप परिणमन हो जायगा। ये एक बिन्दु रूप से सदृश संयुक्त परिणमन कर लेंगे। यदि किसी वैज्ञानिक के विश्लेषणप्रयोग का निमित्त मिला तो वे दोनों फिर जुदा जुदा भी हो सकते हैं। यदि अग्नि का संयोग मिल गया भाफ बन जायँगे। यदि साँप के मुख का संयोग मिला विषबिन्दु हो जायेंगे। तात्पर्य यह कि यह विश्व साधारणतया पुद्गल और अशुद्ध जीव के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का वास्तविक उद्यान है। परिणमनचक्र पर प्रत्येक द्रव्य चढ़ा हुआ है। वह अपनी अनन्त योग्यताओं के अनुसार अनन्त परिणमनों को क्रमशः धारण करता है। समस्त 'सत्' के समुदाय का नाम लोक या विश्व है। इस दृष्टिसे अब आप लोक के शाश्वत और अशाश्वत वाले प्रश्न को विचारिए—

(१) क्या लोक शाश्वत है ? हाँ, लोक शाश्वत है। द्रव्यों की संख्या की दृष्टि से, अर्थात् जितने सत् इसमें हैं उनमें का एक भी सत् कम नहीं हो सकता, और न उनमें किसी नये सत् की वृद्धि ही हो सकती है। न एक सत् दूसरे में विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जो इसके अंगभूत द्रव्यों का लोप हो जाय या वे समाप्त हो जायँ।

(२) क्या लोक अशाश्वत है ? हाँ, लोक अशाश्वत है, अङ्गभूत द्रव्यों के प्रतिक्षण भावी परिणमनों की दृष्टि से ? अर्थात् जितने सत् हैं वे प्रतिक्षण सदृश या विसदृश परिणमन करते रहते हैं। इसमें दो क्षण

तक ठहरनेवाला कोई परिणमन नहीं है। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी सदृश परिणमन का स्थूल दृष्टि से अवलोकनमात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग-वियोगों की दृष्टि से विचार कीजिये तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

(३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार कीजिए तो लोक शाश्वत भी है (द्रव्य दृष्टि से) अशाश्वत भी है (पर्याय दृष्टि से)। दोनों दृष्टिकोणों को क्रमशः प्रयुक्त करने पर और उन दोनों पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर जगत् उभयरूप ही प्रतिभासित होता है।

(४) क्या लोक शाश्वत दोनों रूप नहीं है? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है? हाँ, लोक का पूर्णरूप अवक्तव्य है, नहीं कहा जा सकता। कोई शब्द ऐसा नहीं जो एक साथ शाश्वत और अशाश्वत इन दोनों स्वरूपों को तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मों को युगपत् कह सके। अतः शब्द की असामर्थ्य के कारण जगत् का पूर्णरूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपण में आप देखेंगे कि वस्तु का पूर्णरूप वचनों के अगोचर है अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है। यह चौथा उत्तर वस्तु के पूर्ण रूप को युगपत् कहने की दृष्टि से है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्यदृष्टि से, अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टि से। इस तरह मूलतः चौथा, पहिला और दूसरा ये तीन ही प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपता का प्रश्न तो प्रथम और द्वितीय के संयोग रूप है। अब आप विचारें कि संजय ने जब लोक के शाश्वत और अशाश्वत आदि के बारे में स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्ध ने कह दिया कि इनके चक्कर में न पड़ो, इसका जानना उपयोगी नहीं तब महावीर ने उन प्रश्नों का वस्तु स्थिति के अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्यों की जिज्ञासा का समाधान कर उनको बौद्धिक दीनता से त्राण दिया। इन प्रश्नों का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१ क्या लोक शाश्वत है?	मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, (अनिश्चय, विक्षेप)	इसका जानना अनुपयोगी है (अव्याकृत अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्य दृष्टि से शाश्वत है, इसके किसी भी सत् का सर्वथा नाश नहीं हो सकता।
२ क्या लोक अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ लोक अपने प्रतिक्षण भावी परिवर्तनों की दृष्टि से अशाश्वत है, कोई भी पदार्थ दो क्षणस्थायी नहीं।
३ क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है?	,,	,,	हाँ, दोनों दृष्टिकोणों से क्रमशः विचार करने पर लोक को शाश्वत भी कहते हैं और अशाश्वत भी।
४ क्या लोक दोनों रूप नहीं है अनुभय है?	,,	,,	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोक के परिपूर्ण स्वरूप को एक साथ समग्र भाव से कह सके। उसमें शाश्वत अशाश्वत के सिवाय भी अनन्त रूप विद्यमान हैं अतः समग्र भाव से वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है, अनिर्वचनीय है।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नों का समाधान नहीं करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कह कर अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हीं का वास्तविक युक्तिसंगत समाधान करते हैं। इस पर भी राहुलजी, और धर्मानन्द कोसम्बी आदि यह कहने का साहस करते हैं कि 'संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर संजय के वाद को ही जैनियों ने अपना लिया'। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि भारत में रही परतन्त्रता को ही परतन्त्रताविधायक अंग्रेजों के चले जाने पर भारतीयों ने उसे अपरतन्त्रता (स्वतन्त्रता) रूप से अपना लिया है, क्योंकि अपरतन्त्रता में भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही। या हिंसा को ही बुद्ध और महावीर ने उसके अनुयायियों के लुप्त होने पर अहिंसारूप से अपना लिया है क्योंकि अहिंसा में भी 'हिं सा' ये दो अक्षर हैं ही। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि—आप (पृ० ४८४) अनिश्चिततावादियों की सूची में संजय के साथ निर्ग्रन्थ नाथपुत्र (महावीर) का नाम भी लिख जाते हैं, तथा (पृ० ४९१) संजय को अनेकान्तवादी। क्या इसे धर्मकीर्ति के शब्दों में 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कहा जा सकता?

'स्यात्' शब्द के प्रयोग से साधारणतया लोगों को संशय अनिश्चय या संभावना का भ्रम होता है। पर यह तो भाषा की पुरानी शैली है उस प्रसङ्ग की, जहाँ एक वाद का स्थापन नहीं होता। एकाधिक भेद या विकल्प की सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'स्यात्' पद का प्रयोग भाषा की शैली का एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकाय के महाराहुलोवाद सुत्त के निम्नलिखित अवतरण से ज्ञात होता है— 'कतमा च राहुल तेजोधातु? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।'' अर्थात् तेजो धातु स्यात् आध्यात्मिक है, स्यात् बाह्य है। यहाँ सिया (स्यात्) शब्द का प्रयोग तेजो धातु के निश्चित भेदों की सूचना देता है न कि उन भेदों का संशय अनिश्चय या सम्भावना बताता है। आध्यात्मिक भेद के साथ प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द इस बात का द्योतन करता है, कि तेजो धातु मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है किन्तु उससे व्यतिरिक्त बाह्य भी है। इसी तरह 'स्यादस्ति' में अस्ति के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द सूचित करता है कि अस्ति से भिन्न धर्म भी वस्तु में हैं केवल अस्ति धर्म रूप ही वस्तु नहीं है। इस तरह 'स्यात्' शब्द न शायद का न अनिश्चय का और न सम्भावना का सूचक है किन्तु निर्दिष्ट धर्म के सिवाय अन्य अशेष धर्मों की सूचना देता है जिससे श्रोता वस्तु को निर्दिष्ट धर्ममात्र रूप ही न समझ बैठे।

सप्तभंगी—वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है। उसमें विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न विवक्षाओं से अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक धर्म का विरोधी धर्म भी दृष्टिभेद से वस्तु में सम्भव है। जैसे 'घटः स्यादस्ति' में घट है ही अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा से। जिस प्रकार घट में स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व धर्म है उसी तरह घटव्यतिरिक्त अन्य पदार्थों का नास्तित्व भी घट में है। यदि घटभिन्न पदार्थों का नास्तित्व घट में न पाया जाय तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक हो जायँगे। अतः घट स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इसी तरह वस्तु में द्रव्यदृष्टि से नित्यत्व पर्यायदृष्टि से अनित्यत्व आदि अनेक विरोधी धर्मयुगल रहते हैं। एक वस्तु में अनन्त सप्तभङ्ग बनते हैं। जब हम घट के अस्तित्व का विचार करते हैं तो अस्तित्वविषयक सात भङ्ग हो सकते हैं। जैसे संजय के प्रश्नोत्तर या बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नोत्तर में हम चार कोटि तो निश्चित रूप से देखते हैं—सत्, असत्, उभय और अनुभय। उसी तरह गणित के हिसाब से तीन मूल भंगों को मिलाने पर अधिक से अधिक सात अपुनरुक्त भंग हो सकते हैं। जैसे घड़े के अस्तित्व का विचार प्रस्तुत है तो पहिला अस्तित्व धर्म, दूसरा तद्विरोधी नास्तित्व धर्म और तीसरा धर्म होगा अवक्तव्य जो वस्तु के पूर्ण रूप की सूचना देता है कि वस्तु पूर्ण रूप से वचन के अगोचर है। उसके विराट् रूप को शब्द नहीं छू सकते। अवक्तव्य धर्म इस अपेक्षा से है कि दोनों धर्मों को युगपत् कहनेवाला शब्द संसार में नहीं है अतः वस्तु यथार्थतः वचनातीत है, अवक्तव्य है। इस तरह मूल में तीन भङ्ग हैं—

१ स्यादस्ति घटः २ स्यान्नास्ति घटः ३ स्यादवक्तव्यो घटः

अवक्तव्य के साथ स्यात् पद लगाने का भी अर्थ है कि वस्तु युगपत् पूर्ण रूप में यदि अवक्तव्य है तो क्रमशः अपने अपूर्ण रूप में वक्तव्य भी है और वह अस्ति नास्ति आदि रूप से वचनों का विषय

४

भी होती है। अतः वस्तु स्याद् अवक्तव्य है। जब मूल भङ्ग तीन हैं तब इनके द्विसंयोगी भंग भी तीन होंगे तथा त्रिसंयोगी भंग एक होगा। जिस तरह चतुष्कोटि में सत् और असत् को मिलाकर प्रश्न होता है कि 'क्या सत् होकर भी वस्तु असत् है?' उसी तरह ये भी प्रश्न हो सकते हैं कि—१ क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? २ क्या असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? ३ क्या सत्-असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है? इन तीनों प्रश्नों का समाधान संयोगज चार भंगों में है। अर्थात्—

(४) अस्ति नास्ति उभय रूप वस्तु है—स्वचतुष्टय और परचतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखने पर और दोनों की सामूहिक विवक्षा रहने पर।

(५) अस्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समय में स्वचतुष्टय और द्वितीय समय में युगपत् स्व-पर चतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखने पर और दोनों की सामूहिक विवक्षा रहने पर।

(६) नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समय में पर चतुष्टय और द्वितीय समय में युगपत् स्व-पर चतुष्टय की क्रमशः दृष्टि रखने पर और दोनों की सामूहिक विवक्षा रहने पर।

(७) अस्ति नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समय में स्वचतुष्टय, द्वितीय समय में पर चतुष्टय तथा तृतीय समय में युगपत् स्व-पर चतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखने पर और तीनों की सामूहिक विवक्षा रहने पर।

जब अस्ति और नास्ति की तरह अवक्तव्य भी वस्तु का धर्म है तब जैसे अस्ति और नास्ति को मिलाकर चौथा भंग बन जाता है वैसे ही अवक्तव्य के साथ भी अस्ति, नास्ति और अस्ति नास्ति मिलकर पाँचवें छठवें और सातवें भंग की सृष्टि हो जाती है।

इस तरह गणित के सिद्धान्त के अनुसार तीन मूल वस्तुओं के अधिक से अधिक अपुनरुक्त सात ही भंग हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तु के प्रत्येक धर्म को लेकर सात प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है, सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं अतः उनके उत्तर भी सात प्रकार के ही होते हैं।

दर्शनदिग्दर्शन में श्री राहुलजी ने पाँचवें छठवें और सातवें भंग को जिस भ्रष्ट तरीके से तोड़ा-मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और अतिसाहस है। जब वे दर्शनों को व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते हैं तो किसी भी दर्शनकी समीक्षा उसके स्वरूप को ठीक समझ कर ही करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्म को जो कि सत् के साथ स्वतन्त्रभाव से द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ-वक्तव्य करके संजय के 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और [1]संजय के घोर अनिश्चयवाद को ही अनेकान्तवाद कह देते हैं! किमाश्चर्यमतः परम्?

श्री सम्पूर्णानन्दजी 'जैनधर्म' पुस्तक की प्रस्तावना (पृ० ३) में अनेकान्तवाद की ग्राह्यता स्वीकार करके भी सप्तभङ्गी न्याय को बालकी खाल निकालने के समान आवश्यकता से अधिक बारीकी में जाना समझते हैं। पर सप्तभङ्गी को आज से अढ़ाई हजार वर्ष पहिले के वातावरण में देखने पर वे स्वयं उसे समय की माँग कहे बिना नहीं रह सकते। अढ़ाई हजार वर्ष पहिले आबाल गोपाल प्रत्येक प्रश्न को सहज तरीके से 'सत् असत् उभय और अनुभय' इन चार कोटियों में गूँथ कर ही उपस्थित करते थे और उस समय के भारतीय आचार्य उत्तर भी चतुष्कोटि का ही, हाँ या ना में देते थे तब जैन तीर्थंकर महावीर ने मूल तीन भङ्गों के गणित के नियमानुसार अधिक से अधिक सात प्रश्न बनाकर उनका समाधान सप्तभङ्गी द्वारा किया जो निश्चितरूप से वस्तु की सीमा के भीतर ही रही है। अनेकान्तवाद ने जगत् के वास्तविक अनेक सत् का अपलाप नहीं किया और न वह केवल कल्पना के क्षेत्र में विचरा है।

---

१ जैन कथाग्रन्थों में महावीर के बालजीवन की एक घटना का वर्णन आता है कि—'संजय और विजय नाम के दो साधुओं का संशय महावीर को देखते ही नष्ट हो गया था, इसलिए इनका नाम सन्मति रखा गया था।' सम्भव है वह संजय-विजय संजयवेलट्ठिपुत्त ही हों और इसीके संशय या अनिश्चय का नाश महावीर के सप्तभंगी न्याय से हुआ हो और वेलट्ठिपुत्त विशेषण ही भ्रष्ट होकर विजय नाम का दूसरा साधु बन गया हो।

मेरा उन दार्शनिकों से निवेदन है कि भारतीय परम्परा में जो सत्य की धारा है उसे 'दर्शनमन्थ' लिखते समय भी कायम रखें और समीक्षा का स्तम्भ तो बहुत सावधानी और उत्तरदायित्व के साथ लिखने की कृपा करें जिससे दर्शन केवल विवाद और भ्रान्त परम्पराओं का अजायबघर न बने। वह जीवन में संवाद लावे और दर्शनप्रणेताओं को समुचित न्याय दे सके।

इस तरह जैनदर्शन ने दर्शन शब्द की काल्पनिक भूमिका से निकल कर वस्तु सीमा पर खड़े होकर जगत् में वस्तु स्थिति के आधार से संवाद समीकरण और यथार्थतत्त्वज्ञान की दृष्टि दी। जिसकी उपासना से विश्व अपने वास्तविक रूप को समझ कर निरर्थक विवाद से बचकर सच्चा संवादी बन सकता है।

अनेकान्तदर्शन का सांस्कृतिक आधार—

भारतीय विचार परम्परा में स्पष्टतः दो धाराएँ हैं। एक धारा वेद को प्रमाण माननेवाले वैदिक दर्शनों की है और दूसरी वेद को प्रमाण न मानकर पुरुषानुभव या पुरुषसाक्षात्कार को प्रमाण माननेवाले श्रमण सन्तों की। यद्यपि चार्वाक दर्शन भी वेद को प्रमाण नहीं मानता किन्तु उसने आत्मा का अस्तित्व जन्म से मरण पर्यन्त ही स्वीकार किया है। उसने परलोक, पुण्य, पाप और मोक्ष जैसे आत्मप्रतिष्ठित तत्त्वों को तथा आत्मसंशोधक चारित्र आदि की उपयोगिता को स्वीकृत नहीं किया है। अतः अवैदिक होकर भी वह श्रमणधारा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। श्रमणधारा वैदिक परम्परा को न मानकर भी आत्मा, जन्मसिद्ध ज्ञान सन्तान, पुण्य-पाप, परलोक, निर्वाण आदि में विश्वास रखती है, अतः पाणिनिकी परिभाषा के अनुसार आस्तिक है। वेद को या ईश्वर को जगत्कर्त्ता न मानने के कारण श्रमणधारा को नास्तिक कहना उचित नहीं है। क्योंकि अपनी अमुक परम्परा को न मानने के कारण यदि श्रमण नास्तिक कहे जाते हैं तो श्रमण परम्परा को न मानने के कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणों से पुकारे गये हैं।

श्रमणधारा का सारा तत्त्वज्ञान या दर्शनविस्तार जीवन-शोधन या चारित्र्य वृद्धि के लिए हुआ था। वैदिक परम्परा में तत्त्वज्ञान को मुक्ति का साधन माना है, जब कि श्रमणधारा में चारित्र को। वैदिक-परम्परा वैराग्य आदि से ज्ञान को पुष्ट करती है, विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है जब कि श्रमण परम्परा कहती है कि उस ज्ञान या विचार का कोई मूल्य नहीं जो जीवन में न उतरे। जिसकी सुवास से जीवनशोधन न हो वह ज्ञान या विचार मस्तिष्क के व्यायाम से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र का आद्यसूत्र है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" (तत्त्वार्थसूत्र १।१) अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आत्मपरिणति मोक्ष का मार्ग है। यहाँ मोक्ष का साक्षात् कारण चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उस चारित्र के परिपोषक हैं। बौद्ध परम्परा का अष्टांग मार्ग भी चारित्र का ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारा में ज्ञान की अपेक्षा चारित्र का ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार और ज्ञान का उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए किया गया है। श्रमण सन्तों ने तप और साधना के द्वारा वीतरागता प्राप्त की और उसी परम वीतरागता, समता या अहिंसा की उत्कृष्ट ज्योति को विश्व में प्रचारित करने के लिए विश्वतत्त्वों का साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं आचार था, ज्ञान नहीं चारित्र्य था, वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवन शुद्धि और संवाद था। अहिंसा का अन्तिम अर्थ है—जीवमात्र में (चाहे वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय हो या शूद्र, गोरा हो या काला, एतद्देशीय हो या विदेशी) देश, काल, शरीराकार के आवरणों से परे होकर समत्व दर्शन। प्रत्येक जीव स्वरूप से चैतन्य शक्ति का अखण्ड शाश्वत आधार है। वह कर्म या वासनाओं के कारण वृक्ष, कीड़ा-मकोड़ा, पशु और मनुष्य आदि शरीरों को धारण करता है, पर अखण्ड चैतन्य का एक भी अंश उसका नष्ट नहीं होता। वह वासना या रागद्वेषादि के द्वारा विकृत अवश्य हो जाता है। मनुष्य अपने देश काल आदि निमित्तों से गोरे या काले किसी भी शरीर को धारण किए हो, अपनी वृत्ति या कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी श्रेणी में उसकी गणना व्यवहारतः की जाती हो, किसी भी देश में उत्पन्न हुआ

हो, किसी भी सन्त का उपासक हो, वह इन व्यावहारिक निमित्तों से ऊंच या नीच नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेष में उत्पन्न होने के कारण ही वह धर्म का ठेकेदार नहीं बन सकता। मानवमात्र के मूलतः समान अधिकार हैं, इतना ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष आदि प्राणियों के भी। अमुक प्रकार की आजीविका या व्यापार के कारण कोई भी मनुष्य किसी मानवाधिकार से वंचित नहीं हो सकता। यह मानवसमत्व, भावना, प्राणिमात्र से समता और उत्कृष्ट सत्त्वमैत्री अहिंसा के विकसित रूप हैं। श्रमणसन्तों ने यही कहा है कि—एक मनुष्य किसी भूखण्ड पर या अन्य भौतिक साधनों पर अधिकार कर लेने के कारण जगत् में महान् बनकर दूसरों के निर्दलन का जन्मसिद्ध अधिकारी नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेष में उत्पन्न होने के कारण दूसरों का शासक या धर्म का ठेकेदार नहीं हो सकता। भौतिक साधनों की प्रतिष्ठा बाह्य में कदाचित् हो भी पर धर्मक्षेत्र में प्राणिमात्र को एक ही भूमि पर बैठना होगा। हर एक प्राणी को धर्म की शीतल छाया में समानभाव से सन्तोष की सांस लेने का सुअवसर है। आत्मसमत्व, वीतरागत्व या अहिंसा के विकास से ही कोई महान् हो सकता है न कि जगत् में विषमता फैलानेवाले हिंसक परिग्रह के संग्रह से। आदर्श त्याग है न कि संग्रह। इस प्रकार जाति, वर्ण, रङ्ग, देश, आकार, परिग्रहसंग्रह आदि विषमता और संघर्ष के कारणों से परे होकर प्राणिमात्र को समत्व, अहिंसा और वीतरागता का पावन सन्देश इन श्रमणसन्तों ने उस समय दिया जब यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड एक वर्गविशेष की जीविका के साधन बने हुए थे, कुछ गाय, सोना और स्त्रियों की दक्षिणा से स्वर्ग के टिकिट प्राप्त हो जाते थे, धर्म के नाम पर गोमेध अजामेध क्वचित् नरमेध तक का खुला बाजार था, जातिगत उच्चत्व नीचत्व का विष समाज-शरीर को दग्ध कर रहा था, अनेक प्रकार से सत्ता को हथियाने के षड्यन्त्र चालू थे। उस बर्बर युग में मानवसमत्व और प्राणिमैत्री का उदारतम सन्देश इन युगधर्मी सन्तों ने नास्तिकता का मिथ्या लांछन सहते हुए भी दिया और भ्रान्त जनता को सच्ची समाजरचना का मूलमन्त्र बताया।

पर, यह अनुभवसिद्ध बात है। अहिंसा की स्थायी प्रतिष्ठा मनःशुद्धि और वचनशुद्धि के बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीर से दूसरे प्राणियों की हिंसा न करें पर यदि वचन व्यवहार और चित्त-गत-विचार विषम और विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा पल ही नहीं सकती। अपने मत के विचार अर्थात् मत को पुष्ट करने के लिए ऊँच नीच शब्द बोले जायँगे और फलतः हाथापाई का अवसर आए बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थों का इतिहास अनेक हिंसा काण्डों के रक्तरञ्जित पन्नों से भरा हुआ है। अतः यह आवश्यक था कि अहिंसा की सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठा के लिए विश्व का यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचार शुद्धि-मूलक वचनशुद्धि की जीवन व्यवहार में प्रतिष्ठा हो। यह सम्भव ही नहीं है कि एक ही वस्तु के विषय में परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्ष के समर्थन के लिए उचित अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्ष प्रतिपक्षों का संगठन हो, शास्त्रार्थ में हारनेवाले को तैल की जलती कड़ाही में जीवित तल देने जैसी हिंसक होड़ें भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा बनी रहे!

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक सन्त थे। उनने देखा कि आज का सारा राजकारण धर्म और मतवादियों के हाथ में है। जब तक इन मतवादों का वस्तु स्थिति के आधार से समन्वय न होगा तब तक हिंसा की जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्व के तत्त्वों का साक्षात्कार किया और बताया कि विश्व का प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्त धर्मों का भण्डार है। उसके विराट् स्वरूप को साधारण मानव परिपूर्ण रूप में नहीं जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तु के एक एक अंश को जानकर अपने में पूर्णता का दुरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तु में नहीं है। विवाद तो देखने वालों की दृष्टि में है। काश, ये वस्तु के विराट् अनन्त-धर्मात्मक या अनेकात्मक स्वरूप की झाँकी पा सकें। उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्व ज्ञान की ओर मतवादियों का ध्यान खींचा और बताया कि—देखो, प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनाद्यनन्त सन्तान स्थिति की दृष्टि से नित्य है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्व के रंगमञ्च से एक कण का भी समूल विनाश हो जाय। साथ ही प्रति-क्षण उसकी पर्यायें बदल रही हैं, उसके गुण-धर्मों में भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है, अतः

वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तु की निजी सम्पत्ति हैं। इनमें से हमारा स्वल्प ज्ञानलव एक एक अंश को विषय करके क्षुद्र मतवादों की सृष्टि कर रहा है। आत्मा को नित्य सिद्ध करने वालों का पक्ष अपनी सारी शक्ति आत्मा को अनित्य सिद्ध करने वालों की उखाड़ पछाड़ में लगा रहा है तो अनित्यवादियों का गुट नित्यवादियों को भला बुरा कह रहा है।

महावीर को इन मतवादियों की बुद्धि और प्रवृत्ति पर तरस आता था। वे बुद्ध की तरह आत्मनित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदि को अव्याकृत (अकथनीय) कहकर बौद्धिक तम की सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने इन सभी तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्यों को प्रकाश में लाकर उन्हें मानस समता की समभूमि पर ला दिया। उनने बताया कि वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो वस्तु उतनी ही नहीं है, उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है, उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उसका ईमानदारी से विचार करो, वह भी वस्तु में विद्यमान है। चित्त से पक्षपात की दुरभिसन्धि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण को भी उतनी ही प्रामाणिकता से वस्तु में खोजो वह वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तु की सीमा और मर्यादा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़ में चेतनत्व खोजा जाय या चेतन में जड़त्व, तो नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के अपने अपने निजी धर्म निश्चित हैं। मैं प्रत्येक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक कह रहा हूँ, सर्वधर्मात्मक नहीं। अनन्त धर्मों में चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन में मिलेंगे तथा अचेतनगत सम्भव धर्म अचेतन में। चेतन के गुण-धर्म अचेतन में नहीं पाये जा सकते और न अचेतन के चेतन में। हाँ, कुछ ऐसे सामान्य धर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन दोनों में साधारण रूप से पाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तु में बहुत गुंजाइश है। वह इतनी विराट है जो हमारे तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणों से देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र-दृष्टि का आग्रह करके दूसरे की दृष्टि का तिरस्कार करना या अपनी दृष्टि का अहंकार करना वस्तु के स्वरूप की नासमझी का परिणाम है। हरिभद्रसूरि ने लिखा है कि—

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"—[लोकतत्त्वनिर्णय]

अर्थात्—आग्रही व्यक्ति अपने मतपोषण के लिए युक्तियाँ ढूँढ़ता है, युक्तियों को अपने मत की ओर ले जाता है, पर पक्षपातरहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूप को स्वीकार करने में अपनी मति की सफलता मानता है।

अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूप की ओर अपने मत को लगाओ न कि अपने निश्चित मत की ओर वस्तु और युक्ति की खींचातानी करके उन्हें बिगाड़ने का दुष्प्रयास करो, और न कल्पना की उड़ान इतनी लम्बी लो जो वस्तु की सीमा को ही लाँघ जाय। तात्पर्य यह है कि मानससमता के लिए यह वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस नरतनधारी को ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानी में है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है। और वह किस दुरभिमान से हिंसक मतवाद का सर्जन करके मानवसमाज का अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्त दर्शन से विचारों में या दृष्टिकोणों में कामचलाऊ समन्वय या ढीलाढाला समझौता नहीं होता, किन्तु वस्तुस्वरूप के आधार से यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वय दृष्टि प्राप्त होती है।

डॉ० सर राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी (जिल्द १ पृ० ३०५-६) में स्याद्वाद के ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—"इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्य का ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वाद से हम पूर्ण सत्य को नहीं जान सकते। दूसरे शब्दों में—स्याद्वाद हमें अर्धसत्यों के पास लाकर पटक देता है और इन्हीं अर्धसत्यों को पूर्ण सत्य मान लेने की प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित अनिश्चित अर्धसत्यों को मिलाकर एक साथ रख देने से वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता।" आदि।

क्या सर राधाकृष्णन् बताने की कृपा करेंगे कि स्याद्वाद ने निश्चित अनिश्चित अर्धसत्यों को पूर्ण सत्य मानने की प्रेरणा कैसे की है? हाँ, वह वेदान्त की तरह चेतन और अचेतन के काल्पनिक अभेद की दिमागी दौड़ में अवश्य शामिल नहीं हुआ। और न वह किसी ऐसे सिद्धान्त का समन्वय करने की सलाह देता है जिसमें वस्तुस्थिति की उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन् को पूर्णसत्य रूप से वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है जिसमें चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त सभी काल्पनिक रीति से समा जाते हैं। वे स्याद्वाद की समन्वयदृष्टि को अर्धसत्यों के पास लाकर पटकना समझते हैं, पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्त-धर्मात्मक है तब उस वास्तविक नतीजे पर पहुँचने को अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं? हाँ, स्याद्वाद उस प्रमाणविरुद्ध काल्पनिक अभेद की ओर वस्तुस्थितिमूलक दृष्टि से नहीं जा सकता। वैसे, संग्रहनय की एक चरम अभेद की कल्पना जैनदर्शनकारों ने भी की है और उस परम संग्रहनय की अभेद दृष्टि से बताया है कि–'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात्–जगत् एक है, सद्रूप से चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना है, क्योंकि ऐसा एक सत् नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्य में अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन् को चरम अभेद की कल्पना ही देखनी हो तो वे परमसंग्रहनय के दृष्टिकोण में देख सकते हैं, पर वह केवल कल्पना ही होगी, वस्तुस्थिति नहीं। पूर्णसत्य तो वस्तु का अनेकान्तात्मक रूप से दर्शन ही है न कि काल्पनिक अभेद का दर्शन।

इसी तरह प्रो० बलदेव उपाध्याय इस स्याद्वाद से प्रभावित होकर भी सर राधाकृष्णन् का अनुसरण कर स्याद्वाद को मूलभूततत्त्व (एक ब्रह्म?) के स्वरूप के समझाने में नितान्त असमर्थ बताने का साहस करते हैं। इनने तो यहाँ तक लिख दिया है कि–"इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोंबीच तत्त्वविचार को कतिपय क्षण के लिए विस्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्रामगृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" (भारतीय दर्शन पृ० १७३)। आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शन को उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तुविचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तु की सीमा को कैसे लाँघ सकता है? ब्रह्मैकवाद न केवल युक्तिविरुद्ध ही है पर आज के विज्ञान से उसके एकीकरण का कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञान ने एटम तक का विश्लेषण किया है और प्रत्येक की अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अतः यदि स्याद्वाद वस्तु की अनेकान्तात्मक सीमा पर पहुँचाकर बुद्धि को विराम देता है तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेद से वास्तविक स्थिति की उपेक्षा करना मनोरञ्जन से अधिक महत्त्व की बात नहीं हो सकती।

इसी तरह श्रीयुत् हनुमन्तराव एम. ए. ने अपने "Jain Instrumental theory of Knowledge" नामक लेख में लिखा है कि–"स्याद्वाद सरल समझौते का मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्य तक नहीं ले जाता।" आदि। ये सब एक ही प्रकार के विचार हैं जो स्याद्वाद के स्वरूप को न समझने के या वस्तुस्थिति की उपेक्षा करने के परिणाम हैं। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि–महावीर ने देखा कि–वस्तु तो अपने स्थान पर अपने विराट् रूप में प्रतिष्ठित है, उसमें अनन्त धर्म, जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविरुद्ध भाव से विद्यमान हैं, पर हमारी दृष्टि में विरोध होने से हम उसकी यथार्थ स्थिति को नहीं समझ पा रहे हैं। जैन दर्शन वास्तव-बहुत्ववादी है। वह दो पृथक् सत्ताक वस्तुओं को व्यवहार के लिए कल्पना से अभिन्न कह भी दे, पर वस्तु की निजी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहता। जैन दर्शन एक व्यक्ति का अपने गुण-पर्यायों से वास्तविक अभेद तो मानता है, पर दो व्यक्तियों में अवास्तविक अभेद को नहीं मानता। इस दर्शन की यही विशेषता है, जो यह परमार्थ सत् वस्तु की परिधि को न लाँघकर उसकी सीमा में ही विचार करता है और मनुष्यों को कल्पना की उड़ान से विरत कर वस्तु की ओर देखने को बाध्य करता है। जिस चरम अभेद तक न पहुँचने के कारण अनेकान्त दर्शन को सर राधाकृष्णन् जैसे विचारक अर्धसत्यों का समुदाय कहते हैं उस चरम अभेद को भी अनेकान्त दर्शन एक व्यक्ति का एक धर्म मानता है। वह उन अभेदकल्पकों को कहता है कि वस्तु इससे भी बड़ी है अभेद तो उसका एक धर्म है। दृष्टि को और उदार तथा विशाल करके वस्तु के पूर्ण रूप को देखो,

उसमें अभेद एक कोने में पड़ा होगा और अभेद के अनन्तों भाई-बन्धु उसमें तादात्म्य हो रहे होंगे। अतः इन मतवादियों को उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तु की झाँकी दिखानेवाले अनेकान्तदर्शन ने वास्तविक विचार की अन्तिम रेखा खींची है, और यह सब हुआ है मानस समतामूलक तत्त्वज्ञान की खोज से। जब इस प्रकार वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्त धर्मात्मिका है तब सहज ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है उसकी सहानुभूति से समीक्षा होनी चाहिये और वस्तुस्थिति मूलक समीकरण होना चाहिये। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तु अनन्तधर्मता के वातावरण से निरर्थक कल्पनाओं का जाल टूटेगा और अहंकार का विनाश होकर मानससमता की सृष्टि होगी। जो कि अहिंसा का संजीवन बीज है। इस तरह मानस समता के लिए अनेकान्त दर्शन ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। जब अनेकान्त दर्शन से विचारशुद्धि हो जाती है तब स्वभावतः वाणी में नम्रता और परसमन्वय की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वह वस्तुस्थिति को उल्लंघन करनेवाले शब्द का प्रयोग ही नहीं कर सकता। इसीलिए जैनाचार्यों ने वस्तु की अनेकधर्मात्मकता का द्योतन करने के लिए 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता बताई है। शब्दों में यह सामर्थ्य नहीं जो कि वस्तु के पूर्णरूप को युगपत् कह सके। वह एक समय में एक ही धर्म को कह सकता है। अतः उसी समय वस्तु में विद्यमान शेष धर्मों की सत्ता का सूचन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का 'सुनिश्चित दृष्टिकोण' या 'निर्णीत अपेक्षा' ही अर्थ है 'शायद, सम्भव कदाचित् आदि नहीं। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है–'स्वरूपादि की अपेक्षा से वस्तु है ही' न कि 'शायद है', 'सम्भव है', 'कदाचित् है' आदि। संक्षेपतः जहाँ अनेकान्त दर्शन चित्त में समता, मध्यस्थभाव, वीतरागता, निष्पक्षता का उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणी में निर्दोषता आने का पूरा अवसर देता है।

इस प्रकार अहिंसा की परिपूर्णता और स्थायित्व की प्रेरणा ने मानस शुद्धि के लिए अनेकान्त दर्शन और वचन शुद्धि के लिए स्याद्वाद जैसी निधियों को भारतीय संस्कृति के कोषागार में दिया है। बोलते समय वक्ता को सदा यह ध्यान रहना चाहिए कि वह जो बोल रहा है उतनी ही वस्तु नहीं है, किन्तु बहुत बड़ी है, उसके पूर्णरूप तक शब्द नहीं पहुँच सकते। इसी भाव को जताने के लिए वक्ता 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करता है। 'स्यात्' शब्द विधिलिङ् में निष्पन्न होता है, जो अपने वक्तव्य को निश्चित रूप में उपस्थित करता है न कि संशय रूप में। जैन तीर्थंकरों ने इस तरह सर्वांगीण अहिंसा की साधना का वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार का प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया है। उनने पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थों के देखने का, उनके ज्ञान करने का और उनके स्वरूप को वचन से कहने का नया वस्तुस्पर्शी मार्ग बताया। इस अहिंसक दृष्टि से यदि भारतीय दर्शनकारों ने वस्तु का निरीक्षण किया होता तो भारतीय जल्पकथा का इतिहास रक्तरंजित न हुआ होता और धर्म तथा दर्शन के नाम पर मानवता का निर्दलन नहीं होता। पर अहंकार और शासन भावना मानव को दानव बना देती है। उस पर भी धर्म और मत का 'अहम्' तो अति दुर्निवार होता है। परन्तु युग युग में ऐसे ही दानवों को मानव बनाने के लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वय दृष्टि, इसी समता भाव और इसी सर्वांगीण अहिंसा का सन्देश देते आए हैं। यह जैन दर्शन की ही विशेषता है जो वह अहिंसा की तह तक पहुँचने के लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा अपि तु वास्तविक स्थिति के आधार से दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने की मौलिक दृष्टि भी खोज सका। न केवल दृष्टि ही किन्तु मन वचन और काय इन तीनों द्वारों से होनेवाली हिंसा को रोकने का प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित कर सका।

आज डॉ॰ भगवानदास जैसे मनीषी समन्वय और सब धर्मों की मौलिक एकता की आवाज बुलन्द कर रहे हैं। वे वर्षों से कह रहे हैं कि समन्वय दृष्टि प्राप्त हुए बिना स्वराज्य स्थायी नहीं हो सकता, मानव मानव नहीं रह सकता। उन्होंने अपने 'समन्वय' और 'दर्शन का प्रयोजन' आदि ग्रन्थों में इसी समन्वय तत्त्व का भूरि भूरि प्रतिपादन किया है। जैन ऋषियों ने इस समन्वय (स्याद्वाद) सिद्धान्त पर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विश्वास है कि जब तक दृष्टि में समीचीनता नहीं आयगी तब तक

मतभेद और संघर्ष बना ही रहेगा। नए दृष्टिकोण से वस्तु स्थिति तक पहुँचना ही विसंवाद से हटाकर जीवन को संवादी बना सकता है। जैन दर्शन की भारतीय संस्कृति को यही देन है। आज हमें जो स्वातन्त्र्य के दर्शन हुए हैं वह इसी अहिंसा का पुण्यफल है। कोई यदि विश्व में भारत का मस्तक ऊँचा रख सकता है तो यह निरुपाधि वर्ण, जाति, रङ्ग, देश आदि की क्षुद्र उपाधियों से रहित अहिंसा भावना ही है।

इस प्रकार सामान्यतः दर्शन शब्द का अर्थ और उनकी सीमा तथा जैनदर्शन की भारतीय दर्शन को देन का सामान्य वर्णन करने के बाद इस भाग में आए हुए ग्रन्थगत प्रमेय का वर्णन संक्षेप में किया जाता है—

विषयपरिचय

ग्रन्थ का बाह्यस्वरूप

नाम—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जैन न्याय का अवतार करने वाला न्यायावतार ग्रन्थ लिखा है। न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुत इन तीन प्रमाणों का विवेचन किया गया है। अकलङ्कदेव ने प्रकृत ग्रन्थ न्यायविनिश्चय में भी प्रत्यक्ष अनुमान और प्रवचन ये तीन ही प्रस्ताव रखे हैं। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक में प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान इन तीन का विवेचन है। परार्थानुमान और शब्द प्रमाण की प्रक्रिया लगभग एकसी है। धर्मकीर्ति का एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ गद्यपद्यमय रहा है। वादिदेवसूरिने स्याद्वाद रत्नाकर (पृ० २३) में 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनिश्चयस्य......' यह उल्लेख करके लिखा है कि न्यायविनिश्चय के तीन परिच्छेदों में क्रमशः प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का वर्णन है। यदि धर्मकीर्ति का प्रमाणविनिश्चय के अतिरिक्त न्यायविनिश्चय नाम का भी कोई ग्रन्थ रहा है तो अकलङ्कदेव ने नाम की पसन्दगी में इसका उपयोग कर लिया होगा। अभी तक के अनुसन्धान से धर्मकीर्ति के न्यायविनिश्चय ग्रन्थ का तो पता नहीं चला है। हो सकता है कि वादिदेवसूरि ने प्रमाणविनिश्चय का ही न्यायविनिश्चय के नाम से उल्लेख कर दिया हो क्योंकि उसके प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान परिच्छेद प्रमाण के ही भेदों के विवेचक हैं। अतः प्रमाणवार्तिक की तरह प्रमाणविनिश्चय नाम की ही अधिक सम्भावना है। अकलङ्कदेव ने न्याय को कलिदोष से मलिन हुआ देखकर उसके विनिश्चयार्थ न्यायावतार और प्रमाणविनिश्चय के आद्यन्त पदों से ग्रन्थ का न्यायविनिश्चय नामकरण किया होगा।

न्यायविनिश्चय की अकलङ्ककर्तृकता—अकलङ्कदेव अपने ग्रन्थों में कहीं न कहीं 'अकलङ्क' नाम का प्रयोग अवश्य करते हैं। यह प्रयोग कहीं जिनेन्द्र के विशेषण के रूप में, कहीं ग्रन्थ के विशेषण के रूप में और कहीं लक्षणवटक विशेषण के रूप में दृष्टिगोचर होता है। न्यायविनिश्चय ग्रन्थ (कारिका नं० ३८६) में "विस्रब्धैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो विनिश्चीयते" इस कारिकांश के द्वारा अकलङ्क और न्यायविनिश्चय दोनों की हृदयहारिणी रीति से स्पष्ट सूचना दे दी है। वादिराजसूरि के पुष्पिका वाक्य, अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय टीका (पृ० २०८ B) का उल्लेख, विद्यानन्दि का आप्तपरीक्षा (पृ० ४९) गत 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कह कर उद्धृत की गई न्यायविनिश्चय की 'इन्द्रजालादिषु' आदि कारिका, न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणयति द्वारा 'तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखकर 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' इस तीसरी कारिका का उद्धरण किया जाना इस ग्रन्थ की अकलङ्ककर्तृकता के प्रबल पोषक प्रमाण हैं।

ग्रन्थगतप्रमेय—न्यायविनिश्चय में तीन प्रस्ताव हैं—१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ प्रवचन। इन प्रस्तावों में स्थूल रूप से निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला गया है—

प्रथम प्रत्यक्ष प्रस्ताव में—प्रत्यक्ष का लक्षण, इन्द्रिय प्रत्यक्ष का लक्षण, प्रमाणसम्प्लवसूचन, चक्षुरादि बुद्धियों का व्यवसायात्मकत्व, विकल्प के अभिलापवत्त्व आदि लक्षणों का खण्डन, ज्ञान को परोक्ष

मानने का निराकरण, ज्ञान के स्वसंवेदन की सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदनाद्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञान-खण्डन, परमाणुरूप बहिरर्थ का निराकरण, अवयवों से भिन्न अवयवी का खण्डन, द्रव्य का लक्षण, गुण और पर्याय का स्वरूप, सामान्य का स्वरूप, अर्थ के उत्पादादित्रयात्मकत्व का समर्थन, अपोहरूप सामान्य का निरास, व्यक्ति से भिन्न सामान्य का खण्डन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन, बौद्धकल्पित स्वसंवेदन-योगि-मानसप्रत्यक्षनिरास, सांख्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षण का खण्डन, नैयायिक के प्रत्यक्ष का समालोचन, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का लक्षण आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्तावमें—अनुमान का लक्षण, प्रत्यक्ष की तरह अनुमान की बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभास के लक्षण, बौद्धादि मतों में साध्यप्रयोग की असम्भवता, शब्द का अर्थवाचकत्व, शब्द सङ्केतग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवाद का निराकरण, गुणगुणिभेद का निराकरण, साधनसाधनाभास के लक्षण, प्रमेयत्व हेतु की अनेकान्तसाधकता, सत्त्वहेतु की परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्यखण्डनपूर्वक अन्यथा-नुपपत्तिसमर्थन, तर्क की प्रमाणता, अनुपलम्भ हेतु का समर्थन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचर हेतु का समर्थन, असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभासों का विवेचन, दूषणाभासलक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभासविचार, वाद का लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभास-लक्षण आदि अनुमान से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का वर्णन है।

तृतीय प्रवचन प्रस्ताव में—प्रवचन का स्वरूप, सुगत के आप्तत्व का निरास, सुगत के करुणा-वत्त्व तथा चतुरार्यसत्य प्रतिपादकत्व का परिहास, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्यस्वप्नज्ञान तथा ईक्षणिकादि विद्या के दृष्टान्तद्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनि-रास, जीवादि तत्त्वनिरूपण, नैरात्म्य भावना की निरर्थकता, मोक्ष का स्वरूप, सप्तभंगी निरूपण, स्याद्वादमें दिये जानेवाले संशयादि दोषों का परिहार, स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रामाण्य, प्रमाण का फल आदि विषयों पर विवेचन है।

प्रस्तुत न्यायविनिश्चय में तीन प्रकार के श्लोकों का संग्रह है—(१) वार्तिक (२) अन्तरश्लोक (३) संग्रहश्लोक। इस भाग में 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' आदि तीसरा श्लोक मूलवार्तिक है क्योंकि आगे इसी श्लोकगत पदों का विस्तृत विवेचन है। वृत्ति के मध्य में यत्र तत्र आनेवाले अन्तरश्लोक हैं। तथा वृत्ति के द्वारा प्रदर्शित मूलवार्तिक के अर्थ का संग्रह करानेवाले संग्रहश्लोक हैं। वादिराजसूरि ने (पृ० २२९) स्वयं "निराकारेत्यादयः अन्तरश्लोकाः वृत्तिमध्यवर्तित्वात्' विभुत्वेत्यादि वार्तिकव्याख्यानवृत्तिमध्यप्रवर्तिनः सप्तमी श्लोकाः। संग्रहश्लोकास्तु वृत्त्युपदर्शितस्य वार्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः।' इन शब्दों में अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक की विशेषता बताई है। वादिराजसूरि की व्याख्या गद्यभाग पर तो नहीं ही है। पद्यों में भी सम्भवतः कुछ पद्य अव्याख्यात छूट गए हैं।

कारिका संचय—न्यायविनिश्चय की मूलकारिकाएँ पृथक् पृथक् पूर्णरूप से लिखी हुई नहीं मिलतीं। इनका उद्धार विवरणगत कारिकांशों को जोड़कर किया गया है। अतः जहाँ ये कारिकाएँ पूरी नहीं मिलतीं वहाँ उद्धृत अंश को [   ] इस ब्रेकिट में दे दिया है। अकलङ्कग्रन्थत्रय में न्यायविनिश्चय मूल प्रकाशित हो चुका है। उसमें प्रथम प्रस्ताव में १६९½ कारिकाएँ मुद्रित हैं पर वस्तुतः इस प्रस्ताव की कारिकाओं की प्रामाणिक संख्या १६८½ है। अकलङ्कग्रन्थत्रयगत न्यायविनिश्चय में 'हिताहिताप्ति' (कारिका नं० ४) कारिका मूल की समझकर छापी गई है, पर अब यह कारिका वादिराज की स्वकृत ज्ञात होती है। न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० ११५) में लिखा है कि—"कारिष्यते हि सदसज्ज्ञान इत्यादिना इन्द्रिय प्रत्यक्षस्य, परोक्षज्ञान इत्यादिना अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य, लक्षणं सममित्यादिना चातीन्द्रिय प्रत्यक्षसमर्थनम्" इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि तीनों प्रत्यक्षों का प्रकारान्तर से समर्थन कारिकाओं में किया गया है लक्षण नहीं। मूल कारिकाओं में न तो अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष का लक्षण है और न अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का, तब केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण क्यों किया होगा ? दूसरे पक्ष में इस श्लोक की व्याख्या

(पृ० १०५, १११) विवरण में मौजूद है और व्याख्या के आधारों से ही उक्त श्लोक को मैंने पहले मूल का माना था। हो सकता है कि वादिराज ने स्वकृत श्लोक का ही तात्पर्योद्घाटन किया हो। अथवा वृत्ति में ही गद्य में उक्त लक्षण हो और वादिराज ने उसे पद्यबद्ध कर दिया हो। जैसा कि लघीयस्त्रय स्ववृत्ति (पृ० २१) में "इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्" यह इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण मिलता है। अथवा इसे ही वादिराज ने पद्यबद्ध कर दिया हो। फलतः हमने इस श्लोक को इस विवरण में वादिराजकृत ही मानकर छोटे टाइप में छापा है। अकलङ्कग्रन्थत्रय की प्रस्तावना में इस श्लोक के सम्बन्ध में मैंने पं० कैलाशचन्द्रजी के मत की चरचा की थी। अनुसन्धान से उनका मत इस समय उचित मालूम होता है।

अकलङ्कग्रन्थत्रय में मुद्रित कारिका नं० ३८ का 'ग्राह्यभेदो न संवित्तिं भिनत्त्याकारभेदपि" यह उत्तरार्ध मूल का नहीं है। कारिका नं० १२९ के पूर्वार्ध के बाद "तथा सुनिश्चितस्तैस्तु तत्त्वतो विप्रशंसतः" यह उत्तरार्ध मूल का होना चाहिए। इस तरह इस परिच्छेद की कारिकाओं की संख्या १६८½ रह जाती है। प्रस्तुत विवरण में छापते समय कारिकाओं के नम्बर देने में गड़बड़ी हो गई है।

ताडपत्रीय प्रति में प्रायः मूल श्लोकों के पहिले ◌ इस प्रकार का चिह्न बना हुआ है, जहाँ पूरे श्लोक आए हैं। कारिका नं० ४ पर यह चिह्न नहीं बना है। अकलङ्कग्रन्थत्रय में मुद्रित प्रथम परिच्छेद की कारिकाओं में निम्नलिखित संशोधन होना चाहिए—

कारिका नं० १६	–शब्दो	–शक्तो।
कारिका नं० २४	–वन्यचे–	–वन्यचे–।
कारिका नं० ३१	न विज्ञाना–	न हि ज्ञाना–।
कारिका नं० ७०	–मेप निश्चयः	–मेप विनिश्चयः।
कारिका नं० ७८	कथञ्च तत्	कथ ततः।
कारिका नं० १०२	द्रुमेष्व–	भुवेष्व–।
कारिका नं० १४०	अतदारम्भ–	अतदाभ–

द्वितीय और तृतीय परिच्छेद में मुद्रित कारिकाओं में निम्नलिखित कारिकापरिवर्तनादि हैं— कारिका नं० १९४ की रचना—"अतद्धेतुफलापोहः सामान्यं चेदपोहिनाम्। सन्दर्श्यते यथा बुद्ध्या न तथाऽप्रतिपत्तितः।" इस प्रकार होनी चाहिए।

कारिका नं० २८३ के र्वार्ध के बाद "चित्रचैत्तविचित्राभदृष्टभङ्गप्रसङ्गतः। स नैकः सर्वथा श्लेषात् नानेको भेदरूपतः।" यह कारिका और होनी चाहिए। कारिका नं० ३०२ का "पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः" यह उत्तरार्ध मूल का नहीं है। कारिका नं० ४३१ के बाद "ततः शब्दार्थयोर्नास्ति सम्बन्धोऽपौरुषेयकः" यह कारिकार्ध और होना चाहिए। कारिका नं० ४७५ के बाद "प्रमा प्रमितिहेतुत्वात् प्रामाण्यमुपगम्यते" यह कारिकार्ध और होना चाहिए। अत. अकलङ्कग्रन्थत्रयगत न्यायविनिश्चय के अङ्कोंके अनुसार संपूर्ण ग्रन्थमें ४८०½ कारिकाएँ फलित होती हैं।

न्यायविनिश्चय विवरण—न्यायविनिश्चय के पद्य भाग पर प्रबलतार्किक स्याद्वादविद्यापति वादिराजसूरि कृत तात्पर्यविद्योतिनी व्याख्यानरत्नमाला उपलब्ध है। जिसका नाम[1] न्यायविनिश्चय विवरण है। जैसा कि वादिराजकृत इस श्लोक से प्रकट है—

---

१ परम्परागत प्रसिद्धि के अनुसार इसका नाम न्यायकुमुदचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्रोदय की तरह न्यायविनिश्चयालङ्कार रूढ हो गया है। परन्तु वस्तुतः वादिराज के उक्त श्लोक गत उल्लेखानुसार इसका मुख्य आख्यान न्यायविनिश्चयविवरण है; दूसरे शब्दों में इसे तात्पर्यविद्योतिनी व्याख्यानरत्नमाला भी कह सकते हैं। पर न्यायविनिश्चयालङ्कार नाम का समर्थन किसी भी प्रमाण से नहीं होता। पं० परमानन्दजी शास्त्री सरसावा ने

"प्रणिपत्य स्थिरभक्त्या गुरून् परानप्युदारबुद्धिगुणान्।
न्यायविनिश्चयविवरणमभिरमणीयं मया क्रियते ॥"

लघीयस्त्रय की तरह न्यायविनिश्चयविवरण (प्रथमभाग पृ० २२९) में आए हुए 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्', 'वृत्तिचूर्णीनां तु विस्तारभयादस्माभिर्व्याख्यानमुपदर्श्यते' इन अवतरणों से स्पष्ट है कि न्यायविनिश्चय पर अकलङ्कदेव की स्ववृत्ति अवश्य रही है। वृत्ति के मध्य में भी श्लोक थे जो अन्तरश्लोक के नाम से प्रसिद्ध थे। इसके सिवाय वृत्ति के द्वारा प्रदर्शित मूलवार्तिक के अर्थ को संग्रह करनेवाले संग्रहश्लोक भी थे। वादिराजसूरि ने जिन ४८०½ श्लोकों का व्याख्यान विवरण में किया है उनमें अन्तरश्लोक और संग्रहश्लोक भी शामिल हैं। कितने संग्रहश्लोक हैं और कितने अन्तरश्लोक इसका ठीक निर्णय द्वितीयभाग के प्रकाशन के समय हो सकेगा। पर वादिराजसूरि ने वृत्ति या चूर्णिगत सभी श्लोकों का व्याख्यान नहीं किया। पृ० २०१ में 'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' इस उत्थान वाक्य के साथ "समारोपव्यवच्छेदात्" आदि श्लोक उद्धृत है। यदि वादिराजसूरि न्यायविनिश्चय की स्ववृत्ति को ही चूर्णिशब्द से कहते हैं तो कहना होगा कि आपने वृत्ति या चूर्णिगत सभी श्लोकों का व्याख्यान नहीं किया, क्योंकि 'समारोपव्यवच्छेदात्' श्लोक मूल में शामिल नहीं किया गया है।

इस तरह वृत्ति के यावत् गद्यभाग की तो व्याख्या की ही नहीं गई, सम्भवतः कुछ पद्य भी छूट गए हैं। जैसा कि सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १२० A) के निम्नलिखित उल्लेखों से स्पष्ट है—

"तदुक्तं न्यायविनिश्चये—न चैतद् बहिरेव। किं तर्हि? बहिर्बहिरिव प्रतिभासते। कुत एतत्? भ्रान्तेः। तदन्यत्र समानम्। इति।"

सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ४९ A) में ही न्यायविनिश्चय के नाम से 'सुखमाह्लादनाकार' श्लोक उद्धृत है—"कथमन्यथा न्यायविनिश्चये सहभुवो गुणाः इत्यस्य

सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्यात् यूनः कान्तासमागमे ॥ इति निदर्शनं स्यात्।"

यह श्लोक सिद्धिविनिश्चयटीका के उल्लेखानुसार न्यायविनिश्चय स्ववृत्ति का होना चाहिए। क्योंकि यह 'गुणपर्ययवद्‌द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः' (श्लो० १११) के गुण शब्द की वृत्ति में उदाहरणरूप से दिया गया होगा। यह भी सम्भव है कि अकलङ्कदेव ने स्वयं इस श्लोक को वृत्ति में उद्धृत किया हो क्योंकि वादिराज इसे स्याद्वादमहार्णव ग्रन्थ का बताते हैं। यह भी चित्त को लगता है कि न्यायविनिश्चय की उक्त वृत्ति ही सम्भवतः स्याद्वादमहार्णव के नाम से प्रख्यात रही हो। जो हो, पर अभी यह सब साधक प्रमाणों का अभाव होने से सम्भावनाकोटि में ही हैं।

न्यायविनिश्चयविवरण की रचना अत्यन्त प्रसन्न तथा मौलिक है। तत्तत् पूर्वपक्षों को समृद्ध और प्रामाणिक बनाने के लिए तत्तत् ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं। जहाँ तक मैंने अध्ययन किया है वादिराजसूरि के ऊपर किसी भी दार्शनिक आचार्य का सीधा प्रभाव नहीं है। वे हरएक विषय को

इसका न्यायविनिश्चयालङ्कार नाम भी मानकर इसके प्रमाणनिर्णय से पहिले रचे जाने के सम्बन्ध में प्रमाणनिर्णय (पृ० ११) गत यह अवतरण एकीभावस्तोत्र की प्रस्तावना (पृ० १५) में उपस्थित किया है—

"अत एव यथमर्धार्थमक्षरं स्पष्टमेव मानसप्रत्यक्षस्य प्रतिपादितमलङ्कारे—इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात् पुरतः स्थिते। साक्षात्करणतस्तत्र प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥"

परन्तु इस अवतरण में अलङ्कार शब्द से न्यायविनिश्चयालङ्कार इष्ट नहीं है क्योंकि यह श्लोक वादिराजसूरि के न्यायविनिश्चयविवरण का नहीं है किन्तु प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्तिकालङ्कार (लिखित पृ० ४) का है, और इसे वादिराज ने न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० ११९) में पूर्वपक्षरूप से उद्धृत किया है। वादिराज ने स्वयं न्यायविनिश्चयविवरण में बीसों जगह प्रमाणवार्तिकालङ्कार का 'अलङ्कार' नाम से उल्लेख किया है। अतः न्यायविनिश्चयविवरण का न्यायविनिश्चयालङ्कार नाम निर्मूल है और मात्र भ्रान्तिपूर्णनिमित्त ही प्रचलित हो गया है।

स्वयं आत्मसात् करके ही व्यवस्थित ढंग से युक्तियों का जाल बिछाते हैं जिससे प्रतिवादी को निकलने का अवसर ही नहीं मिल पाता।

सांख्य के पूर्वपक्ष में (पृ० २३१) योगभाष्य का उल्लेख 'विन्ध्यवासिनो भाष्यम्' शब्द से किया है। सांख्यकारिका के एक प्राचीन निबन्ध से (पृ० २३२) भोग की परिभाषा उद्धृत की है।

बौद्धमतसमीक्षा में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रज्ञाकर के वार्तिकालङ्कार की इतनी गहरी और विस्तृत आलोचना अन्यत्र देखने में नहीं आई। वार्तिकालङ्कार का तो आधा सा भाग इसमें आलोचित है। धर्मोत्तर, शान्तभद्र, अर्चट आदि प्रमुख बौद्धग्रन्थकार इनकी तीखी आलोचना से नहीं छूटे हैं।

मीमांसादर्शन की समालोचना में शबर उम्बेक प्रभाकर मण्डन कुमारिल आदि का गम्भीर पर्यालोचन है। इसी तरह न्यायवैशेषिक मत में व्योमशिव, आत्रेय, भासर्वज्ञ, विश्वरूप आदि प्राचीन आचार्योंके मत उनके ग्रन्थों से उद्धृत कर के आलोचित हुए हैं। उपनिषदों का वेदमस्तक शब्द से उल्लेख किया गया है। इस तरह जितना परपक्षसमीक्षण का भाग है वह उन उन मतों के प्राचीनतम ग्रन्थों से लेकर ही पूर्वपक्ष में स्थापित करके आलोचित किया गया है।

स्वपक्षसंस्थापन में समन्तभद्रादि आचार्यों के प्रमाणवाक्यों से पक्ष का समर्थन परिपुष्ट रीति से किया है। जब वादिराज कारिकाओं का व्याख्यान करते हैं तो उनकी अपूर्व वैयाकरणचुञ्चुता चित्त को विस्मित कर देती है। किसी किसी कारिका के पांच पांच अर्थ तक इन्होंने किए हैं। दो अर्थ तो साधारणतया अनेक कारिकाओं के दृष्टिगोचर होते हैं। काव्यछटा और साहित्यसर्जकता तो इनकी पद पद पर अपनी आभा से न्यायभारती को समुज्ज्वल बनाती हुई सहृदयों के हृदय को आह्लादित करती हैं। सारे विवरण में करीब २०००-२५०० पद्य स्वयं वादिराज के ही द्वारा रचे गए हैं जो इनकी काव्य चातुरी को प्रत्येक पृष्ठ पर मूर्त किए हुए हैं। इनकी तर्कणाशक्ति अपनी मौलिक है। क्या पूर्वपक्ष और क्या उत्तर पक्ष दोनों का बन्धान प्रसाद ओज और माधुर्य से समलङ्कृत होकर तर्कप्रवणता का उच्च अधिष्ठान है। इस श्लोक में कितने ओज के साथ यमक में अर्चट का उपहास किया है—

> "अर्चटचटक, तदस्मादुपरम दुस्तर्कपक्षबलचलनात्।
> स्याद्वादाचलविदलनचुञ्चुर्न तवास्ति नयचञ्चुः॥" (पृ० ४४९)

इस तरह समग्र ग्रन्थ का कोई भी पृष्ठ वादिराज की साहित्यप्रवणता शब्दनिष्णातता और दार्शनिकता की युगपत् प्रतीति करा सकता है। एकीभावस्तोत्र के अन्त में पाया जानेवाला यह पद्य वादिराज का भूतगुणोद्भावक है मात्र स्तुतिपरक नहीं—

> "वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
> वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥"

वादिराज का एकीभावस्तोत्र उस निष्ठावान् और भक्ति विभोरमानस का परिस्पन्दन है। जिसकी साधना से भव्य अपना चरम लक्ष्य पा सकता है। इस तरह वादिराज तार्किक होकर भी भक्त थे, वैयाकरण-चणप होकर भी काव्यकला के हृदयाह्लादक लीलाधाम थे और थे अकलङ्कन्याय के सफल व्याख्याकार। जैन दर्शन के ग्रन्थागार में वादिराज का न्यायविनिश्चयविवरण अपनी मौलिकता गम्भीरता अनुच्छिष्टता युक्तिप्रवणता प्रमाणसंग्रहता आदि का अद्वितीय उदाहरण है। इसके प्रथम प्रत्यक्ष प्रस्ताव का संक्षिप्त विषयपरिचय इस प्रकार है—

प्रत्यक्ष परिच्छेद

न्यायविनिश्चय ग्रन्थ के तीन परिच्छेद हैं—१ प्रत्यक्ष २ अनुमान और ३ प्रवचन। इस ग्रन्थ में अकलङ्कदेव ने न्याय के विनिश्चय करने की प्रतिज्ञा की है। वे न्याय अर्थात् स्याद्वादमुद्रांकित जैन आम्नाय को कलिकाल दोष से गुणद्वेषी व्यक्तियों द्वारा मलिन किया हुआ देखकर विचलित हो उठते हैं और भव्य

पुरुषों की हितकामना से सम्यग्ज्ञान-वचन रूपी जल से उस न्याय पर आए हुए मल को दूर करके उसको निर्मल बनाने के लिए कृतसङ्कल्प होते हैं। जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप का निर्णय किया जाय उसे न्याय कहते हैं। अर्थात् न्याय उन उपायों को कहते हैं जिनसे वस्तु तत्त्व का निश्चय हो। ऐसे उपाय तत्त्वार्थसूत्र (१।६) में प्रमाण और नय दो ही निर्दिष्ट हैं। आत्मा के अनन्त गुणों में उपयोग ही एक ऐसा गुण है जिसके द्वारा आत्मा को लक्षित किया जा सकता है। उपयोग अर्थात् चितिशक्ति। उपयोग दो प्रकार का है एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। एक ही उपयोग जब परपदार्थों के जानने के कारण साकार बनता है तब ज्ञान कहलाता है यही उपयोग जब बाह्यपदार्थों में उपयुक्त न रहकर मात्र चैतन्यरूप रहता है तब निराकार अवस्था में दर्शन कहलाता है। यद्यपि दार्शनिकक्षेत्र में दर्शन की व्याख्या बदली है और वह चैतन्याकार की परिधि को लाँघकर पदार्थों के सामान्यावलोकन तक जा पहुँची है परन्तु सिद्धान्त ग्रन्थों में दर्शन का 'अनुपयुक्त मात्रमवलोकनम्' ही वर्णन है। सिद्धान्त ग्रन्थों में स्पष्टतया विषय और विषयी के सन्निपात के पहिले दर्शन का काल बताया है। जब तक आत्मा एकपदार्थविषयकज्ञानो-पयोग से च्युत होकर दूसरे पदार्थविषयक उपयोग में प्रवृत्त नहीं हुआ तब तक जीव की निराकार अवस्था दर्शन कही जाती है। इस अवस्था में चैतन्य निराकार या चैतन्याकार रहता है। दार्शनिक ग्रन्थों में दर्शन विषयविषयी के सन्निपात के अनन्तर वस्तु के सामान्यावलोकन रूप में वर्णित है। और वह है बौद्धसम्मत निर्विकल्पकज्ञान और नैयायिकादिसम्मत निर्विकल्पक ज्ञान की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए। इसका यही तात्पर्य है कि बौद्धादि जिस निर्विकल्पक को प्रमाण मानते हैं जैन उसे दर्शनकोटि में गिनते हैं और वह प्रमाण की सीमा से बहिर्भूत है। अस्तु,

उपायतत्त्व में ज्ञान ही आता है। जब ज्ञान वस्तु के पूर्ण रूप को जानता है तब प्रमाण कहा जाता है तथा जब एक देश को जानता है तब नय। प्रमाण का लक्षण साधारणतया 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह सर्व स्वीकृत है। विवाद यह है कि करण कौन हो? नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों का करण रूप से निर्देश करते हैं। परन्तु जैन परम्परा में अज्ञान निवृत्ति रूप प्रमिति का करण ज्ञान को मानते हैं। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन ने प्रमाण के लक्षण में 'स्वपरावभासक' पद का समावेश किया है। इस पद का तात्पर्य है कि प्रमाण को 'स्व' और 'पर' दोनों का निश्चय करानेवाला होना चाहिए। यद्यपि अकलङ्कदेव और माणिक्यनन्दी ने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतार्थग्राही' और 'अपूर्वार्थव्यवसायात्मक' पदों का निवेश किया है, पर यह सर्वस्वीकृत नहीं हुआ। आचार्य हेमचन्द्र ने तो 'स्वावभासक' पद भी प्रमाण के लक्षण में अनावश्यक समझा है। उनका कहना है कि स्वावभासकत्व ज्ञानसामान्य का धर्म है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो या अप्रमाण, वह स्वसंवेदी होगा ही। तात्पर्य यह है कि जैन परम्परा में ऐसा स्वसंवेदी ज्ञान प्रमाण होगा जो पर पदार्थ निश्चय करनेवाला हो। प्रमाण सकलादेशी होता है वह एक गुण के द्वारा भी पूरी वस्तु को विषय करता है। नय विकलादेशी होता है क्योंकि वह जिस धर्म का कथन करता है उसे ही मुख्य भाव से विषय करता है।

प्रमाण के भेद—सामान्यतया प्राचीन काल से जैन परम्परा में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूप से स्वीकृत चले आ रहे हैं। आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं तथा जिस ज्ञान में इन्द्रिय मन प्रकाश आदि परसाधनों की अपेक्षा हो वह ज्ञान परोक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष की यह परिभाषा जैन परम्परा की अपनी है। जैन परम्परा में प्रत्येक वस्तु अपने परिणमन में स्वयं उपा-दान होती है। जितने परनिमित्तक परिणमन हैं वे सब व्यवहार मूलक हैं। जितने मात्र स्वनिमित्तक परिणमन हैं वे परमार्थ हैं, निश्चयनय के विषय हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के लक्षण में भी यही स्वाभिमुख दृष्टि कार्य कर रही है। और उसके निर्वाह के लिए अक्ष शब्द का अर्थ (अश्नोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा) आत्मा किया गया। प्रत्यक्ष के लोकव्यवहृत अर्थ के निर्वाह के लिए इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक संज्ञा दी। यद्यपि शास्त्रीय परमार्थ व्याख्या के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान परसापेक्ष होने से परोक्ष है किन्तु लोकव्यवहार में इसकी प्रत्यक्षरूप से प्रसिद्धि होने के कारण इन्हें संव्यवहार प्रत्यक्ष कह

दिया जाता है। जैनदृष्टि में उपादानयोग्यता पर ही विशेष भार दिया गया है, निमित्त से यद्यपि उपादान योग्यता विकसित होती है पर निमित्ताधीन परिणमन उत्कृष्ट या शुद्ध नहीं समझे जाते। इसीलिए प्रत्यक्ष जैसे उत्कृष्ट ज्ञान में इन्द्रिय और मन जैसे निकटतम साधनों की अपेक्षा भी स्वीकार नहीं की गई। प्रत्यक्ष व्यवहार का कारण भी आत्ममात्रसापेक्षता ही निरूपित की गई है और परोक्ष व्यवहार के लिए इन्द्रिय मन आदि परपदार्थों की अपेक्षा रखना। यह तो जैनदृष्टि का अपना आध्यात्मिक निरूपण है। उस प्रत्यक्षज्ञान की परिभाषा करते हुए अकलङ्कदेव ने कहा है कि—

"प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टः साकारमञ्जसा।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥"

अर्थात्—जो ज्ञान परमार्थतः स्पष्ट हो, साकार हो, द्रव्यपर्यायात्मक और सामान्यविशेषात्मक अर्थ को विषय करनेवाला हो और आत्मवेदी हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इस लक्षण में अकलङ्कदेव ने निम्नलिखित मुद्दे विचारकोटि के लायक रखे हैं—

१ ज्ञान आत्मवेदी होता है।
२ ज्ञान साकार होता है।
३ ज्ञान अर्थ को जानता है।
४ अर्थ सामान्यविशेषात्मक है।
५ अर्थ द्रव्यपर्यायात्मक है।
६ वह ज्ञान प्रत्यक्ष होगा जो परमार्थतः स्पष्ट हो।

ज्ञान का आत्मवेदित्व—'ज्ञान आत्मा का गुण है या नहीं' यह प्रश्न भी दार्शनिकों की चर्चा का विषय रहा है। भूतचैतन्यवादी चार्वाक ज्ञान को पृथ्वी आदि भूतों का ही धर्म मानता है। वह स्थूल या दृश्य भूतों का धर्म स्वीकार न कर के सूक्ष्म और अदृश्य भूतों के विलक्षणसंयोग से उत्पन्न होनेवाले अवस्थाविशेष को ज्ञान कहता है। सांख्य चैतन्य को पुरुषधर्म स्वीकार कर के भी ज्ञान या बुद्धि को प्रकृति का धर्म मानता है। सांख्य के मत से चैतन्य और ज्ञान जुदा जुदा हैं। पुरुषगत चैतन्य बाह्यपदार्थों को नहीं जानता। बाह्यपदार्थों को जानने वाला बुद्धितत्त्व जिसे महत्तत्त्व भी कहते हैं प्रकृति का ही परिणाम है। यह बुद्धि उभयतः प्रतिबिम्बी दर्पण के समान है। इसमें एक ओर पुरुषगत चैतन्य प्रतिफलित होता है और दूसरी ओर पदार्थों के आकार। इस बुद्धि मध्यम के द्वारा ही पुरुष को "मैं घट को जानता हूँ" यह मिथ्या अहङ्कार होने लगता है।

न्याय-वैशेषिक—ज्ञान को आत्मा का गुण मानते अवश्य हैं, पर इनके मत में आत्मा द्रव्यपदार्थ पृथक् है तथा ज्ञान गुणपदार्थ जुदा। यह आत्मा का यावद्द्रव्यभावी अर्थात् जब तक आत्मा है तब तक उसमें अवश्य रहनेवाला—गुण नहीं है किन्तु आत्ममनःसंयोग मन-इन्द्रिय-पदार्थ सन्निकर्ष आदि कारणों से से उत्पन्न होनेवाला विशेष गुण है। जब तक ये निमित्त मिलेंगे ज्ञान उत्पन्न होगा, न मिलेंगे न होगा। मुक्त अवस्था में मन इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध न रहने के कारण ज्ञान की धारा उच्छिन्न हो जाती है। इस अवस्था में आत्मा स्वरूपमात्रमग्न रहता है। तात्पर्य यह कि बुद्धि सुख दुःख आदि विशेष गुण औपाधिक हैं, स्वभावतः आत्मा ज्ञानशून्य है। ईश्वर नाम की एक आत्मा ऐसी है जो अनाद्यनन्त नित्यज्ञानवाली है। परमात्मा के सिवाय अन्य सभी जीवात्माएँ स्वभावतः ज्ञानशून्य हैं।

वेदान्ती ज्ञान और चैतन्य को जुदा जुदा मानकर चैतन्य का आश्रय ब्रह्म को तथा ज्ञान का आश्रय अन्तःकरण को मानते हैं। शुद्ध ब्रह्म में विषयपरिच्छेदक ज्ञान का कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता।

मीमांसक ज्ञान को आत्मा का ही गुण मानते हैं। इनके यहाँ ज्ञान और आत्मा में तादात्म्य माना गया है।

बौद्ध परम्परा में ज्ञान नाम या चित्तरूप है। मुक्त अवस्था में चित्तसन्तति निरास्रव हो जाती है। इस अवस्था में यह चित्तसन्तति घटपटादि बाह्यपदार्थों को नहीं जानती।

जैनपरम्परा ज्ञान को अनाद्यनन्त स्वाभाविक गुण मानती है जो मोक्ष दशा में अपनी पूर्ण अवस्था में रहता है।

संसार दशा में ज्ञान आत्मगत धर्म है इस विषय में चार्वाक और सांख्य के सिवाय प्रायः सभी वादी एकमत हैं। पर विचारणीय बात यह है कि जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह दीपक की तरह स्वपरप्रकाशी उत्पन्न होता है या नहीं? इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं—१ मीमांसक ज्ञान को परोक्ष कहता है। उसका कहना है कि ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है। जब उसके द्वारा पदार्थ का बोध हो जाता है तब अनुमान से ज्ञान को जाना जाता है—चूँकि पदार्थ का बोध हुआ है और क्रिया बिना करण के हो नहीं सकती अतः करणभूत ज्ञान होना चाहिए। मीमांसक को ज्ञान को परोक्ष मानने का यही कारण है कि—इसने अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान वेद के द्वारा ही माना है। धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष किसी व्यक्ति विशेष को नहीं हो सकता। उसका ज्ञान वेद के द्वारा ही हो सकता है। फलतः ज्ञान जब अतीन्द्रिय है तब उसे परोक्ष होना ही चाहिए।

दूसरा मत नैयायिकों का है। इनके मत से भी ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है और उसका ज्ञान द्वितीय ज्ञान से होता है और द्वितीय का तृतीय से। अनवस्था दूषण का परिहार जब ज्ञान विषयान्तर को जानने लगता है तब इस ज्ञान की धारा रुक जाने के कारण हो जाता है। इनका मत ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद के नाम से प्रसिद्ध है। नैयायिक के मत से ज्ञान का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से होता है। मन आत्मा से संयुक्त होता है और आत्मा में ज्ञान का समवाय होता है। इस प्रकार ज्ञान के उत्पन्न होनेपर सन्निकर्षजन्य द्वितीय मानसज्ञान प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष करता है।

सांख्य ने पुरुष को स्वसंवेतक स्वीकार किया है। इसके मत में बुद्धि या ज्ञान प्रकृति का विकार है। इसे महत्तत्त्व कहते हैं। यह स्वयं अचेतन है। बुद्धि उभयमुख प्रतिबिम्बी दर्पण के समान है इसमें एक ओर पुरुष प्रतिफलित होता है तथा दूसरी ओर पदार्थ। इस बुद्धि प्रतिबिम्बित पुरुष के द्वारा ही बुद्धि का प्रत्यक्ष होता है स्वयं नहीं।

वेदान्ती के मत में ब्रह्म स्वप्रकाश है अतः स्वभावतः ब्रह्म का विवर्त ज्ञान स्वप्रकाशी होना ही चाहिए।

प्रभाकर के मत में संवित्ति स्वप्रकाशिनी है वह संवित्ति रूप से स्वयं जानी जाती है।

इस तरह ज्ञान को अनात्मवेदी या अस्वसंवेदी मानने वाले मुख्यतया मीमांसक और नैयायिक ही हैं।

अकलङ्कदेव ने इसकी मीमांसा करते हुए लिखा है कि—यदि ज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष हो अर्थात् अपने स्वरूप को न जानता हो तो उसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। देवदत्त अपने ज्ञान के द्वारा ही पदार्थों को क्यों जानता है, यज्ञदत्त के ज्ञान के द्वारा क्यों नहीं जानता? या प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञान के द्वारा ही अर्थ परिज्ञान करते हैं आत्मान्तर के ज्ञान से नहीं। इसका सीधा और स्पष्ट कारण यही है कि देवदत्त का ज्ञान स्वयं अपने को जानता है और इसलिये तदभिन्न देवदत्त की आत्मा को ज्ञात है कि अमुक ज्ञान मुझमें उत्पन्न हुआ है। यज्ञदत्त में ज्ञान उत्पन्न हो जाय पर देवदत्त को उसका पता ही नहीं चलता। अतः यज्ञदत्त के ज्ञान के द्वारा देवदत्त अर्थबोध नहीं कर पाता। यदि जैसे यज्ञदत्त का ज्ञान उत्पन्न होने पर भी देवदत्त को परोक्ष रहता है, उसी प्रकार देवदत्त को स्वयं अपना ज्ञान परोक्ष हो अर्थात् उत्पन्न होने पर भी स्वयं अपना परिज्ञान न करता हो तो देवदत्त के लिए अपना ज्ञान यज्ञदत्त के ज्ञान की तरह ही पराया हो गया और उससे अर्थबोध नहीं होना चाहिये। वह ज्ञान हमारे आत्मा से सम्बन्ध रखता है इतने मात्र से हम उसके द्वारा पदार्थबोध के अधिकारी नहीं हो सकते जब तक कि वह स्वयं हमारे प्रत्यक्ष अर्थात् स्वयं अपने ही प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। अपने ही द्वितीय ज्ञान के द्वारा उसका प्रत्यक्ष मानकर उससे

अर्थबोध करने की कल्पना इसलिए उचित नहीं है कि कोई भी योगी अपने योगज प्रत्यक्ष के द्वारा हमारे ज्ञान को प्रत्यक्ष कर सकता है जैसे कि हम स्वयं अपने द्वितीय ज्ञान के द्वारा प्रथम ज्ञान का, पर इतने मात्र से वह योगी हमारे ज्ञान से पदार्थों का बोध नहीं कर लेता। उसे तो जो भी बोध होगा स्वयं अपने ही ज्ञानद्वारा होगा। तात्पर्य यह कि-हमारे ज्ञान में यही स्वकीयत्व है जो वह स्वयं अपना बोध करता है और अपने आधारभूत आत्मा से तादात्म्य रखता है। यह संभव ही नहीं है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाय अर्थात् अपनी उपयोग दशा में आ जाय और आत्मा को या स्वयं उसे ज्ञान का ही पता न चले। वह तो दीपक या सूर्य की तरह स्वयंप्रकाशी ही उत्पन्न होता है। वह पदार्थ के बोध के साथ ही साथ अपना संवेदन स्वयं करता है। इसमें न तो क्षणभेद है और न परोक्षता ही। ज्ञान के स्वप्रकाशी होने में यह बाधा भी कि—वह घटादि पदार्थों की तरह ज्ञेय हो जायगा—नहीं हो सकती; क्योंकि ज्ञान घट को ज्ञेयत्वेन जानता है तथा अपने स्वरूप को ज्ञानरूप से। अतः उसमें ज्ञेयरूपता का प्रसङ्ग नहीं आ सकता। इसके लिए दीपक से बढ़कर समदृष्टान्त दूसरा नहीं हो सकता। दीपक के देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती, भले ही वह पदार्थों को मन्द या अस्पष्ट दिखावे पर अपने रूप को तो जैसे का तैसा प्रकाशित करता ही है। ज्ञान चाहे संशयरूप हो या विपर्ययरूप या अनध्यवसायात्मक स्वयं अपने ज्ञानरूप का प्रकाशक होता ही है। ज्ञान में संशयरूपता विपर्ययरूपता या प्रमाणता का निश्चय बाह्यपदार्थ के यथार्थप्रकाशकत्व और अयथार्थप्रकाशकत्व के अधीन है पर ज्ञानरूपता या प्रकाशरूपता का निश्चय तो उसका स्वाधीन ही है उसमें ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं होती और न वह अज्ञात रह सकता है। तात्पर्य यह कि-कोई भी ज्ञान जब उपयोग अवस्था में आता है तब अज्ञात हो कर नहीं रह सकता। हाँ, लब्धि या शक्ति रूप में वह ज्ञात न हो यह जुदी बात है क्योंकि शक्तिका परिज्ञान करना विशिष्टज्ञान का कार्य है। पर यहाँ तो प्रश्न उपयोगात्मक ज्ञान का है। कोई भी उपयोगात्मक ज्ञान अज्ञात नहीं रह सकता, वह तो जगाता हुआ ही उत्पन्न होता है उसे अपना ज्ञान कराने के लिए किसी ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है।

यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय तो उसका सद्भाव सिद्ध करना कठिन हो जायगा। अर्थप्रकाश रूप हेतु से उसकी सिद्धि करने में निम्नलिखित बाधाएँ हैं—पहिले तो अर्थप्रकाश स्वयं ज्ञान है अतः जब तक अर्थप्रकाश अज्ञात है तब तक उसके द्वारा मूलज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि—"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थसिद्धिः प्रसिध्यति"—अर्थात् अप्रत्यक्ष-अज्ञात ज्ञान के द्वारा अर्थसिद्धि नहीं होती। "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम"—स्वयं अज्ञात दूसरे का ज्ञापक नहीं हो सकता। यह भी सर्वसम्मत न्याय है। फलतः यह आवश्यक है कि पहिले अर्थप्रकाश का ज्ञान हो जाय। यदि अर्थप्रकाश के ज्ञान के लिये अन्यज्ञान अपेक्षित हो तो उस अन्यज्ञान के लिए तदन्यज्ञान इस तरह अनवस्था नाम का दूषण आता है और इस अनन्तज्ञानपरम्परा की कल्पना करते रहने में आद्यज्ञान अज्ञात ही बना रहेगा। यदि अर्थप्रकाश स्ववेदी है तो प्रथमज्ञान को स्ववेदी मानने में क्या बाधा है? स्ववेदी अर्थप्रकाश से ही अर्थबोध हो जाने पर मूल ज्ञान की कल्पना ही निरर्थक हो जाती है। दूसरी बात यह है कि जब तक ज्ञान और अर्थप्रकाश का अविनाभाव सम्बन्ध गृहीत नहीं होगा तब तक उससे ज्ञान का अनुमान नहीं किया जा सकता। यह अविनाभावग्रहण अपनी आत्मा में तो इसलिए नहीं बन सकता कि अभी तक ज्ञान ही अज्ञात है तथा अन्य आत्मा के ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः अविनाभाव का ग्रहण न होने के कारण अनुमान से भी ज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी तरह पदार्थ, इन्द्रियाँ, मानसिक उपयोग आदि से भी मूलज्ञान का अनुमान नहीं हो सकता। कारण-इनका ज्ञान के साथ कोई अविनाभाव नहीं है। पदार्थ आदि रहते हैं पर कभी कभी ज्ञान नहीं होता। कदाचित् अविनाभाव हो भी तो उसका ग्रहण नहीं हो सकता।

आह्लादनाकार परिणत ज्ञान को ही सुख कहते हैं। सातसंवेदन को सुख और असातसंवेदन को दुःख सभी वादियों ने माना है। यदि ज्ञान को स्वसंवेदी नहीं मानकर परोक्ष मानते हैं तो परोक्ष सुख

दुःख से आत्मा को हर्ष विषादादि नहीं होना चाहिए। यदि अपने सुख को अनुमानग्राह्य या ज्ञानान्तर ग्राह्य माना जाय और उससे आत्मा में हर्षविषादादि की सम्भावना की जाय तो अन्य सुखी आत्मा के सुख का अनुमान करके हमें हर्ष होना चाहिए। अथवा केवली को, जिसे सभी जीवों के सुखदुःखादि का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है, हमारे सुखदुःख से हर्ष विषादादि उत्पन्न होने चाहिए। चूँकि हमारे सुखदुःख से हमें ही हर्षविषादादि होते हैं अन्य किसी अनुमान करनेवाले या प्रत्यक्ष करनेवाले आत्मान्तर को नहीं, अतः यह मानना ही होगा कि वे हमारे स्वयंप्रत्यक्ष हैं अर्थात् वे स्वप्रकाशी हैं।

यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाता है तो आत्मान्तर की बुद्धि का अनुमान नहीं किया जा सकता। पहिले हम स्वयं अपनी आत्मा में ही जब तक बुद्धि और वचनादि व्यापारों का अविनाभाव ग्रहण नहीं करेंगे तब तक वचनादि चेष्टाओं से अन्यत्र बुद्धि का अनुमान कैसे कर सकते हैं और अपनी आत्मा में जब तक बुद्धि का स्वयं साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक अविनाभाव का ग्रहण असम्भव ही है। अन्य आत्माओं में तो बुद्धि अभी असिद्ध ही है। आत्मान्तर में बुद्धि का अनुमान नहीं होने पर समस्त गुरु-शिष्य लेनदेन आदि व्यवस्थाओं का लोप हो जायगा।

यदि अज्ञात या अप्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अर्थ बोध माना जाता है तो सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा हमें सर्वार्थज्ञान होना चाहिए। हमें ही क्यों, सबको सबके ज्ञान के द्वारा अर्थबोध हो जाना चाहिये। अतः ज्ञान को स्वसंवेदी माने बिना ज्ञान का सद्भाव तथा उसके द्वारा प्रतिनियत अर्थबोध नहीं हो सकता। अतः यह आवश्यक है कि उसमें अनुभवसिद्ध आत्मसंवेदित्व स्वीकार किया जाय।

नैयायिक का ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें अनवस्था नामका महान् दूषण आता है। जबतक एक भी ज्ञान स्वसंवेदी नहीं माना जाता तब तक पूर्व पूर्व ज्ञानों का बोध करने के लिये उत्तर उत्तर ज्ञानों की कल्पना करनी ही होगी। क्योंकि जो भी ज्ञानव्यक्ति अज्ञात रहेगी वह स्वपूर्व ज्ञान व्यक्ति की वेदिका नहीं हो सकती। और इस तरह प्रथम ज्ञान के अज्ञात रहने पर उसके द्वारा पदार्थ का बोध नहीं हो सकेगा। एक ज्ञान के जानने के लिए ही जब इस तरह अनन्त ज्ञानप्रवाह चलेगा तब अन्य पदार्थों का ज्ञान कब उत्पन्न होगा? थक करके या अरुचि से या अन्य पदार्थ के सम्पर्क से पहिली ज्ञानधारा को अधूरी छोड़कर अनवस्था का वारण करना इसलिये युक्तियुक्त नहीं है कि—जो दशा प्रथम ज्ञान की हुई है और जैसे वह बीचमें ही अज्ञात दशा में लटक रहा है वही दशा अन्य ज्ञानों की भी होगी। ईश्वर का ज्ञान यदि अस्वसंवेदी माना जाता है तो उसमें सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकेगी, क्योंकि एक तो उसने अपने स्वरूप को ही स्वयं नहीं जाना दूसरे अप्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा वह जगत् का परिज्ञान नहीं कर सकता। ईश्वर के दो भिन्न ज्ञान इसलिए मानना कि—एक से वह जगत् को जानेगा तथा दूसरे से ज्ञान को—निरर्थक है; क्योंकि दो ज्ञान एक साथ उपयोग दशा में नहीं रह सकते। दूसरे यदि वह ज्ञान को जानने वाला द्वितीय ज्ञान स्वयं अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं करता तो उससे प्रथम अर्थज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। यदि उसका प्रत्यक्ष किसी तृतीय ज्ञान से माना जाय तो अनवस्था दूषण होगा। यदि द्वितीय ज्ञान को स्वसंवेदी मानते हैं तो प्रथम ज्ञान को ही स्वसंवेदी मानने में क्या बाधा है?

सांख्य के मत में यदि ज्ञान प्रकृति का विकार होने से अचेतन है, वह अपने स्वरूप को नहीं जानता, उसका अनुभव पुरुष के संचेतन के द्वारा होता है तो ऐसे अचेतन ज्ञान की कल्पना का क्या प्रयोजन है? जो पुरुष का संचेतन ज्ञान के स्वरूप का संवेदन करता है वही पदार्थों को भी जान सकता है। पुरुष का संचेतन यदि स्वसंवेदी नहीं है तो इस अकिञ्चित्कर ज्ञान की सत्ता भी किससे सिद्ध की जायगी? अतः स्वार्थसंवेदक पुरुषानुभव से भिन्न किसी प्रकृतिविकारात्मक अचेतन ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। करण या माध्यम के लिए इन्द्रियाँ और मन मौजूद हैं। वस्तुतः ज्ञान और पुरुषगतसंचेतन ये दो तत्त्व हैं ही नहीं। पुरुष, जिसे सांख्य कूटस्थ नित्य मानता है, स्वयं परिणामी है पूर्वपर्याय को छोड़ कर उत्तर पर्याय को धारण करता है। संचेतना ऐसे परिणामीनित्य पुरुष का ही धर्म हो सकती है।

इससे पृथक् किसी अचेतन ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं है। अतः ज्ञानमात्र स्वसंवेदी है। वह अपने जानने के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता।

ज्ञान की साकारता—ज्ञान की साकारता का साधारण अर्थ यह समझ लिया जाता है कि जैसे दर्पण में घट पट आदि पदार्थों का प्रतिबिम्ब आता है और दर्पण का अमुक भाग घटछायाक्रान्त हो जाता है उसी तरह ज्ञान भी घटाकार हो जाता है अर्थात् घट का प्रतिबिम्ब ज्ञान में पहुँच जाता है। पर वास्तव बात ऐसी नहीं है। घट और दर्पण दोनों मूर्त और जड़ पदार्थ हैं, उनमें एक का प्रतिबिम्ब दूसरे में पड़ सकता है, किन्तु चेतन और अमूर्त ज्ञान में मूर्त जड़ पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता और न अन्य चेतनान्तर का ही। ज्ञान के घटाकार होने का अर्थ है—ज्ञान का घट को जानने के लिए उपयुक्त होना अर्थात् उसका निश्चय करना। तत्त्वार्थवार्तिक (१।६) में घट के स्वचतुष्टय का विचार करते हुए लिखा है कि—घट शब्द सुनने के बाद उत्पन्न होनेवाले घट ज्ञान में जो घटविषयक उपयोगाकार है वह घट का स्वात्मा है और बाह्यघटाकार परात्मा। यहाँ जो उपयोगाकार है उसका अर्थ घट की ओर ज्ञान के व्यापार का होना है न कि ज्ञान का घट जैसा लम्बा चौड़ा या वजनदार होना। आगे फिर लिखा है कि—"चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः। तत्र ज्ञेयाकारः स्वात्मा।" अर्थात् चैतन्यशक्ति के दो आकार होते हैं एक ज्ञानाकार और दूसरा ज्ञेयाकार। ज्ञानाकार प्रतिबिम्बशून्य शुद्ध दर्पण के समान पदार्थविषयक व्यापार से रहित होता है। ज्ञेयाकार सप्रतिबिम्ब दर्पण की तरह पदार्थविषयक व्यापार से सहित होता है। साकारता के सम्बन्ध में जो दर्पण का दृष्टान्त दिया जाता है उसी से यह भ्रम हो जाता है कि—ज्ञान में दर्पण के समान लम्बा चौड़ा काला प्रतिबिम्ब पदार्थ का आता है और इसी कारण ज्ञान साकार कहलाता है। दृष्टान्त जिस अंश को समझाने के लिए दिया जाता है उसको उसी अंश के लिए लागू करना चाहिए। यहाँ दर्पण दृष्टान्त का इतना ही प्रयोजन है कि चैतन्यधारा ज्ञेय को जानने के समय ज्ञेयाकार होती है, शेष समय में ज्ञानाकार।

धवला (प्र० पु० पृ० ३८०) तथा जयधवला (प्र० पु० पृ० ३३७) में दर्शन और ज्ञान में निराकारता और साकारता प्रयुक्त भेद बताते हुए स्पष्ट लिखा है कि—जहाँ ज्ञान से पृथक् वस्तु कर्म अर्थात् विषय हो वह साकार है और जहाँ अन्तरङ्ग वस्तु अर्थात् चैतन्य स्वयं चैतन्य रूप ही हो वह निराकार। निराकार दर्शन, इन्द्रिय और पदार्थ के सम्पर्क के पहिले होता है जब कि साकार ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निपात के बाद। अन्तरङ्गविषयक अर्थात् स्वावभासी उपयोग को अनाकार तथा बाह्यावभासी अर्थात् स्व से भिन्न अर्थ को विषय करनेवाला उपयोग साकार कहलाता है। उपयोग की ज्ञानसंज्ञा वहाँ से प्रारम्भ होती है जहाँ से वह स्वव्यतिरिक्त अन्य पदार्थ को विषय करता है। जब तक वह मात्र स्वप्रकाश निमग्न है तब तक वह दर्शन-निराकार कहलाता है। इसीलिए ज्ञान में ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व ये दो विभाग होते हैं। जो ज्ञान पदार्थ की यथार्थ उपलब्धि कराता है वह प्रमाण है अन्य अप्रमाण। पर दर्शन सदा एकविध रहता है उसमें कोई दर्शन प्रमाण और कोई दर्शन अप्रमाण ऐसा जातिभेद नहीं होता। चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन आदि भेद तो आगे होनेवाली तत्तत् ज्ञानपर्यायों की अपेक्षा हैं। स्वरूप की अपेक्षा उनमें इतना ही भेद है कि एक उपयोग अपने चाक्षुषज्ञानोत्पादकशक्तिरूप स्वरूप में मग्न है तो दूसरा अन्य स्पर्शन आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के जनक स्वरूप में लीन है, तो अन्य अवधिज्ञानोत्पादक स्वरूप में और अन्य केवल ज्ञानसहभावी स्वरूप में निमग्न है। तात्पर्य यह कि—उपयोग का स्व से भिन्न किसी भी पदार्थ को विषय करना ही साकार होना है, न कि दर्पण की तरह प्रतिबिम्बाकार होना।

निराकार और साकार या ज्ञान और दर्शन का यह सैद्धान्तिक स्वरूपविश्लेषण दार्शनिक युग में अपनी उस सीमा को लाँघकर 'बाह्यपदार्थ के सामान्यावलोकन का नाम दर्शन और विशेष परिज्ञान क

का नाम 'ज्ञान' इस व्याप्यपरिधि में आ गया। इस सीमोल्लंघन का दार्शनिक प्रयोजन बौद्धादि सम्मत निर्विकल्पक की प्रमाणता का निराकरण करना ही है।

अकलङ्कदेव ने विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष बताते हुए जो ज्ञान का साकार विशेषण दिया है वह उपर्युक्त अर्थ को द्योतन करने के ही लिए।

बौद्ध क्षणिक परमाणु रूप चित्त या जड़ क्षणों को स्वलक्षण मानते हैं। यही उनके मत में परमार्थसत् है, यही वास्तविक अर्थ है। यह स्वलक्षण शब्दशून्य है, शब्द के अगोचर है। शब्द का वाच्य इनके मत से बुद्धिगत अन्यापोह ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध के अनन्तर निर्विकल्पक दर्शन उत्पन्न होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके अनन्तर शब्दसंकेत और विकल्पवासना आदि का सहकार पाकर शब्दसंसर्गी सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। शब्दसंसर्ग न होने पर भी शब्दसंसर्ग की योग्यता जिस ज्ञान में आ जाय उसे विकल्प कहते हैं। किसी भी पदार्थ को देखने के बाद पूर्वदृष्ट तत्सदृश पदार्थ का स्मरण होता है, तदनन्तर तद्वाचक शब्द का स्मरण, फिर उस शब्द के साथ वस्तु का योजन, तब यह घट है इत्यादि शब्द का प्रयोग। वस्तु दर्शन के बाद होनेवाले–पूर्वदृष्ट स्मरण आदि सभी व्यापार सविकल्पक की सीमा में आते हैं। तात्पर्य यह कि—निर्विकल्पक दर्शन वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवभासक होने से प्रमाण है।

सविकल्पक ज्ञान शब्दवासना से उत्पन्न होनेके कारण वस्तु के यथार्थ स्वरूप को स्पर्श नहीं करता, अत एव अप्रमाण है। इस निर्विकल्पक के द्वारा वस्तु के समग्ररूप का दर्शन हो जाता है, परन्तु निश्चय यथासम्भव सविकल्पक ज्ञान और अनुमान के द्वारा ही होता है।

अकलंकदेव इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि किसी भी ऐसे निर्विकल्पक ज्ञान का अनुभव नहीं होता जो निश्चयात्मक न हो।

सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं। इनका कहना है कि यदि ज्ञान पदार्थ के आकार न हो तो प्रतिकर्म-व्यवस्था अर्थात् घटज्ञान का विषय घट ही होता है पट नहीं—नहीं हो सकेगी। सभी पदार्थ एक ज्ञान के विषय या सभी ज्ञान सभी पदार्थों को विषय करनेवाले हो जायँगे। अतः ज्ञान को साकार मानना आवश्यक है। यदि साकारता नहीं मानी जाती तो विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा। इनमें यही भेद है कि एक मात्रविषय के आकार है तथा दूसरा विषय और विषयज्ञान दो के आकार है। विषय की सत्ता सिद्ध करने के लिए ज्ञान को साकार मानना नितान्त आवश्यक है।

अकलंकदेव ने साकारता के इस प्रयोजन का खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है कि विषय प्रतिनियम ज्ञान की अपनी शक्ति या क्षयोपशम के अनुसार होता है। जिस ज्ञान में पदार्थ को जानने की जैसी योग्यता है वह उसके अनुसार पदार्थ को जानता है। तदाकारता मानने पर भी यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है कि ज्ञान अमुक पदार्थ के ही आकार को क्यों ग्रहण करता है? अन्य पदार्थों के आकार को क्यों नहीं? अन्त में ज्ञान गत शक्ति ही विषयप्रतिनियम करा सकती है तदाकारता आदि नहीं।

'जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न हुआ है वह उसके आकार होता है' इस प्रकार तदुत्पत्ति से भी आकारनियम नहीं बन सकता; क्योंकि ज्ञान जिस प्रकार पदार्थ से उत्पन्न होता है उसी तरह प्रकाश और इन्द्रियों से भी। यदि तदुत्पत्ति से साकारता मानी है तो जिस प्रकार ज्ञान घटाकार होता है उसी प्रकार उसे इन्द्रिय तथा प्रकाश के आकार भी होना चाहिये। अपने उपादानभूत पूर्वज्ञान के आकार को तो उसे अवश्य ही धारण करना चाहिये। जिस प्रकार ज्ञान घट के घटाकार को धारण करता है उसी प्रकार वह उसकी जड़ता को क्यों नहीं धारण करता? यदि घट के आकार को धारण करने पर भी जड़ता अगृहीत रहती है तो घट और उसके अदृष्ट में भेद हो जायगा। यदि घट की जड़ता अतदाकार ज्ञान से जानी जाती है तो उसी प्रकार घट भी अतदाकार ज्ञान से जाना जाय। वस्तुमात्र को निरंश माननेवाले बौद्ध के मत में वस्तु का खण्डशः भाग तो नहीं ही होना चाहिये। समानकालीन पदार्थ कदाचित् ज्ञान

मे अपना आकार अर्पित भी कर दें, पर अतीत और अनागत आदि अविद्यमान अर्थ ज्ञान में अपना आकार कैसे दे सकते हैं ?

विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में भी अन्तर ज्ञान की अपनी योग्यता से हो हो सकता है। आकार मानने पर भी अन्ततः स्वयोग्यता स्वीकार करनी ही पड़ती है। अतः बौद्धपरिकल्पित साकारता अनेक दूषणों से दूषित होने के कारण ज्ञान का धर्म नहीं हो सकती। ज्ञान की साकारता का अर्थ है ज्ञान का उस पदार्थ का निश्चय करना या उस पदार्थ की ओर उपयुक्त होना। निर्विकल्पक अर्थात् शब्द-संसर्ग की योग्यता से भी रहित कोई ज्ञान हो सकता है यह अनुभवसिद्ध नहीं है।

ज्ञान अर्थ को जानता है—मुख्यतया दो विचारधाराएँ इस सम्बन्ध में हैं। एक यह कि—ज्ञान अपने से भिन्न सत्ता रखनेवाले जड और चेतन पदार्थों को जानता है। इस विचारधारा के अनुसार जगत् में अनन्त चेतन और अनन्त अचेतन पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरी विचारधारा बाह्य जड़ पदार्थों की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानती, किन्तु उनका प्रातिभासिक अस्तित्व स्वीकार करती है। इनका मत है कि घटपटादि बाह्य पदार्थ अनादिकालीन विचित्र वासनाओं के कारण या माया अविद्या आदि के कारण विचित्र रूप में प्रतिभासित होते हैं। जिस प्रकार स्वप्न या इन्द्रजाल में बाह्य पदार्थों का अस्तित्व न होने पर भी अनेकविध अर्थक्रियाकारी पदार्थों का सत्यवत प्रतिभास होता है उसी तरह अविद्या वासना के कारण नानाविध विचित्र अर्थों का प्रतिभास हो जाता है। इनके मत से मात्र चेतनतत्त्व की ही पारमार्थिक सत्ता है। इसमें भी अनेक मतभेद हैं। वेदान्ती एक नित्य व्यापक ब्रह्म का ही पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्म नानाविध जीवात्माओं और अनेक प्रकार के घटपटादिरूप बाह्य अर्थों के रूप में प्रतिभासित होता है। संवेदनाद्वैतवादी क्षणिक परमाणुरूप अनेक ज्ञानक्षणों का पारमार्थिक अस्तित्व मानते हैं। इनके मत से अनेक ज्ञानसन्तानें पृथक् पृथक् पारमार्थिक अस्तित्व रखती हैं। अपनी अपनी वासनाओं के अनुसार ज्ञानक्षण नाना पदार्थों के रूप में भासित होता है। पहिली विचारधारा का अनेक-विध विस्तार न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग, जैन, सौत्रान्तिक बौद्ध आदि दर्शनों में देखा जाता है।

बाह्यार्थलोप की दूसरी विचारधारा का आधार यह मालूम होता है कि–प्रत्येक व्यक्ति अपनी कल्पना के अनुसार पदार्थों में संकेत करके व्यवहार करता है। जैसे एक पुस्तक को देखकर उस धर्म का अनुयायी उसे धर्मग्रन्थ समझकर पूज्य मानता है। पुस्तकालयाध्यक्ष उसे अन्य पुस्तकों की तरह सामान्य पुस्तक समझता है, तो दुकानदार उसे रद्दी के भाव खरीद कर पुड़िया बाँधता है। भंगी उसे कूड़ा-कचरा मानकर झाड सकता है। गाय भैंस आदि पशुमात्र उसे पुद्गलों का पुंज समझकर घास की तरह खा सकते हैं तो दीमक आदि कीड़ों को उसमें पुस्तक यह कल्पना ही नहीं होगी। अब आप विचार कीजिए कि पुस्तक में, धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी, कचरा, घास की तरह खाद्य आदि संज्ञाएँ तत्तद्व्यक्तियों के ज्ञान से ही आई हैं अर्थात् धर्मग्रन्थ पुस्तक आदि का सद्भाव उन व्यक्तियों के ज्ञान में है, बाहिर नहीं। इस तरह धर्मग्रन्थ पुस्तक आदि की व्यवहारसत्ता है परमार्थसत्ता नहीं। यदि धर्मग्रन्थ पुस्तक आदि की परमार्थ सत्ता होती तो वह प्राणिमात्र–गाय, भैंस को भी धर्मग्रन्थ या पुस्तक दिखनी चाहिये थी। अतः जगत् केवल कल्पनामात्र है, उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं।

इसी तरह घट एक है या अनेक। परमाणुओं का संयोग एकदेश से होता है या सर्वदेश से। यदि एकदेश से तो छह परमाणुओं से संयोग करने वाले मध्य परमाणु में छह अंश मानने पड़ेंगे। यदि दो परमाणुओं का सर्वदेश से संयोग होता है तो अणुओं का पिंड अणुमात्र हो जायगा। इस तरह जैसे जैसे बाह्य पदार्थों का विचार करते हैं वैसे वैसे उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। बाह्य पदार्थों का अस्तित्व तदाकार ज्ञान से सिद्ध किया जाता है। यदि नीलाकार ज्ञान है तो नील नाम के बाह्य पदार्थ की क्या आवश्यकता ? यदि नीलाकार ज्ञान नहीं तो नील की सत्ता ही कैसे सिद्ध की जा सकती है ? अतः ज्ञान ही बाह्य और आन्तर ग्राह्य और ग्राहक रूप में स्वयं प्रकाशमान है कोई बाह्यार्थ नहीं। पदार्थ और ज्ञान का सहोपलम्भ नियम है अतः दोनों अभिन्न हैं।

अकलङ्कदेव ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि— अद्वय तत्त्व स्वतः प्रतिभासित होता है या परतः ? यदि स्वतः; तो किसी को विवाद नहीं होना चाहिए। नित्य ब्रह्मवादी की तरह क्षणिक विज्ञानवादी भी अपने तत्त्व का स्वतः प्रतिभास कहते हैं। इनमें कौन सत्य समझा जाय ? परतः प्रतिभास पर के बिना नहीं हो सकता। पर को स्वीकार करने पर अद्वैत तत्त्व नहीं रह सकता। विज्ञानवादी इन्द्रजाल या स्वप्न का दृष्टान्त देकर बाह्य पदार्थ का लोप करना चाहते हैं। किन्तु इन्द्रजालप्रतिभासित घट और बाह्यसत् घट में अन्तर तो बाल गोपाल आदि भी कर लेते हैं। वे घट पट आदि बाह्य पदार्थों में अपनी इष्ट अर्थक्रिया के द्वारा आकांक्षाओं को शान्त कर सन्तोष का अनुभव करते हैं जब कि इन्द्रजाल या मायादृष्ट पदार्थों से न तो अर्थक्रिया ही होती है और न तज्जन्य सन्तोषानुभव ही। उनका काल्पनिकपना तो प्रतिभास काल में ही ज्ञात हो जाता है। धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी आदि संज्ञाएँ मनुष्यकृत और काल्पनिक हो सकती हैं पर जिस वजनवाले रूपरसगन्धस्पर्शवाले स्थूल पदार्थ में ये संज्ञाएँ की जाती हैं वह तो काल्पनिक नहीं है। वह तो ठोस, वजनदार, सप्रतिघ, रूपरसादिगुणों का आधार परमार्थसत् पदार्थ है। उस पदार्थ को अपने अपने संकेत के अनुसार कोई धर्मग्रन्थ कहे, कोई पुस्तक, कोई बुक, कोई किताब या अन्य कुछ कहे। ये संकेत व्यवहार के लिए अपनी परम्परा और वासनाओं के अनुसार होते हैं उसमें कोई आपत्ति नहीं है। दृष्टिसृष्टि का अर्थ भी यही है कि—सामने रखे हुए परमार्थसत् ठोस पदार्थ में अपनी दृष्टि के अनुसार जगत् व्यवहार करता है। उसकी व्यवहारसंज्ञाएँ प्रातिभासिक हो सकती हैं पर वह पदार्थ जिसमें ये संज्ञाएँ की जाती हैं, ब्रह्म या विज्ञान की तरह ही परमार्थसत् है। नीलाकार ज्ञान से तो कपड़ा नहीं रंगा जा सकता ? कपड़ा रंगने के लिए ठोस परमार्थसत् जड़ नील चाहिए जो ऐसे ही कपड़े के प्रत्येक तन्तु को नीला बनायगा। यदि कोई परमार्थसत् नील अर्थ न हो तो नीलाकार वासना कहाँ से उत्पन्न हुई ? वासना तो पूर्वानुभव की उत्तर दशा है। यदि जगत् में नील अर्थ नहीं है तो ज्ञान में नीलाकार कहाँ से आया ? वासना नीलाकार कैसे बन गई ? तात्पर्य यह कि व्यवहार के लिए की जानेवाली संज्ञाएँ, इष्ट अनिष्ट, सुन्दर असुन्दर, आदि कल्पनाएँ भले ही विकल्पकल्पित हों और दृष्टिसृष्टि की सीमा में हों पर जिस आधार पर ये सब कल्पनाएँ कल्पित होती हैं वह आधार ठोस और सत्य है। विष के ज्ञान से मरण नहीं हो सकता। विषका खानेवाला और विष दोनों ही परमार्थसत् हैं तथा विष के संयोग से होनेवाले शरीरगत रासायनिक परिणमन भी। पर्वत मकान नदी आदि पदार्थ यदि ज्ञानात्मक ही हैं तो उनमें मूर्तत्व स्थूलत्व सप्रतिघत्व आदि धर्म कैसे आ सकते हैं ? ज्ञानस्वरूप नदी में स्नान या ज्ञानात्मक जल से तृषा शान्ति अथवा ज्ञानात्मक पत्थर से सिर तो नहीं फूट सकता ? यदि अद्वयज्ञान ही है तो शास्त्रोपदेश आदि निरर्थक हो जायँगे। परप्रतिपत्ति के लिए ज्ञान से अतिरिक्त वचन की सत्ता आवश्यक है। अद्वयज्ञान में प्रतिपाद्य, प्रमाण, विचार आदि प्रतिभास की सामग्री तो माननी ही पड़ेगी अन्यथा प्रतिभास कैसे होगा ? अद्वयज्ञान में अर्थ अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदि की व्यवस्था न होने से तद्ग्राही ज्ञानों में प्रमाणता या अप्रमाणता का निश्चय कैसे किया जा सकेगा ? ज्ञानाद्वैत की सिद्धि के लिए अनुमान के अङ्गभूत साध्य साधन दृष्टान्त आदि तो स्वीकार करने ही होंगे अन्यथा अनुमान कैसे हो सकेगा ? सहोपलम्भ—एक साथ उपलब्ध होना—से अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता; कारण जो भिन्नसत्ताक पदार्थों में ही एक साथ उपलम्भ होना कहा जा सकता है। ज्ञान अन्तरंग में चेतन रूप से तथा अर्थ बहिरङ्ग में जड़रूप से अनुभव में आता है अतः इनका सहोपलम्भ असिद्ध भी है। अर्थशून्य ज्ञान स्वाकारतया तथा ज्ञानशून्य अर्थ अपने अर्थरूप में अस्तित्व रखते ही हैं भले ही हमें वे अज्ञात हों। यदि हम बाह्यपदार्थों का इदमित्थंरूप निरूपण या निर्वचन नहीं कर सकते तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है। अनन्तधर्मात्मक पदार्थ का पूर्ण निरूपण तो सम्भव ही नहीं है। शब्द या ज्ञान की अशक्ति के कारण पदार्थों का लोप नहीं किया जा सकता। नीलाकारज्ञान रहने पर भी कपड़ा रंगने को नीलपदार्थ की नितान्त आवश्यकता है। ज्ञान में नीलाकार भी बिना नील के नहीं आ सकता। अनेक परमाणुओं से जो स्कन्ध बनता है उस स्कन्ध का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है उन्हीं परमाणुओं का कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध

अर्थात् रासायनिक मिश्रण होने पर परस्पर बन्ध हो जाता है और वह स्कन्ध स्थूल और इन्द्रियग्राह्य होता है। यही अनुभवसिद्ध है। न तो उसका एकदेश से सम्बन्ध होता है और न सर्वदेश से किन्तु जड़ पदार्थों का स्निग्ध और रूक्षता के कारण कियत्काल स्थायी विलक्षणबन्ध हो जाता है। जिस प्रकार एक ज्ञान स्वयं ज्ञानाकार ज्ञेयाकार और ज्ञप्तिस्वरूप अनुभव में आता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मों का आधार होता है इनमें विरोध आदि दूषणों का कोई प्रसङ्ग नहीं है। इस तरह अन्तरङ्गज्ञान से पृथक्, स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाले बाह्य जड़पदार्थ हैं। इन्हीं ज्ञेयों को ज्ञान जानता है। अतः अकलङ्कदेव ने प्रत्यक्ष के स्वरूपनिरूपण में ज्ञान का अर्थवेदन विशेषण दिया है जो ज्ञान को आत्मवेदी के साथ ही साथ अर्थवेदी सिद्ध करता है। इस तरह ज्ञान स्वभाव से स्वपरवेदी है स्वार्थसंवेदक है।

अर्थ-सामान्यविशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक है—

ज्ञान अर्थ को विषय करता है यह विवेचन हो चुकने पर विचारणीय मुद्दा यह है कि अर्थ का क्या स्वरूप है? जैन दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है या संक्षेप से सामान्यविशेषात्मक है। वस्तु में दो प्रकार के अस्तित्व हैं—एक स्वरूपास्तित्व और दूसरा सादृश्यास्तित्व। एक द्रव्य को अन्य सजातीय या विजातीय किसी भी द्रव्य से असङ्कीर्ण रखनेवाला स्वरूपास्तित्व है। इसके कारण एक द्रव्य की पर्यायें दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य से असङ्कीर्ण पृथक् अस्तित्व रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ इतरद्रव्यों से व्यावृत्ति कराता है वहाँ अपनी पर्यायों में अनुगत भी रहता है। अतः इस स्वरूपास्तित्व से अपनी पर्यायों में अनुगत प्रत्यय उत्पन्न होता है और इतरद्रव्यों से व्यावृत्त प्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्व को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। इसे ही द्रव्य कहते हैं। क्योंकि यही अपनी क्रमिक पर्यायों में द्रवित होता है, क्रमशः प्राप्त होता है। दूसरा सादृश्यास्तित्व है जो विभिन्न अनेक द्रव्यों में गौ गौ इत्यादि प्रकार का अनुगत व्यवहार कराता है। इसे तिर्यक्सामान्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि अपनी दो पर्यायों में अनुगत व्यवहार करानेवाला स्वरूपास्तित्व होता है। इसे ही ऊर्ध्वतासामान्य और द्रव्य कहते हैं। तथा विभिन्न दो द्रव्यों में अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक्सामान्य या सादृश्य-सामान्य कहते हैं। इसी तरह दो द्रव्यों में व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला व्यतिरेक जाति का विशेष होता है तथा अपनी ही दो पर्यायों में विलक्षण प्रत्यय करानेवाला पर्याय नाम का विशेष होता है। निष्कर्ष यह कि एकद्रव्य की पर्यायों में अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्य से होता है तथा व्यावृत्तप्रत्यय पर्याय-विशेष से होता है। दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगतप्रत्यय सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्य से होता है और व्यावृत्तप्रत्यय व्यतिरेकविशेष से होता है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक और द्रव्यपर्याया-त्मक होता है।

यद्यपि सामान्यविशेषात्मक कहने से द्रव्यपर्यायात्मकत्व का बोध हो जाता पर द्रव्यपर्यायात्मक के पृथक् कहने का प्रयोजन यह है कि पदार्थ न केवल द्रव्यरूप है और न पर्यायरूप। किन्तु प्रत्येक सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। इनमें उत्पाद और व्यय पर्याय का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा ध्रौव्य द्रव्य का। पदार्थ सामान्यविशेषात्मक तो उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् न होकर भी हो सकता है, अतः उसके निज स्वरूप का पृथक् भान कराने के लिए द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण दिया है।

सामान्यविशेषात्मक विशेषण धर्मरूप है, जो अनुगतप्रत्यय और व्यावृत्तप्रत्यय का विषय होता है। द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण परिणमन से सम्बन्ध रखता है। प्रत्येक वस्तु अपनी पर्यायधारा में परिणत होती हुई अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य क्षण को प्राप्त करती है। वह वर्तमान को अतीत और भविष्य को वर्तमान बनाती रहती है। प्रतिक्षण परिणमन करने पर भी अतीत के यावत् संस्कारपुंज इसके वर्तमान को प्रभावित करते हैं या यों कहिए कि इसका वर्तमान अतीतसंस्कारपुंज का कार्य है और वर्तमान कारण के अनुसार भविष्य प्रभावित होता है। इस तरह यद्यपि परिणमन करने पर कोई अपरि-वर्तित या कूटस्थ नित्य अंश वस्तु में शेष नहीं रहता जो त्रिकालावस्थायी हो पर इतना विच्छिन्न परिणमन

भी नहीं होता कि अतीत वर्तमान और भविष्य बिलकुल असम्बद्ध और अविच्छिन्न हों। वर्तमान के प्रति अतीत का उपादान कारण होना और वर्तमान का भविष्य के प्रति, यह सिद्ध करता है कि तीनों क्षणों की अविच्छिन्न कार्यकारणपरम्परा है। न तो वस्तु का स्वरूप सदा स्थायी नित्य ही है और न इतना विलक्षण परिणमन करनेवाला जिससे पूर्व और उत्तर भिन्नसन्तान की तरह असम्बद्ध हों।

भदन्त नागसेन ने मिलिन्द प्रश्न में जो कर्म और पुनर्जन्म का विवेचन किया है (दर्शनदिग्दर्शन पृ० ५५१) उसका तात्पर्य यही है कि पूर्वक्षण को प्रतीत्य अर्थात् उपादान कारण बनाकर उत्तरक्षण का समुत्पाद होता है। मज्झिमनिकाय में "अस्मिन् सति इदं भवति" इसके होने पर यह होता है, जो इस आशय का वाक्य है उसका स्पष्ट अर्थ यही हो सकता है कि क्षणसन्तति प्रवाहित है उसमें पूर्वक्षण उत्तर क्षण बनता जाता है जैसे वर्तमान अतीतसंस्कार पुंज का फल है वैसे ही भविष्यत्क्षण का कारण भी।

श्री राहुल सांकृत्यायनने दर्शन-दिग्दर्शन (पृ० ५१२) में प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"प्रतीत्यसमुत्पाद कार्यकारण नियम को अविच्छिन्न नहीं विच्छिन्न प्रवाह बतलाता है। प्रतीत्य समुत्पाद के इसी विच्छिन्न प्रवाह को लेकर आगे नागार्जुन ने अपने शून्यवाद को विकसित किया।" इनके मत से प्रतीत्यसमुत्पाद विच्छिन्न प्रवाहरूप है और पूर्वक्षण का उत्तरक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर वे प्रतीत्य शब्द के 'हेतु कृत्वा' अर्थात् पूर्वक्षण को कारण बनाकर इस सहज अर्थ को भूल जाते हैं। पूर्व क्षण को हेतु बनाए बिना यदि उत्तर का नया ही उत्पाद होता है तो भदन्त नागसेन की कर्म और पुनर्जन्म की सारी व्याख्या आधारशून्य हो जाती है। क्या द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद में विच्छिन्नप्रवाह युक्तिसिद्ध है? यदि अविद्या के कारण संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कार के कारण विज्ञान आदि तो पूर्व और उत्तर का प्रवाह विच्छिन्न कहाँ हुआ? एक चित्तक्षण की अविद्या उसी चित्तक्षण में ही संस्कार उत्पन्न करती है अन्य चित्तक्षण में नहीं, इसका नियामक यही प्रतीत्य है। जिसको प्रतीत्य जिसका समुत्पाद हुआ है उन दोनों में अतिविच्छेद कहाँ हुआ?

राहुलजी यहाँ (पृ०५१२) अनित्यवाद की "बुद्ध का अनित्यवाद भी 'दूसरा ही उत्पन्न होता है। दूसरा ही नष्ट होता है' के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्त्व का बाहरी परिवर्तन मात्र नहीं बल्कि एक का बिलकुल नाश और दूसरे का बिलकुल नया उत्पाद है। बुद्ध कार्यकारण की निरन्तर या अविच्छिन्न सन्तति को नहीं मानते।" इन शब्दों में व्याख्या करते हैं। राहुलजी यहाँ भी केवल समुत्पाद को ही ध्यान में रखते हैं, उसके मूलरूप प्रतीत्य को सर्वथा भुला देते हैं। कर्म और पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए प्रयुक्त "महाराज, यदि फिर भी जन्म नहीं ग्रहण करे तो मुक्त हो गया, किन्तु चूँकि वह *फिर भी जन्म ग्रहण करता है इसलिए (मुक्त) नहीं हुआ।"* इस सन्दर्भ में 'वह फिर भी' शब्द क्या अविच्छिन्न प्रवाह को सिद्ध नहीं कर रहे हैं। बौद्धदर्शन का 'अभौतिक अनात्मवादी' नामकरण केवल भौतिकवादी चार्वाक और आत्मनित्यवादी औपनिषदों के निराकरण के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिये, पर वस्तुतः बुद्ध क्षणिकचित्तवादी थे। क्षणिकचित्त को भी अविच्छिन्न सन्तति मानते थे न कि विच्छिन्नप्रवाह। आचार्य कमलशील ने तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ० १८२) में कर्मफलसम्बन्धपरीक्षा करते हुए इस प्राचीन श्लोक के भाव को उद्धृत किया है—

"यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥"

अर्थात्—जिस सन्तान में कर्मवासना प्राप्त हुई है उसका फल भी उसी सन्तान में होता है। जो कपास के रङ्ग से रंगा गया है उसी कपास बीज से उत्पन्न होनेवाली रुई लाल होती है अन्य नहीं। राहुलजी इस परम्परा का विचार करें और फिर बुद्ध को विच्छिन्नप्रवादी बताने का प्रयास करें! हाँ, यह अवश्य था कि—वे अनन्त क्षणों में शाश्वत सत्ता रखनेवाला कूटस्थ नित्य पदार्थ स्वीकार नहीं करते थे। पर वर्तमान क्षण अनन्त अतीत के संस्कारों का परिवर्तित पुंज स्वगर्भ में लिए है और उपादेय भविष्यत्क्षण

उससे प्रभावित होता है, इस प्रकार के त्रैकालिक सम्बन्ध को वे मानते थे। यह बात बौद्ध दर्शन के कार्यकारणभाव के अभ्यासी को सहज ही समझ में आ सकती है।

निर्वाण के सम्बन्ध में राहुलजी सर राधाकृष्णन् की आलोचना करते समय (पृ० ५२९) बड़े आत्मविश्वास के साथ लिख जाते हैं कि—"किन्तु बौद्ध-निर्वाण को अभावात्मक छोड़ भावात्मक माना ही नहीं जा सकता।" कृपाकर वे आचार्य कमलशील के द्वारा तत्त्वसंग्रह पंजिका (पृ० १०४) में उद्धृत इस प्राचीनश्लोक के अर्थ का मनन करें—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात्—चित्त जब रागादिदोष और क्लेश संस्कार से संयुक्त रहता है तब संसार कहा जाता है और और जब तदेव—वही चित्त रागादिक्लेश वासनाओं से रहित होकर निरास्रवचित्त बन जाता है तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। शान्तरक्षित तो (तत्त्वसं० पृ० १८४) बहुत स्पष्ट लिखते हैं कि "मुक्तिर्निर्मलता धियः" अर्थात्–चित्त की निर्मलता को मुक्ति कहते हैं। इस श्लोक में किस निर्वाण की सूचना है? वही चित्त रागादिप्रवाह से वासित रहकर संसार बना और वही रागादि से शून्य होकर मोक्ष बन गया। राहुलजी माध्यमिकवृत्ति (पृ० ५१९) गत इस निर्वाण के पूर्वपक्ष को भी ध्यान से देखें—

"इह हि उपितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं-निर्वाणमुपवर्णितम्—सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्य अविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्र 'उपधीयते अस्मिन् आत्मस्नेह इत्युपधिः। उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञप्तिनिमित्ता. पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यते इति शेष., उपधिरेव शेषः उपधिशेषः—सह उपधिशेषेण वर्तत इति सोपधिशेषम्। किं तत्? निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादि-क्लेशतस्कररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण, तत् सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्ति तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गत उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण।"

अर्थात् निर्वाण दो प्रकार का है—१ सोपधिशेष २ निरुपधिशेष। सोपधिशेष मे रागादि का नाश होकर जिन्हें आत्मा कहते हैं ऐसे पाँचस्कन्ध निरास्रव दशा में रहते हैं। दूसरे निरुपधिशेष निर्वाण में स्कन्ध भी नष्ट हो जाते हैं।

बौद्ध परम्परा में इस सोपधिशेष निर्वाण को भावात्मक स्वीकार किया ही गया है। यह जीवन्मुक्त दशा का वर्णन नहीं है किन्तु निर्वाणावस्था का।

आखिर बौद्धदर्शन में ये दो परम्पराएँ निर्वाण के सम्बन्ध में क्यों प्रचलित हुई? इसका उत्तर हमें बुद्ध की अव्याकृत सूची से मिल जाता है। बुद्ध ने निर्वाण के बाद की अवस्था सम्बन्धी इन चार प्रश्नों को अव्याकरणीय अर्थात् उत्तर देने के अयोग्य बताया। "१ क्या मरने के बाद तथागत (बुद्ध) होते हैं? २ क्या मरने के बाद तथागत नहीं होते? ३ क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं? ४ क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं न नहीं होते हैं?" मालुंक्य पुत्र के प्रश्न पर बुद्ध ने कहा कि इनका जानना सार्थक नहीं है क्योंकि इनके बारे में कहना भिक्षुचर्या निर्वेद या परमज्ञान के लिए उपयोगी नहीं है। यदि बुद्ध स्वयं निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना सुनिश्चित मत रखते होते तो वे अन्य सैकड़ों लौकिक अलौकिक प्रश्नों की तरह इस प्रश्न को अव्याकृत कोटि में न डालते। और यही कारण है जो निर्वाण के विषय में दो धाराएँ बौद्ध दर्शन में प्रचलित हो गई हैं।

इसी तरह बुद्ध ने जीव और शरीर की भिन्नता और अभिन्नता को अव्याकृत कोटि में डालकर श्री राहुलजी को बौद्धदर्शन के 'अभौतिक अनात्मवाद' जैसे उभयप्रतिषेधक नामकरण का अवसर दिया। बुद्ध अपने जीवन में देह और आत्मा के जुदापन और निर्वाणोत्तर जीवन आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के शतराहे

पर अपने शिष्य को उलझाकर लक्ष्यच्युत नहीं करना चाहते थे। इसलिए लोक क्या है? आत्मा क्या है? और निर्वाणोत्तर जीवन कैसा है? इन जीवन्त प्रश्नों को भी उन्होंने अव्याकरणीय करार दिया। उनकी विचारधारा और साधना का केन्द्रबिन्दु वर्तमान दुःख की निवृत्ति ही रहा है। राहुलजी एक ओर तो विच्छिन्न प्रवाह मानते हैं और दूसरी ओर पुनर्जन्म। वे इसकी यही असङ्गति को कैसे पी जाते हैं कि यदि पूर्व और उत्तर क्षण विच्छिन्न हैं तो पुनर्जन्म कैसा और किसका? क्या बुद्धवाक्यों की ऐसी ही असंगत व्याख्या को सम्हालने का प्रयत्न शान्तरक्षित और कमलशील जैसे दार्शनिकों ने किया है, जो एक अविच्छिन्न कार्य-कारण प्रवाह मानते हैं? अविच्छिन्न का अर्थ है कार्यकारणभाववाली।

जैन दर्शन की दृष्टि में—प्रत्येक सत् परिणामी है और यह परिणमन प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक है। उसमें किसी अन्य हेतु की आवश्यकता नहीं है। यदि अन्य कारण मिले तो वे उस परिणमन को प्रभावित कर सकते हैं पर उपादान कारण तो पूर्वपर्याय ही होगी और उसमें जो कुछ है सब अखण्डरूप ही है। अतः द्वितीय क्षण में वह अखण्ड का अखण्ड उत्तरपर्याय बन जाता है। चूँकि पुराना क्षण ही वर्तमान बना है और भविष्य को अपने में शक्ति या उपादान रूप से छिपाए है अतः स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि व्यवहार सोपपत्तिक और समूल बन जाते हैं। परिणामी का अर्थ है उत्पाद और व्यय होते हुए भी ध्रौव्य रहना। आपाततः यह मालूम होता है कि जो उत्पादविनाशवाला है वह ध्रुव कैसे रह सकता है? पर ध्रौव्य का अर्थ सदा स्थायी कूटस्थ नित्य नहीं है और न यह विवक्षित है कि वस्तु के कुछ अंश उत्पाद विनाश के कारण परिवर्तित होते हैं तथा कुछ अंश उस परिवर्तन से अछूते ध्रुव बने रहते हैं और न परिवर्तन का यह स्थूल अर्थ ही है कि जो प्रथमक्षण में है दूसरे क्षण में वह बिलकुल बदल जाता है या विलक्षण हो जाता है। परिणमन सदृश भी होता है विसदृश भी। शुद्ध चेतनद्रव्य मुक्त अवस्था में प्रतिक्षण परिवर्तित रहने पर भी कभी विलक्षण परिवर्तन नहीं करता उसका सदा सदृश परिवर्तन ही होता रहता है। इसी तरह आकाश, काल, धर्म और अधर्मद्रव्य सदा स्वभावपरिणमन करते हैं। उनमें परिवर्तन करते रहने पर भी कहने लायक कोई विलक्षणता नहीं आती। यों समझाने के लिए परद्रव्यों के परिवर्तन के अनुसार इनमें भी परप्रत्यय विलक्षणता दिखाई जा सकती है पर न तो इनमें प्रदेशभेद होता है न आकारभेद और न स्वरूपविलक्षणता ही। इनका स्वाभाविक परिणमन तो अगुरुलघुगुणकृत ही है। रह जाता है पुद्गलद्रव्य, जिसका शुद्ध परिणमन कोई निश्चित नहीं है। कारण यह है कि शुद्ध जीव को न तो जीवान्तर का सम्पर्क विकारी बना सकता है और न किसी पुद्गलद्रव्य का संयोग ही, पर पुद्गल में तो पुद्गल और जीव दोनों के निमित्त से विकृति उत्पन्न होती है। लोक में ऐसा कोई प्रदेश भी नहीं है जहाँ अन्य पुद्गल या जीव के सम्पर्क से विवक्षित पुद्गलाणु अछूता रह सकता हो। अतः कदाचित् पुद्गल अपनी शुद्ध अणु अवस्था में भी पहुँच जाय पर उसके गुण और धर्म शुद्ध होंगे या द्वितीयक्षण में शुद्ध रह सकते हैं इसका कोई नियामक नहीं है। अनेक पुद्गलद्रव्य मिलकर स्कन्ध दशा में एक संयुक्त सदृश पर्याय भी बनाते हैं पर अनेक जीव मिलकर एक संयुक्तपर्याय नहीं बना सकते। सबका परिणमन अपना जुदा जुदा है। स्कन्धगत परमाणुओं में भी प्रत्येकशः अपना सदृश या विसदृश परिणमन होता रहता है और उन सब परिणमनों की औसत से ही स्कन्ध का वजन, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श व्यवहार में आता है। स्कन्धगत परमाणुओं में क्षेत्रकृत और आकारकृत सादृश्य होने पर भी उनका मौलिकत्व सुरक्षित रहता है। लोक से एक भी परमाणु अनन्त परिवर्तन करने पर भी निःसत्त्व-सत्ताशून्य अर्थात् असत् नहीं हो सकता। अतः परिणमन में विलक्षणता अनुभूत न होने पर भी स्वभावभूत परिवर्तन प्रतिक्षण होता ही रहता है।

द्रव्य एक नदी के समान अतीत वर्तमान और भविष्य पर्यायों का कल्पित प्रवाह नहीं है। क्योंकि नदी विभिन्नसत्ताक जलकणों का एकत्र समुदाय है जो क्षेत्रभेद कर के आगे बढ़ता जाता है। किन्तु अतीत पर्याय एक एक क्षण में क्रमशः वर्तमान होती हुई इस समय एकक्षणवर्ती वर्तमान के रूप में है। अतीत पर्यायों का कोई पर्याय-अस्तित्व नहीं है पर जो वर्तमान है वह अतीत का कार्य है, और यही भविष्य का कारण है। सत्ता एक समयमात्र वर्तमानपर्याय की है। भविष्य और अतीत क्रमशः अनुत्पन्न और विनष्ट

हैं। अतन्तः ध्रौव्य इतना ही है कि एक द्रव्य की पूर्वपर्याय द्रव्यान्तर की उत्तर-पर्याय नहीं बनती और न वहीं समाप्त होती है। इस तरह द्रव्यान्तर से असांकर्य का नियामक ही ध्रौव्य है। इसके कारण प्रत्येक द्रव्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहती है और नियत कारणकार्यपरम्परा चालू रहती है। वह न विच्छिन्न होती है और न संकर ही। यह भी अतिसुनिश्चित है कि किसी भी नये द्रव्य का उत्पाद नहीं होता और न मौजूद का अत्यन्त विनाश ही। केवल परिवर्तन, सो भी प्रतिक्षण निराबाध गति से।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। वह अनन्त गुण और अनन्त शक्तियों का धनी है।। पर्यायानुसार कुछ शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं कुछ तिरोभूत। जैनदर्शन में द्रव्य सत् का एक लक्षण तो है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" दूसरा है "सद् द्रव्यलक्षणम्"। इन दोनों लक्षणों का मथितार्थ यही है कि द्रव्य को सत् कहना चाहिए और वह द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद व्यय के साथ ही साथ अपने अविच्छिन्नता रूप ध्रौव्य को धारण करता है। द्रव्य का लक्षण है—"गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" अर्थात् गुण और पर्यायवाला द्रव्य होता है। गुण सहभावी और अनेक शक्तियों के प्रतिरूप होते हैं जब कि पर्याय क्रमभावी और एक होती है। द्रव्य का प्रतिक्षण परिणमन एक होता है। उस परिणमन को हम उन उन गुणों के द्वारा अनेक रूप से वर्णन कर सकते हैं। एक पुद्गलाणु द्वितीय समय में परिवर्तित हुआ तो उस एक परिणमन का विभिन्न रूपरसादि गुणों के द्वारा अनेक रूप में वर्णन हो सकता है। विभिन्न गुणों की द्रव्य में स्वतन्त्र सत्ता न होने से स्वतन्त्र परिणमन नहीं माने जा सकते। अकलङ्कदेव ने प्रत्यक्ष के ग्राह्य अर्थ का वर्णन करते समय द्रव्य-पर्याय-सामान्य-विशेष इस प्रकार जो चार विशेषण दिए हैं वे पदार्थ की उपर्युक्त स्थिति को सूचित करने के लिए ही हैं। द्रव्य और पर्याय पदार्थ की परिणति को सूचित करते हैं तथा सामान्य और विशेष अनुगत और व्यावृत्त व्यवहार के विषयभूत धर्मों की सूचना देते हैं।

नैयायिक वैशेषिक—प्रत्यय के अनुसार वस्तु की व्यवस्था करते हैं। इन्होंने जितने प्रकार के ज्ञान और शब्द व्यवहार होते हैं उनका वर्गीकरण करके असाङ्कर्यभाव से उतने पदार्थ मानने का प्रयत्न किया है। इसीलिए इन्हें 'संप्रत्ययोपाध्याय' कहा जाता है। पर प्रत्यय अर्थात् ज्ञान और शब्द व्यवहार इतने अपरिपूर्ण और लचर हैं कि इन पर पूरा पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। ये तो वस्तु स्वरूप की ओर इशारा मात्र ही कर सकते हैं। 'द्रव्यम् द्रव्यम्' ऐसा प्रत्यय हुआ एक द्रव्य पदार्थ मान लिया। 'गुण गुण' प्रत्यय हुआ गुण पदार्थ मान लिया। 'कर्म कर्म' ऐसा प्रत्यय हुआ कर्म पदार्थ मान लिया। इस तरह इनके सात पदार्थों की स्थिति प्रत्यय के आधीन है। परन्तु प्रत्यय से मौलिक पदार्थ की स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। पदार्थ तो अपना अखण्ड ठोस स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, वह अपने परिणमन के अनुसार अनेक प्रत्ययों का विषय हो सकता है। गुण क्रिया सम्बन्ध आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, ये तो द्रव्य की अवस्थाओं के विभिन्न व्यवहार हैं। इसी तरह सामान्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जो नित्य और एक होकर अनेक स्वतन्त्र सत्ताक व्यक्तियों में मोतियों में सूत की तरह पिरोया गया हो। पदार्थों के परिणमन कुछ सदृश भी होते हैं और कुछ विसदृश भी। दो विभिन्न सत्ताक व्यक्तियों में भूयःसाम्य देखकर अनुगत व्यवहार होने लगता है। अनेक आत्माएँ अपने विभिन्न शरीरों में वर्तमान हैं पर जिनकी अवयवरचना अमुक प्रकार की सदृश है उनमें 'मनुष्यः मनुष्यः' ऐसा सामान्य व्यवहार किया जाता है तथा जिनकी घोड़ों जैसी उनमें 'अश्वः अश्वः' यह व्यवहार। जिन आत्माओं में सादृश्य के आधार से मनुष्य व्यवहार हुआ है उनमें मनुष्यत्व नाम का कोई सामान्य पदार्थ, जो कि अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है, आकर समवायनामक सम्बन्ध पदार्थ से रहता है यह कल्पना पदार्थस्थिति के विरुद्ध है। 'सत् सत्' 'द्रव्यम् द्रव्यम्' इत्यादि प्रकार के सभी अनुगत व्यवहार सादृश्य के आधार से ही होते हैं। सादृश्य भी उभयनिष्ठ कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु वह बहुत अवयवों की समानता रूप ही है। तत्तद् अवयव उन उन व्यक्तियों में रहते ही हैं। उनमें समानता देखकर द्रष्टा उस रूप से अनुगत व्यवहार करने लगता है। वह सामान्य नित्य एक और निरंश होकर यदि सर्वगत है तो उसे विभिन्न देशस्थ स्वव्यक्तियों में खण्डशः रहना होगा, क्योंकि एक वस्तु एक साथ भिन्न देश में पूर्णरूप से नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस

समय एक व्यक्ति में प्रकट होता है उसी समय उसे सर्वत्र–व्यक्तियों के अन्तराल में भी प्रकट होना चाहिए। अन्यथा क्वचित् व्यक्त और क्वचित् अव्यक्त रूप से स्वरूपभेद होने पर अनित्यत्व और सांशत्व का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यदि सामान्य पदार्थ अन्य किसी सत्तासम्बन्ध के अभाव में भी स्वतः सत् है तो उसी तरह द्रव्य गुण आदि पदार्थ भी स्वतःसत् ही क्यों न माने जायँ? अतः सामान्य स्वतन्त्र पदार्थ न होकर द्रव्यों के सदृश परिणमनरूप ही है।

वैशेषिक तुल्य आकृति तुल्य गुण वाले सम परमाणुओं में परस्पर भेद प्रत्यय कराने के निमित्त स्वतो विभिन्न विशेष पदार्थ की सत्ता मानते हैं। वे मुक्त आत्माओं में मुक्त आत्मा के मनों में विशेष प्रत्यय के निमित्त विशेष पदार्थ मानना आवश्यक समझते हैं। परन्तु प्रत्यय के आधार से पदार्थ व्यवस्था मानने का सिद्धान्त ही गलत है। जितने प्रकार के प्रत्यय होते जायँ उतने स्वतन्त्र पदार्थ यदि माने जाँय तो पदार्थों की कोई सीमा ही नहीं रहेगी। जिस प्रकार विशेष पदार्थ स्वतः परस्पर भिन्न हो सकते हैं उसी तरह परमाणु आदि भी स्वस्वरूप से ही परस्पर भिन्न हो सकते हैं। इसके लिए किसी स्वतन्त्र विशेष पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्तियाँ स्वयं ही विशेष हैं। प्रमाण का कार्य है स्वतःसिद्ध पदार्थ की असंकर व्याख्या करना।

बौद्ध सदृशपरिणमनरूप समानधर्म स्वीकार न करके सामान्य को अन्यापोह रूप मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि—परस्पर भिन्न वस्तुओं को देखने के बाद जो बुद्धि में अभेदभान होता है उस बुद्धिप्रतिबिम्बित अभेद को ही सामान्य कहते हैं। यह अभेद भी विध्यात्मक न होकर अतद्व्यावृत्तिरूप है। सभी पदार्थ किसी न किसी कारण से उत्पन्न होते हैं तथा कोई न कोई कार्य उत्पन्न भी करते हैं। तो जिन पदार्थों में अतत्कारणव्यावृत्ति और अतत्कार्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें अनुगत व्यवहार कर दिया जाता है। जैसे जो व्यक्तियाँ मनुष्यरूप कारण से उत्पन्न हुए हैं और आगे मनुष्यरूप कार्य उत्पन्न करेंगी उनमें अमनुष्यकारण-कार्यव्यावृत्ति को निमित्त लेकर 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा अनुगत व्यवहार कर दिया जाता है। कोई वास्तविक मनुष्यत्व विध्यात्मक नहीं है। जिस प्रकार चक्षु आलोक और रूप आदि परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थ भी अरूपज्ञानजननव्यावृत्ति के कारण 'रूपज्ञानजनक' व्यपदेश को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार सर्वत्र अतद्व्यावृत्ति से ही समानाकार प्रत्यय हो सकता है। वे शब्द का वाच्य इसी अपोहरूप सामान्य को ही स्वीकार करते हैं। विकल्पज्ञान का विषय भी यही अपोहरूप सामान्य है।

अकलङ्कदेव ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि—सादृश्य माने बिना अमुक व्यक्तियों में ही अपोह का नियम कैसे बन सकता है? यदि शाबलेय गोव्यक्ति बाहुलेय गोव्यक्ति से उतनी ही भिन्न है जितनी कि किसी अश्वादिव्यक्ति से, तो क्या कारण है कि शाबलेय और बाहुलेय में ही अतद्व्यावृत्ति मानी जाय अश्व में नहीं। यदि अश्व से कुछ कम विलक्षणता है तो यह मानना ही मानना होगा कि उनमें ऐसी समानता है जो अश्व के साथ नहीं है। अतः सादृश्य ही व्यवहार का सीधा नियामक हो सकता है। यह तो स्पष्ट सिद्ध है कि वस्तु समान और असमान उभयविध धर्मों का आधार होती है। समान धर्मों के आधार से अनुगत व्यवहार किया जाता है और असमान धर्म के आधार से व्यावृत्त व्यवहार। अन्य नहीं, 'अतद्व्यावृत्ति' यही एक समान धर्म तद्व्यक्तियों में स्वीकार करना होगा। बौद्ध जब स्वयं अपरापर क्षणों में सादृश्य के कारण एकत्वभान तथा सीप में सादृश्य के ही कारण रजतभ्रम स्वीकार करते हैं तब अनुगत व्यवहार के लिए सादृश्य को स्वीकार करने में उन्हें क्या बाधा है? अतद्व्यावृत्ति और बुद्धिगत अभेद प्रतिबिम्ब का निबाह भी सादृश्य के बिना नहीं हो सकता। अतः सदृश परिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। शब्द और विकल्पज्ञान भी सामान्यविशेषात्मक वस्तु को ही विषय करते हैं, न केवल सामान्यात्मक को और न केवल विशेषात्मक को ही।

सामान्यतया कल्पनाओं का रुख द्विमुखी होता है—एक तो अभेद की ओर दूसरा भेद की ओर। जगत् में अभेद की ओर चरम कल्पना वेदान्त दर्शन ने की है। यह इतना अभेद की ओर बढ़ा कि वास्तविक स्थिति को लाँघकर कल्पनालोक में ही जा पहुँचा। चेतन अचेतन का स्थूल भेद भी मायारूप बन गया।

एक ही तत्त्व का प्रतिभास चेतन और अचेतन रूप में माना गया। इस तरह देश काल और स्वरूप, हर प्रकार से चरम अभेद की कोटि वेदान्त दर्शन है। बौद्धदर्शन प्रत्येक चित् अचित् स्वलक्षणों की वास्तव स्वतन्त्र सत्ता मानकर ही चुप नहीं रहता। वह उनमें कालिक भेद भी क्षणपर्याय तक स्वीकार करता है। यहाँ तक तो उसका पारमार्थिक भेद है। जो प्रथमक्षण में है वह द्वितीय में नहीं, जो जहाँ जिस समय जैसे है वह वहीं उसी समय वैसे ही है, द्वितीयक्षण में नहीं। दो देशों में रहनेवाली दो क्षणों में रहनेवाली कोई वस्तु नहीं है। इस तरह देश काल और स्वरूप की दृष्टि से अन्तिम भेद बौद्धदर्शन का लक्ष्य है। पर अभेद की तरफ वेदान्त दर्शन और भेद की ओर बौद्धदर्शन वास्तववाद से काल्पनिकता या अवास्तववाद की ओर पहुँच जाते हैं। बौद्धदर्शन में विज्ञानवादी विभ्रमवादी शून्यवादी सभी काल्पनिक भेद के उपासक हैं। उनने बाह्यजगत का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया। किसी ने उसे संवृत कहा तो किसी ने उसे अविद्यानिर्मित कहा तो किसी ने उसे प्रत्ययमात्र।

जैन दर्शन ने भेद और अभेद का अन्तिम विचार तो किया पर वास्तवसीमा को लाँघा नहीं है। उसने दो प्रकार के अभेदप्रयोजक सामान्य धर्म माने तथा दो प्रकार के विशेष, जो भेद कल्पना के विषय होते हैं। दो विभिन्न सत्ताक द्रव्यों में अभेद व्यवहार सादृश्य से ही हो सकता है एकत्व से नहीं। इसलिए परम संग्रहनय यद्यपि वेदान्त की परम्परा को विषय करता है और कह देता है कि 'सद्रूपेण चेतनाचेतनानां भेदाभावात् अर्थात् सद्रूप से चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है' पर वह व्यवहारनय के विषयभूत वास्तव भेद का लोप नहीं करता। वह स्पष्ट घोषणा करता है कि चेतन और अचेतन में सत सादृश्य रूप से अनुगतव्यवहार हो सकता है पर कोई ऐसा एक सत् नहीं जो दोनों में वास्तव अनुगत सत्ता रखता हो, सिवाय इसके कि दोनों में 'सत् सत्' ऐसा समान प्रत्यय होता है और 'सत् सत्' ऐसा शब्द प्रयोग होता है। एक द्रव्य की कालक्रम से होने वाली पर्यायों में जो अनुगतव्यवहार होता है वह परमार्थसत् एकद्रव्यमूलक है। यद्यपि द्वितीयक्षण में अविभक्तद्रव्य अखण्ड का अखण्ड बदलता है–परिवर्तित होता है पर उस सत् का जो कि परिवर्तित हुआ है अस्तित्व दुनिया से नष्ट नहीं किया जा सकता, उसे मिटाया नहीं जा सकता। जो वर्तमानक्षण में अमुक दशा में है वही अखण्ड का अखण्ड पूर्वक्षण में अतीतदशा में था, वही बदलकर आगे के क्षण में तीसरा रूप लेगा, पर अपने स्वरूपसत्त्व को नहीं छोड़ सकता, सर्वथा महाविनाश के गर्त में प्रलीन नहीं हो सकता। इसका यह तात्पर्य बिलकुल नहीं है कि उसमें कोई शाश्वत कूटस्थ अंश है, किन्तु बदलने पर भी उसका सन्तानप्रवाह चालू रहता है कभी भी उच्छिन्न नहीं होता और न दूसरे में विलीन होता है। अतः एक द्रव्य की अपनी पर्यायों में होनेवाला अनुगत व्यवहार ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्यमूलक है। यह अपने में वस्तुसत् है। पूर्व पर्याय का अखण्ड निचोड़ उत्तरपर्याय है और उत्तरपर्याय अपने निचोड़भूत आगे की पर्याय को जन्म देती है। इस तरह जैसे अतीत और वर्तमान का उपादानोपादेय सम्बन्ध है उसी तरह वर्तमान और भविष्य का भी। परन्तु सत्ता वर्तमान क्षणमात्र की है। पर यह वर्तमान परम्परा से अनन्त अतीतों का उत्तराधिकारी है और परम्परा से अनन्त भविष्य का उपादान भी बनेगा। इसी दृष्टि से द्रव्य को कालत्रयवर्ती कहते हैं। शब्द इतने लचर होते हैं कि वस्तु के यथार्थगत स्वरूप को अभ्रान्त रूप से उपस्थित करने में सर्वत्र समर्थ नहीं होते। यदि वर्तमान का अतीत से बिलकुल सम्बन्ध न हो तभी निरन्वय क्षणिकत्व का प्रसङ्ग हो सकता है, परन्तु जब वर्तमान अतीत का ही परिवर्तित रूप है तब वह एक दृष्टि से सान्वय ही हुआ। वह केवल पंक्ति और सेना की तरह व्यवहारार्थ किया जानेवाला संकेत नहीं है किन्तु कार्यकारणभूत और खासकर उपादानोपादेयमूलक तत्त्व है। वर्तमान जलबिन्दु एक ऑक्सिजन और एक हाइड्रोजन के परमाणुओं का परिवर्तन मात्र है, अर्थात् ऑक्सिजन को निमित्त पाकर हाइड्रोजन परमाणु और हाइड्रोजन को निमित्त पाकर ऑक्सिजन परमाणु दोनों ने ही जल पर्याय प्राप्त कर ली है। इस द्विपरमाणुक जलबिन्दु के प्रत्येक जलाणु का विश्लेषण कीजिए तो ज्ञात होगा कि जो एटम ऑक्सिजन अवस्था को धारण किए था वह समूचा बदलकर जल बन गया है। उसका और पूर्व ऑक्सिजन का यही सम्बन्ध है कि यह उसका परिणाम है। वह जिस समय जल नहीं बनता

में उचित भी है पर लोक व्यवहार के निर्वाहार्थ वैशद्यांश का सद्भाव होने से उसे संव्यवहार प्रत्यक्ष भी कहा गया है। वैशद्य का लक्षण अकलङ्कदेव ने स्वयं लघीयस्त्रय (कारिका नं० ४) में यह किया है—

"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥"

अर्थात्—अनुमान आदि से अधिक, नियत देश काल और आकार रूप से प्रचुरतर विशेषों के प्रतिभासन को वैशद्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस ज्ञान में अन्य किसी ज्ञान की सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तर की अपेक्षा करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रखता। यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष में अतिरेक-अधिकता है। यद्यपि आगमिक दृष्टि से इन्द्रिय आलोक या ज्ञानान्तर किसी भी कारण की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान परोक्ष है और आत्ममात्रसापेक्ष ही ज्ञान प्रत्यक्ष, पर दार्शनिक क्षेत्र में अकलङ्कदेव के सामने प्रमाणविभाग की समस्या थी जिसे उन्होंने बड़ी व्यवस्थित रीति से सुलझाया है। तत्त्वार्थसूत्र में मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है और वहीं मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध को अनर्थान्तर बताया है। अनर्थान्तर कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये सब मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। मति में इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होनेवाले अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ज्ञान सम्मिलित हैं। अकलङ्कदेव ने मति को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर लोकप्रसिद्ध इन्द्रियज्ञान की प्रत्यक्षता का निर्वाह किया और स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान और श्रुति इन सब को परोक्ष प्रमाण रूप से परिगणित किया। आगम में मति और श्रुत परोक्ष थे ही। स्मृति आदि मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण मतिज्ञान थे ही इसलिए इनका परोक्षत्व भी सिद्ध था। मात्र इन्द्रिय और मनोजन्य मति को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बना देने से समस्त प्रमाण व्यवस्था जम गई और लोक प्रसिद्धि का निर्वाह भी हो गया। यद्यपि अकलङ्कदेव ने लघीयस्त्रय में स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान को भी मनोमति कहा है और सम्भवतः वे इन्हें भी प्रादेशिक प्रत्यक्षकोटि में लाना चाहते थे पर यह प्रयास आगे के आचार्यों के द्वारा समर्थित नहीं हुआ।

इस तरह अकलङ्कदेव ने विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर श्रीसिद्धसेन दिवाकर के 'अपरोक्ष ग्राहक प्रत्यक्ष' इस प्रत्यक्ष लक्षण की कमी को दूर कर दिया। उत्तर कालीन समस्त जैनाचार्यों ने अकलङ्कोपज्ञ इस लक्षण और प्रमाणव्यवस्था को स्वीकार किया है।

यद्यपि बौद्ध भी विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं फिर भी प्रत्यक्ष के लक्षण में अकलङ्कदेव के द्वारा विशद पद के साथ ही प्रयुक्त साकार और अंजसा पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पक ज्ञान जैनदार्शनिक परम्परा में प्रसिद्ध विषयविषयीसन्निपात के बाद होनेवाले सामान्यावभासी अनाकार दर्शन के समान है। अकलङ्कदेव की दृष्टि में जब निर्विकल्पक दर्शन प्रमाणकोटि से ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता था। इसी बात की सूचना के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष के लक्षण में साकार पद दिया है। जो निराकार दर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष का निराकरण कर निश्चयात्मक विशदज्ञान को ही प्रत्यक्षकोटि में रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद होने वाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पों को भी संव्यवहार से प्रमाण मान लेते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष के विषयभूत दृश्य स्वलक्षण में विकल्प के विषयभूत विकल्प्य सामान्य का एकत्वाध्यवसाय करके प्रवृत्ति करने पर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है, अतः विकल्प ज्ञान भी संव्यवहार से प्रमाण बन जाता है। इस विकल्प में निर्विकल्पक की ही विशदता आती है। इसका कारण है निर्विकल्पक और सविकल्पक का अतिशीघ्र उत्पन्न होना या एक साथ होना। तात्पर्य यह कि बौद्ध के मत से सविकल्पक में न तो अपना वैशद्य है और न प्रमाणत्व। इसका निरास करने के लिए अकलङ्कदेव ने अंजसा विशेषण दिया है और सूचित किया है कि विकल्पज्ञान अंजसा विशद है संव्यवहार से नहीं।

परपरिकल्पित लक्षण निरास—

बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। कल्पनापोढ और अभ्रान्त ज्ञान उन्हें प्रत्यक्ष इष्ट है। शब्दसंसृष्ट ज्ञान विकल्प कहलाता है। निर्विकल्पक शब्दसंसर्ग से शून्य होता है। निर्विकल्पक परमार्थसत् स्वलक्षण अर्थ से उत्पन्न होता है। इसके चार भेद होते हैं–इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष। निर्विकल्पक स्वयं व्यवहारसाधक नहीं होता, व्यवहार निर्विकल्पकजन्य सविकल्पक से होता है। सविकल्पक ज्ञान निर्मल नहीं होता। विकल्प ज्ञान की विशदता सविकल्प में झलकती है। ज्ञात होता है कि वेद की प्रमाणता का खण्डन करने के विचार से बौद्धों ने शब्द का अर्थ के साथ वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं माना और यावत् शब्दसंसर्गी ज्ञानों को, जिनका समर्थन निर्विकल्पक से नहीं होता अप्रमाण घोषित कर दिया है। इनने उन्हीं ज्ञानों को प्रमाण माना जो साक्षात् या परम्परा से अर्थसामर्थ्यजन्य हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा यद्यपि वस्तु में रहनेवाले क्षणिकत्व आदि सभी धर्मों का अनुभव हो जाता है पर उनका निश्चय यथासंभव विकल्पकज्ञान और अनुमान से ही होता है। नील निर्विकल्पक नीलांश का 'नीलमिदम्' इस विकल्पज्ञान द्वारा निश्चय करता है और व्यवहारसाधक होता है तथा क्षणिकांश का 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इस अनुमान के द्वारा। चूंकि निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' आदि विकल्पों का उत्पादक है और अर्थस्वलक्षण से उत्पन्न हुआ है अतः प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है क्योंकि वह परमार्थसत् स्वलक्षण से उत्पन्न नहीं हुआ है। सर्वप्रथम अर्थ से निर्विकल्पक ही उत्पन्न होता है। उस निर्विकल्पकावस्था में किसी विकल्पक का अनुभव नहीं होता। विकल्प कल्पितसामान्य को विषय करने के कारण तथा निर्विकल्पक के द्वारा गृहीत अर्थ को ग्रहण करने के कारण प्रत्यक्षाभास है।

अकलङ्कदेव इसकी आलोचना इस प्रकार करते हैं—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाण का अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहार में साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पक में ही है तब क्यों न उसे ही प्रमाण माना जाय? निर्विकल्पक में प्रमाणता लाने को आखिर आपको सविकल्पक ज्ञान तो मानना ही पड़ता है। यदि निर्विकल्प के द्वारा गृहीत नीलाद्यंश को विषय करने से विकल्पज्ञान अप्रमाण है; तब तो अनुमान भी प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत क्षणिकत्वादि को विषय करने के कारण प्रमाण नहीं हो सकेगा। निर्विकल्प से जिस प्रकार नीलाद्यंशों में 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्प उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार क्षणिकत्वादि अंशों में भी 'क्षणिकमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान उत्पन्न होना चाहिये। अतः व्यवहारसाधक सविकल्पज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाने योग्य है। विकल्पज्ञान ही विशदरूप से प्रत्येक प्राणी के अनुभव में आता है, जब कि निर्विकल्पज्ञान अनुभवसिद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष से तो स्थिर स्थूल अर्थ ही अनुभव में आते हैं, अतः क्षणिक परमाणु का प्रतिभास कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। निर्विकल्पक को स्पष्ट होने से तथा सविकल्पक को अस्पष्ट होने से विषयभेद भी मानना ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वृक्ष दूरवर्ती पुरुष को अस्पष्ट तथा समीपवर्ती को स्पष्ट दीखता है। आप-प्रत्यक्षकाल में भी कल्पनाएँ बराबर उत्पन्न तथा विनष्ट तो होती ही रहती हैं, भले ही वे अनुपलक्षित रहें। निर्विकल्प से सविकल्प की उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि शब्दशून्य निर्विकल्पक से शब्दसहित विकल्पज्ञान उत्पन्न हो सकता है तो शब्दशून्य अर्थ से ही विकल्पक की उत्पत्ति मानने में क्या बाधा है? अतः मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्तादि यावद्विकल्पज्ञान संवादी होने से प्रमाण हैं। जहाँ वे विसंवादी हों वहीं उन्हें अप्रमाण कह सकते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में अर्थक्रियास्थिति अर्थात् अर्थक्रियासाधकत्व रूप अविसंवाद का लक्षण भी नहीं पाया जाता, अतः उसे प्रमाण कैसे कह सकते हैं? शब्दसंसृष्ट ज्ञान को विकल्प मानकर अप्रमाण कहने से शास्त्रोपदेश से क्षणिकत्वादि की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

मानस प्रत्यक्ष निरास—बौद्ध इन्द्रियज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होनेवाले विशदज्ञान को, जो कि उसी इन्द्रियज्ञान के द्वारा ग्राह्य अर्थ के अनन्तरभावी द्वितीयक्षण को जानता है, मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अकलङ्कदेव कहते हैं कि—एक ही निश्चयात्मक अर्थसाक्षात्कारी ज्ञान अनुभव में आता है। आपके द्वारा कल्पित मानस प्रत्यक्ष का तो प्रतिभास ही नहीं होता। 'नीलमिदम्' यह विकल्प ज्ञान भी मानस

और अभिनिबोध को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि–मति स्मृति संज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध ये सब मतिज्ञान हैं, मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से इनकी उत्पत्ति होती है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को जब संव्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से प्रसिद्धि होने के कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष मान लिया तब उसी तरह मनोमति रूप स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान को भी प्रत्यक्ष ही कहना चाहिये। परन्तु संव्यवहार इन्द्रियजन्य मति को तो प्रत्यक्ष मानता है पर स्मरण आदि को नहीं। अतः अकलङ्क की स्मरण आदि को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मानने की व्याख्या वहीं तक सीमित रही। वे शब्दयोजना के पहिले स्मरण आदि को मतिज्ञान और शब्दयोजना के बाद इन्हीं को श्रुतज्ञान भी कहते हैं। पर उत्तरकाल में सर्वमान्य प्रमाण विभाग के लिए—'इन्द्रिय और मनोमति सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदि परोक्ष, श्रुत परोक्ष और अवधि मनःपर्यय तथा केवलज्ञान ये तीन ज्ञान परमार्थप्रत्यक्ष' यही व्यवस्था सर्वस्वीकृत हुई।

परमार्थप्रत्यक्ष आत्ममात्र से उत्पन्न होता है। अवधि और मनःपर्यय ज्ञान सीमित विषयवाले हैं तथा केवलज्ञान सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट आदि समस्त पदार्थों को जानता है। परमार्थप्रत्यक्ष की सिद्धि के लिए अकलङ्क देव का निम्नलिखित युक्तिवाद अन्तिम है—

"अस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थानवलोकते॥" न्यायवि० श्लो० ४६५–६६।

अर्थात्—स्वभावतः आत्मा के ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने पर कोई ज्ञेय शेष नहीं रह जाता जो उस ज्ञान का विषय न हो सके। चूँकि ज्ञान स्वभावतः अप्राप्यकारी है अतः उसे पदार्थ के पास या पदार्थों को ज्ञान के पास आने की भी आवश्यकता नहीं है। अतः ऐसे निरावरण अप्राप्यकारी पूर्णज्ञान से समस्त पदार्थों का बोध होना ही चाहिए। सबसे बड़ी बाधा ज्ञानावरण की थी सो जब वह समूल नष्ट हो गया तो निरावरण ज्ञान स्वज्ञेय को जानेगा ही।

इस तरह इस प्रत्यक्ष प्रस्ताव में प्रत्यक्ष का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

---

२ ग्रन्थकार

न्यायविनिश्चय मूलग्रन्थ के प्रणेता जैनन्यायवाङ्मय के अमर प्रतिष्ठापक, तर्कवादी, जैनशासन के चिरस्मरणीय प्रभावक, अनेकान्तवाद के उपजीवी आचार्यवर भट्टाकलङ्कदेव हैं। जिनके पुण्यगुणों का स्मरण, जिनके त्याग की पुण्यगाथा आज भी जीवन में प्रेरणा और स्फूर्ति देती है। जो न केवल जैन सम्प्रदाय के ही ज्योतिरत्न थे किन्तु भारतमाता का मुकुट जिन इने गिने नररत्नों से आलोकित है उनमें अग्रणी थे। वे भारती के भाल की शोभा थे। शास्त्रार्थों में जिन्हें बृहस्पति भी परास्त नहीं कर सकता था। उस सच्चे अर्थ के धनी पर अकिञ्चन अकलङ्कदेव के मुख्य ग्रन्थ न्यायविनिश्चय का तदनुरूप व्याख्याकार वादिराजसूरि के विवरण के साथ प्रथमबार सम्पादन किया जा रहा है। ग्रन्थ के प्रत्यक्ष प्रस्ताव का संक्षिप्त विषयपरिचय पहिले लिखा जा चुका है। ग्रन्थकारों के विषय में जानकर उनके समय आदि का ज्ञात परिचय कराना अवसरप्राप्त है।

अकलङ्कदेव के समय आदि के विषय में मैं 'अकलङ्कग्रन्थत्रय' की प्रस्तावना में विस्तार से लिख चुका हूँ। उसमें मैंने ग्रन्थों के आन्तर परीक्षण के आधार से इनका समय सन् ७२० से ७८० तक निश्चित किया था। धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्यपरिवार के समय की अवधि के जो दशक निश्चित किए गए हैं, श्री राहुल सांकृत्यायन की सूचनानुसार उसमें संशोधन की गुंजाइश है। निशीथचूर्णि में दर्शनप्रभावक ग्रन्थों में जो सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख पाया जाता है वह सिद्धिविनिश्चय निश्चयतः अकलङ्ककृत ही है और निशीथचूर्णि के कर्ता वे ही जिनदासगणि महत्तर हैं जिनने शकसं० ५९८ अर्थात् सन् ६७६ में नन्दीचूर्णि

की रचना की थी। ऐसी दशा में सन् ६७६ के आसपास रची गई निशीथचूर्णि में अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख एक ऐसा मूल प्रमाण बन सकता है जिसके आधार से न केवल अकलङ्क का ही समय निश्चित किया जा सकता है अपितु इस युग के अनेक बौद्धाचार्य और वैदिक आचार्यों के समय पर भी मौलिक प्रकाश डाला जा सकता है। मैं इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में या राजवार्तिक ग्रन्थ की प्रस्तावना में इसकी साधार छानबीन करना चाहता हूँ। अभी तक जो सामग्री प्राप्त हुई है उसके आधार से उपर्युक्त सूचना देकर विराम लेता हूँ।

वादिराजसूरि का समय सुनिश्चित है। उनने अपना पार्श्वनाथचरित्र शक सं० ९४७ कार्तिक सुदी ३ को बनाया था। ये उस समय चौलुक्य चक्रवर्ती जयसिंहदेव की राजधानी में निवास करते थे। उनके इस समय की पुष्टि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से भी होती है। अतः सन् १०२५ के आसपास ही इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी। जैन समाज के सुप्रसिद्ध इतिवृत्तज्ञ पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थ में वादिराजसूरि पर साङ्गोपाङ्ग लिखा है। उनका वह निबन्ध पाठकों की जानकारी के लिए साभार उद्धृत किया जाता है।

वादिराजसूरि

परिचय और कीर्तन—दिगम्बर सम्प्रदाय में जो बड़े बड़े तार्किक हुए हैं, वादिराजसूरि उन्हीं में से एक हैं। वे प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्रादि के कर्ता प्रभाचन्द्राचार्य के समकालीन हैं और उन्हींके समान भट्टाकलंक देव के एक न्याय-ग्रन्थ के टीकाकार भी।

तार्किक होकर भी वे उच्चकोटि के कवि थे और इस दृष्टि से उनकी तुलना सोमदेवसूरि से की जा सकती है जिनकी बुद्धिरूप गऊ ने जीवनभर शुष्क तर्करूप घास खाकर काव्यदुग्ध से सहृदयजनों को तृप्त किया था।

वादिराज द्रमिल या द्रविण संघ के थे। इस संघ में भी एक नन्दिसंघ[1] था, जिसकी अरुंगल शाखा के ये आचार्य थे। अरुंगल किसी स्थान या ग्राम का नाम था, जहाँ की मुनिपरम्परा अरुंगलान्वय कहलाती थी।

षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादि[2] उनकी उपाधियाँ थीं। एकीभावस्तोत्र के अन्त में एक श्लोक है जिसका अर्थ है कि सारे शाब्दिक (वैयाकरण), तार्किक और भव्यसहायक वादिराज से पीछे हैं, अर्थात् उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता[3]। एक शिलालेख में कहा है कि सभा में वे अकलङ्क-देव (जैन), धर्मकीर्ति (बौद्ध), बृहस्पति (चार्वाक), और गौतम (नैयायिक) के तुल्य हैं और इस तरह वे इन जुदा जुदा धर्मगुरुओं के एकीभूत प्रतिनिधि से जान पड़ते हैं[4]।

मल्लिषेण-प्रशस्ति[5] में उनकी और भी अधिक प्रशंसा की गई है और उन्हें महान् वादी, विजेता और कवि प्रकट किया गया है[6]।

१—देखो 'द्रविड संघ में भी नन्दिसंघ।' जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४।

२—षट्तर्कषण्मुख स्याद्वादविद्यापतिगलु जगदेकमल्लवादिगलु एनिसिद श्रीवादिराजदेवरुम्।
—मि० राइसद्वारा सम्पादित नगर ताल्लुका के इन्स्क्रप्शन्स नं० ३६।

३—वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥—एकीभावस्तोत्र।

४—सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्तिर्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरूणामेकतः संगतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥—इ० नं० ३९

५—यह प्रशस्ति श० सं० १०५० (वि० सं० ११८५) की उत्कीर्ण की हुई है।

६—त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह। जिनराजत एकस्मादेकस्माद्वादिराजतः॥४०॥

ये श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसागर के शिष्य और रूपसिद्धि (शाकटायन व्याकरण की टीका) के कर्ता दयापाल[1] मुनि के सतीर्थ या गुरुभाई थे। वादिराज यह एक तरह की पदवी या विशेषण है, जो अधिक प्रचलित होने के कारण नाम ही बन गया जान पड़ता है परन्तु वास्तव नाम कुछ और ही होगा, जिस तरह वादीभसिंह का असल नाम अजितसेन था[2]।

समकालीन राजा—चौलुक्यनरेश जयसिंहदेव की राजसभा में इनका बड़ा सम्मान था और ये प्रख्यात वादी गिने जाते थे। मल्लिषेण-प्रशस्ति के अनुसार जयसिंह द्वारा ये पूजित भी थे—'सिंहसमर्च्य पीठविभव'।

जयसिंह (प्रथम) दक्षिण के सोलंकी वंश के प्रसिद्ध महाराजा थे। पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर, चालुक्यचक्रेश्वर, परमभट्टारक, जगदेकमल्ल[3] आदि उनकी उपाधियाँ थीं। इनके राज्यकाल के तीस से ऊपर शिलालेख दानपत्र आदि मिल चुके हैं जिनमें पहला लेख श० सं० ९३८ का है और अन्तिम श० सं० ९६४ का है। अतएव कम से कम ९३८ से ९६४ तक तो उनका राज्यकाल निर्विवाद है। इनके पौषवदी द्वितीया श० स० ९४५ के एक लेख में उन्हें भोजरूप कमल के लिये चन्द्र, राजेन्द्र चोल (परकेसरी वर्मा) रूप हाथी के लिये सिंह, मालवे की सम्मिलित सेना को पराजित करने वाला और चेर-चोल राजाओं को दण्ड देनेवाला लिखा है।

वादिराज ने अपना पार्श्वनाथ चरित सिंहचक्रेश्वर या चालुक्यचक्रवर्ती जयसिंह देव की राजधानी

आरूढाम्बरमिन्दुबिम्बरचितौत्सुक्यं सदा यद्यश-
श्छत्रं वाक्चमरीजराजिरुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।
सेव्यः सिंहसमर्च्यपीठविभवः सर्वप्रवादिप्रजा-
दत्तोच्चैर्जयकारसारमहिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥४१॥

यदीयगुणगोचरोऽयं वचनविलासप्रसरः कवीनाम्—

श्रीमच्चालुक्यचक्रेश्वरजयकटके वाग्वधूजन्मभूमौ
निष्काण्डं डिण्डिमः पर्यटति पटुरटो वादिराजस्य जिष्णोः।
जह्याद्वादप्रसङ्गं जहिहि गमकता गर्वभूमा जहाहि,
व्याहारेर्ष्यो जहीहि स्फुट मृदु मधुर-श्रव्यकाव्यावलेपः ॥४२॥
पाताले व्यालराजो वसति सुविदितं यस्य जिह्वासहस्रं
निर्गन्ता स्वर्गतोऽसौ न भवति धिषणो वज्रभृद्यस्य शिष्यः।
जीवेतां तावदेतौ निलयबलवशाद्वादिनः केऽत्र नान्ये,
गर्वं निर्मुच्य सर्वं जयिनमिन-सभे वादिराजं नमन्ति ॥४३॥
वाग्देवीसुचिरप्रयोगसुदृढप्रेमाणमप्यादरा-
दादत्ते मम पार्श्वतोऽयमधुना श्रीवादिराजो मुनिः।
भो भो पश्यत पश्यतैष यमिनां किं धर्म इत्युच्चकै-
रब्रह्मण्यपराः पुरातनमुनेर्वाग्देवता पातु वः ॥४४॥

१—हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्धनि यः प्रभावैः ॥१८॥ म० प्र०।

२—सकलभुवनपालानम्रमूर्धावबद्धस्फुरितमुकुटचूडालीढपादारविन्दः।
मदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः ॥५७

३—वादिराज की एक पदवी 'जगदेकमल्ल-वादि' है। क्या आश्चर्य जो उसका अर्थ जगदेकमल्ल (जयसिंह) का वादि ही हो।

में ही निवास करते हुए श० सं० ९४७ की कार्तिक सुदी ३ को बनाया था। यह जयसिंह का ही राज्य-काल है। यह राजधानी लक्ष्मी का निवास थी और सरस्वती देवी (वाग्वधू) की जन्मभूमि थी।

यशोधरचरित के तीसरे सर्ग के अन्तिम ८५ वें पद्य[1] में और चौथे सर्ग के उपान्त्य[2] पद्य में कवि ने चतुराई से महाराजा जयसिंह का उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि यशोधरचरित की रचना भी जयसिंह के समय में हुई है।

राजधानी—चालुक्य जयसिंह की राजधानी कहाँ थी, इसका अभी तक ठीक ठीक पता नहीं लगा है। परन्तु पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति के छठे उल्लेख से ऐसा मालूम होता है कि वह 'कट्टगेरी' नामक स्थान में होगी जो इस समय मद्रास सदर्न मराठा रेलवे की गदग-होटगी शाखा पर एक साधारण सा गाँव है और जो बदामी से १२ मील उत्तर की ओर है। यह पुराना शहर है और इसके चारों ओर अब भी शहर-पनाह के चिन्ह मौजूद हैं। उक्त श्लोक का पूर्वार्द्ध मुद्रित प्रति में इस प्रकार का है—

लक्ष्मीवासे वसति कटके कट्टगातीरभूमौ
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य।

इसमें सिंहचक्रेश्वर अर्थात् जयसिंहदेवकी राजधानी (कटक) का वर्णन है जहाँ रहते हुए ग्रन्थकर्ता ने पार्श्वनाथचरित की रचना की थी। इसमें राजधानी का नाम अवश्य होना चाहिये; परन्तु उक्त पाठ से उसका पता नहीं चलता। सिर्फ इतना मालूम होता है कि वहाँ लक्ष्मी का निवास था, और वह कट्टगा नदी के तीर की भूमि पर थी। हमारा अनुमान है कि शुद्ध पाठ 'कट्टगेरीति भूमौ' होगा, जो उत्तर भारत के अर्द्धदग्ध लेखकों की कृपा से 'कट्टगातीरभूमौ' बन गया है। उन्हें क्या पता कि 'कट्टगेरी' जैसा अडबड नाम भी किसी राजधानी का हो सकता है?

जयसिंह के पुत्र सोमेश्वर या आहवमल्ल ने 'कल्याण' नामक नगरी बसाई और वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की। इसका उल्लेख विल्हण ने अपने 'विक्रमांक देवचरित' में किया है[3]। कल्याण का नाम इसके पहले के किसी भी शिलालेख या ताम्रपत्र में उपलब्ध नहीं हुआ है, अतएव इसके पहले चौलुक्यों की राजधानी 'कट्टगेरी' में ही रही होगी। इस स्थान में चालुक्य विक्रमादित्य (द्वि०) का ई० सं० १०९८ का कनडी शिलालेख भी मिला है जिससे उसका चालुक्य-राज्य के अन्तर्गत होना स्पष्ट होता है। कट्टगा नाम की कोई नदी उस तरफ नहीं है।

मठाधीश—पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति में वादिराजसूरि ने अपने दादागुरु श्रीपालदेव को 'सिंहपुरैकमुख्य' लिखा है और न्यायविनिश्चयविवरण की प्रशस्ति में अपने आप को भी 'सिंहपुरेश्वर' लिखा है। इन दोनों शब्दों का अर्थ यही मालूम होता है कि वे सिंहपुर नामक स्थान के स्वामी थे, अर्थात सिंहपुर उन्हें जागीर में मिला हुआ था और शायद वहीं पर उनका मठ था।

श्रवणबेलगोल के ४९३ नम्बर के शिलालेख में–जो श० सं० १०४७ का उत्कीर्ण किया हुआ है—वादिराज की ही शिष्यपरम्परा के श्रीपाल त्रैविद्यदेव को होयसल-नरेश विष्णुवर्द्धन पोय्सलदेव के द्वारा जिन-मन्दिरों के जीर्णोद्धार और ऋषियों को आहार-दान के हेतु शल्य नामक गाँव को दानस्वरूप देने का वर्णन है और ४९७ नम्बर के शिलालेख में—जो श० सं० ११२२ के लगभग का उत्कीर्ण किया हुआ है—लिखा है कि षड्दर्शन के अध्येता श्रीपालदेव के स्वर्गवास होने पर उनके शिष्य वादिराज (द्वितीय)[4] ने

१—व्यातन्वञ्जयसिंहतां रणमुखे दीर्घं दधौ धारिणीम्।

२—रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मीं बभार॥

३—सर्ग २ श्लोक १।

४—इस मुनि परम्परा में वादिराज और श्रीपालदेव नामके कई आचार्य हो गये हैं। ये वादिराज दूसरे हैं। वे गंगनरेश राचमल्ल चतुर्थ या सत्यवाक्य के गुरु थे।

'परवादिमल्ल जिनालय' नाम का मन्दिर निर्माण कराया और उसके पूजन तथा मुनियों के आहार-दान के लिये कुछ भूमिका दान किया।

इन सब बातों से साफ समझ में आता है कि वादिराज की गुरुशिष्यपरम्परा मठाधीशों की परम्परा थी, जिसमें दान लिया भी जाता था और दिया भी जाता था। वे स्वयं जैनमन्दिर बनवाते थे, उनका जीर्णोद्धार कराते थे और अन्य मुनियों के आहार-दान की भी व्यवस्था करते थे। उनका 'भव्यसहाय' विशेषण भी इसी दानरूप सहायता की ओर संकेत करता है। इसके सिवाय वे राजाओं के दरबारों में उपस्थित होते थे और वहाँ वाद-विवाद करके वादियों पर विजय प्राप्त करते थे।

देवसेनसूरि के दर्शनसार के अनुसार द्राविडसंघ के मुनि कच्छ, खेत, वसति (मन्दिर) और वाणिज्य करके जीविका करते थे और शीतल जल से स्नान करते थे। मन्दिर बनाने की बात तो ऊपर आ चुकी है, रही खेती-बारी, सो जब जागीरें थीं तब वह होती ही होगी और आनुषङ्गिक रूप से वाणिज्य भी। इसलिये शायद दर्शनसार में द्राविडसंघ को जैनाभास कहा गया है।

कुष्ठ रोग की कथा—वादिराजसूरि के विषय में एक चमत्कारिणी कथा प्रचलित है कि उन्हें कुष्ठरोग हो गया था। एक बार राजा के दरबार में इसकी चर्चा हुई तो उनके एक अनन्य भक्त ने अपने गुरु के अपवाद के भय से झूठ ही कह दिया कि 'उन्हें कोई रोग नहीं है।' इसपर बहस छिड़ गई और आखिर राजा ने कहा कि 'मैं स्वयं इसकी जाँच करूँगा।' भक्त घबराया हुआ गुरुजी के पास गया और बोला 'मेरी लाज अब आपके ही हाथ है, मैं तो कह आया।' इसपर गुरुजी ने दिलासा दी और कहा, 'धर्म के प्रसाद से सब ठीक होगा, चिन्ता मत करो।' इसके बाद उन्होंने एकीभावस्तोत्र की रचना की और उसके प्रभाव से उनका कुष्ठ दूर हो गया।

एकीभाव की चन्द्रकीर्ति भट्टारककृत संस्कृत टीका में यह पूरी कथा तो नहीं दी है परन्तु श्लोक की टीका करते हुए लिखा है कि "मेरे अन्तःकरण में जब आप प्रतिष्ठित हैं तब मेरा यह कुष्ठरोगाक्रान्त शरीर यदि सुवर्ण हो जाय तो क्या आश्चर्य है[1]?" अर्थात् चन्द्रकीर्तिजी उक्त कथा से परिचित थे। परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं यह कथा बहुत पुरानी नहीं है और उन लोगों द्वारा गढ़ी गई है जो ऐसे चमत्कारों से ही आचार्यों और भट्टारकों की प्रतिष्ठा का माप किया करते थे। अमावस के दिन पूनो के चन्द्रमा का उदय कर देना, चवालीस या अड़तालीस बेड़ियों को तोड़कर कैद में से बाहर निकल आना, साँप के काटे हुए पुत्र का जीवित हो जाना आदि, इस तरह की और भी अनेक चमत्कारपूर्ण कथायें पिछले भट्टारकों की गढ़ी हुई प्रचलित हैं जो असंभव और अप्राकृतिक तो हैं ही, जैनमुनियों के चरित्र को और उनके वास्तविक महत्त्व को भी नीचे गिराती हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि सच्चे मुनि अपने भक्त के भी मिथ्याभाषण का समर्थन नहीं करते और न अपने रोग को छुपाने की कोशिश करते हैं।

यदि यह घटना सत्य होती तो मल्लिषेण प्रशस्ति (श० सं० १०५०) तथा दूसरे शिलालेखों में जिनमें वादिराजसूरि की बेहद प्रशंसा की गई है, इसका उल्लेख अवश्य होता। परन्तु जान पड़ता है तब तक इस कथा का आविर्भाव ही न हुआ था।

इसके सिवाय एकीभाव के जिस चौथे पद्य का आश्रय लेकर यह कथा गढ़ी गई है, उसमें ऐसी कोई बात ही नहीं है जिससे उक्त घटना की कल्पना की जाय। उसमें कहा है कि जब स्वर्गलोक से माता के गर्भ में आने के पहले ही आपने पृथ्वीमण्डल को सुवर्णमय कर दिया था, तब ध्यान के द्वारा मेरे अन्तर में प्रवेश करके यदि आप मेरे इस शरीर को सुवर्णमय कर दें तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह एक भक्त कवि की सुन्दर और अनूठी उत्प्रेक्षा है, जिसमें वह अपनेको कर्मों की मलिनता से रहित सुवर्ण या उज्ज्वल बनाना

१—हे जिन, मम स्वान्तगेहे ममान्तःकरणमन्दिरे त्वं प्रविष्टः सन् तत् इदं शरीरं कुष्ठरोगाक्रान्तं वपु यदि सुवर्णीकरोषि, तर्हि किं चित्रं त्वयि समर्थे न किमपि आश्चर्यम्।

चाहता है। आगे ५, ६, ७ वे पद्यों में भी इसी तरह के भाव हैं—जब आप मेरी चित्तशय्या पर विश्राम करेंगे, तो मेरे क्लेशों को कैसे सहन करेंगे? आपकी स्याद्वाद-वापिका में स्नान करने से मेरे दुःख-सन्ताप क्यों न दूर होंगे? जब आपके चरण रखने से तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं तब सर्वांग रूप से आपको स्पर्श करने वाला मेरा मन क्यों कल्याणभागी न होगा? आदि।

सम्राट् हर्षवर्धन के समय के मयूर कवि के विषय में भी जो महाकवि बाण के ससुर और सूर्य-शतक नामक स्तोत्र के कर्त्ता हैं एक ऐसी ही कथा प्रसिद्ध है। सम्मटकृत काव्य प्रकाश के टीकाकार जयराम ने लिखा है कि मयूर कवि सौ श्लोकों से सूर्य का स्तवन करके कुष्ठ रोग से मुक्त हो गया[1]। सुधासागर नाम के दूसरे टीकाकार ने लिखा है कि मयूर कवि यह निश्चय करके कि या तो कुष्ठ से मुक्त हो जाऊँगा या प्राण ही छोड़ दूँगा हरद्वार गया और गंगातट के एक बहुत ऊँचे झाड़ की शाखा पर सौ रस्सियों वाले छींके में बैठ गया और सूर्यदेव की स्तुति करने लगा। एक एक पद्य को कहकर वह छींके की एक एक रस्सी काटता जाता था। इस तरह करते करते सूर्यदेव सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उसका शरीर उसी समय नीरोग और सुन्दर कर दिया[2]। काव्यप्रकाश के तीसरे टीकाकार जगन्नाथ ने भी लगभग यही बात कही है[3]। हमारा अनुमान है कि इसी सूर्य-शतक-स्तवन की कथा के अनुकरण पर वादिराजसूरि के एकीभाव-स्तोत्र की कथा गढ़ी गई है।

हिन्दुओं के देवता तो 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ' होते हैं, इसलिये उनके विषय में इस तरह की कथायें कुछ अर्थ भी रखती हैं परन्तु जिनभगवान न तो स्तुतियों से प्रसन्न होते हैं और न उनमें यह सामर्थ्य है कि किसी भयंकर रोग को बात की बात में दूर कर दें। अतएव जैन धर्म के सिद्धान्तों के साथ इस तरह की कथाओं का कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता।

ग्रन्थ रचना—वादिराजसूरि के अभी तक नीचे लिखे पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—

१-पार्श्वनाथचरित—यह एक १२ सर्ग का महाकाव्य है और 'माणिकचन्द्र जैन-ग्रन्थमाला' में प्रकाशित हो चुका है। इसकी बहुत ही सुन्दर सरस और प्रौढ़ रचना है। 'पार्श्वनाथकाकुत्स्थचरित नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है[4]।

२-यशोधरचरित—यह एक चार सर्ग का छोटासा खण्डकाव्य है जिसमें सब मिलाकर २९६ पद्य हैं। इसे तंजौर के स्व० टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने बहुत समय पहले प्रकाशित किया था जो अब अनुपलभ्य है। इसकी रचना पार्श्वनाथचरित के बाद हुई थी। क्योंकि इसमें उन्होंने अपने को पार्श्वनाथचरित का कर्त्ता बतलाया है[5]।

३-एकीभावस्तोत्र—यह एक छोटा सा २५ पद्यों का अतिशय सुन्दर स्तोत्र है और 'एकीभावं गत इव मया' से प्रारम्भ होने के कारण एकीभाव नाम से प्रसिद्ध है।

१—"मयूरनामा कविः शतश्लोकेन आदित्यं स्तुत्वा कुष्ठान्निस्तीर्णः इति प्रसिद्धिः।

२—पुरा किल मयूरशर्मा कुष्ठी कविः क्लेशमसहिष्णुः सूर्यप्रसादेन कुष्ठान्निस्तरामि प्राणान्वा त्यजामि इति निश्चित्य हरिद्वारं गत्वा गंगातटे अत्युच्चशाखावलम्बि शतरज्जुशिक्यमधिरूढः सूर्यमस्तौषीत्। अकरोच्चैकै-कपद्यान्ते एकैकरज्जुविच्छेदम्। एवं क्रियमाणे काव्यतुष्टो रविः सद्य एव निरोगं रमणीयां च तत्तनुमकार्षीत्। प्रसिद्धं तन्मयूरशतकं सूर्यशतकापरपर्यायमिति।"

३—श्री सन्मयूरभट्ट पूर्वजन्मदुष्टहेतुकगलितकुष्ठजुष्टो......इत्यादि।

४—श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम्।

तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा याशोधरी कथा॥ ५—यशोधरचरित, पर्व १।

पहले मैंने भूल से 'श्री पार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं' पद से पार्श्वनाथचरित और काकुत्स्थचरित नाम के दो ग्रन्थ समझ लिये थे। मेरी इस भूल को मेरे बाद के लेखकों ने भी दुहराया है। परन्तु ये दो ग्रन्थ होते तो द्विवचनान्तपद होना चाहिए था, जो नहीं है। 'काकुत्स्थ' पार्श्वनाथ के वंश का परिचायक है।

६–न्यायविनिश्चयविवरण—यह महाकलंकदेव के 'न्यायविनिश्चय' का भाष्य है और जैन न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थों में इसकी गणना है। इसकी श्लोक संख्या २०,००० है।

७–प्रमाणनिर्णय—प्रमाणशास्त्र का यह छोटा सा स्वतंत्र ग्रन्थ है जिसमें प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष और आगम नामके चार अध्याय हैं। माणिकचन्द्र जैन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुका है।

अध्यात्माष्टक—यह भी एक छोटा सा आठ पद्योंका ग्रन्थ है और माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसके कर्ता ये ही वादिराज हैं।

त्रैलोक्यदीपिका नाम का ग्रन्थ भी वादिराज सूरिका होना चाहिये जिसका संकेत ऊपर टिप्पणी में उद्धृत किये हुए 'त्रैलोक्यदीपिका वाणी' आदि पद्य में मिलता है। स्व० सेठ माणिकचन्द्रजी ने अपने यहाँ के ग्रन्थ-संग्रह की प्रतियों का जो रजिस्टर बनवाया था उससे मालूम होता है कि उक्त संग्रह में 'त्रैलोक्यदीपिका' नाम का एक अपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें आदि के दस और अन्त के ५८ वें पद्य से आगे के पद्य नहीं हैं। सम्भव है, यह वादिराजसूरि की ही रचना हो। इसे करणानुयोग का ग्रन्थ लिखा है।

पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति

श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थनित्यावगाहामलबुद्धिसत्त्वैः।
प्रसिद्धभागी मुनिपुङ्गवेन्द्रैः श्रीनन्दिसंघोऽस्ति निवर्तिताघः ॥१॥
तस्मिन्नभूदुद्धतसंयमश्रीस्त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः।
सूरिः स्वयं सिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ॥२॥
तस्याभवद्भव्यसरोरुहाणां तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः।
निरेनसुमार्गनयप्रमाणः शिष्योत्तमः श्रीमतिसागराख्यः ॥३॥
तत्पादपद्मभ्रमरेण भूम्ना निःश्रेयसश्रीरतिलोलुपेन।
श्रीवादिराजेन कथा निबद्धा जैनी सबुद्धेयमनिर्दयापि ॥४॥

शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥५॥
लक्ष्मीवासे वसति कटके कट्टगातीरभूमौ
कामावाप्तिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य।
निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यन्दसिन्धुप्रबन्धो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकान्तपुण्यः ॥६॥
मन्यश्रीभिनवेयजन्मविभयत्याकर्णमाहारिणः
श्रोता यः प्रसरत्प्रमोदसुभगो व्याख्यानकारी च यः।
सोऽय मुक्तिवधूनिसर्गसुभगो जायेत किं चैकशः
सर्गेष्वप्युपयाति यावदवलक्ष्मीपदं श्रीपदम् ॥७॥

समाप्तमिदं पार्श्वनाथचरितम्।

न्यायविनिश्चयविवरण की प्रशस्ति

श्रीमन्न्यायविनिश्चयस्तनुभृतां चेतोऽद्गुर्वी तमः
सन्मार्गं प्रतिबोधयन्नपि च तान्निःश्रेयसप्रापणम् ।
येनायं जगदेकवत्सलधिया लोकोत्तरं निर्मितो
देवस्तार्किकलोकमस्तकमणिर्भूयात्स वः श्रेयसे ॥१॥
विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दया–
पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी ।
शुद्ध्यन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलंकं वादिराजं सदा,
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा ॥२॥
भूयो भेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयं
कस्तद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दप्रभुर्मादृशः ।
स्थूलः कोऽपि नयस्तदुक्तिविषयो व्यक्तीकृतोऽयं मया
स्थेयाच्चेतसि धीमतां मतिमलप्रक्षालनैकक्षमः ॥३॥
व्याख्यानरत्नमालेयं प्रस्फुरन्नयदीधितिः ।
क्रियतां हृदि विद्वद्भिस्तुदंती मानसं तमः ॥४॥
श्रीमत्सिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादोन्नति–
स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः ।
शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपःश्रीभृतां
भर्त्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥५॥

इति स्याद्वादविद्यापतिविरचितायां न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतिन्यां
व्याख्यानरत्नमालायां तृतीयः प्रस्तावः समाप्तः ।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में कुछ खास ज्ञातव्य मुद्दों का निर्देश करके इस प्रस्तावना को यहीं समाप्त किया जाता है। अकलङ्क की जैनन्याय को देन, अकलङ्क का समय तथा न्यायविनिश्चयविवरण के अनुमान और प्रवचन प्रस्ताव का विषय-परिचय इसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड की प्रस्तावना में चर्चित होंगे।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी।
मार्गशीर्ष कृष्ण ३०
वीर सं० २४७५

—महेन्द्रकुमार जैन

विषयसूची

—०—

न्यायविनिश्चयविवरणम्

[प्रत्यक्षप्रस्तावः]

"श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥"

—शुभचन्द्रः ।

"वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः ।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः ॥"

—एकीभावस्तोत्रे ।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितः

न्यायविनिश्चयः

स्याद्वादविद्यापतिश्रीमद्वादिराजाचार्यरचित-

न्यायविनिश्चयविवरणसहितः

[प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः]

श्रीमज्ज्ञानमयो वपोऽमृतपदव्यक्तो विविक्तं जगत्,
कुर्वन् सर्वतनूभृदीक्षणसखैर्विशदं वचोरश्मिभिः ।
व्यातन्वन् भुवि भव्यलोकनलिनीषण्डेष्वखण्डश्रियम्,
श्रेयः शाश्वतमातनोतु भवतां देवो जिनाहर्पतिः ॥ १ ॥

विस्तीर्णदुर्नयमयप्रबलान्धकार-
दुर्बोधतत्त्वमिह वस्तु हिताववद्धम् ।
व्यक्तीकृतं भवतु नः सुचिरं समन्तात्
सामन्तभद्रवचनस्फुटरत्नदीपैः ॥ २ ॥

गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् ।
व्यञ्जयत्यलमनन्तवीर्यवाग्दीपवर्तिरनिशं पदे पदे ॥ ३ ॥

यत्सूक्तसारसलिलस्नपनेन सन्तः
चेतोमलं सकलमाशु विशोधयन्ति ।
लङ्घ्यं न यत्पदमतीव गभीरमन्यैः
ते मां पुनन्तु मतिसागरतीर्थमुख्याः ॥ ४ ॥

प्रणिपत्य स्थिरभक्त्या गुरून् परानप्युदारबुद्धिगुणान् ।
न्यायविनिश्चयविवरणमभिरमणीयं मया क्रियते ॥ ५ ॥

विद्यासागरपारगैर्विरचिताः सन्त्येव मार्गाः परे,
ते गम्भीरपदप्रयोगविषया गम्याः परं तादृशैः ।
व्याख्यानं तु मया सुबोधितपदन्यासक्रमभिव्यज्यते
मार्गोऽयं सुकुमारवृत्तिकतया लीलागमान्वेषिणाम् ॥ ६ ॥

---

१ समन्तभद्राचार्यमिति वचनविशेषणम्, पक्षे समन्तात् भद्रकरमिति । २ अकलङ्काचार्यमिति वाङ्मयविशेषणम्, पक्षे कलङ्करहितेति । ३ अनन्तवीर्याचार्यसम्बन्धीति वाग्विशेषणम्, पक्षे अनन्तसामर्थ्यविशिष्टेति । ४ न्यायविनिश्चयविवरणकर्तुर्वादिराजस्य गुरोर्नाम । ५ वादिराजेन ।

अभ्यस्त एव बहुशोऽपि मयैष पन्था,
जानामि निर्गममनेकमनन्यदृश्यम् ।
तन्मामिहादरवशेन कृतप्रचारं
के नाम दूषणशरैः परिपन्थयन्ति ॥ ७ ॥

अथवा,

येषामस्ति गुणेषु सस्पृहमतिर्ये वस्तुसारं विदुः
तेषामत्र मनः प्रविष्टमसकृत्तुष्टिं परां गच्छति ।
ये वस्तुव्यवसायशून्यमनसो दोषाभिदित्सापराः
क्लिश्नन्तोऽपि हि ते न दोषकणिकामप्यत्र वक्तुं क्षमाः ॥ ८ ॥

अपि च,

यस्य हृद्यमलमस्ति लोचनं वस्तुवेदि सुजनः स मद्यति ।
मत्सरेण परमद्यते परो विद्यया तु परया न मद्यते ॥ ९ ॥

तदास्तां प्रस्तुतमुच्यते–

जयति सकलविद्यादेवतारत्नपीठं
हृदयमनुपलेपं यस्य दीर्घं स देवः ।
जयति तदनु शास्त्रं तस्य यत्सर्वमिथ्या-
समयतिमिरघाति ज्योतिरेकं नराणाम् ॥ १० ॥

शास्त्रस्यादौ अद्भुतमहिमोदयाधिष्ठानभगवदर्हत्परमेष्ठिनिरुपमगुणस्तवनं कुतः कुर्वन्ति शास्त्रकारा इति चेत् ? तस्य परममङ्गलत्वेन शास्त्रोपयोगित्वात् । भगवद्गुणस्तवनं खलु परममङ्गलम्; मलस्य पापस्य गालनात्, मङ्गस्य सुकृतविशेषस्य च कार्यत्वेन लानात् । सति च तत्कृते मलाभावे सुकृतविशेषे च शास्त्रं निर्विघ्नपारगमनं वीरपुरुषमायुष्मत्पुरुषं च भवतीति मलहरण-सुकृतविशेषकरणाभ्यामुपपन्नं शास्त्रोपयोगित्वं मङ्गलस्य । सदाचारपरिपालनमपि मङ्गलस्य प्रयोजनमिति चेत्; न; तस्य शास्त्रोपयोगित्वाभावात् । अकृततत्परिपालनस्याधर्मोत्पत्तेः शास्त्रमेव विहन्यत इति चेत्; अधर्मनिवारणादेव तर्हि तस्य तदुपयोगित्वम्, तच्च मङ्गलादेव सिद्धमिति किं तदर्थेन तत्परिपालनेन ?

१ मयैव ब०, प०, स०, आ० । २ पमद्यते ब०, परिमद्यते प० । परः दुर्जनः परं केवलं मत्सरेण मद्यते व्याकुलीक्रियते इत्यर्थः । ३ –रपूति– ब०, स० । ४ तुलना–"अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादिदव्व-भावमलभेदा । ताइं गालेइ पुढं जदो तदो मंगलं भणिद ॥ अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा । एदेण कज्जसिद्धिं मंगइ गच्छेदि गंथकत्तारो ॥"–तिलोय० गा० १४, १५ । ५–षे शा– ता० । ६ "मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च" –पात० म० १।१।१ । ७ स्फुटार्थ अभि०पृ० २। ८ सदाचारपरिपालनस्य शास्त्रोपयोगित्वम् । ९ अधर्मनिवारणञ्च । १० तदर्थे तत्र परि– ब०, प०, स०, आ० । अधर्मनिवारणार्थेन ।

मङ्गलादेव यत्सिद्धमधर्मप्रतिरोधनम् ।
तदर्थं न सदाचारपरिपालनमर्थवत् ॥११॥
न ह्येकेन कृत कार्यं हेतावन्यत्र सस्पृहम् ।
सिद्धस्य निरपेक्षत्वादनवस्थितिरन्यथा ॥१२॥
सिद्धे पापप्रतिध्वंसे सदाचारानुपालनात् ।
मङ्गलस्यैव वैयर्थ्यं किन्न स्यादित्यसम्मतम् ॥१३॥
तदभावे तदाचारपालनस्याप्यसम्भवात् ।
तत्प्रयोजनभावेन तस्येष्टत्वात् स्वयं परैः ॥१४॥
नास्तिकत्वसमाधानं मङ्गलादिति चेत्, ततः ।
कः शास्त्रस्योपयोगः स्यात् ? आदेयत्वं भवेदिति, ॥१५॥
आदेयं युक्तिसामर्थ्याद्युक्त्यर्थं यदि तद् भवेत् ।
नास्तिकत्वनिषेधेऽपि नादेयं तदयुक्तिकम् ॥१६॥

शास्त्रनिर्वहणानङ्गमपि सदाचारपरिपालनादिकं मङ्गलस्य प्रयोजनमुक्तं तस्यापि ततः सम्भवात् । न हि शास्त्राङ्गमेव तत्प्रयोजनं वक्तव्यमिति नियमः सम्भवतोऽन्य (-वति, अन्य-) स्यापि वचने दोषाभावादिति चेत्; न, अप्रस्तुताभिधानस्यैव दोषत्वात् ।

अपि च,

सदाचारादिरक्षादि यद्यन्यमङ्गलतो भवम् ।
निर्विषीकरणाद्यन्यत्तद्वदाम्नायते न किम् ? ॥१७॥
ततस्तदपि वक्तव्यं शास्त्रादौ तत्प्रयोजनम् ।
परैः प्रयोजनेयत्ता कथमेव नियम्यते ? ॥१८॥
श्रुतिप्रयोजनं तस्माद्वक्तव्यं प्रस्तुतोचितम् ।
अतिप्रसङ्गासम्बद्धप्रवादौ भवतोऽन्यथा ॥१९॥
तदन्तरायविध्वंससमुद्भवोत्पादनात्मना ।
विदुः शास्त्रोपयोगित्वं मङ्गलस्य मनीषिणः ॥२०॥

स्यान्मतम्– निर्विघ्ननिर्वहणादिकं न मङ्गलात् सत्यपि तस्मिन् क्वचित्तदभावात्, असत्यपि [10]क्वचित्तद्भावात् । न हि यस्य [11]भावेऽपि यन्न भवति अभावेऽपि भवति तत्तस्य कार्यम्, अन्वयव्यतिरेकानुविधानाधीनत्वाद्धेतुहेतुमद्भावस्य, अन्यथा कुम्भादेरपि कुविन्दादि-

---

१ मङ्गलमात्रे । २ सदाचार । ३ मङ्गलस्य । ४ तुलना–"परमात्मानुध्यानाद् ग्रन्थकारस्य नास्तिकतापरिहारसिद्धिः तद्वचनस्यास्तिकैरादरणीयत्वेन सर्वत्र व्याख्यानुपपत्तेस्तदाप्यार्थं तत्सिद्धिनिबन्धनमित्यपरे; तदप्यसारम्, मैत्रीमार्गसमर्थनादेव वक्तुर्नास्तिकतापरिहारपरत्वात् ।" –त० श्लो० पृ० १ । ५ नास्तिकत्वपरिहारात् । ६ शास्त्रम् । ७ शास्त्रानङ्गमङ्गलप्रयोजनस्य सदाचारपरिपालनादेः । ८ निर्विघ्नोक्–व० । ९ तदन्तरायविध्वंसोत्पादनात्मना । १० चार्वाकग्रन्थेषु । ११ भावे यन्न प० ।

कार्यत्वप्रसङ्गादिति ; तदसत्, समग्रस्यैव हेतुत्वात्। असमग्रस्य व्यभिचारेऽपि दोषाभावात्, अन्यथा न पावकस्यापि धूमहेतुत्वम्, आर्द्रेन्धनादिविकलस्य धूमव्यभिचारात। तस्मात्—

आर्द्रेन्धनादिसहकारिसमग्रतायां
यद्वत्करोति नियमादिह धूममग्निः।
तद्वद्विशुद्ध्यतिशयादिसमग्रतायां
निर्विघ्नतादि विदधाति जिनस्तवोऽपि ॥२१॥

नाप्यसति तस्मिन् तद्भावः[1]; तस्य निबद्धस्याऽभावेऽप्यनिबद्धस्य[2][3] तस्य परमगुरुगुणानुस्मरणात्मनो मङ्गलस्यावश्यम्भावात्, तदस्तित्वस्य च तत्कार्यादेवानुमानात्[4] धूमादेः प्रदेशादिव्यवहितपावकानुमानवत्। मङ्गलसामग्रीवैकल्यस्य च कैंचित्तत्कार्यस्य[5] वैकल्यादेवानुमानात् धूमाभावात्तदुत्पादनसमर्थदहनाभावानुमानवत्। यदि परमगुरुगुणानुस्मरणमपि मङ्गलं तर्हि तत एव समीहितसिद्धेः किमन्येन वाचिकेन कायिकेन वा? सतोऽपि[6] तस्यान्तरङ्गसहितस्यैव[7] समग्रत्वात् अन्तरङ्गस्य[8] तु केवलस्यापि माङ्गलिकप्रयोजनसमर्थत्वादिति चेत्; इदमनुमतमेवास्माकम्, "आभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते" [बृहत्स्व० श्लो० ५९] इत्याम्नायात्। न च तावता वाचिकादेर्वैयर्थ्यम्; तस्य सामग्र्यन्तरत्वात्। एकस्मिन् कार्ये किं सामग्र्यन्तरेणेति चेत्? न; दहनकार्ये काष्ठादिवन्मण्यादेरपि सामग्र्यन्तरस्योपलम्भात्। अन्यदेव दहनकार्यं मण्यादेर्यत्काष्ठादेर्न भवतीति चेत्; मङ्गलकार्यमप्यन्यदेव परमगुरुगुणानुस्मरणात् यद्वाचिकादेर्न भवतीति समानमुत्पश्यामः। यद्येवं[9] भगवद्गुणस्तवनादिवत् मिथ्यातीर्थकरगुणस्तवनादिकमपि सामग्र्यन्तरं भवेत् ततोऽपि मङ्गलकार्योपलम्भादिति चेत्; कस्तद्गुणो नाम? यदि सर्वज्ञपरमवीतरागत्वादिः; स तर्हि भगवद्गुण एव, [10]तदपरस्य तद्गुणत्वं नास्तीति यथास्थानं निवेदनात्। अतः सर्वत्र तद्गुणस्तवनमेव मङ्गलं तत एव तत्प्रयोजनभावान्नापरम्।

किं पुनस्तत्? इत्यत्राह—

प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धैकमूर्तये।
नमः श्रीवर्धमानाय भव्याम्बुरुहभानवे ॥ १ ॥

अस्यायमर्थः—[11]"श्रीर्वर्द्धमाना यस्माद्विनेयानां स श्रीवर्द्धमानो भगवतां समूहस्तस्मै 'नमस्करोमि' इत्युपस्कारः। ननु यदि 'श्रीवर्धमानाय' इत्युक्तेऽपि सर्वेषामेव भगवतां प्रतिपत्तिस्तर्हि 'श्रीजिननाथाय' इति वक्तव्यम्, एवं हि लघ्वी प्रतिपत्तिः अस्य सामान्यवाचित्वात्

१ निर्विघ्ननिर्वहणादिसद्भावः। २ नियद्धस्य भावेप्यनिबद्धस्य तस्याभावेपि परम–ब०, आ०, प०। ग्रन्थाङ्गभूतस्य। ३–स्य तस्याभावेपि परम –स०। ग्रन्थानन्तर्गतस्य मनोवाक्कायव्यापाररूपस्य। ४ मङ्गलकार्यात् निर्विघ्नपरिसमाप्त्यादेरेव। ५ असमाप्तग्रन्थादौ। ६ वाचिकस्य कायिकस्य वा। ७ परमगुरुगुणस्मरणात्मकस्य। ८ अन्तरङ्गस्य केवलस्य माङ्गलिकप्रयोजनसमर्थत्वे। ९ यदेवं ब०, प०, आ०। १० सर्वज्ञवीतरागत्वाद्यतिरिक्तस्य। ११ श्रीवर्धमाना यस्माद्विनेयानां सहश्री आ०, ब०, प०।

छन्दसोऽप्यनुपहतत्वात्, श्रीवर्द्धमानशब्दस्य तु भगवति पश्चिमतीर्थंकरे एव रूढत्वात् ततो झटिति तस्यैव प्रतीतिर्न सर्वेषाम्। भवतु तस्यैवायं स्तवः प्रधानत्वात्, तदुपदिष्टमिदानीन्तनमिदं खलु धर्मतीर्थम्, अतश्च शास्त्रकारस्य निःश्रेयसमार्गनिर्णय इत्युपकारं प्रति प्रत्यासन्नत्वेन प्रधानत्वात् स एव स्तोतव्यो न सर्वेऽपीति चेत्, न, तेषां सर्वेषामपि स्तुतिविषयबुद्धिपरिगृहीतानामिदानीमेव पापमलापायोपकारित्वेन प्रत्यासन्नत्वाविशेषात् तदपाये निःश्रेयसमार्गनिर्णय[1]स्याप्यवश्यम्भावात्, कथं वा "वन्दित्वा [2]परमर्हतां समुदयम्" [अष्टश० पृ० २] इति शास्त्रान्तरे सर्वेषामपि स्तवनमुपरचितम्? कश्चित्सर्वेषामपि प्राधान्यं क्वचित्तु[3]मस्यैव विवक्षात इति चेत्, स्वेच्छापरवशस्तर्हि शास्त्रकारो न गुणपरवश इति यत्किञ्चिदेतत्। व्युत्पत्तिवशात् अत एव सर्वप्रतिपत्तौ प्रतिपत्तिगौरवमिति चेत्, न, चोद्यसमाधानार्थत्वात् पर्वतवचनस्य। भवति चात्र चोद्यम्–

कुतः स्तवस्य सामर्थ्यं तादृशं यत्करोत्ययम्।
निर्विघ्नतादिकं कार्यं नासमर्थं हि कारणम्॥२२॥
स्वकारणबलायत्तस्य यदि शक्तिर्भवेदियम्।
श्रीवर्द्धमानस्तस्यासौ विषयः किमुदीर्यते?॥२३॥
स्तुतिर्निर्विषया नास्तीत्ययं तद्विषयः स्तवः।
इति चेन्नियमः कस्मात्? यः[4] कश्चन विधीयताम्॥२४॥

अत्रेदमाह–'श्रीवर्द्धमानाय' इति। श्रीर्मङ्गलस्य मलापहरणादिशक्तिरेव मङ्गलार्थिभिरभिलषितत्वात् तल्लक्षणत्वाच्च श्रियः, सा वर्द्धमाना वृद्धिं [5]प्रजन्ती यस्मादसौ श्रीवर्द्धमानो भगवांस्तस्मै इति। ततः

प्रतिपत्तेर्गुरुत्वेऽपि कृत्वा गजनिमीलनम्।
कृता श्रीवर्द्धमानोक्तिरस्यार्थस्य प्रसिद्धये॥२५॥

स्यान्मतम्–न भगवतः साभिप्रायात् मङ्गलस्य तच्छक्तिः सर्वत्रोपेक्षापरत्वात्, न ह्युपेक्षापरस्य 'इदमित्थं करोमि' इत्यभिप्राय[6] सम्भवति, "[7]उपेक्षापरत्वहाने"। नापि निरभिप्रायात्, निरभिप्रायप्रवृत्तेरदर्शनादिति, तन्न, पद्मविकासकरणे [8]भानोर्निरभिप्रायस्यापि प्रवृत्तिदर्शनात्। शक्तितो हि कारणस्य कारणत्वं नाभिप्रायात्।

अभिप्रायेण हेतुत्वे, भानुः पद्मविकासने।
न हेतुः स्यात्, सशक्तेश्चेत्, भगवतस्तदिष्यताम्॥२६॥

एतदेवाह–'भव्याम्बुरुहभानवे' इति। भव्यं मङ्गलं भवतेर्मङ्गलार्थत्वात्। तथा च पठन्ति–

१ अनुष्टुभः। २ महावीरे। ३ –पामथ स्तु– आ०, ब०, प०, स०। ४ –स्तावस्त– प०। ५ 'परमार्हताम्' –अष्टश०। ६ श्रीवर्धमानायेति पदादेव। ७ स्तवस्य। ८ श्रीवर्धमान। ९ कुतः आ०, ब०, प०, म०। १० तीर्थंकर। ११ प्रजनित च –आ०, ब०, प०, म०। १२ उपेक्षापरत्वहाने आ०, ब०, प०, स०। १३ तुलना–"तस्मान्नाम्नादेव प्रभगवति भास्करो यथा सीकम्। तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तते तीर्थंकर एवम्॥" –स० भा० का० १०।

"सत्तायां मङ्गले वृद्धौ निवासे व्याप्तिकर्मणि ।
गतौ चापि समाख्यातं पदर्थं भवति विदुः ॥" इति ।

भव्यमेवाम्बुरुहवदम्बुरुहं भगवदभ्यर्चनाद्युत्पादय भानुरिव भानुर्भगवान् स्वभाव-स्तच्छक्तिविकासकारित्वात् ।

स्वभावत एव शब्दस्य तच्छक्तिः शब्दशक्तित्वात् अर्थप्रत्यायनशक्तिर्यथेति चेत्; न; स्वार्थप्रत्यायनशक्तेरपि पुरुषायत्तत्वात्, निदर्शनस्य साध्यविकलत्वात् । न हि चक्षुरादिवदेव स्वभावतः शब्दस्य स्वार्थविद्योतनसामर्थ्यम् अगृहीतस्यापि प्रसङ्गात्, तथाप्यर्थबोधनोपपत्तेः । समितत्वेति चेत्; समयात्तर्हि तस्य तच्छक्तिर्न स्वभावात् पुंव्यवस्थानिरपेक्षत्वप्रसङ्गात् । अनुभाव्यन्ते च पुरुषेच्छामपि शब्दाः पुरुषेण यथाकामं प्रसिद्धादर्थादर्थान्तरेऽपि प्रयुज्यमानानां तेषां तदर्थद्योतनं
१ प्रत्याभिमुख्यस्यैव प्रतिपत्तेर्न वैमुख्यस्य । स्वशक्तिरेव तत्रापि तदाभिमुख्ये न तदिच्छात इति चेत्; न; इच्छाविरहेऽपि तत्प्रसङ्गात् । सत्यामेव इच्छायां तेषां तच्छक्तिरिति चेत्; तत्कृतैव तर्हि सा तेषामिति न शब्दस्य स्वार्थावबोधनशक्तिः स्वभावात् अपि तु समयात्, स च पुरुषादिति पुरुषायत्तैव तच्छक्तिः तदाह– **श्रीवर्द्धमानाय** । धर्मवचनस्यार्थ-[10]प्रत्यायनशक्तिः वर्द्धमाना शिष्यप्रशिष्यपरम्परया वृद्धिं गच्छन्ती यस्मादिति व्युत्पत्तिः ।

कुतः पुनरत्यन्तकृतार्थत्वेन निरीहस्य भगवतः शब्दशक्तिकरणव्यापार इति चेत्? न; तथाविधस्य स्वभावनियमस्य[11] भावात् भानोः पद्मविकासनवत् । [12]तदाह– **भव्याम्बुरुहभानवे** । निःश्रेयसतत्कारणपर्यायेण भवन्तीति भव्याः तेषाम्बुरुहमिवाम्बुरुहं प्रवचनं सकलतत्त्वनिवेदनश्रीनिवासत्वात्, तस्य भानुरिव भानुर्भगवान्, [13]अनभिसन्धेरपि स्वभाव-[14]स्तच्छक्तिविकासकारित्वात् । नन्वेवं प्रवचनमेव भगवत्कृतमुक्तं भवति शक्तिद्वयोरभेदात्, तथा चाप्रमाणमेव प्रवचनं प्राप्तम्, अनभिसन्धाय प्रवृत्तत्वात् बालोन्मत्तादिवाक्यवदिति चेत्;
२ अत्राह– **'प्रसिद्ध'** इत्यादि । निःश्रेयसार्थिभिरर्थ्यमानत्वादर्था अनन्तज्ञानशक्त्यादयो गुणाः, तत्त्वेन न [15]संवृत्या अर्थास्तत्त्वार्थाः, अशेषा अविकलास्तत्त्वार्थास्तेषां प्रतिबुद्धं प्रत्युद्बोधनं प्रतिबन्धविगमे समुन्मीलनम् 'भावे क्तप्रत्ययविधानात्' अशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धम्, प्रसिद्धं प्रमाणनिश्चितं तच्च तदशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धं च तत्तथैवोक्तम्, सैव एका प्रधानभूता स्वसत्तां प्रति अनन्यापेक्षत्वेनासहाया वा मूर्तिः स्वभावो यस्य स तथोक्तस्तस्मा इति ।

अनन्तज्ञानशक्त्यादिप्रतिबोधप्रसिद्धता । प्रभोश्च तत्स्वभावत्वं पश्चाद्व्यक्तं वदिष्यते ॥२७॥

२ अनन्तज्ञानसाम्राज्यप्रतिबोधे सति प्रभोः । शासनं तद्विधिक्तार्थमप्रमाणं कुतो भवेत्? ॥२८॥

---

१ मलापहरणादिशक्तिः । २ अगृहीतसङ्केतस्यापि । ३ समवायात्त –आ०, ब०, प०, स० । सङ्केतात् । ४ शब्दस्य । ५ यदि स्वभावात् शब्दस्य अर्थप्रत्यायनशक्तिः स्यात्तर्हि पुरुषाधीनत्वं न स्यादिति भावः । ६ अप्रसिद्धेऽर्थेपि । ७ पुरुषेच्छायाम् । ८ अप्रसिद्धार्थावद्योतनशक्तिः । ९ पुरुषेच्छाकृतैव । १० –प्रत्ययनश–आ०, ब०, प०, स० । ११–स्वभावा–ब०, प० । १२ –तथाह आ०, ब०, प० । १३ अभिसन्देशोऽपि प०, आ० । अभिप्रायरहितस्यापि । १४ प्रवचनशक्ति । १५ कल्पनया ।

इदमन्यत् व्याख्यानम्– श्रीः देवागम-नभोयान-सुरपुष्पवृष्टि-हरिविष्टरादिलक्षणा निरतिशयपुण्यपरमवैराग्याविर्हतवाल्लत्रादिकरणशक्त्यादिलक्षणा[1] वा वर्द्धमाना प्रतिदिवसमभिवृद्धिं व्रजन्ती यस्य भगवतां समूहस्य[2] सन्मतेर्वा तस्मै **श्रीवर्द्धमानाय नमः**। प्रसिद्धानि प्रमाणनिश्चितानि अशेषाण्यविकलानि तत्त्वानि जीवादीनि[3] तान्येवार्थो विषयो यस्याः सा प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्था, प्रतिबुद्धा स्वावरणसम्बन्धनिराम्यपगमे सति प्रतिव्यक्तमुद्बुद्धा, एका अविच्छिन्ना असहाया वा मूर्तिर्ज्ञानदर्शनादिरूपा यस्य तस्मै **'प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धैकमूर्तये'** इति।

[4]किमर्थमत्र प्रसिद्धग्रहणम्? भगवतः सुगतादिभ्यो व्यवच्छेदार्थम् तेषां प्रसिद्धतत्त्वार्थाया बोधमूर्तेरभावात् प्रतिभासाद्वैतादेस्तद्बोधविषयस्याप्रमाणत्वादिति चेत्, उच्यते–प्रतिभासाद्वैतादिकं तत्त्वम्, अतत्त्वं वा? तत्त्वमपि ज्ञातम्, अज्ञातं वा? यद्यज्ञातम्, कथं 'तत्त्वम्' इत्युक्तिः? ज्ञाते एव तदुपपत्तेः। ज्ञातं चेत्, कथमप्रमाणत्वम्? तस्य तत्स्वरूपतया ज्ञातत्वेन सप्रमाणत्वस्यैवोपपत्तेः। ज्ञातमप्यतत्त्वमेव तदिति चेत्, तथाऽपि तत्त्वपदेनैवातत्त्वविज्ञो[5] भगवतस्तत्त्वविदो व्यवच्छेदात् किं प्रसिद्धपदेन कर्तव्यम्? पराभ्युपगमेन तत्त्वमेव तदिति चेत्, तथाऽपि न प्रसिद्धपदमर्थवत्[6] प्रसिद्धतयाऽपि परेण तस्याभ्युपगमात्। अभ्युपगमनिबन्धना प्रसिद्धिरप्रसिद्धिरेवेति चेत्, [7]तन्निबन्धनं तत्त्वमप्यतत्त्वमेवेति, व्यर्थं प्रसिद्धपदमिति चेत्; न व्यर्थम्, परोपन्यस्तस्य [8]साधनस्यासिद्धत्वोद्भावनार्थत्वात्। अत्र हि परमतम्–"यस्तावदसर्वज्ञ एष सर्वज्ञो भवति तस्य परोक्षार्थपरिज्ञाने को हेतुः? न तन्त्रीदृशं किमपि कारणमुपलक्षितं यदनुष्ठानात् सर्ववेदनं सम्भवति। भवतश्चाद्यस्तु प्रायशः सकलसमयसम्भविनः" [प्र० वार्तिकाल० १।२९] इति, तत्रेदमुच्यते–असिद्धः कारणाभावः। प्रसिद्धपदसूचितस्य प्रमाणस्यैवाशेषतत्त्वगोचरस्य सर्वज्ञत्वनिमित्तत्वात्। किं पुनस्तादृशं प्रमाणं छद्मस्थस्य सम्भवति? बाढम्, कथमन्यथा षट्प्रमाणकृतसर्वज्ञत्वाङ्गीकरणं मीमांसकस्य? तथाहि–

> यदि प्रमाणमेकं न षट्प्रमाणार्थगोचरम्।
> [13]'यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्' इत्यादि कथमुच्यते? ॥२९॥

न ह्येकेन प्रमाणेन प्रत्यक्षादिप्रमाणषट्कं तद्विषयं च सर्वमनुपसङ्गृह्य 'इदमनेनाय जानाति' इत्यङ्गीकर्तुमर्हति[14] स्वयमप्रतिपन्नस्याङ्गीकारायोगात्। प्रतिपद्यत एव, परं नैकेन, किन्तु षड्भिरेव प्रमाणैर्यथास्व [15]तानि तद्विषयांश्च पृथगेवाधगच्छतीति चेत्, न, [16]एकप्रत्य-

१ मप्रतिहत। २ –न्म व–प०, ब०। –न्या व–आ०। ३ महावीरस्य पश्चिमतीर्थकरस्य। ४ "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्"–त० सू० १।४। ५ –त्त्वबुद्धो–आ०, ब०, स० प०। ६ आदिशब्देन अनन्तदर्शन-अनन्तसुखादिग्रहः। ७ किमर्थं प्रसि– ता०। ८ प्रतिभासाद्वैतादेः। ९ सुगतादिभ्यः। १० सार्थकम्। ११ अभ्युपगमनिबन्धनम्। १२ साधनस्यासिद्धत्वो–प०, ब० आ०। १३ मी० श्लो० ११।२।१११२। १४ मीमांसकः। १५ प्रत्यक्षादिप्रमाणानि। १६ एकप्रत्ययेन प्रमाणषट्कतद्विषयाणामनुसन्धानाभावे।

योपसङ्कलनाभावे 'षड्भिरेव नैकेन' इत्यपि वक्तुमशक्यत्वात्। तथाहि-न हि यस्यैकं प्रमाणं[1] प्रमाणषट्कतद्गोचरार्थविषयमस्ति, न च प्रत्यक्षादीनि स्वविषयपरिच्छेदमात्रोपक्षीणानि अपरप्रमाणतद्विषयगन्धमपि स्पृशन्ति, तत्कथमसौ प्रमाणषट्कं तद्विषयं वा जानीयात्, येनेदमुच्यते- "यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते ।"[2] इति । भवत्येवेदमुपसङ्कलनं प्रमाणं तु न भवति अपूर्वार्थत्वाभावात्, यथास्वं प्रमाणनिर्णीतस्यैव प्रत्यक्षादिप्रमाणतद्विषयकलापस्य स्मरणेन सङ्कलनात् अपूर्वार्थं च प्रमाणं न गृहीतग्राहीति चेत्; न; [3]विषयिविषयसन्दोहस्य [4]प्रागसिद्धेः प्रत्यक्षादेरेकैकस्य [5]तत्सन्दोहाविषयत्वात्, तत्सन्दोहाविषयं च सङ्कलनस्य गृहीतग्राहित्वं त सन्दोहासिद्धौ न सिद्ध्येति । ततस्तत्सन्दोहे [6]तदपूर्वार्थत्वात् प्रमाणमिति कथमप्रमाणम ? अपि च,

गृहीतग्रहणात् मानतद्वेद्याकलनं यदि ।
न [7]मानं मानमेकत्वप्रत्यभिज्ञा कथं भवेत् ? ॥३०॥

पूर्वोत्तरावबोधाभ्यामेकत्वस्याग्रहो यदि ।
मानवेद्यसमूहोऽपि किमन्यस्यैव गोचरः ? ॥३१॥

यथैव हि पूर्वोत्तरज्ञानाभ्यां स्वकालनियतपर्यायमात्रपरिच्छेदिभ्यामेकत्वस्याग्रहणात् अपूर्वार्थमेकत्वप्रत्यभिज्ञानं तथैव प्रत्यक्षान्यतमापरिच्छिन्नविषयिविषयसन्दोहगोचरमपि सङ्कलनज्ञानमपूर्वार्थमनुमन्तव्यम् । तच्च प्रमाणम , इत्यस्ति तद्वत् सकलजीवादिविषयमप्यागमिकं[10] तस्य प्रमाणं यदनुष्ठानात् सर्ववस्तुसाक्षात्करणं भगवत इति न युक्तमेतत् -'कारणाभावान्नास्ति कस्यचित् सर्वज्ञत्वम्' इति ।

स्यादाकूतम्- अस्ति निरवशेषवस्तुविषयं सङ्कलनम् , तत्तु न सकलविषयैकप्रमाणसामर्थ्यात् [11]तदभावात्, अपि त्वात्मसामर्थ्यात् । आत्मा हि स्वपरप्रकाशादिरूपः [12]परिस्फुरन् सकलप्रमाणतद्वेद्यसन्दोहं सङ्कलयति, [13]तत्सामर्थ्यप्रयुक्तं चेदं 'यदि' इत्यादिवचनं नैकप्रमाणसामर्थ्यप्रयुक्तम् ।

न चात्मनः प्रमाणत्वं प्रमातृत्वेन निश्चयात् ।
प्रमाणत्वे[14] हि तस्यापि प्रमाताऽन्यः प्रकल्प्यताम् ॥ ३२ ॥

तस्यापि स्वपरज्ञस्य प्रमाणत्वोपकल्पने ।
प्रमाताऽन्यः प्रकल्प्यः स्यादेवं स्यादनवस्थितिः ॥ ३३ ॥

---

१ -माणेनि-ब०, प०; आ०। २ "सर्वदयानुपलब्धेऽर्थे-प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा"[मी०श्लो० १।१।५।११] इत्युक्तत्वात् । ३ विषयविषयिस-आ०, ब०, प०, स० । ४ सङ्कलनात्पूर्वं केनापि ज्ञानेनाग्रहणात् । ५ विषयिविषयसमुदायाविषयत्वात् । तत्सन्देहावि-ब०, प०, आ० । ६ सङ्कलनज्ञान । ७ प्रमाणम् । ८ स्मरणानुभवाभ्याम् । ९-विषयविषयिस-ब०, आ०, प०, स० । १० श्रुतज्ञानात्मकम् । ११ सकलविषयैकप्रमाणाभावात् । १२ परिस्फुरंन्न स-ता० । १३ आत्मसामर्थ्य । १४ -णत्वेन त-ता० ।

न विना च प्रमातारं प्रमाणस्योपपन्नता ।
न हि कर्तृनिराशंसं करणं व्यवह्रियते ॥ ३४ ॥
तत्र प्रमाणं सर्वार्थमेकं यस्य बलादियम् ।
[1]प्रसिद्ध(द्धि)सर्वतत्त्वानां प्रसिद्धेत्यादिनोच्यते ॥ ३५ ॥ इति,

तदसङ्गतम्, यस्मादात्मन एव सर्वप्रमाणतद्विशेषसन्दोहमाकलय्यतः स्वविषयाव्यभिचारे प्रामाण्यात्, तद्व्यभिचारे [2]तद्गुणात्सुनिश्चितस्य 'यदि' इत्यादिवचनस्यानुपपत्तेः । आत्मनः प्रामाण्ये प्रमातृत्वं न स्यादिति चेत्, न, विरोधाभावात् । विषयपरिच्छित्तिं प्रति स्वतन्त्रत्वस्यापेक्षया प्रमातृत्वात् साधकतमशक्त्यपेक्षया च तस्यैव प्रमाणत्वात्, एकत्र च शक्तिनानात्वस्य 'आत्मनाऽनेकरूपेण' [3]इत्यादिना निवेदनात् । तत्र प्रमाणात् प्रमातुरर्थान्तरत्वं प्रमितेरपि [4]तस्य [5]तत्प्रसङ्गात् । न चैतत्पथ्यं भवताम्, विषयप्रमितिवत् [6]स्वप्रमितेरपि [7]तस्मादर्थान्तरत्वे स्वसंविदितात्मवादाभावप्रसङ्गात् । क्रियाकर्तृत्वभावत्वमेकस्य शक्तिभेदप्रयुक्तम् चि (कथमपि) रुद्धमिति चेत्, तर्हि [8]तत एव कर्तृकरणस्वभावत्वस्याप्यविरोधात् नात्मनः प्रमाणत्वे प्रमात्रन्तरपरिकल्पनं यतोऽनवस्थानं भवेत् ।

तस्मादात्मैव सर्वार्थवेदी स्याद्वादशासनात् ।
प्रमाणं भावना तस्य सर्वदर्शित्वमावहेत् ॥ ३६ ॥

ततः स्थितं प्रसिद्धग्रहणं परसाधनस्यासिद्धतोद्भावनार्थमिति ।

यत्पुनरिदं बौद्धस्य मतम्—भवतु किञ्चित्प्रमाणं यदभ्यासात्तत्त्वदर्शित्वं भगवतः तत्तु न सर्वविषयं [9]तदसम्भवात् । न हि संसारिणस्तदस्ति, सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात् । [10]सम्भवेऽपि तदभ्यासस्य वैफल्यात् । कस्यचित्तदभ्यासनिबन्धनसकलार्थदर्शनसाधने निःश्रेयसार्थिनां प्रयोजनाभावात् । [11]ते खलु सोपायहेयोपादेयगोचरमेव कस्यचिज्ज्ञानमन्विच्छन्ति [12]स्वयं तदाम्नायाम्, सोपायहेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञाने हेयस्य हानादुपादेयस्य चोपादानात् निःश्रेयसाधारा पुरुषार्थपरिसमाप्तेः, सकलार्थज्ञानं तु [13]कस्यचिदवस्करकुटीरकोटरान्तर्गतकीटकगणनादिगोचरं विद्यमानमपि नास्मदादिभिरन्वेषणीयं पुरुषार्थोपयोगाभावात् । तदुक्तम्—

"तस्मादनुष्ठेयगतं[14] ज्ञानमस्य[15] विचार्यताम् ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥" [प्रमाणवा० १।३३] इति,

---

१ प्रसिद्धस-ता० । २ आत्मप्रामाण्यमन्तरेण । ३ न्यायवि० का० ९ । ४ प्रमातुः । ५ अर्थान्तरत्वप्रसङ्गात् । ६ स्वप्रमितेरपि आ०, ब०, ब०, प० । ७ प्रमातुरात्मनः । ८ शक्तिभेदप्रयुक्तादेव कारणात् । ९ सकलपदार्थविषयस्य ज्ञानस्यासम्भवात् । १० सकलविषयस्य ज्ञानस्य सम्भवे तु । ११ निःश्रेयसार्थिनः । १२ "हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः । यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥—तस्माद्धेयतत्त्वस्य दुःखसत्यस्य साभ्युपायस्य समुदयसत्याभिमतस्य उपादेयतत्त्वस्य निरोधलक्षणस्य साभ्युपायस्य मार्गलक्षणस्य प्रमाणपरिशुद्धस्य यो वेदकः स प्रमाणमिष्टो न तु सर्वस्य यस्य कस्यचिद्वेदकः । न ह्यत्र सकलपदार्थज्ञानस्य … अपि तु तज्ज्ञानस्य … प्रमाणमिष्यते ॥"—प्र० वा० म० १।३४ । १३ कस्यचिदवस्करकु-ता० । विद्यमानमपि … कीटसंख्यापरिज्ञानम् । १४ … । १५ प्रमाणभूतस्य ।

अत्रेदमुच्यते– किं तत्प्रमाणं यदभ्यासादनुष्ठेयवस्तुसाक्षात्करणं तथागतस्य ? प्रत्यक्षमिति चेत् ; न; अनुष्ठानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अनुष्ठानं हि प्रमाणविषयसाक्षात्करणार्थम्, प्रत्यक्षस्यैव च [1]तत्साक्षात्करणरूपत्वे किं तदनुष्ठानेन ? न चाऽसाक्षात्करणरूपं प्रत्यक्षम्; अनुमानाद्यविशेषप्रसङ्गात। साक्षात्करणतारतम्याददोष इति चेत्; [2]स्यादाकूतम्–प्रत्यक्षमपि किञ्चित्साक्षात्कारि तदन्यत् साक्षात्कारितरं तदन्यत् साक्षात्कारितममिति सातिशायनमेव, तत्र प्रथमाभ्यासाद्द्वितीयस्य तदभ्यासात्तृतीयस्य तदभ्यासादपि तत उत्कृष्टस्याध्यक्षस्य सम्भवान्नानुष्ठानवैयर्थ्यदोष इति, तन्न; विषयविशेषाभावे प्रत्यक्षविशेषानुपपत्तेः। तथा हि– न साक्षात्करणतारतम्यमध्यक्षस्य [3]स्वलक्षणविषयम्; तस्यैकरूपत्वात। यदि [4]तस्य विशदविशदतरादिज्ञानवेद्यं नानारूपं भवेत्, भवेदपि तद्विषयमध्यक्षस्य साक्षात्करणतारतम्यं फलवत। न चैवम्, तस्य [5]निरंशत्वेन नानारूपत्वस्यासम्भवात्। सम्भवे वा प्रथमप्रत्यक्षत एव तथावभासनात् तदवस्थमनुष्ठानवैयर्थ्यम्, असमग्रप्रतिभासस्य स्वयमनभ्युपगमात। "तस्मात् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः" [प्र० वा० ३।४४] इति वचनात।

प्रत्यक्षस्य [6]भिदा किं स्यादेकरूपे स्वलक्षणे ? ।
[7]नानारूपं न तत्कस्मादाद्येऽध्यक्षेऽवभासते ॥३७॥
यदनुष्ठानवैयर्थ्यं न स्यात्? नाप्यवभासनम्।
असमग्रस्य भावस्य सौगतैरनुमन्यते ॥३८॥
तत्र स्वलक्षणेऽप्येष विशेषोऽध्यक्षगोचरः ।
[8]अन्यत्र चेत्; तथाप्यस्य [9]कैसर्थक्येन कल्पनम्? ॥३९॥
तत्त्वस्वलक्षणं यस्माद्विना तेनापि गृह्यते ।
[10]विशेषेणोत्तरेणेति नानुष्ठानस्य तत्फलम् ॥४०॥

तत्र [11]प्रमाणं प्रत्यक्षं यदनुष्ठानात्तत्त्वदर्शित्वम्। अनुमानमिति चेत्; न; तस्य [12]प्रतिबन्धग्रहणमन्तरेणासम्भवात्। तद्ग्रहणञ्च न योगिप्रत्यक्षात्; अस्मदादौ तदभावात्। अस्मदादिप्रत्यक्षादेवेति चेत्; तदप्यन्वयविषयम्, व्यतिरेकविषयं वा स्यात्? अन्वयविषयमपि

१ अनुष्ठेयवस्तु। २ इदं बौद्धस्य आकूतमभिप्रायः स्यात्। ३ "तत्र यदर्थक्रियासमर्थं तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति।"–प्रमाणसमु० टी० पृ० ६। "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत्स्वलक्षणम्। तदेव परमार्थसत्।"–न्यायवि० १।१३, १४। "स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्।"–न्यायबि० टी० पृ० २२। "अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत्। अन्यत् संवृतिसत्प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे॥" –प्र० वा० ३।३। एतन्मते स्वलक्षणं क्षणिकं निरंशं परमाणुरूपं च। ४ स्वलक्षणस्य। ५ "एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्। कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते॥–सर्व एव दृष्टो निरंशत्वाद्भावस्य। एको हि अर्थात्मा निरंशः। स तावत् प्रत्यक्षोऽभ्युपगन्तव्यः।" –प्र० वा० स्व० टी० पृ० १२१। ६ भिदा ब०, प०, आ०। ७ स्वलक्षणं परमार्थत एकरूपम्, यदि नानारूपं स्यात् तथापि कथं तन्नानारूपं प्रथमप्रत्यक्ष एव नावभासते? यतः साक्षात्करणविशेषार्थं क्रियमाणमनुष्ठानं व्यर्थं न स्यात्? अपि तु स्यादेवेति भावः। ८ स्वलक्षणभिन्ने। ९ अध्यक्षगोचरविशेषस्य। १० स्वलक्षणभिन्ने कल्पितेन। ११ प्रमाणप्र–आ०,ब०,प०। १२ अविनाभावसम्बन्ध।

सकलव्यक्तिविषयम्, प्रतिनियतव्यक्तिविषयं वा स्यात्? [1]न सकलव्यक्तिगोचरम्, तद्वतः सर्वज्ञत्वापत्तेः। प्रतिनियतव्यक्तिगोचरं चेत्, तर्हि तद्गतस्यैव [2]प्रतिबन्धस्य तेन ग्रहणं भवेन्न निरवशेषव्यक्तिगतस्य। [3]न हि ता व्यक्तयो न [4]तद्गोचरा तन्निष्ठस्य प्रतिबन्धस्यान्यस्य वा धर्मस्य तेन प्रतिपत्तिः सम्भवति, [5]आधेयप्रतिपत्तेराधारप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात्। एकत्र[6] तद्ग्रहणमेवान्यत्रापि तद्ग्रहणमिति चेत्, [7]अन्यत्र [8]तदग्रहणमेवैकत्रापि तदग्रहणं किन्न स्यात्? एकत्र तद्ग्रहणं प्रत्यक्षत एवानुभूयत इति चेत्, अन्यत्र तदग्रहणमपि तत एवानुभूयते [9]तदन्यविषयपराङ्मुखत्वेन तस्य स्वयमनुभवात्। [10]अतः [11]अन्यत्र साध्याभावेऽपि साधनं सम्भाव्येत, [12]तथा च कथमदृष्टपूर्वधूमादिदर्शनात् निश्चिता पावकादिप्रतिपत्तिर्भवेत्? तन्न अन्वयविषयात्प्रत्यक्षात्प्रतिबन्धप्रतिपत्तिः। व्यतिरेकविषयादेवान्योपलम्भरूपादिति[13] चेत्, [14]तस्य च [15]साध्याभावप्रयुक्तसाधनाभावनियमाधिकरणभावाभिमतकतिपयविपक्षगोचरत्वे स एव दोषः [16]सन्निहितस्यैव तदभावतदभावनियमस्य तेन ग्रहणान्न निरवशेषविपक्षनिष्ठस्येति। न हि यो यस्याविषयः[17] [18]स तस्य कस्यचित्सदसत्त्वप्रतिपत्तौ समर्थः मेरुशिखरे मोदकसदसत्त्वप्रतिपत्तिवत्। सकलविपक्षग्रहणे चोक्तम्—'तद्वतः सर्वज्ञत्वापत्तिः' इति। तथा च [19]दुःखसत्त्वस्य [20]एवं अनित्यत्वे कदाचिदुपलभ्यत्वं दुःखत्वे हेतुपरवशत्वं शून्यत्वे चोत्थासमाधानानिर्मितत्वम् अनात्मत्वे चानात्मकार्यकारित्वं साधनमुक्तं [21]तत्साकल्यव्यतिरेकनिश्चयविरहात् विपक्षेऽपि संभाव्यमानं कथमुक्तसाध्यप्रत्यायनसामर्थ्यमुद्वहेत् यतश्चतुष्प्रकारस्य दुःखसत्त्वस्य निर्णयः स्यात्? एवमन्यत्रापि। तन्न परस्यानुमानं यदभ्यासात्तदनुष्ठेय वस्तुसाक्षात्करणम्।

स्यान्मतम्—न सकलविपक्षग्रहणात् व्यतिरेकनिर्णयो येनायं दोषः स्यात् अपि तु [23]तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धसामर्थ्यात्। तथा हि [24]दुःखसत्त्वस्य कदाचिदुपलभ्यत्वमनित्यत्वस्वभावं [25]तदभावे न भवत्येव। नित्यत्वे हि [26]नित्योपलभ्यत्वस्याभावस्यैव प्रसङ्गात्। तदुक्तम्

१ न सकल–प०। २ प्रतिबन्धस्य ब०, आ०, प०, स०। ३ न हि ता०। ४ अस्मदादिप्रत्यक्षविषयाः। ५ वस्तुगतः सम्बन्धोऽन्यो वा धर्मः। ६ प्रत्यक्षभूतेषु व्यक्तिषु। ७ प्रत्यक्षागोचरे व्यक्तौ। ८ तदग्रहणमेवैकत्रापि तदग्रहणं आ०, ब०, प०, स०। [illegible]। ९ स्वविषयभिन्नविषयपराङ्मुखत्वेन। १० अतः प्रत्यक्षं प्रतिबन्धविषयम् [illegible]। ११ साध्यविकलव्यक्तौ। १२ साध्याभावव्यक्तौ अन्वयव्यभिचारे सति। १३ विपक्षेऽनुपलम्भात्। १४ विपक्षोपलम्भरूपस्य व्यतिरेकविषयकप्रत्यक्षस्य। १५ व्यतिरेकनियम। १६ सन्निहितविपक्षनिष्ठस्य साध्याभावप्रयुक्तसाधनाभावरूपव्यतिरेकनियमस्य। १७ –भावानि –ता०। १८ –सदसत्त्व वस्तु–ता०। १९ तत् ज्ञानम् तस्य स्वविषयीभूतपदार्थभिन्नस्य कस्यचित् धर्मस्य। २० दुःखसत्त्वस्य आ०, ब०, प०, स०। २१ "दुःखं संसारिणः स्कन्धाः"–प्र० वा० १।१४७। [illegible]। २२ [illegible]। २३ [illegible]–प्र० वा० म० १।१२८,७९। २४ [illegible]। २५ दुःखसत्त्वस्य आ०, ब०, प०, स०। २६ [illegible]। २७ [illegible]–आ०, ब०, प०, स०।

"न हि नित्यस्य नित्यमुपलभ्यस्वभावस्य [1]कदाचिदुपलम्भो युक्तः उपलभ्येतरस्वभावयोः परस्परपरि[2]हारस्थितत्वेन विरोधात्, उपलभ्यत [3]एव सत्त्वेति (स इति) प्रतिपादनात्। न च [4]सर्वदा सर्वमुपलब्धुं शक्यं क्रमोपलभ्यस्यानित्यत्वात्। न च क्रम [5]एकत्वे सम्भवति; क्रमवत एकत्वेनाप्रतिभासनात् प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः अनुमानस्य [6]तदभावे अभावात् प्रत्यक्षपूर्वक[7]त्वादनुमानस्य, अनुमानपूर्वकत्वे अन्धपरम्पराप्रसङ्गात्।" [प्र०वार्तिकाल० १।१७८] इति।

एवमन्यत्रापि स्वभावहेतौ वक्तव्यम्। तन्न तत्स्वभावस्यान्यस्वभावत्वं तत्स्वभावस्यैवाभावप्रसङ्गात्। नाप्यनित्यहेतुकस्य दुःखसत्यस्य अहेतुकत्वं नित्यहेतुकत्वं वा सम्भावयितुं शक्यम्; [8]अहेतुकत्वे नित्यत्वस्य नित्यहेतुकत्वे चानिवर्त्तनस्य प्रसङ्गात् कारणवैकल्याभावे कार्यनिवृत्तेरयोगात्। ततो निवर्त्तमानं कार्यं कारणस्य निवृत्तिमेव गमयति नानिवृत्तिम्, [9]तत्र स्वयमप्यनिवृत्तत्वप्रसङ्गात्। न चानिवृत्तिरूपमेव दुःखसत्यम्, [10]तस्य [11]कदाचिदुपलभ्यत्वेनानित्यत्वस्य साधनात्। तदुक्तम्–

"अहेतोर्नित्यतैवाऽस्तु नित्यहेतोः क्षयः कुतः।
[12]हेतुवैकल्यमप्राप्य कथं भावो निवर्त्तते ?॥
यस्य हेतुकृतो भावस्त[13]दभावान्न तद्भवेत्।
[14]तदभावेऽपि भावश्चेदभावोऽस्य कुतो भवेत् ?॥
अनित्यहेतुको भावो हेत्वभावान्निवर्त्तते।
[15]नित्यहेतोरभावोऽस्ति न हेतोर्न निवर्त्तते॥" [प्र०वार्तिकाल० १।१३५] इति।

एवमन्यत्रापि कार्यहेतौ वक्तव्यम्। तन्न तत्कार्यमहेतुकमन्यहेतुकं वा युक्तमिति; अत्रेदमुच्यते– यत् यत्स्वभावं यत्कार्यं वा सर्वत्र सर्वदा तत् तत्स्वभावमेव नान्यस्वभावम्, तत्कार्यमेव नाकार्यं नान्यकार्यं वेति। 'नहि' इत्यादिना 'अहेतोः' इत्यादिना चोच्यमानः कस्य पुनः प्रमाणस्यैतावान् व्यापारः ? प्रत्यक्षस्यैवेति चेत्; न; तस्य सन्निहिते तात्कालिकवस्तुमात्रगोचरतया निरवशेषसपक्षविपक्षाभिमतव्यक्तिनिकरनिरीक्षणशक्तिविकलत्वेन [16]इयतो व्यापारस्याऽसम्भवात्। प्रदेशतस्तादात्म्यतत्कार्यत्वग्रहणमेव देशकालव्यापित्वेनापि तद्ग्रहणमिति चेत्; व्याहतमेतत्–यदि प्रदेशतस्तद्ग्रहणं कथं तद्व्यापित्वेन तद्ग्रहणम् ? तच्चेत्; कथं प्रदेशतस्तद्ग्रहणम् ? 'प्रदेशतश्च, तद्व्यापित्वेन च' इति स्पष्टो व्याघातः। कथमन्यथा स्तम्भस्यापि प्रदेशनियतत्वेन ग्रहणमेव [17]तद्व्यापित्वेन ग्रहणं न स्यात् ? यत इद सूक्तं स्यात्–

---

१ कथञ्चिदु–आ०, व०, प०, स०। २–हारस्थितित्वेन आ०, ब०, प०, स०। ३ इव सत्तेति "उपलभ्यतयैव स इति"–प्र० वार्तिकाल०। ४ सर्वथा आ०,व०,प०,स०। ५ नित्यत्वे। ६ प्रत्यक्षाभावे। ७–त्वादनुमानपूर्व-ता०। ८ तुलना–"न ह्यहेतुकत्वे नित्यहेतुकत्वे वा निवर्तनाय व्यापारः सफलः।" –प्र० वार्तिकाल० १।१३५। ९ यदि निवर्तमानं कार्यं कारणस्यानिवृत्तिं गमयेत् तदा कारणस्यानिवृत्तौ स्वयं कार्यस्यापि न निवृत्तिः स्यादिति भावः। १० दुःखसत्यस्य। ११ कदाचिदप्युप–आ०,व०,प०,स०। १२ हेतोर्वैकल्य–आ०,ब०,प०। १३ हेत्वभावात्। १४ कारणाभावेऽपि यदि कार्यसत्त्वं स्यात् तदा अस्य–कार्यस्य अभावः कुतः कारणात् स्यात् ? १५ यतः नित्यकारणकस्यार्थस्य अभावो नास्ति अतः स हेतोर्न निवर्तते। १६ सर्वोपसंहारेण। १७ सकलदेशकालव्यापित्वेन।

"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥" [ ] इति ।

तत्र प्रत्यक्षस्यायं व्यापारः, तस्यान्वयविषयस्य व्यतिरेकविषयस्य चैवतो व्यापारस्याऽनुपपत्तेः। तज्जन्मनो विकल्पस्येति चेत्, कः पुनरसौ विकल्पः ? अनुमानमेवेति चेत्, अनुमानात्तर्हि व्याप्तिग्रहणम्, तदपि न सम्यक्, तेनैव तद्ग्रहणे परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। अन्येन तद्ग्रहणे अनुमानपूर्वकत्वमनुमानस्योक्तं स्यात्। भवतु को दोष इति चेत्, किं पुनरिदमिदानीमेवोक्तं भवद्दूषणं भवतैव विस्मृतम् 'अनुमानस्यानुमानपूर्वकत्वे अन्यपरम्पराप्रसङ्गात्' इति ? अनुमानपूर्वकमेवानुमानं सर्वैव व्यवहारात्, न च व्यवहारो विचारमर्हति तस्याविचारितरमणीयत्वात्, तद्विचारे सकलमेव व्यवहारविरहप्रसङ्गादित्यपि न बन्धुरम्, अनित्यत्वानुमानमित्याद्यनुमानस्याप्यङ्गीकारप्रसङ्गात्। नित्यादित्वेनाध्यवसीयमाने दुःखसत्त्वादौ कथं तथानुमानमिति चेत् ? स्यादेतदेवं यदि दर्शनपूर्वकमनुमानं स्यात्, न चैवम्, तस्यानुमानपूर्वकत्वेनोपगमात्, अन्यपरम्पराप्रसङ्गस्य चाविचारितरमणीयव्यवहारपद्धतिमुपगच्छतैव निवारणात्। व्यवहारादपि नित्याद्यनुमानमप्रसिद्धमेव तत्र तस्यानुपयोगादिति चेत्, न, व्यवहारे तस्यैवोपयोगात्, प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिव्यवहारस्य नित्यत्वादिनिमित्तत्वेन व्यवहारिणां प्रसिद्धत्वात्। न हि निरंशक्षणिकादिरूपतया वस्तु किञ्चिदिव विपश्चितां व्यवहारकारणम्। कथमन्यथा अभ्यासादवस्थाया "प्रत्यक्षविषयतयाऽध्यारोपितदृश्यप्राप्यैकत्वमेव व्यवहारकारणं" भवतैव

"ततो भाव्यविषयं विषयान्तरगोचरम् ।
प्रमाणमध्यारोपेण व्यवहारावरोधकृत् ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।१]

इति मुधा निरूपितम् ? तदनुमानाङ्गीकरणे च न दुःखत्वस्यानित्यत्वं तन्नित्यत्वस्यानुमानेन साधनात्। नापि तस्यानात्माभिमतत्वम्, अनुमानसिद्धनित्यादिरूपस्यात्मनः तदाश्रयस्योपपत्तेः।

---

१ प्रत्यक्षप्रभाविनः। २ प्रकृतानुमानेनैव स्वीयव्याप्तिग्रहणे। ३ व्याप्तिग्रहणे सति अनुमानोत्थानम्, सति चानुमाने व्याप्तिग्रहणमिति। ४ द्वितीयानुमानेन प्रथमानुमानव्याप्तिग्रहणे। ५ पुनरिदानीं–ब०। ६ नित्यादित्वेन। ७–रमणीयत्व–आ०, ब०, प०, स०। ८ तत्र व्यवहारे तस्य नित्यादिसाधनस्य। ९ तस्मादुत्–प०। १०–रोपेणाव–प०। –रोपेण प्र– आ०, ब०, स०। ११ "अन्यो हि दर्शनस्य विषयः, अन्यश्च प्रापणीयः, किन्तु दृश्यं प्राप्यं च एकीकृत्य तदेव तेन प्रापणीयम्। अभेदाध्यवसायाच्च दृश्यप्राप्ययोरेकत्वं प्रापणमिति।" –न्यायबि० टी० पृ० ७। १२ ...। १३ प्रत्यक्षेणैव। १४ दर्शनार्थस्य ...। १५ ...। १६ "व्यवहाराविरोधकृत्"–प्र० वार्तिकाल०। १७ नित्याद्यनुमा-नाङ्गीकारे। १८ ...–आ०, ब०, प०, स०। दुःखत्वस्य।

कारणमेव किञ्चित्कस्यचिदाश्रयत्वेनाधिष्ठायकम् [1]अनुपकारिणस्तदयोगात्। न च नित्यस्यात्मनोऽन्यस्य वा [2]कारणत्वम् ? तत्कथं तेन दुःखसत्यस्याधिष्ठानम् ? तदुक्तम्–"नाकारणमधिष्ठाता नित्यं वा कारणं कथम् ?" [प्र० वा० १।१७९] इति चेत्; उच्यते–

नन्विदं कारणत्वं च [3]संवृत्यैव न तत्त्वतः
यदुक्तं कीर्तिनैवेदं "संवृत्यास्तु यथा तथा" [प्र० वा० २।४] ॥ ४१ ॥
लोकाभिप्राय एवायं संवृत्यर्थोऽपि[4] नापरः ।
स[5] च नित्यस्य हेतुत्वमविवादं प्रकल्पयेत् ॥ ४२ ॥
तत्रैव[6] त[7]स्य सद्भावात् क्षणिकादौ विपर्ययात् ।
इति प्रपञ्चतः पश्चाद्यथास्थानं वदिष्यते ॥ ४३ ॥
हेतुत्वादेव दुःखस्य [8]तेनात्मा स्यादुपाश्रयः ।
तत्कथं दुःखसत्यस्य चतुराकारतोच्यते ? ॥ ४४ ॥

ततो निराकृतमेतत्[9]–"चतुराकारं [10]दुःखसत्यमनित्यतो दुःखतः [11]शून्यतोऽनात्मतश्च" [प्र० वार्तिकाल० १।१७८] इति । तन्नायं [12]व्याप्तिविकल्पोऽनुमानात् । मा भूत्तथापि योग्यतयैव साध्यसाधनाविनाभावसर्वस्वगोचरः कश्चिदपर एवायं विकल्प इति चेत्; अस्ति तर्हि निरवशेषवस्तुविषयं [13]छद्मस्थस्यापि किञ्चित्प्रमाणमिति [14]तदभ्यास एव सकलार्थदर्शनार्थिना कर्तव्यो न नियतविषयानुमानाभ्यासः; [15]तदभ्यासे सकलार्थदर्शनासम्भवात्[16]। नहि नियतविषयप्रमाणाभ्यासाद् अशेषविष दर्शनमुपपन्नम् अतिप्रसङ्गात् । तस्मादशेषदर्शनस्याशेषविषयमेव प्रमाणं कारणं नापरमिति प्रतिपादनार्थम् [17]अशेषग्रहणम् ।

यत्पुनरेतत्–भवतु भगवद्दर्शनमशेषविषयम्, तथापि किं [18]तस्य परीक्षया पुरुषार्थानुपयोगात् ? यत्पुनस्तद्दर्शनं [19]चतुरार्यसत्यगोचरं तदेव परीक्षितव्यं पुरुषार्थोपयोगित्वात् नापरविषयं विपर्ययादिति; तत्रेदमुच्यते– तत्सत्यव्यतिरिक्तं [20]यदि किञ्चिन्नास्ति तर्हि[21] तावदेव

१ अर्थक्रियारहितस्य । २ नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् । ३ कल्पनयैव । ४ "इयमेव खलु संवृतिरुच्यते येयं विचार्यमाणा विशीर्यते ।" "प्रमाणमन्तरेण प्रतीत्यभिमानमात्रं संवृतिः" अनिरूपिततत्त्वा हि प्रतीतिः संवृतिर्मता ।" –प्र०वार्तिकाल० २ ८ । "संव्रियत आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्चानयेति संवृतिः । अविद्या मोहो विपर्यास इति पर्यायाः । अविद्या ह्यसत्पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सती संवृतिरुपपद्यते । अविद्योपदर्शितं च प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं संवृतिरुच्यते । तदेव लोकसंवृतिसत्यमित्यभिधीयते ।" –बोधिच० प० पृ० ३५२ । ५ लोकाभिप्रायात्मकः संवृत्यर्थः । ६ नित्य एव । ७ तस्यासद्भावा–आ०, ब०, प०, स० । हेतुत्वस्य । ८ येनात्मा प० । यतात्मा स० । नात्मा ब०, स० । तेन नित्यस्य हेतुत्वसमर्थनेन । ९ धर्मसंग्रहप्रमाणवार्तिकादौ निर्दिष्टम् । पश्यतु पृ० ११टि० ३३ । १० दुःखस्य सत्य–आ०,ब०,प०,स० । ११ शून्यवतो–आ०, ब०,प०,स० । १२ व्याप्तिविकल्पोऽनात्मा मा–ता० । १३ अल्पज्ञस्य । १४ तदेव प० । सकलसाध्यसाधनगोचरव्याप्तिविकल्पाभ्यासः । १५ नियतविषयानुमानाभ्यासे । १६–र्शनाभावात् आ०,ब०,प०,स० । १७ प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थेत्यत्र । १८ तदशेषविषयत्वस्य । १९ "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः ॥"–अभिधर्मको० ६।२ । धर्मसं० पृ० ५ । २० यत्कि–आ०, ब०, प०, स० । २१ सत्यचतुष्टयपरिमितम् ।

जगदिति कथम् तद्दर्शनस्याशेषविषयत्वम्? कथं वा न पुरुषार्थोपयोगित्वं यतस्तत्परीक्षणमुपेक्ष्यते? न हि सर्वविषयस्यैवाऽसर्वविषयत्वं पुरुषार्थहेतोर्वा तदहेतुत्वमुपपन्नम्, विरोधात्। ततः[2] सत्यचतुष्टयवेदित्वेन कस्यचित्प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्[3] अशेषवेदित्वेनैव अभ्युपगच्छतीति व्याहतमेतत्–

"हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः[4]।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य[5] वेदकः ॥" [प्र० वा० १।३४] इति।

भवतु तर्हि चतुःसत्यव्यतिरिक्तं किमपि यद्विषयं[6] सुगतदर्शनमपुरुषार्थोपयोगीति चेत्, कस्य न तत् पुरुषार्थोपयोगि–सुगतस्य, विनेयानां वा? [न] तावत्सुगतस्य, तस्य निरवशेषवस्तु सत्त्व-तद्व्यतिरिक्तपदार्थविषयदर्शने तद्गतसत्त्वक्षणिकत्वादिसकलसाध्यसाधनधर्मव्याप्तिप्रतिपत्तौ सुनिश्चितस्य स्वार्थानुमानलक्षणस्य पुरुषार्थस्य सम्भवात् अन्यथा तदयोगात्[7]। न हि व्याप्तिग्रहणनिरपेक्षस्य नैरपेक्षिकतद्ग्रहणसापेक्षस्य[8] वाऽनुमानस्य सम्भवः, अतिप्रसङ्गात्। अत एवोक्तमलङ्कारकारेण[9]–

"सहभावस्तु यो व्याप्तौ न तस्मादनुमोदयः[10]।
कादाचित्कतया [11]तस्य [12]सर्वत्रास्त्वनुमाऽन्यथा ॥" [प्र० वा० १।४] इति

स्यान्मतम्, न सुगतस्यानुमानात्मा पुरुषार्थो यतस्तदुपयोगित्वेनाशेषदर्शनस्य विचारार्हत्वम्, अपि तु [13]प्रत्यक्षादेव (क्षात्मैव) [14]तस्य च न व्याप्तिग्रहणसापेक्षत्वं यतस्तत्राशेषदर्शनस्योपयोग इति, तदसारम्, अनुमानस्यैव सर्वाकारगोचरस्य सौगतप्रत्यक्षत्वेन परैरभ्युपगमात्। यस्मादुक्तम्–

"सर्वाकारानुमानं[15] यदध्यक्षाच्च भिद्यते।
नेन्द्रियेणापि संयोगस्त्वे[16]तोऽधिकविशेषकृत् ॥" [प्र० वा० १।१३८] इति

यद्यनुमानमेव प्रत्यक्षं तर्हि 'प्रत्यक्षात् व्याप्तिग्रहणम्' इति[17] 'अनुमानात्तद्ग्रहणम्' इत्युक्तं भवति, न चैतन्न्याय्यम्, तत एवानुमानात्तद्ग्रहणे[18] परस्पराश्रयप्रसङ्गात्, अन्यतस्तद्ग्रहणे तत्राप्यन्यतस्तद्ग्रहणमित्यनवस्थापत्तेः प्रस्तुतार्थप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। उक्तञ्च प्रज्ञाकरेण–

१–विषयस्याशेष–आ०, ब०, प०, स०। २ ततस्त्व–आ०, ब०, प०, स०। ३–च्छतीति आ०, ब०, प०, स०। ४ सत्यचतुष्टयव्यतिरिक्तस्य प्रमेयस्याभावात् सत्यचतुष्टयवेदित्वमेव सर्वार्थवेदित्वम्। ५ पश्यतु–पृ० ९ टि० १२। ६ बहिर्विषयमसद्–आ०, ब०, प०। ७ अनुमानायोगात्। ८ क्वचिद्विशेषे व्याप्तिग्रहणापेक्षस्य। ९–स्यैवानु–प०। १० प्रमाणवार्तिकालङ्कारकृता प्रज्ञाकरगुप्तेन "सहभावस्तयोर्व्याप्त्या न "–प्र० वार्तिकाल० १।४। ११ सहभावस्य। १२ यदि कादाचित्कसहभावेनानुमानं स्यात् तदा वह्निनापि धूमानुमानं स्यात् कादाचित्कसहभावस्याविशेषात्। १३ प्रत्यक्षा 'व–आ०, ब०, म०। प्र व–ता०। १४ प्रत्यक्षात्मनः पुरुषार्थस्य। १५ "यस्मात्तु सर्वाकारपदार्थसम्पदेदं तदेवाध्यक्षम्। साक्षात्करणात्मा हि प्रत्यक्षार्थ "–प्र० वार्तिकाल० १।१३८। १६ सर्वाकारानुमानात्मकप्रत्यक्षापेक्षया। १७ इति कथनेन। १८ स्वीयव्याप्तिग्रहण।

"अनुमानान्तराक्षेपादनवस्थावतारतः ।
[1]प्रकृताऽप्रतिपत्तिः स्यात्तस्य तस्येत्यपेक्षणात् ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।४]

इति चेत्; अस्तु सौगतस्यैवायं दोषो यस्माद्व्यवहारमात्रादेव प्रसिद्धमनुमानम्, तदभावे प्रवृत्त्यादिव्यवहारविरहप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षस्याप्यनुमानपूर्वकस्यैव व्यवहारकारित्वात्, अनुमानमेव खल्वत्यन्ताभ्यासपाटवपरि[2]कलितशरीरमननुस्मृतसाध्यसाधनसम्बन्धतयोपजायमानम् [3]अकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निसंवेदनवत् अध्यक्षव्यपदेशमनुभवत् प्रवृत्त्यादिव्यवहारमारचयति नापरम्। तत्र यदि अन्धपरम्पराप्रसङ्गापादनादनुमानमवसाय्येत व्यवहार एवापसारितः स्यात्। तत्र यद्येतावता[4] परितोषस्तदा न किञ्चित्कर्तव्यमिति मुक्तिरेव संसारात् [5]तस्यात्यन्तमसम्भवात्। अथ व्यवहारप्रसिद्धः संसारः; तर्हि सिद्धमेवानुमानं व्यवहारस्य [6]तन्नान्तरीयकत्वात्। अतस्तद्गृहीत[7]व्याप्तिसामर्थ्यात् सर्वाकारगोचरमनुमानं सुगतस्योपजायमानमनवद्यमेवेति चेत्, आस्तां तावदेतत्, [8]तत्त्वपदतात्पर्य्यचिन्तायां विचारणात्। तत्रानुमानात्तस्य सर्वाकारानुमानं दर्शनादेव[9] तदुपपत्तेः। यदि [10]तद्दर्शनमन[11]नुमानं कथमनुमानात्मकं तत्प्रत्यक्षमुक्तमिति चेत्? न; एवमपि परस्यैव दोषात्। तत्र सुगतस्य निरवशेषदर्शनमपुरुषार्थकरम्, तदभावे तत्पुरुषार्थस्य स्वार्थानुमानस्याभावप्रसङ्गात्।

एतेन 'विनेयानामपि तत् पुरुषार्थकरं न' इति चिन्तितम्। तदभावे स्वार्थानुमानवत् [13]तन्निबन्धनस्य परार्थानुमानस्यापि विनेयपुरुषार्थतयाऽभिमतस्याभावप्रसङ्गात्। साध्यप्रतिबद्धलिङ्गोपदर्शनपरं हि वचनं परार्थानुमानम्[14], तेनैव[15] सुगतोपदिष्टेन विनेयानां तत्त्वप्रतिपत्तेः, न वचनमात्रेण [16]तस्य वस्तुनि [17]प्रामाण्यानभ्युपगमात्, प्रमाणसङ्ख्याव्याघातप्रसङ्गात्[18]। न चासति स्वार्थानुमाने तदुपदर्शनपरं वचनम्। न च निरवशेषदर्शनमन्तरेण स्वार्थानुमानमिति स्वपरार्थसिद्धिमूलनिबन्धनत्वादखिलवस्तुसाक्षात्करणस्य कथन्नाम विचारभूमिभागविधेयत्वन्न भवेत्?

अपि च, परमपीदं [19]प ° पर्यनुयुज्यते– यत्तच्चतुःसत्यव्यतिरिक्तं तत् चेतनम् अचेतनम्, वा गत्यन्तराभावात्? चेतनमेव कीटसङ्ख्यादिलक्षणमिति चेत्; अत्रापि सङ्ख्यावतः, सङ्ख्याया वा

१ प्रकृताप्रकृता वा स्या–प० । प्रकृता च प्रकृता स्या–स० । २ –परिकरितश –ता० । ३ "अत्यन्ताभ्यासतस्तस्य झटित्येव तदर्थवित् । अकस्माद्धूमतो वह्निप्रतीतिरिव देहिनाम् ॥"–प्र० वार्तिकाल० १।१३८ । ४ व्यवहारापसारणेन । तुलना–"तत्र यद्येतावता परितोषस्तदा न किञ्चित्कर्तव्यमिति मुक्तिरेव ·····" –प्र० वार्तिकाल० १।५ । ५ व्यवहाररूपस्य संसारस्य । ६ अनुमानाविनाभावित्वात् । ७ चतुःसत्य तद्व्यतिरिक्तराशिद्वयदर्शनगृहीत । ८ प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थेति श्लोकोक्ततत्त्वपदविचारावसरे । ९–मानं तद्दर्श–आ०, ब०, प०, स० । १० राशिद्वयदर्शनादेव । ११ सुगतप्रत्यक्षम् । १२–नमनुमा–आ०, ब०, प०, स० । १३ सुगतस्वार्थानुमाननिबन्धनस्य । १४ "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्"–न्यायबि०पृ० ६१ । "तत्र परार्थानुमानं स्वदृष्टार्थप्रकाशनमित्याचार्यीयलक्षणम्"–प्र० वा०, म० ४।१ । १५ साध्यप्रतिबद्धलिङ्गोपदर्शकवचनेनैव । १६ वचनस्य । १७ "वचसां प्रतिबन्धो वा को बाह्येष्वपि वस्तुषु । प्रतिपादयता तानि येनैषां स्यात्प्रमाणता ॥"–तत्त्वसं० श्लो० १५१३ । १८ यतो हि बौद्धैः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति प्रमाणद्वयमेवानुमन्यते । १९ सौगतम् ।

दर्शनमपुरुषार्थकरम् ? न तावत्सकलावतः, यदि[1] [2]निरवशेषदेशकालाधिष्ठान कीटनिकुरुम्बकमेव, न च तद्दर्शनाभावे [3]तदधिकरणचतुःसत्यसंवेदन सम्भवति । न हि चतुःसत्यं नाम किञ्चित्स्वतन्त्रमस्ति, दुःखसमुदयादेश्चेतनसन्तानाधिकरणस्यैव तत्त्वात् । चेतनसन्तानस्य च नारकतिर्यङ्नरसुरभेदभिन्नस्य प्रत्येकमनेकधा भेदमनुभवतः प्रतिव्यक्ति[5]दर्शनविरहे तदधिकरणनिरवशेषचतुःसत्यसाक्षात्करणासम्भवात् कथम सद्दर्शनस्य पुरुषार्थोपयोगित्वम् ? सामान्यरूपतयैव सकलचतुःसत्यवेदनाच्च प्रतिव्यक्तिनिरवशेषचेतनसन्तानदर्शनमर्थवदिति चेत्, न, सर्वाकारचतुःसत्यवेदनविरोधात् । न हि सामान्येन गृहीतं सर्वाकारेण गृहीतं नाम । सर्वाकारग्रहणं चाभिमत भवताम् "सर्वाकारानुमानं यत्" [प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इत्यादि वचनात् । भवतु सुगतस्य प्रतिव्यक्तिगतदर्शनेनैव सकलचेतनसन्तानसाक्षात्करणम् अस्माकं तु तदर्थवत्त्वं भवति, अस्मदर्थे चतुःसत्योपदेशे तन्मात्रगोचरस्यैव सुगतज्ञानस्योपयोगात्, अत एवास्मदीयेन नसा साक्षान्निर्दिशति–

"कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य न[7] क्वोपयुज्यते[8]" [प्र० वा० १।३३] इति ।
ततस्तन्मात्रगोचरमेव[9] ज्ञानं सुगतस्य परीक्षितव्यम्–'किं तस्य 'तदस्ति वा न[10] वा' इति, तदभावे [11]चतुःसत्योपदेशासम्भवात्, न सर्वचेतनसन्तानविषयं तदभावेऽपि [12]तत्सम्भवादिति चेत्, न, दत्तोत्तरत्वात्, सकलचेतनसन्तानादर्शने तदभिज्ञत्वेन चतुःसत्योपदेशासम्भवात् । न हि कूपमपश्यतः 'कूपे जलम्' इत्युपदेशः सम्भवति । [13]तदभिज्ञत्वेन तदुपदेशो नार्थवानिति चेत्, कथं तर्हि तदुपदेशोऽर्थवान् ? अतदभिज्ञत्वेनेति चेत्, न, [14]अभिज्ञतया ज्ञातस्याऽनभिज्ञत्वेनोपदेशे वञ्चकत्वेनोपदेष्टुरप्रमाणत्वापत्तेः ।

एतेन कतिपयतद्व्यक्तिनिष्ठत्वेनेति प्रत्युक्तम्, न्यायस्य समानत्वात् ।

स्यान्मतम्–विनेयानुरोधादेव भगवतो देशना, विनेयाश्च सु(स्व)गतमेव चतुःसत्यमुपदेशादुपयोक्तुमिच्छन्ति तस्यैवानुप्रेयत्वात् न सर्वगतं विपर्ययात्, ततः सर्वचेतनाधिकरणत्वेनाधिगतमपि विनेयाभिप्रायवशात् प्रतिनियततद्व्यक्तिगतत्वेनैव चतुःसत्यमुपदिशति नान्यथेति प्रतिनियतचेतनव्यक्तिज्ञानमेव तस्य[15] परीक्षायोग्यं न सर्वचेतनव्यक्तिज्ञानमिति, तन्न, विनेयनियमाभावात् । तत्त्वमुमुत्सावन्तो हि विनेयाः, ते च न मनुष्या एव, सरीसृपादीनामपि तत्त्वमुमुत्सावत्त्वे [16]तदविरोधात् । तेषां तत्त्वमुमुत्सावत्त्वमेव नास्तीति चेत्, मानवानां कुतस्तत्त्वम् ? संसारदुःखपरिपीडनोद्वेजितत्वात् कुत्सितवासनाविशेषादिति चेत्, न, सरीसृपादीनामपि तदविरोधात् ।

---

१ चतुःसत्यप्रतीतिरिह संसारचेतनं वस्तु । २ सकलमनन्तिमकर्तृकोऽस्मद्गत एव । ३ चीरसमूहाधिकरणक । ४–समुदायादे–आ०, ब,प०,स० । समुदेति अस्मादिति समुदयः दुःखकारणं तृष्णेति यावत् । ५–दर्शनविरहिते त ता० । ६ संस्थानप्रतीत्यादिदर्शनस्य । ७–वादेऽपदेशेन न साक्षादि–आ०, ब०, प०, स० । अस्मत्प्रत्यक्षस्थाने कारिकामूलेन 'नः क्वोपयुज्यते' इत्युक्त 'नः' इति पदेन । ८ "तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्" इति पूर्वार्द्धः । ९ अस्मदीयचतुःसत्यमात्रगोचरमेव । १० अस्मदीयचतुःसत्यगोचरज्ञानम् । ११ अस्मदीयचतुःसत्योपदेश । १२ अस्मदादिचतुःसत्योपदेश । १३ सकलचेतनसन्तानानभिज्ञतया चतुःसत्योपदेशः । १४ सकलचेतनसन्तानाभिज्ञतया । १५ सुगतस्य । १६ विनेयत्वाविरोधात् ।

सुगतानुग्रहादिति चेत्; न; तस्यापि सर्वचेतनसाधारणत्वात्, अन्यथा सुगतस्य जगद्धितैषित्वा[1]नुपपत्तेः। न हि खण्डशो जगदनुगृह्णतः समग्रं तद्धितैषित्वमुपपन्नम्। सरीसृपादीनां तत्त्वबुभुत्सावत्त्वेपि न विनेयत्वं तत्त्वज्ञानामृतोपदेशभाजनत्वाभावात्, व्यक्तया वाचा तेषामवबोधयितुमशक्यत्वादिति चेत्; मा भूत् व्यक्तया तदवबोधनम्, अव्यक्तया तु तद्वेद्यया स्यात्। न तादृशी[2] सुगतस्य वागस्तीति चेत्; अन्यादृशी कुतः? तदभ्यासादिति चेत्; सापि तत एवास्तु। तदभ्यासो[3]ऽपि तस्य नास्तीति चेत्; इतरवागभ्यासः कुतः? तद्वागुपदेशादिति चेत्; अव्यक्तवागुपदेशोऽपि नास्तीति कुतोऽवसितम्? अनुपलम्भादिति चेत्; न; सर्वविद्व्यापारस्यानुपलब्धस्यापि सम्भवात्, कथमन्यथा[5] वाग्वैगुण्यलक्षणस्य शेषस्य भावान्निःशेषं[6] दुःखहेतुप्रहाणं सुगतस्य स्यात्, यतो निःशेषार्थमुपसर्गस्योक्तं सूक्तं स्यात्?

ततः कथञ्चित्सर्वेषां विनेयत्वोपपत्तितः।
प्राणिनां तत्परिज्ञानं[8] तत्र[9] किन्न परीक्ष्यताम्? ॥ ४८ ॥
[10]अजानन्न हि [11]तांस्तेषामुपदेष्टा तथागतः।
[12]तथा चेत्; बुद्धिवैगुण्यं कथमस्य निवर्त्तताम्? ॥ ४९ ॥
अस्तु कीटावबोधोऽपि तेन चेन्नास्ति वः[13] फलम्।
युष्मद्बोधेन कीटानामपि नेति समं न किम्? ॥ ५० ॥
ततो यथेदं कीटान्प्रत्युच्यते धर्मकीर्त्तिना[14]।
'कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते' ॥ ५१ ॥
तथैव कीटकैरेतद्वक्तव्यमितरान्[15] प्रति।
भिक्षुसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥ ५२ ॥ इति।

तत्र सङ्ख्यादिवतः कीटादिचेतनवर्गस्य ज्ञानमपुरुषार्थकरम्, तदभावे सकलचेतनवर्गाश्रितनिखिलशेषानुष्ठेयतत्त्वोपदेशानुपपत्तेः। नापि तत्सङ्ख्यायाः; तस्यास्तद्[16]व्यतिरेकेणाभावे तज्ज्ञानस्यैवासम्भवात्। सम्भवतो हि ज्ञानस्यानुपयोगित्वेनोपेक्षणीयत्वं वक्तव्यं नाऽसम्भवतः [17]तत्परीक्षायाः परैरप्यनभ्युपगमात्। न चाविप्रतिपत्तिविषय एव विवादः तदनुपरमप्रसङ्गात्।

अथ यस्य सङ्ख्या विद्यते स्याद्वादिनः तस्यापि तद्विषयं तदाप्तज्ञानमपुरुषार्थकरमित्येतदेदम्पर्य्यम्; इदमपि न सुन्दरम्; कीटसङ्ख्यागोचरस्याप्तज्ञानस्य [18]प्रायश्चित्तविभागाद्युपदेशहेतुत्वेन

१ "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे नमोस्तु तस्मै सुगताय तायिने॥"–प्र० समु० १।१। २ सरीसृपादिवेद्या अव्यक्ता वाक्। ३ अव्यक्तवागभ्यासोऽपि। ४ अनुपलब्धस्यापि अव्यक्तवागुपदेशस्यानङ्गीकारे। ५ अव्यक्तवागुपदेशासामर्थ्ये। ६ "हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वम्–हेतोः समुदयस्य प्रहाणं निरोधः सुगतत्वम्। तच्च त्रिगुणं गुणत्रययुक्तम्। सुशब्दस्य त्रिविधोऽर्थः–प्रशस्तता सुरूपवत्, अपुनरावृत्तिः सुनष्टज्वरवत्, निःशेषता च सुपूर्णघटवत्।"–प्र० वा० म० १।३।२१। ७ सुगतघटकसुशब्दस्य। ८ सकलचेतनसन्तानगतचतुःसत्यपरिज्ञानम्। ९ सुगते। १० अजानं न हि ता ते–आ०,ब०,प०। अज्ञानं न हितान् ते–स०। ११ सर्वप्राणिनः। १२ सर्वप्राणिनोऽजानन्नपि यदि उपदेष्टा स्यात्। १३ युष्माकं भिक्षूणाम्। १४ प्रमाणवार्त्तिके(१।३३)। १५ भिक्षून् प्रति। १६ संख्यावदर्थभिन्नतया। १७ असम्भवदर्थपरीक्षायाः। १८ विभिन्नकीटहिंसाजन्यतीव्रमन्दादिपापपरिहारकविविधप्रायश्चित्त।

पुरुषार्थोपनिबन्धनत्वात्, उपनतकीटवर्गपरिसङ्ख्यापरिज्ञानस्यैव हि हिंस्यादितद्व्यापादनोपनीतविनेयदोषपरिहारणोपायभूतस्य प्रायश्चित्तविभागस्योपदेष्टृत्व भगवतो न तद्विपरीतस्य । तत्र चक्षुःसत्यव्यतिरिक्तस्य चेतनत्वम् । अचेतनत्वं तर्हि भवतु, तदपि मूर्तम्, अमूर्तं वा ? मूर्तं चेत्, पृथिव्यादिकमेव । तच्च संस्वेदजादिचेतनवर्गाधिकरणमेवेति भवतामाकूतम्–

"न स कश्चित्पृथिव्यादेरंशो यत्र न जन्तवः ।
संस्वेदजाद्या जायन्ते सर्वं बीजात्मकं ततः ॥" [प्र०वा० १।३९] इति

चार्वाकं प्रति धर्मकीर्तेर्वचनात् । तादृशस्य च तस्य परिज्ञानं कथम पुरुषार्थकारणम् ? तदपरिज्ञाने तदधिकरणचेतनवर्गस्य तेनानवबोधे च तद्व्यापरवतुरार्यनिरवशेषसत्यस्यानवगमेनोपदेशानुपपत्तेः । तत्र मूर्तम् । तदमूर्तमेव गगनादिकमिति चेत्, न, तस्य स्वयमनभ्युपगमेनासत्त्वात् । पराभ्युपगमात्सत्त्वे पुरुषार्थहेतुत्वमपि तस्य तदभ्युपगमादेवास्तु । तन्न जगति किञ्चिदपुरुषार्थसाधनं यत्परिज्ञानं सर्वज्ञस्यापरीक्ष्यं भवेत् । ततो निराकृतमेतत्–"पुरुषार्थज्ञतामात्रात् सम्पूर्णं शासनं मतम्" [प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इति, मात्रशब्दस्य व्यवच्छेद्याभावेन वैयर्थ्यात्, सर्वज्ञानस्यापि पुरुषार्थज्ञानत्वात्, तदपि साक्षात्पारम्पर्येण वा सर्वस्य यत्परिज्ञानं पुरुषार्थहेतुत्वात् । अत एवोक्तमलङ्कारकृता–"न च कार्यकारणभावमविवृत्त्य परस्परं सकलं जगज्जायते" [प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इति । स्वयम् एवं वचनात् सर्वज्ञानस्य पुरुषार्थज्ञानत्वमुररीकुर्वन्नेव अपुरुषार्थज्ञानमपि किञ्चिच्चेतसि कृत्वा तद्व्यवच्छेदार्थं मात्रशब्दमभ्युपादत्त इति प्रज्ञाकरव्यपदेशमात्मनि अन्धे सुलोचनव्यवहारसदृशमावेदयति ।

यत्पुनरेतत्–

"सर्वं जानातु सर्वस्य वेदको न निषिध्यते ।
नास्माभिः शक्यते ज्ञातुमिति सन्तोष इष्यते ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।३३] इति,

तत्र चक्षुःसत्यवेदनं सर्वविदः कुतोऽवसितम् ? प्रमाणसंवादिनस्तत्सत्योपदेशादिति चेत्; सर्वे एव सर्ववेदनमप्यवसातव्यं तस्य तेनान्तरीयकत्वादित्युक्तत्वात् । ततः सूक्तम्–'सर्ववेदनस्य सप्रयोजनत्वात्' सुज्ञानत्वात् तदर्थमशेषविषयमेव प्रमाणमभ्यसितव्यं न नियतविषयमनुमानमिति ।

१–परिज्ञानं यस्य तस्यैव । २ –वयेन– आ०, ब०, प०, स० । ३ भगवता– आ०, ब०, प०, स० । ४ –दैवेतो आ०, ब०, प०, स० । ५ बीजात्म–आ०, ब०, म० । ६ "न स कश्चित् पृथिव्यादेरंशः प्रदेशो यत्र जन्तवः संस्वेदजाद्या आपदप्रमाणाः सूक्ष्मशरीरप्रभृतयो न जायन्ते ततः सर्वभूतपरिणतिजातं भावादिभक्षणे बीजात्मकमिति नास्ति बीजविरहितमभक्षणा कस्यचित् ।" –प्र० वा० म० १।३९ । ७ चेतनवर्गाधिकरणस्य पृथिव्यादेः । ८ मूर्तेन । ९ पृथिव्याद्यधिकरणचेतनसमूहनिष्ठ । १० द्रष्टव्यम्–तत्त्वसं० पं० ९१०– । ११ निराकृतमे–आ०, ब०, प०, स० । १२ वैयर्थ्यं तद–आ०, ब०, म० । १३ व्यवच्छेद्याभावात् । १४ सर्वज्ञानस्य पुरुषार्थज्ञानत्वमपि । १५ सर्वस्य प्राणिनः यत्किञ्चिदपि परिज्ञानं भवति तत्सर्वमपि साक्षात् परम्परया वा पुरुषार्थोपयोग्येवेत्यर्थः । १६ प्रज्ञाकरः । १७ चेन्न तत्र आ०, ब०, प०, स० । १८ अविसंवादित्वप्रत्याभ्यासेन वेद्यते । १९ सर्ववेदनप्रतीतिमात्राभावात् । २० –सावन–आ०, ब०, प०, स० ।

सामान्यप्रतिभासित्वं यदि योग्यतया[1] भवेत् ।
अनुमानस्य [2]सम्बन्धनियमस्ते विहन्यते ॥ ६४ ॥
[3]तदभ्यासेन तत्रापि तत्सामान्यस्य दर्शने ।
निर्विकल्पकमध्यक्षं न सिद्धिपथमृच्छति ॥ ६५ ॥
अथ तत्प्रतिभासित्वं नानुमानस्य ते मतम् ।
विलक्षणस्य यत्तत्र[4] स्वरूपस्यावभासनम् ॥ ६६ ॥
अध्यक्षमेव तत्प्राप्तम् नानुमानं तथा सति ।
कस्याभ्यासादिदानीं स्यात्तत्त्वदर्शी तथागतः ॥ ६७ ॥
अध्यक्षाभ्यासचिन्ता तु प्रागेव विनिवारिता ।
तन्न सामान्यभासित्वमन्तरेणानुमास्ति वः ॥ ६८ ॥

स्यान्मतम्[5]–न सामान्यं नाम अनुमानादिविकल्पादन्यदस्ति प्रमाणाभावात्, तत्प्रतिबिम्बमेवं[6] केवलमव्यतिरिक्तमबाह्यमनन्वितमपि व्यतिरिक्तमिव बाह्यमिवान्वितमिव चानादिवासनासामर्थ्यादध्यवसीयते, ततोऽभ्यासपाटवे सति सकलविप्लवव्यपगमादव्यतिरिक्तादिरूपस्यैव तस्यँ[7] दर्शनात् कुतस्तद्दर्शनस्य सविकल्पकत्वमिति ? तन्न सारम् ; व्यतिरिक्तादिरूपतया गृहीतस्याभ्यासादपि तथैव[8] दर्शनोपपत्तेः। न हि तद्रूपतया[9]ऽभ्यस्तमन्यथा द्रष्टुं शक्यमतिप्रसङ्गात्। अभ्यासोऽपि तस्यान्यथैवेति[10] चेत् ; न; तथा गृहीतस्यैव तत्सम्भवात्, अन्यथा[11] विद्यमानतया गृहीतस्य कामिन्यादेरन्यथाभ्यासात्[12] तद्दर्शनमप्यन्यथैवं[13] स्यादिति निरस्तमेतत्–"पश्यति (न्ति) पुरतोऽवस्थितानिव[14]" [प्र० वा०] इति ; पुरतोऽवस्थितत्वस्य[15] अविद्यमानतया दर्शनस्य च विरोधात्। अथ कदाचिद्विद्यमानतयापि कामिन्यादेरभ्याससम्भवात् तद्दर्शनं पुरोऽवस्थितत्वेन पठ्यते; तर्हि सामान्यस्यापि व्यतिरिक्तादिरूपतया कदाचिदभ्याससम्भवात् सविकल्पकमपि [16]तद्दर्शनं पठ्यतामविशेषात्। न पूर्वमपि सामान्यस्य [17]व्यतिरिक्तादिरूपमनुमानावगतमस्ति यतस्तदभ्यासाद्दर्शनमपि [18]तस्य [19]तथैव स्यादिति चेत् ; कुतस्तर्हि [20]तस्य तद्रूपमवगतम् ? वासनाबलावलम्बिनो विकल्पान्तरादिति चेत्; न; तेनापि स्वतस्तस्य [21]तथाऽवगमे अनुमानेनापि स्यादविशेषात्। तत्रापि[22] विकल्पान्तरादेव[23] तदाकारस्य व्यतिरिक्तादिरूपावगमो न स्वत इति चेत् ; न; तत्रापि[24]

---

१ तदाकारेण विनापि । २ तदुत्पत्ति-तादात्म्यान्यतरलक्षणसम्बन्धनियमः । ३ अनुमानाभ्यासेन । ४ अनुमाने । ५ "तत्स्वभावविकल्पा धीस्तदर्थे वाप्यनर्थिका । विकल्पिकाऽतत्कार्यार्थभेदनिष्ठा प्रजायते ॥ तस्यां यद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यतः । व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षानङ्गभावतः ॥ अर्था ज्ञाननिविष्टास्त एवं व्यावृत्तरूपकाः । अभिन्ना इव चाभान्ति व्यावृत्ताः पुनरन्यतः ॥"–प्र० वा० ३।७५, ७६, ७७। ६ विकल्पप्रतिबिम्बितमेव । ७ विकल्पाकारभूतस्य सामान्यस्य । ८ व्यतिरिक्तादिरूपेणैव । ९ व्यतिरिक्तादिरूपतया । १० अव्यावृत्तादिरूपेणैव । ११ अन्यथा गृहीतस्य अन्यथाऽभ्यासेन अन्यथा दर्शनसम्भवे । १२ अविद्यमानतयाऽभ्यासात्। १३ अविद्यमानत्वेनैव । १४ "कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः । अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥" –प्र० वा० २।२८२ । १५ –स्य विद्यमान– ता०। १६ सुगतदर्शनम् । १७ –व्यतिरिक्तादि– आ०, ब०, प०, स० । १८ सामान्यस्य । १९ व्यतिरिक्तादिरूपेण । २० सामान्यस्य । २१ व्यतिरिक्तादिरूपेण । २२ विकल्पान्तरेऽपि । २३ सामान्याकारस्य। २४ अनन्तरोक्तविकल्पान्तरेऽपि।

'येनापि' इत्यादेरावृत्तेश्चक्रकादनवस्थानाच । ततो [1]'निराकृतमेतत्–"मुख सर्वत्र बुद्धिरूपमध्यारोप्यते ततः [2]'सामान्यमन्यापोहोऽवस्त्वंशश्च" [प्र० वार्तिकाल० २।१७०] इति, तदध्यारोपस्योक्तप्रकारेणावगन्तुमशक्यत्वात् ।

ततोऽनुमानमन्यं वा विकल्पं परिकल्पयन् ।
तत एव तदाकारग्रहणं वक्तुमर्हति ॥६९॥
तत्र सिद्धं तदभ्यासात् स्पष्टं सामान्यदर्शनम् ।
सविकल्पं तदभेदं प्रतिपिद्धं[3] तयो(त्वयो)दितम्[4] ॥७०॥
"तस्माद्भूतमभूतं वा यद्यदेवातिभाव्यते ।
भावनापरिनिष्पत्तौ तत्स्फुटाकल्पधीफलम्"॥७१॥
[5]स्फुटकल्पधियोऽप्येवं तत्फलस्योपवर्णनात् ।
विकल्पानभ्युपाये च नानुमानस्य सम्भवः ॥७२॥
तरव्य तदनुष्ठानात्तत्त्वदर्शी तथागतः ।
यतस्तस्य प्रमाणत्वं भवता परिकल्प्यताम् ॥७३॥
ततोऽनुमानादभ्यस्तात्सर्ववित्तत्त्वदृग् यदि ।
सामान्यदर्शी सम्प्राप्तो विकल्पोपहतश्च सः ॥७४॥

किञ्च, वस्तुन्यनुमानैकरूपादौ [8]रसादेरपि प्रतिबन्धात् [9]तदभ्यासतो रूपादिदर्शनमपि भवेत् । रूपाद्यवभासित्व न रसादेरिति चेत्, वस्त्ववभासित्वमपि नानुमानस्येति समानम्, अन्यथा[10] प्रत्यक्षाविशेषप्रसङ्गात् । लेशतस्तदवभासित्व[11] [12]तस्यास्त्येवेति चेत्, न, निरंशत्वेन वस्तुनो लेशाभावात् । कल्पितो लेश इति चेत्, न तर्हि तस्य लेशतोऽपि वस्त्ववभासित्वम्, कल्पितस्यावस्तुरूपत्वात् । [13]एकत्वाध्यवसायाद्वस्तुरूपत्वमिति चेत्, न, एकत्वस्यापि कल्पितत्वेनावस्तुरूपत्वात् । [14]तस्याप्येकत्वाध्यवसायाद्वस्तुरूपत्वमिति चेत्, न, 'एकत्वस्यापि' इत्यादेरपुनःपुन्येन चक्रकस्यानवस्थानस्य च प्रसङ्गात् । तन्न लेशतोऽपि [15]तस्य वस्त्ववभासित्वम् । [16]तथापि तदभ्यासाद्वस्तुदर्शने रसाद्यभ्यासाद्रूपादिदर्शनमपि स्यात् प्रतिबन्धाविशेषात् रूपादीनामेकसामान्यधीनत्वात्, तथा च कथमन्धादिव्यवहारः ?

अन्धो न सोऽस्ति लोके यो रसाद्यभ्यासवर्जितः ।
अभ्यासोऽपि स नो यस्मात्र सम्प्राप्तार्थदर्शनम् ॥७५॥
ततोऽन्धस्यापि रूपे स्यादवश्यं [17]दर्शनं ततः ।
तथा चान्धव्यवस्थेयं विनष्टा सार्वलौकिकी ॥७६॥
अनन्योऽप्यप्रकारस्थो रसमास्वादयन् अतः ।

१ निराकृतमेत– आ०, ब०, प०, स०। २ "सामान्यमन्यापोहो वस्त्वंशश्चेति"–प्र० वार्तिकाल०। ३ तयोदि–प०। ४ प्रमाणवार्तिके (२।२८५)। ५ सविकल्पधियो। ६ –दर्शित्वप्रसङ्गो आ०, ब०, प०। ७ –भावादिव– आ०, ब०, प०, स०। ८ रसादेरप्यनुभ– आ०, ब०, प०, स०। ९ रसाद्यभ्यासतः। १० रसाद्यवभासमपि नोऽनुमानस्य। ११ वस्त्ववभासित्वम्। १२ अनुमानस्य। १३ कल्पितांशस्य वस्तुना एकत्वाध्यवसायात्। १४ एकत्वस्यापि। १५ अनुमानस्य। १६ वस्त्ववभासित्वेऽपि। १७ दर्शनात्ततः आ०, ब०, प०, स०।

असाक्षात्कारिता चास्य[1] तत्त्वज्ञानस्य कारणात् ।
भवतीति वदिष्यामः शिष्य विश्वस्यतामिदम् ॥९२॥

नोपवर्णितप्रमाणाभ्यासात् भगवतो निरवशेषतत्त्वज्ञानम्, अपि तु तदावरण[2]विगमादिति चेत् ; न; तस्य[3] तदव्यतिरेकात् । सकलावरणविगमो हि न सकलज्ञानादन्यः, तज्ज्ञान-कैवल्य[4]रूपत्वात् तदावरणवैकल्यस्य, नीरूप[5]स्याभावस्यानभ्युपगमात् । न च तदेव तस्य कारणम्; सदसत्समयविकल्पानुपपत्तेः[6] । तथा हि-

यदाऽस्ति सकलज्ञानं तदा किं तेन हेतुना ? ।
सिद्धं न हेतुसापेक्षं सिद्धमेवान्यथा न तत् ॥९३॥
यदापि नास्ति तज्ज्ञानं तदा कस्य क हेतुता ।
न ह्यसत् खरशृङ्गादि[7] स्वरूपेऽन्यत्र वा क्षमम् ॥९४॥ इति ।

स्यान्मतम्-सकलज्ञानप्रथमपर्याय एव तदावरणविश्लेपात्मा तत्समय[8] एव तत्पूर्वकालभाविनिरवशेषावरणप्रध्वंसनाद् अन्धकारविश्लेपात्मकप्रदीपप्रथमपर्यायवत्, उत्तरस्तु तत्पर्यायो[9] न तद्विश्लेपात्मा ततः पूर्वमावरणस्यैवाभावात् । न ह्यविद्यमानं कचिद्विश्लिष्टमुपश्लिष्टं वेति व्यपदेशमर्हति वस्तुसद्गोचरत्वात् तद्व्यपदेशस्य, अवस्तुत्वे सति तदयोगात् । स[10] तु तद्विश्लेपात्मनः प्रथमतत्पर्यायादेव अन्धकारविरहात्मप्रदीपपर्यायात्तदुत्तरपर्यायवत् तस्यैव[11] तद्रूपेण परिणामाद्भवति ततस्तदावरणविगमस्य तत्कारणत्वमुच्यते[12] । न चेदमत्र मन्तव्यम्-तदुत्तरोत्तरस्य तर्हि तत्पर्यायस्य तद्विश्लेपहेतुकत्वं न स्यात् पूर्वपूर्वस्य तत्कारणपर्यायस्यावरणप्रध्वंसाधिकरणत्वाभावादिति; तस्यापि[13] तद्विश्लेपप्रभवपर्यायवंश्यत्वेन तद्धेतुकत्वा[14]विरोधादिति; तदपि न सम्यग्ज्ञातम्; तद्विश्लेपकारणावचनात्[15] । प्रथमस्य हि निरवशेषावरणविश्लेपस्य हेतुर्वक्तव्यः, तदहेतुकत्वासम्भवात् । तत्पूर्वभावी तद्विश्लेप[16] एव तद्धेतुरिति चेत् ; न; तस्यापि[17] तद्धेतुत्वे अनादितद्विश्लेपस्यानिष्ट[स्य] प्रसङ्गात् । आवरणोपश्लेपनिधा[18](दा)नभूतमिथ्याज्ञानविरोधी सम्यग्ज्ञानाभ्यासस्तद्धेतुरिति[19] चेत्; अनुकूलमाचरसि, तदभ्यासस्यैव प्रमाणाभ्यासत्वात् । रत्नत्रयादावरणविश्लेपो[20] न तदभ्यासादिति[21] चेत् ; न; तस्यैव रत्नत्रयत्वात् । आदरोपगृहीतस्य तत्त्वज्ञानपरिमलनस्य[22] तदभ्यासव्यपदेशात्[23], प्रशब्देन[24] च प्रकर्षवाचिना तस्याप्यभिधानात् । कुतः पुनरावरणोपश्लेपविगमकारणत्वं प्रमाणाभ्यासस्यावगतमिति चेत् ? 'आवरणोपश्लेपनिदानविरो-

१ अनुमानस्य । २ ज्ञानावरण । ३ आवरणविगमस्य । ४ कैवल्यं प्रतियोग्यसंसृष्टत्वम्, प्रकृते च आवरणरहितत्वम् । ५ तुच्छस्य । ६ सदसत्त्वमयवि-आ०, ब०, प०,म० । तद्धि कारणं भवत् कार्यकाले वा स्यात्, कार्याभावकाले वा ? ७ ह्यसद्व्योमम्र-आ०,ब०,प०,स० । ८ प्रथमपर्यायकाल एव । ९ सकलज्ञानपर्यायः । १० उत्तरः सकलज्ञानपर्यायः । ११ प्रथमपर्यायस्यैव उत्तरपर्यायरूपेण । १२ परम्परया । १३ द्वितीयपर्याय । १४ आवरणविश्लेपहेतुकत्व । तद्धेतुत्वावि-आ०, ब०, प०, स० । १५-कारणवचनात् आ०, ब०, प०, ता० । १६ आवरणविश्लेपः । १७ तत्पूर्वभाविनो विश्लेपस्यापि स्वपूर्वभाविविश्लेपहेतुकत्वे अनादितद्विश्लेपकल्पनायामनवस्थेति भावः । १८-पदिधान-ता० । १९ आवरणविश्लेपहेतुः । २० सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि रत्नत्रयम् । २१ सम्यग्ज्ञानाभ्यासात् । २२-परिमेलनस्य आ०, ब०, प०, स० । दृढाभ्यासस्य । २३ सम्यग्ज्ञानाभ्यास । २४ प्रसिद्धारोपेति प्रशब्देन ।

भित्वात्[1] इति ब्रूमः। तथाहि–यत् यत्कारणविरुद्धं तत्तस्याभावकारणम् यथा शीतस्पर्शविरोधी दहनः तत्स्पर्शहेतुकस्य रोमहर्षादेः, आवरणोपश्लेषकारणमिथ्याज्ञानाभिनिवेशविरोधी च सम्यग्ज्ञानाभ्यास इति कारणविरुद्धोपलब्धेः [2]अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयवत्याः सुनिश्चित एव प्रमाणाभ्यासस्यावरणविश्लेषं प्रति कारणभाव इति।

यथास्त्यावरणं तस्य मिथ्याज्ञानं च कारणम्।
तथा तृतीये वक्ष्यामः सा हि तद्विस्तरैषिभिः ॥९५॥

तदनेन श्लोकस्य प्रथमपादेन भगवतः स्वार्थसम्पत्कारणमुक्तम्।

स्यान्मतम्–निःशेषवस्तुविषयज्ञानजनितं भगवद्वचनं निःशेषार्थमेव स्यान्न नियतार्थम्, नियतार्थज्ञानजनितं हि वचनं नियतार्थं स्यात्। न च भगवतो नियतार्थं वेदनमस्ति। नियतार्थत्वञ्च वचनेषु दृश्यते। न खलु सर्वं तद्वचनं सर्वार्थमेव प्रतीतिबाधनात्, [3]वचनान्तरवैयर्थ्येन [4]प्रबन्धविलोपप्रसङ्गाच्चेति, तन्न; सर्वविषयत्वेऽपि तज्ज्ञानस्य प्रदेशतो नियतविषयत्वस्यापि भावात्[5]। सप्रदेशं हि तज्ज्ञानम् "आत्मनाऽनेकरूपेण" [न्याय वि० श्लो० ९] इति वचनात्। तत्प्रदेशयौगपद्ये तन्निमित्तसकलवचनयौगपद्यमिति चेत्, न, प्रतिपित्सुप्रश्नसहायस्यैव तत्प्रदेशस्य वचनकारणत्वात्। न च प्रतिपित्सु सर्वमेव पृच्छति। ततस्तत्प्रदेशनिमित्तस्य वचनसन्दर्भस्य नियतार्थत्वमित्येतत् [8]प्रतिबुद्धग्रहणेन प्रतिव्यक्तिनियतभगवत्प्रबोधप्रदेशवाचिना कथयति। ततो नेदमत्र दूषणं प्रज्ञाकरस्य–

"सर्वार्थदर्शनायातः शब्दः सर्वार्थवाचकः।" [प्र० वार्तिकाल० १।९] इति।

एकग्रहणेन तु सकलप्रदेशाक्षुण्णनिखिलवस्तुगोचरभगवत्प्रबोधप्रदेशवाचिना तन्निमित्तस्य तत्सन्दर्भस्य सर्वार्थत्वं दर्शयति। 'सर्वार्थ' इत्यादि पुनरस्मिन् पक्षे अनुकूलत्वादेव न दूषणम्। अत एवोक्तम्–

"स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।" [आप्तमी० श्लो० १०५] इति।

मूर्त्तिग्रहणं तु ज्ञानवत्तस्यैवावबोधार्थम्, अन्यथा [11]तत्सायोगस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तदनेन द्वितीयपादेन स्वार्थसम्पन्निवेदिता।

श्रीवर्द्धमानशब्देन तु [12]निरतिशयापदानकर्मपरमवैराग्यादिसम्पद्वाचिना भगवदाम्नायस्य प्रामाण्यमावेदयता परार्थसम्पत्कारणमभिहितम्। परमवीतरागस्योपदेश[14] एव कस्मात्? निग्रहबुद्धिवदनुग्रहबुद्धेरपि [15]तस्याऽसम्भवात्, अवीतरागत्वप्रसङ्गादित्यत्रेदमाह–भव्याम्बुरुहभानवे। भव्यानामम्बुरुहत्वेन रूपणं विकासयोग्यतासाधर्म्यात्, भानुत्वेन भगवतो रूपणं तत्प्रबोधनप्रवृत्तिसामान्यसाधर्म्यात्। स्वभाव एव ह्ययं तस्य यत्सर्वदर्शी वीतरागोऽपि

१ अन्यथा साध्याभावे अनुपपत्तिरभावः साधनस्य, अविनाभावनियम इत्यर्थः। २–पपत्तिः आ०, ब०, प०, स०। विवरणस्थलम्। ३ वचनान्तर–आ०, ब०, प०, स०। ४ उपदेशावसरम्वर्ग। ५ –त प्रदेश–आ०, ब०, प०, स०। सोपाम्। ६ युगपत्। ७–यार्थमि–आ०, ब०, प, स०। ८ प्रतिपुदेश्यूतंस इति प्रतिबुद्धपदेन। ९ प्रज्ञाकरगुप्तस्य वचनम्। १०–भेदावबोधार्थम् आ०।–भेदार्थम् ब०, प०, स०। ११ शास्त्रादौ–आ०, ब०, प०। १२ अतिशयपरकर्म। १३–सम्पत्साधि–स०। १४ परमवीतरागस्य भगवतः। १५–तो निरूप–आ०, ब०, प०, स०।

भव्योपदेशे व्याप्रियते । न हि स्वभावाः पर्यनुयोगमर्हन्ति भावानां निःस्वभावतापत्तेः । स च तत्स्वभावः तत्कार्या[1]दाम्नायादेवावगम्यते, त[2]स्यापौरुषेयस्य निषेधात् । अनेन च परार्थसम्पत्स्वरूपं निरूपितम् । ततः सूक्तमेतदर्थतो देवस्य[3]–

"यो निःशेषपदार्थतत्त्वविषयज्ञानाभियोगादभूत्,
प्रत्यर्थस्फुरितप्रदेशविशदज्ञानैकमूर्त्तिर्जिनः ।
वैराग्यातिशयाद्यचिन्त्यविभवात्सत्योद्यवादी च यः,
तस्मै भव्यसरोजतिग्मरुचये भक्त्या नमस्कुर्महे ॥" [ ] इति ।

अथ यदि भगवतो भव्याम्बुरुहभानुत्वं तत्तर्हि [4]वाङ्मयमयूखसापेक्षमेव नान्यथा । न हि तत्सन्निधानादनुपदेशमेव भव्यानां तत्त्वज्ञानमिति [5]सौगतवत् स्याद्वादिनामभिनिवेशोऽस्ति, ततस्तद्वाङ्मयादेव[6] तत्त्वज्ञानसिद्धेर्वाङ्मयमिदं[7]मपार्थकम् । न ह्येकवाङ्मयसाध्ये तदन्तरमुपयोगवत् । तत्रापि तदपरापरवाङ्मयोपयोगपरिकल्पनायाम् अनवस्थाप्रसङ्गादिति । तत्रेदमाह–

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः ।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥२॥ इति ।

इदमत्र तात्पर्यम्–भवति भगवद्वाङ्मयादेव भव्यानां तत्त्वज्ञानम् । यदि [8]तद्व्याप्य-(तद्व्याप्य-) मलिनीकृतमेव स्थितम् । न चैवम् । न च मलिनीकृतस्य[9] [10]भव्यजनमनसि तत्त्वावद्योतनसामर्थ्यं सम्भवति, परिशोधितमलस्यैव तस्य[11] निरवद्यविद्यानिबन्धनत्वात् । अतस्तन्मलपरिशोधनार्थमिदपरं[12] वाङ्मयमारभ्यमाणं नापार्थकत्वदोषमुद्वहति प्रयोजनविशेषसम्भवात् ।

[13]यस्य तु [14]शब्द[ः]स्वरूपं स्वार्थञ्च यथावस्थितमवद्योतयति[15] तस्य भवत्येव तत्र शास्त्रस्यान्यस्य वानुपयोगित्वं प्रयोजनविशेषवैधुर्यात् । तथा हि–

शब्दश्चेदात्मनस्तत्त्वं स्वरवर्णक्रमादिभिः ।
द्योतयेत् स्वमहिम्नैव प्राप्तं व्याकरणं वृथा ॥९६॥
यतो वेदस्य नित्यस्य स्वत एवावबोधिते ।
स्वरूपे न भवन्त्येव मिथ्यात्वाज्ञानसंशयाः ॥९७॥
तदभावे न तस्यास्ति प्रत्यवायस्ततः कुतः ।
क्रियते वेदरक्षार्थं कैश्चिच्छब्दानुशासनम्[16] ॥९८॥

---

१ उपदेशाम्नायात् । २ आम्नायस्य शास्त्रोपदेशस्य । ३ अकलङ्कदेवस्य । ४ वाङ्मयूख–आ०, ब०, प०, स० । ५ "सम्भारावेधतस्तस्य पुंसश्चिन्तामणेरिव । निःसरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योपि देशनाः ॥"–तत्त्वस० श्लो० ३६०८ । ६ भगवदुपदेशादेव । ७ एतद्ग्रन्थात्मकम् । ८ यदि भगवद्वाङ्मयमद्य यावत् निर्मलमेव स्यात् । ९ भगवदाम्नायस्य । १० भव्यजनस्य म–आ०, ब०, प०, स० । ११ भगवदाम्नायस्य । १२ एतद्ग्रन्थात्मकम् । १३ मीमांसकस्य । १४ वेदः । १५–तमेव द्योतयति आ०, ब०, प०, स० । १६ "रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्"–पा० म० पस्प० ।

स्वतो हि निर्मलज्ञाने जाते तत्र प्रदीपवत् ।
नाज्ञानादिमलं तस्मिन् हेत्वन्तरक्षयादपि ॥९९॥
एतेन व्यञ्जकारत्तस्मिन् वेदे व्यर्था निरूपिताः ।
स्वतो हि तस्याभिव्यक्तौ व्यञ्जके किं प्रयोजनम् ? ॥१००॥
आवारकप्रतिध्वंसो व्यञ्जकैर्यदि वर्ण्यते ।
स्वतस्तद्रूपविध्वंसश्चेत् , कुर्वन्त्यावारकाश्च किम् ॥१०१॥
शक्तिध्वंसे त्वनित्यत्वं वेदस्य स्यात्तदात्मनः ।
शक्तिर्भिन्नैव तस्माच्चेत् [1]स्वतोऽसौ बोधकः कथम् ? ॥१०२॥
शक्तेरेव यदि ज्ञानं वेदस्य व्यर्थता भवेत् ।
माहात्म्यात्तेन वैयर्थ्यम् , अहेतोः[2] माहात्म्यता कथम् ? ॥१०३॥
वेदोऽपि शक्तिसम्बन्धाद्धेतुश्चेद्बोधजन्मनि ।
[3]तत्सम्बन्धोऽपि तद्भिन्नस्योपकाराद्भवेत् कथम् ? ॥१०४॥
अशक्तस्योपकर्तृत्वे पूर्वशक्तिर्वृथा भवेत् ।
[4]शक्तिरस्ति विभिन्ना चेत्सैव स्यादुपकारिणी ॥१०५॥
वेदोऽपि [5]शक्तिसम्बन्धादुपकारी यदीष्यते ।
[6]प्रसङ्गः पूर्व एव स्यादनवस्थाभयप्रदः ॥१०६॥
तस्मादभिन्ना तच्छक्तिर्नित्या सा च व्यनक्ति तम् ।
तत्तदावृत्यभिव्यक्ती नान्यतो युक्तिमृच्छतः ॥१०७॥
न [10]चान्यथाकृतिस्तस्य [11]शाश्वतस्योपपद्यते ।
[12]अनाधेयादिरूपत्वात् कूटस्थस्य विशेषतः ॥१०८॥
अज्ञानम्वेदसामर्थ्यं [13]भट्टस्तदिदमब्रवीत् ।
"अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्"[मी०श्लो०१।१।२।१५०]इति।
अन्यथाकरणस्यैवासम्भवादुक्तनीतितः ।
नाप्राप्तस्य निषेधोऽयं निषेधः प्राप्तिपूर्वकः ॥११०॥

किञ्च,

अन्यथाकरणं चैतत्स्वरूपमनुयायति ।
तदपौरुषेयमेव स्यात्पुरुषेणान्यथाकृतेः ॥१११॥

---

1 तस्मिन् वेदे अभिव्यक्तिशक्तिः । 2 शब्दात्मन । 3 सतोऽसौ आ०, ब०, प०, म० । 4 समानुत्पादकस्य । 5 अभिव्यञ्जकस्य । यतः भिन्नयोः उपकार्योपकारकभावं विना सम्बन्धासम्भवात् । 6 यदि वेदोऽशक्तोऽपि शक्त्युपकारं कुर्यात् तदा सर्वोत्पत्तिमपि विदध्यादिति सर्वोत्पादकत्वापत्तेः पूर्वशक्तेर्वैयर्थ्यं स्यात् । 7 वेदे पूर्वशक्त्युपकारिका अन्या शक्तिर्वेदने परं सा भिन्ना । 8 पूर्वशक्त्युपकारकशक्तिसम्बन्धात् । 9 वेदः भिन्नशक्त्या सन् शक्त्युपकारं करिष्यति शक्त्या वा ? शक्त्या चेत् ; सा तर्हि भिन्ना, तत्रापि तस्य पार्थक्यात् शक्तिः परिकल्पनीयेत्यनवस्था । 10 अन्यथाकरणम् । 11 नित्यस्य । 12 यदि नित्ये अभिव्यक्तिनियामकं आधेयमपि नास्ति तस्मात् कथम् मदीयत्वे, अनाधेयातिशयत्वाभिव्यक्तस्य । 13 भाट्टाः आ०, ब०, प०, म० ।

यद्यन्यथाकरणं वेदस्वरूपमनुधावति; तत्तर्हि पौरुषेयमेव स्यात्, पुरुषेणान्यथाक्रियमाणत्वात् कलशादिवत्। अथ नानुधावति पुरुषकृतस्यान्यथाभावस्य वेदादन्यत्वादिति चेत्; कथं तर्हि कथितम्[1] 'अन्यथाकरणे चास्य' इति ? न हि तस्माद[2]र्थान्तरं तस्येति सम्बन्धाभावे [3]व्यपदेशमर्हति। न सम्बन्धात् तत्तस्येति व्यपदेशः, अपि तु पुरुषाभिप्रायादेव[4], निवारणस्यापि बहुभिस्तत्रैव करणादिति चेत्; कुतस्तेभ्यस्तन्निवारणम् ? तेषां [5]वेदेत्थम्भावपरिज्ञानादिति चेत्; त[6]दपि न प्रत्यक्षात्; तत्र वेदेतरसाधारणस्यैव वर्णपदादेः प्रतिभासनात्। सम्प्रदाया[7]च्चेत्; कुतस्तस्यै[8]व सत्यत्वं नानित्थम्भावसम्प्रदायस्यापि ? वेदस्य तथैव सत्यत्वाच्चेत्; तदपि कुतः ? तत्सम्प्रदायस्य सत्यत्वाच्चेत्; न; परस्परा[9]श्रयात्। अनादित्वादित्थंसम्प्रदाय एव सत्यो नान्य इति चेत्; तदपि कुतोऽवसितम् ? अनादिः काल इत्थंसम्प्रदायवान् कालत्वात् अद्यकालवदिति चेत्; न; अन्यत्रापि साम्यात्– अनादिः कालः अन्यथासम्प्रदायवान् कालत्वात् अद्यकालवदिति। साध्यविकलं निदर्शनम् अद्यकालस्यान्यथासम्प्रदायवत्त्वादर्शनादिति चेत्; कस्य तर्हि निवारणम् ? येनोच्यते–'अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्' इति। न ह्यन्यथासम्प्रदायादन्यद् अन्यथाकरणं नाम। तस्मादनादित्वाद् इत्थंसम्प्रदायवद् अन्यथासम्प्रदायस्यापि सत्यत्वादनिवारणमेव स्यात्। अबहुजनपरिगृहीतत्वात् असत्य [10]एवायम् अत एव 'बहुभ्यस्तन्निवारणम्' उच्यत इति चेत्; न; म्लेच्छादीनां धर्मसम्प्रदायस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्, उक्तनीत्या तस्याप्यनादित्वाद्बहुजनपरिग्रहाच्च[11]। भूयांसो हि म्लेच्छादयः तेषां याज्ञिकापेक्षयातिशयेन बहुत्वात्, तत्कथं जीवति तत्सम्प्रदाये चोदनाया एव धर्मे प्रामाण्यम् ? पौरुषेयत्वादप्रमाणमेव स[12] इति चेत्; न; वेदेत्थम्भावसम्प्रदायस्यापि पौरुषेयत्वाविशेषात्। गुणवत्कृतोऽयमिति[13] चेत्; कः पुनरत्र [14]सम्प्रदातुर्गुणः ? वेदतत्त्वज्ञानमेव अन्यस्यानुपयोगादिति चेत्; कुतस्तस्य[15] तज्ज्ञानम् ? सम्प्रदायान्तराच्चेत्; न; धर्मतत्त्वज्ञानस्यापि म्लेच्छादिषु तथाभावात् [16]तेषामपि गुणवत्त्वापत्तेः। तन्न सम्प्रदायाद्वेदविवेचनम् अन्यथाऽपि तत्सम्प्रदायात्। तस्माद्वेदस्य स्वावद्योतनस्वभावत्वादेव विवेचनं नान्यथा। न च [17]तत्रान्यथाकरणं कुतश्चिदपीति व्यर्थं तन्निवारणार्थमन्यापेक्षणम्। तथा–

स्वभावादेव वेदस्य स्वार्थावद्योतकारिणः।
किं परापेक्षया कार्यं व्याख्यानादि यदिष्यते ॥११२॥

व्याख्यानादिसहायाच्चेद्वेदात् स्वार्थे मतिर्भवेत्।
नियतो यदि तस्यार्थो व्याख्याभेदः कथं तथा ? ॥११३॥

---

१ कुमारिलभट्टेन। २–दर्थान्तरस्येति आ०, ब०, प०, स०। ३ तस्येदमिति व्यपदेशम्। ४ पुरुषाभिप्राय एव। ५ वेदेऽर्थभावनापरि–आ०, ब०, प०, स०। ६ वेदेत्थम्भावपरिज्ञानमपि। ७ इत्थम्भावसम्प्रदायस्यैव। ८ इत्थम्भूतत्वेनैव। ९ सति हि सम्प्रदायसत्यत्वे वेदस्य इत्थम्भूतत्वेन सत्यत्वसिद्धिः, सति च तस्मिन् सम्प्रदायसत्यत्वसिद्धिरिति। १० अनित्थम्भावसम्प्रदायः। ११–परिगृहीतत्वाच्च आ०, ब०, प०, स०। १२ म्लेच्छसम्प्रदायः। १३ वेदेत्थम्भावसम्प्रदायः। १४ सम्प्रदायप्रवर्तकस्य। १५ सम्प्रदायकर्तुः। १६ म्लेच्छानामपि। १७ नित्यवेदस्वरूपे।

अस्ति चार्थं यदत्येको[1] धर्मं द्रव्यगुणादिकम् ।
वेदवादी परो[2] धर्ममपूर्वाख्यं वदत्यलम् ॥११४॥
श्येनस्यानर्थरूपत्वादधर्मत्वं प्रपद्यते ।
भाष्यकारस्तथान्येको[3] नैवमित्यवगच्छति ॥११५॥
वधस्य विहितस्यापि चोदनाया दुःखहेतुताम् ।
श्रेयस्करत्वमन्ये[4] तु मन्यन्ते वेदवेदिनः ॥११६॥
एवमादिः परोऽप्यस्ति तद्व्याख्याभेदविस्तरः ।
तत्र न ज्ञायते किं तद्व्याख्यानं वस्तुगोचरम् ? ॥११७॥
न चाविदिततत्त्वार्थव्याख्यानसहकारिणः ।
वेदात्तत्त्वं प्रपद्यन्ते प्रेक्षावन्तो विचक्षणा ॥११८॥
वेदस्य नियतार्थत्वात्तद्विज्ञातार्थबोधनः ।
न च सर्वोऽपि तैर्वेदस्तत्त्वार्थ इति युज्यते ॥११९॥
तत्त्वार्थं यदि मन्येथाः व्याख्यानं युक्तिसङ्गतम् ।
वेदात्मा यदि सा युक्तिः सर्वं तद्युक्तिसङ्गतम् ॥१२०॥
सर्वव्याख्यानुकूल्येन स समर्थं वदत्ययम् ।
वेदो न ह्येष तद्भेदे क्वापि दृष्टः पराङ्मुखः ॥१२१॥
युक्तिरन्यैव वेदाच्चेत्साऽपि वेदार्थं दर्शयति ।
[9]तदा धर्मे प्रमाणत्वं वेदस्यैवेति नश्यति[10] ॥१२२॥
अवेदार्थैव युक्तिश्चेत् व्याख्या तत्सङ्गमात्कथम् ।
तत्त्वार्था काचिदन्यासां सर्वासां तत्प्रसङ्गतः ॥१२३॥
अथ [11]वेदान्तरं युक्तिस्तत्सङ्गायुक्तिसङ्गमः ।
[12]तद्व्याख्यायुक्तिसाङ्गत्ये तर्हि वेदान्तरं भवेत् ॥१२४॥

---

१ कुमारिलभट्टः । "श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः । चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता ॥"–मी॰ श्लो॰ १।१।२।१९१ । २ प्रभाकरः । "चोदनैवापूर्वं ब्रूमः"–शाबरभा॰ २।१।५ । "तस्मात्पूर्वम्मतं वेदवाक्यानुसारतः ।"–प्रक॰प॰पृ॰ १९५ । ३ शबरस्वामी "कोऽनर्थः ? यः प्रत्यवायाय श्येनो वज्र इषुरित्येवमादिः । तत्रानर्थो धर्म उक्तो मा भूत् इत्यर्थमहणम् । कथं पुनरसावनर्थः ? हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धेति । कथं पुनरनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते ? उच्यते ; नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्ते । यो हि हिंसितुमिच्छेत्, तस्यायमभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः–'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इति हि समामनन्ति न अभिचरितव्यमिति ।"–शाबरभा॰ १।१।२ । ४ "श्येनादीनां तु न साक्षात्पुरुषार्थेन नापि तत्कल्पनयानर्थत्वमिति तस्मात्तदर्थप्रतिपादनपरम्–'श्येनो वज्र इषुः' इत्येवमादि भाष्यमुपेक्षणीयम् ।"–मी॰ श्लो॰ टी॰ पृ॰ १०८ । ५ "स ह्यसौ हेतुः अविशुद्धः पशुहिंसासम्पर्कात् ।"–सां॰ माठर॰ का॰ २ । "ज्योतिष्टोमादिजन्मना प्रधानापूर्वस्य पशुहिंसादिजन्मना अनर्थहेतुनापूर्वेण सङ्करः ।"–सां॰ तत्त्वकौ॰ का॰ २ । ६ मीमांसकाः । ७ व्याख्याभेदः । ८ वेदार्थरूपा तद्व्याख्यानं कथं तत्त्वमिति । ९ तदा धर्मे प्र–भा॰, ब॰, प॰, स॰ । १० वेदार्थदर्शी नरस्यापि प्रामाण्यं स्यादिति भाव । ११ प्रकृतवेदव्याख्यासमर्थनार्थं यदि वेदान्तरमपेक्ष्यते । १२ वेदान्तरव्याख्या ।

तत्राप्येवं प्रसङ्गे स्यादनवस्था महीयसी ।
तन्न व्याख्यानसम्यक्त्वं सुगमं युक्तिसङ्गमात् ॥१२५॥
सर्वव्याख्यासमत्वे च सन्दिग्धा नियतार्थता ।
वेदस्य कुरुते तूर्णमप्रामाण्यभयज्वरम् ॥१२६॥
अथानियत एवार्थो वेदस्य विदुषां मतः ।
तत्तद्व्याख्यानभेदेन तत्तदर्थगतिस्ततः ॥१२७॥
सर्वसम्प्रतिपत्तिः स्यात्सर्वार्थेषु तथा सति ।
कश्चिदर्थः कथं नाम केनचित्प्रतिपिध्यते ॥१२८॥
अनर्थेतररूपत्वं शबरोम्बेकसम्मतम् ।
श्येनस्य यत्स वेदार्थो विरुद्धोऽपि भवेन्न किम् ? ॥१२९॥
अर्थानर्थत्वरूपेण त्यागोपादानवर्जितः ।
श्येनोऽपि यदि वेदार्थः सुस्थितः प्रेरको विधिः ! ॥१३०॥
अग्निहोत्रादिवाक्याद्यत् सद्व्याख्यानात्प्रतीयते ।
[1]श्वमांसभक्षणं तस्य वेदार्थत्वं कथन्न वः ? ॥१३१॥
असद्व्याख्यानमेतच्चेत् सद्व्याख्यानं किमुच्यताम् ।
यत्र वेदानुकूल्यं चेदेतदत्रापि दृश्यते ॥१३२॥
ततो व्याख्यासहायाच्चेद्वेदादर्थोऽवसीयते ।
सर्वव्याख्यार्थताद्र्थ्यमसमञ्जसमापतेत् ॥१३३॥
नित्यं तद्बोधशक्तस्य[2] नापेक्षेति च वक्ष्यते ।
अशक्तस्यापि काऽपेक्षा नापेक्षा शक्तकारिणी ॥१३४॥
तस्माद्वेद [ः] स्वतस्त्वं च स्वार्थं चान्यनिराश्रयः ।
व्यक्तं वक्तीति वक्तव्यं स्वतःप्रामाण्यवादिभिः[3] ॥१३५॥
न चेदृशः स्व[-शस्व-]भावस्य[4] स्वरूपस्वार्थयोर्द्वयोः ।
सम्भवेन्मलिनीभावो नरयत्नशतादपि ॥१३६॥
न हीदमेव मे रूपमयमेवार्थ इत्यपि ।
जानुघातं वदन् वेदः शक्यप्रच्छादनः परैः ॥१३७॥
तत्स्वतो निश्चिते वेदे वेदार्थे च तदर्थकम् ।
यद्व्याकरणमीमांसाद्येतत्सर्वमनर्थकम् ॥१३८॥

ततः स्थितमेतत्– असम्भवन्मलिनीकारस्यैव यत्नान्तरवैफल्यं नापरस्य । सम्भवन्मलिनीकारश्च भगवदाम्नायः स्वरूपतोऽर्थतश्च छद्मस्थानां[5] तत्राऽज्ञानादिमलसद्भावात् इति विवृतं तात्पर्यं वृत्तस्य ।

---

१ "तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ । खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥"–प्र० वा० ३।३१८ । २ वेदस्य । ३ मीमांसकैः । ४ नित्यस्वभावस्य वेदस्य । ५ अल्पज्ञानाम् ।

अधुना पुनरवयवव्याख्यानं क्रियते–**न्यायोऽत्र** स्याद्वादामोघलाञ्छनो भगवदाम्नायोऽभिमतः। न चैवमस्याभ्यर्थत्वम्, तस्यापि न्यायत्वात्। सामान्यवाचिना न्यायशब्देन कुतो विशेषप्रतिपत्तिरिति चेत्? '**भव्याम्बुरुहभानवे**'–इत्युक्त्वा पुनरस्य वचनात्। भगवतो हि भव्यकमलाकरविकासकारिणा मरीचिनिकरेण भवितव्यं तदभावे तत्करणायोगात्। [1]स च न भगवज्ज्ञानरूपो युक्तः, ततो[2] भव्यानां तत्त्वप्रतिपत्तिविकासासम्भवात्, प्रतिपुरुषं ज्ञानकल्पनावैयर्थ्यात्, सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तेः, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावाभावप्रसङ्गाच्च। नाऽपि विनेयज्ञानरूपस्तन्निकरः, सदसद्विकल्पायोगात्। न ह्यसतस्तस्य तन्निकरत्वम्, खरशृङ्गस्यापि प्रसङ्गात्। नापि सतः, प्रयोजनाभावात्। भव्यकमलविकासः प्रयोजनमिति चेत्, न, तदव्यतिरेकात्। तत्त्वप्रतिपत्तिरूपो हि तद्विकासः कथं तत्त्वज्ञानान्भिद्येत यतस्तत्तः स स्यात्? भेदे स्वमतविरोधात्। कुतो वा तस्यैव सत्त्वम्? विनेयभाविन एव कुतश्चिद्धेतोरिति चेत्, निष्फलस्तर्हि भगवद्व्यापार इति नासौ तत्त्वजिज्ञासावद्भिरन्वेषणीयः स्यात्। भगवद्व्यापारादिति चेत्, स कोऽपरोऽन्यत्राम्नायात् इत्याम्नाय एव न्यायग्रहणेन गृह्यते। यद्येवमाम्नाय इति वक्तव्यं स्पष्टत्वात् छन्दोभङ्गस्याप्यभावादिति चेत्, न, आम्नायस्यापि तत्त्वप्रतिपत्तिहेतुत्वेन न्यायरूपत्वोपदर्शनार्थत्वादेवंवचनस्य। 'निश्चितं च निर्बाधं च वस्तुतत्त्वम् ईयतेऽनेनेति न्यायः' इति व्युत्पत्तेः। तदुपवर्णनञ्च प्रमाणमेकमेव द्वे एवेति नियमव्याघातोपदर्शनार्थम्। कुतः पुनर्न्यायरूपत्वमाम्नायस्येति चेत्? आस्तां तावत्तृतीये तद्विस्तरात्।

कः पुनरसौ? इत्याह–अयं प्रतीयमानो वर्णपदाद्यात्मको न प्रमाणागोचरः स्फोटादिरिति। स किम्? इत्याह–**नेनीयते**। कः पुनरत्र यङर्थः? सुखाशुभावसौष्ठवलक्षण इति ब्रूमः। सुखेन नीयते नेनीयते इति। सुखं पुनरिह नयनोपायानां सुगमत्वम्, सुगमैरुपायैर्नीयत इति। अत एवाशुभावस्यापि परिग्रहः सुगमोपायस्योपेयस्य आशुभावोपपत्तेः। सुष्ठु नयनाद्वा नेनीयते। सौष्ठवं तु नयनस्याविचलितयुक्तिगोचरत्वम्। अविचलिताभिर्युक्तिभिर्नीयते नेनीयत इति। पौनःपुन्य एवार्थो वा [12]यङर्थः। पुनः पुनर्नीयते नीयमानः क्रियते नेनीयत इति। किं नेनीयते? इत्याह–**अमलम्**। मलाभावम् अर्थाभावेऽव्ययीभावात्, अथवा [13]तत्त्वमिति यावत्।

स्यान्मतम्–[14]एकदा यथावत्तत्त्वं नीतो न्यायः किं पुनर्नीयते नयनप्रयोजनस्यावश्यम्भाविनः प्रागेव सिद्धत्वात् अशक्यत्वाच्च। तथा हि–तदेव, अन्यद्वा पुनर्नीयते न्यायः? न तावत्तदेव, यतस्तस्य प्राप्तत्वात्। न हि प्राप्तं प्रति नयनं सम्भवति, अप्राप्तस्य नयनविषयत्वात्। अन्यदेव तर्हि पुनर्नीयत इति चेत्, न, तस्यात्राऽनिर्देशात्, एकस्यैवामलार्थस्योपात्तत्वात्। तस्मात् पौनःपुन्यमत्र यङर्थ उपपन्न इति; तन्न [15]सुगतम्, विषयभेदस्यात्र भावात्।

१ मरीचिनिकरः। २ भगवज्ज्ञानात्। ३ विनेयज्ञानस्य। ४ इत्वम् ब०, प०। ५–यस्तात् आ०, ब०, प०, स०। ६ विनेयज्ञानगतत्वम्। ७ एवं न्या– ता०। ८ 'आम्नायो मलिनीकृतः' इति कृते सति। ९–स्फोट– आ०, ब०, प०, स०। १० –स्त अनि– आ०, ब०, प०, स०। ११ –तत्त्वं नी– आ०, ब०, प०। १२ "पौनःपुन्ये भृशार्थे च क्रियासमभिहारः तस्मिन् धातोः यङ् स्यात्"–सि० कौ० ३।१।२२। १३ निर्मलत्वम्। १४ एकदा ब०। १५ सुगमम् आ०, ब०, प०, स०।

न ह्यवदातत्वमेकमेवात्र विषयः, अवदाततरत्वादेरन्यस्यापि भावात्। अप्रतिपादितस्य कथं प्रतिपत्तिरिति चेत् ? न ; अमलशब्देनैव[1] एतत्प्रतिपादनात् तस्य सामान्यशब्दत्वात् । भवति हि सामान्यशब्दाद्विशेषगतिः नीलशब्दात् नीलनीलतरादिविशेषव्यवसायदर्शनात् , तद्वदत्रापि अमलशब्देनैव अमलतरत्वादेः प्रतिपत्तिः। ततोऽमलत्वं[2] नीतो न्यायः पुनरमलतरत्वं पुनरमलतमत्वं ततोऽपि सातिशयममलतमत्वं नीयत इति न शास्त्रस्यावृत्तिवैफल्यं बालक्रीडादोषो वा विशेषप्रतिलम्भात् । आम्नायस्य हि नैर्मल्यं नाम तज्ज्ञानस्य[3] नैर्मल्यमेव। तच्चास्मान्न्यायशास्त्रादाविर्भवत् पुनरावृत्तिसहायात्[4] सविशेषम् , ततोऽपि तथाविधात् सविशेषतरं सविशेषतमञ्च भवति । दृश्यते च शास्त्रस्य[5] अभ्यासाधिष्ठितस्य स्वविषये ज्ञानविशेषैककारित्वमिति[6] नात्र विद्वज्जनस्य विवादः। कस्य[7] पुनरभ्यासेन शास्त्रस्याधिष्ठानम् ? आचार्यस्येति चेत् ; न ; प्रयोजनाभावात् । तद्विषयज्ञानविशेषः प्रयोजनमिति चेत् ; न ; तस्य प्रागेव सिद्धत्वात्, अन्यथा शास्त्रकरणस्यैवाऽसम्भवात् अस्मदादिवदिति चेत्; सत्यम्, स्वयं प्रयोजनाभावः शास्त्रकारस्य, प्रतिपाद्यस्यैव तु तदभ्यासात्तद्विषयज्ञानविशेषोत्पत्तेः । शास्त्रकारो हि शास्त्रमावर्त्तयन् प्रतिपाद्यस्य शास्त्रार्थज्ञानं सातिशयमुपजनयति परार्थत्वात्तत्प्रवृत्तेः[8] । तन्न प्रयोजनाभावस्तदभ्यासस्य । अत एव भृशार्थस्यापि यङर्थस्योपपत्तिः, भृशं नीयते नेनीयत इति, फलातिशयरूपस्य भृशार्थस्य सम्भवात् । तदनेन पुनरावृत्तिर्निग्रहस्थानं[9] प्रत्युक्तम् ; सातिशयज्ञानस्य तत्साध्यत्वात् । न हि सप्रयोजनादेव वचनात् निग्रहावाप्तिः ; अतिप्रसङ्गात् । तत्त्वजिज्ञासावन्तं प्रत्येव तद्वचनं सप्रयोजनं तेनैव ततः सातिशयज्ञानस्याभीष्टत्वात् न विजिगीषावन्तं प्रति, न ह्यसौ ततस्तत्त्वज्ञानमिच्छति, तत्तिरश्चिकीर्षयैव तस्य प्रवृत्तेः, अतस्तं प्रति पुनर्वचनस्य निरर्थकत्वान्निग्रहाधिकरणत्वमिति[10] चेत् ; न ; प्रथमवचनस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात् , ततोऽपि तस्य तत्त्वज्ञानं प्रत्यनादरस्य तत्तिरस्कारपरत्वस्य चाविशेषात्, ततस्तद्वचनमपि[11] निग्रहस्थानेषु गणयितव्यम्। तदभावे वाद एव न भवेदिति चेत्; मा भूत्, को दोषः ? वादिनो जयलाभाद्यभाव इति चेत् ; न; [12]तद्वचनेऽपि तदभावस्य समत्वात्। न हि निरर्थकात्प्रथमवचनादपि तल्लाभादि; द्वितीयादपि प्रसङ्गात् । [13]सार्थकत्वसमर्थनं पुनर्वचनेऽपि समानम् । निरूपयिष्यते चैतद्यथावसरमिति नेह प्रतन्यते । तस्मादुपपद्यत एव सुखादियङर्थः प(र्थप)रिग्रहः। पौनःपुन्यभृशार्थयोरेव [14]शब्दविद्यायां यङर्थत्वमनुश्रूयते न सुखादीनामिति चेत् ; न ; तेषामपि कैश्चित्तदर्थत्वानुस्मरणात् । तथा च पठ्यते–

"पौनःपुन्यं भृशार्थो वा दूराभ्याससुखानि च ।
आशु सुष्ठु बहुत्वञ्च यङर्थाः परिकीर्तिताः ॥" [ ] इति ।

पौनःपुन्यभृशार्थमात्रयङर्थवादिभिस्तु भृशार्थ एव दूराभ्यासादीनामन्तर्भावान्न पृथगुपादानं कृतमिति न कश्चित् व्याघातः ।

१–नैव प्रति–आ०, ब०, प०, स० । २ –त्वं ततो आ०, ब०, प०, स० । ३ ते ज्ञानस्य ता० । ४ –तिसाहाय्यात् आ०, ब०, प०, स० । ५ शास्त्राभ्यासा–ता० । ६ –षाकारत्व–ता० । ७ 'शास्त्राभ्यासकर्त्ता कः स्यात्' इति प्रश्नार्थः । ८ शास्त्रकारप्रवृत्तेः । ९ पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानम् । १० निग्रहाधिकरणत्व । ११ प्रथमवचनमपि । १२ प्रथमवचनेऽपि । १३ प्रथमवचने यदि सार्थकत्वं समर्थ्यते । १४ सि० कौ० ३।१।२२ ।

कीदृशो न्यायः ? इत्याह–**मलिनीकृतः** विप्रतिपत्तिमलीमसः कृतः इति, निर्मलस्य निर्मलतानयने प्रयोजनाभावात्। किं कृत्वा ? इत्यत्राह–**प्रक्षाल्य** मलिनीकृतन्यायं परिशोध्य। कैः ? **सम्यग्ज्ञानजलैः** निर्मलत्वान्मलशोधनत्वाच्च जलसाधर्म्यात् सम्यग्ज्ञानानि जलत्वेन निरूपितानि। ज्ञानग्रहणम् अज्ञातोपदेशनिषेधार्थम्। तथाहि–यदुपदेष्टव्यं[1] न स्वयं जानाति कथमुपदिशेत्, उपदिशन्वा कथं प्रमाणमुन्मत्तवत् ? नन्वेवं सुगतस्याप्रमाणत्वमेव स्यात् अज्ञातस्यैव बहिर्भावहेतुफलभावादेस्तेनोपदेशात्। परिज्ञात एव लोकबुद्ध्या बहिर्भावहेतुफलभावादिरिति चेत्, का पुनरियं लोकबुद्धिः ? ग्राह्यग्राहकभावोपप्लवाधिष्ठिता वितथाकारा विज्ञप्तिरिति चेत्, सा यदि विनेयसम्बन्धिनी, कथं तया बुद्धस्य बहिर्भावादिपरिज्ञानं तस्यास्तेनापरिज्ञानात् ? तामपि लोकबुद्ध्या तदाजानातीव इति चेत्, न, अनवस्थानात्। आत्मसम्बन्धिन्येव लोकबुद्धिरिति चेत्, न, अतत्त्वदर्शित्वप्रसङ्गात्। तथा हि–

वितथार्था हि विज्ञप्तिर्लोकबुद्धिर्निगद्यते।
तद्वतस्तत्त्ववित्त्वं चेत्, अतत्त्वज्ञः क उच्यताम् ? ॥१३९॥
अविद्यापरिज्ञानिश्च कथं तस्यैवमुच्यताम् ?
अविद्याप्रभवा ह्येषा विज्ञप्तिर्वितथाकृतिः ॥ १४०॥
'यथास्वं प्रत्ययापेक्षादविद्योपप्लुतात्मनाम्।
विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते तिमिरादिवत् ॥' [प्र० वा० २।२१७]
इति कीर्तिवचोभावात्, अविद्या चेत्परीक्षिता।
नास्त्येव तर्हि बुद्धस्य लोकबुद्धिर्यथोदिता ॥१४२॥

[10]असत्यपि सुगतस्याविद्योपप्लवविकल्पतया तद्दशायां मिथ्याज्ञाने प्राग्भवत्प्रज्ञानमनिवात् संस्कारवशुपपद्यत एव बहिर्भावाद्युपदेशः। तदुक्तम्–"[11]पूर्वावेधेन देशनासम्भवाच्चक्रभ्रमणवत्" [प्र० वार्तिकाल० २।२१९] इति चेत्, तन्न, [12]यस्मात्तदावेधस्याज्ञानत्वं चेत्, विभ्रमज्ञातोपदेशित्वम्। तस्य[13] ज्ञानत्वेऽपि मिथ्याज्ञानत्वं चेत्, न, [14]तद्दशायां तदभावात्। पूर्वमासीदिति चेत्, न, तस्येदानीं क्वचिदनुपयोगादात्मदर्शनवत्। यदि पुनरपक्रान्तस्यापि मिथ्याज्ञानस्येदानीमुपदेशहेतुत्वम्, आत्मदर्शनस्यापि [15]विरतपक्रान्तस्य पुनरावृत्तिनिबन्धनत्वं भवेदिति सुगतस्य पुनर्जननमात्मस्नेहादयश्च दोषा भवेयुः पुनरावृत्तेस्तद्रूपत्वात्, "पुनरावृत्तिरित्युक्तौ जन्मदोषसमुद्भवौ" [प्र० वा० १।१४२] इति वचनात्। तथा च दुर्व्याहृतमेतत्–"आत्मदर्शनबीजस्य

१ यत्तु। २ –न्यायत्व– आ०, ब०, प०, स०। ३ बाह्यपदार्थनिश्चयस्यैवकरणमावादेः। ४ "केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते" –प्र० वा० २।२१९। ५–स्तर ति आ०, ब०, प०। ६ विनेयसम्बन्धिन्या विज्ञप्तेः। ७ बुद्धस्य। ८ "यथास्वमविद्योपप्लुतात्मनामप्रतीत्यभिनिवेशनानां पुंसां यथास्वं यस्य प्रमस्य च आत्मीयः यथास्वं प्रत्ययतस्तापेक्षमनर्थः। तस्माद्वितथो ग्राह्यग्राहकाकारो यस्याः सा तादृशी विज्ञप्तिर्जायते। तिमिरादिवत् तिमिरादिव, वितथाकारचन्द्रद्वयादिविज्ञप्तिः।" –प्र० वा० म० २।२१७। ९ धर्मकीर्ति। १० असत्यपि आ०,ब०,प०,स०। ११ पूर्वावेरेण आ०,ब०,प०,स०। पूर्वसंस्कारेण। १२ यस्मात्तदावेधस्य आ०,ब०,प०,स०। १३ पूर्वसंस्कारस्य। १४ सुगतावस्थायाम्। १५ विरतप्रम–आ०, ब०, प०, स०।

हानादपुनरागमः" [प्र० वा० १।१४३] इति। प्रागप्यात्मदर्शनं न सुगतस्येति चेत्; न तर्हि तस्य कदाचिदपि संसारः कारणाभावात्। आत्मदर्शनं हि संसारस्य मूलकारणं तृष्णाया अपि संसारहेतोस्तत्प्रभवत्वात्। तदभावे चानादिरेव संसारविरहः प्रसज्येत कारणाभावे कार्याभावस्य नियमात्। न चैवम्, उपायाभियोगनिबन्धनस्य तद्विरहस्याभ्युपगमात्। न चासतो विरहः संसारस्य खरशृङ्गवत्। सतोऽपि न विनात्मदर्शनेन सम्भवः, तदन्यहेतुकत्वस्य चाहेतुकत्वस्य च स्वयमनभ्युपगमादित्यस्त्येव तस्यापक्रान्तमात्मदर्शनम्, ततश्च मिथ्याज्ञानात्तत्कार्यमिव कथमिदानीं न पुनरावृत्तिर्भवत्विति चेत्? न; "अपुनरावृत्त्या गतः सुगतः" [ ] इत्यस्य विरोधात्। किञ्च,

आत्मदर्शनमुच्छिन्नमपि कार्यं करोति चेत्।
व्यर्थमेव मुमुक्षूणां तदुच्छेदाय चेष्टितम् ॥१४३॥
मिथ्याज्ञानादपक्रान्तान्मिथ्याज्ञानं न तस्य किम्।
उपदेशस्ततो भावी न तदित्येष विस्मयः ॥१४४॥
मिथ्याज्ञानमलेनैवं परितः परिवेष्टिता।
विधूतकल्पनाजाला मूर्त्तिस्ताथागती कथम्? ॥१४५॥

यत्पुनरत्र परस्य समाधानम्–

"निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधा यत्नवत्त्वेपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः[10] ॥

न हि स्वभावो यत्नरहितेन निवर्त्तयितुं शक्यः। यत्नश्च दोषदर्शिनो गुणेषु प्रवर्त्तते दोषेषु च गुणदर्शिनः। न च सात्मीभूतनैरात्म्यदर्शनस्य दोषेषु गुणदर्शनं न गुणेषु दोषदर्शनमदर्शनं वा गुणेषु, नैरात्म्यदर्शनस्य निरुपद्रवत्वात्।

ततः स्वभावो भूतात्मा निरुपद्रव एव च।
कथमस्य परित्यागः शक्यः कर्तुं सचेतसा ॥
पक्षपातश्च चित्तस्य न दोषेषु प्रवर्त्तते।
ततस्तस्य न दोषाय यत्नः कश्चित्प्रवर्त्तते ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।२१२] इति;

तन्न समीचीनम्, मिथ्याज्ञानवत् मिथ्योपदेशस्याप्यभावप्रसङ्गात्, तस्याप्यभूतार्थविषयस्य सोपद्र-

१ "यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः। स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते। गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते। तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे॥"–प्र०वा० १।२१९–२२१। २ प्रागप्यात्मदर्शनाभावे। ३ नैरात्म्यदर्शनाभ्याससाधनस्य। ४ द्रष्टव्यम्–प्र० वा० स्ववृ० ३।३६–३७। ५ सुगतस्य। ६ "अपुनरावृत्त्या गमनं सुगतत्वम्...."–प्र०वा०म० १।१४२। ७ सुगतस्य। ८ मिथ्याज्ञानयुक्तसुगतात्। ९ "विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्त्तये" (प्र० वा० १।१) इत्यादिना स्तूयमाना। १० "दोषराशेरुद्वेजकस्य प्रहाणेन निरुपद्रवस्य प्रमाणसंवादित्वेन भूतार्थस्य सत्यार्थस्यानारोपितत्वेन स्वभावस्य प्रकृतेर्नैरात्म्यस्याभिरुचितविषयस्य विपर्ययैरात्माद्याकारैरभ्यासे सोपद्रवत्वादिना प्रयत्न एव तावन्न सम्भवति प्रेक्षस्य। सम्भवेपि वा विपर्ययैः न बाधा नैरात्म्यस्य सात्मीभूतस्य स्वभावस्यास्ति बुद्धेस्तत्र दोषप्रतिपक्षे गुणवति मार्गे पक्षपातात्।"–प्र० वा० म० १।२१२।

वत्त्वेन दोषत्वात्, दोषतया च निश्चिते तस्य प्रयत्नासम्भवात्। प्रयोजनवशाद्दोषेऽपि प्रयत्न इति चेत्, न, पक्षपाताभावे तदसम्भवात्। न च दोषे पक्षपातः "पक्षपातश्च चित्तस्य" इत्यादि विरोधात्। दोष यथार्थं न भवति प्रयोजनवत्त्वेन गुणत्वादिति चेत्, न, गुण यथार्थं न भवति अभूतार्थत्वेन दोषत्वात्। प्रयोजनवत्त्वं गुणो दृश्यत इति चेत्, न, अभूतार्थत्वस्य दोषस्यापि दर्शनात्। तथा च,

> गुणत्वात् पक्षपातोऽस्मिन् दोषत्वात्तद्विपर्ययः।
> युगपत्प्राप्नुयातां ते धर्मावन्योन्यबाधितौ ॥१४६॥
> पक्षपाताद्विधेयत्वमविधेयत्वमन्यतः।
> व्यपदेशस्य तच्चैतयोः स्यां ते महदागतम् ॥१४७॥
> तदस्मात्सङ्कटादेशाभिर्मुच्येत सदागतः।
> कथमामेति चेतो नः कृपया परिपीड्यते ॥१४८॥

वस्तुभूतेष्यभूतार्थतया दोषत्वे गजनिमीलनं कृत्वा गुणत्वस्यैव प्रयोजनवत्त्वलक्षणस्याभिसन्धानात् पक्षपात एवं न तत्र विपर्ययं इति चेत्; किं तत्प्रयोजनं यत्पक्षपातनिबन्धनं भवेत्? मार्गावतारो विनेयानामिति चेत्, कः पुनरसौ मार्गः? बहिरर्थाविज्ञानमेवेति चेत्; कस्यासौ मार्गः? पुरुषार्थस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिलक्षणस्येति चेत्, न, वस्तुतस्तदभावात्, स्वयं तथैवाभ्युपगमात्। अवस्तुसतश्च दोषत्वेनापक्षपातविषयत्वात् कथं तदर्थोऽयं कारणान्वेषणप्रयत्नक्लेशागतस्य? दोषे दोषतया निर्णीते तदसम्भवात्, अन्यथा "यस्य च दोषेषु गुणदर्शिनः" इत्यस्य विरोधात्। प्रवृत्त्यादेरपि प्रयोजनवत्त्वेन गुणत्वात् पक्षपातविषयत्वमेव, अभूतार्थत्वेन तु दोषत्वे सत्यपि गजनिमीलनविधानादिति चेत्, न, [10]तत्प्रयोजनस्याप्यपरप्रवृत्त्यादिरूपत्वेन 'वस्तुतस्तदभावात्' इत्यादेरनुवृत्त्या चक्रकानवस्थयोः प्रसङ्गात्। तदन्यत्वरूपत्वे च समाधानस्याभिधास्यमानत्वात्। तत्र प्रवृत्त्यादिः पुरुषार्थः। निःश्रेयसमेव स्वाभिमतं पुरुषार्थ इति चेत्, न, तत्र बहिरर्थाविज्ञानस्यामार्गत्वात् सकलधर्मनैरात्म्यदर्शनस्यैव[11] सन्मार्गत्वेनोपगमात्। "मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेः" [प्र०वा० १।२५५] इति वचनात्। तत्र बहिरर्थाविज्ञानं मार्गः। सम्यग्ज्ञानमेव तर्हि नैरात्म्यदर्शनं मार्ग इति चेत्, न, तत्र तत्त्वोपदेशस्यैव हेतुत्वात्। न हि तत्त्वोपदेशकार्यमतत्त्वोपदेशाद् अनग्नेर्धूमवत्। अतत्त्वोपदेशश्चायमुपदेशो बहिरर्थादेस्तद्विषयस्य वस्तुवृत्तेनाभावात्। मिथ्योपदेशादपि तत्त्वज्ञानं चेत्, न, मिथ्याज्ञानादपि प्रसङ्गात्। तत्त्वसिद्धिनिबन्धनत्वे मिथ्याज्ञानत्वमेव तस्य न स्यादिति चेत्, न, उपदेशस्याप्यतत्त्वे एवामिथ्यात्वप्रसङ्गम्। तत्र बहिरर्थाविज्ञानं नैरात्म्यज्ञानं वा सदुपदेशस्य प्रयोजनं यतस्तत्र पक्षपातात्प्रयत्नो-

१ न तदोषे आ०, ब०, प०, स०। २ मिथ्योपदेशः। ३ न च न–आ०, ब०, प०, स०। ४ मिथ्योपदेशे। ५ एव तत्र ता०। ६ उपदेशे पक्षपाताभाव। ७ –र्थोऽस्तारतो आ०, ब०, प०। ८ प्रवृत्तिलक्ष– आ०, ब०, प०, स०। ९ बौद्धैः। १० तत्प्रयो–आ०, ब०, प०। ११–दर्शनस्यैव आ० ब०, प०। १२ तत्त्वसिद्धिनिबन्धनत्वादेव।

भवेत्। अप्रयत्नेऽपि च [1]पूर्वावेधात् भवति तदुपदेशः। न हि प्रयत्नादेव सर्वं कार्यम् अप्रयत्नानान्तरीयकस्य विद्युदादेरभावप्रसङ्गादिति चेत्; उक्तमत्र–'सुगतस्य मिथ्याज्ञानमपि भवेत् तत्कारणस्यापि [2]तदावेधस्य भावात्' इति। [3]तेन चाप्रयत्नसिद्धेनैव तत्त्वज्ञानबाधेन सम्भवादसम्बद्धमेतत्–'निरुपद्रव' इत्यादि। सतोऽपि मिथ्याज्ञानस्य तत्त्वज्ञानाबाधकत्वे [4]प्रागपि न स्यात्। सत्यमेतत्, मिथ्याज्ञानस्यैव वस्तुतः कस्यचिदभावात्, असतो हि विषयस्य ग्रहणे मिथ्यात्वम्, स च बहिर्भावादिरेव, न चास्य क्वचित्प्रागपि[5] प्रत्यवभासनं स्वरूपमात्रवस्तुविषयत्वात् सर्वसंवेदनानाम्, केवलं भौतमुद्रामात्रकमेवैतत् यत्त[6]दवभासकल्पनम्। ततो न प्रागपि [7]श्रुतचिन्ताकाले सम्यग्ज्ञानं बा(नवा)धनसामर्थ्यं मिथ्याज्ञानमलानां किं पुनर्विधूतसकलविप्लवे सुगतभावे प्रभास्वरचित्तमयत्वात् तदा भगवतः? तदुक्तम्–

"प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्याऽगन्तवो मलाः।
तत्प्रागप्यसमर्थानां पश्चाच्छक्तिः क्व तन्मये[8]॥" [प्र० वा० १।२१०]

इति चेन्; न; उ[9]क्तोत्तरत्वात्। असति वस्तुवृत्त्या मिथ्याज्ञाने न तन्निबन्धनो रागादिरित्यनादिशुद्धिः सुगतस्य स्यात्। अविद्यापरिकल्पितमस्त्येव तदिति चेत्; न; सतोऽपि तस्य रागादावन्यत्र [11]चासामर्थ्यात्। अपि च,

मिथ्याज्ञानमशक्तं चेत्तत्त्वसंवित्तिबाधने।
मिथ्योपदेशसामर्थ्यं कथं [12]तस्यावकल्प्यताम्? ॥१४९॥

यदि सन्निहितमपि मिथ्याज्ञानं तत्त्वज्ञानबाधनाय न समर्थम् अविद्यानिर्मितस्य तस्यैव विचारासहत्वादिति; हन्तैवं कथं [13]तादृशस्यैव तस्य चिरापक्रान्तस्य मिथ्योपदेशसामर्थ्यं यतो बहिरर्थादिदेशना बुद्धस्य भवेत्? ततो नासामर्थ्यात्तस्य[14] [15]तद्बाधनम् अपि त्वसत्त्वात्, तदपि चिरातीतस्याहेतुत्वादेव, तद्वन्मिथ्योपदेशोऽपि चिरापक्रान्तान्मिथ्याज्ञानान्न सम्भवति। नापि तात्कालिकात्; सुगतावस्थायां तदभावात्[16]। तत्र लोकबुद्ध्या मिथ्याविकल्परूपया[17] बहिरर्थादिचिन्ताप्रतननं बुद्धानाम्। यत इदं सूक्तम्–

"तदुपेक्षिततत्त्वार्थैः कृत्वा गजनिमीलनम्।
केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते॥" [प्र० वा० २।२१९] इति।

---

१ पूर्वावेदात् आ०, ब०, प०, स०। पूर्वसंस्कारात्। २ तदावेदकस्य आ०, ब०, प०, स०। पूर्वमिथ्याज्ञानसंस्कारस्य। ३ मिथ्याज्ञानेन। ४ प्रयत्नं विना केवलं संस्कारसमुद्भूतेनैव। ५ संसारावस्थायामपि। ६ बहिरर्थावभास। ७ "तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्यः परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता परं प्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानलक्षणया चिन्तया निर्वृत्तां चिन्तामयीं भावनामारभते।"–आप्तप० का० ८३। ८ "प्रभास्वरमिदं चित्तं नित्यत्वविरहितस्यैव तेन ग्रहणादागन्तवो मलाः, असद्भूतसमारोपस्यामूलकत्वेन भौतमुद्रामात्रकत्वात् न परमार्थतो नित्यत्वं क्वचित्प्रतिभाति।"–प्र० वार्तिकाल० १।२१०। ९ दत्तोत्त–आ०, ब०, प०, स०। १० मिथ्याज्ञानम्। ११ वासामर्थ्या–आ०, ब०, प०, स०। १२ चिरापक्रान्तमिथ्याज्ञानस्य। १३ अविद्याकल्पितस्यैव। १४ मिथ्याज्ञानस्य। १५ तत्त्वज्ञानबाधनाभावः। १६–वाम लो–आ०, ब०, प०, स०। १७–रूपतया आ०, ब०, प०, स०।

नाऽपि तत्त्वज्ञानात्तत्प्रसननम्[1], बहिरर्थादेरवस्तुत्वेन तत्त्वज्ञानस्य तदविषयत्वाद् अन्यथा मिथ्याज्ञानत्वप्रसङ्गात्। [2]विधिपरत्वेनैव तद्विषयत्वे मिथ्याज्ञानत्वं न [3]निषेधपरत्वेन, ततो निषेधविषयोपदर्शनार्थं तत्त्वज्ञानेनैव बहिरर्थाद्यनुवादेऽपि न दोष इति चेत्, न, तद्भिन्नत्वेश्वरादेरप्यनुवादप्रसङ्गात्, तस्यापि निषेधविषयत्वाभ्यनुज्ञानात्। तथा च बहिरर्थादिवत्तस्यापि संवृतिसत्यत्वोपपत्तेर्न किञ्चित्सौगतं मतं भवेत्। पूर्वपक्षत्वेनानूदितस्य कथं सत्यत्वमिति चेत्? कथं बहिरर्थादेरिति समानम्? मा भूत्तस्यापि तदिति चेत्, तत्समर्थस्तर्हि संवृतिसत्यव्यवहारो बहिरर्थादिव्यतिरेकेण तदसम्भवात्। तन्न तत्त्वज्ञानादपि तत्प्रसननमिति सिद्धमज्ञातोपदेशित्वं बुद्धस्य, तदज्ञानात्तत्त्वम् अनवधेयवचनत्वात्। न [redacted]स्य वचनं प्रेक्षावतामवधेयमिति चेत्, साधु चोदक, साधीयस्तव चोद्यम्, अनुमतमेवैतदस्माकम्[4]। न हि चोद्यमित्येव समाधातव्यम्, न्यायोपपन्नस्यानुमतिविषयत्वात्।

सम्यग्ग्रहणं तु संशयितस्य विपर्यस्तस्य चोपदेशनिवृत्त्यर्थम्, तदुपदेशेऽप्युपदेष्टुरनवधेयवचनत्वेनानाप्तत्वप्रसङ्गात्। तत्र–

सन्दिग्धं संविदद्वैतम्, यदि नः (न) प्रतिभासतः।
सिद्ध्यति, प्रतिभासस्य बहिर्भावे[5] विभावनात् ॥१५०॥
न सर्वं प्रतिभासश्चेद्, अद्वैतस्य कथं भवेत्?
अपह्नवे हि दृष्टस्यादृष्टस्य[6] मितरामयम्[7] ॥१५१॥
बहिर्थोऽपि यद्यस्ति तदद्वैतं कथं भवेत्?
न हि ज्ञानार्थयोर्भावे द्वयोरद्वैतसङ्गतिः ॥१५२॥
बाध्यत्वात्प्रतिभातोऽपि [8]नास्त्यसावित्यसङ्गतम्।
बाध्यबाधकभावस्य स्वयं [9]बौद्धैर्निराकृतेः ॥१५३॥
संवृत्या बाधनेऽर्थस्य वस्तुतस्तदनिह्नवात्।
अद्वैत [10]सांवृतं बाध्यं बाध्यं बाधं तु वस्तुसत् ॥१५४॥
तस्माद्बहिर्भासतो वस्तुसदसत्त्वानुधाविनः।
सन्दिग्धं संविदद्वैतं तत्र वाच्यं मनीषिणाम् ॥१५५॥
एवं प्रकल्पितं सर्वैः सर्वथैकान्तवादिभिः।
तत्प्रमाणविपर्यस्तमनाप्तोपज्ञमुच्यते ॥१५६॥

'सम्यग्ज्ञानजलैः' इति बहुवचनं तद्बहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। एवमपि बहुभिरेव प्रक्षालनं नैकेन नापि द्वाभ्यामिति प्राप्तमिति चेत्, आह–'कथमपि' इति। एकादीनां मध्ये

1 बाधाविरहात्प्रतिबन्धारः। 2 बाह्यार्थोऽस्तीति विधिरूपतया। 3 बाह्यार्थाभाव इति निषेधरूपतया। 4 निषेधेश्वरादेरपि। 5–गतं म–आ०, ब०, प०, स०। 6 बहिरर्थादेरपि। 7 सत्यत्वम्। 8 अन्य– कश्चिदुपहसति। 9 चैव छा–आ०, ब०, प०, स०। 10 चैतन्यम्। 11–चेऽपि भाव–ता०। अस्मिन् पाठे अपिशब्दः एवार्थको ज्ञेयः। 12 बहिर्भासत्व। 13 संविदद्वैतस्य। 14 चमत्कृतं स्यात्। 15 नास्ति बहिरर्थः। 16 द्वयमयम्–प्र० वार्तिकाल० ३।३३०। पृ० २२। 17 चमत्कृतम् आ०, ब०, प०, स०।

केनापि प्रकारेणेति। एकेन तत्प्रक्षालने किं तत्र द्वाभ्यां बहुभिर्वा वैयर्थ्यादिति चेत् ? न; ततोऽपि तदतिशयस्य सम्भवात्, सम्यग्ज्ञानानां साफल्यस्याभावाच्चेति निवेदनात्। कथं तर्हि बहुवचने[1] द्व्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? न; बहुषु द्व्यादेरन्तर्भावेन ततस्तत्प्रतिपत्तेरविरोधात्। केनेनीयते ? इत्याह **वचोभिः**। न्यायविनिश्चयवचनैरिति। 'प्रत्यक्षलक्षणम्'[2] इत्येवमादीनि हि तद्वचनानि, तैश्च प्रत्यक्षादिकमेव निर्मलत्वं नीयते नाम्नायस्तत्कथं[3] तैः स तन्नेनीयत इत्युच्यत इति चेत्; न; तृतीये[4] तैरेवाम्नायस्यापि तन्नयनात्[5]। प्रत्यक्षादेस्तर्हि तन्नयनं किमर्थम् अप्रस्तुताभिधानदोषादिति चेत् ? न; तस्याप्याम्नायपरिशोधनार्थत्वात्। प्रत्यक्षादौ हि निर्मलतां नीते निर्मलतत्प्रमाणपरिशुद्धद्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकजीवादिपदार्थगोचरतया सुपरिशुद्धमाम्नायज्ञानप्रामाण्यं भवति। अत एव प्रत्यक्षादिकं परिशोध्य पश्चादाम्नायः परिशोधितः, निश्चितप्रामाण्यप्रत्यक्षाद्यविरोधेन निष्प्रतिपक्षस्याम्नायप्रामाण्यस्य व्यवस्थापनार्थम्। यद्वक्ष्यति–"सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः प्रेक्षन्ते" [न्यायवि० श्लो० ३८५] इति। लोकप्रसिद्ध्यैव परिशुद्धं प्रत्यक्षादिकं[6] किं तत्परिशोधनेन ? परिशुद्धशोधने अतिप्रसङ्गादिति चेत्; न; तस्याप्याम्नायवन्मलिनीकृतत्वात्। न तर्हि कस्यचिदपि परिशोधनम् उपायाभावात्, सर्वप्रमाणमलिनीभावे हि क इवोपायः परिशोधनस्य स्यात्, प्रमाणस्यैव परिशोधनोपायत्वात्, तस्य च मलिनीभावात्, अप्रमाणस्य तदुपायत्वे प्रमाणकल्पनावैयर्थ्यम्, प्रमाणवत्प्रमेयस्यापि अप्रमाणदेव परिशोधनोपपत्तेः।

यदि सर्वप्रमाणानामुच्यते मलिनीकृतिः।
उपायाभावतस्तेषां परिशुद्धिक्रिया कथम् ? ॥१५७॥
प्रमाणस्यैव वक्तव्या परिशुद्धावुपायता।
न च तन्मलिनीभूतमुपायत्वाय कल्पते ॥१५८॥
मलीमसमुपायश्चेत्; मलप्रक्षालनं वृथा।
अप्रमाणमुपायश्चेत्; प्रमाणान्वेषणं वृथा ॥१५९॥
प्रमेयपरिशुद्धिश्च प्रमाणपरिशुद्धिवत्।
अप्रमाणादुपायात् यत्प्रसिद्धिपदमृच्छति ॥१६०॥
इति चेत्; असदेतत्; यत्र हि सर्वं मलीमसम्।
प्रमाणम्, परिशुद्धस्य सम्भवात्तस्य कस्यचित् ॥१६१॥
तेन[7] चापरिशुद्धस्य परिशोधनसम्भवात्।
उपायाभावतो नास्ति शुद्धिरित्यसमञ्जसम् ॥१६२॥
सर्वशून्यप्रवादे हि शून्यज्ञानमकल्मषम्[8]।
सकल्मषान्न तज्ज्ञानाच्छून्यत्वं यत्प्रसिद्धयति ॥१६३॥

---

१ बहुवचनात्। २ वक्ष्यमाणकारिकारूपाणि। ३ तैः वचोभिः स आम्नायः तत् अमलत्वं नेनीयते। ४ प्रवचनप्रस्तावे। ५ अमलत्वप्रापणात्। ६–कं किं तत्परिशुद्धशोधनेन आ०, ब०, प०, स०। ७ परिशुद्धप्रमाणेन। ८ अविसंवादि प्रमाणं स्वीकर्तव्यम्।

[1]अशून्यवेदनं तेन नीयते निर्मला दशाम् ।
य[2]दशून्यं न किञ्चित्स्याच्छून्यज्ञानं कथं भवेत् ? ॥१६४॥
शून्यज्ञानं भवत्यच स्वसत्तां प्रत्यनाकुलम्[3] ।
[4]भावसिद्धिनैर्मल्यं [5]स्ततोऽप्यद्योतयत्यलम् ॥१६५॥
अ[6]द्वैतवेदनेनैवं निर्मलेन मलीमसम् ।
विधूतमलसम्बन्धं भवेद् द्वैतप्रवेदनम्[7] ॥१६६॥
अबाधितोपलम्भश्चेदद्वैतमवकल्पयेत् ।
द्वैतं किन्न मे एवायमवकल्पयितुं क्षमः ॥१६७॥
अस्ति चेद् द्वैतसंवित्तिरस्ति चास्याप्यबाधनम् ।
इति निर्णीयते [9]पक्षपातमत्राग्रहेण ते ॥१६८॥
स्वरूपवेदनं यस्य संविदा परिशुद्धिमत् ।
तस्य तेन बहिर्वस्तुबुद्धिः शुद्धिपथं व्रजेत् ॥१६९॥
बहिर्वस्तुपरिच्छेदि न किञ्चिदपि वेदनम् ।
[11]संवेदनबहुत्वं तु प्रसि　ति कुतस्तव ॥१७०॥
अनासादितबाधत्वान्निर्मलं चेत्स्ववेदनम् ।
अर्थवेदनमप्यस्तु ततोऽर्थोऽस्तु निराकुलः ॥१७१॥
स्वसंवेदननैर्मल्यमर्थनिर्मलवेदनात् ।
सिद्धमेतेन बोद्धव्यमन्यथा[12] तदसम्भवात् ॥१७२॥
[13]एकान्तवेदनं यत्र परिशुद्धं परैर्मतम् ।
बुद्धिस्तेनाप्यनेकान्तगोचरा[14] परिशुद्ध्यति ॥१७३॥
एवमादि यथाम्नाय सूरिर्विस्तारयिष्यति ।
तत्प्रयासैः किमस्माकं [15]ग्रन्थविस्तरकारिभिः ॥१७४॥

तस्मादाम्नायपरिशोधनोपायत्वादुपपन्नमध्यक्षादिपरिशोधनम् । तत्परिशोधनोपायस्यापि परिशोधनादनवस्थानमिति चेत्, न, अपरिशुद्धस्यैव परिशोधनात्, प्रसिद्धपरिशुद्धिकस्य [16]तदभावात्, तेनैवापरपरिशोधनात्, [17]तत्सद्भावस्य चानन्तरमेव निवेदनादिति न किञ्चिदवद्यम् । ततःसूक्तम्–

१ 'सर्वं शून्यम्' इति वेदनं यदि शून्यमयं तदा सर्वस्य अशून्यत्वमेव स्यादिति भावः । २ यदि सर्वशून्यताप्रवेदकं प्रमाणमपि अशून्यं न स्यात् तदा कथं सर्वशून्यताप्रतिपत्तिः ? ३ अशून्यमप बाधितसंवादि । ४ यथा शून्यज्ञानमशून्यं तथा बाह्यार्थज्ञानमप्यशून्यं स्यादिति भावः । ५ स्ततो मद्यो–ता०, ब० । स्ततो विद्यो–ब० । ६ शून्याद्वैतज्ञानेन । ७ बाह्यार्थज्ञानम् । ८ द्वैतविषयकाऽबाधितोपलम्भः । ९ पद्मोन–आ०, ब०, प०, स० । १० पद्मादस्मात्र महेन–आ० ब०, प०, म० । ११ बहुपदार्थविषयभेदात् संवेदनबहुत्वम् । १२ अर्थसंवेदननैर्मल्याभावे संवेदननैर्मल्यमपि न स्यादिति भावः । अन्यथा आ०, ब०, प० स० । १३ सर्वथा क्षणिकत्वादिग्राहकम् । १४ तत्समीक्षेण रूपेण तदग्राहकम् तदन्यरूपेण अतद्ग्राहकमिति अनेकान्तवस्तुग्राहिणी बुद्धिः स्यात् । १५ ग्रन्थविस्तार–ब० । १६ परिशोधनाभावात् । १७ प्रसिद्धपरिशुद्धिकस्य ज्ञानस्य ।

'**वचोभिः**' इति[1]। अनेन न्यायनैर्मल्यनयनस्यानन्योपायत्वं दर्शयति, अन्योपायत्वे तद्वचनासम्भवात्। वचसामप्रमाणत्वात् कथं [2]तैः स तन्नेनीयत इति चेत्? न; तत्प्रामाण्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

यस्य तु तेषामवस्तुविषयत्वात् प्रामाण्यमनभिमतम्, तस्य निष्प्रयोजनमेव शास्त्रं [3]तेन कस्यचिदप्यर्थस्यानिवेदनात्, तन्मतोपजीविनो वादिनश्च निग्रहावाप्तिः [4]असाधनाङ्गवचनात्। तथा च [5]देवस्य वचनम् "समस्तो वा वाक्यराशिरनर्थकः" [ ] इति[6]। न वचनमात्रस्यानर्थकत्वं प्रमाणानुपपन्नवस्तुवादिनो वेदादिवचनस्यैवानर्थकत्वात्, निरवद्यप्रमाणपयःपरिषेकपरिशुद्धस्य तु त्रिरूपस्य लिङ्गस्य तत्साध्य[7]सम्बन्धस्य च प्रतिपादकं वचनं प्रमाणमेव तस्य परार्थानुमानत्वेन[8] सौगतैरङ्गीकरणात्। न च शास्त्रस्य निष्प्रयोजनत्वम्; लिङ्गतत्साध्यसम्बन्धाभिधायित्वेन तस्य प्रयोजनवत्त्वात्तस्यापि परार्थानुमानत्वात्। न च तन्मतोपजीविवादिवचनै[9]स्याऽसाधनाङ्गवचनत्वम्, लिङ्गादेः साधनाङ्गस्यैव तेनाभिधानादिति चेत्; न; वचसामवस्तुविषयत्वाभावप्रसङ्गात्। तथा हि– तेषामवस्तुविषयत्वं प्रसज्यप्रतिषेधेन वा स्यात्[10] 'वस्तुविषयत्वं वचसां नास्ति' इति,[11] पर्युदासेन वा स्यात् 'वस्तुनोऽन्यदवस्तु तद्विषयत्वं वचसाम्' इति? न तावदाद्यो विकल्पः; लिङ्गस्य तत्साध्यसम्बन्धस्य च वस्तुनः [12]तद्विषयत्वात्। [13]तद्व्यतिरिक्तं वस्तु न तद्विषय इति चेत्; कुत एतत्? व्यभिचारात्, व्यभिचरन्ति हि शब्दा घटादिकं वस्तु तदभावेऽपि तत्प्रवृत्तेरिति चेत्; अत एव लिङ्गादिविषयत्वमपि न स्यात, शब्दादौ चाक्षुषत्वाद्यभावेऽपि [14]तद्वचसां प्रवृत्तिदर्शनात्, अन्यथा तदसिद्धत्वाद्युद्भावनाभावप्रसङ्गात्। न ह्यनभिहितस्य दोषोद्भावनमुपपन्नम्; अतिप्रसङ्गात्। शब्दान्यत्वमन्यत्रापि समानम्।

स्यान्मतम्– अन्य एव स शब्दो यश्चाक्षुषत्वादौ सत्येव भवति, सोऽप्यन्य एव यस्तदभावे। न चान्यस्य दोषेणान्यस्य दोषवत्त्वं चौरदोषेण साधोरपि तद्वत्त्वप्रसङ्गादिति; तन्न; अन्यत्रापि समानत्वात्। [15]अन्येषामपि हि शब्दानां स्वविषयभावभाविनां तद्विपरीतानाञ्च परस्परतो विशेषात्। विशेषानवभासनस्य[16] च [17]लिङ्गशब्देष्वपि समानत्वात्[18]।

एतेन पर्युदासोऽपि प्रत्युक्तः; लिङ्गशब्दवदितरेषामपि वस्तुगोचरत्वेन अवस्तु[19]विषयत्वानुपपत्तेः। लिङ्गशब्दानामप्यवस्तुविषयत्वमेव लिङ्गस्यावस्तुरूपत्वात्, स्वलक्षणं हि वस्तूच्यते तस्यैवार्थक्रियासामर्थ्यात्, न च तस्य लिङ्गत्वमनन्वयात्, साध्येनान्वितं च लिङ्गम्, स्वलक्षणस्य च न धर्मिणि तदन्वयः[20] शक्यनिर्णयः, साध्यस्याद्याऽप्यनध्यवसायात्। न चानध्यवसिते साध्ये [21]तदन्वयः सुकराऽध्यवसायः; अतिप्रसङ्गात्। सपक्षे

---

१ वचनैः न्यायः अमलत्वं प्राप्यते। २ बौद्धस्य। "वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम्॥"–प्र०वा० १।४। ३ शास्त्रेण। ४ पक्षसिद्ध्यनङ्गभूत। ५ वेदस्य आ०, ब०, प०, स०। ६ इति वच–आ०, ब०, प०, स०। ७–ध्यसम्बद्धस्य स०। ८ "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्। त्रीणि रूपाण्यन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वसंज्ञकानि यस्य तत् त्रिरूपम्। त्रिरूपं च तल्लिङ्गं च तस्याख्यानम्।"–न्यायबि० पृ० ६१। ९–नस्य सा–आ०, ब०, प०, स०। १०–दवस्तु–आ०, ब०, प०, स०। ११–ति विपर्यु–आ०,ब०,प०,स०। १२ त्रिरूपलिङ्गवचन। १२ लिङ्गतत्साध्यसम्बन्धव्यतिरिक्तम्। १४ अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वादित्यादीनाम्। १५ घटपटादिशब्दानाम्। १६ घटपटादिशब्देषु इमे शब्दाः स्वविषयसद्भावे प्रयुक्ता इमे च तदभावे इति भेदानवभासनम्। १७ लिङ्गवाचकशब्देष्वपि। १८–त्वादिति न आ०, ब०, प०। १९–विषयत्वेनानुप–आ०,ब०,प०, स०। २०–यशक्य–आ०, ब०, प०। २१ स्वलक्षणलिङ्गान्वयः।

तदन्वयाध्यवसाय इति चेत्, न, धर्मिगतस्य हेतुलक्षणस्यान्यत्रासम्भवात्, तत्रैवोपलम्भात्। तथाविधस्याप्यन्यत्र भावे न किञ्चित्स्वौपदेशिकं स्यात्। सामान्यरूपेण तदेवान्यत्रेति चेत्, न, तद्रूपस्य व्यतिरिक्तस्याव्यतिरिक्तस्य वा स्पष्टप्रतिभासेनापरिच्छेदात्। प्रत्यभिज्ञानेन तत्परिच्छेद इति चेत्, न, तद्दर्शनाभावे तदनुत्पत्तेः। वासनाबलात्तदुत्पत्तौ कामिन्यादिज्ञानवदवस्तुविषयं प्रत्यभिज्ञानं भवेत्। अवस्तुविषयमेव तदस्तु सामान्यस्य तद्विषयस्यावस्तुत्वादिति चेत्, सिद्धं तर्हि लिङ्गस्यावस्तुत्वं तस्य सामान्यरूपत्वात्। तदनेन तत्साध्यसम्बन्धस्याप्यवस्तुत्वं निवेदितम्। न हि सम्बन्धिनः सामान्यस्यावस्तुत्वे तत्सम्बन्धस्य वस्तुत्वमुपपन्नम्, वन्ध्यासुतनन्दनयावस्तुत्वे तत्सौन्दर्यवस्तुत्वप्रसङ्गात्। तथा लिङ्गादिशब्दानामपि वस्तुगोचरत्वं यतस्तद्वदन्येषामपि तद्गोचरत्वं सम्भाव्येत इति चेत्, उच्यते—

अवस्तु यदि लिङ्गं स्यात्सर्वशक्तिविवर्जितम्।
कथं तद्विषयो वित्तेर्विषयः कारणं हि सः ॥१७५॥

यद्यवस्तुरूपमेव लिङ्गं ते तर्हि सकलशक्तिवैकल्यस्वभावं कथं तत् कस्यचिद्विज्ञानस्य विषयः स्यात्? विज्ञानं प्रति कारणस्यैव तद्विषयत्वात्, "नाकारणं विषयः" [ ] इति वचनात्। न चावस्तुनः कारणत्वम्, वस्तुत्वप्रसङ्गात्, अर्थक्रियासामर्थ्यस्य तल्लक्षणत्वेनाभ्यनुज्ञानात्। अकारणत्वेऽप्यवस्तुग्रहणे वस्तुग्रहणमपि स्यादित्यसदेवतत्—"नाकारणं विषयः" इति।

वस्तुनो यदि वेद्यत्वमनिमित्तस्य [11]कस्यचित्।
[12]सर्वस्यैकेन संवित्तिः [13]सर्वैरेकस्य वा भवेत् ॥१७६॥
सर्वस्य सर्ववेदित्वमनुपायं ततो भवेत्।
प्रतिपाद्यादिभावस्य कथयाऽपि कथं गतिः ॥१७७॥
अवस्तुवेदि(द)नेऽप्येतद्दूषणं दृश्यते समम्।
ततस्तस्यापि[14] वेद्यत्वमहेतोरेवमुच्यताम् ॥१७८॥

यद्यकारणस्यैव कस्यचिद्वस्तुनो ग्रहणम्, तदा सर्वस्यैकेन ग्रहणम् अकारणत्वाविशेषादित्युपायाभ्यासरहितमेव सर्वस्य सर्वदर्शित्वं भवेत्। वादिप्रतिपन्नस्यैव च प्रतिवादिना प्रातिभकेऽपि नियमेन प्रतिपत्तौ न वार्तयापि प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः प्रतिष्ठातुं शक्यते। न हि [15]प्रतिपन्नतत्त्व एव परः प्रतिपादयितव्यः, प्रतिपादकस्यापि प्रतिपाद्यत्वेनानवस्थानप्रसङ्गादि-[16]त्ययं पर्यनुयोगं परस्य स्वमतं प्रत्यनुपगमयमान्यमावेदयति। न ह्यपरीक्षितं परीक्षाक्षोपमः[17] स्व-

---

१ धर्मिमात्रोपलम्भकस्यापि सपक्षे सद्भावे। २ अन्यव्याप्ति। ३ बौद्धस्य वा अन्यापोहरूपस्य सामान्यस्य। ४ प्रत्यभिज्ञानानुत्पत्तेः। ५ प्रत्यभिज्ञानम्। ६–न सा–आ०, ब०, प०, स०। ७ सम्भाव्यते आ०, ब०, प०, स०। ८ बौद्धानाम्। ९ बौद्धस्य। तर्हि–आ०, ब०, प०, स०। १० "अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः।" –न्यायबि० टी० १२। ११ कस्य चेत् आ०, ब०, प०, स०। १२ सर्वस्य। १३ ज्ञानैः। १४ वस्तुनोऽपि। १५ ज्ञातार्थः। १६–तत्त्वप्रसङ्गादि–आ०, ब०, प०, स०। १७–मानस–आ०, ब०, प०।

पक्षघातिनमेव दोषं परपक्षे निक्षिपति । समानः खल्वयं पर्यनुयोगः [1]परस्यापि । अवस्तुनोऽप्यकारणस्यैव ग्रहणे सर्वसर्वज्ञत्वस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावाभावस्य च समानत्वात् । न हि नियामकाभावे तत्रापि विज्ञानानां विषयप्रतिनियमः सम्भवति । विज्ञानशक्तेर्नियामकत्वं वस्तुग्रहणेऽपि समानम् । ततो वस्तुवदवस्तुनोऽपि नाकारणस्य संवित्तिरिति सर्वहेतूनां सुबुद्धमज्ञातासिद्धत्वमववुध्यते । किञ्च, 'लिङ्गम्, अवस्तु च' इति व्याहतम् । लीनमर्थं गमयतीति हि लिङ्गम्, लीनार्थगमनञ्च नापरं तज्ज्ञानकरणात्, न चावस्तुनस्तत्करणम्; वस्तुत्वप्रसङ्गादित्युक्तत्वात् । तत्कथं तद्वचनस्यासाधनाङ्गवचनस्य निग्रहस्थानत्वं न भवेत? वस्त्वेकत्वाध्यवसायात् वस्त्वेव लिङ्गम्, वस्तुना हि धूमादिस्वलक्षणेन धूमत्वादिसामान्यमेकत्वेनाध्यवसितं वस्त्वेव ततो न तस्याशक्तिर्येनाग्रहणमलिङ्गत्वञ्चेति चेत्; न सारमेतत्; यस्मात्–

अवस्तुनोऽपि शक्तिश्चेद्वस्त्वेकत्वेन निर्णयात् ।
अवस्त्वभेदनिर्णीतेरशक्तिर्वस्तुनो न किम् ? ॥१७९॥
विशेषस्याप्यशक्तत्वे सामान्यवदवस्थिते ।
कुतोऽनुमेयसंवित्तिं लभन्ते हन्त ! सौगताः ॥१८०॥
एकत्वाध्यवसायेऽपि बलवत्त्वेन वस्तुनः ।
अवस्तुनि भवेच्छक्तिर्नाशक्तिर्वस्तुनीति चेत ; ॥१८१॥
अनन्वितत्वमप्येवं वस्तुधर्मः कथन्न ते ।
शक्तिवत्प्रविशेल्लिङ्गे वस्त्वेकत्वेन निश्चिते ॥१८२॥
सामान्यस्यैव लिङ्गत्वमन्वयार्थं तवेच्छतः ।
असाधारणतास्यैवं प्राप्तेयं व्यभिचारकृत् ॥१८३॥
सामान्यं पुनरन्यच्चेदन्वयायोपमृग्यते ।
[10]वस्त्वभेदनयाभावे कथं तस्यापि लिङ्गता ॥१८४॥
तदभेदनये तस्य प्राच्यवत्स्यादनन्वयः ।
पुनः सामान्यकल्पिस्तु जनयेदनवस्थितिम् ॥१८५॥
एतेनाभ्यासभीमे[11] यत्प्रत्यक्षमुपवर्णितम्[12] ।
अविसंवादशून्यत्वं तस्याप्युक्तमनन्वयात् ॥१८६॥

अभ्यासावस्थायां हि दृश्यप्राप्ययोरेकत्वमध्यारोप्य तत्सामर्थ्याद्प्रत्यक्षस्याविसंवादकत्वं[13]

१ बौद्धस्यापि । २ घटज्ञानस्य घट एव विषयः न तु पटः इत्याकारक । ३–नकार–आ०, ब०, प० । ४–नस्तत्कारणत्वं व–आ०, ब०, प०, स० । ५ सौगतमतोपजीविवादिवचनस्य । ६ अवस्तुना सह एकत्वाध्यवसायात् वस्तुनः अशक्तिः किन्न स्यात् ? ७ यथा धूमस्वलक्षणगता शक्तिः एकत्वाध्यवसायबलात् धूमसामान्ये उपसङ्क्रामति तथा धूमस्वलक्षणगतमनन्वितत्वमपि धूमसामान्ये उपसङ्क्रामेत् तथा च अनन्वयात न हेतुत्वमिति भावः । ८ भवेच्छतः आ०, ब०, प०, स० । ९ सामान्यस्यैव । १० वस्तुना सह एकत्वाध्यवसायाभावे । ११ अभ्यासबहुत्वे ।–सभूमौ य–आ०, ब०,प०,स० । १२ वार्तिकालङ्कारे (११२) । १३–स्यापि संवादकत्व–आ०, ब०, प०

मनुमन्यते परैः 'यत्रैव दृष्टं तदेव प्राप्तम्' इत्यभिप्रायनिवेदनात्, सर्वकत्वस्याप्यवस्तुस्वभावस्य वस्तुस्वलक्षणाभेदाध्यवसाये वस्तुस्वभावभूतानन्वयधर्मानुपातित्वेन [1]स्वान्वयस्वभावपरित्यागात् कथमविसंवादकारित्वं स्वलक्षणवत्? पुनरप्यविसंवादनिमित्तमेकत्वान्तरपरिकल्पनायां तदवस्थमनवस्थानम्।

स्यान्मतम्–न सर्वस्य वस्तुधर्मस्य बलवत्त्वं व्यवहारोपयोगिन एव तस्य बलवत्त्वात्, तदुपयोगित्वञ्च शक्तेरेव नान्व (नानन्व) यस्य, ततः शक्तिरेव अवस्तुन्यध्यारोप्यते नानन्वयः, तदध्यारोपे हि न प्रत्यक्षं[2] संवादाभावात्। न हि तस्यानन्वितवस्तुविषयत्वे संवादित्वं नाम अतिप्रसङ्गात्। नाप्यनुमानम्, लिङ्गाभावात्, अनन्वितस्य लिङ्गत्वायोगादिति प्रवृत्त्यादिव्यवहारः सर्व एवोच्छेद्येत, तस्य प्रत्यक्षादिनिबन्धनस्य तदभावे गत्यन्तराभावात्। न च व्यवहारमुपजीवतां तदभावोपक्रमः श्रेयान्। तदनुपजीवने तु प्रत्यक्षादिनिराकरणमभिमतमेव तथागतानाम्, सकलव्यवहारपरिस्पन्दाभावे निरवशेषविकल्पनिष्क्रान्तस्य संवेदनपरमार्थपर्यवसितस्य सर्वथा मुक्तत्वेन प्रत्यक्षादिचिन्तया प्रयोजनाभावात्। तदुक्तम्–

"[11]यद्यद्वैते न दोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथा।
यदर्थं व्यवहारश्चेत् प्रत्यक्षाद्यपि चिन्त्यताम्॥"[प्र०वार्तिकाल० १।३६] इति।

तत्र प्रयोजनवशाच्छक्तिरेवाध्यारोप्यते [12]नानन्वय इति, तदसमीचीनम्, अनन्वयानारोपे शक्तेरप्यनारोपप्रसङ्गात् [13]तस्यास्तत्स्वभावात्। न हि सा तत्स्वभावा [14]ततो निष्कृष्याध्यारोपयितुं शक्यते, स्वरूपत एव निष्कर्षणासम्भवात् स्वरूपाभावप्रसङ्गात्। कल्पनया निष्कर्षणमिति चेत्, न, अनिष्कृष्टस्वभावायाः सतोऽपि[15] तदसम्भवात्। न हि कल्पनाप्यभेदिनीं[16] भिनत्ति [17]तदानीमेव तदभेदाभावप्रसङ्गात्। अन्यथा भिनत्तीति चेत्, न, सदा शक्तेरेवाभावात्[18]। न ह्यविद्यमाना भेत्तुं शक्यते, [19]तदापि तद्भावे क्षणक्षयित्वाभावापत्तिः। सत्यम्, न कल्पनया भिद्यते शक्तिः, केवलमभिन्नापि भिन्नेव तस्यां [20]प्रत्यवभासत इति चेत्, कल्पनागतैव तर्हि शक्तिरध्यवसितव्या, न वस्तुगता। न चैतरपर्यं भवताम्, तच्छक्तेरप्यवस्तुत्वप्रसङ्गात्। न चावस्तुनस्तथाविधादेव सामर्थ्यादर्थक्रियाकारित्वं कूर्मरोमसामर्थ्याध्यासाद् वन्ध्यासुतस्यापि सुखप्रयोजनकारित्वप्रसङ्गात्। वस्तुभूतैव [21]कल्पनाशक्तिः वस्तुशक्तेस्तत्राध्यासादिति चेत्, न, अनन्वितायाः एवाध्यासप्रसङ्गात् तस्वस्वभावत्वात् अनन्वयनिष्कृष्टाया असम्भवात्। कल्पनया सम्भव इति चेत्, न, 'कल्पनागतैव[22] तर्हि' इत्यादेरावृत्त्या

---

१ "ततो व्यवहारप्रसिद्धमवयविन एकत्वं समाश्रित्य यत्रैव दृष्टं तदेव प्राप्तमिति व्यवसायात् प्रमाणताव्यवहारः स च एकत्वाध्यवसायो दैशकालाद्यभेदात्।"–प्र० वार्तिकाल० १।५। २–वस्त्वनुग–आ०, ब०, प०। ३ सान्वय–आ०, ब०, प०, स०। ४ नान्वयः आ०, ब०, प०, स०। ५ वस्तुगतस्य अनन्वितस्य अध्यारोपे। ६–र्शं प्रसंवाद–आ०, ब०, प०, स०। प्रमाणमर्थ भवेदिति भावः। ७ प्रमाणस्य। ८ व्यवहाराभावात्। ९ संवेदनस्य पर–आ०, ब०, प०, स०। १० जगत्। ११ "यद्यद्वैतेन दोषोऽस्ति ... व्यवहारस्त्वेषपरमोऽपि चिन्त्यताम्।"–प्र० वार्तिकाल० १।३६। 'न दोषोऽस्ति' अस्मिन् पाठे 'यद्यद्वैतं निर्दोषम्' इत्यर्थो भाव्यः। १२ नान्वयः आ०, ब०, प०, स०। १३ धर्मधर्मिणोरभेदात् शक्तेरपि वस्तुवत् अनन्वयस्वभावत्वात्। १४ अनन्वयतः। १५ कल्पनातोऽपि। १६ शक्तिम्।–प्यभेदेन भिन्नं–प०। १७ उत्पत्तिक्षण एव। १८ अभिन्नस्वभावायाः। १९ उत्तरक्षणेऽपि। २० कल्पनायाम्। २१ कल्पनायां प्रतिभासिता शक्तिः। २२ पत इव त–आ०, ब०, प०, स०।

चक्रकप्रसङ्गादनवस्थानापत्तेश्च। तत्र अवस्तुनि वस्त्वध्यासः सम्भवति, यतोऽध्यासावस्थायां दृश्यप्राप्ययोरेकत्वस्य अविसंवादकारित्वं लिङ्गस्य वा स्वरूपसाध्यसंवित्तिहेतुत्वमिति दुष्परिहारमज्ञातासिद्धत्वं सर्वलिङ्गानाम्, तेषामवस्तुसामान्यरूपतया स्वज्ञानाहेतुत्वात्। अत एव साध्यसंवित्तिकरणाभावात् [1]तद्वचनानामसाधनाङ्गवचनत्वञ्च।

वस्त्वेव यदि सामान्यं ज्ञानरूपतयोच्यते।
[2]लिङ्गताऽर्थस्य हन्तैवमसामान्यात्मनः कथम्? ॥१८७॥
अर्थादेव च धूमादेर्व्यवहाराय सौगताः।
पावकाद्यनुमानेन प्रवृत्तिं कल्पयन्त्यमी ॥१८८॥
अध्यासाज्ञा (साज्ज्ञा) नधर्मस्य यद्यर्थस्यापि लिङ्गता।
अध्यस्तं ननु सामान्यमवस्त्वेवेति भापितम् ॥१८९॥
[3]ज्ञानात्मनापि सामान्यं वस्तु यद्यन्वयात्मना।
अर्थात्मनाऽपि किन्न स्याद्वस्तु सामान्यमन्वितम्? ॥१९०॥
अन्वयग्रहणं यद्वज्ज्ञानेऽर्थेऽपि तथा भवेत्।
ततोऽभिधेयं वस्त्वेव वहिः सामान्यमागतम् ॥१९१॥
नचैतदभ्यनुज्ञानं सौगतानां हितावहम्।
"तदवस्त्वभिधेयत्वात्" इति [4]कीर्तिवचःश्रुतेः ॥१९२॥
[5]स्वालक्षण्येन सामान्यं वस्तु चेज्ज्ञानगोचरम्।
व्याजोक्त्या किम्? न सामान्यं सर्वथास्तीति कथ्यताम् ॥१९३॥

स्वलक्षणरूपतयैव ज्ञानगतस्यापि सामान्यस्य वस्तुत्वे वहिरन्तश्च स्वलक्षणमेवास्ति वस्तुतो न सामान्यमिति स्पष्टमभिधातव्यं किमनया 'ज्ञानात्मना वस्त्वेव सामान्यम्' इति व्याजोक्त्या? न च सामान्याभावे वचनव्यवहारोऽपि विपयाभावात् स्वलक्षणस्यातद्विपयत्वात्। ज्ञानस्वलक्षणमेवाग्राह्यमपि ग्राह्यतया अनन्वितमप्यन्वितत्तयाऽध्यवसीयमानं सामान्यमिति चेत्; कुतस्तस्य तथाऽध्यवसायः? स्वत एवेति चेत्; न; स्वलक्षणतयैव स्वतस्तस्य वेदनसम्भवात्तत्स्वभावत्वात् न सामान्यरूपेण विपर्ययात्। [10]तदपि तस्य स्वभाव इति चेत्; न; वस्तुत एव सामान्यसिद्धेरुक्तत्वात्। अस्वरूपमपि वासनादोपात्तेन[11] तद्गृह्यत इति चेत्; न, प्रतिवन्धाभावात्। न हि [12]ततस्तस्योत्पत्तिः; तस्यावस्तुत्वेनाहेतुत्वात् प्रतिवन्धान्तरस्य[13] चानभ्युपगमात्। कारणत्वमेव च ग्राह्यत्वम्, "ग्राह्यतां विदुर्हेतुत्वमेव" [प्र०वा०२।२४७] इति वचनात्[14]। अकारणस्यापि [15]तस्य स्वयोग्यतयैव संवेदनं ग्राहकमिति चेत्; न; स्वमतव्याघातेन[16] ध्यान्ध्य-

१ हेतुप्रतिपादकवचसाम्। २ लिङ्गतोऽर्थ–आ०, व०, प०, स०। ३ ज्ञानात्मना भासमानमपि सामान्यम्। ४ "न तद्वस्त्वभिधेयत्वात्–तत् 'सामान्यं न वस्तुरूपादिस्वभावम् अभिधेयत्वात्।"–प्र० वा०, म० २।११। धर्मकीर्ति। ५ ज्ञानस्वलक्षणरूपतया। ६ कथ्यते आ०, व०, प०, स०। ७ शब्दागोचरत्वात्। ८ प्र० वा ३।७५–७७। द्रष्टव्यम्–पृ० २२ टि० ५। ९ ज्ञानस्वलक्षणस्य। १० सामान्यरूपमपि। ११ तेन ज्ञानस्वलक्षणत्वेन तत् सामान्यम्। १२ ततः सामान्यात् तस्य ज्ञानस्वलक्षणस्य। १३ कार्यकारणभावातिरिक्तस्य। १४ "भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेत्; ग्राह्यतां विदुः। हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥"–प्र० वा०। १५ सामान्यस्य। १६ न वान्ध्य–आ०, व०, प०, स०।

प्रसङ्गात्। अपि च, अवस्तुतोऽपि सामान्यस्यैव संवित्तिविषयस्य स्यादन्वितरूपत्वाविशेषात्। वक्ष्यते चैतत्–

"प्रमाणमर्थसम्बन्धात्प्रमेयमसदित्यपि ।
केवलं व्यान्ध्यमेवैतत्किञ्च सन्तं समीक्ष्यते ॥" [न्यायवि०का०२८९] इति।

तदाभासरूपस्य ग्रहणम्। ततो न बहिरन्तर्वा सामान्यं वस्तुभूतमभावस्तुभूतमपि सम्भवति यल्लिङ्गं भवत् शब्दवाच्यं भवेत्।

तदनेन लिङ्गसाध्यसम्बन्धस्य तद्वाच्यत्वं प्रत्युक्तम्, लिङ्गाभावे तत्साध्यसम्बन्धस्यायोगात्। ततो यदुक्तम्–"लिङ्गस्य तत्साध्यसम्बन्धस्य वा प्रतिपादकं वचनं परार्थमनुमानम्" [ ] इति, तत्प्रतिविहितम्। न लिङ्गेऽपि वचनमव्यभिचारितया प्रत्ययकरं सदपि तस्मिन् प्राक्प्रवृत्तप्रतिबन्धविषयप्रमाणपर्यालोचनादेव लिङ्गप्रतिपत्तेः वचनमात्रात्तदभावात्। वचनं तु केवलं तत्प्रमाणानुस्मरणमेवोपस्थापयतीति तत्रैव तत्प्रमाणं न बहिरर्थे। तदुक्तम्–"अर्थे हि वचनमप्रमाणं प्रमाणे तु प्रमाणमिति न किञ्चित्क्षीयते" [ ] इति चेत्, न, प्रमाणेऽपि तस्य स्वयोग्यतयैव प्रमाणत्वे तृतीयं तत्प्रमाणं भवेत्। शाब्दज्ञानस्य विकल्पत्वेन प्रत्यक्षानन्तर्भावात् लिङ्गनिरपेक्षत्वेन चाननुमानत्वात्। ततः प्रमाणसंख्यानियमं एव क्षीयत इति कथमुक्तम्–'न किञ्चित्क्षीयते' इति ? भवतु तर्हि वचनमनुमानमेव प्रमाणे[1] तस्य तत्र प्रतिबद्धत्वेन लिङ्गत्वोपपत्तेरिति चेत्, कस्य तत्प्रमाणं यत् वचनादनुमातव्यम् ? प्रतिपादकस्येति चेत्, अपपन्नमेतत्, वचनस्य [10]तत्रैव भावात्। लिङ्गं हि यत्र स्वयमवस्थितं तद्गतमेव साध्यं गमयति नान्यगतम्, पर्वतधूमात् [11]महोदधौ पावकानुमानप्रसङ्गात्, किन्तु तेनानुमितेनापि प्रतिपाद्यस्य किं फलमिति वक्तव्यम् ? सम्बन्धग्रहणमिति चेत्, न, अन्यप्रमाणेनान्यस्य तद्ग्रहणायोगात् प्रतिपुरुषं प्रमाणभेदकल्पनावैयर्थ्यापत्तेः एकीयप्रमाणेनैव सर्वस्य तद्विषयपरिच्छेदसम्भवात्। तन्न प्रतिपादकस्य तत्प्रमाणम्।

प्रतिपाद्यस्येति चेत्, न, वचनस्य तत्राभावात् प्रतिपादकवचनाच्च न [12]तदनुमानम्, प्रतिबन्धाभावात्। न हि प्रतिपाद्यप्रमाणोद्भवं प्रतिपादकवचनम्, सन्तानान्तरासिद्धिप्रसङ्गात्[13], सन्तानान्तरभाविनो [14]व्याहारादेः स्वबोधादेवोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तज्जातीयादुत्पन्नं ततोऽप्युत्पन्नमेवेति चेत्, स्यान्मतम्–प्रतिपाद्यप्रमाणसजातीयं हि प्रतिपादकप्रमाणम्, तदुद्भवं[15] वचनं प्रतिपाद्यप्रमाणादप्युत्पन्नमेव ततस्तदनुमानम्। न चात्रापक्षधर्मत्वम्, तत्सजातीयपक्षधर्मत्वेनैव तत्पक्षधर्मत्वस्यापि लाभादिति, तदसारम्; स्वसम्बन्धिनो व्याहारादेर्मृताभिमतशरीरे चैतन्यानुमानप्रसङ्गात्, तस्यापि तत्सजातीयकार्यत्वा-

१ लिङ्गसम्बन्धवाच्यत्वम्। २ वचने। ३ अविनाभावग्राहिप्रत्यक्षानुपलम्भादिविकल्पज्ञान। ४ प्रमाणानुस्मरणे। ५ वचनस्य। ६–मः स्ती–आ०, ब०, प०, स०। ७ व्याप्तिग्राहिप्रमाणे। ८ वचनस्य। ९ प्रमाणे। तत्प्रति बन्ध–आ० ब०, प०। तत्र प्रतिबन्ध–स०। १० प्रतिपादक एव। ११ महामसादौ पावकानु–आ०, ब०, प०, स०। १२ प्रतिपाद्यप्रमाणानुमानम्। १३ प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरेकसन्तानत्वं स्यादिति भावः। १४ वच नादेः। १५–र्थं हि वच–आ०, ब०, प०, स०। प्रतिपादकप्रमाणोद्भवम्।

विशेषात्। [1]तत्र चैतन्यमेव नास्ति कथं तत्सजातीयत्वमात्मचैतन्यस्येति चेत्? प्रतिपाद्येऽपि तर्हि प्रमाणमस्तीति कुतः यतस्तत्सजातीयत्वं प्रतिपादकप्रमाणस्य स्यात्? अत एवानुमानादिति चेत्; न; [2]उभयत्र [3]साम्यात्। अनुमानात्तत्सिद्धौ[4] तत्सजातीयत्वं स्वचैतन्यस्य, ततोऽपि वचनस्य तत्सजातीयकार्यत्वम्, अतश्च मृतशरीरे चैतन्यं सिद्ध्यति, इति चक्रकापादनस्य च प्रतिपाद्यप्रमाणानुमानेऽप्यनिवारणात् ततो मृतव्यवस्था क्षीयते इति; अत्रापीदं वक्तव्यम्–'कथमुक्तम्–न किञ्चित्क्षीयते' इति। तत्र प्रमाणेऽपि वचनस्य प्रामाण्यं बहिरर्थवत्। सत्यमेतत्, न हि वचनात्प्रमाणप्रतिपत्तिः स्वसंवेदनादेव तत्प्रतिपत्तेः, वचनं तु केवलमनुवादकमेवेति चेत्; किमिदमनुवादकत्वं नाम? प्रतीतप्रत्यायनमिति चेत्; न; वचनात् तत्प्रतीत्यभावात्। न हि यादृशस्य स्वसंवेदनात्प्रतिपत्तिः प्रमाणस्य तादृशस्य वचनादस्ति प्रतिपत्तिः; तस्य स्वलक्षणाकाराविषयत्वात्। आकारान्तरविषयत्वे तु न तेन प्रमाणमनूद्यते। न ह्यन्यविषयेणान्यदनूदितं भवति, अतिप्रसङ्गात्। [9]तद्विषयसामान्याकारस्य प्रमाणस्वलक्षणैकत्वाध्यवसायात् तेन[11] तदनूद्यत एवेति चेत्; न तदाकारस्य तदेकत्वाध्यवसायस्य च चिन्तितत्वात्। ततो वचनमकिञ्चित्करमेवेति न तेन शास्त्रमन्यद्वा कर्त्तव्यम्। [12]परस्य कुर्वतश्च [13]तत् वस्तुतो वस्तुगोचरं तृतीयमेव प्रमाणमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा [14]तत्कृतस्य शास्त्रादेरकृतकल्पत्वप्रसङ्गादित्येतद् **'वचोभिः'** इत्यनेन निवेदयति।

वचसां विशेषणमाह–**'त्रानुकम्पापरैः'**इति। त्रायते सांसारिकघोरदुःखगर्त्तावर्त्तपरिपातात् परिपालयतीति त्रा, सा चासावनुकम्पा कृपा च सैव अपरा आदिभूता हेतुत्वेन येषां तैरिति। परशब्दस्योत्तरार्थत्वात् तत्प्रतिपक्षवाचिनश्च अपरशब्दस्य आद्यार्थत्वोपपत्तेः एवं व्याख्यानम्। तदनेन [15]परपरिरक्षणपरायणया कृपया वचसां प्रवृत्तिं दर्शयन् शास्त्रस्य पारार्थ्यं दर्शयति। के पुनस्तच्छब्देन परामृश्यन्ते? येषामयं न्यायो मलिनीकृत इति ब्रूमः। केषां मलिनीकृत इत्याह–**'बालानाम्'**इति। हितेतरविवेकविकला बालास्तेषामिति।

यद्येवं न ते प्रज्ञाबलविकलत्वादेव सुभाषितैरर्थिनो भवन्ति, बलवत्प्रज्ञानां हि महात्मनामेष धर्मो न पुनरप्रतिबलप्रज्ञानां बालानाम्। ते हि सहजात् [16]आहार्याच्च मात्सर्यबलान्न केवलमनादरमेव सूक्तालापिषु कुर्वन्ति प्रत्युत [17]प्रद्वेषमप्यारचयन्ति ततो न परोपकारचिन्तया शास्त्रकृपायामनुबद्धस्पृहं मनः कर्त्तव्यम्, अपि तु सूक्तगोचरसुचिराभियोगविवर्द्धितव्यसनया चित्तवृत्त्यैवेति। तदुक्तम्–

"प्रायः प्राकृतशक्तिरप्रतिबलप्रज्ञो जनः केवलं
[18]नानर्थ्येव सुभाषितैः परिगतो विद्वेष्ट्यपीर्ष्यामलैः।

१ मृतशरीरे। २ प्रतिपाद्यगतप्रमाणे मृतशरीतगतचैतन्ये च। ३ सामान्यात् आ०,ब०,प०। ४ मृतशरीरे चैतन्यसिद्धौ। ५ अस्मादेवानुमानात् प्रतिपाद्यगतप्रमाणसिद्धौ तत्सजातीयत्वं प्रतिपादकप्रमाणस्य, ततोऽपि वचनस्य तत्सजातीयकार्यत्वमतश्च प्रतिपाद्यप्रमाणसिद्धिरिति चक्रकम्। ६ स्वसंवेदनानुभूतप्रमाणप्रतीत्यभावात्। ७–शस्य संवे–आ०,ब०,प०। ८ वचनस्य। ९ वचनेन। १० वचनविषय। ११ वचनेन। १२ बौद्धस्य शास्त्रादिकं कुर्वतः १३ वचनम्। १४ तत्कृतशा–आ०, ब०, प०। १५ परिर–आ०, ब०, प०। १६ आरोपितात्। १७ प्रद्वेषमेवाचरयन्ति आ०, ब०, प०। १८ नानर्थैव–आ०, ब०, प०।

तेनायं न परोपकार इति नश्चिन्तोऽपि [1]चेतश्चिरं
सूक्ताभ्यासविवर्द्धितव्यसनमित्यत्रानुबद्धस्पृहम् ॥" [प्र० वा० १।२]

इति चेत्, अत्राह–हितकामिनाम्। हितानि न्यायविनिश्चयवचनानि हितस्य परमागमस्य [2]वेः नैर्मल्यनयनात्। परमागमस्य च हितत्वं हितस्य निःश्रेयसस्य तत्कारणस्य च यथावदन्वाख्यानात्। तानि कामयन्ते प्रतिग्रहीतुमिच्छन्तीति हितकामिनस्तेषामिति।

कुतः पुनः तज्जना हितकामित्वम्? न हि ते हितमिदमिति जानन्ति बाल्यविरोधात्, अजानन्तश्च कथं नाम तत्कामयन्ताम्, परिज्ञातविषयत्वात्कामनाया इति चेत्? न, अव्युत्पन्नसन्दिग्धयोः स्वयं तत्परिज्ञानाभावेऽप्याचार्यवचनात्तदुपपत्तेः, आचार्ये तयोराप्तबुद्धिसम्भवात्, असम्भवदाप्तबुद्धिकयोरनन्ययोरप्रतिपादनेऽप्यदोषात्, "क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्" [ ] इति न्यायात्। विपर्यासोपहतस्य तु यद्यपि न तत्र हितबुद्धिस्तथाऽप्यसौ पूर्वपक्षबुद्ध्या तत्कामयत एव अपरिज्ञातपूर्वपक्षस्य स्वपक्षनिर्णयासम्भवात् "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः" [न्यायसू० १।१।४१] इति वचनात्। न हि धर्मकीर्त्तेरपि 'सूक्ताभ्यास' इत्यादि वचनात् सूक्ताद्दित्वं प्रकारान्तरात् सम्भवति। न हि तस्यापि स्वत एव सूक्तपरिज्ञानम्, अन्यथा तद्वदन्येषामपि तत्सम्भवात् 'अप्रतिभलप्रज्ञो जनः' इत्यसङ्गतं स्यात्। अथ येषां तदसम्भव, तान्प्रति शास्त्रमेवेदमिति चेत्, न तर्हि सर्वथा शास्त्रस्यापरार्थत्वम् असम्भवत्परिज्ञानान् प्रति अपरार्थत्वेऽपि तद्विपरीतान् प्रति तस्योपपत्तेः। तथा चेदमपर्यालोचितवचनम् 'तेनाऽयं न परोपकारः' इत्यादि। स्वयं च शास्त्रान्तरस्य "कृपया तमीतिरुपोत्पतेः" [ ] इति कृपापदोपादानात् पारार्थ्यमभ्यनुजानन्नेव वार्त्तिकस्य [3]तत्प्रत्याचष्ट इति कथमनुन्मत्तो नाम? न हि शास्त्रस्यैव कल्पितपारार्थ्यम् अपारार्थ्यमपरस्यानुन्मत्तः प्रतिपत्तुमर्हति। ततोऽनुकम्पावतो पारार्थ्येनैव शास्त्रकरणं न व्यसनितया।

नन्वनुकम्प्यतामव्युत्पन्नः सन्दिग्धश्च, विपरीतस्तु कथं प्रतिकूलत्वात्? न हि स्वमतप्रतिकूलमेव कश्चिदनुकम्पितुमर्हतीति चेत्, न, महापुरुषव्यापारस्यैवंविधत्वात्, महान्तो हि प्रतिकूलेऽप्यनुकम्पामेवोपनयन्ति। न च सेयमसौ निष्फलैव, तत्त्वप्रतिपादनस्य तत्फलस्य भावात्। प्रतिपाद्यमानोऽप्यसौ" मत्सरित्वान्न प्रतिपद्यते प्रत्युत तत्प्रत्याख्यानायैव प्रवर्त्तते ततो विफलैव तत्रानुकम्पेति चेत्, किमिदं प्रतिपाद्यमानत्वं नाम? प्रतिपत्तिकारणोपसमर्पणमिति" चेत्, न तर्हि "तदप्रतिपत्तिः अविफलकारणसमर्पणे ह्यनिष्टतोऽपि तत्प्रतिपत्तिरवश्यम्भाविनी सन्निहितप्रदीपस्यानभिमतरूपदर्शनवत्। प्रतिपद्यमानोऽपि तदङ्गीकारं न समर्पयति मात्सर्यादिति चेत्, न, उपपत्तिमद्वस्तुप्रतिपत्तौ मात्सर्यपरित्यागस्यापि सम्भवात्। विजिगीषुतया प्रवृत्तस्य तेजस्विनो

१ "चेतसतः"–प्र० वा०। २–हानवि–आ०, ब०, प०। ३ इष्टं सम्यक्। ४ धर्मकीर्तेरपि। ५ सम्भवपरिज्ञान् शिष्यान्। ६ प्रमाणवार्त्तिकस्य। ७ परार्थ्यम्। ८–तय क–आ०, ब०, प०। ९ विरोधे अनुकम्पा। १० विरोधः। ११–समर्पमिति–आ०, ब०, प०। १२ विरोधिनस्य अप्रतिपत्तिः।

न [1]तत्परित्यागसम्भव इति चेत्; न; स्वयं तदपरित्यागेऽपि प्राश्निकैः तत्प्रत्युक्तेन [2]परिषद्बलेन वा [3]तत्परित्यागस्य प्रयोजनात्। मत्सरिणोऽप्यनुकम्पनीयत्वे निग्राह्यत्वं न स्यात् 'अनुकम्प्यते निगृह्यते च' इति विरोधादिति चेत्; सत्यमेतत्; वस्तुतो निग्रहाभावात्। न हि तत्त्वज्ञानस्य निःश्रेयसावाप्तिनिबन्धनस्य पात्रतामुपनीयमान एव निगृह्यते, तदुपनयनस्यानुग्रहत्वात्। कथं तर्हि कथितम् "स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः" [ ] इति चेत्? न; निग्रहशब्देन मिथ्याभिनिवेशनिवर्त्तनस्याभिधानात्। स्वपक्षसिद्धिस्तेनाभिधीयत इति चेत्; न; तत्सिद्धेरपि [4]तन्निवृत्तिरूपत्वात्। न च तन्निवर्त्तनस्य वस्तुतो निग्रहस्थानत्वम्; अनन्तसंसारसरित्पातनिबन्धनतदभिनिवेशनिवर्त्तनस्य सुतरामनुग्रहस्थानत्वात्, निग्रहस्थानशब्देनाभिधानं तु प्राश्निकाभिप्रायवशात्। प्राश्निकाः खलु तस्य [5]तन्निवर्त्तनादङ्गीकृतवस्तुनिर्वाहशक्तिवैकल्यमाकलय्य पराजयमुद्घोपयन्ति, स्वयं च वादी तेजस्वितया स्वशक्तिभङ्गेन [6]खिद्यते इति [7]तदभिसन्धिवशात्तन्निवर्त्तनं निग्रहस्थानमुक्तं न वस्तुतः। नन्वेवमपि तस्यास्त्येव परितापः, न चानुकम्पाविषयः परितापयोग्य इति चेत्[8]; भवतु कियानपि परितापो न चैतावता तदनुकम्पा दुष्यति, दुरन्तदुःसहसंसारदुःखकारणस्य [9]ततस्तयाऽपसारितत्वात्। न हि महतो व्याधेरपसारकारणमातुरस्य तदात्वकटुकमपि [10]दिव्यमौषधं दोषमुद्वहति।

भवत्वियं तत्र वार्ता यस्यैवमभिप्रायः 'प्रतिवादिवचनेनोपपत्तिभूषितेनोद्घाटितो[11] मम निरवद्यनिःश्रेयसप्रासादशिखराधिरोहणद्वारकवाटो विघटितश्चाधोगतिपातालप्रवेशमार्गः चिराय मे कृतार्थत्वं भवितव्यताबलेनोपस्थापितम्' इति भूयसः परितापस्याप्यभावात्, यस्य तु सभ्यसाक्षिकं स्वबुद्धिप्रत्ययञ्च पराजितस्यापि नैवमभिप्रायः कुतश्चिदान्तरादोपात्[12] केवलं पराजयपीडैव महती, तत्र कथमनुकम्पा न दुष्यतीति चेत्? उच्यते–यदि तस्य परिपीडाभयात्पराजयो न कर्त्तव्यः तर्हि तस्य वचनप्रामाण्यात् बहवोऽप्युन्मार्गमनुपतन्तस्तस्य[13] महान्तमनन्तदुःखनिबन्धनमशुभास्रवमापादयेयुः, पराजितस्य तु तस्य वचनविश्वासाभावात् न [14]तेषां तदनुपातस्ततो नायं प्रसङ्ग इति तात्कालिकखेदहेतुत्वेऽपि अशुभास्रवनिरोधरूपमहोपकारकारणत्वात् [15]तत्राप्यनुकम्पा न दुष्यत्येव। यस्य तु प्रतिपाद्यमानस्याप्यप्रतिपत्तिः [16]अन्तरङ्गवैकल्यात्, नापि स्वमतानुरागप्रयुक्तात् [17]काकवासिताद्युपरतिं (तिः) न तत्रानुकम्पनम्–"[18]अविनेये माध्यस्थ्यम्" [ ] इत्यागमात्। नापि तस्य वस्तुवादेऽधिकारः प्राश्निकैस्तन्निवारणात्। न हि ते शक्तिविकलतयाऽध्यवसितमपि वादेऽधिकारयन्ति "समर्थवचनं वादः" [प्रमाणस० ६।५१] इति तल्लक्षणापरिज्ञानप्रसङ्गात्, काकवासितस्य च तेजस्विना नरपतिना निवारणात्। तदुपपन्नं विपरीतोऽप्यनुकम्प्यत इति।

---

१ मात्सर्यपरित्याग। २ परिषद्बलेन–आ०, ता०। सभ्येन। ३ मात्सर्यपरित्यागस्य। ४ मिथ्याभिनिवेशनिवृत्ति। ५ मिथ्याभिनिवेशनिवर्त्तनात्। ६ भिद्यते–आ०, ब०, प०। ७ प्राश्निकाभिप्राय। ८ चेद; न; भ–आ० ब, प०। ९ ततः वादितः तया अनुकम्पया। १० दिव्यसमौ–आ०, ब०, प०। ११–नोद्भूषितो आ०, ब०, प०। १२ मानकपायादिरूपात्। १३ उत्पथभाषिणो विपरीतवादिनः। १४ श्रोतॄणाम्। १५ विपरीतपक्षादन्यपि। १६ बोधशक्त्यभावात्। १७ काकशब्दवन्निरर्थकप्रलापात्। १८ "मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु।"–त० सू० ७।११।

कैः पुनस्तेषां न्यायो मलिनीकृत इत्याह–'अतिमहापापैः' इति। मलोपलेपस्य पापकार्यस्यामिनिवेदनेनाहेतुकत्वं प्रत्याचक्षाणः तस्याशक्यप्रक्षालनत्वाभावं निवेदयति, हेतुमत स्वभावस्यापि तद्धेतुविपक्षोपस्थानेन शक्यनिवर्तनत्वात्, तदभिप्रायकृतमेतत्–

"घृष्यमाणोऽपि नाङ्गारः शुक्लतामेति जातुचित्।
निजस्वभावसम्पर्कः केनचिन्न निवार्यते॥"

[प्र० वार्तिकाल० १।२३४] इति।

पापानामतिमहत्त्वप्रतिपादनं तु मलस्य तैन्मात्रनिबन्धनत्वाभावात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गः शुद्धन्यायवितामपि तैन्मात्रसद्भावाविरोधात्। कुतस्तेषां तानि पापानि? मलिनीकृतान्याया-देत्, [1]सोऽपि कैः? तैरेवेति चेत्, न, [2]परस्पराश्रयप्रसङ्गादित्यत्राह–'पुरोपार्जितैः' इति। अत्रेदमैदम्पर्यम्– न हि य एव न्यायस्तैरधुना मलिनीक्रियते तत एव तानि येनायं दोषः किन्तु प्रागेवोपार्जितानि, तदुपार्जने चापरस्तत्पुरोपार्जितो मलिनीकृतो न्यायो हेतुः सोऽपि तदपरपाप निबन्धन इत्यनादिरयं तत्प्रबन्ध इति। अनेन सहेतुको मलसम्बन्धो दर्शितः।

तं पुनरमाहात्म्यं दर्शयति–'स्वयं गुणद्वेषिभिः' इति। 'न्यायो मलिनीकृतः' इति वर्तते। गुणद्वेषिणश्चैकान्तवादिनः तैः परमागमन्यायगुणस्य सपक्षजीवादिपदार्थप्रकाशनरूपस्य द्वेषात्। सं एव कुत इत्याह–'कलिबलात्' कलिकालशक्तेः। तस्य साधारणत्वात् सर्वेषामपि तद्द्वेषः स्यादित्यत्राह–प्रायः प्राचुर्येण। तदपि कुत इत्याह–माहात्म्यात्तमसः। अविद्या-न्धकारसामर्थ्यात्। न केवलं काल एव गुणद्वेषकारणमपि स्वविद्यासामर्थ्यमपि। न च [1]तत्सर्वेषामिति भावः। विवृतो वृत्तस्यावयवार्थः।

समुदायार्थस्तु सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनलक्षणः। तत्र न्याय एवाभिधेयम्। तेन च शास्त्रस्य वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः। स च सामर्थ्योक्तः। न हि तेन[11] न्यायमब्रुवाणेन [12]स नैर्मल्यं नेतुं शक्यते। प्रयोजनं तु शास्त्रस्य न्यायनैर्मल्यनयनम्, तेन सम्बन्धो हेतुहेतुमद्भावः, शास्त्रस्य तद्धेतुत्वात्, तस्य च तत्कार्यत्वात्। स च कण्ठोक्त एव 'वचोभिर्नेनीयते' इति वचनात्।

किं पुनः शास्त्रादौ सम्बन्धाद्यभिधानस्य प्रयोजनमिति चेत्? [13]केचिदाहुः–श्रोतृजन-प्रवर्तनम्। सति हि सम्बन्धाद्यभिधाने तदभिहितप्रयोजनं प्रति आशापरवशीकृतचेतसः श्रोतृ-जनस्य शास्त्रश्रवणतदभ्यासादौ भवति प्रवृत्तिर्नासति। तदुक्तम्–

"सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते?॥

१–अमर्यादि–आ०,ब०,प०,स०। २–स्वामिना–ता०। ३ पापमेव। ४ पापौघ। ५ न्यायमलिनीकारः। ६ पापन्न्यायमलिनीकारः तस्माच्च पापैश्च इति। ७ पापानि। ८ द्वेष। ९ कलिबलस्य। १० तत्सर्वेषामपि मा–आ०, ब०। ११ शास्त्रेण। १२ न्यायः। १३ मीमांसकाः।

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥"

[मी० श्लो० १।१।१ श्लो० १२, १७] इति ;

त[1]दिदमनुपपन्नम् ; प्रेक्षावतो वचनमात्रात् क्वचित्प्रवृत्तेरयोगात् । निरवद्यप्रमाणव्यापारप्रदीपालोकपर्यवलोकिते हि वस्तुनि प्रवर्त्तमानः प्रेक्षावानित्युच्यते । स कथमनाकलितवस्तुतत्त्वाद्वचनमात्रात् प्रवर्तेत [2]प्रेक्षावत्ताविलोपप्रसङ्गात् ? वचनमपि प्रमाणत्वादाकलितवस्तुतत्त्वमेवेति चेत् ; कुतस्तस्य[3] प्रामाण्यं वस्तुनि प्रतिबन्धाभावात् ? न प्रतिबन्धात्तस्य प्रामाण्यमपि तु योग्यतयैव कृत्तिकोदयवच्छकटोदये[4], न हि त[5]त्रापि तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा प्रतिबन्धः सम्भवति, तदभावस्य यथावसरं निवेदनादिति चेत् ; किमिदं कृत्तिकोदयस्य योग्यत्वम् ? अन्यथाऽनुपपन्नत्वमिति चेत् ; न तर्हि तत्[6] वचनस्य स्वार्थापेक्षया सम्भवति, त[7]स्यापि लिङ्गत्वप्रसङ्गात् । अ[8]न्यथानुपपन्नस्याप्यलिङ्गत्वे न लिङ्गं नाम किञ्चिन तल्लक्षणान्तराभावात् । तन्नान्यथानुपपन्नत्वम्[9] । अन्यदेव तदिति चेत् ; न ; कृत्तिकोदये [10]तस्यासम्भवात् निदर्शनस्य साधनवैकल्यापत्तेः । अथ मतम्–कस्यचित्किञ्चिद्योग्यत्वम्, अन्यथानुपपन्नत्वं कृत्तिकोदयस्य अन्यच्च वचनस्य, न चैवं [11]साधनस्याऽसिद्धत्वं तद्विकलता वा निदर्शनस्य ; योग्यतासामान्यस्य हेतुत्वात्, तस्य[12] चोभयोरपि साध्यदृष्टान्तधर्मिणोर्भावादिति ; तन्न ; [13]अन्यस्यापि स्वाभाविकस्याभावात्, वचनस्य [14]समयानुपालनप्रयासवैफल्यप्रसङ्गात् । स[15] एव [16]तस्य, [17]सहकारीति चेत् ; न; [18]तस्य मिथ्याप्रत्ययहेतोरपि दर्शनात् । आप्तोपनीतस्य न तद्धेतुत्वमिति चेत् ; सत्यमेतत्, आप्तस्य यथार्थवेदितया [19]दोषविकलतया च मिथ्यावादासम्भवात् । तदेव तु नाप्तत्वमद्यापि शास्त्रकारस्य निश्चितमित्यस्माकमस्ति खेदः । माकारि खेदः । तदाप्तभावस्य सुप्रसिद्धत्वादिति चेत् ; किं तर्हि प्रयोजनवचनेन ? विनापि तेन[20] निश्चिततदाप्तभावस्य[21] तद्वचनमात्रादेव प्रवृत्तिसम्भवात् । न हि 'इदं त्वया श्रोतव्यम्' इत्याप्तेनाज्ञातः 'तद्वचनं प्रयोजनवदन्यथा वा' इति सन्दिग्धुमर्हति, तथा सन्दिहानस्य तत्राप्तबुद्धेरेवाभावप्रसङ्गात् । न ह्याप्तस्य निष्प्रयोजनवचनसम्भवः तस्य परहितोपनिबद्धशुद्धचित्ततया सर्वव्यापाराणां साफल्यनियमात् । सत्यम्, अस्त्येवाप्तवचनस्य प्रयोजनम्, तत्तु प्रतिपाद्यस्याभिवाञ्छितमन्यद्वेत्यनुपदर्शने न ज्ञायत इति चेत् ; न; उपदर्शनेऽपि समानत्वात् । न ह्युपदर्शितमित्येव अभिवाञ्छितं भवति अनभिवाञ्छितस्याप्युपदर्शनसम्भवात् । [22]अनभिवाञ्छितेऽपि प्रवृत्तिरनुपदर्शिते प्रयोजने स्यात् आप्तवचनस्यानुल्लङ्घनीयत्वादिति चेत् ; अस्तु, न कश्चिद्दोषः, तत्प्रवृत्तेः पुरुषार्थहेतुत्वात् । तदेव तस्याः[23] कथ-

---

१ तदिदमुप– आ०,ब०,प०,स० । २ प्रेक्षावत्त्ववि–आ०, ब०, प०, स० । ३ वचनस्य । ४ 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यनुमाने । ५ शकटोदयकृत्तिकोदययोः । ६ अन्यथानुपपन्नत्वम् । ७ वचनस्यापि । ८अर्थाऽभावे अनुपपन्नस्यादिवचनस्याऽलिङ्गत्वे । ९ योग्यत्वम् । १० अन्यथानुपपन्नत्वव्यतिरिक्तस्य । ११ साधनस्यापि सि– आ०,ब०,स० । १२ योग्यतासामान्यस्य । १३ अन्यथानुपपन्नत्वातिरिक्तस्य । १४ सङ्केतग्रहण । १५ सङ्केत एव । १६ कस्य ता० । वचनस्य । १७ सकालीति आ०, ब,० प०, स० । १८ वचनस्य । १९ दोषविकल्पतया आ०,ब०,प०,स० । २० प्रयोजनवचनेन । २१ जनस्य । २२ अभिवा–ता० । २३ प्रवृत्तेः ।

मिति चेत् ? 'बालकपाठप्रवृत्तिवत्' इति ब्रूमः । –यदि चाय निर्बन्धः प्रथममभिहितसम्बन्धादिकमेव शास्त्रमादेयमिति ;

एवं शास्त्रादिवाक्यस्याप्यादेयत्वनिबन्धनम् ।
सम्बन्धादिवचः पूर्वं वाच्यमन्यत्प्रसज्यते ॥१९४॥
तत्राऽप्यन्यत्तत पूर्वं ततः पूर्वं ततः परम् ।
आदिवाक्यप्रबन्धे स्यादेवं सत्यनवस्थितिः ॥१९५॥
अल्पत्वादादिवाक्यस्य सम्बन्धाद्युक्तितो विना ।
प्रवृत्तिविषयत्वं चेत्तुल्यमित्यवकल्प्यते ॥१९६॥
प्रत्येकं सर्ववाक्यानामल्पत्वं ननु दृश्यते ।
सम्भवेत्तन्महत्त्वं चेदादिवाक्येऽपि तत्समम् ॥१९७॥
प्रत्येकं वाक्यवृत्तेश्च शास्त्रवृत्तिर्न बाधता ।
सा वाक्यविषयत्वाच्च सम्बन्धाद्युक्तिसस्पृहा ॥१९८॥
अलौकिकश्च मार्गोऽयं यत्प्रागुक्तप्रयोजनम् ।
वाक्यमल्पं महद्वापि व्रजत्यादेयतामिति ॥१९९॥
तथाऽस्य मानरूपत्वात् स्वार्थनिर्णयनिर्मितैः (तेः) ।
श्रोतृप्रवृत्तिहेतुत्वमादिवाक्यस्य सङ्गतम् ॥२००॥

अन्यस्त्वाह—नेदं सुनिश्चितप्रमाणतया सम्बन्धादिविशेषनिर्णयनिबन्धनत्वात् प्रवृत्तिकारणम्, अपि तु तद्विषयसंशयकरणात् । असति ह्येतस्मिन् 'किमिदं शास्त्रं सम्बन्धादिरहितमेव बालोन्मत्तादिवाक्यवत्, तत्सहितमपि किमनभिमतप्रयोजनमेव मातृविवाहविधिक्रमव्याख्यानवत्, अभिमतप्रयोजनमपि किमशक्यप्रयोजनमेव ज्वरोपशमनकारणफणिपतिचूडामणिगुणव्याख्यानवत् ?' इत्यनेकधा संशयविकल्पः प्रादुर्भवन् प्रेक्षावतां प्रवृत्तिमेव शास्त्रे प्रतिबध्नीयात्, उपदर्शिते पुनः सम्बन्धादिविशेषे प्रागुपदर्शितानर्थसंशयव्यवच्छेदेन तद्विषयस्यैवार्थसंशयस्य प्रादुर्भावात् भवत्येव तेषां तत्र प्रवृत्तिः । न चार्थसंशयात् प्रवृत्तौ प्रेक्षावत्तापरिक्षतिः,

१ सम्बन्धकथनमन्तरेण । २ वाक्यप्रवृत्तेश्च आ०, ब० । वाक्प्रवृत्तेः प० । ३ वाक्यप्रवृत्ति । ४ शास्त्रस्य । ५ स्वार्थनिर्णयस्वरूपत्वात् । ६ धर्मोत्तरः । ७ तद्विषयस्य सं–आ०, ब०, प०, स० । "अनुक्तेषु तु प्रतिपत्तृभिर्मिथ्याभिमतमभिधेयं सम्भाव्येतास्य प्रकरणस्य काकदन्तपरीक्षावत्, अशक्यानुष्ठानं वा ज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत्, अनभिमतं वा प्रयोजनं मातृविवाहक्रमोपदेशवत्, अतो वा प्रकरणाद् गुरुतर उपायः प्रयोजनस्य, अनुपाय एव वा प्रकरणं सम्भाव्येत । एतासु चानर्थसम्भावनास्वेकस्यामप्यनर्थसम्भावनायां न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते । अभिधेयादिस्वार्थसम्भावनयाऽनर्थसम्भावना विच्छेद्यते । तत्र तु प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते । इति प्रेक्षावतां प्रवर्तनार्थं सम्भावना कर्तुं सम्बन्धादीन्यभिधीयन्त इति स्थितम् ।" –न्याय बि० टी० पृ० ३ । ८ सम्बन्धादिविशेषे । ९ –सत्येव प्रा–आ०, ब०, प०, स० । १० "संशयेनापि प्रवृत्तिदर्शनात् । यथा कृषीवलादीनाम् । स्यादेतदपि कृषीवलादेरनर्थिनि फले संशयस्यापि तत्फलाभावनिश्चयस्तत्र विद्यत एव । तेन निश्चयपूर्विकैव तेषां प्रवृत्तिरिति, तदसम्यक् ; यद्यपि हि यस्य प्राप्तिः सा सन्देहेऽपि तस्य भवतीत्येवमादि प्रवृत्तम् । न च कृषीवलादयः सर्वेषु प्रारम्भेषु येन फलप्राप्तिनिश्चयमवाप्य प्रवृत्तिरेवमनुवर्तते । किं तर्हि ? सर्वे ते प्रवर्तन्ते । तत्र च फले प्रतिबन्धादिसम्भवात् निश्चयोऽनुपपन्नः संशयपूर्विकैव तेषां प्रवृत्तिः ।" –वाद न्या० प० पृ० ३ ।

कृष्यादौ कृषीवलादीनां [1]तत्कृतप्रवृत्तिकत्वेऽपि तत्परिक्षतेरभावात् । अथ तेषामङ्कुराद्युपेये संशयेऽपि तदुपाये कृष्यादौ निर्णय एव, ततो निर्णीतोपायतया प्रवृत्तत्वादुपपन्नं प्रेक्षावत्त्वम्, शास्त्रे तु यथोपेये संशयस्तथा तस्य [2]तदुपायभावेऽपि ततः केवलादेव संशयात्प्रवृत्तेः कथन्न [3]तत्परिक्षय इति चेत् ? न सारमेतत्; अङ्कुराद्युपेयनिर्णयाभावे कृष्यादितदुपायभावस्यापि दुष्करानर्णयत्वात्, उपेयसापेक्षं हि कस्यचिदुपायत्वं तत्कथं [4]तदनिश्चये शक्यनिश्चयमिति सन्दिग्धोपायतयैवोभयत्रापि[5] प्रवृत्तिरिति न कृष्यादेः शास्त्रात्किमपि वैलक्षण्यमुत्प्रेक्ष्यत इति ; सोऽपि न युक्तकारी विचारविकलत्वात् ; तथा हि–यद्येतदाप्तवचनं कथमस्मात्संशयः ? निर्दोषवचनस्य नियमेन निर्णयनिबन्धनत्वात्, निर्दोषताया एवाप्तित्वात्[6] ।

नन्विदमेवाप्तस्याप्तत्वं [7]यत्स्वप्रतिभासानतिक्रमेण वचनम्, स्वप्रतिभासमतिक्रम्य वदत [8]एव वञ्चकत्वेनानाप्तत्वादिति चेत् ; किमिदानीं शास्त्रकारस्यापि सम्बन्धादिकं सन्दिग्धमेव ? तथा चेत्; सुस्थितं तस्य शास्त्रकारत्वम् । न च स्वप्रतिभासानतिक्रमतो वचनमेवाप्तत्वम्; बालोन्मत्तादेरपि तत्प्रसङ्गादिति प्रमाणपरिशुद्धवचनमेवाप्तत्वम्[9] । न च तद्वचनादर्थसंशयः, अर्थनिर्णयस्यैवोपपत्तेः । न च धर्मोत्तरेण शास्त्रकारस्याप्तत्वमनभिप्रेतमेव; "व्याख्यातारो हि क्रीडाद्यर्थं विपरीताभिधायिनोऽपि सम्भाव्यन्ते न प्रणेतारः" [ ] इति [10]तद्वचनात् । न चाविपरीताभिधानादन्यदन्यस्याप्तत्वं नाम । शब्दस्यैवैष स्वभावः यदाप्तभाषितोऽपि संशयमेवोपजनयतीति चेत्; न; अनर्थसंशयस्यापि जननप्रसङ्गात्, तथा च "अर्थसंशयमेव प्रवृत्त्यङ्गं कर्त्तुमादावभिधेयादिकमाह[11]" [ ] इत्यपेशलं स्यात् । यदि च स्वाभाव्यादस्य[12] संशयहेतुत्वं कुतस्तर्हि तत्संशयस्य व्यवच्छेदः ? [13]शास्त्रादेवाधिगतादिति चेत्; न; तस्याप्यादिवाक्यवत् शब्दात्मकत्वेन संशयहेतुत्वात्, तत्संशयस्यापि[14] शास्त्रान्तरात् व्यवच्छित्तिकल्पनायाम् अनवस्थानात् । प्रमाणात् संशयव्यवच्छेद इति चेत्; तद्यदि प्रमाणं शास्त्रादन्यत एवाधिगतम्; शास्त्रमनर्थकं प्रयोजनान्तराभावात् । शास्त्रादेवेति चेत्; न; तत्रापि [15]ततः संशयस्यैव भावात्, शब्दस्य तत्करणस्वभावत्वात् । तत्संशयस्यापि प्रमाणान्तराद् व्यवच्छेद इति चेत्; न; 'तद्यदि' इत्यादेः प्रसङ्गस्य पुनरावृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गात् ।

---

१ अर्थसंशयकृत । २ तदुपायो भावेऽपि आ०, ब०, प०, स० । ३ प्रेक्षावत्तापरिक्षयः । ४ उपेयानिर्णये । ५ कृष्यादौ शास्त्रे च । ६ "आप्तेनोच्छिन्नदोषेण"–रत्नक० १।५ । "आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः । क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्"–साङ्ख्यका० माठर० पृ० १३ । ७ यत्प्रति–आ०, ब०, प०, स० । ८ एवञ्च तत्त्वे–आ०, ब०, प०, स० । ९ "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा ।"–न्यायभा० १।७ । "यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः परोऽनाप्तः । तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः तदर्थज्ञानात् ।"–अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६ । १० "व्याख्यातॄणां हि वचनं क्रीडाद्यर्थमन्यथापि सम्भाव्यते शास्त्रकृतां तु प्रकरणप्रारम्भे न विपरीताभिधेयाद्यभिधाने प्रयोजनमुत्पश्यामो नापि प्रवृत्तिम् ।"–न्यायबि० टी० पृ० ४ । ११ "अर्थसंशयोऽपि हि प्रवृत्त्यङ्गं प्रेक्षावताम् । अनर्थसंशयो निवृत्त्यङ्गम् । अत एव शास्त्रकारेणैव पूर्वं सम्बन्धादीनि युज्यन्ते वक्तुम् ।"–न्यायबि० टी० पृ० ४ । १२ शब्दस्य । १३ शास्त्रादेवाग–आ०, ब०, प०, स० । १४ शास्त्रहेतुकसंशयस्यापि । १५ शब्दात्मकात् शास्त्रात् ।

ततो दूरं गतेनापि वाक्यमाप्ताभिजल्पितम् ।
धर्मनिर्णयकृद्ग्राह्यमादिवाक्यं तथा न किम् ? ॥२०१॥
अङ्गीकारस्तथात्रापि न युक्तः परिदृश्यते ।
आप्तोक्तिपक्षे वैफल्यं वाक्यस्यास्य हि दर्शितम् ॥२०२॥
यच्च श्रोतुः प्रवृत्त्यर्थं श्रद्धाद्युत्पादनं बुधैः ।
व्यावर्णितमसन्दिग्धमादिवाक्यप्रयोजनम् ॥२०३॥
तदप्याप्तोक्तिवच्चेत्स्यात्, वाक्यमेतद् वृथा भवेत् ।
आप्तप्रत्ययेन श्रद्धादेः सम्भवादादिवाक्यवत् ॥२०४॥
अन्यथा ह्यादिवाक्येऽपि श्रद्धाद्युत्पत्तिकारणम् ।
वाक्यान्तरं प्रतीक्ष्यं स्यादनवस्थानदुःस्थम् ॥२०५॥
अनाप्तवचनत्वेऽस्य बालोन्मत्तादिवाक्यवत् ।
श्रद्धाकुतूहलोत्पत्तिरतः सम्भाव्यते कथम् ? ॥२०६॥

यत्पुनरेतत्–[3]व्यापकानुपलब्ध्या प्रत्यवतिष्ठमानस्य तदसिद्धतोद्भावनमादिवाक्यस्य प्रयोजनम् । अत्र हि 'नारब्धव्यं न श्रोतव्यमिदं शास्त्रं सम्बन्धादिरहितत्वात् उन्मत्तवचनवत्' इति कस्यचित् [4]आरम्भश्रवणादिव्यापकसम्बन्धाद्यभावोपदर्शनेन आरम्भादिनिवारणार्थं प्रत्यवस्थाने तत्सम्बन्धाद्युपदर्शनेन [5]तदनुपलम्भस्यासिद्धत्वमनेनोद्भाव्यते, अन्यथा शास्त्रारम्भादौ प्रेक्षावतामप्रवृत्तिप्रसङ्गादिति, तदपि न चतुरस्रम्, [7]वचनमात्रात् सुनिश्चितसम्बन्धाद्युपदर्शनासम्भवेन तदसिद्धतोद्भावनस्य दुर्विधानत्वात् । न हि [9]व्यापकोपलम्भमवितथमनुपस्थापयत् तदनुपलम्भप्रत्याख्यानाय वचनमेतत्समर्थम् । तदुपलम्भस्यैव तदनुपलम्भनिषेधित्वात् । केवलस्य तदुपदर्शनसामर्थ्यवैकल्येऽपि सकलशास्त्रश्रवणसहितस्य तत्सामर्थ्यमस्त्येव, अधिगतशास्त्रस्य सम्बन्धादौ निर्णयोपपत्तेरिति चेत्, न, व्यापकानुपलम्भे जीवति [10]तच्छ्रवणस्यैवासम्भवात् अन्यथा तदसिद्धतोद्भावनवैयर्थ्यात् । उपमृद्यते तदनुपलम्भ इति चेत्, कुतस्तदुपमर्दनम्[11] ? सम्बन्धादिनिर्णयात् । सोऽपि कस्मात् ? [12]तच्छ्रवणात् । तदपि कुतः ? तदुपमर्दनादिति चेत्, न, [13]सकल-

1 "श्रद्धाकुतूहलोत्पादनार्थं तदित्येके ।"–त० श्लो० पृ० ३ । "तद्व्यपकाद्यभिधेयादौ श्रद्धाकुतूहलोत्पादः ततः प्रवृत्तिरिति केचित् समूच्याः ।" –सिद्धिवि० टी० प० ५ । 2 आप्तत्वस्य श्रद्धाद्युत्पत्त्यभावे । 3 "तस्मात् 'यत् प्रयोजनरहितं वाक्यम्, तदर्थो वा न तत् प्रेक्षावताऽऽरम्भणीयं कर्तुं प्रतिपादयितुं वा तद्यथा दशदाडिमादिवाक्यं काकदन्तपरीक्षा च निष्प्रयोजनं चेदं प्रकरणं तदर्थो वा' इति व्यापकानुपलब्ध्या प्रत्यवतिष्ठमानस्य तदसिद्धतोद्भावनार्थमादौ प्रयोजनवाक्योपन्यासः ।" –हेतु बि० टी० पृ० २ । न्या० प्र० वृ० पृ० १ । "तत्र निषेध्यस्य यद्व्यापकं तस्यानुपलब्धिः व्यापकानुपलब्धिरुच्यते । तथा हि अत्र आरम्भणीयत्वं निषेध्यम्, तस्य व्यापकं सप्रयोजनत्वम्, तस्यानुपलब्धिः"–न्यायप्र० वृ० पं० पृ० १९ । 4 –र्थं श्रोतव्यमितिरिदम् आ०, ब०, प०, स० । 5 शास्त्रारम्भश्रवण । 6 सम्बन्धाद्यनुपलम्भस्य । 7 शास्त्रारम्भवचनमात् । 8 –नैव तद्– आ०, ब०, प० । 9 सम्बन्धादि । 10 सकलशास्त्रार्थश्रवण । 11 –पदर्शनम् आ०, ब०, प०, स० । 12 शास्त्रश्रवणात् । 13 सति शास्त्रश्रवणे सम्बन्धादिनिर्णयः, सति च तस्मिन् व्यापकानुपलम्भोपमर्दनम्, तस्मिंश्च सति शास्त्रश्रवणमिति ।

दोषस्य सुव्यक्तत्वात् । आप्तवचनत्वेन प्रमाणत्वाद् अन्यनिरपेक्षमेवेदं[1] सम्बन्धाद्युपदर्शनसमर्थम् ; इत्यप्यसारम् ; उदीरितोत्तरत्वात्– अन्तरेणापि वचनमाप्ताज्ञयैव सम्बन्धादिसिद्धौ व्यापकानुपलम्भस्यासिद्धत्वं (त्व) निर्णयात् आदिवाक्यवत्, अन्यथा[2] तत्रापि[3] तदनुपलम्भनिषेधाय वचनान्तरकल्पनायामनवस्थानात् । तन्नेदमपि विवेकचतुरचेतसां चेतसि प्रीतिकरम् ।

प्रतिज्ञावचनमेतत् ; इत्यपि तादृगेव । वचनमात्रात् प्रतिज्ञार्थासिद्धेः सर्वत्र हेतुवैफल्यप्रसङ्गात् । वक्ष्यमाणः[4] शास्त्रार्थो हेतुरिति चेत्,[5] न ; प्रत्यक्षपरोक्षरूपस्य प्रमाणस्यैव शास्त्रार्थत्वात् । तस्य च स्वरूपादिविषयचतुर्विधविप्रतिपत्तिनिराकरणमुखेन यथास्थानमुपवर्ण्यमानेरुपपत्तिविशेषैर्निर्णय(ये)शास्त्रार्थपरिज्ञानस्य परिपूर्णत्वात् किमपरमवशिष्यते यदत्र प्रतिज्ञायमानं शास्त्रार्थज्ञानसाध्यं भवेत् ? तन्नेदमपि तत्प्रयोजनम् पूर्वोपन्यस्तप्रयोजनवत् विचारासहत्वात् ।

अयमेव च शास्त्रकारस्याप्यभिप्रायः, सर्वस्याप्यस्यादिवाक्यप्रयोजनस्य चूर्णौ निराकरणात् । न च तदीयमेव शास्त्रं व्याचक्षाणैस्तदनभिमतमेवादिवाक्यप्रयोजनमभिधातुं युक्तम् । तर्हि किमप(किम्प)रमिदमादिवाक्यमिति चेत् ? 'सङ्क्षेपेण शास्त्राभिधेयशरीरप्रतिपादनपरम्' इति ब्रूमः । तथा हि–'**वचोभिर्नेनीयते**' इति सव्यापारं शब्दशरीरमुपदर्शितम् । '**न्यायः**' इत्यभिधेयशरीरम् । इतरत्सर्वं यथासम्भवमुभयत्र विशेषणम् । किम्प्रयोजनं सङ्क्षेपेण तदुपदर्शनस्येति चेत् ? विनेयव्युत्पादनमेव, विस्तरेण तदुपदर्शनवत् । नन्विदमपि शास्त्रकारस्यानभिप्रेतमेव सङ्क्षेपतः शास्त्रशरीरोपदर्शनस्यापि चूर्णौ प्रतिक्षेपात् ; "सत्यम् ; **शब्दाङ्गमात्रापेक्षया तत्प्रतिक्षेपः, वाङ्मात्रेण निश्चयायोगात्**" [ ] इति तत्रैव[10] वचनात् । न चेदं वाङ्मात्रमादिवाक्यम् ; आप्तोपनीतत्वेन वाग्विशेषत्वात् । आप्तत्वमेव शास्त्रकारस्य न निश्चितमिति चेत् ; न, कुतश्चित्[11] चिरसंवासादेस्तन्निश्चयसम्भवात् । अनिश्चिततदाप्तभावस्य नेदं तदुपदर्शनक्षममिति चेत् ; न ; प्रत्यक्षादावपि समानत्वात् । न हि तदप्यनिश्चिततदव्यभिचारादिविशेषस्य स्वविषयोपदर्शनक्षमम् । न च सङ्क्षेपावगमे विस्तरवैयर्थ्यम् ; प्रतिपत्तिविशेषस्य तदधीनत्वात् । प्रवृत्त्यङ्गत्वमेवाप्तवचनत्वादस्य[12] कस्मान्न भवतीति चेत् ? न ; वचनमन्तरेणापि प्रवृत्तेराप्ताज्ञयैव[13] सम्भवादित्युक्तत्वात् । संशयादिकारणत्वं तु निवारितमेव । तन्न किञ्चिदत्र परिहास्यमस्तीति पर्याप्तं[14] प्रसङ्गेन ।

कस्यचिदत्र चोद्यम्–"प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथाऽतिप्रसङ्गतः ।" [प्रमाणप० पृ० ६३] इति वचनात् न्यायमलप्रक्षालनस्यापीष्टत्वात् । तदपि[15] प्रमाणादिति वक्तव्यं न सम्यग्ज्ञानादिति । न च सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणम् ; अज्ञानस्यासम्यग्ज्ञानस्य च तस्य[16] भावात् । न च

---

१ शास्त्रम् । २ आप्ताज्ञया सम्बन्धादिसिद्ध्यभावे । ३ आदिवाक्येऽपि । ४ –णशा–आ०, ब०, प०, स० । ५ "चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः–सङ्ख्यालक्षणगोचरफलविषया ।"–न्यायवि० टी० पृ० ९ । ६ अकलङ्कदेवस्य । ७ अकलङ्कीयं शास्त्रं न्यायविनिश्चयाख्यम् । ८ –क्षाणे सदभि –आ०, ब०, प० –क्षाणैस्तदभि–स० । ९ युक्तिशून्यनिरर्थकशब्दापेक्षया । १० चूर्णौ । ११ चिरसहवासादेः । १२ आदिवाक्यस्य । १३–राज्ञयैव आ; ब, स० । –राययैव प० । १४ आदिवाक्यस्य विशेषतः चर्चा निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्या–न्यायकु० पृ० ६ । सन्मति०टी० पृ०१७० । तत्त्वसं पृ०२ । त०श्लो० पृ०४ । स्या० र०पृ०१४ । १५ न्यायमलप्रक्षालनमपि । १६ प्रमाणस्य ।

शब्दलिङ्गादेरज्ञानस्य लोके प्रामाण्यं न प्रसिद्धं युक्तियुक्तं चेति शक्यं वक्तुम्; उभयस्याप्युपपत्तेः। लोकस्तावत् 'दीपेन मया दृष्टं चक्षुषाऽवगतं धूमेन प्रतिपन्नं शब्दान्निश्चितम्' इति व्यवहरति। न चौपचारिकं तेषां प्रामाण्यमिति युक्तं वक्तुम्, यतो यस्य प्रमितिक्रियायां साधकतमता तस्य प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिः, प्रमाणपदशब्दोक्तस्यैवार्थस्यावगमः। तथा शास्त्रान्तरेऽपि–अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टोपलब्धिजनकस्य बोधस्याबोधस्य वा सामान्येन प्रमाणत्वप्रसिद्धिः। यथोक्तम्–"लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्" [ ] लोकेऽपि तथाभूतस्यैव प्रमाणत्वव्यवहारो यथाऽऽहुः–अस्मिन्विषयेऽस्माकमयं पुरुषः प्रमाणम्। युक्तियुक्तं चैतत्, यतः प्रमाणपदं करणत्वाभिधायकं प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। करणविशेषस्य विशिष्टकार्यजनकत्वेन प्रमाणत्वात्, कार्यविशेषश्च कार्यान्तरेभ्यः प्रमाणस्येनाव्यभिचारादिस्वरूपत्वेन वा। तन्न सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणम् अन्यस्यापि भावात्। ततो न 'सम्यग्ज्ञानजलैः' इत्युपपन्नम्, निरवशेषप्रमाणसंग्रहाभावात्। सम्यग्ज्ञानात्मनैव प्रमाणेन न्यायमलप्रक्षालनात् किमितरप्रमाणपरिग्रहेणेति चेत्? न तदेवम्, एवं प्रमाणसम्प्लवस्यानभीष्टिप्रसङ्गात्। अभीष्टश्च कथञ्चित्प्रमाणसम्प्लवः स्याद्वादिनामिति। तदेवंवादिनिराचिकीर्षया सम्यग्ज्ञानात्मकत्वमेव प्रमाणस्य व्यवस्थापयन्नाह–

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥३॥ इति।

'न्यायः' इत्यनुवर्तमानमर्थवशाद्विभक्तिपरिणामेन द्वितीयान्तमिह सम्बध्यते। ततोऽयमर्थः–न्यायं प्राहुः स्वामिसमन्तभद्रादयः। किं प्रशब्देन आहुरिति पर्याप्तत्वादिति चेत्? न, 'प्रबन्धेन आचार्योपदेशपारम्पर्येण आगतमाहुः प्राहुः' इति व्याख्यानार्थत्वात्। तदनेनानादिरयं शास्त्रप्रबन्धः, केवलं तत्सङ्क्षेपादिविधायैव शास्त्रकाराणामाभिपत्यमिति दर्शयति। न्यायं किं प्राहुः? वेदनम् ज्ञानम्। कथं प्राहुः? स्पष्टम् शब्दवादित्वेन (?) परिस्फुटं यथा भवति "तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्" [आप्तमी० श्लो० १०१] इत्यादिना तथैव प्रवचनात्। अनेन वेदनात्मकत्व न्यायस्य व्यवच्छिनत्ति, तदव्यवच्छेदे वेदनात्मकत्वविधानानुपपत्तेः। न हि शब्दस्य नित्यत्वमव्यवच्छिन्दन्ननित्यत्वं विधातुमर्हति। कथं वचनमात्रात्तद्व्यवच्छेद इति चेत्? न, सोपपत्तिकत्वादस्य वचनस्य। तथा च प्रयोगः–न्यायो वेदनात्मा, न्यायत्वान्यथानुपपत्तेः। कथं धर्म्येव हेतुरिति चेत्? न, तस्यापि हेतुत्वाविरोधस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

१ शब्दलिङ्गादीनाम्। २ "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।"–न्यायम० पृ० १२। ३ यथोक्तम् आ०, ब०, प०, स०। "प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।"–याज्ञ० २।२२। ४–यथ आ०, ब०, प०, स०। ५ एकस्मिन् प्रमेये बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः। ६ "उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसम्प्लवस्यानभ्युपगमात्। सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे देशादिविशेषसमवधानाद् आगमात् प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात् प्रतिपित्सते तत्प्रतिपन्नमपि प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तुमीहते ... प्रतिपत्तिविशेषघटनात्। पुनस्तत्रैव प्रवर्तमानौ प्रमाणे तत्प्रमेयप्रतिभासविशेषे ...।"–अष्टस० पृ० ४। प्रमेयक० पृ० ५१। ७–र्थ नि–आ० ब०, प०, स०। ८ द्वितीयप्रयोजनात्।

असिद्धमन्यथाऽनुपपन्नत्वम् अचेतनस्यापीन्द्रियादे[1]र्न्यायत्वाविरोधात्, नीयतेऽनेनेति हि नीतिक्रियाकरणं न्याय उच्यते, तच्चाचेतनमपि नानुपपन्नं प्रसिद्धियुक्तिभ्यां तस्य समर्थितत्वादिति चेत्; अत्र प्रतिविधानम्; अचेतनस्य सामग्र्येकदेशस्य, सामग्रीरूपस्य वा प्रमाणत्वं भवेत् प्रकारान्तरासम्भवात्? न तावत्सामग्र्येकदेशस्य; साधकतमत्वासम्भवात्। प्रमितिक्रियां प्रति करणत्वे हि तस्य प्रामाण्यं भवेत् करणत्वञ्च साधकतमत्वमेव "साधकतमं करणम्" [पा०व्या० १।४।४२] इति वचनात्। सामग्र्येकदेशस्य च नयनप्रदीपादेर्यदि हेतुत्वमेव साधकतमत्वम्; तदा सर्वेतद्धेतूनामपि साधकतमत्वेन प्रामाण्यान्न कश्चित्प्रमाता नापि किञ्चित्प्रमेयमित्यतिमहदसमञ्जसं प्राप्तं करणस्यैव कर्तृत्वादिविरोधात्। हेतुत्वाविशेषेऽपि सर्वेषां किञ्चिदेव करणं तत्रैव करणत्वस्य विवक्षितत्वात् [2]'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" [जैने०महा० १।२।११] इति न्यायात्; इत्यप्यसङ्गतम्; प्रमात्रादेरपि विवक्षया करणत्वप्रसङ्गात् विवक्षाया विषयनियमाभावात्। कथं वा पुरुषेच्छानिबन्धनं कस्यचित्प्रमाणत्वं वस्तुप्रतिपत्तावुपयुज्येत? [3]सांवृतस्यैव प्रमाणप्रमेयतत्फलभावस्य प्रसङ्गात्। कारणस्यैवातिशयः साधकतमत्वमिति चेत्; न; तदपरिज्ञानात्[4]। अन्त्यक्षणप्राप्तिरतिशय इति चेत्; न; प्रमाणाभिमतप्रदीपादिवत् कदाचित् प्रमेयस्य घटादेरन्त्यक्षणप्राप्तिभावात्[5]। एतेन सन्निपत्यकारित्वमतिशय इति प्रत्युक्तम्; प्रमेयस्यापि सन्निपत्यकारित्वसम्भवात्[6]। स[7] खलु[8] सन्निपत्यकारीत्युच्यते यस्मिन्सति नियमेन कार्यस्य[9] भावः, सम्भवति चायं प्रमेयापेक्षयाऽपि प्रकारः, कदाचित्प्रदीपादिकरणान्त[10]रसाकल्येऽपि प्रमेयसन्निधिविरहविधुरीकृतप्रादुर्भावस्य घटादिसंवेदनस्य [11]तत्सन्निपाते नियमेनोत्पत्तिदर्शनात्। न केवलं विषयस्यैव सन्निपत्यजनकत्वम्, प्रमातुरपि [12]तत्त्वात्। [13]न हि तदसन्निधानेऽपि[14] अनवधानकृते मूर्च्छादिनिबन्धने वा विषयज्ञाननिष्पत्तिः तदनवधानाद्यपगम एव नियमेन [15]तन्निष्पत्तेः। अतः प्रमातुरपि सन्निपत्यजनकत्वात् साधकतमत्वं भवेत् विश्वरूपस्यैवं वचनाच्च। तन्नायमप्यतिशयः साधकतमत्वव्यवस्थाहेतुः अतिव्याप्तिदुष्टत्वात्। निरपेक्षकारित्वमतिशय इति चेत्; न; असिद्धत्वात्, सामग्र्येकदेशानामन्योन्यसहकारित्वेन कार्यकारित्वात्। सामग्र्यन्तरतदेकदेशनिरपेक्षत्वं तु न प्रदीपादेरेव, प्रमात्रादेरपि भावात्। एवं चेतनस्यापि संशयादिज्ञानस्य सामग्र्येकदेशस्य प्रामाण्ये साधकतमत्वं निरूपयितव्यम्। तन्न सामग्र्येकदेशस्य प्रदीपादेः प्रमितिक्रियाकरणत्वम् असाधकतमत्वात् प्रमात्रादिवत्।

अत्राह विश्वरूपः—"सत्यमेतत्, सामग्र्येकदेशस्य न प्रामाण्यं मयापि विचार्य तत्परित्यागात्" [ ] इति; सोऽपि न सम्यग्वादी; बोधमात्रलक्षणप्रमाणवादिनं[16] प्रति प्रदीपादिभिस्तदेकदेशैः[17] अव्याप्तिदोषस्यानुद्भावनप्रसङ्गात्। यदि हि [18]तेषां प्रामाण्यम्, न च

1 आत्मादीनामपि। 2 हैम० वृ० वृ० ७।४।१२२। "न चानेककारकजन्यत्वेऽपि कार्यस्य विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति न्यायात् साधकतमत्वं विवक्षात इति वक्तव्यम्, पुरुषेच्छानिबन्धनत्वेन वस्तु व्यवस्थितेरयोगात्।"—सन्मति० टी० पृ० ४७१। 3 कल्पितस्यैव। 4 अतिशयज्ञानाभावात्। 5 कार्याव्यवहित प्राक्क्षणवृत्तित्वम्। 6 तस्यापि प्रमाणत्वं स्यात्। 7 "सन्निपत्य जनकत्वमतिशयः इति चेन्न…"—न्यायम० पृ० १२। 8 –न् खल्वस–आ०,ब०,प०,स०। 9 कार्यस्याभावः आ०, ब०,प०,स,। 10 –न्ततत्सा–ता०। 11 प्रमेयसन्निधाने। 12 सन्निपत्यजनकत्वात्। 13 –न तदस–आ०,ब०,प०,स०। द्रष्टव्यम्—सन्मति० टी०पृ० ४७२। 14 सन्निधाने सत्यपि। 15 विषयज्ञानोत्पत्तेः। 16 जैनादिकं प्रति। 17 सामग्र्येकदेशैः। 18 प्रदीपादीनाम्।

तत्र तल्लक्षणं तदा स्यादव्याप्तिः, अप्रमाणे तु प्रमाणलक्षणभावो न दोषाय अतिव्याप्त्यभावस्य[1] गुणत्वात्। लोकप्रसिद्ध्या [2]तत्प्रमाणत्वमङ्गीकृत्य तैरव्याप्तिरुद्भाव्यते न वस्तुवृत्त्या। अत एवोक्तम्–'लोकवत्तावद्दीपेन मया दृष्टमित्यादि व्यवहरति' इति पर्यन्तमिति चेत्, वस्तुवृत्त्या तर्हि बोधप्रमाणलक्षणमव्याप्तिदोषपरिहृतमेवेति कथं तत्र तदुद्भावनं [3]निरनुयोज्यानुयोगाभिग्रहस्थानं न भवेत्? वस्तुतश्च तेषामप्रामाण्ये कथमिदमुक्तम्–'युक्तियुक्तं चैतत्' इत्यादि, अवस्तुभूतस्य युक्तियुक्तत्वानुपपत्तेः।

किञ्च, तेषां प्रामाण्ये युक्तिः प्रमितिक्रियाकरणत्वमेव। यदुक्तम्[4]–'प्रमाणपदं करणत्वाभिधायकं प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्।' इति, तस्य[5] च साधकतमस्वभावस्याभावं स्वयं प्रतिपद्यमान एव कथमिदं वक्तुमर्हति 'युक्तियुक्तं चैतत्' इति? यथाज्ञानमेव परार्थप्रवृत्तानां वचनक्रमोपपत्ते, अन्यथाज्ञातस्यान्यथावचने हि वञ्चकत्वान्न परार्थकारी स्यात्। वस्तु तर्हि वस्तुत एव [6]तेषां प्रामाण्यमिति चेत्, न, तस्य निरस्तत्वात्। वस्तुभूतप्रमाणसामग्र्येकदेशतया तेषां तदिति चेत्, नन्वेवमुपचार एव स्यात्, प्रमाणैकदेशतया तेषां प्रामाण्यात्। न चैतत्पक्ष्य भवताम् 'न चौपचारिकं तेषां प्रामाण्यम्' इत्यस्य विरोधात्। [7]सामग्रीतदवयवोरव्यतिरेकात् सामग्री प्रामाण्यवत् तत्प्रामाण्यमपि वास्तवमेव नौपचारिकमिति चेत्,

कथमेकक्रियायां स्यादनेकं कारणं पृथक्।
[8]वास्यादिभेदे यद्भेदस्छिदेरप्युपलभ्यते ॥२०७॥
प्रमितेरपि भेदश्चेत्, न, [9]सकृत्तदसम्भवात्।
ज्ञानानां युगपज्जन्म न यद्वः शासने मतम् ॥२०८॥
क्रमेण तस्य[10] भावश्चेत्, [11]अक्रमात्तत्क्रमः कथम्?
कारणादक्रमाज्जन्मो यत् कार्यं क्रमवदीक्ष्यते ॥२०९॥

तन्नेदं युक्तम्–[12]प्रदीपादिवत् प्रमात्रादेरपि वस्तुतस्तत्प्रसङ्गात्। तस्यापि [13]तदन्तरेकदेशत्वात् तत्र[14] प्राप्तमपि प्रामाण्यं विशेषविधिना प्रमातृत्वादिना बाध्यत इति चेत्, कः पुनरयं तस्य [15]बाधो नाम? सामग्रीवादात्म्यनिषेध इति चेत्, न, [16]तदभावात्। अन्यथा प्रमातृत्वादेरप्यभावप्रसङ्गात्। न हि सामग्रीबहिर्गतस्य [17]तत्त्वम्, अतिप्रसङ्गात्। तदन्तर्गतस्यापि[18] प्रामाण्यमेव निषिध्यत इति चेत्, न, तदन्तर्गमव्यतिरेकेण नेत्रादीनामप्यपरस्य प्रामाण्यस्याभावात्। ततो 'यदन्तर्गमो न प्रामाण्यनिषेध, [19]स चेत्, नान्तर्गमः' इति महानयं व्याघातः परस्य। कीदृशेन वा [20]तेन [21]तस्य बाधनम्? गौणेनेति चेत्, न, [22]तदवस्थायां प्रामाण्यस्याप्रसक्तेः

1 मत्पक्षे तदभावस्य। 2 प्रदीपादि प्रामाण्यम्। 3 "अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः।"–न्यायसू० ५।२।२२। 4 पृ० ५७ पं० ७। 5 प्रदीपादीनां सामग्र्येकदेशानाम्। 6 पृ० ५७ पं० ८। 7 सामग्र्येकदेशस्य। 8 सामग्र्येकदेशानां प्रदीपादीनाम्। 9 प्रामाण्यम्। 10 सामग्रीतदेकदेशयोः। 11 करणभेदे क्रियाभेद एवोपलभ्यते न त्वभेदः। 12 युगपत्। 13 ज्ञानजन्मनः। 14 क्रमरहितात् सामग्रीरूपकारणात्। 15 प्रदीपादेरिव प्र–आ०, ब०, प०, स०। 16 तदन्तरेक–आ०, ब०, प०, स०। 17 प्रमात्रादौ। 18 बोधो नाम आ०, ब०, प०, स०। 19 सामग्रीतादात्म्यनिषेधाभावात्। 20 प्रमात्रादित्वम्। 21 प्रमात्रादेः। 22 प्रामाण्यनिषेधः। 23 प्रमातृत्वादिना। 24 प्रामाण्यस्य। 25 गौणदशायाम्।

साधकतमत्वम्। एवमन्यदपि व्यतिरिक्तं कारणं सर्वत्र वस्तुपरिणतौ साधकमेव [1]तद्योग्यत्वसव्यपेक्षत्वात्, तद्योग्यत्वमेव [2]तदभिमुखं तत्र साधकमेव [3]निरपेक्षत्वात् प्रतिपत्तव्यम्। नन्वेवं तदाभिमुख्यपर्यायोऽपि सामर्थ्यस्य [4]प्राच्यादेव तच्छक्तिपर्यायात्, तस्यापि[5] तदाभिमुख्यपर्यायः प्राच्यादेव तच्छक्तिपर्यायादिति किं व्यतिरिक्तेन खड्गादिनेति चेत्? न; सर्वथा तदाभिमुख्यस्य [6]तन्निरपेक्षत्वे तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्याभावप्रसङ्गात्। अस्ति चैतत्, अतस्तस्यापि[7] तत्र[8] [9]कारणत्वं वक्तव्यम्। अत एवोक्तम्–

"विशेषं कुरुते हेतुर्विस्रसा परिणामिनाम्।
मुद्गरादिर्घटादीनामन्वयव्यतिरेकवान् ॥" [ ] इति।

तस्मात् सर्वत्र वस्तुपरिणतौ भिन्नस्य तच्छक्त्याभिमुख्यमात्रे व्यापारः। भवतु तदभिमुखस्य तत्सामर्थ्यस्यैव साधकतमत्वम्, तत्क्रियानर्थान्तरत्वं तु कथं [10]तस्येति [11]चेत्? न; 'छिन्नं काष्ठम्' इति तत्क्रियासामानाधिकरण्येन [12]तत्प्रतिपत्तेः। [13]ततः काष्ठस्यैव [14]तदनर्थान्तरत्वं न तत्सामर्थ्यस्येति चेत्; न; तस्यापि[15] तदव्यतिरेकात्, व्यतिरेके सामर्थ्यतद्वद्भावानुपपत्तेर्यथास्थानं विचारणात्। तत्र द्विधाभावः छिदिक्रिया। कुठारव्यापार एवोत्पातनिपातादिश्छिदिरिति चेत्; सत्यम्; तत्र[16] कुठारस्य साधकतमत्वं तस्य तत्क्रियापरिणामसामर्थ्यरूपत्वात्, न तु तस्य [17]तत्क्रियातोऽर्थान्तरत्वम् 'निपतत्युत्पतति वा कुठारः' इति [18]तत्सामानाधिकरण्येन तत्प्रतिपत्तेः। समवायादेवं प्रतिपत्तिर्नानर्थान्तरत्वादिति चेत्; न; समवायनिमित्तत्वे [19]तस्यैव तत्र[20] प्रतिभासप्रसङ्गात्। न चैवमभेदस्यैव प्रतिभासनात्। न [21]तस्यापि प्रतिभासनं सामानाधिकरण्यस्यैवावभासनादिति चेत्; न; अभेदस्यैव [22]तत्त्वात्। समवायस्यैव तत्त्वं कस्मान्नेति चेत्? न; 'सामान्यमेव विशेषः सामान्यविशेषः' [23]इत्यादावभेदस्यैव तत्त्वेन [24]परस्यापि सुप्रसिद्धत्वात्, समवायस्य च निषेत्स्यमानत्वात्। कुतः पुनः परिणामसामर्थ्यं भावस्येति चेत्? तदास्तां तावत् तदुपपत्तिसाम्राज्यस्यैव सविस्तरमुत्तरत्र निरूपणात्। तत्र किञ्चित्क्रियाव्यतिरिक्तं [25]करणम्। ततो नयनादेरपि नीतिक्रियाकरणत्वं तदव्यतिरेके स्यादिति तदचेतनत्वं विरुध्येत। [26]तस्य च चेतनत्वे निष्प्रयोजनमेव तदपरज्ञानकल्पनम्, अनेनैवाभिप्रायेण भाष्यकारैरप्यादिष्टम्–"न ह्यचेतनेन किञ्चित्[27] मीयते ज्ञानकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात्" [ ] इति। तदनेन संशयादिज्ञानस्यापि प्रामाण्यं निरस्तम्; तस्यापि नीतिकरणत्वे तदनर्थान्तरत्वनियमान्न संशयादित्वं स्यात्। न हि

---

१ वस्तुगतसामर्थ्यं। २ क्रियाभिमुखम्। ३ तन्निर–आ०, ब०, प०, स०। ४ तत्पूर्ववर्तिनः। ५ पूर्वसामर्थ्यस्यापि। ६ खड्गादिनिरपेक्षत्वे। ७ खड्गादेरपि। ८ छिदिक्रियायाम्। ९ कारकत्वं आ०, ब०, प०, स०। १० सामर्थ्यस्य। ११ चेत् छि–आ०, ब०, प०, स०। १२ अनर्थान्तरत्वप्रतीतेः। १३ छिन्नं काष्ठमिति प्रतीतितः। १४ तदर्था–आ०, ब०, प०, स०। १५ सामर्थ्यस्यापि। १६ कुठारगतव्यापारे। १७ तक्रियार्था–आ०, ब०, प०। कुठारगतक्रियातः। १८ क्रियासामानाधिकरण्येन। १९ समवायस्यैव। २० प्रतीतौ। २१ अभेदस्यापि। २२ सामानाधिकरण्यात्। २३ इत्याद्यभे–आ०, ब०, प०, स०। २४ "तथा सामान्यमेव द्रव्यव्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषो द्रव्यत्वादिः।"–प्रश० व्यो० पृ० १२७। २५ कारणम् आ०, ब०, प०, स०। २६ नयनादेः। २७ –त् क्रियते आ०, ब०, प०, स०।

नीतिक्रियारम्भे [1]तस्य तत्त्वम्, नीतेर्निर्णयरूपत्वात्। न हि निर्णय एव संशयादिः, विरोधात्। निर्णयात्मिका च नीतिर्निरूपयिष्यते। ततो न नयनादेः संशयादेर्वा नीतिसाधकतमत्वं [2]तद्-नर्थान्तरस्य चेतनस्यैव [3]तत्त्वात् तस्य [4]तत्र परनिरपेक्षत्वात्। न हि स्वयं तत्क्रियासामर्थ्ये (समर्थे) स्यान्यापेक्षणम्। असिद्धं परनिरपेक्षत्वम्, इन्द्रियमनसोरपेक्षणात् "इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणम्[5]" [ ] इति वचनादिति चेत्, न, ज्ञानस्योत्पत्तावेव [6]तदपेक्षणात्, उत्पन्नस्य तु [7]तस्यै स्वत एव विषयनिर्णीतिर्नीत्यतः। न चैवं नयनादेः संशयादेर्वा स्वतस्तन्निर्णीतिः, अचेतनत्व-संशयादित्वविरोधात्। निर्विकल्पकदर्शनमपि न स्वतस्तन्निर्णयसमर्थम्, तदुत्तरभाविविकल्प-कल्पनावैकल्यप्रसङ्गादिति न तस्यापि मुख्यं प्रामाण्यम्। निर्णयज्ञानहेतुत्वेन तु नेत्रादीनां प्रामाण्यमौपचारिकमेव न मुख्यम्। उक्तञ्च–

"सिद्धं यन्न परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयोः।
तत्प्रमाणं ततो नान्यदविकल्पमचेतनम्॥" [सिद्धिवि० प्र०परि०] इति।

तत्र अविकल्पग्रहणेन तत्त्वनिर्णयस्वभावविकलत्वात् दर्शनस्य संशयादेश्च परिग्रहो नयनादेः अचेतनग्रहणेन।

चेदुक्तं तत्कस्माभिन्न कथं तत्करणं यदि ?
कुठारस्तत्फलाभिन्नः कथं तत्करणं भवेत् ? ॥२१०॥
प्रश्नस्तत्रापि "मुख्यश्चेत् ने[10]" [11]तस्य" प्रवर्तनम् ? ।
व्यतिरिक्तं फलायचे (क्वचे) भाभिन्नस्यैव दर्शनात् ॥२११॥
विचाराद्व्यतिरिक्तं चेदभिन्नस्यापि दर्शने।
दर्शनात्किमसौ[13] न्यायाम् किंरूपो वा स कथ्यताम् ? ॥२१२॥
साध्यत्वं फलं तस्मादभिन्न साधनं कथम् ? ।
साध्यमेव हि [14]तदुक्तमभेदः कथमन्यथा ? ॥२१३॥
सिद्धं च साधनं तस्मादभिन्नं[15] साध्यते कथम् ? ।
[16]स्यात्सिद्धस्यापि साध्यत्वे साध्यस्यापरिनिष्ठितिः ॥२१४॥
साध्यसाधनभावश्च वेदनार्थावसाययोः।
अभेदश्चेति वागेषा पूर्वापरविरोधिनी ॥२१५॥
भेदोपाधिर्हि [18]तद्भावो नाभेदं क्षमते भवन्।
अभेदश्च न [19]भेदम्, [19]तद्द्वयमेकत्र दुर्घटम् ॥२१६॥

१ संशयादेः। २ तदर्थान्त–आ०, ब०, प०, स०। नीतिक्रियातोऽभिन्नस्य। ३ साधकतमत्वात्। ४ नीतिक्रियायाम्। ५ "ततः सुभाषितम्–इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषय इति"–लघी० स्वृ० का० ५४। ६ इन्द्रियमनसोरपेक्षणात्। ७ ज्ञानस्य। ८ चौरे। ९ कुठारगतोद्यमननिपतनव्यापाररूपा छिदिक्रिया। १० मुख्यश्चेत् आ०, ब०, प०, स०। ११ नु आ०, ब०, प०। १२ प्रश्नस्य। १३ विचारः। १४ साधनम्। १५ सिद्धत्वात्साधनादभिन्नस्य फलस्यापि सिद्धत्वात् कथं साध्यत्वमिति भावः। १६ कथंचित्। १७ साध्यसाधनभावः। १८ भेदश्च इस–आ०, ब०, प०, स०। क्षमते इति पूर्वेणान्वयः। १९ भेदाभेदौ।

इति चेत्सत्यमेकान्ताभेदे दूषणमीदृशम् ।
नैवं स्याद्वादिनामिष्टिः[1] स्यादभेदस्य वाञ्छनात् ॥२१७॥

तथा हि–नेदमर्थनिर्णयरूपमेव वेदनम्; स्वनिर्णयरूपत्वाभावप्रसङ्गात् । न च नास्त्येव तस्य [2]ताद्रूप्यम्; युक्तितस्तस्य व्यवस्थापनात् । नापि स्वनिर्णयरूपमेव अर्थनिर्णयरूपत्वाभावप्रसङ्गात् । न च नास्त्येव तस्य [3]ताद्रूप्यम्; युक्तितस्तस्यापि व्यवस्थापनात् । न च तदुभयव्यतिरिक्तमेव, तस्यासंवेदनात् निर्णयवेदनयोः संसर्गवशादविवेकावभासनं न वस्तुत [4]एवाविवेकभावादिति चेत्; न; विवेकनियमस्य निषेत्स्यमानत्वात् । ततो निर्णयवेदनयोः कथञ्चित् व्यतिरेकस्यापि भावान्नायुक्तः क्रियाकारकभावः । एतदर्थं च कारिकायाम् **अर्थात्म**ग्रहणम् । विषयभेदेन निर्णयभेदेऽपि तत्साधनज्ञानस्याभिद्यमानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कथञ्चित् व्यतिरेकस्य [6]तेनोपदर्शनात् । सत्यपि व्यतिरेके निर्णयसमसमयस्य वेदनस्य कथं तत्करणत्वमिति चेत्? न; अत्र नैयायिकस्याविप्रतिपत्तेः, कार्यसमकालस्य नित्यस्य अन्यथा हेतुत्वाभावप्रसङ्गात् । निर्णयसहजन्मनस्तस्य[9] कथं[10] तत्कारित्वमिति चेत्? न; एकान्तेन तत्सहजन्माभावात्, क्षणभङ्गस्य निषेत्स्यमानत्वात् । इन्द्रियादिना तर्हि [11]किमुत्पाद्यते? न निर्णयः, तस्य वेदनकार्यत्वात् । नापि वेदनम्; तस्याक्षणिकत्वेन [12]तद्व्यापारात् प्रागपि भावादिति चेत्; न; निर्णयसमर्थस्य [13]तस्य तदुत्पाद्यत्वात् । पूर्वं तर्हि तदनिर्णयसमर्थमिति चेत्; न; तदापि विषयान्तरनिर्णयसमर्थत्वात् । [14]तस्य चान्यत इन्द्रियादेर्भावात् । स्वार्थनिर्णयविकलस्य तु न तस्य प्रामाण्यं सुषुप्तज्ञानवत् । निरूपयिष्यते चैतत् । सामर्थ्यस्य साधकतमत्वे स्वसंवेदनव्याघातः [15]तस्याप्रत्यक्षत्वात् क्रियानुमेयत्वेनोपगमात् "[16]शक्तिः क्रियानुमेया" [ ] इति वचनात्, स्वसंविदितञ्च प्रमाणमिति सिद्धान्त इति चेत्; अस्तु [17]शक्तिरूपेण तद्व्याघातो न कश्चिद्दोषः, [18]शक्तेर्लब्धिसंज्ञितभावेन्द्रियस्वभावाया अप्रत्यक्षत्वोपगमात् । तत एव सुमतिदेवैरुक्तम्–"**शक्तिः परोक्षेति चेन्न काचित्क्षतिः** [ ] इति । स्वसंविदितत्वं तूक्तं[19] स्वरूपापरोक्षनिर्णये[20]क्रियातादात्म्यात् । [21]तत्क्रियाया अपि परोक्षशक्तितादात्म्यात् परोक्षत्वप्रसङ्ग इति चेत्; [22]अभिमतमेवैतत् परोक्षेतरस्वभावतया सर्वस्यापि वस्तुनोऽभ्यनुज्ञानात् । वक्ष्यति च–

"प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च परोक्षं स्वप्रदेशतः" [न्यायवि० श्लो० १२८] इति ।

ततो वेदनस्यैवार्थात्मविषयस्य प्रामाण्यादुपपन्नमेतत्–'न्यायो वेदनात्मैव न्यायत्वान्यथानुपपत्तेः' इति ।

---

१ –ष्टः स्या–आ०, ब०, स० । २ स्वनिर्णयरूपत्वम् । ३ अर्थनिर्णयरूपत्वम् । ४ अभेदावभासनम् । ५ अभेदात् । ६ अर्थात्मग्रहणेन । ७ निर्णयसाधकतमत्वम् । ८ –स्यानि–आ०, ब०, प०, स० । ९ वेदनस्य । १० –र्थं सहका–आ०, ब०, प०, स० । ११ किमुत्पद्य–आ०, ब०, प०, स० । १२ इन्द्रियादिव्यापारात् । १३ वेदनस्य । १४ विषयान्तरनिर्णयसमर्थस्य वेदनस्य । १५ सामर्थ्यस्य । १६ "कथमन्यथा न्यायविनिश्चये 'सहभुवो गुणाः' इत्यस्य 'सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् । शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ।' इति निदर्शनं स्यात् ।"–सिद्धिवि० टी० पृ० ६९ । १७ शक्तिनिरूपेण त–आ०, ब०, प०, स० । १८ "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् । अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः । उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः ।"–लघी० स्ववृ० श्लो० ५ । १९ सामर्थ्यस्य । २० निर्णयरूपक्रिया । २१ निर्णयक्रियायाः । २२ अभिमतमेतत्–आ०, ब०, प०, स० ।

नन्वर्थस्य घटादेः आत्मनश्च बोधस्वभावस्य वेदनमेव कथम् ; अशक्तस्य तदसम्भवात् । न ह्यशक्तस्य सम्यग्बुद्धिविषयत्वम्, योग्यस्यैव तदुपपत्तेः । शक्तस्यैव तस्य वेदनमिति चेत् ; न, एकान्तेन द्रव्यरूपत्वे पर्यायस्वभावत्वे सामान्यात्मकत्वे विशेषाकारत्वे च तस्यार्थक्रियासामर्थ्यस्य शास्त्रकारेणैव निषेधात् । न च द्रव्यादेः रूपान्तरमस्ति, यतस्तस्याऽनिषिद्धसामर्थ्यस्य किञ्चिद्वेदनं स्यात्तदसम्भवात् । सोऽन्यरूपेयं प्रतिज्ञेति चेत्, अत्राह–'द्रव्य' इत्यादि । तात्पर्यमत्र–यद्यप्येकान्तनित्यादिरूपत्वे अर्थात्मनोः शक्तिवैकल्यम् अर्थक्रियाविरहात्, कथञ्चिन्नित्यादिस्वभावत्वे तु नायं दोषः तत्रार्थक्रियासामर्थ्यस्य निरूपणाद्वेदनविषयतोपपत्तेः निरवद्यत्वं प्रतिज्ञाया इति ।

> एकान्ततो नित्यमनित्यमेवं समानमन्यच्च[1] न वस्तु किञ्चित् ।
> अर्थक्रियायां तदशक्तिभावात् तथाविधस्याप्रतिवेदनाच्च ॥२१८॥
> अविद्यमानं कथयन्ति सन्तस्तद्वेदनं नाम कथं प्रमाणम् ।
> अवस्तुसंस्पर्शितया सतोऽपि को नाम मानव्यवहारयोगः ॥२१९॥
> ततोऽस्तु वास्यन्तरमेव रूपमन्तर्बहिर्वस्तुषु वस्तुवृत्त्या ।
> तस्यार्थशक्तेः प्रतिवेदनाच्च व्योमारविन्दप्रतिमं तदन्यत् ॥२२०॥
> तयोर्दितं स्वामिसमन्तभद्रैरेकान्तनीतिप्रततीकुठारैः ।
> अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं तव[2] स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम् ॥" [युक्त्यनु० श्लो० ७]
> तद्वेदनं तभिरयथरूपं प्रमाणतत्त्वेन निरूप्यमाणम् ।
> अयुक्तिमन्नेति यदस्तुदारं [3]द्रव्यादिलक्ष्मग्रहणेन देवैः ॥२२२॥

स्यान्मतम्–आगमार्थ एव प्रमाणार्थो वक्तव्यः, आगमनैर्मल्यतयनोपायतया तैवपरप्रमाणपरिचिन्तनात्, एकविषयत्वे च संवादसामर्थ्यात् तस्य तदुपायत्व न भिन्नविषयत्वे[8] तत्सामर्थ्याभावात् । हेयोपादेयतत्त्वमेव च [9]सोपायमागमार्थो न द्रव्यादिरूपावयवात्मानौ तत्कथं तयोः प्रमाणार्थत्वमुक्तं न हेयादितत्त्वस्य सोपायस्येति ? तन्न सारम्, अर्थात्मनोरेव सोपायहेयादिरूपत्वात्, [10]द्रव्यादिस्वभावकथनं तु तदभावे हेयादिरूपस्यैवासम्भवप्रतिपादनार्थम् [11]तथैव यथावसरं निरूपणात् । ततश्च [12]परस्यागमानां द्रव्यादिरूपवस्तुवादविमुखत्वेन वस्तुभूतहेयादितत्त्वप्रतिपादकत्वाभावादप्रामाण्यम्, परमागमस्य चान्ययोगव्यवच्छेदेन तद्वैपरीत्याद् हेयादिविषयं प्रामाण्यमयत्नसिद्धं भवति । ततो निरवद्यं यथोक्तविषयस्य वेदनस्यैव न्यायत्व तदन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयात् । अनिश्चितान्वयस्य कथं हेतुत्वमिति चेत् ? न ; अन्यथानुपपत्त्यैव निश्चितया अन्वयस्यापि निश्चयात् तस्यास्तद्रूपत्वात् । साधर्म्यदृष्टान्तानुपदर्शने कथं [13]तन्निश्चय इति चेत् ? न, यत्र

१ द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषातिरिक्तम् । २ असिद्धा । ३ विशेषरूपम् । ४ भेदनिरपेक्षोऽभेदः, अभेदनिरपेक्षश्च भेदः, केवलं भेदः अभेदश्च न तत्त्वमिति भावः । ५ कारिकायां द्रव्यपर्यायेत्यादिपदोपादानेन । ६ अकलङ्कदेवः । ७ आगमभिन्नप्रत्यक्षादिप्रमाण । ८ आगमभिन्नप्रमाणस्य । ९ –सैन तत्त्व–आ०, ब०, प०, स० । १० हानोपायोपादानोपायसहितम् । ११ द्रव्यादे स–आ०, ब०, प०, स० । १२ तदैव आ०, ब०, प०, स० । १३ वेदादिसमागमम् । १४ अन्वयनिश्चयः ।

एव तन्निश्चयोपपत्तेः विपक्षे बाधकसामर्थ्यात्, तस्य चोक्तत्वात्। निरूपयिष्यते चैतत्सविस्तरमिति नातीव निर्वाध्यते[1]। यथोक्तस्य वेदनस्यैव प्रामाण्ये शब्दलिङ्गयो[2]रतत्र स्यात् शब्दस्यावेदनत्वात् लिङ्गस्यावेदनस्यापि भावात्, तथा च तन्निरूपण[3]मप्रस्तुताभिधानम्, प्रमाणमेव हि तच्छास्त्रे निरूपयितव्यं नापरमिति चेत्; अत्राह–'**अञ्जसा**' इति। तात्पर्यमत्र–यथोक्तमेव संवेदनं मुख्यतः प्रमाणम्, तद्धेतुत्वेन तूपचरितं प्रामाण्यमचेतनस्यापि शब्दलिङ्गादेरनिवारितमिति। कथं शब्दादेस्तद्धेतुत्वमिन्द्रियादेरेव तद्धेतुत्वात् "**इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणम्**" [ ] इति वचनादिति चेत्? न; इन्द्रियप्रत्यक्षापेक्षया तन्नियम[4]मभिधानात्, अन्यथा स्वमतव्याघातापत्तेः।

दर्शनस्य प्रामाण्यप्रसङ्गः, तेनाप्यर्थात्मनोरेव सत्तारूपेण ग्रहणात् "**सामान्यग्रहणं दर्शनम्**" [ ] इति[5] वचनात्। इत्यत्राह–**साकारम्** इति। घटः पट इति वा जीवः पुद्गल इति वा यो योऽयमतद्रूपपरावृत्तो भावस्वभावः स [6]आकारः, तेन विषयेण सह वर्तत इति साकारम्। '**अर्थात्मवेदनम्**' इत्यनेन ज्ञानस्यैव प्रामाण्यमुपदर्शयति तस्यैव साकारत्वात् "**सायारं णाणं**" [ ] इति[7] वचनात्। अर्थात्मग्रहणेनैव वेदनस्य साकारत्वमुक्तं भेदनिर्देशात्, सन्मात्रापेक्षायां [8]तदनुपपत्तेरिति चेत्; न; सन्मात्रस्यापि [9]तद्रूपत्वात्तदुपपत्तेः। अर्थात्मरूपमेव हि वस्तु प्रथमलोचनादिप्रणिधानवेलायाम् अपरामृष्टभेदतयाऽनुभूयमानं सन्मात्रमुच्यते नापरम्। अतो दर्शनापेक्षया [10]भेदनिर्देशो न तन्त्रम्, ज्ञानापेक्षयैव तस्य तत्त्वादित्यस्ति [11]संशयावकाशस्ततो न पौनरुक्त्यं साकारग्रहणस्य। दर्शनस्यापि किन्न प्रामाण्यं यतः साकारग्रहणेन तन्निवर्त्यत इति चेत्? न; "**ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः**" [सिद्धिवि० परि० १०] [12]इत्यागमविरोधापत्तेः। आगमोऽपि कस्मान्न तत्प्रामाण्यमिच्छतीति चेत्? न; अनिश्चयरूपत्वात्। न चानिश्चयरूपः प्रमाणार्थः 'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदलक्षणेन मीयते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्' इति तदर्थोपादानात्[13], [14]निर्णयात्मकत्वमन्तरेण [15]तद्व्यवच्छेदायोगात्। [16]दर्शनमपि निर्णयरूपमेवेति चेत्; न; विषयेन्द्रियसन्निपातानन्तरमवग्रहस्यैव निर्णयात्मनोऽनुभवात्। "**विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः**" [लघी० स्व० श्लो० ५] इति वचनाच्च[17]। [18]दर्शनेन त्ववग्रहव्यवधानमनुमानतं[19] एव न तन्निर्णयात्।

१ निर्वध्यते ता०, ब०, आ०, स०। २ लिङ्गशब्दयोः आ०, ब०, प०, स०। ३ शब्दलिङ्गनिरूपणम्। ४ इन्द्रियमनसोर्विज्ञानकारणत्वनियम। ५ "जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं"–सन्मति० २।१। द्रव्यसं०गा० ४३। ६ "पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो"–जयध० पृ० ३३१। ७ "सागारे से णाणे भवति, अणागारे से दंसणे भवति।" –प्रज्ञाप० प० ३० सू० ३१४। "साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति।" –सर्वार्थसि० २।९। ८ अर्थात्मेति विशेषनिर्देशानुपपत्तेः। ९ अर्थात्मरूपत्वाद् विशेषनिर्देशोपपत्तेः। १० अर्थात्मेति विशिष्य ग्रहणम्। ११ दर्शनस्य प्रामाण्यं नवेत्याकारक। १२ "णाणं होदि पमाणं"–ति०प०गा० ८३। लघी०श्लो० ५२। प्रमाणसं० श्लो०८६। १३ न्यायकुमु० पृ०४८ पं० १०। १४ निर्णयकत्वम–आ०,ब०,प०,स०। १५ संशयादिव्यवच्छेदायोगात्। १६ दर्शनरूपमपि आ०, ब०, प०, स०। १७ द्रष्टव्यम्–सर्वार्थसि० १।१५। अक० टि० पृ० १३४। १८ दर्शने तु–आ०,ब०,प०,स०। १९ यतः पूर्वकालभाविदर्शनमेव अनु पश्चात् मानम् अवग्रहात्मकं भवति, न तु तत् स्वयमर्थनिर्णयात्मकम्।

एतच्च "सत्तार्थयोगे सत्तालोकः" [लघी० श्लो० ५] इत्यादिव्याख्यानैर्भाष्यकारैरेव निरूपितम्। प्रमाणमेव सत्[1] निर्विकल्पकप्रत्यक्षत्वादिति प्रसाधितः, तदास्ताम् यथावसरं निरूपणात्।

शुक्तिकारजतज्ञानस्य साकारत्वात् प्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्, न, अर्थग्रहणेन तन्निवर्तनात्। न हि [2]तद्रजतमर्थः, तद्देशादौ तदप्राप्तेः। तदप्यर्थ एवान्यदेशादौ सत एव तस्य प्रतिवेदनात्, ततो नार्थपदेन तन्निवर्तनम्, अतो '[3]बाधविवर्जितम्' इति वक्तव्यम्, अर्थज्ञानस्यापि बाध्यमानस्याप्रामाण्यप्रतिपादनार्थमिति चेत्, कथमज्ञानस्यैव[4] बाधनम् अतिप्रसङ्गात्? सन्निहितदेशत्वादेरसत एव ग्रहणादिति चेत्, न, [5]तस्याप्यन्यदेशादौ सत एव ग्रहणात्। तस्यापि सन्निहितदेशत्वादिकमसदेव गृह्यत इति चेत्, न, तत्रापि तस्यैवोत्तरत्वात्। तत्र दूरमनुसरतोऽपि किञ्चिदसद्वेदनमस्ति यत्प्रामाण्यव्यवच्छेदेन बाधविवर्जितपदमर्थवद्भवेत्। असत एव कस्यचिद्वेदने वा रजतस्यैवासतो वेदनमस्तु विशेषाभावात्। असतः कथं वेदनमिति चेत्? सन्निहितदेशत्वादेः कथम्? अदृष्टमेव तत्रापि बोधक इति चेत्, [6]स्वतस्तर्हि कथं वेदनम्? योग्यत्वाच्चेत्, क तस्य योग्यत्वम्? वेदनोत्पत्ताविति चेत्, कुतस्तदवगतिः? तत एव वेदनादिति चेत्, तन्न, यस्मात्–

यदि तद्वेदनेनैव [7]तस्यार्थोऽस्त्वन्य वेद्यते।
तदर्थास्तित्वसन्देहः कस्यचित्कथमुद्भवेत्?॥२२३॥
ज्ञानदेव कथं ज्ञानमात्मनोऽर्थात्समुद्भवम्।
स एवास्ति न वेत्स्येवं विकल्पाय प्रकल्पते॥२२४॥
दृश्यते चात्मसंवित्तौ सत्यामप्यर्थसंशयात्।
अर्थिनामपि तद्भेदेऽप्रवृत्तिस्तदनुस्मृताम्॥२२५॥
अनिश्चयात्तत्कत्वाच्चेत् तज्ज्ञानात्संशयोद्भवः।
अविशेषात्तयाऽप्येष किन्न स्यादात्मसंशयः?॥२२६॥
तथा सत्यर्थविज्ञानमर्थकार्यत्वमात्मनः।
तदेव प्रतिवेत्तीति संशयानः कथं [8]भवेत्॥२२७॥
तत्र तेनैव [9]"तद्युक्तिः, यदि तद्युक्तिरन्यतः"।
अनर्थसम्भवं [10]"तच्चेत्, कथं स्यादर्थवेदनम्?॥२२८॥
यद्विशादर्थकार्यत्वं [11]भ्रान्तज्ञानस्य तत्त्वतः।
तस्यापि विपर्ययोत्पत्तिरन्यथा तु वृथा भवेत्॥२२९॥
[12]तदप्यर्थोद्भवं चेन्न तद्गतिः पूर्ववस्त्वतः।
तदन्यज्ञानकल्पनास्तु विद्ध्यादनवस्थितिम्॥२३०॥

१ भाष्यकारैः।"तदनन्तरमूर्तं यन्मात्ररूपं मतिरिदमवग्रहस्तत्त्वाभिन्नसमुत्तरपरिणामं प्रतिपद्यतेऽवग्रहः॥" –लघी० स्व० श्लो० ५। २ दर्शनम्। ३ शुक्तिकायां मतसमानं रजतम्। ४ बाधवर्जि–आ०, ब०, स०। ५ गम्यमानैरेव। ६ –स्यादसत् ता०। ७ सन्निहितदेशतारेऽपि। ८ –देशत्वादि–आ०। ९ सन्निहितदेशत्वादेः। १० ततः आ०,ब०,प०,स०। ११ नान्य। १२ वदेः ता०। १३ नास्ति अर्थोऽत्र ज्ञानसमयाद्यविः। १४ स्यात्। १५ अन्यज्ञानम्। १६ प्राप्यत–आ०, ब०, स०। प्रामाण–म०। १७ अन्यज्ञानम्।

तज्ज्ञान[1]कार्ये योग्यत्वं नाध्यक्षं विषयस्य तत् ।
नानुमेयमलिङ्गत्वात्, लिङ्गं यद्यस्ति कथ्यताम् ? ॥२३१॥
संवित्तिनियमो लिङ्गम् ; अशक्तस्य[2] हि वेदने ।
तद्वेद्यं सकलं प्राप्तं तथा तन्नियमः कथम् ? ॥२३२॥
इति चेन्न, स्वशक्त्यैव संवित्तेर्नियतार्थता ।
तच्छक्तिरपि तद्धेतो[3]रर्थशक्त्या तु किं फलम् ? ॥२३३॥
ज्ञानमर्थादनुद्भूतं न चेन्नियतगोचरम् ।
अर्थो ज्ञानादनुद्भूतो वेद्यः स्यान्नियतः कथम् ? ॥२३४॥
अन्योन्यहेतुकत्वञ्च न सदन्योन्यसंश्रयात् ।
तद्वेद्यवेदकाभावाद् [4]भावनैरात्म्यमागतम् ॥२३५॥
अज्ञानजस्याप्यर्थस्य स्वशक्तिवशतो यदि ।
नियतस्यैव वेद्यत्वं [5]यथादर्शनमुच्यते ॥२३६॥
ज्ञानमेवमनर्थोत्थं निर्यतार्थं[6] न किं मतम् ? ।
स्वयमेवेदमन्यत्र[7] देवः स्पष्टं न्यवेदयत् ॥२३७॥

"स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥" [लघी० श्लो० ५९] इति ।

तत्र वेदनोत्पत्तावर्थस्य योग्यत्वम् । विषयभावपरिणाम इति चेत् ; न ; नित्यक्षणिकयोरविषयत्वप्रसङ्गात्, त[8]त्परिणामाभावात् । परिणामिनो भावस्य विषयत्वमिति चेत् ; सत्यम् ; तथापि नार्थसामर्थ्यकृतं वेदनं त[9]त्परिणामस्यैव तत्कृतत्वात् । न च स[10] एव वेदनम् ; अर्थज्ञानयोरभेदप्रसङ्गात् । स्वहेतुजनितस्यापि वेदनस्यार्थाभिमुख्यमर्थसामर्थ्यादिति चेत् ; न ; [11]तस्यापि स्वरूपाभिमुख्यवत् स्वशक्तित एव भावात् । किमिदानीं तत्परिणामेनेति चेत् ? यद्येवं जानासि निर्मुच्यतां तत्र निर्बन्धः । ततो यदुक्तं धर्मकीर्तिना–

"नित्यं प्रमाणं नैवास्ति प्रामाण्याद्वस्तुसद्गतेः ।
ज्ञेयानित्यतया तस्य अध्रौव्यात्......॥" [प्र० वा० १।१०] इति ।

तन्निरस्तम् ; ज्ञेयकार्यत्वे हि ज्ञानस्य [12]तदनित्यतया स्यादनित्यत्वम्, न चैवम्, तत्कार्यत्वस्यानन्तरमेव निषेधात् । मा भूत्तत्कार्यत्वं तथापि वस्तुसद्गतित्वात्तस्य[13] प्रामाण्यम् । वस्तुसद्गतित्वञ्च वस्तुनि सति व्यापारात् । न च वस्तु सर्वदास्ति यतस्तद्व्यापारस्य सर्वदास्तित्वम्, अतो वस्तुसदनित्यतया तत्र व्यापृतं ज्ञानमप्यनित्यमेव, तद्व्यापारतद्वतोरभेदात् । व्यापारोऽप्यन्व्यापारान्न भिद्यत इति चेत् ; न ; ज्ञेयस्य ज्ञातेतरावस्थयोरविशेषप्रसङ्गात् सर्वमज्ञमेव सर्वज्ञमेव वा

---

१ –कार्ययो–आ०, ब०, प०, स० । २ –स्य निवे–आ०, ब०, प०, स० । ३ संवित्तिकारणात् । ४ शून्यत्वम् । ५ यथाप्रतीति । ६ नियतार्थान्न आ०, ब०, प०, स० । ७ लघीयस्त्रये । ८ तयोरसत्त्वात् विषयभावपरिणामाभावात् । ९ अर्थगतविषयभावपरिणामस्यैव अर्थसामर्थ्यकृतत्वात् । १० विषयभावपरिणामः । ११ अर्थाभिमुख्यस्यापि । १२ ज्ञेयानित्यतया । १३ ज्ञानस्य ।

जगत्स्यात्तम्। न चैवम्, यतो वस्तुनि सत्येव तत्र ज्ञानस्य व्यापारो न पूर्वं नापि पश्चादित्युपपन्नं ज्ञेयानित्यतया वस्तुसङ्गतेर्ज्ञौन्यमिति चेत्, कुतः पुनरिदं ज्ञेयानित्यत्वमवगतं येनैवमुच्यते? तद्विषयादेव ज्ञानादिति चेत्; न, तस्य नित्यस्याभावात् "नित्यं प्रमाणं नैवास्ति" इत्यस्य विरोधात्। अनित्यात्तदवगम इति चेत्, अनित्यत्वेन तदज्ञाने कथम् 'अनित्यात्' इति वचनम्? न च [5]ज्ञानस्याज्ञातं रूपम्; स्वसंवेदनरूपत्वात्तस्य। न च स्वरूपज्ञानात्तद्वेदनम् "[6]तस्माद् दृष्टस्य भावस्य" [प्र० वा० ३।४४] इत्यादि [7]विलोपप्रसङ्गात्। अतस्येव [8]तस्य [9]तत्त्वेन ज्ञानमिति चेत्, कुतस्तज्ज्ञानम्? अन्यत एव कुतश्चिदिति चेत्, न; 'ज्ञेयानित्यतया' इत्यस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। ज्ञेयानित्यत्वादेवेति चेत्, तदपि कुतः? तज्ज्ञानस्यानित्यत्वादिति चेत्, न, परस्पराश्रयात्-ज्ञेयस्यानित्यत्वेन तज्ज्ञानस्यानित्यत्वम्, ततश्च तदनित्यत्वमिति। तत्र ज्ञेयानित्यत्वं तज्ज्ञानादेव तदध्यवसायम्। नाप्यतज्ज्ञानात्, अप्रतिपन्ने धर्मिणि तद्धर्मप्रतिपत्तेरयोगात्। ततो न ज्ञेयानित्यत्वं ज्ञानानित्यत्वस्य कारकं ज्ञापकं वेति न किञ्चिदेतत्। ततो वेदनस्य सद्विषयत्वमपि स्वतःसिद्ध एव तद्वदसद्विषयत्वमपि स्यात्।

यद्यसदेव रजतं कुतस्तस्य देशादिनियमेन वेदनम् असतो देशादिनियमस्यासम्भवात्, वस्तुधर्मत्वात्तन्नियमस्येति चेत्? न, वेदनस्यैव तथा सामर्थ्यात्। तदपि[10] यदि "[11]स्वोपादानप्रकृतेरेव, सर्वस्यापि वेदनस्यासद्विषयत्वप्रसङ्गः[12]", तत्सामर्थ्यहेतोः स्वोपादानप्रकृतेरविलोपादिति चेत्, न, आवरणोदयात् तत्सामर्थ्याभावात्। न च तदुदयस्य सर्वत्राविलोपः, स्वहेतुनियमेन [13]तन्नियमात्, आवरणसद्भावस्य च निवेदनात्। सर्वमसत् किन्न वेदयत इत्यप्यनेनाऽपास्तम्, आवरणशक्तिनियमात् नियतस्यैव वेदनोत्पत्तेः। ततो रजतवेदनस्यानर्थवेदनत्वेन अर्थपदेनैव तद्व्यवच्छेदात् न तदर्थं बाधवर्जितपदमर्थवत्। रजतज्ञानमप्यर्थज्ञानमेव अर्थस्यैव शुक्तेः रजतरूपतया वेदनादिति चेत्, कुतस्तस्य[14] तद्रूपतया वेदनम्? [15]तद्वेदनहेतुत्वाच्चेत्, न, ज्ञानस्यार्थकार्यत्वनिषेधात्। अनिषेधेऽपि कथं शुक्तिकार्यं ज्ञानं रजतप्रतिभासं भवेत् अतिप्रसङ्गात्? कारणदोषादन्यकार्यस्यापि [16]तदवभासित्वम्, न [17]चातिप्रसङ्गः तद्दोषशक्तिनियमेन [18]नियतज्ञानभावादिति चेत्, न, [19]तद्गुणादेव [20]अतज्जनितस्यापि तद्विषयत्वोपपत्तेः, सर्वत्र विषयकार्यज्ञानकल्पनावैफल्यप्रसङ्गात्। न[21] चाकारणार्थवेदने सर्वतद्वेदनप्रसङ्गः, तद्गुणशक्तिनियमेन तन्नियमोपपत्तेः। तत्र तज्ज्ञानहेतुत्वात्तस्य[22] तद्रूपतया वेदनम्। स्वयं [23]तद्रूपत्वादिति चेत्, न, शुक्तिरूपत्वाभावप्रसङ्गात्। न हि रजतमेव [24]तद्रूपं भिन्नप्रयोजनत्वात्। अरजतरूपापि [25]शुक्ती रजतरूपत्वेनावभासते कारणदोषादिति चेत्,

---

१ प्रमाणस्य। २ ज्ञानस्य। ३ ज्ञानात्। ४ ज्ञानात्मने। ५ ज्ञानस्याज्ञानतया स्व–आ०,ब०,प०,स०। ६ "एष एवाविमे गुणाः" इति शेषः। ७ विलोपप्रसङ्ग–आ०,ब०,प०,स०। ८ ज्ञानस्य। ९ अनित्यत्वेन। १० वेदनगतम् असतो देशादिनियमवेदनसामर्थ्यम्। ११ ज्ञानस्य स्वोपादानभूतं तद्दर्शनम्। १२ –प्रसङ्गात्तस्य –आ०, ब०, प०। १३ आवरणोदयनियमात्। १४ शुक्तिरूपार्थस्य। १५ रजतज्ञानम्। १६ रजतावभासित्वम्। १७ यदि शुक्तिज्ञानमपि रजतरूपं रजतप्रतिभासं तद्वत् घटादिप्रतिभासं कुतो न भवति? १८ नियतज्ञानभावा–आ०। १९ कारणगुणादेव। २० शुक्त्यजनितस्यापि। २१ न च कार–आ०। २२ शुक्तिरूपार्थस्य। २३ रजतरूपत्वात्। २४ शुक्तिरूपम्। २५ शुक्तिरज–आ०, ब०, प०, स०।

वस्तुसता[1], तद्विपरीतेन वा ? वस्तुसता चेत्; न; रजतज्ञानस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न हि वस्तुसज्ज्ञानमेवाप्रमाणम्; प्रमाणविलोपप्रसङ्गात्। बाधनादप्रमाणमिति चेत्; न; तदेव[2] वस्तुसज्ज्ञानस्य कथम्? स्वतस्तद्विषयस्य[3] वस्तुसत्त्वेऽपि शुक्तिरूपत्वेनाभावादिति चेत्; यदि तत्[4] प्रतिभासते कथं बाधनं स्वरूपनियतस्यैव[5] प्रतिभासनात्? प्रतिभासते चेत्; [6]कथमसत्, असतः प्रतिभासानभ्युपगमात्? अन्यथा रजतस्यापि [7]तद्वदसत एव [8]प्रतिभाससम्भवान्न तद्वस्तुसत्त्वं भवेत्। [9]तद्विपरीतेन चेत्; सिद्धं तर्हि तज्ज्ञानस्यावस्तुविषयत्वाद् अर्थपदेनैव निवर्त्तनम्। अथ तद्रूपं[10] स्वयमवस्तुसदपि वस्तुसच्छुक्तितादात्म्याद् वस्तुसदेव ततो नार्थपदनिवर्त्त्यत्वं [11]तज्ज्ञानस्य; न तर्हि तस्य बाधनमपि स्यात् [12]वस्तुसज्ज्ञानस्य [13]तदयोगात्। स्वतस्तद्विषयस्या[14]-वस्तुसत्त्वात्तस्य[15] [16]तदुपपत्तौ अर्थपदनिवर्त्त्यत्वमपि स्यादविशेषात्। न च सर्व एव असदाकारो वस्तुतादात्म्येनैवावभासते यतस्तत्प्रयुक्तं तस्य वस्तुत्वं भवेत्, स्वतन्त्रस्यापि गन्धर्वनगरादेः प्रतिभासनात्। तस्यापि भानुमन्मरीचिप्रसरादिभावान्तरतादात्म्येनैव प्रतिभासनमिति चेत्; तत्तादात्म्यस्य[17] तर्हि कथमसतः स्वतन्त्रस्य प्रतिभासनम्? तदपि [18]तत्तादात्म्यादेवेति चेत्; न; तत्र [19]तद्व्यापारस्याभावादनवस्थापत्तेः। न च तस्य[20] स्वतन्त्रावभासिनो वस्तुत्वम् अवस्तुधर्मत्वात्। तस्मात्स्वतन्त्रमेव तत् [21]अवस्तुभूतञ्चावभासत इति न्याय्यम्। तद्वद् गन्धर्वनगरादिरप्यसदाकारः प्रतिभातीति किं तत्र भावतादात्म्यपरिकल्पनेन अदृष्टकल्पनादोषप्रसङ्गात्?

असतः स्वतन्त्रस्य प्रतिभाससम्भवे कथमुक्तं [22]शास्त्रकारेण भ्रान्तिलक्षणम्—"अतस्मिन् तद्ग्रहो भ्रान्तिः" [सिद्धिवि० परि० २] इति? अनेन हि शुक्त्यादितादात्म्येनैव रजतादिप्रतिभासनमभिधीयते न स्वातन्त्र्येण। अतस्मिन् शुक्त्यादौ तद्ग्रहो रजतादिग्रह इति व्याख्यानादिति चेत्; न; 'अतस्मिन्' इत्यसदाकारपरत्वान्निर्देशस्य, अतस्मिन् 'असति तस्मिन्' इति तदर्थत्वात्, न पुनः तस्मादन्यस्मिन्[23] तस्मिन् इति। एवं हि यत्रैवान्यरूपत्वेनासदवभासनं तत्रैवेदं लक्षणं भवेन्नान्यत्र, तदस्तित्वस्य च निवेदनात्। अभिप्रेतञ्च शास्त्रकारस्यानन्यरूपत्वेनावभासनम्। "यथैवात्मायमाकारमभूतमवलम्बते" [न्यायवि० श्लो० ३५] इति वचनात्। भूततादात्म्यनियमेनावभासने हि कथम्—'अभूतमवलम्बते इति वचनात्' इति ब्रूयात्? परमप्यत्र यथास्थानं चिन्तयिष्यते। तस्मादसत्प्रतिभासनमेव रजतज्ञानमिति अर्थपदेनैव तद्व्यवच्छेदान्न तदर्थं प्रयत्नान्तरमास्थेयम्।

[24]अन्यस्य मतम्—न किञ्चिदसद्विषयं ज्ञानमस्ति यदर्थपदस्य व्यवच्छे[द्यं] स्यात्। शुक्ति-

---

१ रजतरूपत्वेन। २ बाधनमपि। ३ रजतरूपत्वस्य। ४ शुक्तिरूपत्वम्। ५ रजतरूपत्वविशिष्टस्यैव। ६ कथमसतः प्रतिभासोऽनभ्युप–आ०, ब, प०, स०। ७ शुक्तिरूपत्ववत्। ८ प्रतिभासनं भवेन्न तद्वस्तु–ता०। ९ अवस्तुसता। १० रजतरूपम्। ११ तद्ज्ञानस्य तर्हि आ०, ब०, प०, स०। रजतज्ञानस्य। १२ वस्तुतज्ज्ञा–आ०, ब०, प०, स०। १३ बाधनायोगात्। १४ रजतरूपस्य। १५ रजतज्ञानस्य। १६ बाधनोपपत्तौ। १७ भावान्तरतादात्म्यस्य। १८ भावान्तरतादात्म्यादेव। १९ भावान्तरतादात्म्यव्यापारस्य। २० भावान्तरतादात्म्यस्य। २१ अवस्तुभूतमव–आ०, ब०, प०, स०। २२ अकलङ्कदेवेन। २३ –न् अत–आ०, ब०, प०, स०। 'अतस्मिन्' इत्यत्र पर्युदासरूपे नञर्थे तस्मादन्यस्मिन् तस्मिन् इत्येवार्थः स्यात्, पर्युदासः सदृशग्राहीति नियमात्। २४ प्रभाकरस्य।

शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानमसद्विषयमिति चेत्, न, तत्र[1]अपि 'इदम्' इत्यस्य प्रत्यक्षत्वात् 'रजतम्' इत्यस्य स्मरणत्वात्। न च प्रत्यक्षस्मरणयोरसद्विषयत्वम्, अनभ्युपगमात्। न चापरं तत्रासद्विषयं संवेदनम् अननुभवादिति; तदसङ्गतम्, रजतज्ञानस्य स्मरणरूपतया अननुभवात्, पुरोवर्तिरजतावभासित्वेनानुभवस्वभावस्यैव तस्य प्रतिवेदनात्। स्मरणरूपत्वे स्वतीतविषयतया तदनुभवप्रसङ्गात्। न चैवम्। तन्न तस्य स्मरणत्वम्। अतद्रूपावभासिनोऽपि तद्रूपत्वे नीलस्य निरवशेषजगद्रूपत्वं भवेत् प्रतीतिविरोधस्योभयत्र साम्यात्। स्मरणमेव तद्वस्तुतः प्रमुषितत्वान्न स्वरूपेण वेद्यत इति चेत्, न, प्रमोषापरिज्ञानात्। अस्वसंवेदनं प्रमोष इति चेत्, न, प्रश्नस्यैवोत्तरत्वात् 'किन्न स्मरणं तत्त्वेन संवेद्यते' इति प्रश्नः, तत्कथम् 'अस्वसंवेदनात्' इति स[3] एवोत्तरीभवति? प्रश्नसमाधानयोरविशेषप्रसङ्गात्। न चास्वसंवेदनं संवित्तेः, स्वमतव्याघातात्। 'संवित्तिरपरोक्षा' इति स्वमतत्वात्[4]। अनुभवस्वरूपत्वेन ग्रहणं प्रमोष इति चेत्, न, तत्र[5] [6]तद्रूपस्याभावात्। असतश्च ग्रहणानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा सिद्धमसद्विषयं ज्ञानमिति कथं तद्व्यवच्छेदार्थमर्थपदं न भवेत्?

किञ्चैवम् इदम्प्रतिभासस्यापि स्मरणत्वप्रसङ्गो रजतप्रतिभासादभेदात्। न हि स्मरणादभिन्नस्यास्मरणत्वम्। अभेदश्चाभेदप्रतिभासात्। विवेक एव [8]तयोर्न प्रतिभासते नाभेदः इति चेत्, तर्हि रजतमपि न प्रतिभासते तदन्याप्रतिभासनस्यैव भावात्। रजतप्रतिभासनमेव तदन्याप्रतिभासनमिति चेत्, अभेदप्रतिभासनमेव विवेकाप्रतिभासनमपि स्यात्। अभेदप्रतिभासनादन्यदेव [10]तदिति चेत्, रजतप्रतिभासनाद् अन्यदेव अन्याप्रतिभासनमपि स्यात्। को दोष इति चेत्? न, सकलप्रतिभासविरहप्रसङ्गात्। स[11] एव स्मृतिप्रमोष इति चेत्, न, गाढमूर्च्छादिस्तत्त्वप्रसङ्गात्। [12]इदम्प्रतिभासाभावान्नेति चेत्, न; [13]तस्यापि अनिदम्प्रतिभासनिवृत्तिमात्रत्वेन [14]तत्रापि भावात्। यदि च इदम्प्रतिभासोपाधिकप्रतिभासविरह[15] एव [16]तत्प्रमोषः, सकलं जगत्प्रमोष एव स्याद् इदम्प्रतिभासस्यैव सर्वत्र भावात्। कथं घटादिप्रतिभास इति चेत्? न, तस्याघटादिप्रतिभासनिवृत्तिमात्रत्वात्। [17]तत्प्रतिभासत्वेनानुभूयमानः कथं तदन्यप्रतिभासनिवृत्तिरेव स्यात्? रजतप्रतिभासनमपि [18]तत्त्वेनानुभूयमानं कथं तन्निवृत्तिरेव स्यात्? बाधनादिति चेत्, न, तत्प्रतिभासाभावे बाधनस्यैवासम्भवात्। प्राप्ते हि तस्मिन् बाधनं नाप्राप्ते निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। प्राप्तौ वा तस्य न तदन्यप्रतिभासनिवृत्तित्वमेव,

---

१ "रजतमिदमिति नैकं ज्ञानं किन्तु द्वे एते विज्ञाने। तत्र रजतमिति स्मरणम्, तस्यानुभवस्मरणात् प्रामाण्यग्रहः। इदमित्यपि विज्ञानमनुभवरूपं प्रमाणमिष्यत एव।"–प्रक० प० पृ० ४४। बृह० प० पृ० ६५। २ "स्मरामीति विनाप्यस्मि स्मृतिज्ञानान्येतरपि"–बृह० पृ० ७२। "अनन्तरत्र रजते स्मृतिर्जाता तथापि च। प्रमोषोत्पातविस्पष्टपरामर्शविवर्जितम्॥"–प्रक० प० पृ० ३२। ३ प्रश्न एव। ४ "किन्तु संविदः प्रत्यक्षत्वात्"–बृह० पृ० ७६। "प्रत्यक्षा च नो बुद्धिरित्येतदुक्तं भवति प्रत्यक्षा च नः संवित्"–बृह० पृ० ७७। "स्वयं प्रकाशैव मितिः"–प्रक०प०पृ०५७। ५ स्मरणे। ६ अनुभवरूपस्य। ७ प्रत्यक्षस्मरणयोः। "ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकानवभासिनी।"–प्रक० प०पृ० ३२। ८ प्रतिभासत इत्यन्वयः। ९ रजतमित्यस्याप्रतिभासनात्। १० विवेकप्रतिभासनम्। ११ तदन्यप्रतिभासाभावः। १२ गाढमूर्च्छादौ इदमिति प्रतिभासाभावात्। १३ इदम्प्रतिभासस्यापि। १४ [illegible]। १५ इदम्प्रतिभासमात्रम्। १६ स्मृतिप्रमोषः। १७ घटप्रतिभासत्वेन। १८ रजतत्वेन।

रजतप्रतिभासतयैवानुभवात्। तदपह्नवे घटादिप्रतिभासोऽपि न कश्चिदिति सर्वत्र इदम्प्रतिभासस्यैव सकलभेदप्रतिभासविकलस्य भावाद्[1] विजयी [2]परमात्मवादः स्यात्। अथवा, शून्यवाद एव इदम्प्रतिभासस्याप्यपह्नवाविशेषात्। अशक्यापह्नवत्वे वा [3]तस्य तद्वदेव रजतप्रतिभासस्य इदम्प्रतिभासात् [4]तदभेदप्रतिभासस्य चाशक्यापह्नवत्वात् सिद्धम् इदम्प्रतिभासस्यापि स्मरणरूपत्वं रजतप्रतिभासात्तद्रू[5]पादभेदात्। स्पष्टप्रतिभासत्वान्नैवमिति; समानं रजतप्रतिभासेऽपि। तन्नैष स्मृतिप्रमोषवादो न्याय्यः। तस्मादसदाकारप्रतिभास एवायम्[6], तद्व्यवच्छेदार्थमर्थपदञ्च इति व्यवस्थितमर्थवेदनस्यैव प्रामाण्यम्।

कुतः पुनरर्थवेदनस्य तत्त्वा[7]वगमः? प्रत्यक्षादिति चेत्; तदपि तदेव, तदर्थान्तरं वा भवेत्? तदर्थान्तरमिति चेत्; नैकविषयं पूर्वस्मादविशेषात्। न हि तदविशिष्टमेव तत्प्रामाण्यमवगमयति [8]तत एव तदवगमप्रसङ्गात्। अत एव न [9]सजातीयविषयम्, मिथ्याज्ञानप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च मरीचिकातोयज्ञानेऽप्युत्तरतज्जातीयज्ञानभावात्। संवादप्रत्यय एव केवलम् अर्थक्रियाधिगमात्मा प्रत्यक्षमवशिष्यते। न च [10]तेनान्यविषयेण साधनज्ञानस्यातीतस्य प्रामाण्यं शक्यमवगन्तुम् अध्यक्षस्यातीतविषयत्वाभावात्। तन्नार्थान्तरात् प्रत्यक्षात् तत्प्रामाण्यावगमः। तत एवेति चेत्; न; सन्देहात्। उत्पन्नेऽपि हि जलज्ञाने भवति सन्देहः 'किमिदं सत्यं तोयम् अन्यथा वा' इति। ततो न [11]ततः स्वविषयस्यार्थक्रियासाधनत्वावगमः सम्भवति। न हि सन्दिग्धादेव प्रत्ययात्तत्त्वप्रतिपत्तिः अतिप्रसङ्गात्। अर्थज्ञानस्य बोधात्मकत्वमेव प्रामाण्यम्, तच्च तत एव तस्य सिद्ध्यतीति चेत्; न; बोधात्मकत्वस्य तैमिरज्ञानेऽपि भावात् तस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। बाधाविधुरं बोधात्मकत्वमेव प्रामाण्यमिति चेत्; न, बाधावैधुर्यस्याप्युत्पत्त्यवस्थायामप्रवेदनात्। प्रवेदने वा न ततः प्रवर्त्तमानोपि (नोवि) प्रलभ्येत। न ह्यवगतप्रामाण्यादेव बोधात्प्रवर्त्तमानस्य विप्रलम्भो न्याय्यः, तदवगमस्यैवाभावप्रसङ्गात्।

एतेन मिथ्याज्ञानस्य स्वतो बाधितत्वपरिज्ञानं प्रत्याख्यातम्। स्वतो हि [12]तत्परिज्ञाने न ततः [13]कस्यचित्तद्विषयार्थितया प्रवृत्तिः। न हि निर्विषयत्वं परिजानन्नेव तस्य तत्कृतां प्रवृत्तिमनुसरति तत्परिज्ञानस्यैवाभावापत्तेः। तन्न प्रथमं बाधविरहसिद्धिः। अर्थक्रियाधिगमसमये पश्चादेव तत्सिद्धिः, स्नानाद्यर्थक्रियाधिगमे हि जलस्य तत्साधनत्वं प्रतिपद्यमानः तद्वेदननिर्बाधत्वमध्यवस्यतीति चेत्; नैव तत्सारम्; एवमर्थक्रियाधिगमस्यैवासम्भवात्। तदधिगमो हि प्रवृत्तिपूर्वकः[14], प्रवृत्तिश्च तोयस्यार्थकारित्वनिर्णयात्। न चानवगतप्रामाण्यात् ज्ञानात्तद्विनिश्चयः[15] सम्भवति। यदि ह्यर्थक्रियाधिगमात् प्रागेव कुतश्चित्तोयवेदनस्य प्रामाण्यमवगतं भवति तदा तोयस्यार्थक्रियासम्बन्धावगमात् प्रवर्त्तमानस्यार्थक्रियाधिगमादुपपन्नं [16]तदर्थकारितोयसंवेदनप्रामाण्यनिश्चयनम्।

---

१ विजयिप–आ०,ब०,प०। २ ब्रह्मवाद। ३ इदम्प्रतिभासस्य। ४ रजतप्रतिभासाभेदस्य। ५ स्मरणरूपात्। ६ विपर्ययः। ७ प्रमाणत्वावगमः। ८ स्वस्मादेव स्वप्रामाण्यावगमप्रसङ्गात्। ९ प्रथमज्ञानसजातीय। १० संवादप्रत्ययेन। ११ स्वस्मादेव। १२ बाधितत्वपरिज्ञाने। १३ कस्यचिद्वि–आ०,ब०,प०,स०। १४ –क प्रवृ–आ०,ब०, प० स०,। १५ –त्तद्विषयनि–आ०,ब०,प०,स०। तोयस्य अर्थकारित्वनिश्चयः। १६ तदर्थक्रियाकारितोय–आ०, ब०, प०, स०।

न चैव (वं) तभिप्रायेण किञ्चित्, प्रागेव तस्य निश्चितत्वात्। अर्थक्रियासम्बन्धाच्च प्रामाण्ये मिथ्याज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गः, तदधिगतावपि स्वप्नसुरतादौ रेतोनिर्गमार्थक्रियादर्शनात्। तेनार्था सा तत्क्रिया न भवति ततः कदाचिदप्राप्तेरिति चेत्, अन्यतोऽपि न भवेत्, ततोऽपि कदाचिदप्राप्तेः। यत्र तत्प्राप्तिरसन्दिग्धा तत्प्रमाणमिति चेत्, न, प्रतिभासाभेदे सन्देहस्यैवानिवृत्तेः। अभिन्नप्रतिभासं हि सत्यतोपज्ञानं तद्विपरीतात्, तत्कथं तत एव प्राप्तिसन्देहविनिवृत्तिः? विलक्षणप्रतिभासात्तन्निवृत्तिरिति चेत्; न, तस्य तदानीमनुपलक्षणात्। पश्चात्तदभ्यासात्तदुपलक्षणमिति चेत्, न, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्-आकारविशेषावधारणात्प्रामाण्यनिर्णये तज्ज्ञानाभ्यासः, तस्मिंश्च सति तन्निर्णय इति। तत्र ततोऽन्यतो वा प्रत्यक्षात्प्रामाण्याधिगमः। प्रतिपादितं चैतद्वार्तिकालङ्कारे-

"संवादः प्रत्ययः सोऽन्यविषये यदि वर्तते।
तेन पूर्वस्य मानत्वमतीतस्येष्यते कथम्?॥
साधनप्रत्ययस्यापि सन्देहविषयत्वतः।
साधनत्वं कथं तस्य प्रमाणत्वाप्रतीतितः॥
बोधात्मकत्वान्मानं चेत्प्रसक्ता सर्वमानता।
अबाधितार्थबोधोऽपि प्रथमं न प्रसिद्ध्यति॥
अथार्थकारितां ज्ञात्वा तदर्थस्य प्रमात्ववित्।
प्रमाणं प्रागसिद्धं यत् तस्य विधिः कथं ततः?॥
यदि प्रमाणं प्राक् सिद्धं क्रियया तस्य योगवित्।
अर्थक्रियावस्तज्ज्ञानं प्रमाणमिति गृह्यते॥
यत्रैवार्थक्रिया तत्र प्रमाणमथ चेन्मतम्।
अर्थक्रियोदयो दृष्टः सोऽप्रमाणाद्रतादपि॥
तेनो नार्थक्रिया सा चेत्, अन्यतोऽपि कथं मता।
तेन कदाचिदप्राप्तिः साऽन्यत्रापि समीक्ष्यते॥
यतो न प्राप्तिसन्देहस्तत्प्रमाणं मतं यदि।
सन्देहस्य निवृत्तिर्हि समानाकारतः कुतः?॥
अभ्यासाल्लक्ष्यते पश्चादाकारः स विलक्षणः।
ततः प्राप्त्यविनाभावः एष सोऽन्योऽन्यसंश्रयः॥"

[प्र० वार्तिकाल० १।४] इति।

---

१ तेनैवैतदप्रामाण्यस्य। २ सुरत-आ०, ब०, प०, स०। ३ -मार्थं-आ०, ब०, प०, स०। मिथ्याज्ञानाधिगमतत्समसुरतादिवत्। ५ सत्यज्ञानाधिगतावपि। ६ तत्प्राप्त्यभि-आ०, ब०, प०, स०। -र्निर्-आ०, ब०, प०, स०। ८ विलक्षणप्रतिभासानुभवनम्। ९-स्थमिति तस्ये-स०। १० -सर्वमानता आ०, ब०, प०, स०। ११ अर्थक्रियासम्बन्धसाधनम्। १२ "सोऽप्रमाणात्मनस्तदपि"-प्र० वार्तिकाल०। १३ अप्रमाणज्ञानात्। १४ अप्रमाणज्ञानात्। १५ प्रमाणज्ञानेऽपि।

मा भूत्प्रत्यक्षात्तत्प्रामाण्यावगतिः अनुमानाद्भवेत्, तथा हि–स्नानपानादिसमर्थतोयदर्शनाहितसंस्कारस्य तोयान्तरदर्शने पूर्वतोयानुस्मरणात् 'इदमपि तोयं स्नानादिप्रयोजनकरम् ईदृशाकारत्वात्[1] पूर्वतोयवत्' इति तोयार्थक्रियासम्बन्धविषयमनुमानमुपजायते । तदेव च तोयवेदनप्रामाण्यज्ञानम्, अर्थक्रियासम्बन्धादन्यस्य प्रामाण्यस्याभावाद् अबाधितत्वादेरपि तदायत्तत्वात्[2] इति चेत्; असारमेतत्; साध्यसाधनसम्बन्धाप्रतिपत्तौ अनुमानानुदयात् । तत्प्रतिपत्तिश्च न प्रत्यक्षात्; तत्प्रामाण्यानिश्चयात् ।

अनुमानात्तन्निश्चयश्चेत्[3]; न; परस्पराश्रयप्रसङ्गात्--अनुमानेन प्रत्यक्षप्रामाण्यनिश्चये ततः सम्बन्धज्ञानम्, ततश्चानुमानमिति । कथं वा प्रत्यक्षेण प्रागपि तोयतत्प्रयोजनयोः पूर्वापरसमयभाविनोः सम्बन्धवेदनम्? कथञ्च न स्यात्? इतरेतरविषयपरिहारेणावस्थानात् । तोयप्रत्यक्षं हि तोयमात्रगोचरं न तत्प्रयोजनविषयम्, अपरिच्छिन्नतत्प्रयोजनञ्च कथं तद्धेतुत्वं स्वविषयस्य जानीयात्? तत्प्रयोजनप्रत्यक्षञ्च स्नानादिमात्रपर्यवसितं न पूर्वतोयमधिगच्छति, अनधिगततद्रूपञ्च कथं तत्कार्यत्वं स्वविषयस्य गृह्णीयात्? न च तत्समुदायेन सम्बन्धवेदनम्, क्रमभाविनोस्तदभावात्[3] । नाप्येकमुभयसमयव्यापि प्रत्यक्षम्; क्षणिकत्वात् सर्वभावानाम् ।

भवदपि सम्बन्धग्रहणं प्रत्यक्षाद्यदि व्याप्त्या[4] भवति तदा भवत्वनुमानं व्यभिचारपरिशङ्कनाभावात् । न हि सकलदेशकालभाविनस्तोयकलापस्य स्नानपानादिप्रतिबन्धनिर्धारणे व्यभिचारसम्भावनं सम्भवति, निर्धारणसम्भावनयोर्विरोधात् । अपि तु[5] नास्मदादिप्रत्यक्षस्य व्यापिसम्बन्धग्रहणे सामर्थ्यमस्ति; सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात् । साहचर्यमात्रस्य तु व्याप्तिविकलस्य[6] न सम्बन्धत्वम् । न च तत्परिज्ञानादनुमानम्; व्यभिचारसम्भवात् । सम्भवद्व्यभिचारादप्यनुमाने तत्पुत्रत्वादेरपि[7] स्यात् । तस्माद् व्याप्त्या[8] सम्बन्धज्ञानमङ्गीकर्तव्यम् । न च तत्र प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यम्, तेन हि पुरोवर्त्तिन एव तोयस्य तदर्थक्रियासम्बन्धः परिगृह्यते न देशकालान्तरभाविनः तस्य तेनाग्रहणात्, ग्रहणे वा तदधिकरणस्य देशादेरपि सर्वस्य तेन ग्रहणं स्यात्, अन्यथा तद्गत[9]सकलतोयव्यक्तिग्रहणाभावेन व्याप्त्या सम्बन्धज्ञानस्यासम्भवादनुमानाभाव एव स्यात् । सम्बन्धज्ञाननिरपेक्षमेवानुमानमिति चेत्; न; प्रतिपादकवत् प्रतिपाद्यस्यापि स्वत एव तत्प्रसङ्गात्, तथा च गतमिदानीं शिष्योपाध्यायादिव्यवहारेण । तन्न युक्तिसहमेतत् साहसातिरेकत्वात् । तत्र [10]दृष्टान्ततोयतत्प्रयोजनसम्बन्धस्यापि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तिः–अनुमानात्तत्प्रतिपत्तौ तत्राप्यपरो [11]दृष्टान्तः, तस्यापि स्वप्रयोजनसम्बन्धोऽनुमानान्तरादवगन्तव्यः तत्राप्येवमित्यपरापरानुमानप्रतीक्षायामनवस्थानान्न प्रकृततोयज्ञानप्रामाण्यसिद्धिः स्यात् । ततो

१–त्वात्तत्पूर्वे–आ०, ब०, प० स०, । २ अर्थक्रियासम्बन्धायत्तत्वात् । ३ अविनाभावनिश्चयः । ३ समुदायासम्भवात् । ४ सर्वोपसंहारेण । ५ किन्तु । ६ अविनाभावशून्यस्य । ७ 'गर्भस्थः मैत्रतनयः श्यामो भवितुमर्हति तत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत्' इत्यादेः । ८ व्याप्तौ स–आ०, ब०, प०, स० । ९ सकलदेशगत । १० उदाहरणीकृततोय । ११ दृष्टान्तस्यापि आ०, ब०, प०, स० ।

न प्रत्यक्षात् नानुमानात् प्रामाण्यावगमः, न चापरं प्रमाणमस्ति यतस्तदवगमः स्यात् । तत्कथं प्रमाणसिद्धिः यतस्तल्लक्षणप्रणयनमिति ? एतदपि तत्रैव प्रतिपादितम्–

"तदृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः ।
स्मरणाद् व्यवहारश्चेदनुमानं तथा सति ॥
तथानुमानमध्यक्षादध्यक्षमनुमानतः ।
अन्योन्यसंश्रयादेवं नास्त्यन्यतरसंस्थितिः ॥
स्वरूपस्यावलम्बनाकारपरिच्छेदि हि प्रत्यक्षं न हि तृणस्यापि कुब्जीकरणे समर्थम् ।
न पूर्वापरयोस्तेन[1] सम्बन्धः परिगृह्यते ।
देशकालान्तरव्याप्त्या सङ्गतिर्योग उच्यते ॥
देशकालान्तरव्याप्तेरध्यक्षं ग्रहणे क्षमम् ।
यदि; सर्वस्य सर्वार्थदर्शितैव प्रसज्यते ॥
सद्भावस्तु [2]यो[ऽ]व्याप्त्या[3] न तस्मादनुमोदयः ।
कादाचित्कतया तस्य सर्वज्ञस्त्वनुमाऽथवा ॥
इदानीमेवमाकारमेतदस्तीति वेद्यताम् ।
अध्यक्षतः, न देशाद्यन्तरस्यग्रहणं ततः ॥
अगृहीते च देशादौ तद्व्याप्तिर्गृह्यते कथम् ? ।
तद्ग्रहेऽनुमानं चेदेतदत्यन्तसाहसम् ॥
अनुमानान्तराक्षेपादनवस्थावतारतः ।
प्रकृताप्रतिपत्तिः स्यात्तस्य तस्येत्यपेक्षणात् ॥
न प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपरं मानमिष्यते ।"
[प्र० वार्तिकाल० १।५]

इति चेत्, अत्राह–'प्रत्यक्षलक्षणम्' इति । प्रतिपक्षमश्नोतीति प्रत्यक्षम्, परस्यानन्तरं विचारज्ञानम्, तेन प्रमाणप्रतिपक्षस्य तदभावस्य स्वविषयत्वेन व्यापनात्, तदेव लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्, प्रत्यक्षं लक्षणं यस्य तत्तथोक्तम् अर्थवेदनम् । कथं पुनः परविचारेणार्थज्ञानस्य तत्त्वमवगम्यत इति चेत् ? उच्यते–यद्ययं विचारः प्रमाणं न भवति, कथमतः प्रमाणाभावसिद्धिः तदभावसिद्धिर्वा ? । न चैवं कस्यचित् कश्चित्पराश्रयः, प्रमाणनिरपेक्षात्यः स्वार्थसिद्धेः सर्वत्र सुलभत्वात् ? नापि विभ्रमः, तस्य पराश्रयसापेक्षत्वात्, तस्य चाभावादित्यभाव एव वाद्व्यवहारस्य [11]प्राप्तः । तस्मात्परपक्षव्युदासेन स्वपक्षसिद्धिमन्विच्छता प्रमाणमूलैव तत्सिद्धिरङ्गीकर्तव्या नान्यथा अतिप्रसङ्गात् ।

---

१ प्रमाणवार्तिकालङ्कार एव । २–करणसम–आ०, ब० । ३ प्रत्यक्षेण । ४ यै व्या–आ०,ब०,प०,स० । ५ अन्यस्य अविनाभावसम्बन्धेन । ६ सद्भावस्य । ७ व्याप्तिग्रहणमन्तरेण । ८ प्रामाण्याभावस्य । ९ अप्रमाणत्वम् । १० पराश्रयस्य । ११ प्रसिद्ध–आ०, ब०, प०, स० ।

भवतु विचारः प्रमाणमिति चेत्; सांवृतम्, पारमार्थिकं वा? सांवृतत्वे न ततः पारमार्थिकी[1] प्रमाणाभावसिद्धिः, उपायस्य सांवृतत्वे तदयोगात्, अन्यथा तत एव तादृशी तद्भावसिद्धिरपि स्यादित्यपार्थकत्वमेव प्रमाणनिराकरणप्रयासस्य प्राप्तम्। तद्भावसिद्धौ[2] सांवृतमपि प्रमाणं नास्तीति चेत्; किमिदानीं मनोराज्येऽपि दारिद्र्यमस्ति? विचारत्वाख्यं प्रतिभासमात्रं हि संवृतिः[3], सा च यथायथं[4] प्रमेयेषु विद्यत एव प्रवादिनाम्। विचारात्मिका न विद्यत इति चेत्; न; तस्या अपि "प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्[5]" [न्यायवि० श्लो० ४९] इत्यादिरूपायाः प्राचुर्येण भावात्। सांवृतात्प्रमाणात् प्रमाणाभावसिद्धिरपि सांवृततैवेति चेत्; न; तथापि तत्प्रयासवैयर्थ्यस्य तदवस्थत्वात्, सांवृतस्य तदभावस्यास्माभिरप्यङ्गीकाराद् वास्तवस्यैव तस्यानभ्युपगमात्। तन्न सांवृतत्वेन[6] विचारः प्रमाणम्।

पारमार्थिकत्वेनेति चेत्; न; ततोऽप्यपरिज्ञातात् स्वार्थसिद्धेरयोगात्। स्वतः प्रामाण्यनिराकरणाभाव[7]प्रसङ्गात्। नापि परिज्ञातात्; स्वतः परतश्च तत्परिज्ञानाभावस्य स्वयमेव प्रतिपादनात्। अस्त्येव तत्परिज्ञानमभ्यासात्, अप्रामाणासम्भविनः प्रतिभासविशेषस्याभ्यासवलेनावधरणात्। 'तत्प्रमाण्यपरिज्ञाने भूयस्तदभ्यासः, तस्माच्च तत्परिज्ञानम्' इति परस्पराश्रय इति चेत्; स्यादेवं[8] यदि तत्कृतादेवाभ्यासात् तत्परिज्ञानम्, न चैवम्, पूर्वाभ्यासस्य तत्परिज्ञानहेतुत्वात्, तस्यापि तथाविधतत्पूर्वज्ञानाभ्यासतो भावात्, इत्यनादिरयमभ्यासप्रवन्धः, तत्र पूर्वपूर्वस्मादवधृतविशेषस्यैव उत्तरोत्तरज्ञानस्योत्पत्तेः न विचारप्रामाण्यपरिज्ञानमिति चेत्; अनुकूलमाचरसि; प्रत्यक्षादेरप्येवं प्रामाण्यपरिज्ञानस्यानपवादस्य प्रसङ्गात्, तत्राप्यभ्यासवलेनैव प्रमाणप्रत्यनीकपदार्थासम्भविनः[9] प्रतिभासविशेषस्य [10]अप्रवृत्तेनैवावधारणात् प्रामाण्यपरिज्ञानस्योपपत्तेः, अभ्यासानादित्वेनैव परस्पराश्रयस्यापि परिहारात्। न चाभ्यासादेव [11]तद्विशेषावधारणात्; तदभावेऽपि क्षयोपशमापरनामधेयाददृष्टसामर्थ्यादप्रवृत्तस्यैव तदवधारणसम्भवात्। ततो निराकृतमेतत्–"यतो न प्राप्तिसन्देहः" [प्र०वार्तिकाल० १।५] इत्यादि। 'समानाकारतः'[12] इत्यस्यासिद्धत्वात् विशेषावधारणस्येव[13] भावात्। दृश्यते च वालावलादीनामपि [14]पुरोवर्तिभावप्रतिभासेष्व [दृष्टाद] भ्यासतो वा प्रवृत्तेः प्रागेव 'सत्यार्थोऽयम् अन्यथैव चायम्' इति देशकालनरान्तरापेक्षयाऽप्यसम्भवत्परिस्खलनस्य विशेषस्यावधारणम्। अत [15]एव वक्ष्यते–

"इन्द्रजालादिषु भ्रान्तमीरयन्ति[16] न चापरम्।
अपि चाण्डालगोपालवाललोलविलोचनाः ॥
तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञाऽपराधिनी।
वभूवेति वयं तावद्बहुविस्मयमास्महे ॥" [न्यायवि०श्लो० ५१,५२] इति।

---

१ पारमार्थिकी। २ प्रमाणसद्भावसिद्धौ। ३ द्रष्टव्यम्–पृ० १४ टि० ४। ४ यथा यथा प्र–आ०,ब०,प०, स०। ५–र्वन्तीत्या–आ०,ब०,प०,स०। ६–त्वे वि–स०। ७–रणभाव–ता०। ८ स्यादेतदेवं स०। ९ पदार्थसंभ–आ०,ब०,प०,स०। १० पुरुषेण, प्रवृत्तेः प्रागेव। ११ प्रतिभासविशेषावधारणम्। १२ इत्यस्यापि सिद्धि–आ०,ब०,स०। इत्यस्यापि सिद्ध–प०। १३–स्य भावा–ता०। १४ पुरोवर्तिप्रतिभास्यैष्टभ्यासतो वा आ०,ब०,प०। पुरोवर्तिप्रतिभासैष्टस्यासतो वा स०। १५ एवं व–आ०, ब०, प०,स०। १६–रयन्ते न आ०, ब०, प०, स०।

अपरिस्खलितप्रत्ययभेद्योऽपि स विशेषो न तात्त्विक इति चेत्, स्यादेवमेवम्—'प्रत्ययश्च न परिस्खलति, स च तात्त्विको न भवति' इति, विषयतात्त्विकत्वनिबन्धनत्वात् तत्प्रत्ययापरिस्खलनस्य। वासनादार्ढ्यनिबन्धनमेव तदपरिस्खलनं न तद्विषयभावनिमित्तमिति चेत्, न, अत्रापि प्रत्ययापरिस्खलनस्यैवोपायत्वात्, तस्य चायथार्थत्वे[1] तैतोऽस्याप्यर्थस्यासिद्धेः। अयमप्यभाविकं यथार्थं इति चेत्, कुत एतत्? तथैव प्रत्ययापरिस्खलनादिति चेत्, न; तस्यायथार्थत्वेन यथार्थतदभाविकत्वसिद्धावनुपयोगात्। तदभाविकत्वमप्ययथार्थमेवेति चेत्, न; 'कुत एतत्' इत्यादेरनुवृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गात्। यदि च वासनादार्ढ्यहेतुकत्वस्याभाविकत्वमप्ययथार्थमेव, मौलिकमेव तर्हि तत्त्वात्तम्, अभाविकत्वायथार्थत्वे भाविकत्वस्यावश्यमनव(मव)स्थानात्। तस्यापि न परिज्ञानोपायः, प्रत्ययापरिस्खलनस्यायथार्थत्वप्रतिपादनात्। अथेदं वासनादार्ढ्यहेतुकत्वप्रत्ययस्यापरिस्खलनं न वासनादार्ढ्याद् अपि तु तद्धेतुकत्वलक्षणस्वविषयस्य भावत एव भावात्, किमेवं प्रत्यक्षादिप्रामाण्यप्रत्ययस्याप्यपरिस्खलनं तत्प्रामाण्यलक्षणतद्विषयसद्भावादेव न भवति यतो वासनादार्ढ्यनिमित्तत्वेन तैतस्तत्प्रामाण्यसिद्धिर्न भवेत्। अवश्यं चैतदेवमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽनन्तरविचारस्यापि प्रामाण्यासिद्धिप्रसङ्गात्। न हि तत्प्रामाण्यमपि तद्विषयप्रत्ययापरिस्खलनादन्यतः सिद्ध्यति, तस्माच्च तद्विषयसद्भावप्रयुक्तादेव तत्सिद्धिर्न वासनादार्ढ्यप्रयुक्तात्। न चासिद्धप्रमाण्याद्विचारात् प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं सिद्ध्यतीत्युक्तम्।

अथ न विचारः 'प्रमाणम् अन्यथा वा' इति विचारयितव्यः। स खलु परस्य परीक्षाहेतुरेव न स्वयं परीक्षाभूमिः अनवस्थाप्रसङ्गात्। तत्परीक्षायां हि विचारान्तरमवश्यम्भावि, विना तेन परीक्षाऽयोगात्, तत्परीक्षायामिति पुनर्विचारान्तरमिति परापरविचारपरीक्षायामेव आसंसारं व्यापारान्न प्रकृतप्रत्यक्षादिप्रामाण्यपरीक्षायां व्यापारः स्यात्। ततः सुदूरं गत्वापि अविचारितादेव कुतश्चिद्विचारात् तदपरपरीक्षायाम् आद्यादपि तथाविचारादेव विचारात्प्रत्यक्षादिप्रामाण्यं परीक्ष्य परित्यज्यत इति चेत्, ननु तत्परित्यागो नामाप्रामाण्यमेव प्रत्यक्षादीनाम्, तत्कथम् अकृतविचाराद्विचारप्रामाण्यात् सिद्ध्यति? प्रामाण्यमेव वा शेषो र्थः किन्न सिद्ध्यति?

सिद्ध्यति न परं (ति परं) तत्तु न पारमार्थिकं व्यावहारिकत्वात्। इदमेव हि तस्य व्यावहारिकत्वं यदपरीक्षापरिशुद्धप्रमाणसिद्धत्वम्। न हि तथाविधस्य पारमार्थिकत्वम्, परीक्षापरिशुद्धप्रमाणवेद्यस्य तत्त्वात्। इदम्प्राभिमतमेव बौद्धस्य, "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र०वा० १।७] इति वचनादिति चेत्, कथमिदानीं विचारप्रामाण्यस्य पारमार्थिकत्वम्? तस्याप्यपरीक्षाशुद्धत्वात्।

१–तैन तथार्थसिद्धेः आ०, ब०, प०। २ प्रत्ययस्यस्वभावात्। ३ प्रत्ययापरिस्खलनं वासनादार्ढ्यनिमित्तं न तद्विषयभावनिमित्तकमित्यस्य। ४ अस्मादपरः। ५ अभाविकमेव। ६–तस्याप–आ०, ब०, प०, स०। ७ प्रत्ययापरिस्खलनात्। ८ प्रामाण्यसि–स०, प०, ता०। ९–प्रत्ययपरि–ता०। १० प्रत्ययापरिस्खलनात्। ११ विचारप्रमाण्यसिद्धिः। १२–वा न वेति आ०, ब०, प०, स०। १३ विचारः। १४ अविचारितादेव। १५ प्रत्यक्षादीनाम्। १६ अविचारितादविचारात्। १७ पारमार्थिकत्वात्।

प्रसिद्धञ्चैतत् प्रमाणवादिनामिति न साध्यपक्षे निक्षेपमर्हति । व्यतिरिक्तश्चेत्; तत्रापि तद्वर्गे[1] विचारस्य यदि व्यभिचारः कथं तत[2]तस्तत्सिद्धिः[3] प्रामाण्यसिद्धिवत्। अव्यभिचारश्चेत्; अविचलितं तत्[4]प्रामाण्यं भवेत् तस्य[5] तल्लक्षणत्वात्। अत्र चोक्तम्–"प्रत्यक्षादेरपि स्वविषयाव्यभिचारलक्षणं तद्वदेव तदप्रतिपिद्धम्" [ ] इति। अत उक्तम्–प्रत्यक्षलक्षणमर्थवेदनमिति।

ननु भवन्नपि परस्यास्मिन् विषये विचारः किन्नाम प्रमाणम्–प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अन्यद्वा भवेत्? प्रत्यक्षमिति चेत्; न; 'प्रत्यक्षमविचारकम्' इति स्वमत[6]व्याघातात्। भवदपि तत् सर्वस्माज्ज्ञानवर्गादव्यतिरिक्तं यदि; स एव तर्हि यथा[7]स्वमप्रामाण्यं प्रतिपद्यत इति प्राप्तम्, न चैतदुपपन्नम्; तद्वर्गस्य त्वया कुतश्चिदविपयीकरणात्। न ह्यविपयीकृतः सकलदेशकालगोचरपुरुपाधिष्ठानस्तद्वर्गः स्वगत[8]मप्रामाण्यमेव प्रतिपद्यते नापरमिति सम्भवति निर्णयः। एतदपि तद्वर्गेणैव[9] प्रतीयत इति चेत्; न; अत्रापि तस्यैवोत्तरत्वात्। अविपयीकृते तस्मिन् 'तेनैवेदं प्रतीयते' इति दुरवबोधमेतदिति। पुनरपि तथा समाधाने तदेवोत्तरमित्यनवस्थानं भवेत्। यदि च ज्ञानवर्गस्य सर्वस्यापि स्वत एवाप्रामाण्यप्रतिपत्तिः, न तर्हि तत्र कस्यचिदपि विप्रतिपत्तिरिति सौगतमेव सकलं जगत्स्यात्। अप्रमाणेऽपि तस्मिन् प्रमाणत्वसमारोपाद्विप्रतिपत्तिरिति चेत्; कुतस्तत्समारोपः? तत एव ज्ञानवर्गादिति चेत्; न; तस्य स्वतोऽप्रमाण्यप्रतिपत्तेरभ्युपगमात्। न ह्यप्रामाण्यं प्रतिपद्यमानस्य स्वतः प्रामाण्यारोपणमुपपन्नम्; तत्त्वप्रतिपत्ति मिथ्यारोपयोरेकज्ञानेन विरोधात्। अविरोधे वा[10] न कुतश्चित्तदारोपनिवृत्तिः, तत्त्वज्ञानस्य [11]तदप्रत्यनीकत्वात्, अपरस्य तत्प्रत्यनीकस्याभावादित्यमुक्तिरेव संसारात्। आरोपात्मकत्वे च [12]तद्वर्गस्य न प्रत्यक्षत्वम्, प्रत्यक्षस्य कल्पनापोढत्वात्, आरोपस्य च कल्पनात्मकत्वात्। अशब्दसंसर्गादविकल्पत्वमेव तैमिरिकस्य द्विचन्द्रग्रहणवदिति चेत्; तथापि न प्रत्यक्षत्वम् प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वात् 'प्रत्यक्षमभ्रान्तम्' [ ] इति वचनात्[13]। आरोपस्य च [14]स्वप्रतिभासिनि प्रामाण्ये यद्यप्रामाण्यं न स्वतः प्रतीयते '[15]सर्वस्याप्रामाण्यं स्वतः प्रत्येयम्' इति प्रकृतपरित्यागः। प्रतीयते चेत्; तदवस्थो विप्रतिपत्त्यभावः। न हि स्वाप्रामाण्यवेदिन[16] एव ज्ञानात् तद्विपयसद्भावावष्टम्भेन विप्रतिपद्यन्ते विद्वांसः। तत्रापि पुनः प्रामाण्यारोपाद्विप्रतिपद्यन्त एवेति चेत्; न; 'कुतस्तत्समारोपः' इत्यादेः पुनरावृत्त्या चक्रकानवस्थाप्रसङ्गात्।

एतेन 'परतस्तत्समारोपः' इत्यपि प्रत्युक्तम्; तत्समारोपस्यापि [17]स्वाप्रामाण्यावेदित्वे प्रकृतप्रतिज्ञापरित्यागस्य, तद्वेदित्वे विप्रतिपत्त्यनङ्गत्वस्य, तत्राप्यपरै[18]स्तत्समारोपकल्पनायाम् 'कुतस्तत्स-

---

१ प्रमाणभावनिर्मुक्तज्ञानवर्गरूपे प्रमाऽभावे। २ विचारतः। ३ प्रमाऽभावसिद्धिः। ४ विचारप्रामाण्यम्। ५ प्रामाण्यस्य। ६ "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्"–न्यायवि० पृ० ११। ७ यथामप्रा–आ०, ब०। यथातमप्रा–प०। यथास्वप्रा–ता०। ८ स्वगतप्रा–आ०, ब०, प०, स०। ९ ज्ञानवर्गे। १० वा नु कु–स०। ११ तदविरुद्धत्वात्। १२ ज्ञानवर्गस्य। १३ "तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।"–न्यायवि० पृ० ११। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।"–प्र० वार्तिकाल० २। १२३। १४ स्वगते। १५ सर्वस्यापि प्रामाण्यं सतः आ०, ब०, प०, स०। १६–ण्यवादिन आ०, ब०, प०, स०। १७ स्वाप्रामाण्यवे–स०। १८–तस्तत्स–स०।

मारोपः' इत्याद्युक्तदोषाविशेषात्। तत्र तद्वर्गात्तद्व्यतिरिक्तम्। नाऽपि व्यतिरिक्तम्, उक्तदोषत्वात्। तत्र प्रत्यक्षं विचार।

नाप्यनुमानम्, प्रत्यक्षाभावे तदभावात्, तस्य तत्पूर्वकत्वात्। अप्रामाण्यप्रतिबन्धे हि लिङ्गस्य प्रत्यक्षसिद्धे स्यादनुमानम्। न चाप्रामाण्यं प्रत्यक्षसिद्धमिति कथं तत्सम्बन्धः प्रत्यक्षवेद्यः स्यात्? सम्बन्धाधिकरणप्रतिपत्तिमन्तरेण सम्बन्धप्रतिपत्तेरनुपपत्तेः। सत्यपि प्रत्यक्षात्तदप्रामाण्यपरिज्ञाने न तत्सम्बन्धस्य प्रत्यक्षवेद्यत्वम्, 'स्वरूपस्यावलम्बनाकारपरिच्छेदि हि प्रत्यक्षम्' इत्यादेः 'पक्षद्वयमसाहमम्' इत्य तस्य दोषस्य परपक्षोक्तस्य अत्रापि प्रसङ्गात्। नापि अनुमानवेद्यत्वम, 'अनुमानान्तरापेक्षात्' इत्यादिप्रसङ्गात्। तन्नानुमानमपि विचारः।

प्रमाणान्तरमित्यपि न युक्तम्, "न प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपरं मानमिष्यते" [प्र० वार्तिकाल० ३।५] इति स्वमतव्याघातप्रसङ्गादिति चेत्, भवतु सौगतस्यायं पर्यनुयोगः तेनैवास्य विचारस्याप्रामाण्यप्रतिपत्त्यर्थमङ्गीकारात्र जैनस्य विपर्ययात्। जैनेन तु केवलम् 'अप्रमाणाद्विचारादिदविज्ञानवर्गस्याप्रामाण्य, तत्प्रामाण्यवद्भक्ष्यप्रतिपत्तिकमिति प्रमाणयितव्यो विचारः, तद्वदेव चार्थज्ञानस्यापि प्रामाण्यमशक्यप्रतिषेधम्' इत्येतावदुच्यते।

स्यान्मतम्-न सौगतस्याप्ययं प्रमाणम्। न ह्यनेन[1] किञ्चिद्विधीयते नापि प्रतिषिध्यते, केवलमर्थज्ञानप्रामाण्ये संशय एवापाद्यते न च संशयापादकं प्रमाणं विरोधादिति, तदसङ्गतम्, अर्थनिषेधनियमनिर्णयाभावे "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [प्र० वा० ३।६] इति विरोधात्। न हि सन्दिग्धेऽर्थे स्वरूपस्यैव न पररूपस्य गतिरिति नियमो न्याय्यः। किञ्च,

विचारितं चेत्सन्दिग्धम्, असन्दिग्ध 'किमुच्यताम्?
मयेदनस्वरूपं चेत्, विचारस्तत्र नास्ति किम्? ॥२५६॥
नास्ति चेत्, अविकल्पत्वक्षणिकत्वादिकं तव।
तत्र मानात्कुतः सिध्येत्? स्वसंवेदनतो यदि ॥२५७॥
कुतस्तदपि संसिद्ध्येत्? विचारेण विना कथम्?
प्रसिद्धत्वाद्विचारेण किं तत्रेत्यपि दुर्मतम् ॥२५८॥
मीमांसकादयस्तत्र यत्प्रसिद्धिं न मन्वते।
विना विचारतस्तत्त्वं प्रतिबोध्याः कथं त्वया ॥२५९॥
अपि च त्व स्वसंवित्तौ विचारविरहं ब्रुवन्।
स्वपक्षाक्षमशून्यत्वमात्मनः कथयत्यहम् ॥२६०॥

१ अप्रामाण्यस्याप्येन सह लिङ्गस्य अविनाभावे। २ पृ० ७५। ३ विचारेण। ४ एवापाद्यते आ०, ब०, प०, स०। ५ गतिरि-आ०, ब०, प०, स०। ६ किञ्चिदुच्य-आ०, ब०, प०, स०। ७ स्वसंवेदनस्व-रूपे। ८ स्वसंवित्ते। ९ मन्यते आ०, ब०, प०, स०। १० शिष्या इति शेषः।

"अप्रत्यक्षस्योपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति ।" [ ]
[1]इत्यादेर्बहुलं तत्र तद्विचारस्य दर्शनात् ॥२६१॥

अस्तु तत्र विचारश्चेत्तत्र सन्दिग्धमस्तु वः ।
तद्विचारस्य सम्यक्त्वान्निश्चितं चेत्तदुच्यते ॥२६२॥

मानमेव स सम्यक्त्वे तस्य तल्लक्षणत्वतः ।
न चैवम्, मानसंशीतेः स्वयमेव निरूपणात् ॥२६३॥

सन्दिग्धमानवेद्यत्वादर्थवत्तत्स्ववेदनम् ।
त्याज्यमस्तु, [2]उभयत्यागश्चोपायेन विना कथम् ?॥२६४॥

अस्ति कश्चिदुपायश्चेत्; द्वयत्यागः कथं भवेत् ?
तत्त्यागे कोऽवशिष्येत यस्योपायत्वकल्पनम् ॥२६५॥

तस्मात्स्ववेदनं बाह्यज्ञानाप्रामाण्यमेव वा ।
विचारादन्यतो वाऽपि प्रमाणादेव सिद्ध्यति ॥२६६॥

तद्वदेव प्रमाणत्वमर्थज्ञानस्य किन्न तत् ।
'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' इति सूक्तं ततो बुधैः ॥२६७॥

अथवा 'आत्मवेदनम्' इत्ययुक्तम्; अर्थज्ञानस्य स्वतो वे[3]दनायोगात्, [4]स्वात्मनि क्रियाविरोधात् छिदिक्रियावत् । न ह्यतिनिशितोऽपि करवाल आत्मानमेव छिनत्तीत्यत्रेदमाह— 'प्रत्यक्षलक्षणमात्मवेदनम्' इति । आत्मवेदनप्रतिपक्षस्य तदभावस्[5]य स्वविषयत्वेनाक्षणात् प्रत्यक्षं [6]तदभावज्ञानं तदेव लक्षणं यस्यात्मवेदनस्य तत्तथोक्तम् । तथा हि—

स्वसंवेदनवैकल्यं सर्वप्रत्ययगोचरम् ।
स्वतश्चेदवगम्येत प्रतिज्ञा भज्यते तव ॥२६८॥

अन्यतश्चेत्; तदन्यस्य यदि [7]संवेद्यते स्वतः ।
प्रतिज्ञाभङ्गदोषस्ते पुनरप्यनुपज्यते ॥२६९॥

तत्रापि [8]तस्य संवित्तिरन्यतो यदि कल्प्यते ।
तत्राप्यन्यत इत्येवमनवस्था कथं न वः ॥२७०॥

---

१ "अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिद्ध्यति ।"—तत्त्वस० का० २०७४ । २ अर्थ-स्वसंवेदनोभय ।-भयं त्या-आ०, ब०, प० ।-भयस्त्या-स० । ३ वेदनात् स्वा-आ०, ब०, प०, स० । ४ "स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्, न हि तदेव अङ्गुल्यग्रं तेनैव अङ्गुल्यग्रेण स्पृश्यते, सैवासिधारा तयैवासिधारया छिद्यते ।"—स्फुटार्थ० अभिध० पृ० ७८ । "न छिनत्ति यथात्मानमसिधारा तथा मनः । यथा सुतीक्ष्णाप्यसिधारा खड्गधारा तदन्यवदात्मानं स्वकीयं न छिनत्ति न विघटयति स्वात्मनि क्रियाविरोधात् तथा मनः, असिधारावच्चित्तमपि स्वात्मानं न पश्यतीति योज्यम् ।"—बोधिचर्या० पृ० ३९२ । ५-स्य वि-आ०, ब०, प०, स० । ६ आत्मवेदनाभावज्ञानम् । ७ स्वसंवेदनवैकल्यं संवेद्यते । ८ स्वसंवेदनवैकल्यस्य । ९ वा स० ।

काङ्क्षणस्य निवृत्तेश्चेत् , काङ्क्षणीयं किमुच्यताम् ?
सर्वज्ञानस्वसंवित्तिवैकल्यज्ञानमेव चेत् ॥२७१॥

तर्हि तदसिद्धनिष्पत्तौ कथं काङ्क्षानिवर्तनम् ?
काङ्क्षितार्थप्रकॢप्तिर्हि काङ्क्षाव्यावृत्तिकारणम् ॥२७२॥

मनसोऽप्यत्र गमनादित्यप्यनुचितं वचः ।
काङ्क्षितार्थं परित्यज्य तत्र तदन्यासम्भवात् ॥२७३॥

अदृष्टवन्मतो वापि तत्र तद्वृत्तिसम्भवे ।
मा स्म भूदनवस्थानं प्रकृतं तु न सिद्ध्यति ॥२७४॥

साकल्येन स्वसंवित्तिवैकल्यस्याप्रवेदनात् ।
तस्मात्तद्विपर्ययं किञ्चिज्ज्ञानमस्तु स्वतो गतम् ॥२७५॥

तदेव चार्थविज्ञानस्यात्मवेदनलक्षणम् ।
प्रत्यक्षलक्षणं देवः प्राह येनात्मवेदनम् ॥२७६॥

न स्वसंवेदने कश्चिद्विरोधोऽप्यस्ति वस्तुतः ।
निर्बाधं तस्य दृष्टत्वात् दृष्टे कानुपपन्नता ॥२७७॥

स्थितिक्रिया विरुद्धास्तु तस्याः स्वात्मन्यदर्शनात् ।
न स्वसंवेदनं तस्य दर्शनादर्थवित्तिवत् ॥२७८॥

अन्यथार्थात्मसंवित्त्योर्विरोधेनोपपीडनात् ।
निरायितं जगत्प्राप्तमस्वसंवित्तिवादिनाम् ॥२७९॥

सकलज्ञानानां हि स्वसंवेदनवैकल्यं यदि स्वत एव प्रत्येतव्यम्, तदा तदेव तेषां स्वसंवेदनमिति तद्वैकल्यप्रतिज्ञाव्याघातः कथन्न भवेत् ? अन्यतोऽनवगम्यत इति चेत्, न, तस्यापि स्वतस्तद्वैकल्यवेदने प्रतिज्ञाव्याघातस्य तदवस्थत्वात् । अन्यतस्तद्वेदने तस्यापि तदन्यतस्तद्वेदनमित्यनवस्थाप्रसङ्गात् । निवृत्ताकाङ्क्षस्य न तत्प्रसङ्ग इति चेत्, नन्वियमाकाङ्क्षा साकल्येन[1] तद्वैकल्यपरिज्ञानगोचरा कथं तत्परिज्ञानापरिसमाप्तौ निवृत्तिमती स्यात् ? आकाङ्क्षितप्रयोजनपरिसमाप्तिरेव ह्याकाङ्क्षानिवृत्तिनिबन्धनं नापरं किञ्चित् । अन्यत्र गतमनस्कस्य न तत्प्रसङ्ग इत्यप्यनुचितमेव वचनम्, आकाङ्क्षाविषयव्यतिक्रमेण तदन्यत्र गमनासम्भवात् । अदृष्टसामर्थ्येन ईश्वरचोदनया वा तत्सम्भवश्चेत्, भवतु निवृत्तमनवस्थानम्, प्रस्तुतसिद्धिस्तु नास्त्येव सकलज्ञानगतस्य स्वसंवेदनवैकल्यस्यैवमप्रवेदनात् । ततस्तद्विपर्ययं स्वसंविदितमेव किञ्चिद्विज्ञानमङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा तदसिद्धेः, तदेव च सकलस्यार्थवेदनस्यापि स्वसंविदितत्वमवस्थापयति । तत उक्तम्–'प्रत्यक्षलक्षणमात्मवेदनम्' इति । न चार्थज्ञानानां स्वसंविदितत्वे कश्चिदपि

१–त्याप्रतिप–आ०, ब०, प०, स० । २ अन्यत्र । ३ मनोगति । ४–स्यापत्ते–आ०, ब०, प०, स० ५ मतिः स० । ६ अन्यथात्मसार्थसं–ता० । ७–वद्र–आ०, ब०, प० ।

विरोधः तस्य निर्बाधमनुभूयमानत्वात्। न चानुभवातिक्रान्तखड्गस्वरूपगोचरछिदिक्रियानिदर्शनेन अनु[1]भवाधिरूढस्य स्वसंवेदनस्यापि विरोधपरिकल्पनमुपपन्नम्, अर्थवेदनस्य[2]ापि तत्प्रसङ्गात्। ततो न स्वरूपस्य नार्थस्य वेदनमिति सकलं जगन्निद्रामुद्रितमेव अस्वसंवेदनज्ञानवादिनां प्राप्तम्। तस्मादनुभवोपस्थापितशरीरत्वाद् अर्थवेदनवदप्रतिक्षेपार्हमेव आत्मवेदनमपि, साकल्यतः [3]तद्विपक्षावेदनान्यथानुपपत्तेर्वा प्रामाण्यवत्।

भवतु प्रामाण्यमप्रतिक्षेपार्हम्, अन्यथा[4] [5]तद्विचारस्यापि [6]तत्प्रतिक्षेपे साकल्येन [7]ततस्तत्प्रतिक्षेपायोगात्। [8]तस्य तु कुतः प्रतिपत्तिः? [10]तद्विचारप्रामाण्यस्य कुत इति चेत्; नेदमुत्तरम्। अव्युत्पन्नप्रश्नस्य तत्रापि समानत्वादिति चेन्; न; क्वचित्स्वतः क्वचित्परतश्च [11]तन्निश्चयसम्भवात्। [12]परतस्तन्निश्चयेऽनवस्थानमिति चेत्; न; पर्यन्ते कस्यचित्स्वतःसिद्धप्रामाण्यस्यापि सम्भवात्। यथा चैतत्सुवद्धं तथोत्तरत्र निरूपयिष्यामः। एतदेवाह–'**प्रत्यक्षलक्षणम्**' इति। स्वसंवेदनमत्र **प्रत्यक्षम्**, तदेव **लक्षणं** गमकं यस्य न्यायस्य तं **प्राहुः** इति। प्रत्यक्षग्रहणमुपलक्षणम्, तेन [13]परलक्षणमपि तं प्राहुरिति प्रतिपत्तव्यम्। तदेवमभिहितं प्रमाणस्य सामान्यलक्षणम्।

अधुना पुनरभिहितलक्षणस्य तत्सामान्यस्य विभागो लक्षयितव्य इत्यनयैव कारिकया आवृत्तिन्यायेन प्रत्यक्षस्य[14] लक्षणं दर्शयति [15]तस्य तद्विभागत्वात्। परोक्षमपि [16]तद्विभाग एव तस्य कस्मान्न लक्षणमुपदर्श्यते? [17]शास्त्रान्तरे तस्य तदुपदर्शनमिति चेत्; न; प्रत्यक्षस्यापि तत्रैव तदुपदर्शनात्। इहापि तृतीये परोक्षस्य तदुपदर्श्यत एव "प्रत्यक्षमञ्जसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतम्" [न्यायवि० श्लो० ४६९] इत्यनेनेति चेत्; न तर्हि प्रत्यक्षमा[18]यत्र लक्षयितव्यं तस्यापि तत्रैव तदुपदर्शनात्। तस्योक्तोपसंहारत्वादत्रैव तस्य तदुपदर्शनीयम्, अनुक्तस्योपसंहारायोगात्; इत्यप्यसमाधानम्; परोक्षेऽपि समानत्वात्। द्वितीयेनानुमानस्य तृतीयेन शाब्दस्य च परोक्षविभागस्य लक्षणोपदर्शनात् परोक्षमपि लक्षितं भवत्येवेति चेत्; न; विभागलक्षणस्य सामान्यानुपातित्वाभावात्, इतरथा प्रमाणमपि न सामान्येन लक्षयितव्यं प्रत्यक्षादितद्विभागलक्षणादेव तल्लक्षणोपपत्तेरिति चेत्[19]; नेदमशक्यपरिहारम्; अत्रैव परोक्षस्यापि सामर्थ्येन लक्षणात्, तस्य प्रत्यक्षविसदृशत्वात्। प्रत्यक्षे च 'स्पष्टम्' इति [20]लक्षिते तद्विसदृशत्वाद् 'अस्पष्टम् परोक्षम्' इति भवत्यर्थात्प्रतिपत्तिः। तस्य तद्विसदृशत्वमेव कुत इति चेत्? परोक्षत्वादेव, अन्यथा तदपि प्रत्यक्षमेव स्यात्। न हि प्रत्यक्षसजातीयमप्रत्यक्षमुपपन्नम्। न च प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्; परोक्षस्याप्युपपत्तिबलेन व्यवस्थापनात्। उपसंहारे च परि-

---

१–वादितिह–आ०, ब०, प०, स०। २–स्य तत्प्र–आ०, ब०, प०, स०। ३ आत्मवेदनाभाव। तद्विपक्षवेदना–ता०। ४ साकल्यतः प्रामाण्यप्रतिक्षेपे। ५ प्रामाण्यप्रतिक्षेपविचारस्यापि। ६ प्रामाण्याभावे। ७ विचारतः। ८ प्रामाण्यप्रतिक्षेप। ९ प्रामाण्यस्य। १० प्रामाण्यप्रतिक्षेपविचारप्रामाण्यस्य। ११ प्रामाण्यनिश्चय। १२ परतश्च तन्नि–आ०, ब०, प०। १३ प्रत्यक्षभिन्नः परोक्षः परः। १४–क्षलक्ष–आ०, ब०, प०, स०। १५ प्रत्यक्षस्य। १६ प्रमाणसामान्यविभागः। १७ लघीयस्त्रयादौ। १८ प्रत्यक्षस्य। १९–त्तदशक्यप–आ०, ब०, प०, स०। २० लक्ष्यते त–ता०। लक्षते आ०, ब०।

स्फुटमेव प्रत्यक्षवै[1]शद्यस्य परोक्षस्य प्रतिपादितम् 'अन्यच्छ्रुतम्'इति[2]। तत्र 'अन्यत्' इत्यनेन प्रत्यक्षविजातीयत्वस्य प्रतिपादनात्। प्रत्यक्षमेव प[3]रोक्षलक्षणबलेन किन्न लक्ष्यत इति चेत्, न, विशेषाभावात्। कः पुनरत्र विशेषो यत्प्रत्यक्षलक्षणबलेन परोक्षं तल्लक्षणबलेन वा प्रत्यक्षं लक्ष्यत इति ? प्रत्युत प्रत्यक्षमेव प्रथमं लक्षयितव्यं त[4]त्पूर्वकत्वेन परोक्षस्यैव पश्चाल्लक्षणोपपत्तेः। अत इदमुच्यते 'प्रत्यक्षलक्षणम्' इत्यादि। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्, प्रत्यक्षस्य ल[5]क्षणं [प्रत्यक्ष] लक्षणं तत् प्रत्यक्षस्यैव स्वरूपम्, असाधारणे[6]न स्वरूपेणैव भावानां लक्षणसम्भवात्। अत एव तेषु स्वलक्षणप्रसिद्धिः। तत् प्राहुः। कीदृशम् ? 'स्पष्टम्'इति।

किं पुनरिदं स्पष्टत्वं नाम ? साक्षात्करणमिति चेत्, तदपि दुरवबोधम्। आलोकपरिकलितत्वेन ग्रहणमिति चेत्, न, अतिव्यापकत्वात्, पा[7]वकानुमानेऽपि भावात्, आलोककलितस्य प[8]र्वते पावकस्यानुमानात्प्रतिपत्तेः। अव्यापकत्वाच्च रसादिप्रत्यक्षेषु, अन्धकारान्तरितसम्पर्गोचरलकुचादिप्रत्यक्षेष्वपि[9] अविद्यमानत्वात्।

'अव्यवहितग्रहणम्' इत्यपि तादृशमेव, काचादिव्यवहितस्य[10] दर्शनदशायामभावात्। व्यवधायकमेव काचादिकं न भवति वस्तुग्रहणप्रतिबन्धाभावात्, तत्प्रतिबन्धेन हि व्यवधायकत्वं नान्यथेति चेत्, किमिदानीं व्यवधानोपाधिकं वस्तुग्रहणमेव नास्ति ? तथा चेत्, तद्ग्रहणमेव[11] साक्षात्करणमिति वक्तव्यं किमव्यवहितविशेषणेन व्यवच्छेद्याभावात् ? न चेदमुचितम्, अनन्तरमेव निरूपणात्। व्यवधानोपाधिकवस्तुग्रहणसम्भवे तु सिद्धं काचादेरपि व्यवधायकत्वमिति कथं नाव्यापकत्वं साक्षात्करणलक्षणस्य ? काचाद्यन्तरितवस्तुग्रहणस्य प्र[12]त्यक्षत्वेऽप्यव्यवहितग्रहणस्याभावात्। प्रत्यक्षमपि तन्न भवति व्यवहितग्रहणत्वादिति चेत्, न, सर्वज्ञविज्ञानस्यापि काचाद्यन्तरितवस्तुग्राहिणः प्रत्यक्षत्वाभावप्रसङ्गात्, तद्ग्राहित्वेन सर्वज्ञत्वाभावापत्तेः। सत्यप्यन्तर्धाने वस्तुस्वरूपस्य ग्रहणात् प्रत्यक्षमेव त[13]दिति चेत्, सिद्धमस्मदादिविज्ञानस्यापि प्रत्यक्षत्वम्, तत्रापि काचभाण्ड[14]पिधानगुण्ठितखण्डशर्करापिण्डस्वरूपग्रहणस्यानुभवादिति सिद्धमव्यापकत्वं तल्लक्षणस्य।

भवतु तर्हि वस्तुस्वरूपग्रहणमेव साक्षात्करणमिति चेत्, न, अनुमानादावपि प्रसङ्गात् तस्यापि वस्तुस्वरूपग्राहित्वेन स्याद्वादिनः प्रसिद्धत्वात्, [15]बौद्धस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। सामान्यरूपेणैव [16]तस्य [17]तद्ग्राहित्वं न विशेषरूपेणेति चेत्, न, शब्दाद्युपाधिसम्बन्धेनैवानित्यत्वादेः तेन ग्रहणात्। न [18]तदुपाधिकसम्बन्धेनेति चेत्, न, प्रसिद्धप्रत्यक्षेणापि तद्ग्रहणात्,

1 वैशारद्यं आ०, ब०, प०, स०। 2 इति प्र-आ०, ब०, प०, स०। 3 परोक्षलक्षणेन आ०, ब०, प०, स०। 4 तत्पूर्वकत्वेन। 5 लक्षणं प्रत्यक्षस्य आ०, ब०, प०, स०। 6 -न स्वेनैव आ०, ब०, प०। 7 पावकानुमा-आ०, ब०, प०, स०। 8 -पर्वते-आ०, ब०, प०, स०। 9 -अन्धका-आ०। 10 -व्यवधानेऽपि स०। -व्यवधाने पश्येत् आ०, ब०, प०। 11 वस्तुग्रहणमेव। 12 प्रत्यक्षत्वे व्यव-आ०, ब०, प०, स०। 13 तत्सन्निधानतद्ग्राहि सर्वज्ञविज्ञानम्। 14 -पर्णपटुगुम्फित-आ०। 15 बौद्धस्य प्रसाद इव-आ०, ब०, प०। 16 अनुमानस्य। 17 वस्तुस्वरूपग्राहित्वम्। 18-पाधिक-आ०, ब०, प०, स०।

अप्रतिपन्नशुक्त्यधिष्ठानोऽपि तत्र रजतप्रतिसङ्क्रमं प्रतिपद्यत एवेति चेत्; न; रजतस्याप्रतिसङ्क्रमरूपत्वात्, अनधिष्ठानतयैव प्रतिपत्तेः। किं तर्हि शुक्तिशकलेन कर्त्तव्यमिति चेत्? न किञ्चित्। तदभावेऽपि कुतो न रजतप्रतिभासनमिति चेत्? भवत्येव यदि [1]तत्कारणसन्निधानम्। [2]विद्याशक्तिविरचितस्याशुक्तिशकलस्यैव तस्यावलोकनात्। न हि तत्र किञ्चिदधिष्ठानम्, अप्रतीतेः। कथं तर्हि 'शुक्तिशकलमेव रूप्यरूपतया[3] प्रतिभातम्' इति पश्चात्प्रत्यभिज्ञानमिति चेत्; कः पुनस्तच्छकलस्य[4] रूप्यप्रतिभासेन सम्बन्धो येनैवमुच्यते? ग्राह्यत्वमिति चेत्; न; स्वरूपेण[5] तदभावात्। पररूपेण[6] तु परस्यैव ग्राह्यत्वं न तस्य अतिप्रसङ्गात्। कारणत्वमिति चेत्; तस्यैव[7] तर्हि तेन[8] ग्रहणं[9] न [10]रूप्यस्य। अन्यकृतेनाप्यन्यग्रहणे चक्षुरादिकृतेनैव [11]तद्ग्रहणमस्तु, पर्याप्तं तच्छकलस्य [12]तत्कारणत्वकल्पनया। नापि चक्षुरादिना सर्वदा तत्प्रतिभासचोदनम्; तच्छकलेऽपि समानत्वात्। [13]तस्य विशिष्टस्यैव तद्धेतुत्वं न तन्मात्रस्येति चेत्; न; चक्षुरादेरपि कामलाद्युपहतिपरिग्रहपरीतस्यैव तद्धेतुत्वेन अतिप्रसङ्गपरिहारस्य सुकरत्वात्।

अवश्यं चैतदेवमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा विद्याशक्तिविरचितस्य रजतादेरप्रतिभासप्रसङ्गात्, तत्र तद्धेतोः कस्यचिदधिष्ठानस्याभावात्। विद्याशक्तिरेवाधिष्ठानमिति चेत्; न; आकाशे तदभावात्, आकाशगतस्य च तदा रजतस्य प्रतिभासनं न तत्र विद्याशक्तिस्तस्या बोधरूपत्वेन पुरुषाधिष्ठानत्वात्। मन्त्र एव तच्छक्तिः, तस्य च तत्र[14] सम्भव एवेति चेत्; न; तस्यापि गुप्तभाषितस्य मुखविवरमात्रपर्यवसितत्वेन बाह्याकाशगतत्वासम्भवात्, अन्यैरपि सन्निहितैस्तच्छ्रवणप्रसङ्गात्, अश्रुतिगोचरस्य सम्भवे[15] च न तस्य शब्दत्वम्, शब्दस्य श्रोत्रग्रहणलक्षणत्वात्। आकाशमेवालोकपरिकलितमधिष्ठानमित्यपि नोपपत्तिपूरितम्; उपरतरूप्यप्रतिभासस्य तथा प्रत्यभिज्ञानप्रसङ्गात्। न चैवम्, ततो न पराधिष्ठानत्वं रजतस्य येन [16]तद्वदनधिगताधिष्ठानस्य विकल्पवैशद्य[17]स्याप्यध्यवसायः स्यात्। कथं तर्हि 'शुक्तिशकलमेव रजतरूपतया प्रत्यभासिष्ट' इति प्रत्यभिज्ञानमिति चेत्? न; [18]तेनापि स्वहेतुदोषोपजनितविभ्रमात्मना तादूप्यस्यासत एव प्रतिवेदनात्, तद्विभ्रमस्य च विचारादवगतेः। तत्र [19]निर्विकल्पवैशद्यस्य विकल्पे प्रतिसङ्क्रमः।

नाऽपि विकल्पधर्मस्य निश्चयस्याविकल्पे; तत्प्रतिक्षेपन्यायस्य समानत्वात्। न तयो[20]रितरेतराधिष्ठानप्रतिसङ्क्रमः; स्वाधिष्ठानगतत्वेनैव तत्प्रतिभासस्य परेणाभ्युपगमात्, तत्कथमेवमाशङ्केति चेत्? किं पुनरेतदनात्मज्ञजल्पितम्–

"मनसोयुगपद्वृत्तेः सविक[21]ल्पाविकल्पयोः।
विमूढो [22]लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति॥" [प्र० वा० २।१३३] इति?

१ रजतप्रतिभासहेतुसान्निध्यम्। २ इन्द्रजालादिविद्या। ३ रजतत्वेन। ४ शुक्तिशकलस्य। ५ शुक्तिरूपेण। ६ रजतरूपेण। ७ शुक्तिशकलस्यैव। ८ रजतप्रतिभासेन। ९ ग्रहणान्न आ०, ब०, प०, स०। १० रूपस्य ता०। ११ रजतग्रहणम्। १२ रजतप्रतिभासकारणत्व। १३ शुक्तिशकलस्य। १४ आकाशे। शब्दस्य आकाशगुणत्वात्। १५–वे न च तस्य आ०, ब०, प०, स०। १६ तद्वदनादिगता–आ०, ब०, प०, स०। १७ –स्याप्यव्यव–आ०, ब०, प०, स०। १८ ततोऽपि आ०,ब०,प०,स०। १९ –निर्विकल्पकवै–आ०, ब०, प०, स०। २० निर्विकल्पविकल्पधर्मयोः। २१ –सविकल्पवि–ता०। २२ –शीघ्रवृत्तेः।

नन्वनेनापि न [1]तथा तत्प्रतिसङ्क्रमः प्रतिपाद्यते, निर्विकल्पेतरैकत्वव्यवहारमात्रस्य प्रतिपादनादिति चेत्, कः पुनरयं तदृव्यवहारो नाम ? तद्व्यवसाय इति चेत्, कथम्न तथा प्रतिसङ्क्रमो व्यवसीयमानस्य [2]तदेकत्वस्यैव प्रतिसङ्क्रमार्थत्वात् ? तद्वचनमिति चेत्, न,'व्यव स्यति' इति विरोधात्। न च व्यवस्यतीति वक्तीत्यर्थ, शाब्दिकसमयस्यैवमभावात्।

कुतो वा [3]तयोरेकत्वव्यवहारः ? यौगपद्यादिति [4]चेत्, नियमवतः, नियमरहिताद्वा ? नियमवतश्चेत्, सहोपलम्भनियमात् वास्तवमेव तदेकत्वं नीलतज्ज्ञानवत्, कथं तस्य[5] व्यवहार-मात्रसिद्धत्वं सहोपलम्भनियमस्यानैकान्तिकत्वप्रसङ्गात् ? नियमरहिताच्चेत्, न, नीलपर्व-तयोरपि प्रसङ्गात्। एककार्यकारित्वादिति चेत्, क [6]पुनरेकोऽर्थः ? प्रवर्तनमेव, तथा च प्रज्ञाकरः–"प्रवर्तनस्यैकस्य कार्यस्य भावात्" [प्र० वार्तिकाल० २।१३३] इति, तदपि न निरूपितम्, [7]रूपादावपि प्रसङ्गात्, उदकाहरणादेरेकस्य कार्यस्य तत्रापि भावात्। तस्यैव साधारणशक्तिप्रयुक्तः [8]तत्राप्येकमटव्यवहार इति चेत्, विशेषशक्तिप्रयुक्त ,एव रूपे रस इति रसे वा रूपमिति किन्न भवति तद्व्यवहारः ? तच्छक्तेरन्योन्यमभावादिति चेत्, विकल्पाविकल्पयोरपि तर्हि कथं [10]विशदनिश्चयव्यवहारः तस्यापि विशेषशक्तिप्रयुक्तत्वात्, [11]तस्याश्च परस्परमसम्भवात्। सम्भवे वा न विशेषशक्तिः, तत्प्रयुक्तस्य [12]तद्व्यवहारस्योभयत्रा-प्यनुपचरितत्वं भवेत्।

कुतः पुनर्विकल्पेतरयोर्यौगपद्यम्, अयौगपद्ये सहकारित्वाभावेनैकप्रवृत्तिकारित्वानु-पपत्तेरिति ? अत्र परस्य[13] वचनम् "युगपद्विषयसन्निधानादेव" [प्र० वार्तिकाल० २।१३३] इति, तदेतभातीव चतुरस्रम्; विकल्पस्यापि वस्तुत एव स्पष्टत्वप्रसङ्गात् सन्निहितविषय-त्वात्, दर्शनस्यापि [14]तत एव स्पष्ट्यात्। अत एव [15]देवस्य वचनम्–"स्पष्टं सन्निहितार्थ-त्वात्" । [प्रमाणसं० श्लो० ४] इति। नास्त्येव विकल्पस्य विषय इति चेत्, न, 'युगपत्' इत्यादिस्ववचनस्य[16] व्याघातप्रसङ्गात्। न ह्यसतो [17]युगपदन्यथा वा सन्निधानं सम्भवति। कल्पितोऽस्त्येव [18]तद्विषयो न वस्तुयथागत इति चेत्, केन तत्कल्पनम् ? तेनैव विकल्पेनेति चेत्; तस्यैव कुतः सम्भवः तद्धेतोरभावात् ? तद्विषयसन्निधानं तद्धेतुश्चेत्; तदपि कुतः ? तस्मादेव विकल्पादिति चेत्, न, परस्पराश्रयदोषस्य [19]सुव्यक्तत्वात्। अन्येन [20]तत्कल्पनं चेत्, तेनापि दर्शनविषयेण समसमयस्यैव तस्य[21] कल्पने न युगपद्विषयसन्निधानम्। तत्समसमयस्य कल्पने न तस्यापि दर्शनयौगपद्यम्। युगपद्विषयसन्निधानात्तु को दोष इति

१ तथा तत्प्र–आ०, ब०, प०, स०। २ निर्विकल्पेतरैकत्वस्यैव। ३ निर्विकल्पेतरयोः। ४ चेद नियम–आ०, ब०, प०, स०। ५ एकत्वस्य। ६ –मात्रमपि आ०, ब०, प०, स०। ७ पुनरेकार्थं स०। ८ –नैकत्व स०। ९ रूपरसादावपि। १० रूपादावपि। ११ विकल्पे विशदव्यवहार ,निर्विकल्पे च निश्चयव्यवहार इति। १२ विशेषशक्तेः। १३ विकल्पे विशदव्यवहारस्य निर्विकल्पे च निश्चयव्यवहारस्य मुख्यत्वमेव स्यादनुपचरितमिति भावः। १४ प्रज्ञाकरगुप्तस्य। १५ सन्निहितविषयत्वादेव। १६ अकलङ्कस्य। १७ –वचनव्या– आ०,ब०,प०,स०। १८ युगपद्यथा वा आ०,ब०,प०,स०। १९ विकल्पविषय। २० सति तद्विषयसन्निधाने विकल्पोत्पत्तिः, सति च विकल्पे तद्विषयसन्निधानमिति। २१ विकल्पविषयकल्पनम्। २२ विकल्पविषयस्य।

चेत्; 'तस्यैव कुतः सम्भवः' इत्याद्यनुबन्धादन्योन्यसंश्रयस्य अत्रापि सुपरिस्फुटत्वात्। पुनरन्येन तत्कल्पनायामनवस्थापत्तिः।

नन्विदमेव तस्य[1] कल्पनं नाम यत्तन्निर्भासितया विकल्पोत्पाद इति चेत्; कुतस्तदुत्पादः? वासनाबलाच्चेत्; कुतस्तस्य[2] दर्शनयौगपद्यम्? [3]तत एवेति चेत्; न; पुनरपि 'युगपत्' इत्यादिस्ववचनविरोधात्[4]।

किञ्च, कः पुनर्विकल्पः, को वा तस्य विषयः? गौरिति परामर्शो विकल्पः, तस्य [5]गकारादिर्विषय इति चेत्; न; [6]तस्य समस्तस्यैकविकल्पवेद्यत्वायोगात्, क्रमभावित्वात्। विकल्पोऽपि क्रमभाव्येक एवेति चेत्; न; क्रमवत्त्वे विषयवदेकत्वायोगात्, अन्यथा ज्ञेयानित्यतया तद्बुद्धेरनित्यत्वव्यवस्थापनं[7] [8]परस्याप्रेक्षावत्त्वमुपक्षिपति। व्यस्त एव स[9] तद्विषय इति चेत्; न; प्रतिवर्णं विकल्पभेदप्रसङ्गात्। अस्त्येव तथा[10] तद्भेदः, तथा च परस्य वचनम्—"गकारादिवर्णविकल्पानामपि क्रमेणोदयमासादयतामेकत्वाभावः" [प्र० वार्तिकाल० २।१३३] इति; तदिदमसम्बद्धम्; एकत्वाध्यवसायस्यैवमभावप्रसङ्गात्[11], तदधिष्ठानस्य[12] गौरित्येकस्य[13] विकल्पस्याभावात्। अः (गः) इत्यस्तीति चेत्; न; [14]'अयं गः' इति तदध्यवसायस्याप्रसिद्धेः। व्यवहारप्रसिद्धस्य च तस्येदमुपायपरिचिन्तनम्। न [15]च 'गः' [16]इत्यप्येकविकल्पसम्भवः, गकारस्याप्यर्द्धमा[17]त्रिकस्यानेकक्षणक्रमभाविन एकत्वानुपपत्तौ तद्गोचरविकल्पानेकत्वस्यापि सुप्रसिद्धत्वात्। न च निरंशतद्भागविकल्पः शक्यनिरूपणः। एवमौकारादावपीत्यभाव एव विकल्पस्यापतितः। सोऽयं लाभमिच्छतो मूलच्छेदः—सतो विकल्पस्य दर्शनैकत्वाध्यवसायमुपपादयितुमुपक्रान्तेन तदभावस्यैवोपपादनात्। गकारभागेष्वेक एव विकल्प इति चेत्; गकारादिवर्णेष्वप्येक एव स्यादिति दुर्व्याहृतमेतत्—"गकारादिवर्णविकल्पानामपि" इत्यादि। वस्तुवृत्तिपर्यालोचनया [18]तदुक्तं संवृत्या तु स एवायमित्येकत्वकल्पनया तदेकत्वं न निवार्यते इति चेत्; ननु वस्तुवृत्तिपर्यालोचनायां त एव [19]विकल्पा न सम्भवन्तीति प्रतिपादितम्, तत्कथं तेषां [20]क्रमेणोदयवत्त्वमन्यद्वा सम्भवति? सम्भवतामपि [21]तेषां स्वसंविदितत्वात् परिस्फुटे भेदवेदने तदैव कथं तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानविभ्रमः? तत्स्वसंवेदनस्यानिर्णयरूपत्वेन [22]तद्गृहीतस्यापि [23]तद्भेदस्याऽगृहीतकल्पत्वादिति चेत्; न; "न हि दृश्यस्य भेदेन तदैवैकत्वविभ्रमः" [प्र० वार्तिकाल० २।२५४] इति स्ववचनोपद्रवापत्तेः।

[24]अनेन दर्शनविषय एवा (व) निश्चिते भेदे तदैकत्वविभ्रमस्य प्रतिक्षेपात्

---

१ विकल्पविषयस्य। २ विकल्पस्य। ३ विकल्पादेव। ४ यतो हि निर्विकल्पेतरयोरैक्यं न युगपद्विषयसन्निधानमूलकं किन्तु विकल्पमूलकम्। ५ गकारादेर्वि–आ०, ब०, प०, स०। ६ गकारादेः। ७ "ज्ञेयानित्यतया तस्याऽध्रौव्यात्..."–प्र०वा०१।१०। ८ सौगतस्य। ९ गकारादिः। १० प्रतिवर्णम्। ११ –ङ्गादधि–आ०, ब०, प०, स०। १२ एकत्वाध्यवसायाधारभूतस्य। १३–वादित्यस्ती–आ, ब०, प०, स०। १४ अयमिति आ०, ब०। १५ च इत्य–ता०। १६ इत्यप्यविकल्प–आ०, ब०, प०, स०। १७ –मात्रैक–आ०, ब०, प०, स०। १८ गकारादिवर्णविकल्पानामित्यादि वाक्यं कथितम्। १९ विकल्पना न आ, ब०, प०, स०। २० क्रमेणोदयत्व–आ०, ब०, प०, स०। २१ विकल्पानाम्। २२ स्वसंवेदनगृहीतस्यापि। २३ विकल्पभेदस्य। २४ वचनेन।

अतत्परमेव[1] एतद्वचनम्, न हि सर्वमेव वचनं स्वप्रतिपाद्यवस्तुतत्परमेव, अतत्परस्यापि प्रतिवादि[2]चित्तव्याकुलीकरणबुद्ध्या प्रयोगसम्भवादिति चेत्, नैतन्न्याय्यम्, विकल्पस्य विकल्पान्तरादिवत् निर्विकल्पादपि भेदस्याग्रहीतकल्पत्वप्रसङ्गात्, [3]तद्भेदस्याप्यभिलापानभिलापवत्स्वलक्षणस्य स्वसंवेदनादेवानिर्णयस्वभावात्प्रतिपक्षिप्रतिक्षेपात्। अभिमतमेवेदं परस्य तत्राप्येकत्वविभ्रमस्याभ्युपगमादिति चेत्, कथमिदानीम्—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥" [प्र० वा० २।१२३]

इत्येतदनन्तरं न भवेत्[4] न हि यद्गृहीतमगृहीतकल्पमेव तदेव परप्रतिपत्त्यङ्गत्वेन प्रेक्षावद्भिरुपक्षिप्यते। तन्नेदमभिहितार्थतत्परं न भवति वचनम्, अतिप्रसङ्गात्। स्वसंवेदनसिद्धस्यापि विकल्पेतरभेदस्य (स्या) सिद्धत्वे कथं तत्रैकत्वाध्यवसायः निर्विवादस्य सिद्धत्वात्, तत्र च तदनुपपत्तेरिति चेत्, अयमपरः परस्यैव दोषोऽस्तु, पौर्वापर्यमनालोच्य वचनात्।

अपि च, गकारादिविकल्पानाम् एकत्वप्रत्यभिज्ञानमपि 'य एव गकारविकल्पः स एवौकारादिविकल्पः' इत्युभयमासादयत्परापरपरामर्शरूपत्वात् न नानात्वेन निर्मुच्यते, तत्कथं तदन्यव्यवस्थितैकत्वस्वभावं गकारादिविकल्पानामेकत्वमध्यारोपयितुमर्हति ? तत्रापि प्रत्यभिज्ञानादन्यस्मात् एकत्वाध्यारोपपरिकल्पनायाम् अनवस्थाप्रसङ्गात्। तन्न गौरित्ययमेको विकल्पः, कथमस्य दर्शनैकत्वाध्यवसायः, स्वयमविद्यमानस्य तदयोगात् ?

सत्यम्, न वस्तुवृत्त्या विकल्पसम्भवः, संवृत्यैव तत्सम्भवात्। न च तस्य विचारसूचीमुखनिपातेन निर्लोपनमुपपन्नम्, सकलव्यवहारविलोपप्रसङ्गात्, विकल्पाधीनत्वात्सर्वस्यापि लोकव्यवहारस्य। तस्मादविचारितरम्यसद्भाव एव विकल्प इति चेत्, न, दर्शनात्तद्व्यतिरेकस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। न हि धर्मिणो विकल्पस्याविचारक्षमत्वे तद्धर्मस्य दर्शनव्यतिरेके[10]स्य विचारक्षमत्वम्। मा भूदिति चेत्, कथमिदानीं[11] भावतो[12] दर्शनस्य निर्विकल्पकत्वम् ? तदप्यविचारक्षममेवेति चेत्, [13]सविकल्पत्वं तर्हि तस्य भाविकं भवेत्। [14]तदप्यभाविकमेव दर्शनात्तद्व्यतिरेकस्यापि तद्व्यतिरेकवदभाविकत्वादिति चेत्, [15]विकल्पेतरविभागविनिर्मुक्तं तर्हि भावतः प्रत्यक्षमिति तथैव तल्लक्षणमभिधातव्यम्, तत्कथमुक्तम् "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" [प्र०वा० २।१२३] इति। स्वत एव प्रत्यक्षस्याविकल्पत्वं न विकल्पव्यतिरेकात्[17]। न हि स्वत एवाविद्यमानं [16]तद्व्यतिरेकाद्भवति, विकल्पान्तरस्यापि प्रसङ्गादिति चेत्, न समीचीनमेतत्, यस्मात्—

सविकल्पत्वमप्येवं स्वतः कस्मान्न कल्प्यते ।
तस्यापि [18]यत्स्वतोऽसत्त्वे परतोऽपि न सम्भवः ॥२८३॥

१–मतत्–आ०, ब०, प०, स० । २–दिचेतस्या–आ०, ब०, स० । ३ तदभेदस्या–ता० । निर्विकल्पसविकल्पभेदस्य । ४ "धर्मिचित्तचैतन्यमात्मसंवेदनस्य प्रत्यक्षताम्"–प्र० वार्तिकाल० २।१२९ । ५ निर्विकल्पकसविकल्पकयोः । ६ –तार्थे नि–आ०, ब०, प०, स० । ७ इत्याद्यमा–आ०, ब०, प०, स० । ८ घोतविकल्पस्य । ९ विचारक्षमत्वप्रसङ्गात् । १० –विचार–स० । ११ –मीमभाव–आ०, ब०, प०, स० । १२ वस्तुतः । १३ सविकल्पत्वं आ०, ब०, प०, स० । १४ सविकल्पत्वमपि । १५ विकल्पे तस्मान्न–स० । १६ –त्वमप्य–आ०, ब०, प०, स० । १७ विकल्पव्यतिरेकात् । १८ यस्यतोऽसत्त्वे आ०, ब०, प०, स० ।

न तथा तत्प्रतीतिश्चेदन्यथा सा कुतो भवेत् ? ।
स्वत एवेति चेत्; नैवम्; विवादस्यावलोकनात् ॥२८४॥
स्वत एवाविकल्पत्वं यदि तस्य प्रसिद्ध्यति ।
विवदन्ते कथं तस्मिन्नथास्य तीर्थिकाः परे ॥२८५॥
प्रसिद्धेऽपि[1] विवादश्चेत्; स कुतस्तर्हि लुप्यताम् ।
प्रसिद्धत्वात्; न तस्यान्यदस्ति निर्लुप्तिकारणम् ॥२८६॥
अन्यतश्चेदकल्पं तद्यदि तत्र विवादतः ।
तदेवासिद्धमन्यस्य कथं सिद्धिनिबन्धनम् ॥२८७॥
तस्यापि सिद्धिरन्यस्माद्यदि कल्प्येत तादृशात् ।
भवन्तमनवस्थाख्या न मुञ्चेद्व्रजशृङ्खला ॥२८८॥
अन्यद्विकल्पकं चेत्; न; तत्त्वतस्तदसम्भवात् ।
कल्पितात्तु कथं तस्मात्कस्यचित्सिद्धिराञ्जसी ॥२८९॥
अन्यथा कल्पनासिद्ध्याबकान्माणवादपि ।
कस्मादोदनपाकादि स्तत्त्वतो न भवत्ययम् ॥२९०॥
कल्पितोऽपि विकल्पश्चेत्तत्त्वसंवित्तये तदा ।
प्रत्यक्षे सविकल्पत्वसिद्धिः किन्न ततो भवेत् ॥२९१॥
सोऽपि तत्र न चेदस्ति; कस्य न ? व्यवहारिणः ।
तत्र; 'मूढस्तयोरैक्यं व्यवस्यति' अस्य बाधनात् ॥२९२॥
व्याख्यातुर्नास्ति चेत्; कस्मात् ? कल्पनादोपनिह्नवात् ।
अविकल्पत्वमप्येवं स[10] कुतः प्रतिबुध्यताम् ? ॥२९३॥

यदि प्रत्यक्षस्याविकल्पत्वं स्वत एव; सविकल्पत्वमपि स्यात् । न हि तदपि स्वत एवाविद्यमानम् अन्यतः कुतश्चित्सम्भवति "व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वत एव नः" [ ] इति वचनाच्च । सविकल्पकत्वं न कुतश्चिदपि प्रतीयत इति चेत्; निर्विकल्पत्वस्य कुतः प्रतीतिः ? स्वत एवेति चेत्; न; अन्यत्रापि समत्वात्, विवादावलोकनाच्च । यदि प्रत्यक्षस्य स्वत एवाविकल्पत्वं प्रतियन्ति प्रतिपत्तारः, कुतस्तर्हि तत्र विवादमारचयन्ति ? न हि प्रतिपत्तिविषय एव विप्रतिपत्तिभूमिः; विरोधात् । अस्ति[11] च विप्रतिपत्तिः–[12]केचित्प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमिति । अपरे[13] सविकल्पकमिति । अन्ये[14] सर्वविकल्पव्यपेतमिति । न च प्रसिद्ध एव विवादे विवादनिवृत्तिः सम्भवति; प्रसिद्धिव्यतिरेकेण तन्निवृत्तिहेतोरभावात् । तन्न स्वतस्तत्प्रतिपत्तिः[15] ।

---

१ प्रत्यक्षस्य । २ विचारश्चेत् आ०, ब०, प०, स० । ३ तदेव सि–ता० । ४ –दिस्तद्वतो आ०, ब०, प०,स० । ५ –ल्पश्चेत्तत्त्वसंवि–आ०, ब०, प०, स० । ६ –त्वं सि–आ०, ब०, प०, स० । ७ तत्र स० । ८ प्र० वा० २।१३३ । ९ व्याख्यातुं ना–आ०, ब०, प०, स० । १० व्याख्याता । ११ च प्रति–आ०, ब०, प०, स० । १२ बौद्धाः । १३ शब्दवादिनः । १४ ब्रह्मवादिनः । १५ प्रत्यक्षस्य अविकल्पत्वप्रतिपत्तिः ।

अन्यतश्चेत्; न, तस्यापि निर्विकल्पत्वे विवादास्पदत्वेन स्वयमेवासिद्धत्वात्। न चासिद्धमन्यसिद्धिनिबन्धनम्, अतिप्रसङ्गात्। तस्यापि सिद्धिरन्यस्मान्निर्विकल्पादिति चेत्, न, भवतो दुर्विमोचाऽनवस्थामयव्यसनानिपातप्रसङ्गात्। अन्यतो विकल्पादेव तत्सिद्धिरिति चेत्, न, वस्तुवृत्त्या तदभावात्। कल्पितात्तु न तत्त्वतात्त्विकस्याविकल्पत्वस्य सिद्धिः। न ह्युपप्लुतादुपायाद् अनुपप्लुतफलावाप्तिः, अन्यथा कल्पितादपि माणवकपावकात् तात्त्विकमेवौदनपाकादिकं भवेत्। सविकल्पत्वमपि प्रत्यक्षस्य तात्त्विकं तत एव सिद्ध्येत्। नास्त्येव तादृशोऽपि विकल्पस्तत्रेति चेत्, कस्यासौ नास्ति? व्यवहारिण इति चेत, न, "विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति" [प्र० वा० २।१३३] इत्यस्य विरोधप्रसङ्गात्। अनेन प्रत्यक्षे सविकल्पत्वाध्यवसायस्य व्यवहारिषु प्रदर्शनात्। व्याख्यातुरिति चेत, कुत एतत्? तस्यासत्कल्पनाव्यापारोपरमप्रत्ययस्त्वमयादिति चेत्, तर्हि स कुतः प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पत्वमपि प्रतिपद्येत इति महानयं परस्य विषमविचारगर्त्तावपातः। तन्न स्वत एव प्रत्यक्षस्याविकल्पत्वम्, अपि तु विकल्पव्यतिरेकादेव। न चावस्तुसतो विकल्पाद् वस्तुसतो व्यतिरेकः, ततो वस्तुसन्नेव विकल्पः। स चोक्तया [1]नीत्या न सम्भवतीति कस्य दर्शनैकत्वपरिकल्पनं परैः प्रतन्यताम्? तत्परिकल्पनहेतोरेकप्रवर्त्तनकार्यकारित्वस्य [2]भागाभयासिद्धत्वात्। कथं भागाभयासिद्धत्वं व्याघ्रादिप्रसिद्धस्यैवाभिधानात्, ईश्वरनिरपेक्षतया व्यवसायात्मनो विकल्पस्य एकप्रवृत्तिकार्यकारित्वादिति चेत्? न, तथापि [3]तत्प्रसिद्धत्वस्याविचलनात् तद्विकल्पादन्यस्य [4]दर्शनस्याभावात्, पुरोवर्तिघनैकाकारस्तम्भादिप्रतिभासो हि सविकल्पः, न च तस्मादपरं दर्शनं प्रतीतिपथोपस्थितमस्ति, निरंशपरमाणुलक्षणाकारस्य पराभिमतस्य [5]तस्य स्वप्नेऽपि परिस्फुटप्रत्ययविषयस्यानवलोकनात्।

भागासिद्धश्चायं हेतुः, तथा हि कदा पुनर्विकल्पस्य प्रवर्त्तकत्वम्? अभ्यासे इति चेत्, न, तदा दर्शनस्यैव [6]तदङ्गीकारात्, "विकल्पमन्तरेणापि[7] स्वभ्यासात्प्रवर्त्तते" [प्र० वार्तिकाल० १।८] इति वचनात्। अपिशब्दात् 'विकल्पादपि प्रवर्तते' इत्यस्य समुच्चय इति चेत्, न, तस्यैवमेतदभ्युपगमाभावात्, यतो "हेयोपादेयविषये धीरेव पूर्विका प्रवर्त्तनात्प्रमाणम्" [प्र० वार्तिकाल० ५।४] इत्युत्तरकारिकाविरोधात्, [8]तथा दर्शन एव प्रवर्त्तकत्वस्यावधारणात्। अत एवैवकारस्य व्यावर्त्यमाह, "न विकल्पादयः" [प्र० वार्तिकाल० १।४] इति। अनभ्यास इति चेत्, न, तदानीमनुमानस्यैव प्रवर्त्तकत्वात्। विकल्पान्तरस्य [9]ततोऽपि तत्रैवान्तर्भावाभ्यनुज्ञानात्, "यत्र तु नाभ्यासस्तत्रानुमानमेव प्रत्यभिज्ञादयः" [प्र० वार्तिकाल० १।४] इति वचनात्। अनुमानस्यैव [10]तदा दर्शनेन सहैकप्रव

१ विकल्पस्य। २ –स्यास्य– आ०, ब०, प०, स०। ३ अनिगतविकल्पादेव। ४ चक्षिणोऽपि। ५ व्यवहारेषु आ०, ब०, प०, स०। ६ निष्या आ०, ब०, प०, स०। ७ भागाभय– आ०, ब०, स०। 'विकल्पे तद्व्यतिरेकत्वम् एकप्रवर्तनकार्यकारित्वम्' इत्यत्र विकल्पस्यासिद्धत्वकथनात् भागासिद्धत्वम्। ८ ईश्वरनिरपेक्षात्मक– आ०, ब०, प०, स०। ९ –स्यैव प्र– आ०, ब०, प०, स०। १० व्याघ्रादिविषयविकल्पस्य एकप्रवर्तनकार्यकारित्वासिद्धत्वेऽपि। ११ भागासिद्धत्वस्य। १२ निर्विकल्पस्य। १३ दर्शनस्य। १४ प्रार्थकस्य अभ्युपगमे। १५ 'अपि तु स्वभ्यासात्' प्र० वार्तिकाल०। १६ दर्शनस्यैव तस्य। १७ ततोऽपि स०। १८ अनभ्यासे।

र्त्तनकार्यैकारित्वमिति चेत्; न; दर्शनस्य तदा प्रवर्त्तकत्वान[2]भीष्टेः अभ्यासवत्[1], अनुमानवैफल्यप्रसङ्गात्। केवलमप्रवर्त्तकं दर्शनमनुमानसहितं तु प्रवर्त्तकमिति चेत्; न; [3]प्रमाणसम्प्लवस्यासम्मतत्वात्। तन्न एकप्रवर्त्तनकार्यैकारित्वं [4]हेतुः; असिद्धत्वात्। तदयं प्रदेशान्तरे विकल्पस्य प्रवर्त्तकत्वं प्रतिषिध्य पुनरन्यत्राभ्युपगच्छन् स्ववाचैव स्वचरितं विडम्बयतीति कथमनुन्मत्तः प्रज्ञाकरः? तन्नेदं विकल्पे वैशद्यमुपचरितं तन्निबन्धनाभावात्।

किं तर्हि? वस्तुभूतमेव। कुत एतत्? अनुपचरितत्वे सति वेद्यमानत्वात् तदन्यस्वरूपवत्। अञ्जसापदेनानुपचरितत्वमुक्तम्, वेद्यमानत्वं तु केनेति चेत्? न; आत्मवेदनपदेन तस्याप्युक्तत्वात्। तदयमत्र प्रयोगः—तात्त्विकं सविकल्पकप्रत्यक्षस्य वैशद्यम्, उपचारविरहे सति स्वानुभवगोचरत्वात्, तदपराकारवदिति। न चेदमाश्रयासिद्धं साधनम्; [5]तत्प्रत्यक्षवैशद्यस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्। अत एव न स्वरूपासिद्धम्। नाऽपि विरुद्धम्; [6]असति उपचरिते च वैशद्ये यथोक्तस्य साधनस्यासम्भवात्। अत एव न व्यभिचारवत्। तस्मादसिद्धत्वादिमलविकलत्वाद् भवत्येव अतस्तत्प्रत्यक्षस्य तात्त्विकी वैशद्यसिद्धिः।

अथ न तद्वैशद्यं स्वसंवेदनवे[7] विप्रतिपत्तेः। न चेय[8]मनुमानादन्यतः शक्यनिवर्त्तनेति तदेव वक्तव्यम्। तच्चेदमेव—विशदमेव प्रत्यक्षं प्रमाणद्वितयान्यथाऽनुपपत्तेः। प्रत्यक्षं परोक्षमिति हि प्रमाणद्वितयं प्रमाणोपपन्नतया प्रत्याय्यमानमनुपपन्नमेव भवति यदि प्रत्यक्षमप्यविशदमेव, परोक्षस्यैव प्रमाणस्य व्यवस्थितेः अवैशद्यस्य तल्लक्षणत्वात्; न चैवम्, ततो विशदमेव प्रत्यक्षमिति। तत्रेदं विचार्यते—न प्रमाणस्व व्यतिरिक्तं तद्द्वित्वम् असम्प्रतिपत्तेः। प्रमाणस्य च स्वरूपं प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वे। तयोश्च यदि प्र[9] तत्साधनत्वम्, उभयोपादानमपार्थकमिति कथमकिञ्चित्करत्वं नाम न साधनदोषः? समुदितयोस्तत्साधनत्वे प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं प्राप्तं तल्लक्षणस्यैव वैशद्यस्य तत्समुदायेन साधनात्, न परोक्षं तल्लक्षणसाधनोपायाभावादिति विरुद्धो हेतुः, इष्टविरुद्धसाधनात्। इष्टं हि प्रमाणद्वित्वं तद्विरुद्धं चैकप्रमाणत्वम्, तत्साधने च स्पष्टमेवेष्टविरुद्धसाधनत्वं तस्य। परोक्षप्रमाणावैशद्यसाधनेऽप्ययमेव हेतुरिति चेत्; कथमेवं प्रत्यक्षवैशद्यसाधने परोक्षावैशद्येन तत्साधने च [10]तदपरेण व्यभिचारवत्त्वं हेतोर्न भवेत्? अथ वैशद्यमवैशद्यं वा न प्रत्येकं तत्समुदायसाध्यम्, अपि तु समुदितमेव तदयमदोष इति चेत्; तदप्येकाधिकरणम्, भिन्नाधिकरणं वा स्यात्? एकाधिकरणं चेत्; तदात्मकमेकमेव प्रमाणमिति न प्रमाणद्वयसिद्धिः[11], अतो हेतुविरुद्धप्रतिज्ञार्थः स्यात्। भिन्नाधिकरणमिति चेत्; किं कस्याधिकरणम्? प्रत्यक्षमेव

---

१ अनभ्यासे। २ –नभीष्टेष्टिरभ्या–आ०, ब०, प०, स०। ३ एकस्मिन् प्रमेये बहूनां प्रमाणानां प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः। बौद्धमते हि "न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः। तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते॥" [प्र० वा० २।६३] इत्युक्तत्वात् प्रमाणव्यवस्थैव न तु सम्प्लवः। क्षणिकत्वाच्च पदार्थानां नैकत्रार्थे बहुप्रमाणानां व्यापारः। द्रष्टव्यम्–प्र० वार्तिकाल० २।१३२। ४ हेतोरसि–ता०। ५ सविकल्पकप्रत्यक्ष। ६ असदुप–प०। असद्युप–आ, ब०, स०। ७ विप्रतिपत्तिः। ८ –णद्वितीया–आ०, ब०, प०, स०। ९ तस्यापरोक्षप्रमाणवैशद्य –आ०, ब०, प०, स०। १० प्रत्यक्षवैशद्येन। ११ –सिद्धेरतो हेतुविरुद्धार्थः आ०, ब०, प०, स०।

वैशद्यस्य परोक्षमेव चावैशद्यस्येति चेत्, तद्विपर्ययः कस्मान्न भवति ? तथापि भिन्नाधिकरणत्वाविरोधात् । लोकव्यवहारात्तद्विपर्ययनिवृत्तिः, लोको हि प्रत्यक्षादिकमेव वैशद्यादेरधिकरणं प्रत्येति न परोक्षादिकम्, लोकप्रसिद्धस्यैव चेदं प्रत्यक्षादेर्विप्रतिपत्तिव्यवच्छेदाय लक्षणकथनमिति चेत्, लोकस्यापि कुतोऽधिकरणनियमप्रतिपत्तिः[3] ? प्रत्यक्षादिति चेत्, अलमनुमानेन वैशद्यधर्मस्यापि तत एव प्रतिपत्तेः । न ह्यप्रतिपन्नतद्धर्मकं प्रत्यक्षं तदपेक्षमधिकरणनियमं प्रत्येतुमर्हति । तन्नियममप्रतिपत्तिरनुमानान्तरादित्यप्यनेन प्रत्युक्तम् । तन्नेदमनुमानं प्रत्यक्षवैशद्यप्रत्ययबोधनसमर्थम् ।

इदं हि तर्हि स्यात्–प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकम्, प्रत्यक्षत्वात्, यद्विशदज्ञानात्मकं न भवति न तत्प्रत्यक्षम् यथा अनुमानादिज्ञानम्, प्रत्यक्षं च विवादास्पदीभूतम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति चेत्, अत्रापि किमिदं प्रत्यक्षत्वं नाम यत्साधनत्वेनोपन्यस्तम् ? प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तमिति चेत्, तदपि किम् ? इन्द्रियाश्रितत्वमेव, अक्षाणीन्द्रियाणि तानि प्रतिगतं तत्कार्यत्वेन तदाश्रितं प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तिविधानादिति चेत्, न, हेतोर्भागासिद्धत्वप्रसङ्गात्, अनिन्द्रियप्रत्यक्षे अतीन्द्रियप्रत्यक्षे चाऽभावात्, तदुभयप्रत्यक्षसद्भावस्य च प्रतिपादनात् ।

आत्माश्रितत्वं प्रत्यक्षत्वम्, अश्नुते सर्वं परं च विषयत्वेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तं प्रतिगतं प्रत्यक्षमिति व्युत्पादनादिति चेत्; न, स्मरणादेरपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् आत्माश्रितत्वाविशेषात् । तथा च तस्यापि वैशद्यम्, अन्यथा हेतोरनैकान्तिकत्वप्रसङ्गादिति नेदानीं वैधर्म्यदृष्टान्तो यतः केवलव्यतिरेकि साधनस्य प्रत्यक्षवैशद्यव्यवस्थापनपरस्य सम्भवः । अक्षमेव प्रतिगतं प्रत्यक्षं न स्मरणादिकं तथाविधम्, अन्यस्यापि संस्कारप्रबोधकादेरपेक्षणात्, ततः परापेक्षणात्परोक्षमेव तदिति चेत्, न तर्हीन्द्रियज्ञानम् अवग्रहादिधारणापर्यन्तं प्रत्यक्षम्, आत्मव्यतिरेकिणः श्रोत्रादेरपि तेनापेक्षणात् । श्रोत्रादेरपि आवरणक्षयोपशमविशेषाक्रान्तजीवप्रदेशविशेषत्वान्न तदपेक्षणपरापेक्षणमिति चेत्, न तत्स्वभावभावेन्द्रियवत् द्रव्येन्द्रियस्यापि निर्वृत्त्युपकरणरूपस्यापेक्षणात् तस्य[4] चात्मपरत्वेन प्रसिद्धत्वात् । भावेन्द्रियस्यैव साक्षादपेक्षणं न द्रव्येन्द्रियस्य, सत्यपि तस्मिन् अन्तरङ्गशक्तिवैकल्ये शब्दादिसंवेदनाभावात्, तद्वैकल्ये पुनरसत्यपि तद्व्यापारे स्वप्नादौ सत्यशब्दादिसंवेदनसम्भवात् । केवलम् उपकरणप्रदेशपर्यवसितत्वात् भावेन्द्रियस्य तदाश्रयापेक्षात्, तदपेक्षमपीन्द्रियज्ञानमुपकरणापेक्षमिव लक्ष्यमाणं प्रत्यासत्तिनिबन्धोपचारे परोक्षव्यपदेशमासादयति । अत एव गवाक्षसमानत्वप्रसिद्धिरिन्द्रियाणामिति चेत्, भवतु कथमपि परापेक्षणात् परोक्षत्वम्, तथापि साधारणस्याक्षप्रतिगमनस्य विपक्षमा-

१ विशदवेद्यं न । तथाहि मि–आ०, ब०, प०, स० । २ –स्यैव आ०, ब०, प० । ३ –त्ति अप्र–आ०, ब०, प०, स० । ४ प्रत्यक्षादेव । ५ अधिकरणनियम । ६ –र्थं वै–आ०, ब०, प०, स० । ७ "प्रतिगतमाश्रितम् अक्षम्…"–न्यायबि०टी० पृ० १० । ८ "अश्नोति व्याप्नोति जानाति वा अक्ष आत्मा प्राप्तक्षयोपशमः प्रक्षीणावरणो वा, तमेव प्रतिनियतं प्रत्यक्षमिति ।"–राजवा० १।१२ । ९ –श्री व्याप–आ०, ब०, प०, स० । १० अव ग्रहादीन्–ता० । ११ ज्ञानसमाप्त । १२ निर्वृत्तिः गोलकादिः, उपकरणम् अक्षिपक्ष्मादि । १३ द्रव्येन्द्रियस्य उपकरणस्य । १४ ज्ञानमित्यनेन । १५ शब्दादे र्वे–आ०, ब०, प०, स० । १६ उपकरणापेक्षणात् । १७ –निबन्धोप–आ०, ब०, प०, स० ।

दसिद्धमेवेन्द्रियज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्, अन्यथा स्मरणादीनामपि[1] न तद्विघटनं भवेत्। तैरप्यन्तरङ्गशक्तिसाकल्यस्यैव साक्षादपेक्षणात् बहिरङ्गापेक्षणस्योक्तन्यायेनोपचरितत्वोपपत्तेः[2]। भवतु परोक्षमेवावग्रहादिकमिति चेत्, न; तस्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वकथनविरोधात्। औपचारिकं तस्य[3] प्रत्यक्षत्वमिति चेत्; किमुपचारनिबन्धनम्? वैशद्यमिति चेत्; तदपि कुतः? प्रत्यक्षत्वाच्चेत्; न; परस्पराश्रयात्–वैशद्यात्प्रत्यक्षत्वम्, ततोऽपि वैशद्यमिति। तद्वैशद्यं स्वसंवेदनासिद्धमिति चेत्; पर्याप्तमनुमानेन, तस्यापि[4] [5]तत्साधनार्थत्वात्, सिद्धस्य च साधनासम्भवात्। [6]अवध्यादिज्ञानवैशद्यसाधनार्थमनुमानम् इन्द्रियज्ञानवैशद्यस्य स्वसंवेदनादेव सिद्धत्वादिति चेत्; न; अस्य हेतो[7]रन्वयित्वस्यापि प्रसङ्गात्, इन्द्रियज्ञाने वैशद्यान्वितस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रतीतेः, तथा च कथमयं केवलव्यतिरेकी हेतुरुक्तः? न [8]चावध्यादिज्ञानवैशद्येऽपि अनुमानमर्थवत्; तस्यापि स्वसंवेदनसिद्धत्वाविशेषात्। तन्न व्युत्पत्तिनिमित्तं प्रत्यक्षत्वम्।

अथ व्युत्पत्तिनिमित्तेनैकार्थसमवेतमन्यदेव [10]प्रवृत्तिनिमित्तं प्रत्यक्षत्वम्, तच्च सर्वप्रत्यक्षव्यक्तिसाधारणमिति न भागासिद्धत्वं साधनस्येति; किं तस्य सतो रूपं न वक्तव्यम्? आवरणविगमविशेष इति चेत्; न; तस्य नीरूपस्याभावात्। नीलादिप्रतिभासविशेष एव स इति चेत्; न; वैशद्यस्यैव तद्रूपत्वात्, तदन्यस्य विचारासहत्वात्। तदेव भवत्विति चेत्; न, साध्यस्यैव हेतुत्वप्रसङ्गात् प्रत्यक्षत्ववैशद्यशब्दयोरेकार्थत्वात्। 'प्रत्यक्षत्वात्–विशदत्वेन प्रतिभासनात्, विशदज्ञानात्मकम्–तदात्मकं व्यवहर्त्तव्यम्' इति हेतुप्रतिज्ञयोरर्थ इति चेत्; सिद्धं नः समीहितम्, [11]अस्मत्प्रयोगस्यैवानया भङ्ग्या [12]प्रतिपादनात्। न [13]चात्रापि केवलव्यतिरेकित्वं हेतोः; नीलादेस्तत्त्वेनावभासमानस्य तद्व्यवहारविषयत्वेन प्रसिद्धस्य साधर्म्यदृष्टान्तत्वात्। ननु यदि वैशद्यमेव प्रत्यक्षत्वम्, तस्येन्द्रियज्ञानेऽपि तत्त्वत एव भावात् मुख्यमेव तस्यापि प्रत्यक्षत्वं तत्कथं तस्य[14] सांव्यहारिकत्वम्? यत इदं शास्त्रकारस्य वचनं शोभेत–

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः" [लघी० श्लो० ३]

इति चेत्; न; [15]सूत्रकारमतस्य व्यवहारस्य चानुसरणेन तथा वचनात्। तथा हि–सूत्रकारस्य यत्परिस्फुटमात्ममात्रापेक्षं च तदेव प्रत्यक्षम्, इदं तु पुनरिन्द्रियज्ञानं परिस्फुटमपि नात्ममात्रापेक्षं तदन्यस्येन्द्रियस्याप्यपेक्षणात्। अत एकाङ्गविकलतया परोक्षमेवेति मतम्। ततस्तन्मतानुसरणेन अवध्यादिज्ञानस्य समग्रलक्षणतया प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनार्थं मुख्यग्रहणम्। इन्द्रियज्ञानमपि व्यवहारे[16] वैशद्यमात्रेण प्रत्यक्षं प्रसिद्धम्, अतस्तदनुसारेण [17]तत्प्रत्यक्षत्वं न मुख्यत इति ज्ञापनार्थं संव्यवहारपदोपादानम्। मुख्यतया हि तत्प्रत्यक्षत्ववर्णने [18]सूत्रविरोधः स्यात् तत्र तस्य परोक्षत्वकथनात्, ततो न किञ्चिदवद्यम्।

---

१ स्मरणादिभिरपि। २ –त्तन्यायोपचारितत्वो– ता०। ३ अवग्रहादेः। ४ अनुमानस्यापि। ५ वैशद्यसाधनार्थत्वात्। ६ अवेद्यादि–आ०, ब०, प०। ७ हेतोरनन्वयित्व–आ, ब०, प०, स०। ८ –ज्ञानवै–ता०। ९ भावेद्यादि–आ०, ब०, प०, स०। १० –प्रतिपत्तिनि–आ०, ब०, प०। ११ अस्मत्प्रतियोग–आ०, ब०, प०, स०। १२ प्रतिसाधनात् आ०, ब०, प०, स०। १३ चात्र के–आ०,ब०,प०,स०। १४ इन्द्रियज्ञानस्य। १५ "आद्ये परोक्षम्" [त० सू० १।११] इति सूत्रणात् इन्द्रियज्ञानस्य परोक्षत्वं सूत्रकारमते। १६–रवं–ता०। १७ इन्द्रियज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। १८ त० सू० १।११।

यत्पुनरेतत्–स्पष्टं प्रत्यक्षं सन्निहितार्थत्वात्, धूमादिमन्दर्शनवदिति, तत्र किमिदमर्थस्य सन्निहितत्वम् ? स्वज्ञानजननसामर्थ्यमिति चेत्, न, तस्य निषेधात्। योग्यदेशाद्यवस्थानमिति चेत्, क्व देशादेर्योग्यत्वम् ? अर्थज्ञानजनन इति चेत्, न, तस्यापि तज्ज्ञानविषयत्वे तदयोगात्। अविषय एवासौ चक्षुरादिवदाधिपत्यमात्रेण प्रवृत्तेरिति चेत्, न, अत्रापि "इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणम्" [लघी० श्लो० ५४] इत्यस्य विरोधात्। न हीन्द्रियमनोभ्यामन्यस्यापि देशादेस्तद्धेतुत्वे तदुभयमेव तद्विज्ञानकारणमित्युपपन्नम्। अर्थस्य ग्राह्यत्वसम्पादने देशादेर्योग्यत्वमिति चेत्, न, तस्य ज्ञानशक्तित एव भावात्, अन्यथा तत्कल्पनावैयर्थ्यात्। तच्छक्तिः सर्वत्र कस्मान्न भवतीति चेत्, देशादिशक्तिरपि कस्मान्न भवति ? प्रतिनियतत्वात्तस्या इति चेत्; ज्ञानशक्तेरपि समानः प्रतिनियमः। यस्य तु न प्रतिनियतशक्तिकत्वं ज्ञानस्य तच्छक्तितो भवत्येव सर्वस्य ग्राह्यत्वम्। तन्न योग्यदेशाद्यवस्थानमर्थस्य सन्निहितत्वम्।

नैकट्यमिति चेत्, तदपि न देशकृतम्, दूरतारकादिप्रत्यक्षेप्यसत्त्वात्। नापि कालकृतम्, चिरभाविवस्तुविपर्यस्तस्वप्नादिप्रत्यक्षेप्यविद्यमानत्वात्। एतेन तदुभयकृतं प्रत्युक्तम्, तदुभयदूरस्यापि सत्यस्वप्नसंवेदनविषयत्वात्। तदयं भागासिद्धो हेतुः, पक्षीकृतेष्वपि दूरतारकादिप्रत्यक्षेष्वविद्यमानत्वात्। अथ न तेषां पक्षीकरणम्, कुतस्तर्हि तद्वैशद्यसिद्धिः ? अन्यत इति चेत्, तदेवास्मदादिप्रत्यक्षेऽपि वक्तव्यं व्याप्तेरभावात् किमनेन ? दूरसमीपादिप्रत्यक्षसाधारणं किञ्चित्साधनमिति चेत्, न, यथया निर्दोषमवभासते तथैवास्ति यथा नीलं नीलतया, निर्दोषमवभासते च स्पष्टतया प्रत्यक्षमित्यादेर्भावात्।

ग्रहणयोग्यत्वमपि न तस्य सन्निहितत्वम्, असिद्धेः, ग्राह्यत्वस्य ज्ञानवशादेव द्विचन्द्रवज्ज्ञानात्। अनैकान्तिकत्वाच्च–स्मरणाद्यर्थस्य ग्रहणयोग्यत्वेऽपि वैशद्याभावात्, तदर्थविषयत्वस्य च निरूपयिष्यमाणत्वात्। तन्नेदमपि तस्य सन्निहितत्वम्।

यद्येवं कथमुक्तं शास्त्रकारेण–"स्पष्टं सन्निहितार्थत्वात्" [प्रमाणसं० श्लो० ४] इति चेत्, न, परमतानुवादमात्रेण तद्वचनात्। न हि शास्त्रकारस्येदं स्वतन्त्रवैशद्यसाधनम्, उक्तदोषाणामशक्यपरिहारत्वात्, अपि तु योऽसौ मन्यते सौगतः–"निर्विकल्पकं दर्शनं सन्निहितार्थत्वाद्विशदम्" [ ] इति, तं प्रत्यनेकान्तगोचरस्याप्यक्षज्ञानस्य वैशद्यं तेनैव तत्प्रसिद्धेन हेतुना प्रतिपाद्यते सौकर्यार्थम्। परो हि परप्रसिद्धेनैव हेतुना प्रतिपाद्यमानः प्रतिपत्तिसौकर्यं प्राप्नोति। न चात्र तस्य दोषोद्भावनमपि सम्भवति निर्दोषतया प्रसिद्धत्वात्, अन्यथा ततो निर्विकल्पे वैशद्यसाधनायोगात्। किं तर्हि शास्त्रकारस्य स्वतन्त्रं वैशद्यसाधनमिति चेत् ? तद-

१ –त्वं च वि–आ०, ब०, प०, स०। २ योग्यस्यापि। ३ न तदीन्द्रि–आ०, ब०, प०, स०। ४ –त्वेन तदु–आ०,ब०,प०स०। ५ ज्ञानशक्तितः। ६ सर्वस्य। ७ वैशद्यमि–आ०, ब०, प०,स०। ८–तस्य तत्त्व–आ०, ब०, प०, स०। ९ अर्थस्य। १० स्मरणादिषु वैशद्याभावात्। ११ स्मरणादीनाम् अर्थविषयत्वस्य १२ स्वतन्त्रं वै– आ०, ब०, प०, स०। स्वसिद्धान्तसम्मतवैशद्य। १३ "इन्द्रियगोचरो ह्यर्थो विशदप्रतिभासकः, विप्रकृष्टे चार्थे अस्पष्टप्रतिभासिता।"–प्र० वार्तिकाल० २।११०। १४–तत्कृतैव–आ०, ब०, प०, स०। १५ स्वतन्त्रवै–आ०,ब०,प०स०।

न्यायेन प्रत्यक्षमेवेति ब्रूमः। तत्र यः तत्प्रसिद्धमपि तत्र तथा व्यवहरति स तेनैवाध्यक्षप्रतिसिद्ध-(प्रसिद्ध) तत्प्रतिभासेन हेतुना तद्व्यवहारः कार्यते तथाविधापरव्यवहारविषयनिदर्शनोपदर्शनात्। तदुक्तं सिद्धिविनिश्चये–

"पश्यन्स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम्।
यद्व्यवस्यति वैशद्यं तद्विद्धि सदृशस्मृतेः॥" [सिद्धि वि० प्र० परि०] इति।

ततः सूक्तम्–'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टमञ्जसा' इति।

तदेवं तद्वचनसामर्थ्यात् परोक्षमस्पष्टमञ्जसेति निवेदितं भवति प्रत्यक्षप्रतियोगित्वात् परोक्षस्य। तत्प्रतियोगित्वं च तद्विरुद्धधर्माध्यासादेव। न हि तद्धर्माक्रान्तस्यैव तत्प्रतियोगित्वम्; अतत्प्रतियोगिन एव कस्यचिदभावापत्तेः। तत्प्रतियोगित्वमेव तस्य कस्मात्? अवैशद्यात्। तदपि कुतः? तत्प्रतियोगित्वात्। परस्पराश्रय इति चेत्; नेदमिदानीं प्रयत्नसाध्यं प्रसिद्धत्वात्। तत्प्रतियोगित्वं हि तद्विजातीयत्वम्, तच्च लोकत एव प्रसिद्धम्। केवलं प्रत्यक्षे वैशद्येन लक्षिते परोक्षमवैशद्येन लक्षितव्यम्, अन्यथा तद्विजातीयत्वायोगादित्येतदेवात्र प्रतिपत्तव्यम्। यद्येवं कः प्रत्यक्षप्रस्तावत्वमस्येति चेत्? न; प्रत्यक्षस्यैव प्राचुर्यात्। भवति हि प्राचुर्येण व्यपदेशो यथा माकन्दवनमिति। न हि तत्र माकन्दा एव, स्तोकशो वृक्षान्तराणामपि सम्भवात्, एवं सामर्थ्यात्परोक्षलक्षणनिवेदनेऽपि प्रत्यक्षस्यैव प्राचुर्यात्, तेनैवायमाद्यः प्रस्तावो व्यपदिश्यते नापरेण विपर्ययात्। प्रत्यक्षप्राचुर्यञ्च तद्भेदस्येन्द्रियादिप्रत्यक्षस्य सविस्तरं निरूपणात्।

किं पुनरिदमवैशद्यं नाम? व्यवहितवस्तुविषयत्वमिति चेत्; न; देशकालव्यवायेऽपि क्वचिद्वैशद्योपलम्भात्। स्वभावव्यवहितस्य तु ग्रहणमेव नास्ति। न चाग्रहणमेवावैशद्यम्; स्याद्वादिमतस्यानेवंविधत्वात्, अतिप्रसङ्गाच्च नीलदर्शनस्यापि तदापत्तेः, तस्यापि नीलव्यतिरिक्तनिरवशेषपदार्थान्तरपरिच्छेदपराङ्मुखत्वात्, अविषयबाहुल्यनिबन्धनाच्च अवैशद्यप्राचुर्यादविशदमेव वा सकलं छद्मस्थसंवेदनं प्राप्तम्, विषयस्तोकनिबन्धनस्य वैशद्यलेशस्य सतोऽप्यसत्कल्पत्वात्।

वेदनान्तरसापेक्षत्वमवैशद्यमिति चेत्; उत्पत्तौ, ज्ञप्तौ वा तदपेक्षणम्? उत्पत्ताविति चेत्; न; अतिप्रसङ्गात्, सर्वस्यापि वेदनस्य पूर्वपूर्ववेदनसापेक्षतयैवोत्पत्तेः। विषयज्ञप्तौ तु तदपेक्षणे प्रामाण्यमेव न स्यात्, स्वपरपरिच्छेदे प्रत्यनन्यसापेक्षस्यैव तत्त्वप्रतिज्ञानात्–"सिद्धं यन्न परापेक्षम्" [सिद्धिवि० प्र० परि०] इत्यादिवचनात्। प्रमाणस्य चेदमवैशद्यचिन्तनम्। ततो यदि 'ईदृशमवैशद्यं न प्रामाण्यम्, तच्चेत् नेदृशमवैशद्यम्' इत्येकं सन्धित्सोरन्यत्प्रच्यवेत। तन्नेदमप्यवैशद्यम्। ध्यामलितप्रतिभासित्वमिति चेत्; उच्यते–

न ध्यामलावभासित्वमप्यवैशद्यमाञ्जसम्।
रूपदर्शन एवेदं यत्र शब्दादिवेदिने॥२९४॥

१ प्रत्यक्षसिद्धमपि। २ प्रतिषिद्ध–प०। ३ तत्सिद्धसदृश–प०। ४ तस्मात् आ०, ब०, प०, स०। ५ एवास्तोक–आ०, ब०, प०, स०। ६–स्य तद्ग्रह–आ०, ब०, प०, स०। ७ वेदनान्तरापेक्षणे। ८ –णस्येदमवै–आ०, ब०, प०, स०।

न च तद्वेदनं सर्वं स्पष्टमेवेति युक्तिमत् ।
शब्दादिगोचरस्यापि स्मरणादेः प्रसिद्धितः ॥२९५॥
किञ्च व्यामलितत्वं चेदर्थधर्मोऽभिमन्यते ।
ज्ञानस्य तेनावैशद्यं कथं नामोपपत्तिमत् ? ॥२९६॥
अन्यथार्थस्य नीलत्वान्नीलं तद्वेदनं न किम् ? ।
ज्ञानधर्मो मतं तच्चेत्, चाक्षुषं तत्कथं भवेत् ? ॥२९७॥
अन्धकारप्रतिच्छायं गृह्यते तद्धि चक्षुषा ।
न ज्ञानं चाक्षुषं चक्षुरमूर्तौ यन्न वर्तते ॥२९८॥
तस्यानुभयधर्मत्वे तत्किं यदि न किञ्चन ।
कथं भाति ? विभात्येव मृगतृष्णाम्बुवद्यदि ॥२९९॥
कथं तेनाप्यवैशद्यं वेदने परिकल्प्यताम् ।
साकारज्ञानवादस्य कथं प्रच्युतिरन्यथा ? ॥३००॥

'व्यामलितप्रतिभासित्वमवैशद्यम्' इत्यनुपपन्नम्, अव्यापकत्वात्, रूपज्ञान एव तस्य भावात् शब्दादिवेदनेषु विपर्ययात्। न च शब्दादिज्ञानं सर्वमपि स्पष्टमेवेत्युपपन्नम्, तद्विषयस्यापि स्मरणादेः परोक्षज्ञानस्य सुप्रसिद्धत्वात्।

अपि च, इदं व्यामलितत्वमर्थधर्मश्चेत्, कथं तेन ज्ञानमविशदव्यपदेशं प्रतिलभेत ? विषयधर्मस्य विषयिण्युपचाराच्चेत्; परमार्थतस्तर्हि सकलमपि ज्ञानं विशदमेवेति प्राप्तम्। न चैतदुचितम्, अनभ्युपगमात्। अर्थस्य च व्यामलितत्वात्तज्ज्ञानस्यापि तत्त्वे नीलत्वमपि तस्य स्यात् तदर्थस्य नीलत्वात्। तन्नार्थधर्मः।

नापि ज्ञानधर्मः, चक्षुर्विषयत्वात्। न हि चक्षुषो ज्ञानगोचरत्वम्, तस्य मूर्तिमत्पदार्थविषयत्वेन प्रसिद्धत्वात्, ज्ञानस्य चामूर्तिमत्त्वात्। न च व्यामलिताकारस्य चक्षुर्विषयत्वमसिद्धम्, अन्धकारप्रतिकञ्चुकस्य तस्य चक्षुर्वेद्यतयैव प्रतीतेः। अनुभयधर्म एवायमिति चेत्, न, ज्ञानार्थव्यतिरेकिणस्तृतीयस्य राशेरभावात्। नीरूपमेवेदमिति चेत्, तादृशस्य कुतः प्रतिभासनम् ? कारणदोषसामर्थ्यान्मृगतृष्णिकाजलवदिति चेत्; भवत्येवम्, तथापि कथं तेन ज्ञानस्यावैशद्यम् ? तदाकारत्वादिति चेत्, न, साकारसंवेदनवादप्रतिक्षेपाभावप्रसङ्गात्। तन्नेदमवैशद्यम्।

'अवस्तुसामान्याकारत्वं तत्' इत्यप्यसमञ्जसम्, साकारवादनिषेधेन तन्निषेधात्। तस्मादर्थज्ञानस्यैव प्रतिबन्धकादृष्टविगमविशेषनिबन्धनपरिणतिविशेष एव [10] कश्चिदित्यनवद्यम्।

तदेवं प्रत्यक्षं स्वलक्षणसामर्थ्यात्परोक्षं च वैशद्याऽवैशद्याभ्यां लक्षितम्। तच्चोभयं निर्विकल्पकमेवेति [11] कश्चित्, तत्राह—'साकारम्' इति। करोतिः [12] अत्र निश्चयार्थः। "कृतेनाकृतवी-

---

१ शब्दादिवेदनम्। २ व्यामलितत्वम्। ३ -त्व व्या- आ०, ब०, प०, स०। ४ -स्यापि चेतसो आ०, ब०, प०, स०। ५ व्यामलितत्वे। ६ -मपि स्या- आ०, ब०, प०, स०। ७ -व्यतिरेकेण तृ- आ०, ब०, प०। ८ कवच स- आ०, ब०, प०, स०। ९ -गमपरिणतिविशेषः क- आ०, ब०, प०, स०। १० अवैशद्यम्। ११ -ति इत्येव- आ०, ब०, प०, स०। १२ -ति तत्र नि- आ०, ब०, प०, स०।

क्षणात्" [ ] इत्यत्र 'निश्चितेनानिश्चितदर्शनात्' इत्यर्थग्रहणात्। आङ् अभिव्याप्तौ, अभिव्याप्तिश्च शक्त्यपेक्षया ततो यस्य यावती शक्तिः तावत्येव विषये सा वेदितव्या। तदयमर्थः- आ समन्तात् करणमाकारः शक्यविषयाभिव्यापी निश्चयः, तेन सह वर्त्तत इति साकारं प्रत्यक्षलक्षणम्। सामर्थ्यलक्षितं च परोक्षमिति।

ननु च निश्चयो नामाभिजल्पवान्[3] प्रतिभासः। स च संवेदनस्य स्वरूपे वा स्यात्, अर्थरूपे वा? न तावत्स्वरूपे; तस्य अशक्यसमयत्वात्। अभिजल्पसमयो हि क्रियमाणः 'इदमस्य वाचकं वाच्यं वा' इति क्रियते। न च क्षणमात्रपर्यवसितं तत्स्वरूपमन्यद्वा किञ्चिद्-स्येत्यनुवदितुं शक्यम्, क्षणादूर्ध्वं तदभावात्, असतश्चानुवादायोगात्। न च तत्सत्ताक्षण एवानुवादः; तस्यानुविवदिषितवस्तुस्वरूपसंवेदनपूर्वकत्वेन समसमयत्वानुपपत्तेः। अतीतस्यापि स्मरणोपनीतस्यानुवाद इति चेत्; किमिदं तेन तस्योपनयनं नाम? स्वस्वरूपवेदनमिति चेत्; न; असतस्तदयोगात्। न ह्यसत् स्वरूपेण वेदितुं शक्यम्; सत्त्वप्रसङ्गात्। न हि स्वरूपप्रतिभासनाद् अन्यदन्यस्यापि सत्त्वम्। असतोऽपि सत्त्वेनाध्यारोप इति चेत्; अध्यारोपितस्यैव तर्हि तदाकारस्य शक्याभिजल्पसमयत्वं न संवेदनस्वरूपस्य, तस्य पूर्वापरीभावविधुरशरीरत्वेनाशक्यानुवादत्वात्। न चाकृतसमयस्याभिजल्पस्य तत्र[6] योजनम्; सर्वस्य सर्वत्र[7] योजनप्रसङ्गात्, इत्यनभिजल्पानुषङ्गमेव सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपवेदनम्–उत्पद्यमानमेव हि तत् संवित्तिविषयभावं बिभर्त्ति तद्व्यतिरेकेण तत्संवित्तेरभावात्, तदा च न पूर्वापरभावो नाप्यभिजल्पयोजनं यतः सविकल्पकत्वं भवेत्। तस्मात्तत्क्षण एव जातस्य साक्षाद्वेदने निर्विकल्पकत्वमेव। सहजाभिजल्पसंसर्गात् सविकल्पकत्वमेवेति चेत्; न; सहजस्य अभिलापस्याभावात्। भावेऽपि स्वतस्तद्विविक्तत्वात् संवेदनस्य न [10]तत्संसृष्टत्वेन वेदनम्। समसमयत्वेन[11] वेदनमेव संसर्ग इति चेत्; न; तस्येतरेतराध्यासरूपत्वात्, तस्य च वाच्यवाचकभावनिबन्धनत्वात्। तद्भावश्च[12] न स्वाभाव्यादेव, सर्वस्यापि तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् समयवैयर्थ्योपपत्तेश्च। समयादिति [13]चेत्; न; तदैवोत्पन्ने [14]तदशक्यत्वस्य निरूपितत्वात्। भवति चात्र परस्य वचनम्–

"[15]तदैव चोदितस्यास्य साक्षाद्वित्तौ न कल्पना।
अभिलापेन संसर्गादिति चेन्नाभिलाप(पि)ता॥
ज्ञानस्य तद्विविक्तत्वे कथं संसर्गसम्भवः।
समानकालविन्मात्रान्नैव संसर्ग उच्यते॥" [प्र०वार्तिकाल० २।२४९] इति।

तत्र संवेदनस्याभिजल्पवत्त्वं[16] स्वरूपे सम्भवति।

१ आङ्मावोऽभि–आ०,ब०,प०स०। २ अभिव्याप्तिः। ३ "विकल्पो नामसंश्रयः"–प्र०वा० २।११२। ४ अनुवादस्य। ५ शक्त्याभि–आ०,ब०,प०,स०। शक्यसङ्केतत्वम्। ६ तत्प्रयो–आ०,ब०,प०,स०। ७ –त्र प्रयोज–आ०,ब०,प०,स०। ८ –नेन नि–आ०,ब०,प०,स०। ९ –स्याप्यभि–आ०,ब०,प०,स०। १० अभिजल्पसंसृष्टत्वेन। ११ –यत्वे वेद–आ०,ब०। १२ –श्च न तत्त्वा–आ०,ब०,प०। १३ चेत्तदैवोत्प–आ०,ब०,स०। १४ सङ्केताशक्यत्वस्य। १५ तदैव चो–आ०,ब०,प०,स०। "तदैव चोदिते तस्य···अभिलापस्य संसर्गादिति चेन्नाभिलापिता। सुखस्य तद्विविक्तत्वे···समानकालविन्मात्रान्नैव···"–प्र०वार्तिका०। १६–जल्पत्वं आ०,ब०,प०,स०।

अर्थरूपे तत्सम्भव इति चेत्, न, तस्यापि यदि ग्रहणम्, तदा तन्निर्विकल्पकमेव, तद्विषयस्याप्यतिसूक्ष्मसमर्थमात्रमग्नशरीरस्य अशक्यसमयत्वेनाभिलप्यत्वायोगात्, परिस्फुटप्रतिभासत्वाच्च। यदि तस्य न ग्रहणम्, तथापि न तत्र विकल्पसम्भवः। न ह्यग्रहणमेव विकल्प, अतिप्रसङ्गात्–सर्वसंवेदनानामन्योन्यविषयापेक्षया तदग्रहणात्मकत्वाविशेषात्। अध्यारोपितार्थापेक्षया तर्हि विकल्पसम्भव इति चेत्, न, अध्यारोपार्थापरिज्ञानात्। अर्थग्रहणमध्यारोप इति चेत्, न, कथितोत्तरत्वात्। तदग्रहणं से इत्यपि तादृगेव। न चापरमध्यारोपस्य रूपं पर्यालोच्यमानं सम्भवति। यत्र तर्हि ग्रहणमध्यारोपश्च तत्र तत्सम्भव इति चेत्, ननु यदि ग्रहणारोपयोर्न भेदः किमुभयोपादानेन पौनरुक्त्यदोषात्[1] ग्रहणमित्येव वा आरोप इत्येव वा वक्तव्यम्, तत्र च प्रागेव दूषणं प्रतिपादितमिति न पुनः प्रतिपाद्यते। यदि पुनर्भेद एव तयोस्तथापि विज्ञानद्वयमेवैककालं प्रसक्तम्–यद्ग्रहणात्मकं तन्निर्विकल्पकं यदारोपात्मकं तत् सविकल्पकमिति, तदिदमप्यसमञ्जसम्, आरोपस्य ग्रहणाग्रहणाभ्यां विचारितत्वात्। भवति चात्र परस्य वचनम्–

"यदि ग्रहणमर्थस्य विकल्पः कथमत्र सः ? ।
अथाग्रहणमर्थस्य विकल्पः कथमत्र सः ? ॥
अथार्थारोपतस्तत्र विकल्पत्वं निरुच्यते ।
ग्रहणाग्रहणे मुक्त्वा तत्राप्यर्थोऽस्ति नापरः ॥
ग्रहणारोपसद्भावे विकल्प इति चेन्मतिः ।
ग्रहणारोपयोरैक्ये द्वयोः सम्भव इत्यसत् ॥
तत्रैकपक्षनिक्षिप्तो दोषः प्रागेव वर्णितः ।
अथ भेदस्तयोरस्ति द्वयमेव प्रसज्यते ॥
निर्विकल्पकसंवित्तिः सविकल्पा तदैव च ।" [प्र०वार्तिकाल० २।२४९] इति ।

तत्र स्वरूपेऽर्थरूपे वा निर्णयसम्भवः, तस्मादयुक्तं साकारग्रहणमिति चेत्, नेदमतिनिर्बन्धप्रतिविधेयम् अतिमुग्धभाषितत्वात्। तथाहि–योऽयं 'तत्रैव चोदितस्य' इत्यादिवचनप्रक्रमः स यदि निष्प्रयोजन एव, कथं तत्र जल्पमात्रे प्रेक्षावतामादरो यतोऽयं शास्त्रोपनिबन्धः क्रियते ? कथं वा तत्प्रक्रमोपन्यासकारिणो निग्रहाधिकरणस्य न भवेत् असाधनाङ्गवचनत्वात् ? सप्रयोजनत्वे यदि तत्प्रयोजनं सकलसंवेदननिर्विकल्पकत्वसाधनादन्यदेव, स एव दोषः तद्वादिनो निग्रहाधिकरणत्वमिति प्रस्तुतानुपयोगिनस्तत्प्रक्रमस्यासाधनाङ्गवचनत्वात्। तन्निर्विकल्पत्वसाधनमेव तत्प्रयोजनमिति चेत्, तदपि तत्प्रक्रमस्य स्वयं तत्परिच्छेदरूपत्वात्, तत्परिच्छेदहेतुत्वाद्वा भवेत् ? स्वयं तत्परिच्छेदरूपत्वे सिद्धमभिलापवत्त्वं तत्प्रतिभासस्य स्वभावभूतस्यैवाभिलापस्य तत्र

1 -भावाभग्न-आ०, ब०, प०, स०। 2 अध्यारोप। 3 ग्रहणारोपयो। 4 "सविकल्पकमेवेति विकल्पा तदैव च।"–प्र० वार्तिकाल०। 5 तत्रैव आ०, ब०, प०, स०। 6 अभिलप्यत्वरूपेण। 7 तत्प्र-भावा–आ०, ब०, प०।

परिकल्पनमभ्यनुज्ञायते। तत्र[1] च न तावत्स[2] एव तस्य[3] विकल्पत्वं कल्पयति; स्वयमकल्पनात्मकत्वात्। 'परमार्थतस्तु विज्ञानम्' इत्यादि वचनात्। न ह्यकल्पनात्मनस्तत्कल्पनम्; प्रत्यक्षेऽपि तत्प्रसङ्गात्। कल्पनात्मापि[4] तस्यास्तीति[5] चेत्; किम्[6]परतत्कल्पनेन वैयर्थ्यात्। तदात्मापि[7] यदि वस्तुत एव, सिद्धं नः समीहितम्, पारमार्थिकस्यैव विकल्पस्य व्यवस्थापनात्। सोऽपि कल्पित एवेति चेत्; न; तत्रापि 'न तावत्स एव' इत्यादेर्दोपात् चक्रकप्रसङ्गात्, अनवस्थापत्तेश्च। परतस्तत्र[8] तत्कल्पनमिति[9] चेत्; न; परेणापि स्वयमविकल्पात्मना तत्कल्पनाऽयोगात्। विकल्पात्मापि तस्येति चेत्; न; तस्य परमार्थत्वे परमतसिद्धिप्रसङ्गात्। कल्पितत्वेऽपि न स्वतस्तत्कल्पनम्; उक्तदोषत्वात्। परतस्तत्कल्पनं चेत्; न; 'परेणापि' इत्यादिप्रसङ्गपौनःपुन्येन चक्रकानवस्थयोरप्रतिहतप्रसरत्वात्। ततो दुर्भाषितमेतत्–'यत्र स्यात्कल्पनान्तरैर्व्यवहारः' इति; परमार्थतः[10] कल्पनाया च कल्पनान्तराणामेवासम्भवात्।

भवतु तर्हि[11] परमार्थत एव कश्चिद्विकल्पः, तथापि किमायातं प्रत्यक्षस्य येन तदपि सविकल्पकमुच्यते इति चेत्? अभिमतस्यापि कुतः सविकल्पकत्वम्? तत्प्रतिभासस्याभिजल्पवत्त्वादिति चेत्; न; अकृतसमयेनाभिजल्पेन तस्य[12] तद्वत्त्वायोगात् अतिप्रसङ्गात्। नापि कृतसमयेन; विस्मृतेनापि तत्प्रसङ्गात्। अनुस्मृतेनेति चेत्; न; तदनुस्मरणस्य[13] निर्विकल्पत्वे तद्विषयस्यान्यत्र[14] योजनाऽसम्भवात् क्षणक्षयादिवत्। सविकल्पकत्वे तस्याप्यभिजल्पवत्त्वम् अनुस्मृतेनैवाभिजल्पेन, तदनुस्मरणस्यापि तद्वत्त्वं तदपरानुस्मृताभिजल्पेनेत्यनवस्थानान्न प्रकृतविकल्पनिष्पत्तिर्भवेत्। तन्नाभिजल्पवत्त्वात्तस्य सविकल्पकत्वम्।

[15]अभिजल्पयोग्यविषयत्वादिति चेत्; कोऽसौ तद्विषयः? अनुवृत्तव्यावृत्तादिस्वभावो भाव एव, तदपरस्य तद्योग्यस्यासम्भवादिति चेत्; तदियमकस्मादस्माकं महानिधिप्राप्तिः प्रत्यक्षस्यापि [16]तत एव सविकल्पकत्वोपपत्तेः, इदमेवाह 'द्रव्य' इत्यादि। द्रव्यं चान्वयरूपं सुवर्णवत्, पर्यायाश्च व्यावृत्तिधर्माणः कटककुण्डलादिवत्, सामान्यं च सदृशपरिणामस्वभावं कुण्डलयुगलवत्, विशेषश्च विसदृशपरिणामलक्षणः केयूरहारवत्, द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्त एवार्थात्मानौ तयोस्तद्रूपत्वात् तयोर्वेदनं प्रत्यक्षलक्षणम्, अतश्च साकारमिति।

तदेवंलक्षणं प्रत्यक्षं त्रिविधं भवति। कथं पुनः कारिकायामनुक्तं त्रैविध्यमवगम्यते? "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा" [प्रमाणसं० श्लो० २] इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनादिति चेत्; न; सामान्यलक्षणस्यापि तत्रैव प्रतिपादनादिहावचनप्रसङ्गात्। इहापि वृत्तिकारेण त्रैविध्यमुक्तमेवेति चेत्; सोऽपि कथं कारिकायामकथितं कथयेत्, कारिकाविवरणस्यैव[17] वृत्तित्वात्, अनुक्तव्याख्यानस्य विपर्ययादिति चेत्? न; अत्रापि पृथक् पृथक् तत्समर्थनेन

---

१ तत्र न च तावत् आ०, ब०, प०, स०। २ अस्पष्टप्रतिभासः। ३ स्वस्य। ४ कल्पनास्वरूपमपि। ५ अस्पष्टप्रतिभास्य। ६–परं तत्क–आ०, ब०, प०, स०। ७ कल्पनास्वरूपमपि। ८ अस्पष्टप्रतिभासे। ९ विकल्पत्व। १० कल्पनायां च आ०, ब०, प०। ११ परमार्थ एव ता०। १२ तद्वत्तायो–आ०,ब०,प०,स०। १३ निर्विकल्पत्वेपित–आ०, ब०, प०, स०। १४–न्यत्रप्रयोज–आ०, ब०, प०, स०। १५ आभिजल्प–आ०, ब०, स०। १६ अनुवृत्तव्यावृत्तादिस्वभावमात्रविषयत्वादेव। १७–विचारस्यैव आ०, ब०, प०, स०।

त्रैविध्याधिगमात्। करिष्यते हि 'सदसज्ज्ञान' इत्यादिना इन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'परोक्षज्ञान' इत्यादिनाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य, 'लक्षणं समम्' इत्यादिना चातीन्द्रियप्रत्यक्षस्य समर्थनम्। अत इन्द्रियप्रत्यक्षादिभेदेन त्रिविधमेव तदिति भवत्येव निर्णयः। तत्र—

हिताहिताप्तिनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिर्मितम्।
यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते ॥३०८॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तैर्निर्मितं तद्धेतुकं यदर्थस्य बहिर्घटादेः ज्ञानं तदिन्द्रियप्रत्यक्षं परिस्फुटत्वेन तल्लक्षणयोगात्। कुतः पुनश्चक्षुरादीन्द्रियकार्यत्वं घटादिप्रत्यक्षस्यावगम्यत इति चेत्? कुतोऽयं प्रश्नः? सर्वत्र कार्यकारणभावस्यैवासम्भवादिति चेत्, न, स्ववचनव्याघातात्–प्रस्तुतं हि प्रश्नवचनं परस्य स्ववचनम्, तदेव व्याहन्येत। यदि न सर्वत्र तद्भावसम्भवः, तस्याहेतुकस्यासम्भवात् व्योमकुसुमवत्। सम्भवेऽपि देशकालादिनियमानुपपत्तेः। हेतुनिबन्धनो हि भावानां तन्नियमः कथं तदभावे भवेत्? तथा च वादिवत् प्रतिवादिप्राश्निकादेरपि तत्प्रश्नवचनप्रसङ्गाच्च कस्यचिदुत्तरवादित्वं न परीक्षकत्वं नापि नियामकत्वमिति प्राप्तम्, प्रश्नकत्व एव तदनुपपत्तेः। वादिन एव तत्प्रश्नवचनं तस्यैव [10]हेतुहेतुमद्भावनिश्चयाभावाच्च प्रतिवाद्यादेर्विपर्ययादिति चेत्, [11]तन्निश्चयपूर्वकं तर्हि [12]तद्वचनमङ्गीकर्तव्यं तदान्तरीयकत्वात्, तथा च कथं सर्वत्र कार्यकारणभावाभावः? [13]तद्वदन्यत्रापि [14]व्याप्तिव्यतिरेकयोः [15]तद्भावोपपत्तेः। तदिदं [16][17]तन्निश्चयतत्पर्यनुयोगवचनयोः कार्यकारणभावं स्वयमेवोपदर्शयति सर्वत्र तदभावं च कथयति इति कथं स्ववचनव्याघातपाशान्नाभिमुच्येत? तत्र तदभाव([18]तद्भाव)स्यासम्भवात्पर्यनुयोगवचनम्[19], सम्भवेऽपि तस्य दुरवबोधत्वात्[20]। [21]दुरवबोधं सन्निदं यत्किञ्चित्कस्यचित्कार्यं कारणं चेति, तद्भावस्य पूर्वापरभावाभिव्यक्त्वात्, [22]तत्र च प्रत्यक्षस्य सन्निहितविषयमात्रपरिच्छेदस्वभावत्वेनाप्रवृत्तेः। तदप्रवृत्तौ तत्पूर्वकत्वेनानुमानस्याप्रवृत्तेरिति चेत्, तदप्यसमीचीनम्, [26]तदनवबोधतत्पर्यनुयोगवचनयोरपि [27]तद्भावपरिज्ञानाभावापत्तेः। भवत्विति चेत्, न [28]तर्हीदमुपपन्नम्–'तदनवबोधात् तत्पर्यनुयोगः' इति। [29]तदनयोर्हेतुफलभावपरिज्ञाने [30]तस्यैव पर्यवसानोपपत्तेर्नान्यथा रथ्यापुरुषवत्। कथं तर्हि तद्भावपरिज्ञानम्? परस्यापि कथमिति चेत्? भवतु परस्यापीदं चोद्यं न तावतैव स्वपक्षे समाहितं भवतीति चेत्, आस्तां तावदेतत्, हेतुफलभावपरिज्ञानस्य यथावसरमुत्तरत्र निरूपणात्। तस्मादुपपन्नम् इन्द्रियकार्यं यत्तदिन्द्रियप्रत्यक्षमिति।

---

१ न्यायवि० श्लो० ५। २ न्यायवि० का० ११। ३ न्यायवि० श्लो० १६८। ४ -नुमते आ०, ब०, प०, स०। ५ कार्यकारणभाव। ६ प्रश्नवचनस्य। ७ देशकालादिनियम। ८ वादिवत् आ०, ब०, प०, स०। देशकालादिनियमाभावे। ९ उत्तरवादित्वाद्यनुपपत्तेः। १० -द्भावाभावनि- ता०। ११ हेतुहेतुमद्भावनिश्चयपूर्वकम्। १२ प्रस्तुतप्रश्नवचनम्। १३ प्रस्तुतप्रश्नवचनवत्। १४ अन्वयव्यतिरेकयोः। १५ तद्भावो- ता०। १६ -दं निश्च- आ०, ब०, प०। १७ हेतुहेतुमद्भावनिश्चय। १८ कार्यकारणभावस्य। १९ 'कुतः पुनश्चक्षुरादीन्द्रियकार्यत्वं घटादिप्रत्यक्षस्य अवगम्यते?' इति पर्यनुयोगवचनम्। २० कार्यकारणभावस्य। २१ -द् यत्किञ्चित् यत्किदं आ०, ब०, प०। २२ दुरवबोधं कश्चितं म- स०। २३ पूर्वापरभावे। २४ कार्यकारणभावा-भवतीव। २५ कार्यकारणभाव। २६ हेतुहेतुमद्भावनिश्चयगर्भं वचनम्। २७ तदनवबोधतत्पर्यनुयोगयोः। २८ तर्हीदं न- आ०, ब०, प०, स०। २९ मद्यत- आ०, ब०, प०, स०। ३० तावन्नैव आ०, ब०, प०, स०।

तत्प्रत्यक्षस्य निर्णयात्मकत्वात्, तेन च स्वविषयस्य सर्वाकारेण ग्रहणान्न तद्विषये ज्ञानान्तरस्य शब्दान्तरस्य वा व्यापार[1]:, सिद्धोपस्थायित्वेन वैयर्थ्यात्, समारोपव्यवच्छेदस्य[2] चाऽभावात् निश्चिते समारोपानुत्पत्तेरिति चेत्; न; [3]तस्य प्रादेशिकत्वात्। तत्प्रत्यक्षं हि स्वविषयस्य प्रदेशत एव ग्रहणे स्वशक्तिप्रयुक्तनियोगाधिष्ठितं न सर्वाकारेण, तथैव तस्य निर्वाधमवबोधात् तस्मादयमप्रसङ्ग एव। निष्प्रदेशमेव सकलं वस्तु कथं तस्य प्रदेशतो ग्रहणं [4]तद्ग्रहणम्? तद्ग्रहणस्य विभ्रमरूपत्वप्रसङ्गादिति चेत्; आस्तामिदम्, अनन्तरमेव निरूपणात्।

भवत्वेवं तथापि कथमिन्द्रियप्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम्? कथं च न स्यात्? अप्रवर्त्तकत्वादिति चेत्; किं प्रवर्त्तकत्वेन प्रामाण्यं व्याप्तम्? न[5] चेत्; [6]तदभावे तदभावानुपपत्तिः, अतिप्रसङ्गात्। व्याप्तमेवेति चेत्; न; स्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षयोरप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न हि स्वसंवेदनं स्वरूपेऽन्यत्र वा प्रवर्त्तकम्; स्वरूपस्यानुभूतत्वात्, अन्यस्य चाविषयत्वात्। नापि योगी तत्प्रत्यक्षात् क्वचित्प्रवर्त्तते कृतार्थत्वात्। वस्तुयाथात्म्यविषयत्वात्प्रामाण्यम्[7] इन्द्रियप्रत्यक्षेऽपि समानम्। प्रवृत्तेः प्राक् तद्विषयत्वमेव कथमवगन्तव्यम्, प्रतिभासस्य सत्येतरविषयसाधारणत्वादिति चेत्? न; स्वसंवेदनादावपि प्रसङ्गात्। स्वहेतूपनिबद्धात् कुतश्चित्सामर्थ्यात् प्रवृत्तिनिरपेक्षमेव स्वप्रामाण्यं तदवगच्छतीति चेत्; इन्द्रियप्रत्यक्षमपि किमेवं न भवेत्? संशयादिदर्शनादिति चेत्; निःसंशयादेरेव तत्प्रामाण्यनिर्णयस्यावलोकनात्। न हि [10]सुचिराभ्यासपरिकलितपुरोवर्त्तिनीरनिकरनिर्भासवतः प्रत्यक्षस्याकृतप्रवृत्तिकस्यैव न प्रामाण्यपरिज्ञानम्, नापि सन्देहास्पदनास्वादितविषयत्वम्। यत्रापि न स्वतस्तत्परिज्ञानं तद्धेतुशक्तिवैकल्यात्, तत्रापि कुतश्चिद् दर्दुरारावादेर्लिङ्गात् विषयतथात्ववेदने तत्परिज्ञानोपपत्तेरनुपयोगिन्येव प्रवृत्तिः। अथ प्रवृत्तिकामस्य यदि तन्न प्रवर्त्तकं किं तेन प्रमाणेनापीति चेत्?; क एवमाह–'तस्य न प्रवर्त्तकम्' इति? प्रवृत्तिविषयोपदर्शकस्य प्रवर्त्तकत्वोपपत्तेः। न [11]वर्त्तमानस्य प्रवृत्तिविषयत्वं तस्यानुभवात् प्रवृत्तेश्चानुभवार्थत्वात्। तत्फलसिद्धावपि प्रवृत्तौ तदनुपरमप्रसङ्गात्। अनुभवान्तरार्था पुनः प्रवृत्तिरिति चेत्; न; [12]तदन्तरकाले प्राचीनविषयानवस्थानात्, निर्विषयस्य चानुभवस्याभावात्। भावी तु भवतु प्रवृत्तिविषयः, प्रवृत्तिकामस्य तत्राभिलाषात्। किन्तु न तस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, इन्द्रियव्यापारस्य वर्त्तमानपुरोवर्त्तिपर्यायमात्रपर्यवसायित्वेन भाविभावागोचरत्वे तदुपनिबद्धजन्मनः प्रत्यक्षस्यापि [13]तत्राव्यापारात्।

प्रवृत्तिविषयत्वं न वर्त्तमानस्य दर्शनात्।
प्रवृत्तिर्दर्शनार्थैव दर्शने सति किं तया? ॥३०९॥
निष्फलाऽपि प्रवृत्तिश्चेत्तस्या[14] उपरमः कथम्।

१–रसि– आ०, ब०, प०, स०। २ –स्य भावा– आ०, ब०, प०, स०। ३ इन्द्रियप्रत्यक्षस्य। तस्य तत्प्रा–आ०, ब०, प०, स०। ४ तद्ग्रहणमिति पदं निरर्थकं प्रतिभाति। ५ यदि व्याप्तं न स्यात्। ६ प्रवर्तकत्वाभावे प्रामाण्याभावो न स्यात्। ७ स्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षयोः। ८ –तूपनिबन्धात् आ०, ब०, प०, स०। ९ स्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षम्। १० स्वचिरा–आ०, ब०, प०, स०। ११ न प्रवर्त–आ०, ब०, प०, स०। १२ अनुभवान्तरसमये। १३ भाविनि। तत्रापि व्या–आ०, ब०, प०, स०। १४ –श्चेत्कस्या आ०, ब०, प०, स०।

न दर्शनान्तरस्थापि[1] तत्काले विपर्यास्थितेः ॥२१०॥
भाविस्वाकाङ्क्षितत्वेन प्रवृत्तिविषयोऽपि सन् ।
नेन्द्रियोपनिबद्धेन प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ॥२११॥
वर्तमानपुरोवर्तिन्यावृतादिन्द्रियात्कथम् ।
भावे भाविन्यशात्ते प्रत्यक्षमुपचार्यताम् ? ॥२१२॥
अदृष्टेऽपि प्रवृत्तिश्चेत् भाविन्यभ्युपगम्यते ।
अतिप्रसङ्गदोषेण कथमेवं न लिप्यते ? ॥२१३॥

इति चेत्, अत्र प्रज्ञाकरस्य निर्वाहः–'अभ्यासदशायां वर्तमान एव जलादिरूपे भाविनस्तद्रूपस्योपादानत्वेन तत्सहभाविनश्च स्पर्शादेः तदेकसामग्र्यधीनतया तत्सहकारित्वेनाध्यारोपाद् दृश्यदर्शनमेव भाविनि प्रवर्तकम्[2]। न चैवमतिप्रसङ्गिनी प्रवृत्तिः, अध्यारोपविषय एव तदुपगमात्। न चाध्यारोपस्याप्यतिप्रसङ्गित्वम्, तस्यैव सम्बन्धे तद्भावात्। अनभ्यासे तु तदध्यारोपाभावात्, भाव्यविनाभावितोयाद्याकारविशेषलिङ्गदर्शनोपनिबद्धादनुमानात्प्रवृत्तिः' इति, तत्रेदमुच्यते[3]–कोऽयं तदध्यारोपो नाम ? दृश्यप्राप्ययोरेकत्वग्रहणमिति चेत्, न तर्हीदं प्रत्यक्षतः सम्भवति, तस्य[4] क्षणपर्यवसितवस्तुविषयत्वेनाभ्यनुज्ञानात्। पारमार्थिकस्यैव तस्य तद्व[5]स्तुविषयत्वम्, सांव्यवहारिकस्य तु तदेकत्वग्रहणमविरुद्धमेव। यदाह–"सांव्यवहारिकप्रत्यक्षापेक्षया तु कर्तृत्वस्य प्रतीतिरित्युच्यते" [ ] इति। तात्पर्यमत्र–कर्तृत्वं हि[6] क्रियायां स्वातन्त्र्यम्, क्रिया च पूर्वापरात्मिका। न तत्र वास्तवस्य प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिः, अतः सांव्यवहारिकस्यैव तस्य तत्र व्यवहार इति, तदिदमसम्बद्धमेव, क्षणमात्रपर्यवसितवस्तुविषयस्यैव[7] प्रत्यक्षस्य सांव्यवहारिकत्वात्[8]। न हि पारमार्थिकस्य तस्य तद्विषयत्वम्[9], सकलविकल्पातीतसंवेदनपरमार्थविषयत्वेन[10] तदङ्गीकारात्। तदयं स्वमतमपर्यालोचयन्नेव यथाकाञ्चित्[?] कथञ्चिदन्यथाऽपि कथयतीति कथमनुन्मत्तः ? [11]विकल्पेन तर्हि तदेकत्वं वेद्यत इति चेत्, न, तस्य[12] तद्व्यतिरिक्तस्य[13]तेनाप्रतिवेदनात्, विकल्पस्य बहिर्विषयत्वानभ्युपगमात्। अन्यतिरिक्तस्य वेदनमिति चेत्, कथं[14]ततो भाविनि प्रवृत्तिः ? बहिर्विषयादपि तथाविधदर्शनात्[15] तत्र[16]तामनिच्छन् बहिःस्पर्शानुगममप्यनादृत्य (धा)माद्विकल्पादिच्छतीति कथं स्वस्थः ? [17]तद्दर्शनादेव सविकल्पसहा-

1 तद्दर्शनान्तरस्थापि स०। दर्शनान्तरस्थापि आ०, ब०, प०। 2 "तत्र भाविस्पर्शी तत्कारणत्वेनैकत्वारोपः। परत्र तु स्पर्शी तदेकसामग्र्यधीनत्वेनेति च विशेषः"–प्र० वार्तिकाल० ३।३। 3 –नाते तत्सद्– आ०, ब०, प०। 4 –साहित्यभिवृत्ति–आ०, ब०, प०, स०। 5 तस्य लक्षण–आ०, ब०, प०, स०। 6 प्रत्यक्षस्य। 7 क्षणपर्यवसितवस्तु। 8 "न च प्रत्यक्षतः कर्तृत्वमपि पूर्वं प्रतिपन्नम्, पौर्वापर्ये प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः। सांव्यवहारिकप्रत्यक्षापेक्षया तु प्रतीतिरित्युच्यते।"–प्र० वार्तिकाल० ३।२। 9 क्षणमात्रपर्यवसितवस्तुविषयत्वम्। 10 "इदं च पुनर्व्यावहारिकमभिप्रेत्य प्रत्यक्षलक्षणमभ्युपगम्य उच्यते। परमार्थतस्तु सकलमेव स्वसंवेदनमात्रं नैन्द्रियादिप्रत्यक्षप्रविभागोऽस्ति।"–प्र० वार्तिकाल० २।२५०। 11 विकल्पतेन आ०, ब०, प०, स०। 12 एकत्वस्य। 13 विकल्पव्यतिरिक्तस्य। 14 विकल्पेन। 15 विकल्पात्। 16 बहिर्विषये। 17 भाविनि। 18 –त्यनादर्शनादि–आ०। 19 व्यवहारतः बहिर्विषयप्रत्यक्षादेव।

यात्तत्र[1] प्रवृत्तिरिति चेत् ; कथं [2]स्वयमतद्गोचरमतद्गोचरसहायमपि तत्र प्रवर्त्तकम् ? न ह्यन्धस्य तदन्तरसाचिव्येऽपि रूपदर्शनसामर्थ्यम् । अथ बहिर्गोचर एव विकल्पः, तद्व्यतिरिक्तस्यापि तद्वेद्यस्य बहीरूपत्वेनाध्यवसायादिति[3] चेत् ; न ; तद्वहीरूपत्वस्यापि व्यतिरिक्तत्वेनाप्रवेदनात् । अव्यतिरेकेण वेदनमिति चेत् ; न; 'कथं ततो भाविनि प्रवृत्तिः' इत्याद्यनुवृत्तेश्चक्रकोपक्रमात् अनवस्थानदोःस्थ्याच्च । कथं वा प्रवृत्तिकार्ये दर्शनसहायत्वं विकल्पस्य भिन्नविषयत्वात्, नीलज्ञानवत् पीतदर्शनस्य। तदेकत्वाध्यवसायात् ; न ; दर्शनस्य निर्विकल्पकत्वेन [4]ततस्तदसम्भवात् । विकल्पात्तत्सम्भव इति चेत् ; न ; तेनापि तद्व्यतिरिक्तस्य तदेकत्वस्यानध्यवसायात् । अव्यतिरिक्तस्याध्यवसायेऽपि स्वरूपमेवाध्यवसितं न तदेकत्वम् । पुनरपि तस्य तदेकत्वाध्यवसाये स एव प्रसङ्गः 'न दर्शनस्य' इत्यादिरनवस्था च । ननु एवं व्यवहारी न विवेचयति प्रवृत्तिविरोधित्वात् । न हि प्रवृत्तिकामस्य तद्विरोधिनि विचारे सादरत्वं तत्कामत्वविरोधात् । किमिदानीमविचारितरमणीयमेव ज्ञानं प्रवृत्तिकामस्य पक्षतः ? तथा चेत् ; अनर्थकं तर्हि [5]तं प्रति प्रमाणलक्षणप्रणयनम् । व्याख्यातारं प्रति नानर्थकम् "[6]व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति" [प्र० वा० स्ववृ० १।७२] इति वचनादिति चेत् ; न ; [7]तस्यापि प्रवृत्तिकामत्वाविशेषात् आहारादौ प्रवृत्तिदर्शनात् । न हि प्रवृत्त्युपायस्य विचारभीरुतां विवेचयन्नेव तत्कृतां प्रवृत्तिमुपजीवितुमर्हति । विवेचयन्नपि सहजेन व्यामोहेन तामुपजीवतीति चेत् ; न, विवेकव्यामोहयोः तमःप्रकाशवद्विरोधात् । अन्य एव विवेक आहार्यस्य[8] अन्य एव च सहजव्यामोहस्य विरोधी, तत्र शास्त्रोपनीतेन विवेकेनाहार्यस्य निवृत्तावपि को विरोधो[9] यत्सहजस्य तस्यावस्थानं तत्कृतञ्च प्रवृत्त्युपजीवनं[10] न भवेदिति चेत् ? उच्यते–

आहार्येण विरोधोऽस्य विवेकस्य कुतो मतः ।
विरुद्धविषयत्वाच्चेत् ; सहजेनापि [11]तत्र किम् ? ॥३१४॥
अविरुद्धार्थतायां तु विवेको मोहतां व्रजेत् ।
[12]आहार्योऽपि ततो मोहस्तन्मोहात्[13] नाशवान् कथम् ॥३१५॥
मोहो मोहाविरोधान्न मोहध्वंसाय कल्पते ।
न तमःक्षालनं लोके तमसैवोपलभ्यते ॥३१६॥
ततः शास्त्रस्य वैयर्थ्यमागतं सौगते मते ।
तत्रेदमिह साधूक्तम्–"शास्त्रं मोहनिवर्त्तनम्" ॥३१७॥ [प्र० वा० १।७]

---

१ वहिरर्थे । २ परमार्थतः दर्शनं वहिरर्थागोचरं सत् वहिरर्थागोचरविकल्पसहायादपि कथं वहिरर्थे प्रवर्तकं स्यादिति भावः । स्वयमतद्गोचरसहायमपि आ०, ब०, प०, स० । ३–त्वेनापि व्यवसा–आ०, ब०, प०, स० । ४ दर्शनात् एकत्वाध्यवसायासम्भवात् । ५ तत्प्रति–आ०, ब०, प०, स० । व्यवहारिणं प्रति । ६ "व्याख्यातारः एवं विवेचयन्ति न तु व्यवहर्त्तारः, ते तु स्वालम्बनमेव अर्थक्रियायोग्यं मन्यमानाः दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवर्तन्ते ।"–प्र० वा० स्ववृ० १।७२ । ७ व्याख्यातुरपि । ८ आरोपितस्य व्यामोहस्य । ९ व्यामोहस्य । १० –नं भ–आ०, ब०, प०, स० । ११ विरुद्धविषयत्वम् । १२ आहार्येऽपि आ०, ब०, प०, स० । १३ यतः विवेकः सहजव्यामोहादविरुद्धः अतः स्वयं मोहरूपः सम्प्राप्तः तथा च कथं तेन आहार्यमोहस्य नाशः इति भावः ।

तद्विवेकाविरुद्धार्थो मोहो वा सहजस्तव ।
विवेक एव संवृत्तो व्याख्यातुरिह धीमतः ॥११८॥
आहार्येतररूपाभ्यां व्याख्याता रहितस्ततः ।
क्वचित्कथं प्रवर्त्तेत कुतश्चिद्वा निवर्त्तताम् ॥११९॥
पुनर्मोहान्तरं तस्य सहजं यदि कल्प्यते ।
पूर्वसर्वप्रसङ्गे स्यात् सानवस्थानचक्रकम् ॥१२०॥

शास्त्रोपनिबद्धजन्मनो विवेकस्याहार्येणापि मोहेन तद्विरुद्धविषयत्वादेव विरोधो नान्यथा। मोहस्य हि दृश्यप्राप्ययोरेकत्वं तद्विवेकस्य तु तन्नानात्वं विषय इति, यद्येवं सहजेनापि तस्य विरोधः स्यात् तस्यापि तदेकत्वविषयस्याविशेषात्। अविरोधे तु सहजमोहस्य तद्विवेकस्यापि तदेकत्वगोचरत्वेन तस्यापि मोहरूपत्वम्, आरोपितविषयत्वात्, तथा च कथमाहार्यस्यापि मोहस्य तस्मादपवर्त्तनम्? । न हि मोहादेव मोहान्तरमपसरति तस्य तदविरोधिरूपत्वात्। न हि तमस एव तमःप्रक्षालनं क्वचिदप्युपलब्धम्। तथा च मोहप्रसरहेतुरेव शास्त्रं न मोहविध्वंसरूपमिति न साधु भाषितमेतत्–"शास्त्रं मोहनिवर्त्तनम् ।" [प्र० वा० १।७] इति। मोहस्य वा सहजस्य विवेकैकार्यत्वेन विवेकरूपतापत्तौ न व्याख्यातुराहार्यः सहजो वा मोह इति कथं तस्य क्वचित्प्रवर्त्तनं निवर्त्तनं वा कुतश्चित्? पुनरपि सहजमोहान्तरपरिकल्पनाददोष इति चेत्, न, पूर्वनिरवशेषप्रसङ्गपौनःपुन्यादनवस्थाद्वैःरथ्यावहस्य चक्रकस्य प्रसङ्गात्। तत्र अविचारितरम्ये संवेदनप्रामाण्ये शास्त्रप्रणयनमर्थवत्, विचारपरिशुद्ध तदप्रामाण्यमिति। व्यामोहनिषेधार्थत्वात् न हि तस्यानर्थक्यमिति चेत्, न, तन्निषेधस्य प्रवृत्तिकामैस्तद्विरोधित्वेनानभ्युपगमात्। कस्यचित्कथंचित्प्रवृत्तिरपि नास्त्येव पूर्वापरीभावस्यादर्शनबोधत्वादिति चेत्, न, भेदमात्रस्यैवमप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। भवतु सर्वभेदविनिर्मुक्तं संविन्मात्रं तत्त्वम्–"स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [प्र० वा० ११६] इति वचनादिति चेत्, आस्तां तावदेतत्–'स्वतस्तत्त्वम्' इत्यादौ विचारात्। तत्र अभ्यासदशायामेकत्वाध्यारोपात्प्रत्यक्षस्य भाविविषयत्वोपपत्तेः भाविनि प्रवर्त्तकत्वम्।

नाप्यनभ्यासदशायाम् अनुमानस्य, लिङ्गाभावेन तस्यैवाभावात्। दृश्यमेव तत्रापि लिङ्गमिति चेत्, न, तस्य प्राप्यैकत्वेनाध्यवसितत्वात्। न हि साध्यमेव साधनम्, अतिप्रसङ्गात्, स्वभावहेतोरपि व्यवसितसाध्यव्यतिरेकस्यैव लिङ्गत्वात्। दृश्यमपि व्यवसितप्राप्यव्यतिरेकमेवेति चेत्, न; तद्व्यवसायस्याभ्यासनिबन्धनत्वेन तदभावे अनुपपत्तेः क्षणविवेकव्यवसायवत्, अन्यथा तद्व्यवसायस्याप्यनभ्यास एव सम्भवात् यदुक्तम्–"अभ्यासपाटवाप-

१ शास्त्रजन्य आ०, ब०, प०, स० । २–पतिकत्व –आ०, ब०, प०, स० । ३ विवेकस्य । ४ सहजव्यामोहस्यापि । ५ विवेकस्यापि । ६ विवेकात् । ७ शास्त्रं तदेव मोह–आ०, ब०, प०, स० । ८ शास्त्रप्रणयनस्य । ९ प्रवृत्तिविरोधित्वेन । १० प्रत्यक्षविषयत्वात् । ११ न्यायवि० श्लो० ५६ । १२–द् अदत्र–आ०, ब०, प०, स० । १३ साध्यमित्यत्र प्राप्यस्य । १४ क्षणविवेकव्यवसायवदपि ।

भावान्न क्षणविवेकव्यवसायः" [ ] इति तदपर्यालोचितवचनं भवेत्, क्षणविवेकानुमानस्य च वैफल्यात्। निश्चिते समारोपाभावात् तद्व्यवच्छेदफलत्वानुपपत्तेः। तदयमभ्यासदशायां दृश्यप्राप्यविवेकव्यवसायप्रसवोचितायामपि तदेकत्वाध्यवसायमेवाभिदधानः पुनरनभ्याससमये तदनुचितेऽपि तद्विवेकव्यवसायमावेदयतीति सत्यं तथागतप्रज्ञ तव ताथागतः। किञ्च–

लिङ्गलिङ्गिविभागेन दृश्यप्राप्यार्थनिश्चयात्।
अभ्याससमये मानमनुमानं तवोचितम् ॥३२१॥
अन्यदा तु प्रमाणत्वमध्यक्षस्योपपत्तिमत्।
तदेकत्वावसायस्य निरभ्यासेन सम्भवात् ॥३२२॥
तत्क्रमन्यायमुल्लङ्घ्य कुर्वतस्तद्व्यतिक्रमम्।
तव प्रज्ञाकरस्यापि कुतः प्रज्ञाविपर्ययः ? ॥३२३॥
यदि चाभ्यासतोऽध्यक्षं दृश्यप्राप्याविवेकदृक्।
पश्येत्सौगतमध्यक्षं क्षणानामन्वयं तथा ॥३२४॥
अभ्यासातिशयोद्भूतं तद्यतो भवतो मतम्।
तत्सर्वं क्षणिकं ब्रूयात्कथं नाम महामुनिः ॥३२५॥
अन्यथा वस्तु पश्यंश्चेदन्यथोपदिशेदयम्।
कथन्नाम प्रमाणं स्यादविसंवादवर्जनात् ? ॥३२६॥

अभ्यासोऽपि सुगतस्य क्षणिकतयैव भावेषु तथैवानुमानादिति चेत्; व्यवहर्तुरपि तथैव स्यात्तथैव दर्शनात्, अन्यथा–"पश्यन्नयं क्षणिकमेव पश्यति" [ ] इत्यस्य विरोधात्।

तन्न प्रज्ञाकरस्यैवमेकत्वाध्यवसायतः।
भाविप्रवृत्तिचिन्तायामुपपत्तिमती मतिः ॥३२७॥

कथं तर्हि भाविनि प्रवृत्तिरिति चेत् ? तस्य साक्षादेव दर्शनादिति ब्रूमः। यदि दर्शनं किं प्रवृत्त्या ? तस्या दर्शनार्थत्वात्, तस्य च सिद्धत्वात्, न हि सिद्धप्रयोजनहेतवः प्रयोजनार्थिभिरभ्यर्थ्यन्त इति चेत्; न; प्रवृत्तेर्दर्शनगोचरभाविरूपसहभाविस्पर्शादिप्राप्त्यर्थत्वात्। स्पर्शादेरपि यदि दर्शनं न प्रवृत्तिः, वैफल्यात्, नाप्यदर्शने अतिप्रसङ्गादिति चेत्; न; तस्य दृश्यमानरूपतादात्म्येन कथञ्चिद्दर्शनस्यापि भावात्। सर्वात्मना दर्शनादर्शनयोरेव प्रवृत्तिवैफल्यातिप्रसङ्गदोषोपनिपातात्।

एतेनेन्द्रियान्तरवैफल्यं प्रत्युक्तम्; स्पर्शादेर्विशेषत इन्द्रियान्तरादुपलब्धेः। रूपस्यापि कथं भाविनो दर्शनम्, अनक्षविषयत्वात्, कथं वा तस्य स्पर्शाद्येकत्वं विरुद्धधर्माध्यासादिति चेत् ? आस्तां तावदेतत् यथास्थानं निवेदनात्।

---

१ पुनरभ्या–आ०, ब०, प०, स०। २ तथागतः आ०, ब०, प०, स०। ३ अन्यथा तु आ०, ब०, प०। ४ तत्क्रमन्याय्यमु–ता०, स०। ५ साकाङ्क्षादेव आ०, ब०, प०, स०। ६ सिद्धिप्रयोजनहे–आ, ब०, प०। ७ प्रवृत्तिवै–आ०, ब०, प०, स०। ८ रूपसहभाविस्पर्शादेः। ९–त् तेने–ता०, स०।

ननु यदि भाविन्यपि प्रत्यक्षं प्रवर्तकं कथं तर्हि भाष्यकारैर्वर्तमान एव तस्य तत्त्वमुक्तमिति चेत्, न, वर्तमानप्रवृत्तित एव भाविप्रयोजनावाप्तेः न तदर्थमेकत्वाध्यवसायेन प्रत्यक्षस्य भाविविषयत्वं प्रति सौगतेन प्रतिपत्तव्यमिति निवेदनार्थत्वात् तथा वचनस्य। यथा च तत्तत्त्वव्याप्तिस्तथा तत्रैव सविस्तरं निरूपितम्। यत्पुनः "अभ्यासेऽपि भाविज्ञानमनुमानम्" [   ] इति तेषां वचनम्; तदप्येकत्वाध्यवसायप्रत्यक्षसाधितमपि प्रत्यक्षं न प्रत्यक्षमिति निवेदनार्थम्। कथमप्रत्यक्षमिति चेत्? आरोपितविषयत्वात्। आरोपितं हि दृश्ये तत्कारणत्वेन भाविरूपं तज्ज्ञानस्य विषयः, तादृशस्य च सविकल्पकत्वान्न प्रत्यक्षत्वम्, कल्पनापोढस्य तत्त्वात्। व्यवहारी नैवं मन्यत इति चेत्, किं पुनर्व्यवहारादन्यत्र कल्पनापोढत्वं प्रत्यक्षलक्षणमुक्तम्? तथा चेत्, न तत्प्रमाणम्, "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र० वा० १।७] इति वचनात्। न चाप्रमाणं प्रत्यक्षम्, प्रमाणविशेषस्य तत्त्वात्। ततो व्यवहारादेव कल्पनाविरहस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वात् नारोपितविषयस्य प्रत्यक्षत्वं विकल्पकत्वात्। एतेन कुञ्चिकाविवरमणिप्रभामणिज्ञानस्यापि प्रत्यक्षेतरत्वं प्रत्युक्तम्, आरोपितविषयत्वेन विकल्पकत्वाविशेषात्। तर्हि विकल्पकं तदिति वक्तव्यं किमनुमानं तदित्युक्तमिति चेत्? न, परस्य निदर्शनाभावनिवेदनार्थत्वात्। परस्य हि वचनम्–"अभ्यासे भाविज्ञानवत् प्रभामणिज्ञानवच्च आरोपितविषयमपि प्रमाणमनुमानम् अर्थाविसंवादात्" [   ] इति। तत्रेदमुच्यते–निदर्शनज्ञानं किन्नाम प्रमाणम्? न प्रत्यक्षम्, विकल्पकत्वात्। न च तेऽन्यत्र प्रमाणम्, प्रमाणद्वयनियमव्यापत्तेः। तस्मादनुमानमेव तत्। न च तस्य निदर्शनत्वम्, अनुमानान्तरवत् विवादविषयत्वात्। विवादे किं निमित्तमिति चेत्, अनुमानान्तरे किम्? आरोपितविषयत्वमिति चेत्, न, प्रकृतेऽपि तद्भावात्, अन्यथा तस्य स्वलक्षणविषयत्वेनाध्यक्षाविशेषप्रसङ्गात्। ततो न किञ्चिन्निदर्शनं यदनुमानप्रामाण्यसाधनं प्रत्युपयुज्यत इति निवेदनार्थं भाविज्ञानस्यानुमानत्ववचनम्। ततः समञ्जसं प्रत्यक्षस्य भाविविषयत्वेन तत्र प्रवर्तकत्वम् इति सूक्तम्–हिताहितप्राप्तिपरिहारक्षममिन्द्रियप्रत्यक्षम्। हितस्यानुकूलवेदनीयस्य तत्कारणरूपस्य अहितस्य च प्रतिकूलवेदनीयस्य तत्कारणरूपस्य यथासंख्येन प्राप्तौ परिहारे च तस्य शक्तिसम्भवादिति सुविवेचितमिन्द्रियप्रत्यक्षम्।

अनिन्द्रियप्रत्यक्षं तु सर्वचेतसां स्वसंवेदनम्, तस्य क्षयोपशमविशेषापरनामधेयात् अनिन्द्रियादुत्पत्तेः, तद्विशेषव्यतिरिक्तस्य त्वनिन्द्रियस्य "सतोऽपि स्वसंवेदनं प्रत्यनुपयोगात्, तथा च भाष्ये सविस्तरं निर्णीतम्। कथं पुनः संवेदनानामात्मवेदनमिति चेत्? कथमर्थवेदनम्? निर्बाधात्तदनुभवादिति चेत्, समानमात्मवेदनेऽपि। स्वरूपपरिच्छेदपराङ्मुखतया बहिरर्थोपग्रहमात्रव्यापृतानां" तेषामनुभवात्, "अर्थग्रहणं बुद्धिः" [न्यायभा० १।२।४६] इति-

१ अकलङ्कदेवैः। २ प्रत्यक्षस्य। ३ प्रवर्तकत्वम्। ४ प्रत्यक्षत्वात्। ५ "तस्मात् मणिप्रभायामपि मणिज्ञानं प्रत्यक्षमेव"–प्र० वार्तिकाल० २।५७। ६ बौद्धेन हि अनुमानप्रामाण्यसाधनाय मणिप्रभामणिज्ञानं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तम् (प्र० वा० २।५७)। तत्र मणिप्रभामणिज्ञानस्य अनुमानत्वाभावेन विघटत इति भावः। ७ परस्यापि वच- आ०, ब०, प०, स०। ८ मणिप्रभामणिज्ञानम्। ९ विकल्पमात्रम्। १० सतोऽपि स०। ११ व्यापृतानाम् आ०, ब०, प०, स०।

वचनान्न तेषामात्मवेदनमिति चेत्; न; वचनमात्रात् अपरिस्खलितप्रतीतिव्यापारोपदर्शितस्य तस्य[1] प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, अन्यथा अर्थवेदनस्यापि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात्, "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [प्र०वा० १।६] इति तत्प्रत्याख्यानपरस्यापि वचनस्य भावात्। 'ज्ञानान्तरवेद्यमर्थज्ञानं वेद्यत्वात् कलशवत्' इत्यनुमानेनानुग्रहात् पूर्वमेव[3] वचनमुपपत्तिमत्, नापरमिति चेत्; न; 'स्वसंवेद्यमेव ज्ञानं वेद्यत्वात् सुखादिवत्' इत्यनुमानानुग्रहस्य परवचने[4]ऽपि भावात्। कुतः पुनः सुखादेरपि स्वसंवेद्यत्वमिति चेत्? कलशादेः अन्यवेद्यत्ववत् प्रतीतेरेव। कथमेवमपि तत्स्वसंवेदनस्वभावनियमस्यानुमानविषयत्वे न प्रतिज्ञाव्याघातः? न ह्यर्थान्तरभूतानुमानविषयतामावहत एव नियमेन स्वानुभवस्वभावत्वम्। अतद्विषयत्वे[5] तु कथमतद्विषयमनुमानं तत्प्रतिपादनपरस्य 'स्वरूपस्य' इत्यादिवचनस्यानुग्राहकं यत्तदेवोपपत्तिमद्भवेदिति चेत्; उच्यते–

संविदामन्यवेद्यत्वस्यानुमानं स्वं[6]विद्यदि।
तदन्यवेद्यनियमप्रतिज्ञा तव भज्यते ॥३२८॥
स्वयमज्ञातसत्त्वं तत्[7] अस्वसंवेदने कथम्।
अर्थग्रहणमित्यादेर्वचसोऽनुग्रहक्षमम् ॥३२९॥
अननुग्राहकत्वेनाप्येवं तत्किन्न कल्प्यते।
इत्थमेवान्यथा नेति नादृष्टं शक्यकल्पनम् ॥३३०॥
अन्यतो वेदनं तस्याप्यनुमानस्य चेन्मतम्।
न तदानीं तत्[8], अन्यस्य वेदनस्याप्रवेदनात् ॥३३१॥
पश्चादेव तदस्तित्वे[9] पश्चादपि न जायते।
यदा तदा कथं नाम तदित्थम्भाववेदनम् ॥३३२॥
विषये सति तज्ज्ञानं स्यादेव नियमाद्यदि।
तस्याप्यज्ञातसत्त्वस्य [10]तद्वित्त्वं कथमुच्यताम्? ॥३३३॥
तस्यापि वेदनाद्वित्तिरन्यतश्चेत्प्रकल्प्यते।
न तदानीं तदन्यस्येत्यादि पूर्वप्रसञ्जनात् ॥३३४॥
चक्रकं भवतः प्राप्तमनवस्थाभयप्रदम्।
ततोऽनुमानं स्वाभासस्वभावमभिवर्ण्यताम् ॥३३५॥
ततः प्रतिज्ञाव्याघातः समाधातुं न शक्यते।
ततो नातिशयः कश्चिद्यौगसौगतयोर्मिथः ॥३३६॥
तस्मात्प्रतीत्युपाध्यायैर्यथा वास्तु (वस्तु) प्रतीयते।
तथैवाभ्युपगन्तव्यं निर्मुच्याग्रहवैशसम् ॥३३७॥

---

१ आत्मवेदनस्य। २ "तस्मात् ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात् घटादिवत्"–प्रश० व्यो० पृ० २।२९। विधिवि०न्यायक०पृ० २६७। ३ अर्थग्रहणं बुद्धिरिति वचनम्। ४ स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनेऽपि। ५ अनुमानाविषयत्वे तु। ६ स्वसंवेदनात्मकं यदि। ७ अनुमानम्। ८ अन्यतो वेदनम्। ९ अन्यवेदनास्तित्वे। १० तद्वेदित्वम्।

अर्थवेदनवत्तस्मात्प्रतीतं स्वप्रवेदनम् ।
अशक्यमेवापह्नोतुमितरस्याप्यपह्नवात् ॥१२८॥

संवेदनानामन्यवेद्यत्वनियमानुमानं यदि स्वसंवेदनस्वभावम्, कथम तन्नियमप्रतिज्ञाव्याघातः ? न चेत् तत्स्वभावम्, तर्हि तदेवासिद्धसत्ताकं कथम् "अर्थग्रहणम्" [न्यायभा०] इत्यादेर्वचनस्यानुमापकं परिकल्प्यताम् ? तदननुमापकत्वस्यापि परिकल्पनाप्रसङ्गात् । न ह्यनुपलम्भगोचरीकृतं किञ्चिद् 'इत्थमेव नान्यथा' इति शक्यमवस्थापयितुम्, भावेषु तद्वत्तद्भावव्यवस्थाया उपलम्भनिबन्धनत्वात् । अन्यथा उपलम्भस्यैव आनर्थक्यातिप्रसङ्गाच्च । स्वत एव तद्वेदनमन्यतस्तु वेदन विपद एवेति चेत्, न, अनुमानसमसमयस्य तस्यावेदनात् । युगपद्वेदनोत्पत्तेरनभ्युपगमाच्च । पश्चादेव तद्वेदनमिति चेद्, न, पश्चादपि यदा तत्र जायते तदा कथमनुमानस्य इत्थम्भावोऽध्यवसायः स्यात् ? स्यादेवायम्, सति विषये तत्संवेदनस्याभावस्य भावादिति चेद्, न, तस्याप्यविदितस्य अनुमानस्वरूपेत्थम्भावगोचरस्यानवगमात् । तस्याप्यन्यतो वेदनं चेद्, न, अनुमानसमेत्यादेरनुगमेन चक्रकोपनिपातात् । पुनरन्यतस्तस्यापि वेदनपरिकल्पनायाम् अनवस्थापरोक्ष । ततोऽनुमानस्य विषयनियमं व्यवस्थापयितुकामेन स्वाभासस्वभावं तदभ्युपगन्तव्यमिति कथम भवतोऽपि प्रतिज्ञाव्याघातः ? यदिमौ अन्यवेद्यानन्यवेद्यनियमवादिनौ न परस्परमतिशयाते[1] । तस्माभिरवद्यप्रत्ययोपाध्यायोपदर्शिते वर्त्मनि प्रवर्तमानैः प्रेक्षावद्भिः स्वपक्षानुरागपरिग्रहपरिहारेण यथाप्रतीति भावतत्त्वमभ्यनुज्ञातव्यम् । प्रतीयते चार्थसंवेदनवत् संवेदनानामात्मसंवेदनमपि, तत्कथं शक्यापलापम् ? अर्थवेदनस्याप्यपलापेन ज्ञानवार्तोच्छेदप्रसङ्गात् । स्वपरपरिच्छेदविकलस्य ज्ञानत्वायोगात् मृदादिवत् । न च ज्ञानाभावे ज्ञेयमपि किञ्चित्, तदधीनत्वात्तद्व्यवस्थायाः इति विज्ञयेरन् सकलवस्तुधर्मनैरात्म्यवादिनः । तदुक्तम्–"ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ।" [आप्तमी० का० ३०] इति ।

एतेन परोक्षा बुद्धिरिति[2] प्रत्युक्तम्, अर्थस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् । अनुभवोपारूढत्वान्नैवमिति चेत्, तदुक्तम्–"स हि बहिर्देशसम्बद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते"[शाबरभा० १।१।५] इति, तदसत्, अन्तर्देशसम्बद्धतया बुद्धेरपि प्रत्यक्षत एवानुभवात् । तदनुभवापलापे चार्थानुभवस्याप्यपलापात् ज्ञानं नापि किञ्चिज्ज्ञेयमिति दुष्परिहरः शून्यवादगर्तोपपातो मीमांसकस्य । न च ज्ञानानुभवाभावेऽर्थानुभवसिद्धिरिति करिष्यते चात्र प्रबन्धः । तस्मादर्थवेदनान्यथानुपपत्त्या विज्ञानस्य स्ववेदनप्रसिद्धिः ।

एतेन कापिलानामपि ज्ञानं व्याख्यातम्, तस्यापि स्ववेदनशून्यस्य अर्थवेदनत्वानुपपत्तेः । प्रतीतमर्थवेदनमिति चेत्, न, स्वसंवेदनस्यापि प्रतीतेः । सत्यम्, तस्यापि प्रतीतिर्न तु

१ अर्थवेदनवत्तदपि । २ –नयमवत्त आ०, ब०, प०, स० । ३ अन्यवेद्यस्य । ४ –वायवता–आ०, ब०, प०, स० । ५ –ते भ त –आ०, ब०, प०, स० । ६ तदभ्युपगन्तव्यमाया । ७ "अर्थविषया हि प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्ध्यन्तरविषया ... न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति । तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः ।" –शाबरभा० १।१।५ । ८ दुष्परिहरः शू–आ०, ब०, प०, स० । ९ तस्मादि–आ०, ब०, प०, स० ।

वास्तवस्य, ज्ञानस्य प्राकृतत्वेनाचेतनस्य वस्तुतः स्वसंवेदनाभावात्, चेतनोपाधिसामर्थ्यात्तु चेतनायमानस्य तस्य [1]स्वसंवेदनमौपाधिकमेव न वास्तवमिति चेत्; उच्यते—

उपाधिसिद्धं[2] चैतन्यं तत्कार्याय कथं क्षमम् ? ।
न मुखं मुखकार्याय दर्पणप्रतिबिम्बितम् ॥३३९॥
तत्कार्यकरणे वा तदवस्तु कथमुच्यताम् ? ।
वस्तु कार्यक्षमं यस्मात्कथ्यते वस्तुवेदिभिः ॥३४०॥
कुर्वन्नपि भयं [3]सत्यं रज्जुसर्पो न वस्तु चेत् ।
नैतत्सारम्; भयाभ्यासादेव तस्य समुद्भवात् ॥३४१॥
सर्पज्ञानाद् भयाभ्यासेऽभिव्यक्ते हि भयं भवेत् ।
भयाभ्यासविहीनस्य [4]तज्ज्ञानेऽपि तदत्ययात् ॥३४२॥
सर्पस्यानुपयोगश्चेत्किं[5] [6]तज्ज्ञानमपेक्ष्यते ।
इति चेद् भयसंस्कारव्यक्तौ [7]तच्छक्तिदर्शनात् ॥३४३॥
तद्व्यक्तिरपि सर्पाच्चेत्; न; अवस्तुत्वादशक्तितः ।
गम्यते [8]तदवस्तुत्वमपि बाधकनिर्णयात् ॥३४४॥
तस्मादुद्बुद्धसंस्कारकार्यत्वेन विनिश्चितम् ।
न तत्सर्पाद्भयं नापि तज्ज्ञानादुपजायते ॥३४५॥
संस्कारस्य च वस्तुत्वमस्खलत्प्रत्ययार्पितम् ।
न शक्यमेवापह्नोतुं त्रिदिवाधिपतेरपि ॥३४६॥
तन्न कार्यक्षमं किंचिदवस्तु [9]यदुपाश्रयात् ।
अवस्तु ज्ञानचैतन्यमर्थवित्त्यै प्रकल्प्यते ॥३४७॥
किञ्च केनैष गन्तव्यो [10]ज्ञाने चैतन्यसन्निधिः ।
न चैतन्येन तस्यात्मसंवित्त्यैव व्यवस्थितेः ॥३४८॥
न च ज्ञानेन चैतन्यस्यात्मनो वाऽपि वेदनम् ।
जडत्वात्, [11]उभयाज्ञाने ज्ञेयस्तत्सन्निधिः[12] कथम् ॥३४९॥
तस्मात्स्वसन्निधिज्ञाने चिच्छक्त्या यदि वेद्यते ।
ज्ञानस्यापि तया वित्तिः स्वरूपस्येव कथ्यताम् ॥३५०॥
तदश्च बहिरर्थानां तयैव प्रतिवेदनात् ।
निष्प्रयोजनमेव स्यात्तदन्यज्ञानकल्पनम् ॥३५१॥

---

१ स्वसंवेद–आ०, ब०, प०, स० । २ – द्धचै–ता० । ३ सत्वं आ०,ब०,प०,स० । ४ सर्पज्ञानेऽपि । ५ –त्कि न ज्ञा–आ०, ब०, प०, स० । ६ सर्पज्ञानम् । ७ सर्पज्ञानशक्ति । ८ सर्पावस्तुत्वम् । ९ सदुपा–आ०, ब०, प०, स० । यद्दृष्टान्तात् । १० ज्ञानचैत–आ०,ब०,प०,स० । ११ उभयज्ञाने आ०, ब०, प०, स० । १२ ज्ञाने चैतन्यसन्निधिः ।

बहिरर्थग्रहे तस्या ज्ञानं चेत्साधनं मतम् ।
ज्ञानग्रहे परं ज्ञानं साधनं परिकल्प्यताम् ॥३५२॥
ज्ञानानामनवस्थैव कापिलाना प्रसज्यते ।
ज्ञानग्रहे विना ज्ञानादेवमर्थग्रहो न किम् ? ॥३५३॥
तत्र चैतन्यसंवेद्यो ज्ञाने चैतन्यसन्निधिः ।
ज्ञानवेद्यः स चेज्ज्ञाने स्वसंवेदनमिष्यताम् ॥३५४॥
अन्यथा ज्ञानचैतन्यद्वयस्याप्रतिवेदनात् ।
तेन तद्द्वयसान्निध्यं दुर्बोधं हि निवेदितम् ॥३५५॥
यदि तद्द्वयसान्निध्यमन्यज्ज्ञानेन वेद्यते ।
न तस्यापि जडत्वेन तद्वित्तौ दौःस्थ्यसम्भवात् ॥३५६॥
तस्यापि चितिसान्निध्याच्चिद्रूपत्वोपकल्पने ।
वेद्यं तदपि सान्निध्यं बोधस्यैवापरस्य वः ॥३५७॥
तत्राप्येवं विचारे स्यादनवस्थानवैशसम् ।
चिच्छक्तिसन्निधिज्ञानं निर्मूलं यदि कृन्तति ॥३५८॥
ततश्चित्सन्निधिज्ञानमनुपाधि स्ववेदनम् ।
ज्ञानत्वात्तद्वदन्यच्च सर्वं विज्ञानमुच्यताम् ॥३५९॥

यदिदं वचनं वस्तुस्वरूपमर्मापि विभक्ता कापिलैः (अविविच्य कापिलैः) कथितम्—"तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिह लिङ्गम्" [सांख्यका० २०] इति। ततः सिद्धमनिन्द्रियप्रत्यक्षं तस्य स्ववेदनरूपत्वात्। तस्य चोक्तन्यायेन सर्वसंवेदनेषु साधितत्वात्।

अतीन्द्रियं तु प्रत्यक्षमवितथमभ्यावार्य लोकोत्तरं कालत्रयत्रिलोकाधिकरणनिरवशेषपदार्थतत्त्वसाक्षात्करणदक्षमतिस्पष्टमुत्कृष्टं ज्योतिः । तत्सद्भावे च प्रमाण 'लक्षणम्' इत्यादौ, अन्यत्र च यथावसरं निरूपयिष्यते ।

तदेतत् त्रिविधमपि प्रत्यक्षं द्रव्यादिस्वभाववस्तुगोचरमिति साधूक्तम्—'**द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्**' इति ।

प्रत्यक्षं त्रिविधं देवैः दीप्यतामुपपादितम् ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥३६०॥

कश्चिदाह—यदि साकारं निश्चयात्मकं प्रत्यक्षं तत एव निरवशेषोपाधिगर्भस्य भावस्य निश्चयात् किं प्रमाणान्तरेण अपूर्वार्थाधिगमस्य तत्फलस्याभावात्, समारोपव्यवच्छेदस्य च निश्चिते समारोपाभावेनासम्भवादिति, अत्रेदमाह—

---

१ चिच्छक्तेः । २ चैतन्यसन्निधिः । ३ तत्सर्वं–आ०,ब०,प०,स० । ४–पि चेति आ०,ब०,प०,स० । ५ –मति सिद्धिप्रसक्ति–आ०, ब०, प० ।–मति सिद्धिप्रसक्ति–स० । ६ तत्रादौ आ०, ब०, प०, स० । ७ न्यायवि० श्लो० ११८ । प्रमाणसं० श्लो० १ । ८ दिष्यताम् आ०, ब०, प०, स० । देवैः उपपादितं त्रिविधं प्रत्यक्षं दीप्यताम् इत्यन्वयः ।

सदसज्ज्ञानसंवादविसंवादविवेकतः ।
सविकल्पाविनाभावी समक्षेतरसम्प्लवः ॥४॥ इति ।

अस्यायमर्थः-सङ्गतम् इन्द्रियं कारणत्वेन यस्मिन् तत् समक्षम् इन्द्रियप्रत्यक्षं तत इतरच्च प्रमाणान्तरमनुमानादि तयोः सम्प्लव एकविषयत्वेनोपसर्पणं **समक्षेतरसम्प्लवः**, 'उपपद्यते' इति शेषः । कुत एतत् ? दृष्टत्वात् । न हि दृष्टमनुपपत्तिपर्यनुयोगस्य भूमिः; अतिप्रसङ्गात् । सत्यम्, प्रत्यक्षविषय एव प्रमाणान्तरसञ्चारो दृश्यते स त्वपूर्वार्थाधिगमस्य समारोपव्यवच्छेदस्य च तत्प्रयोजनस्याभावात् निष्प्रयोजनः पर्यनुयुज्यत इति चेत्; अत्राह-'**सविकल्पाविनाभावी**' इति । विकल्पो गृहीतेतरत्वेन निश्चितेतरत्वेन चार्थस्य कथञ्चिद्भेदः तदविनाभावी तन्नान्तरीयकस्तन्निबन्धनः स प्रस्तुतः तत्सम्प्लव इति ।

> गृहीतश्चागृहीतश्च यदि प्रत्यक्षगोचरः ।
> अपूर्वाधिगमस्तस्मिन् किन्न मानान्तरात्फलम् ॥३६१॥
> निश्चितश्चेतरश्चैवमर्थश्चेदक्षगोचरः ।
> [८] तत्रारोपोपपत्तेस्तद्व्यवच्छेदः प्रमान्तरात् ॥३६२॥

न खल्वस्मदादिप्रत्यक्षं निरवशेषभावोपाधिप्रतिपत्तौ समर्थम्; विकलोपाधिविषयतयैव तस्यानुभवात् । ततस्तदगृहीतावशिष्टस्य भावभागस्य भावात् तदुपग्रहप्रवृत्तस्य प्रमाणान्तरस्य अपूर्वार्थाधिगमात्र निष्प्रयोजनतया शक्यः पर्यनुयोगः । न च निश्चयात्मकत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य ततः सर्वतद्विषयोपाधीनां निश्चयः; क्वचिन्निश्चयरूपस्यान्यत्रानिश्चयात्मनश्च परिच्छेदस्य ततः सम्भवात् । निश्चयात्मनः प्रत्यक्षात् कथमनिश्चयात्मा परिच्छेद इति चेत् ? न; एकान्तेन तस्य तदात्मकत्वाभावात् । कथं तर्हि व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तमिति चेत् ? न; अभिप्रायापरिज्ञानात् । न ह्यनेन प्रत्यक्षाभिमतज्ञानस्य अनिश्चयरूपस्वभावान्तरप्रतिक्षेपः क्रियते, सत्यपि रूपान्तरे व्यवसायरूपापेक्षयैव तस्य प्रत्यक्षत्वं नेतरभागापेक्षयेति एवम्परत्वात्तद्वचनस्य । ततो निश्चयावशेषितस्यापि भावोपाधेर्भावान्न तद्विषयस्य प्रमाणान्तरस्य नैष्फल्यपर्यनुयोगः सुलभावकाश इति ।

स्यादाकूतम्-एतदेव विप्रतिपत्तिस्थानं यदेकस्य गृहीतेतरत्वेन निश्चितेतरत्वेन च विकल्प इति, तत्कथं तन्निबन्धनः समक्षेतरसम्प्लव इति ? तन्न; निश्चितस्य विप्रतिपत्तिस्थानत्वायोगात्, निश्चित एव तद्विकल्पो जैनवत् सौगतस्यापि । तदाह-'**सदसज्ज्ञान**' इत्यादि । सद् विद्यमानम् असद् अविद्यमानं च ज्ञानं ययोस्तयोर्विवेको निश्चयः सौगतस्यापि सदसज्ज्ञान-

१ -च्चमतीन्द्रिय-आ०, ब०, प०, स० । २ -जनं पर्य-आ०, ब०, प०, स० । ३ -द्ग्र -आ०, ब०, प०, स० । ४ -वशेषोपाधि-आ०, ब०, प०, स० । ५ प्रत्यक्षगृहीत । ६ प्रत्यक्षात् । ७ निश्चयात्मकत्वाभावात् । ८ लघी० का० ६० । "इदमनन्तरोक्तं स्पष्टं विशदं व्यवसायात्मकं ज्ञानम् । कथम्भूतम् ? स्वार्थसन्निधानान्वयव्यतिरेकानुविधायि प्रतिसंख्यानिरोध्यविसंवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम् ।"-सिद्धिवि० टी० प० ९६ । ९ निश्चितावशिष्टस्य, अनिश्चितस्येत्यर्थः । निश्चयाविशेषि-आ०, ब०, प०, स० ।

विवेकः तस्मादस्ति वस्तुषु गृहीतेतरत्वेन विकल्प इति भावः । तत्र परमाणूनां नीलाद्याकारः सन्ज्ञानः तस्य प्रत्यक्षेण परिज्ञानात्, असन्ज्ञानस्तु तेषामेव पारम्पर्यतो [1]विवेकः तस्य सतोऽपि प्रत्यक्षेणावेदनात्, अन्यथा स्थूलाकारप्रतिवेदनाभावप्रसङ्गात् ।

> विवेकः परमाणूनां प्रत्यक्षे यदि भासते ।
> स्थूलैकाकारनिर्भासाभाव एव प्रसज्यते ॥१६३॥
>
> न च नास्ति स निर्भासो निर्बाधं स्वप्रवेदनात् ।
> तदभावे न किञ्चित्स्यादणुज्ञानाप्रवेदनात् ॥१६४॥
>
> शून्यवादापवादश्च ननु पश्चाद्विधास्यति ।
> तेनालमुरुसुव्याख्यायित्वात् प्रस्तुते दीयतां मतिः ॥१६५॥
>
> ततोऽपि स्थूलनिर्भासस्येन्द्रियत्वं न चेदसत् ।
> तस्यैवेन्द्रियजत्वं यद्वक्ति प्रज्ञाकरः स्फुटम् ॥१६६॥

"को वा विरोधः" [प्र० वा० २।२२३] इत्यादि कारिकाव्याख्याने खलु अलङ्कारकारेण—"यथैव केशा दवीयसि देशेऽसंसक्ता अपि घनसन्निवेशावभासिनः परमाणवोऽपि तथेति न विरोधः" [प्र० वार्तिकाल० २।२२३] इति [2]ब्रुवाणेन परिस्फुटमेव परमाणुषु घनसन्निवेशप्रतिभासस्य इन्द्रियजत्वमुक्तम् । विकल्परूपत्वे[3] हि तस्यान्यदेव किञ्चिदिन्द्रियज्ञानम्, तत्र च परमाणवः परिमण्डलावभासिन एवेति कथं घनसन्निवेशावभासिनो यतः 'परमाणवोऽपि' इत्यादि वचनमुपपन्नं भवेत् । विकल्पज्ञान एव ते घनसन्निवेशावभासिनो न इन्द्रियज्ञान इति चेत्, न, तस्यं तंत्रो (तद्गो) परत्वात्, अन्यथा तत्रापि विवेकस्यावभासने [4]तदनुपपत्तेः । अनवभासने[5] त्विन्द्रियज्ञानेऽपि अनवभासितविवेका एव ते घनसन्निवेशप्रतिभासिनो भवेयुरविशेषात् । तस्मादिन्द्रियज एव तन्निर्भासः[6] तत एव दूरविरलकेशघनसन्निवेशप्रतिभासस्य तथाविधस्यैव [7]निदर्शनत्वमुक्तम्, न केवलं विरलवस्तुनिबन्धनत्वेन निदर्शनसादृश्यं तन्निर्भासस्य, अपि तु इन्द्रियजत्वेनापीत्यवद्योतनार्थम् । ततो न परमाणूनां विवेकस्याध्यक्षेण ग्रहणं घनसन्निवेशस्यैव ग्रहणात् । [8]तदग्रहणे तदन्यतिरिक्ते नीलाद्याकारः कथं गृह्यत इति चेत् ? न, दर्शनादभ्युपगमाच्च । "हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन" [प्र०वा० २।२२४] इत्यादि व्याख्यानं कुर्वता हि [9]परेणोक्तम्—"परमाणूनामियं नीलाकारता" [प्र० वार्तिकाल० २।२२४]इति। ततोऽवगम्यते [10]तद्ग्रहणत्वं तेनाभ्युपगतम्, अन्यथा 'इयम्' इति प्रत्यक्षनिर्देशानुपपत्तेः । गृहीतोऽपि [11]तदाकारो भ्रान्त एव स्थूलाकारादिवदिति चेत्, न, 'परमाणूनाम्'

---

१ तत्र प्रमाणमत्रम् स० । २ मेदः । ३ –परत्वप्रसे–भा०, ब०, प०, स० । ४ प्रमाणवार्तिकालङ्कारकृता । ५ –तेऽपि तस्य भा०, ब०, प०, स० । ६ विकल्पस्य । ७ परमाणुविषयत्वात् । ८ विकल्पस्य परमाणुविषयत्वे । ९ विकल्पज्ञानेऽपि । १० घनसन्निवेशप्रतिभासानुपपत्तेः । ११ परमाणुविषयत्वे परमाणुभेदानवभासने । १२ –रत एव भा०, ब०, प०, स० । १३ निदर्शनमुक्तम् भा०, ब०, प०, स० । १४ परमाणुग्रहणे । १५ प्रज्ञाकरेण । १६ नीलाद्याकारतावग्रहणम् । १७ नीलाद्याकारः ।

इति वचनात्। न हि स्वलक्षणस्वभावस्य भ्रान्तत्वम्; बहिरर्थवादाभावप्रसङ्गात्। न चायं व्यायान्, तद्वाद एव स्थित्वा "परमाणूनाम्" इत्यादिवचनात्। ततः सिद्धम्-परमाणुषु नीलाद्याकारस्य सत एव ग्रहणम्, अग्रहणं च विवेकस्येति सदसज्ज्ञानत्वं तयोः।

स्यान्मतम्-न विवेकाग्रहणं धर्मकीर्तेरभिप्रेतं सकलोपाधिवेदनस्यैव तदभिमतत्वात्। "तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः" [प्र० वा० ३।४४] इति वचनात्। न च तस्यानभिप्रेतं सौगतसिद्धान्ततया प्रत्येतव्यम्, तद्वचनमूलत्वात् तत्सिद्धान्तपरिज्ञानस्य। निबन्धनकारस्य तु सदपि विवेकापरिज्ञानवचनमनादेयमेव 'तस्मात् दृष्टस्य' इत्यादि प्रत्यनीकत्वात्। न हि तस्यैव शास्त्रं व्याचक्षाणस्य तन्मतविरुद्धं वचनमुपपन्नमिति; तदसत्; "न च ते बुद्धिगोचराः" [ ] इति धर्मकीर्तिनैव प्रतिपादनात्। अनेन हि विवेकरूपतयैव परमाणूनामबुद्धिगोचरत्वमुच्यते न नीलादिरूपतया; प्रतीतिबाधप्रसङ्गात्। कथं तर्हि तस्मादित्यादिकं तस्य वचनमिति चेत् भवत्वयं तस्य दोषः, परस्परविरुद्धाभिधानात्। न तावता विवेकाग्रहणं तस्यानभिप्रेतम्' इत्यवसीयते। ततः सिद्ध एव सौगतस्यापि गृहीतेतररूपतया भावभेदः निश्चितानिश्चितरूपतया च। तदाह-'संवादविसंवादविवेकतः' इति। संवादो निर्णय एव "नातः परो विसंवादः" [ ] इति वचनात्। तदभावो विसंवादः तयोरपि विवेक एकवस्तुविषयतया निश्चय एव जैनवत् सौगतस्यापि तद्भावात्। तथा हि-

नीलवत्क्षणभङ्गादेर्मनोऽध्यक्षादवेदने।
"एकस्यार्थस्वभावस्य" इत्यादि सूक्तं वचः कथम्? ॥३६७॥
वेदने तु ततस्तस्य निश्चयो यदि नीलवत्।
तत्रानुमानवैफल्यं तद्वदेव कथं न वः? ॥३६८॥
न गृहीतिर्गृहीतत्वान्निश्चितत्वान्न निश्चयः।
तस्यानुमानादन्यत्तु फलं तस्य किमुच्यताम्? ॥३६९॥
निश्चिते च समारोपो विरोधान्नोपजायते।
फलं यतोऽनुमानस्य तद्विच्छेदः प्रकल्प्यताम् ॥३७०॥
समारोपव्यवच्छेदमनुमानात्तदिच्छता।
वक्तव्यः क्षणभङ्गादेर्मनोऽध्यक्षान्न निश्चयः ॥३७१॥
तस्येव यदि नीलादेरपि तस्मान्न निश्चयः।
मानसं कथमध्यक्षं निश्चितं निश्चयात्मकम् ॥३७२॥

---

१ बहिरर्थवदभाव-आ०, ब०, प०, स०। २ बहिरर्थवादे। ३ नीलाद्याकार-विवेकयोः। ४ न तस्याभिप्रेतं आ०, ब०, प०, स०। ५ -त्वात्तत्सि-आ०, ब०, प०, स०। ६ प्रज्ञाकरस्य। ७ तस्मात् दृष्टस्य भावस्येत्यादि। ८ धर्मकीर्तेः। ९ -वोऽपि विसं-आ०, ब०, प०, स०। १० प्र०वा० ३।४२। ११ क्षणभङ्गादेः। १२ समारोपव्यवच्छेदः। १३ तस्यैव आ०, ब०, प०, स०। क्षणभङ्गादेरिव।

न हि किञ्चिदनिश्चिन्वत् युज्यते निश्चयात्मकम् ।
स्वापमूर्च्छाविरोधेऽपि सत्त्वस्यातिप्रसञ्जनात् ॥३७३॥
नाप्येवन्निर्णयात्मत्वं मानसस्याप्रसिद्धिमत् ।
यतः प्रज्ञाकरस्येदमस्मिन्नर्थे वचः स्थितम् ॥३७४॥
"इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात्पुरतः स्थिते ।
साक्षात्करणतस्तत्र प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥ [प्र० वार्तिकाल० २।२४३] इति
इदमित्येवमुल्लेखसामान्योऽन्यत्रापि निर्णयः ।
स चेदस्ति मनोऽध्यक्षे सिद्धं तन्निर्णयात्मकम् ॥३७६॥

तस्ये च तदात्मकत्वं नीलादावेव न क्षणक्षयादौ तदुल्लेखोपत्यात् । ततो गृहीतावग्रेपितस्य निश्चितावग्रेपितस्य च भागभागस्यैं भावाच्छ्रहणाय तन्निश्चयाय च प्रवर्तमानस्य प्रमाणान्तरस्य न वैफल्यमिति साधूक्तम्–'**सदसज्ज्ञान**' इत्यादि ।

यदि वा यदुक्तमन्यैः–'द्रव्यपर्याय' इत्याद्युक्तम्, विरोधात् । अन्वयो हि द्रव्यस्य स्वभावः व्यतिरेकश्च पर्यायस्य, तयोश्च लक्षणतो विरोधात् कथमेकत्वम् ? सामान्यविशेषयोश्च, तयोरपि सादृश्यवैसदृश्यरूपतया लक्षणतो विरोधस्य सुप्रसिद्धत्वात् । तत्कथं 'द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकत्वमर्थज्ञानयोर्यत्संवेदनं प्रत्यक्षम्' इति । तत्रेदमाह–'**सदसज्ज्ञान**' इत्यादि–सम्यक् सङ्करादिपरिहारेण अश्नोति व्याप्नोति स्वपर्यायानिति समञ्जं द्रव्यम्, इतरे व्याप्तिविपर्ययात् पर्यायाः । अथवा, समरूपतया अश्यते गम्यत इति समञ्ज 'तिर्यक् सामान्यम् । इतरे तद्रूपवैपरीत्याद् विशेषास्तेषां समञ्जेतराणां सम्प्लवः । समित्ययमुपसर्गः एकत्वे, 'समर्थः' इत्यादौ दर्शनात्, प्लवः संवेदनम्, गत्यर्थस्य धातोर्ज्ञानार्थत्वात् । तदयमर्थः–समञ्जेतराणां द्रव्यपर्यायाणां सामान्यविशेषाणां चैकत्वेन वेदनम् । केनेति चेत् ? प्रत्यक्षलक्षणेन । पूर्वश्लोकादनुवर्तमानस्य तृतीयापरिणामेन सम्बन्धात् । इदमत्र चेदम्पर्यम्–न द्रव्यादीनामप्रतिपत्तौ तत्रैकत्वप्रतिषेधनमुपपन्नम्, अप्रतिपन्नप्रदेशे मशकप्रतिषेधस्याऽप्रवेदनात् । प्रतिपन्ना एव द्रव्यादय इति चेत्, कुतस्तत्प्रतिपत्तिः ? प्रत्यक्षादिति चेत्, ततस्तर्हि–

अन्वितानन्वितत्वेन यथा भेदोऽवगम्यते ।
द्रव्यपर्याययोस्तद्वदभेदोऽप्यवसीयते ॥३७७॥
प्रत्यक्षेणोपलब्धोऽपि यथभेदो विरुध्यते ।
विरुध्येतैव भेदोऽपि तद्विशेषानवेक्षणात् ॥३७८॥
ततश्च भावनैरात्म्यप्रवादो दुस्त्यजो भवेत् ।
उपपत्तिर्न तत्रापीत्येतदग्रे वदिष्यते ॥३७९॥

---

१ नियमाप्यकत्वसद्भावस्य प्रसङ्गात् । सत्त्वस्यापि प्रस–आ, ब०, प०, स० । २ मनोऽध्यक्षस । ३ निर्णयात्मकम् । तदात्मत्वं आ०, स० । ४ –स्य च मा–आ०, ब०, प० । ५ बौद्धैः । तत्त्वसं० पृ० ११८, ३८९ । हेतुबि० टी० पृ० ९४ । ६ –रि तु–आ०, ब०, प०, स० । ७ –वैसार–आ०, ब०, प०, स० । ८ "अपरापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु"–परीक्षामु० ४।५ ।

कुतः पुनरेतदवगतम्—'द्रव्यपर्यायतादात्म्यं प्रत्यक्षतोऽवगम्यते' इति ? तत्राह—**सविकल्पाविनाभावी।** स तत्सम्प्लवो विशेषेण संशयादिव्युदासेन कल्पनं समर्थनं विकल्पो निर्णय इति यावत्, तदविनाभावी तन्नान्तरीयकः तदात्मकत्वात्। एतदुक्तं भवति—प्रत्यक्षप्रयुक्तो हि तत्सम्प्लवो निर्णयस्वभावः ततस्तस्य[1] तत्तादात्म्यावगमरूपत्वं स्वत एव निश्चितमिति किं तन्निश्चयार्थेन प्रमाणान्तरेणेति ? कथमेवं तत्र विप्रतिपत्तिः? न हि प्रत्यक्षत एव तत्तादात्म्यावगमे तत एव च तस्य[2] तद्विषयत्वनिर्णये तत्र कस्यचिद्विप्रतिपत्तिर्भवितुमर्हति निर्णयस्य विप्रतिपत्तिप्रत्यनीकत्वात्। दृश्यते च तत्रानेकधा विप्रतिपत्तिः प्रवादिनामिति चेत्; न; शास्त्रान्तरसंस्कारविकलानां तदभावात्[4]। न हि कुण्डलिनस्य प्रसारितस्य च पन्नगपतेरेकत्वे तद्विषयत्वे च प्रत्यक्षस्य तेषां विप्रतिपत्तिः सर्वेषां तत्रैकवाक्यत्वोपलम्भात्। तर्हि तान्प्रति शास्त्रमनर्थकमेव, स्वत एव विप्रतिपत्त्यभावे तन्निवर्तनस्य शास्त्रफलस्याभावादिति चेत्; न; तान्प्रत्यन्यपरत्वाच्छास्त्रस्य। ते हि कुतश्चित्प्रत्युत्पन्नशरीरेन्द्रियविषयनिर्वेदा मुमुक्षुतया मोक्षमार्गप्रश्नेन विदिततन्मार्गतत्त्वं देवं सप्रश्रयमुपपन्नास्तेन च सम्यग्ज्ञानं तन्मार्गमुक्ताः पृच्छेयुः 'किं तत् सम्यग्ज्ञानम्' इति ? तत्र सम्यग्ज्ञानव्यवहारविषयोपदर्शनाय तत्प्रसिद्धमेव द्रव्यपर्यायस्वभावपदार्थगोचरं प्रत्यक्षादिज्ञानं शास्त्रेणानूद्यत इति कथमनर्थकत्वं तस्य ? तत एव कैश्चिदुक्तम्—"प्रमाणानुवादः" [ ] इति। प्रवादिनां[5] तु विद्यन्त एव विप्रतिपत्तयः। न चैतावता स्वविषयनिर्णयस्वभावरहितमेव प्रत्यक्षम्, निर्णीतेऽपि विषये कुतर्काभियोगबलात् अन्तरङ्गादपि दोषोपप्लवात् मन्दप्रज्ञानां विप्रतिपत्तिविधानोपपत्तेः, अन्यथा सकलप्रतिपत्तृनिश्चयाधिष्ठाने बहिर्विषयादौ[7] विप्रतिपत्तिविरहाद् विज्ञानवादादिविकलं सकलं जगत्प्राप्नोति। तासां च विप्रतिपत्तीनां क्वचित् स्वमतानुरागविषमग्रहव्यापत्तिविकलेषु[8] तत एव वचनमात्रोपसूचितान्निर्णयात्मनः प्रत्यक्षान्निवृत्तिरिति मन्वानेनेदमभिहितम्—'**सविकल्पाविनाभावी**' इति। येषां तु बलवती स्वमतपक्षपातिनी मतिः तेषामपि तत एव प्रत्यक्षस्य[9] विकल्पाविनाभावित्वात् यथाविहितवस्तुनिर्णयस्वभावापरव्यपदेशाद् अनुमानव्यवस्थापिताद् विप्रतिपत्तिव्यावृत्तिः, न च निर्णयरूपत्वाविशेषात् अध्यक्षनिर्णयवत् अनुमाननिर्णयस्यापि विप्रतिपत्तिविषयत्वेन तदपरानुमानव्यवस्थायामनवस्थानम्; स्वप्रसिद्धनिदर्शनबलोपनीतत्वेनानुमाननिर्णयस्य अशक्यविप्रतिपत्तिमलोपलेपत्वात्। तच्चेदमनुमानम्—विवादाध्यासितं प्रत्यक्षम् अन्वयव्यतिरेकवद्वस्तुनिश्चयरूपं प्रत्यक्षत्वात्। किमत्र परप्रसिद्धमुदाहरणम् ? सदसज्ज्ञानप्रत्यक्षम्। तदाह—**'सदसज्ज्ञानविवेकतः'** इति। सच्च[10] गृहम् असच्च तद्विशेषणं देवदत्तादिवैकल्यं तयोर्ज्ञानं तस्य विवेकः प्रत्यक्षेण निर्णयः। ततस्तमुदाहरणत्वेनाश्रित्य सविकल्पाविनाभावीति। एकं हि प्रत्यक्षज्ञानं देवदत्ताभावतद्विशिष्टगृहविषयमुपजायमानं विशेषणप्रतिभासाद्विशेष्यप्रतिभासस्य तत्प्रतिभासाच्च विशेषणप्रतिभासस्य नीलपीतप्रतिभासवद् अर्थान्तरत्वादु-

---

१ प्रत्यक्षस्य। २ द्रव्यपर्यायतादात्म्य। ३ स्वस्य। ४ विवादाभावात्। ५ प्रवादिनाम्। ६ -ज्ञानस्य व्यव-आ०, ब०, प०, स०। ७ -यादौ प्रति-आ०, ब०, प०, स०। ८ -समतानु-आ०, ब०, प०, स०। ९ "प्रत्यक्षादिति पाठः"-ता० टि०। १० 'देवदत्ताभाववद् गृहम्' इत्यत्र।

प्रकारं परस्यापि प्रसिद्धम्। तथा च चित्रवस्तुनस्य वचनम्–"ततोऽपि विशेषणविशेष्यत्वेन प्रतिभासादभावगृहयोरेकज्ञानावलम्बनत्वम्" [ ] इति। यच्च[1] तदुभयप्रतिभासलक्षणाकारापेक्षया सव्यतिरेकम्, तदाकाराधिष्ठानसंवेदनापेक्षया तु सान्वयम् इत्यन्वयव्यतिरेकवद्वस्तुरूपमिति सिद्धं तद्विषयस्य स्वसंवेदनस्यान्यस्य वा प्रत्यक्षस्यान्वयव्यतिरेकवद्वस्तुनिर्णयरूपत्वमिति[2] साध्यावैकल्यमुदाहरणस्य।

अथवा, सामान्यविशेषज्ञानमत्र उदाहरणम्। तदाह–'सदसज्ज्ञानविवेकतः' इति। सीदति स्वविशेषव्यापकत्वेन गच्छतीति सत्, न सीदति विजातीयविशेषव्यापकत्वेन न गच्छतीत्यसत्। सच्चासावसच्च सदसत्[3] सामान्यविशेष इत्यर्थः। प्रसिद्धश्चायमर्थः परस्य। तथा च "सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्" [वैशे० सू० १।२।३] इति। अत्र भाष्यम्–"तदेकं गोत्वं बुद्धिवशात्सामान्यं विशेष इति[4] चोच्यते, अनुवृत्तबुद्धिहेतुत्वात्सामान्यं व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वाद्विशेषः।" [ ] इति। तस्य ज्ञानं तत्प्रत्यक्षं सदसज्ज्ञानं तस्य विवेको निश्चयः। तस्मादुदाहरणात् सविकल्पाविनाभावीति। तथा हि–

यत्सामान्यविशेषस्य व्यावृत्त्यनुगमात्मनः।
विनिश्चायकमध्यक्षं काणादस्य प्रसिद्धिमत् ॥१८०॥
तदुदाहरणादन्यदपि प्रत्यक्षमञ्जसा।
व्यावृत्त्यनुगमात्मार्थनिश्चयात्मं निबुध्यताम् ॥१८१॥

स्यान्मतम्–गोत्वस्यान्यस्य वा सामान्यरूपमेव वस्तुमत् न विशेषरूपं प्रभु परमुपचारात्, ततो न वस्तुसद्व्यावृत्त्यनुगमात्मनिर्णयरूपत्वं तत्प्रत्यक्षस्य। ततः साध्यवैकल्यमुदाहरणस्य, तथा च "द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च" [वैशे० सू० १।२।५] इति। अत्र भाष्यम्–"तत्र द्रव्यत्वमनेकवृत्तित्वादञ्जसा सामान्यं सत् व्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्वादौपचारिकीं विशेषाख्यामपि लभते" [ ] इति। तत्रेदमुच्यते–कः पुनरसौ विशेषो द्रव्यत्वे यस्योपचारः क्रियते? गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वमिति[5] चेत्, न; तस्य मुख्यस्यैव भावात्, अन्यथा तद्व्यावृत्तप्रत्ययस्यैवानुपपत्तेः प्रसङ्गात्, तस्य तद्विशेषनिबन्धनत्वात्। उपचारसिद्धात्तद्विशेषात्तत्प्रत्यय इति चेत्, न, तत्प्रत्ययाभावे तदुपचारस्यैवायोगात्। तदयं परस्पराश्रयः–व्यावृत्तप्रत्ययात् विशेषोपचारः, तदुपचाराच्च तत्प्रत्यय इति। यदि च द्रव्यत्वस्य गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वमौपचारिकम्, तदनुवृत्तत्वं तर्हि पारमार्थिकमिति गुणकर्मणामपि द्रव्यत्वोपपत्तेः मुख्यवस्थितो द्रव्यादिभेदः स्यात्। पृथिव्यादिष्वनुवृत्तिरेव

१ देवदत्ताभाववद् गृहमिति ज्ञानम्। २–ति न साध्यादिवै–भा०,ब०,प०,स०। ३ पृथिवीत्वादिकमित्यर्थः। ४ "अतः द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यं विशेषश्च भवति। एवं पृथिवीत्वरूपत्वोत्क्षेपणत्वपटत्वघटत्वादीनामपि प्राण्यप्रणिपातानामनुवृत्तिव्यावृत्तिहेतुत्वात् सामान्यविशेषभावः सिद्धः।"–प्रश० भा० पृ० ३१५। ५ चोच्यते भा०,ब०,प०,स०। "एतानि तु द्रव्यत्वादीनि प्रभूतविषयत्वात् प्राधान्येन सामान्यानि, स्वाश्रयविशेषकत्वाद्भक्त्या विशेषाख्यानीति।"–प्रश० भा० पृ० ३११। ६ गुणकर्मभ्यां द्रव्यं व्यावृत्तमिति प्रत्ययस्य। ७ गुणकर्मव्यावृत्तिनिबन्धनत्वात्। ८ द्रव्यत्वानुगमस्य।

तस्य गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तिर्नापरेति चेत्; गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तिरेव तस्य पृथिव्यादिष्वनुवृत्तिर्नापरेत्यपि कस्मान्न स्यात्? अनुवृत्तप्रत्ययेन पृथगेवानुवृत्तेर्व्यवस्थापनादिति चेत्; न; व्यावृत्तप्रत्ययेनापि पृथगेव व्यावृत्तेर्व्यवस्थापनप्रसङ्गात्। व्यावृत्तप्रत्ययोऽपि नापरोऽनुवृत्तप्रत्ययात्। तथा च भाष्यम्–"कः पुनर्द्रव्यत्वनिमित्तो द्रव्यस्यानुवृत्तप्रत्ययः? 'द्रव्यं द्रव्यम्' इति। व्यावृत्तप्रत्ययोऽपि स एव" [ ] इति। तत्कथमसिद्धादेव व्यावृत्तप्रत्ययात् पृथग्व्यावृत्तेर्व्यवस्थापनमिति चेत्; न; वचनमात्रात् तत्प्रत्ययापलापस्य दुरुपपादत्वात्, अनुवृत्तप्रत्ययस्याप्यपलापस्य प्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्–कः पुनः द्रव्यत्वनिमित्तः पृथिव्यादिषु व्यावृत्तप्रत्ययः? रूपाद्युत्क्षेपणादिविलक्षणाः पृथिव्यादय इति, द्रव्यमित्यनुवृत्तप्रत्ययोऽपि स एव, इति। पृथगेवानुवृत्तप्रत्ययोऽनुभूयत इति चेत्; न; व्यावृत्तप्रत्ययस्यापि पृथगेवानुभवात्। व्याहतञ्चैतत्–अनुवृत्तप्रत्ययस्यैव व्यावृत्तप्रत्ययत्वमिति, नीलप्रत्ययस्यैव तदपरसकलपदार्थप्रत्ययत्वप्रसङ्गात्, एवञ्च सर्वस्य सर्ववेदित्वमुपायाभियोगनिरपेक्षमेव[1] भवेत्। नीलात् तदपरसकलपदार्थजातस्य अर्थान्तरत्वान्नायमतिप्रसङ्ग इति चेत्; अनुगमाद्व्यावृत्तेरनर्थान्तरत्वं कस्मात्? अनुगमप्रत्ययस्यैव व्यावृत्तप्रत्ययत्वादिति चेत्; तदपि कस्मात्? अनुगमाद्व्यावृत्तेरनर्थान्तरत्वादिति चेत्; न; सुव्यक्तत्वात्परस्पराश्रयस्य[2]। न च विषयवशात् प्रतीतिव्यवस्था; प्रतीतेः प्राक् विषयस्यैवासिद्धेः। प्रतीतिश्चानुवृत्तप्रतिभासवती व्यावृत्तप्रतिभासवती च भिन्नाकारैवेति कथन्न ततस्तद्विषयभेदसिद्धिः। युगपद् बुद्धिद्वयं न प्रतिभासत इति चेत्; नीलपीतयोरपि युगपद्ग्रहणे बुद्धिद्वयं न प्रतिभासते एव। मा भूत् बुद्धिद्वयमिति चेत्; किं तर्हि स्यात्? एकैव बुद्धिरिति चेत्; सा यदि नीलविषयैव कुतः पीतप्रतिभासनम्? न कुतश्चिदिति चेत्; न; नीलेऽप्यपरापरावयवानामेकावयवग्रहणेनाऽग्रहणप्रसङ्गात् अखण्डैकावयवग्रहणमेवावशिष्येत[3]। न च तस्योपलब्धिरिति प्रतिविषयज्ञानभेदवादिनां निःशेषप्रतीतिविलोप एव स्यात्। अवयविप्रतीतेः नैवमिति चेत्; न; अवयवाप्रतीतौ तदप्रतीतेः। अतिबहलान्धकारवेलायामप्रतीतावयवैवावयविप्रतीतिरिति[4] चेत्; न; तदापि मध्यपार्श्वादिभागप्रतिपत्तेरवश्यम्भावात्, अन्यथा पशुमनुष्यादिविभागापरिज्ञानप्रसङ्गात्। अस्ति च तदवस्थायां तत्परिज्ञानम्। तन्न अवयवप्रतिपत्तिविकला क्वचिदप्यवयविप्रतिपत्तिरिति दुरपवाद एव सकलप्रतीतिविलोपः प्रत्यर्थनियतज्ञानवादिनाम्।

अस्तु तर्हि नीलबुद्धिरेव पीतविषयेति चेत्; न; नीलाभिमुखेनैव रूपेण तस्यास्तद्विषयत्वविरोधात्, तदपरनिरवशेषपदार्थविषयत्वातिप्रसङ्गस्याभिहितत्वात्।

एतेन तारानिकुरम्बस्यैकज्ञानवेद्यत्वं प्रत्युक्तम्; एकज्ञानस्यैकताराभिमुखेनैव रूपेण तारान्तरविषयत्वानुपपत्तेः। तथा च सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनम् अनेकत्वात् तारानिकुरम्बवदिति न निदर्शनम्, साध्यविकलत्वात्। अस्त्येव तर्हि पीताभिमुखमपि रूपं तद्बुद्धे-

१ अनायासम्। २ अनुगमप्रत्ययस्यैव व्यावृत्तप्रत्ययत्वे अनुगमाद् व्यावृत्तेरनर्थान्तरत्वम्, तस्मिंश्च अनुगमप्रत्ययस्य व्यावृत्तप्रत्ययत्वमिति। ३ अखण्डैकावयवस्य। ४–वयवावय–आ०, ब०, प०, स०। ५–गप्रतीतेर–आ०, ब०, प०, स०। ६–गादिपरि–आ०, ब०, प०, स०। ७ नीलादिमुखे–आ०, ब०, प०, स०।

रिति चेत्, सिद्धं तर्हि द्रव्यत्वादिसामान्यप्रत्ययस्यापि अनुवृत्तस्याभिमुखात्वन्यथैव व्यावृत्तस्याभिमुखं रूपम्, अन्यथा तस्य तद्विषयत्वायोगादिति न सर्वथा अनुवृत्तप्रत्ययादर्थान्तरमेव व्यावृत्तप्रत्ययः, तथात्वे वा "गोत्वमनुवृत्तबुद्धिहेतुत्वात् सामान्यम्" [ ] इत्येतदेव भाष्यमर्थवत् सामान्यस्य तद्बुद्धेश्च तद्विषयस्य भावात्, "व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वाद्विशेषः" इति तु नार्थवत् विशेषस्य तद्बुद्धेश्च तद्विषयस्याभावात्। अनुवृत्तादिभाष्यस्यैव व्यावृत्तादिभाष्येण व्याख्यानमिति चेत्, न, अवाचकत्वात्। न ह्यनुवृत्तप्रत्ययपदार्थयोः व्यावृत्तप्रत्ययपदे[3] वाचके। न चावाचकेन व्याख्यानम्, तस्य व्यामोहनत्वात्, ततः प्रत्ययभेद एव भाष्यमेवोपपत्तिर्नान्यथा। तदयम् 'अनुवृत्तबुद्धि' इत्यादिना भाष्येण अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्यययोर्भेदमाचक्षाण एव 'कः पुनः' इत्यादिना तयोरभेदमेवाचष्ट इति कथमनुन्मत्तः आप्तेयः? तत्र व्यावृत्तरूपस्य विशेषस्योपचारः। एकवृत्तित्वं विशेषो द्रव्यत्वस्योपवर्ण्यते "एकवृत्तिर्विशेषः" [ ] इति तल्लक्षणादिति चेत्, न, तस्यापि मुख्यस्यैव भावात्। अनेकवृत्तिनि कथमेकवृत्तित्वमिति चेत्? न, तस्य प्रत्येकं कुण्डवत् अनेकवृत्तिनि सम्भवप्रमाणसिद्धत्वात् अवधृतस्यासिद्धिरेव, न ह्यनेकवृत्तिन 'एकवृत्तित्वमेव' इत्यवधृतमेकवृत्तित्वं सिद्धमिति चेत्, कः पुनरवधारणार्थः? व्यावृत्तिरन्यत इति चेत्, सैव तर्हि विशेषो नैकवृत्तित्वमात्रम्, सा चैकवृत्तिवदनेकवृत्तिष्वपि भवन्ती विशेषः कस्मान्न भवेदविशेषात्? एकवृत्तित्वोपाधिरेव सा विशेषव्यपदेशाय कल्प्यते नानेकवृत्तित्वोपाधिकेति चेत्, कुत एतत्? सत्तासामान्ये सत्यामपि तस्यां विशेषव्यपदेशादर्शनादिति चेत्; न, द्रव्यत्वादिषु विशेषव्यपदेशस्य तत एव दर्शनात्। ततो न विशेषोपचारस्य किञ्चित्प्रयोजनं मुख्यत एव विशेषात्तत्प्रत्ययानां निष्पत्तेः। तस्मान्मुख्यत एव द्रव्यत्वे अनुवृत्तव्यावृत्ताकारद्वितयोपपत्तौ तत्प्रत्यक्षस्य अन्वयव्यतिरेकवद्वस्तुनिश्चयरूपत्वेन साध्यवैकल्यानुपपत्तेः उपपन्नमेतत् 'अन्वयव्यतिरेकवद्वस्तुनिश्चयस्वरूपं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वात्, द्रव्यत्वसामान्यविशेषप्रत्यक्षवत्' इति। न चेदनुमानत्वम् अप्रसिद्धमुदाहरणम् द्रव्यत्वस्याप्रत्यक्षविषयत्वात्, अन्यथा अनुमानेन तत्प्रसाधनावैफल्यादिति, "प्रत्यक्षत्वेऽपि तस्य दृढनिर्णयार्थमनुमानमिति परैरभ्युपगमात्। तथा च भाष्यम्–"भवतु वा द्रव्यत्वं प्रत्यक्षं तथाप्यनुमानोपन्यासः दार्ढ्यार्थं इत्यदोषः" [ ] इति।

अथवा, संशयप्रत्यक्षम् अत्रोदाहरणम्, तदाह–'संवादविसंवादविवेकतः' इति। संवादविषयत्वात् संवादो बोधस्वभावः विसंवादो विशेषः, तद्विषयत्वात्तद्धर्मौ संवादविसंवादौ अवधारणानवधारणस्वभावौ, संवादविसंवादौ बोधनिष्ठौ निर्णयानिर्णयधर्मौ तयोर्विवेकः तत्प्रत्यक्षेण निश्चयः तस्मात् सविकल्पाविनाभावीति। तथा च प्रयोग –प्रत्यक्षम्

१ व्यावृत्तप्रत्ययस्य अनुवृत्तप्रत्ययाभिन्नत्वे अनुवृत्तप्रत्यये एव अवशिष्यमाणे। २–व्यावृत्तबुद्धिवचने पदे आ०, ब०, प०, स०। ३ "प्रथमाद्विवचनम्"–ता० टि०। ४ एकवृत्तित्वरूपविशेषत्वादि। ५ प्रत्येके पदार्थस्तेनैक–आ०, ब०, प०, स०। ६ मन्यती व्यावृत्तिः। ७ भवन्ति वि–आ०, ब०,प०,स०। ८ अन्यती व्यावृत्ति। ९ अन्यती व्यावृत्ती। १० प्रत्यक्षेऽपि आ०, ब०, प०, स०। ११ –र्मेणौ धर्मौ आ०, ब०,प०, स०।

अन्वयव्यतिरेकवद्वस्तुनिर्णयरूपं प्रत्यक्षत्वात् संशयप्रत्यक्षवत्। अन्वयवत्त्वञ्च संशयवस्तुनो बोधरूपेण तस्य व्यतिरेकस्वभावव्यापित्वात्, व्यतिरेकवत्त्वञ्च निर्णयानिर्णयरूपाभ्यां तयोः परस्परतो व्यावृत्तेः। प्रसिद्धं चैतत्परस्यापि। तथा च संशयलक्षणसूत्रे[1] भाष्यम्–"तत्राय-मूर्द्धतासामान्यविशिष्टस्य धर्मिणोऽवधारणं निर्णयः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विशेषानवधारणं संशयः, एक एव प्रत्ययः।" [ ] एकस्यावधारणानवधारणात्मकत्वानुपपत्तिरिति चेत्; दृष्टत्वादप्रतिषेधः। दृष्टमिदम्–एकं ज्ञानं सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनोऽवधारणं तद्विशेषा-नवधारणात्मकं यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। दृष्टस्य चापह्नवो न युक्त इति। तत्र संशय-प्रत्यक्षस्य साध्यविकलत्वम्।

आदर्शमुखज्ञानप्रत्यक्षम् अत्रोदाहरणम् अनेनैव प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्। तत्रापि संवादनविषये मुखज्ञाने परस्परप्रत्यनीकतया विसंवादविषययोः सम्यङ्मिथ्याप्रतिभासयोः तत्प्रत्य-क्षेण निश्चयतः साध्यवैकल्यदोषानवकाशात्। प्रयोगश्चात्र–'प्रत्यक्षम् अनुगमव्यतिरेकात्मक-वस्तुनिर्णयस्वभावं प्रत्यक्षत्वात् आदर्शमुखज्ञानप्रत्यक्षवत्' इति। 'आदर्शमुखज्ञानमनुगम-व्यावृत्तरूपम्' इत्यविप्रतिपत्तिस्थानमेव वैशेषिकस्य। सम्यङ्मिथ्याप्रतिभासयोः परस्पर-व्यावृत्तयोर्बोधात्मना तेन व्याप्तेः स्वशास्त्रप्रसिद्धत्वात्। तथा च "आत्मेन्द्रियार्थसन्नि-कर्षात्"[3] इत्यादौ भाष्यम्–"तत्रादर्शादिषु[4] मुखम्' 'अभिमुखं मुखम्'इति च भ्रान्तः[5] प्रत्ययो मुखमित्येतावता सम्यक्" इति। ततः स्थितम् अनन्तरोक्तादनुमानात् परप्रसिद्धनिदर्शन-बलोपबृंहितात् प्रत्यक्षस्य विकल्पाविनाभावित्वनिश्चये तदेवोपवर्णितस्वभावं समक्षेतरसम्प्लव-मवस्थापयत्[6] प्रवादिनां विप्रतिपत्तिमलं प्रक्षालयितुं क्षमत इति। तन्न प्रत्यक्षस्य निश्चयात्म-कत्वेऽपि प्रमाणान्तरशब्दान्तरवैफल्यम्, भावस्य सांशत्वेन प्रत्यक्षापरिच्छिन्नस्यापि तद्भागस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः[7], प्रत्युत निरंशवस्तुवादिनामेव तद्वैफल्यं विषयाभावात् प्रत्यक्षेणैव सर्वात्मना भावस्य परिच्छेदात्। न भावपरिच्छेदात् प्रमाणान्तरस्यानुमानस्य शब्दस्य वा साफल्यम् अपि तु समारोपव्यवच्छेदादिति चेत्; कोऽयं समारोपो नाम? अतस्मिन् तदध्यवसायी विकल्प इति चेत्; ननु न तस्य निर्विकल्पकमेव रूपम् "अभिलापसंसर्ग"[8] [न्यायवि० पृ० १३] इत्यादिवचनस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। नापि[9] विकल्पकमेव; "सर्वचित्तचैत्तानाम्"[10][न्यायवि० पृ० १९]"इत्यादिवचनव्यापत्तेः। उभयरूपत्वे च तद्भेदेन तदात्मनो ज्ञानस्य भेदो वा स्यात्; अभेदो वा? यद्यभेदः; तदानीम् अक्रमवत् क्रमेणापि सत्यपि विरुद्धधर्माध्यासे भावस्य कथञ्चि-देकत्वमविरुद्धं भवेत्। वक्ष्यते चैतत्–"विरुद्धधर्माध्यासेन स्याद्विरुद्धं न सर्वथा।" इति[11]।

---

१ "सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः।" –वैशे० सू० २।२।१७। २ आत्रेयकृतम्। ३ "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् यन्निष्पद्यते तदन्यत्।" –वैशे० सू० ३।१।१८। ४ तत्रादर्शनादि–आ०, ब०, प०, स०। ५ मुखमिदं च भ्रा–आ०, ब०, प०, स०। ६ –यन् प्र–आ०, ब०, प०, स०। ७ प्रमाणान्तरशब्दान्तरविषयतोपपत्तेः। तद्विषयोप–आ, ब०, प०। ८ "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना"–न्यायवि०पृ० १३। ९–पि निर्विक–आ०,ब०,प०,स०। १० "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम् (स्वसं-वेदनम्)" –न्यायवि० पृ० १९। ११ न्यायवि० श्लो० १२६।

तथा च यदेकत्वज्ञानम् अविपरीतार्थविषयत्वात् कथमध्यारोपः ? यतोऽनुमानात्तद्व्यवच्छेदः, तदभावे च कथं तस्य प्रामाण्यम् ?

विरुद्धधर्माध्यासेऽपि निर्विकल्पेतरात्मना ।
तदात्मनश्चेद्बोधस्याभेद एव प्रतीतितः ॥३८२॥

तद्वदेव क्रमेणापि प्रतीतेरनुपप्लवात् ।
विरुद्धधर्माध्यासेऽपि भावैकत्वं न दुष्यति ॥३८३॥

एकत्वज्ञानमेवं चाविपरीतार्थगोचरम् ।
अध्यारोपः कथं यस्य व्यवच्छेदोऽनुमानतः ॥३८४॥

नाध्यारोपव्यवच्छेदात्तत्रापि वस्तुग्रहात्तव ।
प्रामाण्यमनुमानस्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ॥३८५॥

एतदेवाह 'एकत्र' इत्यादिना[2]—

[एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणलेक्षणे ।
अतद्धेतुफलापोहे कुतस्तत्र विपर्ययः ॥ ५॥]

एकत्र एकत्वे '[3]बुद्धेः' इति शेषः । भावप्रधानश्च निर्देशः । तस्मिन् किम् ? इत्याह–अनन्तकार्यकारणता । कारणं प्रमाणमित्यर्थः । "हेतुरपदेशो लिङ्गं निमित्तं प्रमाणं कारणमित्यनर्थान्तरम्" [वैशे० सू० ९।२।४] इति वैशेषिकाणां सूत्रदर्शनात् । कारणस्य भावः कारणता, प्रामाण्यमिति यावत् । तत्प्रतिषेधोऽकारणता प्रामाण्याभाव इत्यर्थः । कस्य ? अनन्तकारिणः । अन्तो विनाशः, प्रकृतत्वात् समारोपस्येति गम्यते, तं करोतीति शीलं तत्कारि न तत्कारि अनन्तकारि तस्य अनुमानस्येत्यर्थः । अनुमानप्रामाण्याभावसाधने साधनमेतद् द्रष्टव्यम् । तदयमर्थो भवति–न समारोपव्यवच्छेदेन प्रामाण्यमनुमानस्य तत्र तस्यासाधकत्वमत्वात्[4] । तदेव कस्मादिति चेत् ? व्यवच्छेद्यस्य समारोपस्यैवाभावात् । इदमेवाह–कुतस्तत्र विपर्ययः । तत्र बहिरन्तश्च भावेषु कुतः प्रत्ययात् विपर्ययः समारोपः, न कुतश्चित्, एकत्वप्रत्ययस्य विपर्ययत्वेनाभिप्रेतस्य सम्यग्ज्ञानत्वादिति भावः । कदा न विपर्ययः ? इत्याह–निर्णये निश्चये । कस्येत्यपेक्षायां सम्यक्चेत्यादिकमिह पञ्चम्यन्तमभिसम्बन्धनीयम् । तदयमर्थः–सम्यगेतरसम्प्लुतस्य समस्तस्य द्रव्यस्य इतरेषु पर्यायेषु सन्नित्येकत्वेन च प्लुतस्य ज्ञानस्य निर्णय इति विकल्पाविकल्पाद्यक्रमपर्यायैकत्वज्ञानवत् क्रमभाविसुखदुःखादिनानापर्यायैकत्वज्ञानस्यापि तत्त्वज्ञानतया निश्चये नासौ समारोपः तदभावाच्च तद्व्यवच्छेदकत्वेनानुमानस्य प्रामाण्यमिति समुदायार्थः । तत्र द्वितीयो विकल्प उपपन्नः ।

---

१ अनुमानस्य । २ "एकत्र निर्णयेऽनन्तधर्मकारणलेक्षणे । अतद्धेतुफलापोहे कुतस्तत्र विपर्ययः ॥ इति वार्त्तिकम्" –ता० टि० । ३ बुद्धिरिति आ०, ब०, प०, स० । ४ –त्वादेव क–ता० । ५ –दकत्वेन आ०, ब०, प० स० ।

भवतु तर्हि प्रथम एव विकल्पो बोधाकारभेदे बोधभेदस्यावश्यम्भावित्वादिति चेत्; तत्रापि न निर्विकल्पकभागस्य समारोपत्वं तस्य यथावस्थितस्वरूपसंवेदनस्वभावत्वेन तत्त्वज्ञानत्वात्। तदभावे च कथं तद्व्यवच्छेदकत्वेनानुमानस्य प्रामाण्यम्? एतदेवाह–**ईक्षणे** निर्विकल्पकज्ञानभागे। किम्? अनन्तकार्यकारणतासमारोपव्यवच्छेदविकलस्यानुमानस्य न प्रामाण्यम्। कुत इति चेत्? **कुतस्तत्र विपर्ययः** विपर्ययाभावो यत इत्यर्थः। भवतु विकल्प भाग एव समारोप इति चेत्; कुतस्तस्य प्रतिपत्तिः? अप्रतिपन्नस्य भावे अतिप्रसङ्गात्, ज्ञानत्वानभ्युपगमाच्च। स्वसंवेदनादिति चेत्; तदपि न निर्विकल्पकम्; तस्य तस्मात्पृथक्कृतत्वात्। न हि पृथक्कृतं वेदनं स्वसंवेदनं नाम, अन्यवेदनाभावप्रसङ्गात्। अन्यत एव तस्य वेदनमिति चेत्; न; अन्यवेद्यत्वनियमे जडत्वप्रसङ्गात्, समसमयस्य अकारणत्वेनाविषयत्वाच्च। वेदनात् प्राक्समय एव विकल्पभाग इति [3]चेत्; तदा तर्हि परिज्ञानशून्यस्य कथं बोधत्वम्? स्वसंवेदनादिति चेत्; न; 'तदपि न निर्विकल्पकम्' इत्यादेः 'कथं बोधत्वम्' इति पर्यन्तस्य प्रसङ्गात्। पुनरपि स्वसंवेदनाद्बोधत्वमिति चेत्; न; अनवस्थावाहिनिश्चक्रकस्य प्रसङ्गात्। कारणत्वेऽपि अतदाकारेण न तस्य वेदनम्; साकारज्ञानवादस्य अनवसरत्वप्रसङ्गात्। आकारवत्त्वे तद्वेदनस्य पुनरपि विकल्पेतररूपत्वमेकैस्य विज्ञानस्य प्राप्तम्, न चैतदुपपन्नम् उक्तदोषत्वात्। पुनस्तदुभयाकारपृथक्काराभ्यनुज्ञाने तत्रापि 'न निर्विकल्पकभागस्य' इत्यादिकम् 'उक्तदोषत्वात्' इतिपर्यन्तमावर्त्तमानम् अनवस्थातरङ्गिणीमाकर्पतश्चक्रकस्योपनिपातकं भवेत्। तन्न स्वतस्तद्वेदनं निर्विकल्पकं यतस्तत्प्रतिपत्तिः, अप्रतिपन्नस्य समारोपस्यासत्त्वात् कथं तद्व्यवच्छेदकत्वेनानुमानस्य प्रामाण्यम्? एतदेवाह–**अतद्धेतु**। तत् स्वसंवेदननिर्विकल्पकं धत्ते आत्मनि धारयतीति तद्धः तस्मादन्यः अतद्धः स्वसंवेदनप्रत्यक्षरहितो विकल्पभाग इत्यर्थः, तस्मिन्। तुशब्दः अपिशब्दार्थः, न केवलं दर्शनभागे किन्तु अतद्धेऽपि विकल्पभागे। किम्? अनन्तकार्यकारणतासमारोपव्यवच्छेदविकलस्यानुमानस्य न प्रामाण्यम्। कुत एतदिति चेत्? **कुतस्तत्र विपर्ययः**। विपरीतारोपो न कुतश्चिदप्यवगम्यत यत इत्यर्थ। विकल्पकमेव तर्हि तस्य स्वतो वेदनमिति चेत्; न तर्हि तत्प्रत्यक्षम्, कल्पनापोढस्य तत्त्वात्, अन्यथा लक्षणस्याव्याप्तिदोषोपपत्तेः। नाप्यनुमानम्; विषयभेद एव तद्भावात्। न चाप्रमाणात् प्रतिपन्नस्य प्रतिपन्नत्वं प्रमाणकल्पनावैयर्थ्यात्। अपि च, विकल्पभागो नामाभिजल्पयोग्य आकारः, तस्य च सामान्यरूपत्वेनावस्तुत्वात् कथं स्ववित्तिफलत्वम्? अवस्तुनो निष्फलत्वात्। फलवत्त्वे वस्तुत्वापत्तेः। ततो न विकल्पकमपि तस्य स्वतो वेदनम्। अविदितस्य च असमारोपत्वात् कथं तद्व्यवच्छेदेनानुमानस्य प्रामाण्यम्। एतदेवाह–**फलापोहे**। फलमपोह्यते असम्बन्धित्वेन स्थाप्यते तस्मादिति फलापोहः सामान्याकारो विकल्पभागः तस्मिन्। किम्? अनन्तकार्यकारणतासमारोपव्यवच्छेदरहितस्य न प्रामाण्यम्? कुत इति चेत्? **कुतस्तत्र विपर्ययो**

१ ईक्षणे इति निर्विकल्पकभागे ज्ञान–आ०, ब०, प०,। २ ज्ञानाविषयत्वात्। ३ चेत्तथा तर्हि आ०, ब०, प०। ४ –कत्वस्य वि–आ०,ब०,प०, स०। ५ –पि तन्निर्वि–आ०, ब०, प०, स०। ६ प्रत्यक्षत्वात्। ७–दोषोपपत्तेः ब०, प०। ८–स्य तत्प्रा–आ०,ब०, प०।

विपरीतारोपो न कुतश्चिदभिधीयते यत इत्यर्थः । सत्यम् , विकल्पेतराकारयोर्वस्तुग्रहेणैं नानात्वं विकल्पान्तरोपनीतं तु तदभेदमाश्रित्य समारोपास्तित्वमास्थीयत इति चेत् , न , विकल्पान्तरस्यापि भ्रान्त्यारोपादसम्भवात् । तस्यापि विकल्पान्तरोपनीतत्वकल्पनायामनवस्थापत्तेः। तस्मात् समारोपव्यवच्छेदकारित्वेनानुमानं प्रमाणयता गृहीतेतरविरूपेण वस्तु सांशमभ्युपगन्तव्यम् , अन्यथा समारोपासम्भवेन तस्य तद्व्यवच्छेदकारित्वानुपपत्तेरिति 'एकत्र' इत्यादिवार्तिकतात्पर्यम् ।

अपि च, समारोपव्यवच्छेदो नाम तन्निवृत्तिमात्रम्, भावान्तरस्वभावो वा स्यात् ?

निवृत्तिमात्रं विच्छेदो यदि तैस्योपकल्प्यते ।
तदा तत्करणान्मानमनुमानं कथं भवेत् ? ॥२८६॥
अन्यथा स्वापमूर्च्छादेर्मानत्वं केन वार्यते ।
ततोऽपि वस्तुसमारोपनिवृत्तिर्न विशिष्यते ॥२८७॥
तैदाप्यारोपसद्भावाभ्यनुज्ञाने कथं भवेत् ।
चैतन्यशून्यस्वापादिर्विवादस्तत्रं तात्त्विकः ॥२८८॥
तत्तृतीयं प्रमाणं ते भवेत्स्वापादिसञ्ज्ञकम् ।
अचेतनत्वात् , यत्तस्य नान्तर्भावः प्रमाणयोः ॥२८९॥
प्रमाणसङ्ख्याव्याघातव्याघातेयमनुग्रहात् ।
कुर्वाणाः दुर्विदग्धत्वं कथमात्माभिरक्षणम् ? ॥२९०॥
भावान्तरं समारोपव्यवच्छेदो यदीष्यते ।
तदप्यज्ञानरूपं चेत् किन्न स्वापप्रमाणता ॥२९१॥
स्वापादपि यदज्ञान किञ्चिद्वस्तूपजायते ।
ज्ञानकरणाद्भेदश्च स्वापानुमानयोः ॥२९२॥
तत्त्वज्ञानस्वभावश्चेत्तत्रापि द्वैतकल्पनम् ।
तत्त्वज्ञानमनुमानं तत्, यद्वा तस्मात्परं भवेत् ? ॥२९३॥

अनुमानमेव तत्त्वज्ञानमिति चेत् , अत्राह –

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।
अतद्धेतुफलापोहे कुतस्तत्र विपर्ययः ॥५॥ इति ।

कुतः ? कस्मात् । तत्र तेषु भावेषु । विपर्ययो विपरीतारोपः ? न कुतश्चित् । स हि न तावभिन्नस्वभावविषयः सम्भवति । कदा न सम्भवति ? इत्याह–'अनन्त' इत्यादि ।

---

१ –रधीयत इ–आ०, ब०, प०, स० । २ अनुमानस्य । ३ समारोपस्य । ४ तत्करणमस्मा– आ० ब०, प०, स० । ५ तदासमारोप–आ०, ब०, प० । स्वापादावस्थायाम् । ६ "पाठप्रमस्य विरामं प्रबोधे पूर्वदेशस्य । पठते व्यवधानेन कर्मेणेति विनिश्चितम् ॥"–प्र० वार्तिकाल० ११२९ । ७ बोधस्य । ८ कुर्वतां दुर्विदग्धत्वं आ०, ब०,प०,स० । ९ अज्ञानकरण–आ०, ब०,प०,स० । १० समारोपव्यवच्छेदात्मकं भावान्तरं तत्त्वज्ञानरूपञ्चेत्, तदा विकल्पद्वयं भवति ।

अन्तशब्दोऽत्रावधिवाची, स च द्विधा-पूर्वान्तः परान्तश्चेति । न विद्येते अन्तौ ययोस्ते अनन्ते, कार्यं च कारणं च कार्यकारणे, पुनरस्य अनन्तशब्देन कर्मधारयः-परान्तरहितत्वात् अनन्तं कार्यम्, पूर्वान्तरहितत्वादनन्तं कारणम्, तयोर्भावोऽनन्तकार्यकारणता, अनादेः कारणप्रबन्धस्य अनन्तस्य च कार्यप्रवाहस्य भाव इति यावत् । तस्या ईक्षणमनुमानम्, तस्या-प्युक्तन्यायेन वस्तुविषयत्वात् ईक्षणव्यपदेशविषयत्वोपपत्तेः । यद्येवमीक्षणस्य विकल्पाविरोधात् भवत्येव सत्यपि तस्मिन् विपर्यय इति चेत्; अत्राह-**निर्णये** निश्चयात्मनि तदीक्षणे न निर्विकल्पे अनुमानस्य निर्विकल्पत्वाभावात् । प्रतिसमारोपं तद्व्यवच्छेदकानुमानभेदाभ्युपगमेन यदि **'कुतस्तत्र विपर्ययः'** इत्युच्यते, तदा सिद्धसाधनमिति चेत्; अत्राह-**एकत्र** एकस्मिंस्तदीक्षण इति । तदयमर्थः-यथा तदहर्जातप्रथमचित्तगोचरं कुतश्चिद् व्याहारादिविशेषाल्लिङ्गा-दुपजायमानमनुमानं तच्चित्तस्वरूपस्य चेतनत्वस्य निश्चयात् तद्गतमचेतनत्वसमारोपं व्यवच्छि-नत्ति तथा खण्डशस्तन्निश्चयानङ्गीकारादन्यस्यापि तत्स्वरूपस्य हेतुमत्त्वसजातीयहेतुकत्वशरीराद्य-नुपादानत्वादेस्तेनैव[४] निश्चयात् अहेतुकत्वविजातीयहेतुकत्वशरीराद्युपादानत्वादिसमारोपाणामपि तत एव व्यवच्छेदोपपत्तेः, यदुक्तम्-**"आद्यं चित्तमहेतुकं न भवति कादाचित्कत्वात् घटवदिति[६] । तथा[७] तच्चित्तं प्राक्तनचित्तप्रभवं चित्तत्वात् अवलग्नचित्तवदिति, तथा यस्मिन्नविकृतेऽपि यद्विक्रियते न तत्तदुपादानं यथा गव्यविकृतेऽपि विक्रियमाणो गवयो न गवोपादानः, विक्रियते चाविकृतेऽपि शरीरादौ चित्तम्" [ ]** इति, तद्वदन्यदपि तथाविधमनुमानं तत्सर्वं व्यवच्छेद्याभावेन व्यवच्छित्तिफलविकलत्वादनर्थकमेव । तथा तेन[१०] तस्य हेतुमत्त्वं निश्चिन्वता यदपेक्षमस्य हेतुमत्त्वं तदपि प्राक्तनं चित्तं निश्चेतव्यम् । [११]तन्निश्चयाभावे तदपेक्षस्य तद्धेतुमत्त्वस्य निश्चयायोगात् । तथा च स्वयमुक्तम्-

"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इति ।

तदपि निश्चीयमानं हेतुमदेव निश्चीयते इति तद्धेतुभूतमपि प्राक्तनं चित्तं तेनैव[१२] निश्चेतव्यम् । एवं तावद्वक्तव्यं [१३]यावदनादिस्तद्धेतुप्रबन्धस्तेनैव निश्चितो भवति, तथा चादि-मत्संसारसमारोपव्यवच्छेदस्यापि तत एव भावात् न तदर्थमनुमानान्तरे प्रयतितव्यमिति । एतद् अपूर्वान्तकारणेक्षणग्रहणेन दर्शयति ।

१-स्यानवसान -आ०, ब०, प०, स० । २ अनुमानस्यापि । ३ चित्तनिश्चय । ४ अनुमानेन । ५ अनु-मानादेव । ६ द्रष्टव्यम्-प्र० वा० २।२४ । ७ "तस्मात्तत्रादिविज्ञानं स्वोपादानबलोद्भवम् । विज्ञानत्वादिहेतुभ्य इदानीन्तनचित्तवत् ॥" -तत्त्वसं० श्लो० १८९७ । ८ "अविकृत्य हि यद्वस्तु यः पदार्थो विकार्यते । उपादानं न तत्तस्य युक्तं गोगवयादिवत् ॥" -प्र० वा० १।६१ । "यत्पुनर्वस्त्वविकृत्यैव यद्विकार्यते न तत्तदु-पादानं यथा गवयमविकृत्य गौर्विकार्यमाणः । अविकृत्य च शरीरं मनोमतेरनिष्टाचरणादिना दुर्मनस्कतादिलक्षणस्य विकारस्योपादानं क्रियते ।"-तत्त्वसं० प० पृ० ५२८ । ९-दनर्थमेव स० । १० आद्यचित्तस्य । ११ प्राक्तन-चित्तनिश्चयाभावे । १२ तेनैवं नि-स० । १३ यावदनादिसद्धेतु-आ०, ब०, प०, स० ।

तथा मरणचित्तस्य कुतश्चिदनुमानं यथा तच्चैतन्यं निश्चिन्वत् तदचेतनत्वसमारोपं व्यवच्छिनत्ति, तदुक्तेन न्यायेन तदपरस्वरूपस्यापि भाविचित्तप्रतिसन्धायित्वादेस्तेनैव निश्चयात् तदप्रतिसन्धानादिसमारोपस्यापि तत एव व्यवच्छेदोपपत्तेर्न तदर्थम् स्वचित्तचरमक्षणसमग्रकारण लिङ्गोपनिबद्धप्रसवं भाविचित्तानुमानं स्वभावानुमानतया परैरभ्युपगम्यमानमर्थवत्तां प्रतिलभते, चित्तान्तरप्रतिसन्धायित्वमपि तेन तस्य निश्चिन्वता तदपि चित्तान्तरं निश्चेतव्यम्, निश्चयमन्तरेण तत्प्रतिसन्धायित्वनिश्चयायोगात्, तदपि निश्चीयमानं तदपरचित्तप्रतिसन्धाय्येव निश्चीयेत इति तत्प्रतिसन्धेयमपि चित्तं तेनैव निश्चेतव्यम्, एवं तावदभिधातव्यं यावदनन्तस्य प्रतिसन्धेयचित्तप्रबन्धस्य तेनैव निश्चयः फलो भवति। तथा च संसारपर्यवसायसमारोपस्य तत एव व्यवच्छेदान्न तदर्थमनुमानान्तरमास्थातव्यम्, इत्येतत् पर्यन्तरहितकार्यक्षणग्रहणेन दर्शयति।

ननु कारणात्समग्रादेव कार्यं न तद्विपरीतात्, ततः सम्भवत्यपि कार्यप्रबन्धस्य पर्यवसायः, तत्कथमपर्यन्तरहितत्वं तस्येति चेत्; न, तस्य पर्यवसायित्वे सन्तानावस्तुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तन्नैकस्मिन् चित्तसन्ताने साफल्यमनुमानभेदस्य, तद्गतसकलसमारोपव्यवच्छेदस्यैकस्मादेव सिद्धत्वात्। सन्तानान्तरेषु साफल्यं तद्भेदस्येति चेत्, अत्राह—असद्धेतुफलापोहे। हेतवश्च फलानि च हेतुफलानि, तानि विवक्षितानि हेतुफलानि येषां ते तद्धेतुफलप्रकसन्तानक्षणाः। तदन्ये पुनः असद्धेतुफलाः तेषामपोहः, अपोह्यन्ते ते येन सोऽपोहो निर्णयः तदपोहस्तस्मिन् सति। कुतो न कुतश्चित् तत्र तेषु सन्तानान्तरेषु विपर्ययो विपरीतारोपो यतः तद्व्यवच्छेदार्थमनुमानबहुत्वमिति। तात्पर्यमत्र—एको हि चित्तसन्तानः कुतश्चिदनुमानाभिधीयमानः तदपरभावापोहरूपत एव निश्चेतव्यः तस्य "तद्रूपत्वात् अपोहनिश्चयस्य भावापोहनिश्चया विनाभावात् एकानुमाननिश्चेयत्वं" सर्वभावानां" न्यायबलायातमित्येकानुमाननिश्चयादेव निरवशेषस्यापि "वस्तुभावगतारोपनिकुरम्बस्य व्यवच्छेदात् चिरं पर्यालोचयन्तोऽप्यनुमानभेदस्य साफल्यमुत्पश्यामः। तत्र तदेवानुमानं तत्त्वज्ञानं यत्समारोपव्यवच्छेदात्मस्याव्यं भवेत्। ननु अनुमानस्य समारोपव्यवच्छेदं प्रति कारणत्वात् "तस्माद्धर्मान्तरत्वमेवं (व) तत्कथं 'तत्राऽनुमानं तद्व्यवच्छेदः' इति विकल्पोत्थापनम्, तद्भेदे एवास्योत्थापनोपपत्तेरिति चेत्? न, क्रियाकारकयोः प्रदीप-तमोऽपहारयोरिव अनर्थान्तरत्वस्य "परं प्रत्यपि प्रसिद्धत्वेनावोपात्।

यथोक्तम् 'अन्यद्वा तत्त्वज्ञानं तद्व्यवच्छेदः' इति विकल्पानुपपत्तिः, अन्यत्वे क्रियाकारकभावस्यानुपपत्तेरिति चेत्, मा भूत् क्रियाकारकभावापेक्षया तद्विकल्पोत्थापनम्, कार्यकारणभावापेक्षया तस्योत्थापितत्वात्, तद्भावस्य च भेद एव परं प्रति प्रसिद्धत्वात्।

---

१ निरिचतत्वात् आ०,ब०,प०,स०। २ अनुमानात्। ३ चैतं। "मरणक्षणचित्तस्य स्योपादेयोदयभ्रमम्। रागिणो हीनसद्भावात् पूर्वविज्ञानवत्तथा॥"—तत्त्वस० श्लो० १८९९। ४ मरणचित्तस्य। ५ पर्यासारसन्ततस्य। ६—न्ताननाश—आ०,ब०,प०,स०। ७ अनुमानभेदस्य। ८—जनि विच—स०। ९—नि वि—आ०,ब०,प०,स०। १० विवक्षितचित्तसन्तानस्य। ११ तदपरभावापोहरूपत्वात्। १२—स्वापी—आ० ब०,प०,स०। १३—निश्चयत्वम् स०। १४—नां ज्ञानबला—आ०,ब०,प०,स०। १५—वस्तुस्वारो—आ०,ब०,प०,स०। १६ समारोपव्यवच्छेदात्। १७ वीरं प्रति। "क्रियाकारकयोरैक्यविरोध इति चेदसत्। धर्मभेदाभ्युपगमाद्वस्त्वभिन्नमितीष्यते॥"—प्र०वा०२।३१८।

भवतु तर्हि तत्त्वज्ञानमन्यदेव तद्व्यवच्छेद इति चेत् ; तदप्यनुमानान्तरम् , प्रत्यक्षं वा स्यात् ? अनुमानान्तरमिति चेत् ; न ; प्रथमानुमानापेक्षया तस्य विशेषाभावात् । इदमेवाह –'**कुतस्तत्र विपर्ययः**' इति । तत्र द्वितीयेऽनुमाने । कुतः ? न कुतश्चित् प्रथमानुमानापेक्षया वैपरीत्यम्, तस्मादविशेष इति यावत्। निर्णयो विशेष इति चेत् ; न; [1]तस्य प्रथमानुमानेऽपि भावात्। [2]तदाह–'**एकत्र निर्णये**' इति। **एकत्र** प्रथमानुमाने, गणनकाले प्रथमस्यैवैकशब्देन व्यपदेशदर्शनात् । **निर्णये** निश्चये सति '**कुतः**' इत्यादि सम्बन्धनीयम् । समारोपव्यवच्छेदो विशेष इति चेत्; न; तस्यापि प्रथमानुमानेऽपि भावात्। तदाह–'**अतद्धेतुफलापोहे**' । अतद्धेतुफलशब्देन अध्यारोपितमाकारमाह–तस्यैव स्वलक्षणं प्रत्यहेतुत्वादफलत्वाच्च तदपोहस्तद्व्यवच्छेदः तस्मिंश्च एकत्र सति 'कुतः' इत्याद्यभिसम्बन्धनीयम् ।

प्रथमस्यानुमानस्य द्वितीये चेदपेक्षणम् ।
अविशेषेऽपि तस्यापि तृतीये स्यादपेक्षणम् ॥३९४॥

चतुर्थे तस्य तस्यापि पञ्चमे पञ्चमस्य च ।
षष्ठे स्यादनवस्थानं कथमेवं[3] निवृत्तिमत् ? ॥३९५॥

इदमेवाह–'**अनन्तकार्यकारणतेक्षणे कुतस्तत्र विपर्ययः**' इति । अनन्तस्य अनवसानस्य अनुमानप्रबन्धस्य कार्यकारणता अपेक्ष्यापेक्षकता । सामान्यशब्दस्यापि प्रस्तावशाद्विशेषेऽपि प्रवृत्तेः। तस्या ईक्षणमुक्तेन न्यायेन दर्शनम्, तस्मिन् सति, कुतस्तत्र परमतेऽनवस्थानस्य प्रस्तुतत्वात् तन्निवृत्तिः विपर्ययः ? तन्न अनुमानान्तरमपि तत्त्वज्ञानं यत्समारोपव्यवच्छेदशब्दवाच्यं भवेत् ।

प्रत्यक्षमेव तर्हि तत्त्वज्ञानमिति चेत् ; तदप्यभ्यस्तात्, अनभ्यस्ताद्वानुमानात् भवेत् ? अनभ्यस्तादिति चेत ; न ; एकानुमानप्रसवसमय एव व्याधूतसमारोपनिरंशक्षणिकवस्तुदर्शने सति सकलप्रवृत्त्यादिव्यवहारविलयप्रसङ्गात् व्यवहारस्याध्यारोपनिबन्धनत्वात् । तदाह–'एकत्र' इत्यादि । **एकत्र** एकस्मिन्ननभ्यस्ते **निर्णये**ऽनुमाने सति तत्कार्यं यत् **अनन्तकार्यकारणतेक्षणम्** । अन्तोऽध्यारोपित आकारः । अम्यते व्याप्यत्वेन गम्यते क्षणप्रबन्धोऽनेनेति व्युत्पत्तेः, अनन्तं तद्रहितम्, तच्च तत्कार्यकारणतयोपादानोपादेयतयोपलक्षितमीक्षणं च दर्शनप्रवाहस्तस्मिन् **कुतस्तत्र** विवक्षिते विषये विविधं परि समन्तादयनं गमनं **विपर्ययः** सर्वः संसारव्यवहार इत्यर्थः । कदैषः ? इत्यत्राह–**अतद्धेतुफलापोहे** । तस्माद्विवक्षिताद्धेतोः फलं तस्याभिप्रायः तस्योहोऽभिनिवेशस्तदभावोऽतद्धेतुफलापोहः तस्मिन् सति । तात्पर्यमत्र–

1 निर्णयस्य । २ तदा श्लोक–आ०,ब०,प०,स० । ३ कथमेव निवृ–आ,ब०,प०,स० । ४ तस्यानु–आ०, –ब०, प० स० । ५ –वस्तुद्र–आ०, ब०, प०, स० । ६ तस्यापोहोऽभि–आ०, ब०, प०, स० ।

क्षणिकत्वानुमानाच्चेदभ्यासरहितादपि ।
एकत्वारोपनिर्मुक्तदर्शनप्रसवो भवेत् ॥३९६॥
आत्मदृष्टेस्तथा ध्रुवात्मस्नेहाच्च (स्नेहस्य) चाभयैः ।
तदभावे सुखार्थित्वं न भवेत्तन्निबन्धनम् ॥३९७॥
अनीक्षितसुखः कस्मादिदमस्मात्फलं भवेत् ।
इष्टमित्यभिसम्बन्धा यतस्तत्र प्रवर्तताम् ॥३९८॥
आद्य एव ततो मार्गो निर्वाणगमनं भवेत् ।
सकलक्लेशनिर्मुक्तज्ञानरूपं हि तत् मतम् ॥३९९॥

तत्र अभ्यासरहितादनुमानात् व्यावृत्तविपरीतारोपं प्रत्यक्षमुपपन्नम् । अभ्यासवत उपपन्नमेवेति चेत्, तदप्यस्मदादीनाम्, असन्निविशिष्टानां वा स्यात् ? अस्मदादीनामिति चेत्, न, अस्मदादिषु क्षणिकस्वलक्षणदर्शनानुपलक्षणात्। तदपि कस्मादिति चेत् ? अन्तर्बहिश्च यावज्जीवमेकत्वस्यैव निर्णयात् । तदाह–'एकत्र निर्णये कुतस्तत्र विपर्ययः' इति । एकत्रेति षष्ठ्यर्थेऽव्ययं भावप्रधानं च । एकत्वस्य बहिरन्तश्च निर्णये सति कुतस्तत्र भावेषु विपर्ययो विलक्षणपरिज्ञानम् ?

विलक्षणपरिज्ञानमेकत्वे निश्चिते कथम् ? ।
न हि नीलपरिज्ञानं निश्चिते पीतवस्तुनि ॥४००॥
अन्यथा सर्वविज्ञानं सर्वत्रैव प्रसज्यते ।
सर्वसर्वज्ञतां तच निरपायं प्रकल्पयेत् ॥४०१॥

मा भूदस्मदादीनां तदभ्यासजं स्वलक्षणप्रत्यक्षम्, असन्निविशिष्टानां तदस्त्येव तेषामनुमानाभ्यासप्रकर्षभाविनो निर्मूलितसमारोपसंस्कारस्य सर्वाकारवस्तुदर्शनस्यानुपद्रवादिति चेत्, अत्राह–अनन्तकार्यकारणसंक्षणे अन्तको मृत्युः अर्थः स्वामी यस्य तत् अन्तकार्यम् उच्छेदवत् तदन्यत् अनन्तकार्यम् अनुच्छेदसन्तानम् असन्निविशिष्टानां वस्तुदर्शनम्, तस्य कारणमनुमानं तद्भावस्येक्षणे पर्यालोचने । तत्रोत्तरम् 'अतत्' इति । तदनन्तरोक्तं तदीक्षणं नेत्यर्थः । प्रसज्यप्रतिषेधे समासः कथम् असामर्थ्यादिति चेत् ? न, 'अभाक्षभोजिवत्' अविरोधात् । कुत एतदिति चेत् ? आह–हेतुफलापः, हेतोः कारणात् फलस्य प्रयोजनस्य आपः निष्पत्तिः नान्यस्मात् तत्र तस्मिन् हेतुफलापे व्याख्ये सति विपर्ययः अहेतोरनुमानाभ्यासात् सर्वाकारवस्तुदर्शनफलापो भवन्मतः । कुतो न कुतश्चित् । हेरम्बः सम्बोधने । यथा च अनुमानाभ्यासः सर्वाकारवस्तुदर्शनस्य न कारणं तथा निवेदितं प्रथमकारिकाव्याख्याने, निवेदयिष्यते च तृतीये[7] । तत्र निरंशवस्तुवादिनां समारोपव्यवच्छेदादपि प्रामाण्यमनुमानस्यो-

१ दर्शनप्रसवे । २ आत्मदर्शननिमित्तकः । ३ आत्मस्नेहमूलकम् । ४ निर्वाणम् । "तथा चोक्तम्–विमुक्तैव हि संसारी रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥"–तत्त्वसं०प०पृ० १८४ । ५–तेऽन्यत्–आ०, ब०, प०, स० । ६ नान्यत्तत्र आ०, ब०, प०, स० । ७ प्रस्तावे ।

पपन्नमिति साधूक्तम्–'एकत्र' इत्यादि। तस्मादनुमानस्य प्रामाण्यं वस्तुगोचरत्वादेव, तत्र सांशत्व एव भावानामुपपन्नम्, अतो न निश्चयरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य प्रमाणान्तरस्य शब्दान्तरस्य वा वैफल्यमिति स्थितम्।

स्यान्मतम्–निश्चयो नाम विकल्पविशेषत्वात् सत्येव विकल्पे भवति, न च विकल्पकं प्रत्यक्षं तत्र निर्विकल्पकत्वस्यैव प्रमाणोपपन्नत्वात्, तत्कथं तस्य[1] निश्चयात्मकत्वमिति; तत्र किमिदं विकल्पकत्वं नाम? वाचकशब्दविशिष्टतयार्थग्राहकत्वमिति[2] चेत्; कः पुनर्वाचकः शब्दः स्वलक्षणरूपः, सामान्यरूपो वा? स्वलक्षणरूपश्चेत्; तस्यापि वाचकत्वं स्वहेतुबलायातम्, साङ्केतिकं वा? स्वहेतुबलायातमिति चेत्; न; प्रथमश्रवण एव तद्वाचकत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। सङ्केतादेव तद्वाचकत्वप्रतिपत्तिरिति चेत्; न; स्वलक्षणे सङ्केतासम्भवात्। अन्वयिनो हि शक्यसमयत्वं तत्र स्वयमुपलम्भस्य परं प्रत्युपदर्शनस्य च सम्भवात्। स्वयमुपलब्धे हि पुनः परं प्रत्युपदर्शिते भवति 'अयमस्य वाचकः' इति सङ्केतः? सङ्केतितस्य च व्यवहारोपयोगित्वम्। स्वयमुपलम्भादिश्च सत्येवास्वये[3] (वान्वये)। न च स्वलक्षणस्यान्वयः; क्षणक्षीणत्वेनाभ्युपगमात्। तन्न शब्दस्वलक्षणस्य हेतुबलप्रवृत्तं वाचकत्वं सङ्केतादवगम्यत इति युक्तम्। एतेन साङ्केतिकमपि तस्य[4] वाचकत्वं प्रत्युक्तम्; सङ्केतासम्भवे तदसम्भवात्। स्वतः स्वलक्षणस्यै[5] अवाचकत्वेऽपि वाचकशब्दसामान्यैकत्वेनाध्यवसायाद्वाचकत्वम्, अत एव इन्द्रियज्ञाने "न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदा[6]त्मानो वा। येन त[7]स्मिन् प्र[8]तिभासमाने तेऽपि प्रतिभासेरन्" [ ] इति[9] [10]तदाकारत्वमेव निषिध्यते तन्निर्विकल्पक[11]तासाधनार्थम्। कथञ्चिदवाचकत्वे[12] तु [13]तस्य किं तत्र[14] [15]तदाकारत्वनिषेधेन? सत्यपि [16]तत्र [17]तत्स्वलक्षणाकारत्वे विकल्पापत्तिभयाभावात्। अन्यथा रूपादिस्वलक्षणाकारत्वस्यापि निषेधप्रसङ्गात्।

इन्द्रियज्ञानवार्त्तैवमुत्सन्ना सौगते मते।
रूपाद्याकारनिर्मुक्तो यत्र तस्यास्ति सम्भवः ॥४०२॥

तदयं लाभमिच्छतो मूलविनाशः, इन्द्रियज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वं साधयितुमुपक्रान्तेन तस्यैवोन्मूलीकरणात्। [18]तत्सामान्याकारत्वस्यैव तत्र निषेध इति चेत्; कथं तर्हि धर्मोत्तरेण कथितम्–"इह च यतो व्यवहर्तारो दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य शब्दस्वलक्षणमेव वाचकमध्यवस्यन्ति तस्मात्स्वलक्षणमेव वाचकमङ्गीकृत्य तदाकारशून्यत्वान्निर्विकल्पकं प्रत्यक्षम्" [ ] इति?

किञ्च[19] शब्दसामान्याकारवद् अर्थसामान्याकारस्यापि [20]तत्र निषेधः कर्त्तव्यः, सति

१ प्रत्यक्षस्य। २–हकमि–स०। ३–वाचये स०। ४ स्वलक्षणस्य। ५–स्य वाच–आ०, ब०, प०, स०। ६ अर्थात्मानो वा शब्दाः। ७ अर्थे। ८ प्रभास–आ०, ब०, प०, स०। ९ इति वाक्येन। उद्धृतमिदम्–न्यायप्र०वृ०पृ० ३५। १० शब्दाकारत्वमेव। ११–कत्वासा–आ०, ब०, प०, स०। १२ सत्यप्येकत्वाध्यवसाये यदि स्वलक्षणस्य अवाचकत्वमेव न कथमपि वाचकत्वं तदा। १३ स्वलक्षणस्य। १४ इन्द्रियज्ञाने। १५ शब्दाकारत्व। १६ इन्द्रियज्ञाने। १७ अवाचकस्वलक्षणाकारत्वे। १८ वाचकशब्दगतसामान्याकारत्व। १९ किं च–आ०, ब०, प०, स०। २० इन्द्रियज्ञाने।

तैरभिन्नार्थस्य वाच्यत्वेन प्रतिभासनात् तत्प्रतिभासस्य सविकल्पकत्वापत्तेः। अर्थसामान्याकारेऽपि[1] "तदनिर्देश्यस्य वेदकम्" [ ] इत्यनेनैव[3] निषिध्यत इति चेत्, न, शब्दसामान्याकारस्यापि तेनैव निषेधात् 'न ह्यर्थे शब्दाः' इत्यादेर्वैयर्थ्यापत्तेः। अनेन हि शब्दसामान्याकारे निषिद्धेऽपि "शब्देनाव्यापृताक्षस्य" [ ] इत्यादिकमर्थसामान्याकारनिषेधायावश्यं वक्तव्यम्, तेनैव च शब्दसामान्याकारस्यापि निर्देश्यत्वेन निषेधे सिद्धे "न ह्यर्थे शब्दाः" इत्यादेर्न किञ्चित्फलमुत्पश्यामः, तन्न सामान्याकारस्यानेन[5] निषेधः किन्तु स्वलक्षणाकारस्यैव वाचकसामान्यैकत्वेनाध्यवसितस्य, ततो वाचकस्वलक्षणसम्बद्धतया[6] ग्रहणमेव विकल्पानां विकल्पत्वमिति कश्चित्, सोऽपि न विपश्चित्, श्रोत्रज्ञानस्यैव सविकल्पकत्वापत्तेः। तस्य वाचकस्वलक्षणविषयत्वात्।

अथ न सम्बद्धविषयत्वमेव विकल्पकत्वम् अपि तु तद्विशिष्टवाच्यग्रहणम्, न च श्रोत्रज्ञानं तद्विशिष्टवाच्यविषयमिति चेत्, न, वाचकग्रहणस्यैव तद्विशिष्टवाच्यग्रहणत्वात्, वाच्यरूपानवसाये वाचकत्वस्यैवानवसायात्, वाच्यवाचकयोरेकज्ञानस्यान्यतरप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात्। वाचकत्वमपि न श्रोत्रज्ञानवेद्यम्, [10]शब्दस्य पूर्वापरीभावे [11]तदप्रवृत्तेः, तात्कालिकवस्तुगोचरव्यापाराद्धि श्रोत्रेन्द्रियात् तद्विषयस्यैव ज्ञानस्योत्पत्तेः। पूर्वापरीभूतस्य च शब्दस्य वाचकत्व तत्रैव सङ्केतकरणादे सम्भवादिति चेत्; कथं तर्हि [12]तदपरेन्द्रियज्ञानानां वाचकविषयत्वम्? तेषामपि तथास्ति पूर्वापरीभावे तेषामप्यप्रवृत्तेरिति चेत्, व्यर्थं तर्हि तत्र[13] शब्दस्वलक्षणाकारनिराकरणम्, सत्यपि[14] तदाकारत्वे वाचकत्वमात्राग्रहणादेव विकल्पापत्तिभयप्रसङ्गस्य प्रतिक्षेपात्। सति तदाकारत्वे वाचकत्व[15]मेव तदाकारमध्यवस्यन्तो व्यवहर्तारः प्रत्यक्षस्य [16]तद्विषयत्वमेव प्रतिपद्येरन्, अतस्तदभिप्रायनिषेधेन निर्विकल्पकत्वसाधनार्थम् इतरेन्द्रियज्ञानेषु शब्दस्वलक्षणाकारप्रतिक्षेपः, इत्यपि न चतुरम्, श्रोत्रज्ञानेऽपि तदाकारप्रतिक्षेपप्रसङ्गात्, तत्रापि सति तदाकारे व्यवहर्तृजनस्य 'वाचक एव तदाकारस्तद्विषयमेव च प्रत्यक्षम्' इत्यभिसन्धानस्यावश्यम्भावात्। अप्रतिक्षिप्तेऽपि तदाकारे तत्र [17]तदभिसन्धानमेव प्रकारान्तरेण प्रतिषिध्यत इति चेत्, न, अन्यत्रापि[18] [19]तत एव तन्निषेधप्रसङ्गात्। किं वा तत्प्रकारान्तरम्? प्रत्यक्षमिति चेत्[20], न, तत्र वाचकविषयत्वस्यैव व्यवहर्तारं

१ अर्थसामान्याकारे। २–भासनस्य आ०, ब०, प०। ३ वाक्येन। ४–ताव्याहृतस्य आ०, ब०, प०, स०। तदुक्तमियम्–"अध्यक्षम्–शब्देनाव्यापृताक्षस्य बुद्धावप्रतिभासनात्। अर्थस्य दृष्टाविवेति।" –अपोहसि० पृ० ६। " अर्थस्य दृष्टाविव तदनिर्देश्यस्य वेदकम्।"–सम्मति० टी०पृ० २६०। " दृष्टाविव तच्छब्दाः परिस्फुटगोचराः॥"–हेतुबि०टी०पृ० १०४। ५ न ह्यर्थे शब्दाः सन्तीति वाक्येन। ६ सम्बन्धतया। आ०, ब०, प०, स०। ७–स्यत्वम् आ०, ब०, प०, स०। ८ वाचकविशिष्टवाच्य। ९–रीयकत्वात् आ०, ब०, प०, स०। १० शब्दपूर्वा–स०। ११ श्रोत्रज्ञानाप्रवृत्ते। १२ चक्षुरादीनाम्। १३ इन्द्रियज्ञाने। १४–पि निराका–आ०, ब०, प०, स०। १५ वाचकत्वमेव आ०,ब०,प०, स०। १६ वाचकविषयत्वमेव। १७ तदपि स वा–आ०, ब०, प०, स०। १८ चक्षुरादीन्द्रियज्ञाने। १९ प्रमाणान्तरादेव। २० नैव तस्य व्यवहारिणं प्रत्यक्षविषयत्वात्, न चाभिमतविषयस्य व्यवहारम् आ०,ब०, प०, स०।

प्रति प्रसिद्धत्वात्। न हि तद्विषयादेव तद्विषयत्वप्रतिक्षेपः। सत्यम्; अभिनिवेशमात्रात्तस्य[1] [2]तद्विषयत्वं वस्तुवृत्तमन्यथेति चेत्; अन्यथा वस्तुवृत्तमित्यपि कुतः? तत एव प्रत्यक्षादिति चेत्; न; प्रतिपादिताभिनिवेशाघ्रातात् तदसिद्धेः। अन्यथाभूतादिति चेत्; न; तस्य व्यवहारिणं प्रत्यसिद्धत्वात्। न चासिद्धमसिद्धस्य साधनम्; स्वयं सिद्धस्य अपरमसिद्धं प्रति साधनत्वोपपत्तेः। सकलविकल्पोपसंहारवेलायां सिद्धमेव तस्य[3] [4]तदिति चेत्; न; तद्वेलाया विचारयिष्यमाणत्वात्। तत्र प्रत्यक्षं प्रकारान्तरम्। नाप्यनुमानम्; तस्यापि प्रत्यक्षव्यापारानुसारिणः तदविषये[5] प्रवृत्त्यसम्भवात्। तद्व्यापारनिरपेक्षत्वे तु तस्य[6] स्वयमेवासम्भवात् व्याप्तिपरिज्ञानस्य प्रत्यक्षाधीनत्वात्। अनुमानाधीनत्वे अनवस्थादोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्। ततो यद्यपरेन्द्रियज्ञानेषु शब्दस्वलक्षणाकारे तत्रैव व्यवहर्तुर्वाचकरूपाभिनिवेशस्यावश्यम्भावात् 'तदाकारं[7]वतां तु ज्ञानानाम् अवश्यम्भाविनी विकल्पापत्तिः' इति भयात् '[8]तदाकारनिषेधे प्रयासः, तर्हि श्रोत्रज्ञानेऽपि तत्प्रयासो विधातव्यः, तथा च विषयाभावे [9]तदेव ज्ञानं न भवेत्। ततो न वाचकरूपाध्यवसायाधिष्ठितशब्दस्वलक्षणविशिष्टविषयपरिच्छेदो विकल्पलक्षणम्; श्रोत्रज्ञानेन अतिव्यापित्वात्। तन्न शब्दस्वलक्षणस्य स्वभावतोऽन्यतो वा वाचकत्वं सम्भवति।

मा भूत्तत्स्वलक्षणस्य वाचकत्वं तत्सामान्यस्यैव तदभ्युपगमात्, [10]तस्य देशकालभिन्नव्यक्त्यनुगमरूपत्वेन तत्र सङ्केतकरणादेर्व्यवहारविनियोगस्य च सम्भवादिति चेत्; न; सामान्यस्य वस्तुभूतस्यानभ्युपगमात्। अपोहरूपमवस्तुभूतमभ्युपगम्यत एवेति चेत्; कथमवस्तुनो वाचकशक्तिः यतस्तदविच्छिन्नविषयग्रहणं विकल्पः[11] स्यात्, तच्छक्तिमात्रे[12] तदवस्तुत्वानुपपत्तेः। स्वलक्षणशक्तेरारोपात् शक्तिमानेवाऽपोह इति चेत्; न; स्वलक्षणस्यापि वाचकशक्तेरभावात्, तदुक्तदोषप्रसङ्गात्। शक्त्यन्तरस्यारोपेऽपि [13]तत्प्रयोजनमेवापोहस्य स्यान्न विषयप्रतिपादनम्।

अपि च, आरोपस्य विकल्पत्वेनावस्तुगोचरत्वात्, तदारोपितापि शक्तिरवस्तुरूपैवेति कथं तद्वशादपोहस्य वाचकत्वम्? आरोपितायामपि शक्तौ स्वलक्षणशक्तेरारोपादिति चेत्; न; 'स्वलक्षणस्यापि' इत्यादेरभ्यासात्[14] चक्रकापत्तेरनवस्थानोपस्थानाच्च। तन्नापोहस्यापि वाचकत्वम्। ततः कथं वाचकविशिष्टविषयग्रहणं विकल्पलक्षणं वाचकस्यैवासम्भवात्? एतदेवाह–

अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः।
अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुपश्यते ॥ ६ ॥ इति।

अभिलप्यतेऽनेनेत्य**भिलापः** शब्दसामान्यं तस्यैव साक्षाद्वाचकत्वेन परैरभ्युपगमात्। अंशा इवांशा विशेषाः। किं पुनरंशसादृश्यं विशेषाणामिति चेत्? अधिकरणत्वमेव, अंशित्वं [15]प्रत्यंशानामिव सामान्यं प्रति विशेषाणामप्य[16]धिकरणत्वप्रसिद्धेः। तस्यांशास्तदंशाः अभिलापश्च

१ प्रत्यक्षस्य। २ वाचकविषयत्वम्। ३ व्यवहारिणः। ४ अन्यथाभूतम् अभिनिवेशशून्यं प्रत्यक्षम्। ५ प्रत्यक्षाविषये। ६ अनुमानस्य। ७–रगतां आ०, ब०, प०। ८ शब्दस्वलक्षणाकार। ९ श्रोत्रज्ञानमेव। १० शब्दसामान्यस्य। ११–त्पस्य स्यात् आ०, ब०, प०, स०। १२ वाचकशक्तिसद्भावे। १३ अपोहशक्तिमानिति व्यपदेशमात्रमेव स्यात्। १४–क्रोप–आ०, ब०, प०, स०। १५ प्रत्यंगाना–आ०, ब०, प०, स०। १६ विशेषाणामधि–आ०, ब०, प०, स०।

तदंशाश्च अभिलापतदंशास्तेषां शब्दसामान्यतत्स्वलक्षणानाम् । **अभिलापविवेकतः**– अभिलपनमभिधेयप्रतिपादनम् अभिलापः, तस्योक्तन्यायेन विविक्तो (विवेको) विरहः तस्मात् । ततो 'न विकल्पसम्भवः' इत्यभ्याहारः ।

मा भूद्विकल्पः । तदुक्तम्–

"परमार्थतस्तु सकलं विज्ञानमविकल्पकम् ।
तद्ग्राह्यविषये सर्वस्याविकल्पेन वर्त्तनात् ॥" [प्र० वार्तिकाल० २।२४९]

इति चेत् , तदसारम् , यस्मात्–

विकल्पविरहे न स्यादनुमानं तदात्मकम् ।
तदत्यये तु नाध्यक्षं यथाकामं प्रसिद्ध्यति ॥४०३॥
प्रत्यक्षं कल्पनापोढमर्थसामर्थ्यसम्भवात्[1] ।
इत्यादिनानुमानेन साधनात्तद्व्यवस्थितेः ॥४०४॥
स्वत एवाविकल्पं चेदध्यक्षं सिद्धिमृच्छति ।
भूतोपादानमध्यक्षं तद्वत्किम्न प्रसिद्ध्यति ॥४०५॥
तदुपादानभावेन तस्य चेदवभासनम् ।
निर्देशैकत्वभावस्य किं तस्यास्त्यवभासनम् ? ॥४०६॥
चित्रैकज्ञानवादस्तु वादिनः श्रेयसे न वः ।
ग्राह्यग्राहकसंसिद्धेस्तत्राप्ये प्रतिवेदनात् ॥४०७॥
कथं तद्वेदसिद्धिः स्यादध्यक्षे चानवस्थिते[2] ।
प्रमाणपरिशुद्धा हि प्रमेयस्य व्यवस्थितिः ॥४०८॥

इदमेवाह–'**अप्रमाणप्रमेयत्वमनुपज्यते**' इति । प्रमाणमत्र प्रत्यक्षमेव अनुमानाभावस्य विकल्पाभाववादिना परेणैवाभ्युपगमात् । प्रमेयमपि तद्वेद्य स्वलक्षणमेव । प्रमाणञ्च प्रमेयञ्च प्रमाणप्रमेये तयोर्भावः प्रमाणप्रमेयत्वम् , तदभावः **अप्रमाणप्रमेयत्वम्** , **अनुपज्यते** विकल्पाभावमन्वागच्छति प्रतिपादितेन न्यायेनेति भावः ।

भवतु तर्हि सर्वस्यापि प्रमाणप्रमेयविभागस्याभावः सर्वभावनैरात्म्यस्यापि सौगतैरङ्गीकारादिति चेत् ;

कथं स्यात्सर्वनैरात्म्ये प्रमाणे यदि तत्र वः ? ।
कथं स्यात्सर्वनैरात्म्यं प्रमाणं चेन्न तत्र वः ? ॥४०९॥
प्रमाणमन्तरेणापि तत्सिद्धं यदि बुध्यते ।
भावनैरात्म्यपर्यायसद्भावः किम्न सिद्धिभाक् ? ॥४१०॥

१ विकल्पात्मकम् । २ अनुपलम्भाभावे । ३ "अविसंवादक अर्थात्प्रत्यक्षमनन्तरोत्पादात्" –प्र० वार्तिकाल० ३।० । ४ प्रत्यक्षस्य । ५–तौ आ०, ब०, द०, ज० । ६ वैरूप्यम् । ७–वस्थितः आ०, ब०, प० ।

एतदेवाह–**अवश्यमनुषज्यते**[1]। अवश्यं भावनैरात्म्यं सौगतानामङ्गीकारवशवर्तित्वात्, अवश्यं प्रमाणादिभावतत्त्वं[2] विपर्ययात्, तदपि प्रमाणसिद्धिनिरपेक्षमेव सिद्ध्यतीति यावत्।

इदमन्यद् व्याख्यानम्–यदि अभिलापसम्बन्धविशिष्टा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयेरन् तदा न तावत्तद्विशिष्टत्वमर्थानामौत्पत्तिकम्[3]; प्रथमदर्शन एव तद्विशिष्टव्यवसायप्रसङ्गेन सङ्केतवैयर्थ्यापत्तेः। सङ्केतकालगृहीतस्याभिलापस्यानुस्मृत्य[4] योजनात्[5] विषयस्य तद्विशिष्टत्वमिति चेत; अत्राह–'**अभिलाप**' इत्यादि। अयमस्यार्थः–अभिलप्यते यः स्वार्थः परार्थश्च स **अभिलापस्तेन विवेकः** असम्बन्धः। कस्य? अभिलापस्य तद्वाचकस्य शब्दस्य। तथा हि स्वार्थविशेषे निर्णीते शब्दविशेषे स्मृतिः स्यात् नानिर्णीते, अन्यथा दानादिचेतसां स्वर्गप्रापणसामर्थ्येऽनिर्णीतेऽपि तद्विशेषस्मृत्या तद्योजनं स्यात्। न चैवम् अविवादप्राप्तेः। अस्याश्च तत्र तद्योजनायां स्वार्थविशेषनिर्णय इत्यन्योन्यसंश्रयः[10]। तन्न अभिलापस्य[11] अभिलापेन सम्बन्धः। तथा, अभिलप्यते अनेनेत्यभिलापः शब्दः तेन विवेकः। केषाम्? तदंशानां घकारादीनाम्। तथा हि–'यथा विशेषणविशिष्टार्थग्रहणं तद्विशेषणस्मृतौ नान्यथा तथा तदंशविशिष्टाभिलापस्मरणं[12]केवलस्याऽवाचकत्वात्। तदंशस्मरणपूर्वकम्, [13]तत्स्मरणमप्यभिलापविशेषस्मरणपूर्वकम्' इत्यन्योन्यसंश्रयो द्वितीयः[14]। तदेवम् अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतो विकल्पाभाव एव प्राप्तः, तदभ्युपगमे[15] च निर्विकल्पस्याकिञ्चित्करत्वान्न प्रमाणम्, अत एव न प्रमेयम्, इति **अप्रमाणप्रमेयत्वं** [16]तद्विवेकतः **अवश्यमनुषज्यते**।

इदमपरं तद्व्याख्यानम्–यदि [17]अभिलापविशिष्टार्थव्यवसायस्तदभिलापस्मरणात् तद्वत्तदपि[18] स्मरणं केवलस्य तस्याऽवाचकत्वात् [19]तदंशविशिष्टस्यैव, तदंशानां च स्मृतानामेव तद्विशेषणतयावसाय इति। अभिलापस्मरणं तदंशस्मरणञ्च अपराभिलापतदंशस्मरणद्वये सति भवति। तदपि तदपराभिलापतदंशस्मरणे भवति, तत्राप्येवमिति अनेकोऽनवस्थानदोषः[20] प्रसज्यते। तस्मात् **अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतो** वाचकशब्दविरहात्तदवस्थ एव '**अप्रमाण**' इत्यादिदोष इति।

स्यान्मतम्–भवतु परस्पराश्रयः अनवस्थानं तु न सम्भवति, स्मर्यमाणस्य शब्दस्य शब्दान्तरस्मरणनिरपेक्षत्वात्। स्वयमवाचकस्य हि वाचकविशिष्टतया निर्णये व्यतिरिक्तवाचकस्मरणमपेक्षणीयम्, शब्दस्य स्वर्थप्रतिपादनवत् स्वप्रतिपादनेऽपि व्यापारान्न तत्स्मरणे वाचका-

१–ते इति अवश्यं आ०,ब०,प०,स०। २–वतत्त्वम् आ०,ब०,प०,स०। ३ कारणजन्यम्। ४–नुसृत्य आ०, ब०, प०,स०। ५–जना वि–ता०। ६ –ष्टमि–आ०,ब०,प०,स०। ७ कस्यापि लाभस्य आ०,ब०,प०,स०। ८ शब्दविशेष। ९ शब्दयोजनं स्यात्तथा च 'दानचित्तं स्वर्गप्रापणसमर्थम्' इति विकल्पः समुत्पद्येत। १० स्वार्थविशेषे निर्णीते शब्दविशेषे स्मृतिः, अस्याश्च शब्दविशेषस्मृतेश्च तत्र स्वार्थविशेषे तद्योजनायाम्–शब्दयोजनायाम् स्वार्थविशेषनिर्णय इत्यन्योन्याश्रयः। ११ अभिलाप्यस्य, अभिलप्यते यः इति व्युत्पत्तेः। १२ अंशविरहितस्य। केवलस्य वाच–आ०, ब०, प०, स०। १३ घकाराद्यंशस्मरणमपि। १४–यतः आ०, ब०, प०, स०। १५ विकल्पाभावे स्वीक्रियमाणे। १६ अभिलापविवेकतः। १७ अभिलापविशेषार्थ–स०। १८ अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः 'स्मरणम्' इत्यस्यानन्तरमभिसम्बन्धनीयम्। तदभिलापस्मरणमपि। १९ अभिलापांश। २०–स्यादोषः आ०,ब०,प०,स०।

न्तरस्मरणपर्यन्तम्, तत्कथमनवस्थानमिति ? तदप्यसदेव मतम्, शब्दस्य स्वप्रतिपादनसामर्थ्याभावात्। तद्भावे वा श्रोत्रज्ञानेऽपि स्ववाचकत्वेनैव तस्याव[1]भासनात् स्मरणवत्कथं तस्यापि निर्विकल्पकत्वम् ? तत्र तस्य न तथा[2]वभासनमिति चेत्, किं तर्हि स्यात् ? अप्रतिभासनमिति चेत्, न, तज्ज्ञानस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्, न च विषयशून्यं विज्ञानमिति श्रोत्रज्ञानव्यवहारविध्वंसनमेव प्राप्तम्। अन्यथाऽवभासनमिति चेत्, न, तस्याभ्रान्तत्वेन प्रत्यक्षत्वाभावापत्तेः। तत्र शब्दस्य[3] स्वप्रतिपादनसामर्थ्यम्। तथा चेत् स्मरणेऽपि कथं तस्य[4] तद्रूपतया प्रतिभासनम् ? अथ स्मरण प्रतत्[5]रूपमपि तद्रूपमिवैवं अवद्योतयति। कुत एतत् ? तस्य विकल्पत्वेनैवंसामर्थ्यादिति चेत्, तदपि कुतः ? वाचकरूपविद्योतनादिति चेत्, न, परस्पराश्रयात्–विकल्पत्वाद्वाचकरूपावद्योतनम्, ततश्च विकल्पत्वमिति। अन्यदेव तस्य[6] विकल्पत्वनिबन्धनं वाचकरूपावद्योतनमिति चेत्, न, तस्याऽभावात्। भावे तदपि यदि तत्परिकल्पितं स एव दोषः–तदवद्योतनात्तस्य विकल्पत्वम्, ततश्च तदवद्योतनमिति। पुनस्तद्विकल्पत्वनिबन्धनस्यापरतदवद्योतनस्य परिकल्पनायां कथमनवस्था[9] न भवेत् ?

अपि च, "स्वाभिलापसम्बद्धा एवार्था विज्ञानैर्व्यवसीयन्ते"[ ] इति[11] ब्रुवाणेन स एव तदभिलापो वक्तव्यः। पदं वाक्यं वेति चेत्, ननु वाक्यं नाम पदसन्दोह[12]कल्पितं नाखण्डैकरूपं तस्य निषेत्स्यमानत्वात्, ततः पदयोजनया [13]तदवक्लृप्तिः कर्तव्या, पदानां चानुस्मरणोपस्थापितानामेव योजनम्। न च पदमपि किञ्चिदखण्डैकरूपं तस्यापि निषेत्स्यमानत्वात्। वर्णयोजनया तु [14]तत्क्लृप्तिर्विधातव्या। वर्णानां च स्मरणोपस्थापितानामेव योजनम्। न च वर्णा निर्भागाः, दीर्घादिव्यवहाराभावप्रसङ्गात्। भ्रान्तस्तद्व्यवहार[15] इति चेत्, आस्तां [16]तावदेतत्, तृतीये[17] विचारणात्। ततो वर्णप्रक्लृप्तिरपि स्मरणोपनीततद्भागयोजनयैव सम्पादयितव्या। तावच्चैषं प्रक्रिया यावत्पर्यन्ते निर्भागाः शब्दपरमाणवः, तेषां चाशक्यसङ्केतत्वेन अनभिलाप[18]सम्बन्धात्स्मरणम्, तदस्मरणे च तद्विशिष्टतया [19]तदवयविनो न स्मरणं तस्मिंश्च तद्विशिष्टतया [20]तदवयविन इति तावद्वाक्यं यावद्वाक्यानुस्मरणं न भवति। [21]तत्र च कथं स्वाभिलाप[22]सम्बद्धतया अर्थव्यवसायः ? न ह्यननुस्मृताभिलापस्य तत्सम्बद्धतया[22] सम्भवति तद्व्यवसायः, प्रथमदर्शनेऽपि प्रसङ्गात्। तथाभिलापवत्त्वं विकल्पलक्षणम् असम्भवादिति। एतदेवाह–'अभिला'-इत्यादि। अभिलाप बुद्धिः, अभिलप्यते अभिगृह्यते विषयोऽनयेत्यभिलेति व्युत्पत्तेः। तस्याम् अपतन्तो विषयत्वेनाऽप्रविशन्तोंऽशा भागा येषां ते अभिलापतदंशा[23] अनवगृहीतभागाः

१ सम्प्रदत्त। २ श्रोत्रज्ञाने। ३ शब्दस्य। ४, तत्वाचकत्वेन। तथाव–आ०, ब०, प०, स०। ५ शब्दस्य। ६ वाचकविशिष्टतया। ७–मिवावद्यो–आ०, ब०, प०, स०। ८ स्मरणस्य। ९ विकल्पकल्पितम्। १० –स्यार्थं न न–आ०, ब०, प०, स०। ११ "स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयैर्व्यवसीयन्ते इत्येवाभ्यासम् "–प्रमाणस० पृ० १९०। १२ वाक्यरचना। १३–मोपनीततद्भागव्यपि–आ०, ब०, प०, स०। १४ पदरचना। १५ वर्णेषु दीर्घादिव्यवहारः। १६ तावदिदं तु–आ०, ब०, प०, स०। १७ प्रस्तावे। १८ अभिलापसम्बन्धाभावात्। १९ वर्णस्य। २० पदस्य। २१ वाक्ये। २२ –सम्बन्धतया आ०, ब०, प०, स०। २३ अभिला + अपतत् + अंशाः।

परमाणव इत्यर्थः । तेषाम् **अभिलापविवेकतः** वाचकशब्दविरहाद् **अवश्यं** नियमेन-**अनुपद्यते अप्रमाणप्रमेयत्वम्**। माणः शब्दः, मणेः शब्दार्थस्य वत्रि एवंरूपत्वात्, प्रकृष्टो माणः प्रमाणः, शब्दपरमाण्वपेक्षया तदवयवी तत्कलापापेक्षया पुनस्तदवयवी, तावदेवं यावदक्षराणि, तदपेक्षया पदम्, पदापेक्षया वाक्यम्, तस्य प्रमेयत्वं स्मरणकृतम्, तदभावः **अप्रमाणप्रमेयत्वम्** । तदवश्यम्भावेनापद्यते तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनस्य पूर्वपूर्वतद्भागानुस्मरणस्या[1]भावात्, सोऽपि तत्पर्यन्तवर्तिशब्दपरमाणूनामननुस्मरणात् । तन्न परस्याभिलापसम्भवः तदभावात् कथमुक्तम्–'अभिलापप्रतिब[2]द्धतयैवार्था व्यवसीयन्ते' इति ।

भवतु वा कथञ्चिदभिलापः, तथापि तत्स्मरणस्यापराभिलापप्रतिबन्धे अनवस्थानमुक्तम् । तदप्रतिबन्धे यदि त[3]न्निर्विकल्पकं न तद्विषयस्य शब्दस्यान्यत्र योजनं स्वलक्षणत्वादिति गतमर्थव्यवसायवार्त्तया । सविकल्पकं चेत्; कथमव्यापकं विकल्पलक्षणं न भवेत् ? अनभिलापवतोऽपि त[4]त्स्मरणस्य सविकल्पकत्वात्। साक्षादनभिलापवत्त्वेऽपि उपचारादभिलापवदेव तत्स्मरणम्। न हि साक्षादभिलापसम्बन्धादेवाभिलापवत्त्वं प्रतीतेः, अपि तु अभिलापसम्बन्धयोग्याकारगोचरत्वादपि । तद्योग्यश्चाकारः साधारणाकार एव तत्र शब्दसङ्केतादेः शक्यविधानत्वात् । अत एवोक्तम्–"अभिलापसम्बन्धयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना" [न्यायवि० पृ० १३] इति । ततः शब्दस्मरणस्यापि शब्दसामान्यगोचरत्वेनोपचाराद् अभिलापव[5]त्त्वोपपत्तेरुपपन्नं विकल्पत्वमिति चेत्; अत्रोच्यते–स सामान्याकारः कल्पितः, पारमार्थिको वा भवेत् ? कल्पितश्चेत्; कथं तस्याभिलापसंसर्गं प्रति योग्यत्वम् ? योग्यत्वं हि सामर्थ्यमेव । न हि तत् कल्पितस्योपपन्नम् ।

कल्पितश्चेत्कथं योग्यः ? योग्यश्चेत्कल्पितः कथम् ?
योग्यश्च कल्पितश्चेति मिथो निष्पीडितं वचः ॥ ४११ ॥
कल्पितश्चेत्समर्थोऽपि कल्पितं स्यात्स्वलक्षणम् ।
सौगतानां ततः प्राप्तं न किञ्चित्परमार्थसत् ॥ ४१२ ॥
कल्पनामात्रवादस्तु पश्चात्प्रतिविधास्यते ।
कल्पितोऽपि समर्थश्चेत्; मरीच्यम्भोऽपि पीयताम् ॥ ४१३ ॥

योग्यत्वमपि त[6]स्य कल्पित[7]मिति चेत्; तर्हि तेनाप्यभिलापसंसर्गयोग्येन भवितव्यम्, अन्यथा तत्प्रतिभासवत्याः प्रतीतेर्विकल्पक[8]त्वानुपपत्तेः । तदपि तस्य तद्योग्यत्वं यदि पारमार्थिकम्; स एव प्रसङ्गः–कल्पितश्चेत्यादि । कल्पितञ्चेत्; न; तर्हि 'तेनापि' इत्यादेः प्रसङ्गस्यानुबन्धादनवस्थापत्तेश्च ।

यत्पुनरेतत्–स्वलक्षणमेव सामान्यं तस्यैव ह्यसाधारणरूपेण प्रतीत्युपस्थापितस्य सामा-[9]

1 –स्याभागात् आ०, ब०, स० । 2 –बन्धतयैवार्थोऽध्यवसीयते इति आ०, ब०, प०, स० । 3 अभिलापस्मरणम् । 4 अभिलापस्मरणस्य । 5 –वत्त्वापत्तेः आ०, ब०, प०, स० । 6 शब्दसामान्याकारस्य । 7 –तमपि चेत् आ०, ब०, प०, स० । 8 –त्वानु– आ०, ब०, प०, स० । 9 तुलना–"यदा साक्षाज्ज्ञानजननं प्रति ग्राह्यत्वेन प्रतीयते तदासौ स्वेन रूपेण लक्ष्यमाणत्वात् स्वलक्षणम् । यदा तु पारम्पर्येण शक्तता तस्यैव प्रतीयते तदा सामान्यरूपेण लक्षणमिति सामान्यलक्षणम्"–प्र० वार्तिकाल० २।२ ।

न्यव्यपदेशात्, ततो वास्तवमेव तस्याभिलापसम्बन्धसामर्थ्यमिति, अत्रोच्यते—यदि साधारणं रूपं स्वलक्षणस्यास्ति न किञ्चित् संवृतिसत् ? तदपरस्य तस्याभावात्। नास्ति चेत्, कथं तेनावभासनम् ? मरीचिकातोयवदिति चेत्, उच्यते—

स्वलक्षणस्य संकेते तद्रूपस्य प्रवेदनम्।
सर्वदा तत्स्मृतिः स्यात्तच्छक्तेरविलोपनात्॥ ४१४॥
अक्षुण्णशक्तिकत्वेऽपि सदा तच्चेन्न वेदयेत्।
असाधारणरूपस्याप्यप्रवेदनमागतम्॥ ४१५॥
शक्तिमत्त्वं विहायान्यन्न तत्रापि निबन्धनम्।
ततः स्वलक्षणस्यैव वार्ताऽपि विलयं गता॥ ४१६॥
संनिधानाभावतो नो चेत्सर्वदा तत्प्रवेदनम्।
तद्रूपदर्शनी शक्तिस्तदा तर्हि कथं भवेत् ?॥ ४१७॥
भावेषु हि विना कार्यं न शक्तिः शक्यकल्पना।
सर्वकार्येषु सामर्थ्यं सर्वेषामन्यथा भवेत्॥ ४१८॥
साऽपि नास्ति यदानीं चेत्, प्राप्तेऽपि सन्निधौ कथम् ?।
यत्साधारणरूपस्य तद्भावे स्यात्प्रवेदनम्॥ ४१९॥
सन्निधानसन्निधिमात्रात् न सा तस्योपजायते।
समकालतया हेतुहेतुमत्त्वाव्यवस्थितेः॥ ४२०॥
[7]प्रागसत्कस्य पश्चाच्चेत्तस्य शक्तिस्ततो[8] भवेत्।
क्षणद्वयस्थितो तस्य क्षणभङ्गि जगत्कथम् ?॥ ४२१॥

तन्न स्वलक्षणबलात्तदाकारप्रवेदनम्। विज्ञानबलादेवेति चेत्, तदपि कथम् अविद्यमानेऽनुपदर्शयेत्, कारणस्य विषयस्योपगमात् ? न चासतः कारणत्वम्। अर्थज्ञान एवार्थनियम इति चेत्, [10]तत्राप्यकारणस्य विषयत्वे को दोषः ? सर्वसंवेदनमेव प्रतिबन्धाभावाऽविशेषादिति चेत्, न, असद्वेदनेऽपि समानत्वात्।

मरीच्यां जलवत्सर्वस्यासतः किन्न वेदनम् ?।
प्रतिबन्धो न तत्रापि यदस्ति नियमक्षमः॥ ४२२॥
सर्वस्याप्यसतो विनायेकस्मादेव वेदनात्।
अपरं तत्र विज्ञानं सर्वमेव वृथा भवेत्॥ ४२३॥
सर्वसद्वेदनेऽप्येवं नैव दोषोऽन्यथा भवेत्।
इत्यनिष्टप्रसङ्गोऽयं कथन्नाम निवार्यताम्॥ ४२४॥

---

१ –रपरूपं ता०। २ –विद्यते– भा०, ब०, प०, म०। ३ प्रवेदने। ४ सन्निधाना– भा०, ब०, प०, म०। सदसन्निधिविरहात्। ५ सदसन्निधिविरहादवस्थायाम्। ६ शक्तिः। ७ प्रागसत्कस्य भा०, ब०, प०। ८ सदसन्निधानात्। ९ वस्तु। १० अर्थज्ञानेऽपि।

मिथ्याज्ञानं तथा[1] शक्तेर्नियतग्राहकं यदि ।
अर्थज्ञानं तथा शक्तेर्नियतग्राहकं भवेत् ॥ ४२५ ॥
तवन्तस्यार्थ[2]कार्यत्वकल्पना युक्तिवर्जनात् ।
'अकारणं न विषयः' इत्येतद्बालभाषितम् ॥ ४२६ ॥

तस्मादसदाकारस्याकारणत्वेन ग्रहणाभावान्न साधारणाकारग्रहणमपि विकल्पलक्षणम् ।

भवतु वा त[3]द्ग्रहणम्, तथापि त[4]द्ग्रहणशक्त्या ज्ञानस्वरूपग्रहणे तदाकारवत् तत्स्वरूपस्यापि[6] मिथ्यात्वं भवेत् । न ह्यसदाकारग्रहणाभिमुखेन स्वभावेन गृहीतमन्यथा भवति, नीलाभिमुखस्वभावगृहीतस्यापि पीतत्वप्रसङ्गात् । न च ज्ञानस्वरूपस्य मिथ्यात्वम्; अनभ्युपगमात्, त[7]दप्रतिपत्तिप्रसङ्गाच्च । न हि मिथ्यारूपादेव मिथ्यात्वम् अमिथ्यात्ववल्लक्ष्यप्रतिपत्तिकम् । शक्त्यन्तरेण त[8]द्ग्रहणे त[9]दुभयशक्तिसाधारणत्वं विज्ञानस्य प्राप्तम् । भवतु को दोष इति चेत्; न; साधारणविषयवत्तस्यापि मिथ्यात्वप्रसङ्गात् । पुनरपि तत्साधारणाकारकल्पने अनवस्थापत्तेः अग्रहणमेव सामान्याकारस्य । तन्नेदमपि विकल्पलक्षणम् असम्भवात् । एतदेवाह—

पदार्थज्ञानभागानां पदसामान्यनामतः ।
तथैव व्यवसायः स्याच्चक्षुरादिधियामपि ॥७॥ इति ।

अर्थोऽभिधेयः पदस्यार्थः **पदार्थः** सामान्यम्, तत्रैव शब्दसङ्केतस्य सम्भवात् । तस्य **ज्ञानं** तस्य **भागाः** परापरसामान्यरूपा अंशास्तेषां **व्यवसायः स्यात्**[10] । अवसायोऽविगमस्तदभावो व्यवसायो विशब्दस्याभावार्थत्वात् [11]विमलादिवत् सः स्याद्भवेत् अनवस्थानादिति भावः । कुतः [12]सम्भवतां तेषां व्यवसाय इत्याह—**पदसामान्यनामतः** । पद्यन्ते ज्ञायन्तेऽनेनेति पदं ज्ञानमेव तत्र सामान्यानामपरापरात्मनाम्, तद्विषयत्वेन नमनम् उक्तप्रकारेणोपसर्पणं[13] तस्मादिति । तर्हि मा भूज्ज्ञानस्यात्मनि सामान्याकार इति चेत्; न; शक्तिभेदेन ज्ञानभेदप्रसङ्गात् । [14]तथा हि—न सामान्यग्रहणं तद्ग्रहणस्य स्वसंवेदनशक्तिव्यतिरेकात्, असंविदितस्य च बहिर्विषयत्वानभ्युपगमात् । पुनरप्यपरस्वसंवेदनशक्तिकल्पनायां स एव प्रसङ्गः[15] शक्तिभेद इत्यादिरनवस्था च । ततः सुदूरमपि गत्वा शक्तिद्वयाधिष्ठानमेकं संवेदनमभ्युपगन्तव्यम् । ततो यदुक्तम्—"बहीरूपतयैव सामान्यं न ज्ञानरूपतया" [ ] तन्निषिद्धम्; ज्ञानरूपतयापि सामान्यस्योपदर्शितत्वात् । सदपि सामान्यं ज्ञानरूपतयाऽर्थ एव; इत्यपि न शोभनम्; साधारणाकारस्य अर्थत्वानभ्युपगमात् । तदनर्थत्वे च तत्प्रतिपत्तेरसम्भवात् न साधारणाकारग्रहणं विकल्पलक्षणमिति साधूक्तम्—'**पदार्थ**' इत्यादि ।

---

१ तथाशक्तेर्नियत—आ०, ब०, प० । २ अर्थज्ञानस्य । ३ साधारणाकारग्रहणम् । ४ तदग्रहण—आ०, ब०, प०, स० । ५ —सम्पस्य प्र—आ०, ब०, प०, स० । ६ ज्ञानस्वरूपस्यापि । ७ मिथ्यात्वाप्रतिपत्ति । ८ ज्ञानस्वरूपग्रहणे । ९ साधारणाकारग्रहणशक्तिस्वरूपग्रहणशक्तिरिति शक्तिद्वयसाधारणत्वम् । १० —त् व्यव—आ०, ब०, प०, स० । ११ विकल्प—आ, ब०, प० । १२ सम्भवत: ते—आ० ब०, प०, स० । १३ —र्पणात्तस्मा—आ०, ब०, प०, स० । १४ तथापि न ता० । १५ प्रसङ्गा—आ०, ब०, प०, स० ।

भवन्तु तर्हि निर्विकल्पा एव बुद्धयो विकल्पबुद्धिव्यवस्थानोपायाभावादिति चेत्, अत्राह–'**चक्षुरादिधियामपि**' इति। चक्षुरादिर्येषां श्रोत्रादीनां तेषां कार्यभूता धियः तासामपि न केवलं मानसीनामित्यपि शब्दार्थः। किम्? **व्यवसायः** अधिगमाभावः। कथम्? **तथैव** तेनैव प्रकारेण। तथा हि–

विकल्पबुद्धयो यद्वद्दोषकल्पा अपि स्फुटम्।
बोधकत्वाभावेन विनश्यन्ति भवन्मते ॥ ४२७ ॥
निर्विकल्पधियोऽप्येवं[1] चक्षुरादीन्द्रियोद्भवाः।
विचारासहनाढीका विमुञ्चन्त्येव जीवितम् ॥ ४२८ ॥

यतः–

न तासामपि सामान्यं विषयत्वेन सम्मतम्।
एकस्य दोषो निःशेषस्तत्राप्येषः प्रसज्यते ॥ ४२९ ॥
[2]निरंशं वस्तु तद्वेद्यं केवलं परवाञ्छया।
न जातु न कश्चित्तादृक् पश्यामः प्रतिभासनम् ॥ ४३० ॥
अभावे सर्वबुद्धीनां बोद्धव्यस्यानवस्थितेः।
भावनैरात्म्यवादस्य साम्राज्यमधुनाऽऽगतम् ॥ ४३१ ॥
तस्यापि न व्यवस्थेति प्रागेवेदं निवेदितम्।
कल्पितं तत्र सामान्यं बौद्धानामवतिष्ठते ॥ ४३२ ॥
वस्तुभूतं तु तत्तेषां नास्त्येवानभ्युपगमतः।
ततो न तत्र निर्बन्धं शास्त्रकारः करोत्ययम् ॥ ४३३ ॥

भवतु वा किमपि सामान्यम्, तथापि शब्दस्मरणवच्चक्षुरादिबुद्धीनामपि व्यवसायास्येकत्वमनिवार्यमेव। तथाह–'**पदार्थ**' इत्यादि। पदमभिधानं तदेवार्थो विषयो येषां ज्ञानाना स्मरणरूपाणां तेषां भागा यद्विर्विषया अंशाः, नात्मविषयाः तेषामव्यवसायस्वभावत्वात्, तेषां व्यवसायो निश्चयस्वभावः। कुतस्तेषां सः? इत्याह–'**पदसामान्यनामतः**' इति। पदस्य स्मर्यमाणशब्दस्य सामान्यं तत्र नमनात् तद्ग्राहकत्वेनोपनिपातात्। ततः किम्? इत्याह–तथे (**तथैव ह**) त्यादि। तथैवेति[3] भवनात् यथैवेति लभ्यते–तयोर्नित्यसम्बन्धात्। ततोऽयमर्थः–यथैव शब्दस्मरणभागानां स्वविषयसामान्यगोचरत्वेन व्यवसायस्वभावत्वं तथैवं चक्षुरादिबुद्धीनामपि। न हि तासामपि पर्युदस्तसामान्यवस्तुवेदित्वम् अनुभवपथोपस्थापितमस्तीति भावः।

---

१ –धियोऽप्येवं आ०, ब०, प०, स०। २ निरंशक–ता०। ३ बौद्धोक्त्या। ४ मद्व्येपसामावात्। ५ –स्मरत्व–आ०, ब०, प०। ६ –ति सम्मते स०। ७ –त्वात् सम्ब–आ०, ब०, प०, स०। ८ –न च चक्षु –आ०, ब०, प०, स०। ९ अनुभवपथोपभासितप्रतीतेः। न चैकसमयपर्यवसितव्यापारकस्य तज्ज्ञानस्य पूर्वापरसमयगोचरत्वं सर्वस्य सदाकारवस्तुस्वभावत्वापत्तेः। तथाह–भीमदेवस्थितेऽप्याप्यं धृतिर्भवतीमयामिनि। तद्विचं च विज्ञानं न समयान्तरभाविनीति। न चापरापरसमयस्थापितमस्तीति–आ०, ब०, प०, स०। अनुभव स्थापितमस्तीति ता०।

स्यान्मतम्–न सामान्यं चक्षुरादि[1]ज्ञानस्य विषयः सम्भवति । तद्धि कल्पितम्, वस्तुभूतं वा भवेत् ? न तावत्कल्पितम्; तस्यावस्तुत्वेन तद्विषयस्य तज्ज्ञानस्यावस्तुविषयत्वोपपत्तेः । न चैतन्न्याय्यम्, तस्याऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । न ह्यवस्तुविषयं प्रत्यक्षं नाम; अतिप्रसङ्गात्, 'अञ्जसा' पदवैयर्थ्यापत्तेश्च निवर्त्त्याभावात् । अस्तु वस्तुभूतमेव सामान्यमिति चेत्; तदपि तद्भवसामान्यम्, सादृश्यसामान्यं वा भवेत् ? न तावत् [2]तद्भवसामान्यम्; [3]तद्धि कालत्रय[4]व्यापिरूपम्, तदपि कस्यचिद्विशेषात्मकस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य वा भवेत् ? विशेषात्मकस्य चेत्[5]; तस्यापि तद्रूपं प्रतिक्षणभेदिनश्चक्षुरादिप्रत्यक्षस्य वेद्यम्, कालान्तरव्यापिनो वा ? । न तावदाद्यस्य; तस्य वर्त्तमानसमयपर्यवसिते चक्षुरादिव्यापारे तदायत्तोत्पत्तिकत्वेन तत्समय एव [6]पर्यवसानात् । न चैकसमयपर्यवसिततद्व्यापारजन्मनः तज्ज्ञानस्य अपरापरसमयगोचरत्वम्; सर्वस्य सर्वाकारवस्तुदर्शित्वापत्तेः । तदाह–

"योग्यदेशस्थितेऽक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि ।
तदाश्रितश्च विज्ञानं न कालान्तरभाविनि ॥" [प्र०वार्तिकाल० २।१२६]

न चापरापरसमयप्रतिपत्तिमन्तरेण तद्व्यापित्वं कस्यचित्सुखावबोधम्; व्यापकप्रतिपत्तेर्व्याप्यप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात्, एकेन च प्रत्यक्षेण तद्ग्रहणे व्यर्थ एवापरापरश्चक्षुरादिव्यापारः स्यात् । [7]अपरापरतत्प्रत्यक्षार्थत्वान्न दोष इति चेत्; न; तस्य प्रयोजनाभावात् । कालान्तरव्याप्तिग्रहणं प्रयोजनमिति चेत्; न; तस्य प्रथमप्रत्यक्षादेव भावात् । नैकेन तद्ग्रहणम्; अपरापरेणैव तेन तद्ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत्; न; तस्यापि परापरसमयाननुसन्धायित्वेन स्वकालपर्यवसित एव [8]विशेषे व्यापारात् । तत्र क्षणक्षीणं प्रत्यक्षमेकमनेकं वा कालान्तर[9]व्यापिभावनिरीक्षणे दक्षतां कक्षीकरोति । मा भूत्तस्य[10] तन्निरीक्षणदक्षत्वं कालान्तरव्यापिनस्तु भवत्येवेति चेत्; न; तस्यापि प्रथमचक्षुरादिव्यापारादुत्पन्नस्यैव तत्र प्रवृत्तौ अपरापरतद्व्यापारवैकल्यप्रसङ्गात् । [11]तद्व्यापारादपि [12]तस्योत्पत्तिरिति चेत्; न; उत्पन्नस्योत्पत्त्ययोगात्, उत्पन्नस्यापराधीनस्वभावत्वात्, उत्पन्नस्यापि कालान्तरव्याप्तिः अपरापरतद्व्यापारादिति चेत्; न; [13]प्रागेव कालान्तरव्यापितयोत्पन्नत्वात्; [14]प्रागतद्व्यापितयोत्पन्नस्य पश्चात्तद्व्यापित्वं [15]तद्व्यापारादिति चेत्; न; प्राच्यातद्व्यापिरूपपरिक्षयाभावे हेतुशतेनापि पुनस्तद्व्यापिरूपकरणासम्भवात् [16]विरोधात् । तत्परिक्षयभावे पुनस्तदन्यदेव तद्व्यापारसम्पादितं भवेत् । तन्न तस्य[17] कालान्तरव्याप्तिः अपरापरतद्व्यापारात् । ततः कालान्तरव्याप्तिमन्ति दर्शनान्येव परापराण्युपजायन्त इति

---

१ –ज्ञानविष–आ०, ब०, प०, स० । २ तद्भावसा–आ०, ब०, प०, स० । ३ तस्य हि ता० । ४ –व्याप्तिरूपम् आ० ब०, प० । ५ चित्तस्यापि आ०, ब०, प०, स० । ६ पर्यवसात् न च तद्व्यापारस्य पूर्वापरसमयभावित्वप्रतीतेः न चैक–आ०, ब०, प०, स० । ७ अपरापरचक्षुरादिव्यापाराणाम् । ८ विशेषव्या–आ०, ब०, प०, स० । ९ –व्यापिनिरी–आ०, ब०, प०, स० । १० प्रत्यक्षस्य । ११ अपरापरचक्षुरादिव्यापारादपि । १२ प्रथमप्रत्यक्षस्य । १३ प्रागिव स० । १४ प्रागेव त–आ०,ब०,प०,स० । १५ अपरापरचक्षुरादिव्यापारात् । १६ विरोधात् तत्परिच्छेदात्किमेवं आ०, ब०, प०, स० । १७ प्रत्यक्षस्य ।

चेत्, न, तेषां प्रयोजनाभावात्। प्रथमतद्व्यापारोपजनितेनैव कालान्तरव्यापिना प्रत्यक्षेण भावसामान्यस्य परिच्छेदात् किमेव भावानां मेक्षावत्त्वमस्ति यत्सति प्रयोजने भवन्ति नासतीति ? स्वहेतुसामर्थ्यायत्तजन्मानो हि ते सत्यसति च प्रयोजने भवन्त्येव नियमेनेति चेत्, सत्यमेवैतत्, यदि तथादर्शनं तेषाम्, दृष्टे चानुपपत्तिपर्यनुयोगस्यासम्भवात्। न चैवम्। न चादर्शनपथप्रस्थायिनि वस्तुनि एवमुपवर्णनमुचितम्, अतिप्रसङ्गात्। तत्र कालान्तरव्यापिनापि प्रत्यक्षेण कस्यचित्कालान्तरव्यापिरूपं सूपमहम्। तत्र विशेषात्मनः कालान्तरव्यापिरूपं सम्भवति, असम्प्रतिपत्तेः। तदुक्तम्–

"एकत्र दृष्टो भेदो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते।" [प्र० वा० २।१२६]इति।

नापि विशेषव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्य तद्व्यापित्वम्, तद्व्यतिरेकस्यैवाप्रतिपत्तेः विशेषपुरःसरैवो पलम्भात्। यदि हि विशेषवत्सामान्यमपि स्यात् तद्बुद्धिरप्युपलभ्येत स्यात्, न चैवम्। न चानुपलभ्यस्यास्तित्वं व्योमकुसुमवत्। तदप्युक्तम्–

"न तस्माद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः॥"[प्र०वा० २।१२६]इति।

एतेन सादृश्यसामान्यमपि प्रत्युक्तम्, तस्यापि विशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात्, विशेषाणां चानन्वयात्। तत्र सामान्यविषयत्वमक्षज्ञानस्य यतो व्यवसायस्वभावत्वमिति।

तत्रेदमुच्यते–प्रथमस्तावद्विकल्पोऽनुपपन्न एव, क्षणक्षीणस्य प्रत्यक्षस्यान्वयविषयत्वाभावे निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। स्वरूपविषयत्वान्नेति चेत्, न तर्हीन्द्रियप्रत्यक्षत्वम्, स्वरूपे तद्व्यापाराभावात्। क्षणिकबहिर्वस्तुविषयत्वात् तत्प्रत्यक्षत्वमिति चेत्, तस्य तद्विषयत्वं कुतोऽवसीयते ? "योग्यदेशस्थितेऽक्षाणाम्"इत्यादिकाद्विचारादिति चेत, स विचारः किन्नाम प्रमाणं भवेत् ? प्रत्यक्षमिति चेत्, न, तस्य निर्विकल्पत्वेन एवंविचारकस्यायोगात्। विचारकस्यापि प्रत्यक्षत्वे तस्य समयत्रयगोचरत्वमुररीकर्तव्यम्, अन्यथा मध्यसमयपर्यवसितेन्द्रियव्यापारोपलक्षसत्ताकस्य कथमतिक्रान्तेऽनागते च प्रत्ययस्य प्रवृत्तिरिति ? अस्य तद्व्यापारस्यानुपपत्तेः। यदि हि तत्प्रत्यक्षं मध्यमसमयवत् पूर्वापरावपि समयौ पश्येत्तदा मध्ये इन्द्रियव्यापारस्य तत्प्रत्यक्षस्य च सद्भावं पूर्वापरयोश्च तदभावं पश्येत् नान्यथा। न हि भूतलमप्रतियत्प्रत्यक्षं तत्र कस्यचिद् भावमभावं वा प्रत्येतुमर्हति। भवतु तस्य समयत्रयगोचरत्वमिति चेत्, कथमुक्तम्–"न पूर्वं परत्र न परं पूर्वत्र प्रत्यक्षम्" [प्र०वार्तिकाल० २।१२६]इति ? प्रस्तुतप्रत्यक्षतत्परस्यापि प्रत्यक्षस्य पूर्वापरसमयविषयतोपपत्तेस्तत्कृतस्य विशेषान्वयग्रहणस्याप्यनिवारणात्। अतो निराकृतमेतत्–"व्यक्तीनां भावो न तासामन्वयः" [प्र० वार्तिकाल० २। १२६] इति। यदि पुनरिदमपि प्रत्यक्षं न पूर्वापरक्षणौ पश्यति कथं "तत्रेन्द्रियव्यापारतद्-

१ –जन्मनो आ०, ब०, प०, स०। २ तत्सत्ता च। ३ कालान्तरव्यापित्वम्। ४ सामान्यबुद्धिरपि। ५ निर्विकल्पत्व प्र–आ०, ब०, प०। ६ प्रमाणं तत्–आ०, ब०, प०, स०। ७ प्रत्यक्षस्य। ८ भवेत्प्रत्यक्षं तत्र कस्यचि–आ०,ब०,प०। ९ मध्यसमयव्यापारोपलक्षप्रत्यक्षस्य। १० प्रत्यक्षस्य। ११ पूर्वापरक्षणौ।

ध्यक्षयोरभावं पश्येत् ? । पश्यतु को दोष इति चेत्; न; 'अपरमपि प्रत्यक्षं पूर्वापरक्षणावप्रत्यक्षयदेव तत्र कस्यचिदन्वयं पश्यतु न कश्चिद्दोषः' इत्यपि प्रसङ्गात् । ततो 'न पूर्वं परत्र' इत्याद्यपि परस्य प्रयासमात्रमेव, तथापि कस्यचिदनिष्टस्याऽभावात् । तन्नायं विचारः प्रत्यक्षम् ।

अनुमानमिति चेत्; न; लिङ्गाभावात् । इन्द्रियव्यापाराश्रितत्वमेव लिङ्गम्, तेन तदध्यक्षस्य क्षणपर्यवसानसाधनादिति चेत्; क्व पुनस्तस्य स्वसाध्याविनाभावप्रतिपत्तिः ? संहृतसकलविकल्पावस्थायामिति चेत्; न; तस्या एवापरिज्ञानात् अनुपजातविकल्पकल्मापा निरंशक्षणक्षीणस्वपरविषयदर्शनप्रबन्धरूपा सेति चेत्; नन्वियं श्रुत एव भवद्वचनात् । न कदाचिदप्यनुभवपथमुपसर्पति अन्तर्बहिश्चान्वयिनो नानावयवसाधारणस्यैव चेतनस्येतरस्य च प्रतिपत्तिदर्शनात् ।

तस्माद् दुरन्तसंसारदुःखदावाद्भीरुभिः ।
अदृष्टा कल्पितैवेयं लोकविप्लवकारिणी ॥ ४३४ ॥

तर्हि विपक्षे समयान्तरप्रवृत्तिलक्षणे बाधकबलादविनाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्; न; विरोधाभावे बाधकानुत्पत्तेः । अस्तु क्षणमात्रपर्यवसितेन्द्रियव्यापारकृतं प्रत्यक्षं न च तन्मात्रपर्यवसितम्, किमत्र विरुद्धम् ? नियतातीतादिविषयत्वमेव । न ह्यतीतादिविषयत्वसम्भवे प्रत्यक्षस्य नियततद्विषयत्वं शक्यमुपपादयितुम्; तदन्यस्याप्यतीतादित्वाविशेषात् । एवञ्च सर्वः सर्वाकारदर्शी स्यात् । न चैवम्, अतीते स्मरणस्य अनागते च सम्भवानुमानस्य वैयर्थ्यापत्तेः । अतो विरोधबलोपनीतस्यातिप्रसङ्गस्यैव हेतुबाधकस्य विपक्षे सम्भवात् कथं तद्बलेनाविनाभावप्रतिपत्तिर्न भवतीति चेत् ? न; वर्त्तमानविषयत्वेऽपि दोषात् । तथा हि—

ग्रहणं वर्त्तमानस्य प्रत्यक्षेणावगच्छतः ।
सर्वस्य वर्त्तमानस्य तेनैव ग्रहणं भवेत् ॥ ४३५ ॥
प्रत्यक्षान्तरमन्यत्र तद्वृथैवोपकल्पितम् ।
गृहीतग्रहणाद्दोषात्परस्य स्मरणादिवत् ॥४३६॥
प्रत्यक्षं वर्त्तमानस्य यस्यैवाकारमुद्वहेत् ।
तस्यैव ग्रहणं तेन न सर्वस्येति चेन्मतम् ॥४३७॥
सर्वस्य वर्तमानत्वाविशेषात्स्वेष्टवस्तुवत् ।
तदेव नियतं कस्मादाकारोद्वहनं भवेत् ॥४३८॥
'यत्रैव योग्यमध्यक्षं तस्यैवाकारमुद्वहेत् ।
गृह्णाति च तदेव' इति प्रत्यवस्थानं सम्भवे ॥४३९॥
अतीतादिग्रहेऽप्येवं नियमः किन्न मन्यते ।
यत्प्रत्यक्षस्य तत्रापि सामर्थ्यं नियमान्वितम् ॥४४०॥

---

१ –क्षं यदेव आ०, ब०, प०, स० । २ कथञ्चिद्दोषः आ०, ब०, प०, स० । ३ –निष्टामा–आ०, ब०, प०, स० । ४ संहृतसकलविकल्पावस्था । ५ क्षणान्तर । ६ क्षणमात्र । ७ तद्वृथैवावक–आ०, ब०, प०, स० । ८ –न सम्भवेन् आ०, ब०, प० ।

'सामर्थ्यं ननु भावानां वेद्यते कार्यदर्शनात् ।
सामर्थ्यात्कार्यक्लृप्तिस्तु न युक्तान्योन्यसंश्रयात्' ॥४४१॥
इत्यपि प्रत्यवस्थानं क्षमो याहुल्यसम्भवम् ।
आकारनियमेऽप्येवं दोषव्याख्यानिषेधनात् ॥४४२॥
आकारनियमः सिद्ध प्रत्यक्षात्,'स तु किंकृतः' ।
इत्यत्राप्यक्षसामर्थ्यस्योत्तरत्वेन वर्णनात् ॥४४३॥
नान्योन्याश्रयदोषश्चेत्, गृहीतनियमेऽप्ययम् ।
समाधिः किन्न येन त्वं तत्रैवासि पराङ्मुखः ॥४४४॥

अपि च–

इन्द्रियस्याल्पकालत्वं तेनाप्यक्षे भवेद्यदि ।
कारणस्याल्पदेशत्वं कार्यं किन्नोपगच्छति ॥४४५॥
तथा सत्यल्पकाष्ठेन महाधूमसम्भवः ।
बीजादप्यणुनो न स्यात् स्थूलनालाङ्कुरोदयः ॥४४६॥
प्रतीतिबाधनान्नैवमिति चेदमिष्यते ।
कालदैर्घ्येऽपि संवित्ते प्रतीतिः किन्न विद्यते ॥४४७॥
देशव्याप्तिरणुत्वाच्च भावस्येत्यपि दुर्घटः ।
अवयव्यादिसंसिद्धेर्व्याख्यास्यानं निरूपणात् ॥४४८॥
न चापि देशव्याप्तित्वमत्रातीव प्रसक्तिमत् ।
योग्यतानियमं मुक्त्वा नान्यदस्ति च कारणम् ॥४४९॥
कालव्याप्तौ च बोधस्य सैं समानस्ततः कथम् ।
अतिप्रसङ्गो येनास्यौ बाधनं परिकल्प्यते ॥४५०॥

तच्च बाधकवत्तद्व्यत्ययाविनाभावनिश्चय । न चानिश्चिताविनाभावस्य गमकत्वम् अतिप्रसङ्गात् । तदयमप्रयोजको हेतुः। असिद्धश्च, इन्द्रियव्यापारस्य क्षणमात्रनियमभावप्रतिपत्तेरुपायाभावात्, अतीतस्य स्मरणेन भाविनश्च समयस्यानुमानेनावष्टम्भाच्च तत्रेन्द्रियव्यापार । न हि स्मरणानुमान व्यापार एवेन्द्रियव्यापारः तदभिमन्यमानस्यापि विषयपरिच्छेदस्याध्यक्षत्वप्रसङ्गादिति चेत्, न, अध्यक्षयोग्ये अतीते भाविनि च स्मरणानुमानप्रवृत्तेरभावात् । स्मरण हि नानासमयव्यवहित यथोपलब्धपूर्वे प्रवृत्तिमत्, न च तस्यानुनिकप्रत्यक्षविषयत्वम् । अनुमानस्य अनन्तरसमयगोचरत्वमपि न प्रत्यक्षविषयापेक्षम् अप्रत्यक्षविषय एव दार्वविपुतापुत्तरपरिणामावी तैरभ्युपगमात् । आनन्तर्याविक्षेपात्स्वपरिणामस्यापि कस्मान्नेन्द्रियविषयत्वमिति चेत् ? न, योग्यतानियमेन विषय-

१ तत्रैवासि च–आ०,ब०,प०। २ इन्द्रियप्रस्तावे । ३ कालव्याप्तौ आ०,ब०,प०,स०। ४ योग्यतानियम । ५ कालव्याप्ते । ६ प्रतिपत्त्युपाया–ता०, स० । ७ मनुमानाभ्युपगमात् । ८ धान्यविपुत्रापुत्तरपरिणामस्यापि ।

व्यवस्थाया निवेदितत्वात्। ततो नास्मादुपायादिन्द्रियव्यापारस्य क्षणनियमप्रतिपत्तिः। तद्[1]व्यापारजनितस्य प्रत्यक्षस्य क्षणनियमात् तद्व्यापारस्यापि त[2]न्नियमप्रतिपत्तिरिति चेत्; तत्प्रत्यक्षस्य कुतस्तन्नियमः? त[3]द्व्यापारस्य तन्नियमादिति चेत्; न; परस्पराश्रयात्–इन्द्रियवृत्तेः क्षणनियतत्वे तत्प्रत्यक्षं क्षणनियतं स्यात्, तत्प्रत्यक्षक्षणनियतत्वादिन्द्रियवृत्तिः क्षणनियता स्यादिति। स्वत एवेन्द्रियवृत्तेस्तन्नियमः प्रतीयत इति चेत्; न; तद्वृत्तेरचेतनत्वात्। चेतनैव तद्वृत्तिः त[4]द्वृत्तित्वात् स्वप्नोपलब्धतद्वृत्तिवदिति चेत्; न; तदचेतनत्वस्य "विप्लुताक्ष" [5]इत्यादौ निराकरणात्। तन्न कुतश्चिदपि तद्व्यापारस्य तन्नियमस्य सिद्धिः।

सिद्धस्यापि न गमकाङ्गत्वं व्यभिचारात्। दृश्यते हि समयपर्यवसितादपि तद्व्यापाराद् अलातक्षणेष्वन्वयदर्शनम् अन्यथा चक्रभ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् तस्यास्तदन्वयज्ञानरूपत्वात्, तज्ज्ञानस्य चेन्द्रियजत्वात्। उपघातवशादल्पसमयादपि [6]तद्व्यापाराच्चक्रज्ञानमविरुद्धमिति चेत्; न; स्तम्भक्षणेष्वपि तत एवान्वयज्ञा[7]नस्याविरोधप्रसङ्गात्। कुतस्तत्रोपघात इति चेत्? अलातक्षणेषु कुतः? तेषामेव शीघ्रवृत्तितिरोहितभेदान्वयादिति चेत्; न; स्तम्भक्षणानामपि शीघ्रवृत्तित्वाविशेषात्, अन्यथा विलम्ब्य प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। उपघातजत्वे[8] अलातचक्रज्ञानवत् तदन्वयज्ञानस्यापि विभ्रमः स्यादिति चेत्; न; [9]तथापि व्यभिचारस्यापरिहारात्। अपि च, यदि [10]तदविभ्रमेण प्रयोजनं मा भूदुपघातनिबन्धनं तदन्वयज्ञानम्, अनुग्रहनिबन्धनं तु स्यात्, विषयक्षणान्वयेन वस्तुभूतेनैव तदिन्द्रियस्यानुग्रहात्। विषयस्याकारणत्वात् कथं तदन्वयस्यानुग्राहकत्वमिति चेत्; उपघातकत्वं कथम्? सौगते मते विषयस्य[11] कारणत्वादिति चेत्; अनुग्राहकत्वमपि तत एवास्तु [12]तं प्रत्येव तदन्वयस्य वस्तुभावोपपादनात्, तद्वस्तुभावस्यापरिस्खलितात्तज्ज्ञानादेव प्रतिपत्तेः। न चैवम् अलातचक्राकारस्यापि वस्तुभावः; करव्यापारकृतशी-[13]घ्रपरिवर्त्तनाभावेऽपि तत्प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्, वस्तुप्रतिपत्तौ तत्परिवर्त्तनस्याकिञ्चित्करत्वात्। तदेव तत्र सामग्रीति चेत्; गतमिदानीं विभ्रमवार्त्तया, काचादेरपि रजनीकर[14]द्व्याकारप्रतिपत्तौ सामग्रीरूपत्वोपपत्तेः[15], [16]तद्द्व्याकारस्यापि वस्तुत्वप्रसङ्गात्। बाधकप्रत्ययोपनिपातस्य चक्राकारेऽपि भावात्। तन्नापरिस्खलितप्रत्ययवेद्यत्वं [17]तदाकारस्य यतो वस्तुभावः स्यात्। स्तम्भाद्यन्वयज्ञानमपि परिस्खलितमेव [18]मनोविकल्पत्वान् मरीचिकातोयविकल्पवत्। क्षणक्षीणानि हि स्तम्भस्वलक्षणानि प्रत्यक्षतो वेद्यन्ते, तदनन्तरकालभावी तु मनोविकल्पः तदन्वयमविद्यमानमेवोपदर्शयतीति चेत्; न; तस्येन्द्रियव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायिनो मनोविकल्पत्वानुपपत्तेः अलातचक्रविभ्रमस्यापि [19]तद्विकल्पत्वप्रसङ्गात्। तथा च व्याहतमेतत्–

---

१ इन्द्रियव्यापार। २ क्षणनियमप्रतिपत्तिः। ३ इन्द्रियव्यापारस्य। ४ तद्वृत्तत्वा–आ०,ब०,प०,स०। ५ न्यायवि०श्लो० ४८। ६ इन्द्रियव्यापारात्। ७ ज्ञानविरो–आ०,ब०,प०,स०। ८ –जन्त्वलात–आ०,ब०,प०, स०। ९ तदापि आ०,ब०,प०। १० अन्वयज्ञानस्य सत्यत्वेन। ११ –स्याकार–आ०,ब०,प०,स०। १२ सौगतम्। १३ –ग्रपरिवर्तनमा–आ०,ब०,प०,स०। १४ –करव्यापार–आ,ब०,स०।–करयव्यापार–प०। १५ –रूपत्वापत्तेः प०। १६ चन्द्रद्व्याकार। १७ अलातचक्राकारस्य। १८ मनोविकल्पत्वान् आ०,ब०,प०,स०। "परस्परविविक्ताणुप्रथमप्रतिभासनम्। विकल्पकात्तु विज्ञानात् घनाकारावभासिता॥" –प्र०वार्तिकाल० २।२९६। १९ मनोविकल्पत्व।]

"शीघ्रवृत्तेरलातादेरन्वयप्रतिघातिनी ।
चक्रभ्रान्तिं दृगाधत्ते न दृशां घटनेन सा ॥" [प्र०वा० २।१४०] इति ।

स्पष्टप्रतिभासत्वात् न चक्रसंवेदनस्य मनोविकल्पत्वम् । न हि तद्विकल्पाः स्पष्टावभासिनो भवन्ति । "न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।" [प्र०वा० २।२८३] इति वचनादिति चेत्, न, स्तम्भाद्यन्वयज्ञानेऽपि स्पष्टप्रतिभासाविशेषात् । दर्शनसान्निध्यहेतुः तत्र तत्प्रतिभास इति चेत्, न, चक्रसंवेदनेऽपि तत एव तदापत्तेः । तन्न तदन्वयज्ञानस्य मनोविकल्पत्वम् ।

'ननु इन्द्रियव्यापारस्य अनुमहवशादन्वयज्ञानहेतुत्वे प्रथमतद्व्यापारादेव तदुत्पत्ते अपरापरव्यापारेण किं कर्त्तव्यम् ? परापरं तज्ज्ञानमेवेति चेत्, न, तस्यैव प्रयोजनानवधारणात् । अन्वयग्रहणस्य प्रथमज्ञानादेव भावात् ।' इत्यपि अलातचक्रज्ञाने समानः पर्यनुयोगः–प्रथमेन्द्रियव्यापारादेवोपपातवशात् तज्ज्ञानोत्पत्तेरपरापरव्यापारस्य तत्कृतस्य चापरापरज्ञानस्य वैयर्थ्याविशेषात् । अपरापरज्ञानेनैव चक्रभ्रमप्रतिपत्तौ अन्वयप्रतिपत्तिरपि तथैवास्तु । तथा च व्याहतमेतत्–
"तथा सति परापरदर्शनानां विच्छेदात् एकेनापि न तत्कालान्तरस्थानग्रह" [ ] इति ।
तन्न क्षणपर्यवसितस्येन्द्रियव्यापारस्य गमकत्वम् व्यभिचारात् । ततो नानुमानत्वमपि विचारस्य ।

अथ स्तुर्मस्पर्शी विकल्पः व्यवहार्थं कश्चिन्न प्रमाणमिति चेत्, कथमतः प्रत्यक्षस्य क्षणनियमप्रतिपत्तिः ? तद्विपर्ययप्रतिपत्तेरपि तत एव प्रसङ्गात् । तादृशाद् विकल्पात्स्वरूपमिथ्यासिद्धिं निवारयन् तत एव स्वाभिमतमवस्थापयतीति किमतः परं परस्य साहसमुद्भावयामः । तथा च पठति–

"सर्वथा वितथार्थत्वे सर्वेषामभिलापिनाम् ।
ततो वेद्यव्यवस्थानं प्रत्यक्षस्येति साहसम् ॥" [न्यायवि०श्लो०१५६] इति ।

तत्र विचारपक्षान्तरलक्षस्य अगतिकत्वमेवावगमः । स्वत एवेति चेत्, न, तथैवासम्प्रतिपत्तेः । एतदेवाह–

आत्मनाऽनेकरूपेण बहिरर्थस्य तादृशः ।
विचित्रं ग्रहणं व्यक्तं विशेषणविशेष्यभाक् ॥८॥ इति ।

'चक्षुरादिधियाम्' इत्यनुवर्तते । तदयमर्थः –चक्षुरादिज्ञानानाम् आत्मना स्वभावेन बहिरर्थस्य स्तम्भादेर्यद् ग्रहणं संवेदनं तद् व्यक्तम् उपहसनपरमेतद् अव्यक्ते व्यक्तोपादानाम् अव्यक्तमित्यर्थः । कीदृशेन तेन कीदृशस्य तस्य ग्रहणं व्यक्तमिति चेत् ? अनेकरूपेण । न विद्यते एकमन्वितं रूपं यस्य तेन क्षणिकेनेति यावत् । तादृशः अनेकरूपस्य क्षणिकस्येति यावत् ।

1 पातेन आ०, ब०, प०, म० । 2 "न विकल्पानुबद्धस्य "–प्र० वार्तिकाल० । "न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता ।"–प्र० वा० म० । 3 स्तम्भादन्वयज्ञाने । 4 स्पष्टप्रतिभासः । 5 दर्शनसान्निध्यहेतुः । 6 अन्वयज्ञानमेव । 7 प्रथमतद्–आ०, ब०, प० । 8 –न् तत्र आ०, ब०, प०, म० ।

अध्यक्षाद्यक्षणक्षीणान् क्षणिकस्यैव वेदनम् ।
तदव्यक्तं समाचष्टे सूरिर्मानविवर्जनात् ॥४५१॥
विचारस्य प्रमाणत्वं तत्र पूर्वं निवारितम् ।
शास्त्रकारस्तदेवाह [1]'विशेषणविशेष्यभाक् ॥४५२॥ इति ।

विशेषणं चक्षुरादिव्यापारस्य क्षणनियम एव विशिष्टज्ञानहेतुत्वात्, तच्च[2] **विशेष्यं** च तत्कृतं प्रत्यक्षस्य क्षणविषयत्वम्, ते स्वविषयत्वेन भजत इति **विशेषणविशेष्यभाक्**। विचाररूपं तदपि **व्यक्तम्**, अत्राप्युपहसनं तस्याप्रमाणत्वेन निरूपणात्, अप्रमाणोपाश्रयणेन कस्यचिदप्यसिद्धेरिति भावः। स्वसंवेदनमेव तर्हि तत्र[3] प्रमाणमिति चेत्; अत्राह–**'विचित्रम्'** इति। चिदिति चिच्छक्तिरनुभव इत्यर्थः, सैव त्राणं त्रा परिरक्षणं यस्य तच्चित्रम्, तद्विपरीतं **विचित्रं**–क्षणक्षयविषयत्वं प्रत्यक्षस्य। अनुभवप्रसिद्धं खल्वनुभवपरिरक्षितं[4] भवति। न चेदं तत्प्रसिद्धम्। न हि प्रत्यक्षं किञ्चिदपि क्षणविषयत्वेनात्मानमावेदयदुपलभ्यते। न चानुपलब्धस्य कल्पनम् अतिप्रसङ्गात्। तन्न क्षणविषयं प्रत्यक्षम्। न च तस्य[5] निर्विषयस्य सम्भव इत्यसम्भवे[6] असम्भव्येव प्रथमो[7] विकल्पः।

[8]'द्वितीयस्तु निरुपद्रव इति तमुपाश्रित्य प्रत्यक्षस्य सामान्यविषयत्वनिवेदनेन व्यवसायात्मकत्वं व्यवस्थापयन्नाह–**'आत्मना'** इत्यादि। **आत्मना** चक्षुरादिबोधस्वभावेन **ग्रहणं** साक्षात्करणं **बहिरर्थस्य** घटादेः **व्यक्तं** सर्वजनप्रसिद्धमिति। अनेन–

अशक्यप्रतिषेधत्वं बहिरर्थस्य दर्शयन् ।
विज्ञानमात्रवादादेर्वक्ति स्वेच्छानिबद्धताम् ॥४५३॥

कथं पुनर्बहिरर्थस्य ग्रहणम्? कथञ्च न स्यात्? एकरूपत्वे तदयोगात्। यद्येकमन्तर्भावग्रहणप्रवृत्तमेव प्रत्यक्षस्य रूपम्; कथं तेन बहिर्भावस्य ग्रहणम्, बहिर्भावस्याप्यन्तर्भावत्वप्रसङ्गात्? न हि अन्तर्भावग्रहणैकरूपेण गृह्यमाणस्य बहिर्भावत्वम्; अन्तर्भावस्यापि तद्भावाभावप्रसङ्गात्[9]। बहिर्भावग्रहणप्रवृत्तमेव तर्हि तस्य[10] रूपमिति चेत्; न; अन्तर्भावस्याननुभवप्रसङ्गात्। न चानुभवानाघ्रातस्य बहिर्भावगोचरत्वम्; **'परोक्ष'** इत्यादिना[11] तन्निराकरणात्। तत्कथं बहिर्भावग्रहणं सुप्रसिद्धम्, असम्भवदर्थस्य सुप्रसिद्धत्वायोगादिति चेत्? अत्राह–**'अनेकरूपेण'** इति। अनेकम् आत्मनि[12] व्यापृतमन्यत् अन्यच्चार्थे रूपं यस्य तत् **अनेकरूपम्**, तेनेति।

अनेकरूपं प्रत्यक्षमात्मार्थग्रहणक्षमम् ।
एकस्वभावपक्षोक्तदोषेणालिप्यते कथम् ? ॥४५४॥

---

१ विशेषेण वि–आ०, ब०, प०, स० । २ चैतत्कृतम् आ०, ब०, प०, स० । ३ तत्प्रमा–आ०, ब०, प०, स० । ४ परीक्षितं आ०, ब०, प० । ५ प्रत्यक्षस्य । ६ प्रत्यक्षस्याऽसम्भवे । ७ 'विशेषात्मकतद्भवसामान्यस्वरूपं प्रतिक्षणभेदिनः चक्षुरादिप्रत्यक्षस्य वेद्यम्' इत्याकारकः । द्रष्टव्यम्–पृ० १४२ पं० ७। ८ 'कालान्तरव्यापिनो वा' इत्याकारकः । ९ अन्तर्भावाभाव । १० प्रत्यक्षस्य । ११ न्यायवि० श्लो० ११ । १२ आत्मनि व्यावृत्तम् आ०, ब०, प० । आत्मव्यापृतम् स० ।

वेद्यमेकस्वभावेन रूपं तद्वेदनेककम् ।
तस्य नानास्वभावत्वमेवं सति सुदुर्घटम् ॥४५५॥

एकरूपग्रहाविष्टस्वभावस्यैव तत्परम् ।
विषयीभावमापन्नं कथं तस्मात्पृथक् मतेः ? ॥४५६॥

वेद्यं नानास्वभावेन संन्वेदस्यादनवस्थितिः ।
तस्यापि नानारूपेण परेणैव प्रवेदनात् ॥४५७॥

इति चेत्, अत्र प्रतिविधानम्–

अनेकरूपज्ञानं हि नान्यत्प्रत्यक्षवेदनात् ।
किं तत्रानेकरूपस्य परस्य परिकल्पनम् ॥४५८॥

अनवस्थानदोषःस्थित्यं यत्सामर्थ्यादुपस्थितम् ।
बहिरर्थपरिज्ञानं निरुणद्धि प्रसिद्धिमत् ॥४५९॥

न हि प्रत्यक्षवेदनादन्यदेव अनेकरूपवेदनम् । तच्च तच्छक्तिरूपादु[1]पपन्नमेव, ततः किं तत्रापरानेकरूपपरिकल्पनेन ? यतोऽयमनवस्थानदोषो बहिरर्थपरिच्छेदप्रसिद्धिविध्वंसकारी निराबाधवृत्तिः प्रवर्तेत । यदि प्रत्यक्षाद्व्यतिरिक्तमेवानेकरूपं तत्परिज्ञानविषयत्वात् तद्रूपवत्, तथा चान्येन रूपेणार्थवेदनम् अन्येन च स्ववेदनमिति स्वराद्धान्तो विरुध्यत इति चेत्, न, सर्वथा तद्व्यतिरेकस्याशक्यसाधनत्वात् । सर्वथा हि प्रत्यक्षादनेकरूपस्याव्यतिरेके तदेव प्रत्यक्षं निर्भागमवशिष्येत । न च निर्भागं प्रत्यक्षमन्यद्वा वस्तु किञ्चित्सम्भवति निरवयवप्रमाणसंवेदनत्वाभावादिति करिष्यते पश्चात् प्रबन्धः । कथञ्चिद्व्यतिरेकसाधनं तु सिद्धसाधनमेव, रूपतद्वतरन्तव्यतिरेकस्यानभ्युपगमात् । नन्वेवमपि येनात्मना प्रत्यक्षात्तद्व्यतिरिक्तं तेन तत्परिज्ञानमेव तस्यापि परिज्ञानमस्तु, येन तु तद् व्यतिरिक्तं तेनान्यदेव तद्वेदनाद् अनेकरूपवेदनमिति तन्निबन्धनमन्यदेव शक्तिरूपं परिकल्पयितव्यम्, तद्रूपवेदनमप्यन्यस्मादेव शक्तिरूपादिति तदवस्थमनवस्थानमिति चेत्, अन्यदेव तद्वेदनमिति कुतः ? तथैवानुभवादिति चेत्, न, रूपतद्विषयस्य वेदनद्वयस्याननुभवात् । अनुभवे वा कथमनवस्थानं तस्यानुभवमविकृत्यत्वात्, तदिदमन्योन्याश्रयम्–'अनुभवश्चानवस्थानं च' इति । यदि भिन्नं तद्वेदनं नास्ति, कथं तत्र प्रत्यक्षस्य वेदनम् ? अवेदनविषयस्य शक्तिरूपस्य तद्वेदनानङ्गत्वात्, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यविदितस्यैव अर्थवेदननिबन्धनत्वापत्तेरिति चेत्, कस्तस्यावेदनमाह ? प्रत्यक्षतादात्म्येन तद्वेदनस्याभिहित-

१ प्रत्यक्षस्य । २ प्रत्यक्षस्य अनेकरूपम् । ३ –दुपपन्नमेव ता० । ४ –कारिनिरा–आ०, ब०, प०, स० । ५ –व्यतिरिक्त–आ०, ब०, प०, स० । ६ विरुध्येत आ०, ब०, प०, स० । ७ रूपतद्वतो । ८ तत् अनेकरूपम् । ९ प्रत्यक्षपरिज्ञानमेव । १० अनेकरूपस्यापि । ११ अनेकरूपम् । १२ प्रत्यक्षवेदनात् । १३ रूपं तस्य–आ०, ब०, प०, स० । १४ रूपाद्वि–आ०, ब०, प०, स० । रूपतद्वतोद्वयोरपि । १५ –नव-स्थि–ता० । १६ अनेकरूपवेदनम् ।

त्वात् । अपरिज्ञातेन रूपेण कथं त[1]स्य प्रत्यक्षपरिज्ञानाङ्गत्वमिति चेत् ? न ; सर्वात्मना परिज्ञात[2]स्यैव तस्य तदङ्गत्वमित्यनभ्युपगमात् । तद्भेदस्यापरिज्ञाने कथमस्तित्वमिति चेत् ? न ; कार्यभेदादेव तद्भेदस्य सु[3]परिज्ञानत्वात् । भिन्नं हि तत्कार्यमर्थवेदनं स्वसंवेदनं च । न हि तदेकरूपत्वे सत्युपपन्नम्, उक्तत्वात् न्यायस्य । न चैकान्तिकस्तद्भेदः ; का[4]र्यभेदस्याप्यैकान्तिकत्वाभावात् । न हि स्वसंवेदनादर्थवेदनं ततो वा स्वसंवेदनमेकान्ततो भिन्नम् ; अभेदस्यापि कथञ्चिदुपलम्भात् । नन्वेवं वहिरपि नानानीलपीतादिविपयत्वे कथञ्चित्संवेदनभेदः तन्निवन्धनश्च रूपभेदः प्राप्नोतीति चेत् ; सत्यमेतत् ; न्यायोपपन्नत्वात् । अनेकरूपत्वमपि त[5]स्य यद्येकरूपनिवद्धमेव, अनेकसंवेदनत्वमेव तस्य त[6]न्निवद्धमस्तु किमनेकरूपत्वकल्पनया ? तदपि तदपरानेकरूपनिवद्धमेवेति चेत् ; न ; तस्यापि तदपरानेकरूपनिवद्धत्वकल्पनायामनवस्थापत्तेरिति चेत् ; न ; पूर्वपूर्वानेकरूपनिवद्धस्य उत्तरोत्तरस्य तद्रूपस्योपपत्तेः अव्यवस्थितदोपाभावात् अनादित्वेनोपादानोपादेयभावस्य प्रकल्पना ।

भवतु वहिरर्थस्य ग्रहणम्, अन्वितस्य तु कथं ग्रहणम् ? प्रत्यक्षस्य क्षणपर्यवसायित्वेन तदन्वयाधिष्ठानपूर्वापरक्षणगोचरत्वाभावादिति चेत् ; न ; [7]तस्य [8]तत्पर्यवसायित्वाभावात्, कालान्तरावस्थायित्वेन प्रथमलोचनादिव्यापाराद्रुत्पत्तेः । अपरापरस्तर्हि तद्व्यापारः कैमर्थक्यात् ? प्रथमप्रत्यक्षादेव वहिर्भावान्वयस्य प्रतिपत्तेः प्रत्यक्षान्तरस्यानपेक्षणादिति चेत् ; न ; तेन[9] [10]तत्रैवापरापरस्यातिशयस्य साधनात् । तथा हि–

अक्षव्यापारतः प्राच्याद्रुत्पन्नस्य दृगात्मनः ।
[11]अन्यतोऽवग्रहात्मत्वमीहनात्मत्वमन्यतः ॥४६०॥

अन्यतोऽवायरूपत्वं धारणात्मत्वमन्यतः ।
तद्व्यापारात्ततो नास्ति वैफल्यं [12]तस्य तात्त्विकम् ॥४६१॥

तदेवाह–**अनेकरूपेण** । अनेकम् अपरापरलोचनादिव्यापारोपनीतप्रादुर्भावोपग्रहम् अवग्रहादिविशेपाभिख्यं रूपं यस्य तेनेति । ततो निराकृतमेतत्–"**ग्रहणस्य तु कालान्तरस्थानवत्त्वे सकृदेव तथा ग्रहणमिति । तदेव चक्षुरनुवर्त्तनं वृथेति प्राप्तम्**" [ ] इति ।

स्यान्मतम्–प्रत्यक्षात् [13]तद्विशेषस्यानर्थान्तरत्वे [14]तद्वत् प्रथमचक्षुरादिव्यापारादेवोत्पन्नत्वात् किं पुनस्तद्व्यापारानुवर्त्तनेन ; अर्थान्तरत्वे तु कथं तस्येति व्यपदेशः सम्वन्धाभावात् ? तद्विशेषात्प्रत्यक्षस्योपकारः सम्वन्ध इति चेत् ; न; [15]तस्यापि [16]तस्मादनर्थान्तरत्वे पूर्ववद्दोषात्, अर्थान्तरत्वेऽपि सम्वन्धाभावेन व्यपदेशानुपपत्तेः । उपकारादप्युपकारान्तरसम्वन्धपरिकल्प-

---

१ अनेकरूपस्य । २ –तस्य तस्यैनद–आ०,व०,प०,स० । ३ स्वपरि–आ०,व०,प०,स० । ४ कार्यभेदस्यैका–आ०, व०, प०, स० । ५ प्रत्यक्षस्य । ६ तन्निवन्धनम्–आ०, व०, प०, स० । एकरूपनिवद्धमस्तु । ७ प्रत्यक्षस्य । ८ क्षणपर्यवसायित्वाभावात् । ९ अपरापरव्यापारेण । १० प्रत्यक्ष एव । तत्रैवापरापराति–आ०, व०, प०,स० । ११ व्यापारात् । १२ अपरापरव्यापारस्य । १३ अवग्रहाद्यात्मकस्य अतिशयस्य । १४ प्रत्यक्षवत् । १५ उपकारस्यापि । १६ प्रत्यक्षात् ।

नायामनयस्याप्रसङ्गादिति, तदपि न सम्यक्, एकान्तभेदाभेदयोः एव दोषेऽपि कथञ्चित्पक्षस्याप्रतिक्षेपात्। 'कथञ्चित्' इति अन्यपदमात्रमेतत्, तदर्थस्य जात्यन्तरस्याप्रसिद्धेरिति चेत्, न, तस्यानुभवोपारूढत्वात् निरवद्यानुमानगोचरत्वेन च सुप्रसिद्धत्वात्। तच्चेदमनुमानम्–क्रमभूत्यनेकरूपं चक्षुरादिबोधात्मा बोधत्वात् विचारवत्। कः पुनर्विचारः इति चेत्?

"एकत्र दृष्टो भेदो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते।
न तस्माद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः॥" [प्र०वा० ३।१२६]

इत्ययमेव। कथमस्य निदर्शनत्वं चक्षुरादिविज्ञानात्मनः क्रमानेकरूपत्वे स्यादिति चेत्? उच्यते–अस्य खलु क्रमप्रवृत्ता बहव उल्लेखाः 'एकत्र' इति 'दृष्ट' इति 'भेद' इति 'क्वचित्' इति 'नान्यत्र' इति एवमुत्तरेऽपि। तेषाञ्च निरन्वयविच्छिन्नानां विचारत्वम्, अन्वितैकज्ञानाधिष्ठानानां वा? निरन्वयविच्छिन्नानामपि प्रत्येकं विचारत्वे–

प्रथमोल्लेखनादेव सामान्याभावनिर्णयात्।
तदुत्तरोत्तरोल्लेखा भवेयुर्निष्प्रयोजनाः॥४६२॥
[1]सतस्त्वनिश्चयेऽप्यादिविचक्षुर्व्यापारतोऽन्यथा।
तदुत्तरोत्तरश्चक्षुर्व्यापारो व्यर्थकः कथम्?॥४६३॥
सम्भूयैव विचारत्वं तेषामित्यप्यसङ्गतम्।
धर्मिणां सम्भवाभावात् क्षणक्षीणात्मनां मिथः॥४६४॥

न हि सम्भूय तेषां विचारत्वम्, क्रमभावित्वे सम्भवाभावात्। नापि प्रत्येकम्, एकत्र एव सामान्याभावनिर्णीतावुल्लेखान्तराणां वैयर्थ्यापत्तेः, अपि तु सर्वेषामेव तेषां विचारत्वम्। कालान्तरानुसन्धानशून्यानामपि तेषामेकत्र तन्निर्णये व्यापारादिति चेत्, न, कालप्रत्यासन्नस्यैव तत्र व्यापार(र) सम्भवात्, व्यवहितानां तु पूर्वपूर्वोल्लेखानां तदयोगात्, अन्यथा सामान्यज्ञानेऽपि क्षणिकक्रमभाविचक्षुरादिव्यापाराणां कारणत्वोपपत्तेः तत्प्रतिक्षेप" प्रज्ञाकरस्य प्रेक्षावदपाकुर्यात्।

अपि च, 'सर्वेषाम्' इत्युक्तम्, तत्र कः सर्वशब्दार्थः? निरवशेषसमुदाय इति चेत्, अयमपि कस्य व्यापारः? कस्यचिदेकस्यैवेति चेत्, तस्यापि तर्हि विचारोल्लेखान् 'एकत्रेति प्रथम उल्लेखो दृष्ट इति द्वितीयो भेद इत्यादिस्तृतीयादिः' इत्युल्लिख्यतोऽपि समुदितानां विचारत्वप्रहव एकोल्लेखाः प्रापाः, तेषामपि क्षणध्वंसिनां न प्रत्येकं समुदायकत्वं पूर्ववदुल्लेखान्तरवैयर्थ्यापत्तेः। नापि सम्भवोपार्पितानाम्, क्रमभावित्वेन तदभावात्। तेषामपि सर्वेषामेव

१ कथञ्चित्पक्षस्य–आ०,ब०,प०,स०। २ "कथञ्चिदित्यनर्थकमेतत्"–हेतुबि०टी०पृ० २४। ३ –चार्थ इद्–आ०,ब०,प०,स०। ४ एकत्रेति तल्लेखेः। ५ दृष्ट भेद इत्युल्लेखाः। ६ धर्मकीर्ति ...[illegible]... इति। ७ –प्रवृत्ता–आ०,ब०,प०,स०। ८ प्रथमत्वम् स०। ९ न सम्भूय ता०। १० ...[illegible]...–आ०,ब०,प०,स०। तत्र पाठोऽयं त्रुटितः। ११ "...[illegible]..."–प्र०वार्तिकाल० ३।११९। १२ –सुरे...[illegible]...–आ०, ब०, प०, स०।

समुच्चयप्रयोजननिबन्धनत्वमिति चेत्; न; तत्रापि 'अपि च' इत्यादे[1]: प्रसङ्गस्यानिवर्तनात् चक्रकापत्तेः अनवस्थोपनिपाताच्च । तन्न[2] विकल्पात् विचारोल्लेखानां सम्भवति समुच्चयः । सन्तानात् सम्भवतीति चेत्; न; तत्रापि विकल्पवद्दोषात्। अपि च,

समुच्चयः कथं तस्मात्सन्तानश्चेदवस्तुसन् ।
तत एवान्यथा प्राप्तमन्यदप्यर्थवेदनम् ॥४६५॥
तत्पूर्वत्वात्पुमर्थस्य व्युत्पाद्यः स्यान्न स एव वः ।
निष्प्रयोजनमेवातः[3] सम्यग्ज्ञानविचारणम् ॥४६६॥
तस्य[4] वस्तुत्वमारोपादित्यप्येतेन चिन्तितम् ।
किञ्चारोपेण वस्तुत्वमवस्तुत्वान्न भिद्यते ॥४६७॥
अन्यथा माणवोऽप्यग्निरध्यारोपेण कल्पितः ।
सुप्रसिद्धाग्निवत्कुर्यात् किन्न पाकप्रयोजनम् ? ॥४६८॥
वस्तुसन्नपि सन्तानो भिद्यते चेत्प्रतिक्षणम् ।
विचारोल्लेखभागोक्तैरेष दोषैर्न मुच्यते ॥४६९॥
न चेद्भिद्येत; भिद्येत[5] क्षणभङ्गिजगत्कथा[6] ।
अचित्त्वादन्वितोऽप्येषः समुच्चयकरः कथम् ?॥४७०॥
[7]चित्त्वेऽप्येकस्वभावत्वे सन्तानान्न समुच्चयः ।
तस्मिन्नयं चायं चेति व्यापारस्याप्यसम्भवात् ॥४७१॥
[8]चित्पर्ययस्वभावत्वे मतान्तरगतिर्भवेत् ।
तन्न सन्तानतो युक्तं सर्वशब्दार्थकल्पनम् ॥४७२॥
अनेनैव पथाऽऽत्मापि यौगोक्तः प्रतिवर्णितः ।
तस्याप्यचेतनत्वेनानधिकारात्समुच्चये ॥४७३॥
चेतनेन स्वनिष्ठेन समुच्चेता स चेन्मतः ।
प्रत्युल्लेखगतं तद्वा यद्वैकोल्लेखगोचरम् ? ॥४७४॥
एकोल्लेखगतेनासौ चेतनेन कथं पुमान् ।
अन्योल्लेखानविज्ञातान् समुच्चयपथं नयेत् ? ॥४७५॥
अतिप्रसङ्गदुष्टोऽयमविज्ञातसमुच्चयः ।
एवं हि चेतनं न स्यादेकोल्लेखेन सार्थकम् ॥४७६॥
प्रत्युल्लेखगतत्वे तु तस्यापि क्रमभाविनः ।
उल्लेखा बहवस्तेषामपि क्षणविनाशिनाम् ॥४७७॥

---

१ त्यादिप्र–आ०, ब०, प०, स० । २ तन्निर्विक–स० । ३ न-एवातः –आ०, ब०, प०, स० । ४ सन्तानस्य । ५ –ते चित्र–आ०, ब०, प०, स० । ६ –त्कथाम् आ०, ब०, स० । ७ चित्तोऽप्य–आ०, ब०, प०, स० । ८ चित्पर्याय–आ०, ब०, प०, स० ।

न तत्समुच्चयाङ्गत्वं प्रत्येकं प्राग्वदूषणात् ।
नापि सम्भूय, सम्भूतेः क्रमभाविष्वसम्भवात् ॥४७८॥
समुच्चितास्तदङ्गं चेत्, कः समुच्चयकृत् ? पुमान् ।
न, अनेनैव पर्येत्यादेर्दोषस्यात्राभियोगतः ॥४७९॥
सचक्रकानवस्थानदूषणस्यानिवारणात् ।
तस्मान्न क्षणिकोद्देशैः सर्वैरपि समुच्चयः ॥४८०॥
कथञ्चिद्भिन्नैस्तैः समुच्चेता पुमान्यदि ।
तैर्भिन्नत्वे पुमानन्यो निष्फलः परिकल्प्यते ॥४८१॥
स्मृतिप्रत्यवमर्शादेरात्मकार्यस्य सर्वथा ।
तत्रैवान्वितविज्ञाने सर्वस्यापि समाप्तितः ॥४८२॥
सूरिणा स्वयमेवेदं यथास्थानं वदिष्यते ।
तथात्मापि स्वनिष्ठेन चेतनेन समुच्चयी ॥४८३॥
आत्मा चेतनसम्बन्धाच्चेतनश्चेदुपाश्रितम् ।
तच्चैतन्यम्, कथं तेन चेतनस्तत्त्वतः पुमान् ? ॥४८४॥
अतस्त्वे[ऽ]चेतनश्चासौ चेतनार्थभ्रमः कथम् ? ।
मणेरुपाश्रितो रागः न हि रक्तप्रयोजनम् ॥४८५॥
अन्यथा तादृशेनैव सन्तानेन समुच्चयात् ।
आत्मकल्पनवैयर्थ्यमनिवार्यं प्रसज्यते ॥४८६॥
तस्मादचेतनोऽत्यन्तचेतनो वा नरोऽधमः ।
न भ्रमश्चेतनार्थाय सन्तानवद्युक्तितः ॥४८७॥
साम्बन्धिकस्य चिद्धर्मस्य तात्त्विकत्वेऽपि तद्यदि ।
नरादर्थान्तरम्, तेन नरः स्याच्चेतनः कथम् ? ॥४८८॥
आकाशस्यापि तेनैव चेतनत्वानुषञ्जनात् ।
पुंस्येव तस्य सम्बन्धान्नेति चेत्, असदुत्तरम् ॥४८९॥
साम्बन्धिक पुनश्चिद्धर्मेवं सत्यन्यदागतम् ।
तेनाप्यर्थान्तरेणात्मा चिच्चेत्, व्योम न किं तथा ॥४९०॥
पुनः साम्बन्धिकं चित्त्वमात्मन्येवेति[10] कल्पने ।
प्राग्भ्रान्तोपानुपूर्तिः [11]स्यादनवस्थानवैशसम् ॥४९१॥
नराद्व्यतिरिक्तं चेच्चित्त्वमौपाधिकं तदा[12] ।

१ –मार्थीदर्म–आ०, ब०, प०, स० । २ –कस्तै आ०, ब०, स० । ३ तन्नेष्यतो मिलते । ४ –चात्मसमीचेदं आ०, ब०, प०, स० । ५ आगमे–आ०, ब०, प० । ६ –तर्न वे–आ०, ब०, प०, स० । ७ अतत्त्वमूलैर्व । ८ वितान्त आ०, ब०, प०, स० । ९ कथा आ, ब०, प०, स० । १० –त्मनैवेति आ०, ब०, प०, स० । ११ –ति स्या–आ०, ब०, प०, स० । १२ तदा आ०, ब०, प० ।

अनित्यत्वं नरस्यापि दुर्वारं चित्तवद्भवेत् ॥४९२॥
निरन्वयस्यानित्यस्य न चात्मत्वं सयुक्तिकम् ।
स्मृतिप्रत्यवमर्शादिकार्ये तस्याक्षमत्वतः ॥४९३॥
नित्यानित्यस्वभावत्वं यदि तस्योपवर्ण्यते ।
स्याद्वादानुप्रवेशोऽयं महान् दोषस्तवापतेत् ॥४९४॥
तन्न पुंसश्चिदात्मत्वं कथञ्चिदपि युज्यते ।
विचारोल्लेखभागानां समुच्चेता यतो भवेत् ॥४९५॥

तन्न विचारोल्लेखानां कुतश्चिदपि सम्भवति समुच्चयो यतः सर्वेषां विचारत्वमुपपद्यते। तन्न प्रथमो विकल्प उपपत्तिमान् ।

भवतु तर्हि द्वितीय एव विकल्पः अन्वितज्ञानाधिष्ठानानामुल्लेखानां विचारत्वोपगमादिति चेत् ; सिद्धं तर्हि विचारस्य क्रमानेकान्तरूपत्वमिति निरवद्यं तस्य निदर्शनत्वम् । ननु संशयादिदोषादनेकान्तः कथं तदात्मनि परमार्थ इति चेत् ? कथं विचारे ? तत्रापि मा भूदिति चेत् ; नास्त्येव तर्हि विचारः । तथा चेत् ; न संशयाद्युद्भावनं तस्य विचारनिबन्धनत्वात् । अथ तत्र संशयादिरेव नास्ति निरवद्यप्रतीतिविषयत्वादिति ; समानमेतत् तदात्मन्यपि, तदनेकान्तस्यापि स्वतोऽनन्तरानुमानाच्च निरवद्यादेव प्रतीतेः । ततो विचारवदक्षज्ञानात्मनि उपपन्नमनेकान्तात्मकत्वम् । एतदेवाह–**अनेकरूपेण** । अनेकश्चासौ क्रमभाविनानोल्लेखत्वात् रूपश्चासौ निरूपणत्वात् इत्यनेकरूपः, तेन दृष्टान्तेन यः सिद्धः क्रमानेकरूपश्चक्षुरादिज्ञानात्मा तेनेति ।

नन्वेक एव '**अनेकरूपेण**' इति शब्दः, तेन यदि साध्यमभिधीयते निदर्शनै[3]मनभिधानं प्राप्तम्, तदभिधाने साध्यमवचनमेवापन्नम्, एकेन युगपदनेकार्थनिवेदनायोगादिति चेत् ; न ; आवृत्त्या साध्यवचनादेव निदर्शनस्यापि प्रतिपत्तेः । भवत्वेवम् अर्थज्ञानस्य अक्रमवत् क्रमेणाप्यनेकरूपत्वं न्यायोपपन्नत्वात्, न पुनर्बहिरर्थस्य तस्य निरंशत्वात् क्षणक्षीणत्वाच्चेति चेत्; अत्राह–**तादृशः** । यादृग् अक्षज्ञानात्मा सम्भवक्रमाभ्यामनेकरूपः **तादृशः** तत्सदृशस्य बहिरर्थस्य ग्रहणं तस्यापि सम्भवक्रमाभ्यामनेकरूपत्वे न्यायसद्भावात्, युगपज्ज्ञानाशक्त्यात्मविज्ञानवत् नानानीलाद्याकारस्य बहिर्भावस्य प्रत्यक्षेणैव वेदनात् । प्रत्यक्षस्य च क्रमानेकरूपत्वे[5]ऽवस्थिते अवस्थितमेव बहिरर्थस्यापि ताद्रूप्यम्, तस्यैव तद्ग्रहणोपायत्वात् । न हि निरवद्ये तद्ग्रहणोपाये तदनवस्थानमुपपन्नम् ।

यत्पुनरेतत्–अर्थज्ञानस्योपपन्नमेव विचित्रैकरूपत्वम् अशक्यविवेचनत्वा[6]त् न बहिरर्थस्य तदभावादिति; तदास्ताम्, उत्तरत्र विचारात् । तस्मादवस्थितम्-अन्तर्बहिश्च तद्भवसामान्यविषयत्वमक्षज्ञानस्य । विशेषव्यतिरिक्तस्य तु सामान्यस्य निराकरणमभिप्रेतमेवेति न प्रत्यवस्थीयते ।

---

१ –खनात्कृत–आ०, ब०, प०, स० । २ –भाविनोल्ले–आ०, ब०, प०, स० । ३ –नमभिधा–आ०, ब०, प०, स० । ४ संभवत्क्रमा–आ०, ब०, प०, स० । क्रमयौगपद्याभ्याम् । ५ –वस्थापितेऽत्र–आ०, ब०, प०, स० । ६ "चित्रामासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् ।शक्यविवेचनं चित्रमनेकम्, अशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः ।"–प्र० वार्तिकाल० २।२२० ।

तदेतेन सादृश्यसामान्यविषयत्वमप्यक्षज्ञानस्य निवेदितमवगन्तव्यम्, अन्वितव्यावृत्तरूपतः समानासमानरूपयोरपि भावेषु भावत एव भावात्। तदाह–आत्मनाऽनेकरूपेण समानासमानरूपेण तादृशः समानासमानरूपतया तत्सदृशस्य बहिरर्थस्य ग्रहणमिति।

यदि पुनरयं निर्बन्धो वस्तुषु वस्तुभूतं सादृश्यं नास्तीति, तदा कथमिव भावक्षणेष्वेकत्वाध्यवसायी विकल्पो यद्व्यवच्छेदात् अनुमानप्रामाण्यमवकल्प्येत ? विलक्षणस्वलक्षणदर्शनादेव तद्विकल्प इति चेत्, न, घटकपालक्षणदर्शनादपि तत्प्रसङ्गात्। तथा च "अन्ते क्षयदर्शनादादावपि क्षयः" [ ] इत्यनवसरं भवेत्, आदिवदन्तेऽपि समारोपतिरोहितस्य क्षयदर्शनस्य क्षयव्यवस्थापकत्वायोगात्, अन्यथा समारोपरूपव्यवच्छित्तिकल्पनावैकल्यापत्तेः। तन्न विलक्षणस्वलक्षणदर्शनादेकत्वविकल्पः।

भवतु सदृशाकारदर्शनादेवासौ, तत्तु सादृश्यं न वस्तुभूतम्, असदृशव्यावृत्त्या कल्पितत्वादिति चेत्, कथं तर्हि कथितम्–"साधर्म्यदर्शनाल्लोके भ्रान्तिर्नामोपजायते।" [प्र० वा० २।२६१] इति ? दर्शनस्य कल्पिताकारगोचरत्वे सविकल्पकत्वप्रसङ्गात्। दर्शनशब्देनापि विकल्पकमेव किञ्चिज्ज्ञानमुच्यते न प्रत्यक्षमिति चेत्, न, पश्चादेकत्वविकल्पाभावप्रसङ्गात्। न हि सदृशविकल्पविषये एवैकत्वविकल्पस्य सम्भवः, क्षणक्षयविकल्पविषयेऽपि नित्यविकल्पप्रसङ्गात्, कथं क्षणभङ्गानुमानस्य समारोपनिवारकत्वं यतः प्रामाण्यं स्यादिति सर्व एव मण्डूकेन भक्षितः।

किञ्च, तस्यापि सदृशविकल्पस्य कुत उत्पत्तिः ? सदृशापरापरदर्शनादिति चेत्, न, सादृश्यस्यावस्तुत्वेन दर्शनविषयत्वायोगात्। दर्शनशब्देन विकल्प एव कश्चिदुच्यत इति चेत्, तस्यापि कुत उत्पत्तिः ? तद्विकल्पादेव पूर्वस्मात्, न चैवमनवस्थानम् अनादित्वात्तत्प्रवाहस्येति चेत्, न, अनादित्वासम्भवात्। न हि घटपर्यायविषया एव सर्वदा सदृशविकल्पाः, पटादिपदार्थान्तरविषयाणामपि तेषां पूर्वं भावात्। तथा चानुत्पत्तिरेवापरस्य घटपर्यायसदृशविकल्पस्य प्राक् पूर्वं तादृशविकल्पाभावात्, अन्यादृशाच्च तादृशस्यानुत्पत्तेः। अथ पूर्वमपि घटपर्यायगोचरसदृशविकल्पवासना विद्यत एव तर्हि तदापि कस्मात्तद्विकल्पानुत्पत्तिः ? वासनाप्रबोधकस्याभावादिति चेत्, पश्चात् कस्य तत्प्रबोधकत्वम् ? घटपर्यायगोचरस्य दर्शनस्यैवेति चेत्, प्रागपि घटपर्यायगोचरस्य तस्य तत्प्रबोधकत्वं कस्मान्न स्यात् ? तस्य घटपर्यायविलक्षणविषयत्वान्नेति चेत्, घटपर्यायदर्शनस्यापि तदविशेषात्, तत्पर्यायाणामपि मिथो विलक्षणत्वात्। विलक्षणत्वेऽपि तेषामस्ति कश्चित्प्रत्यासत्तिः, अतस्तद्दर्शनस्यैव तत्प्रबोधकारित्वमिति चेत्, का परा तत्प्रत्यासत्तिरन्यत्र समानपरिणामात्।

---

१ –दृशपरि– आ०, ब०, प०,। २ यदन्यव्यवच्छेदे एकत्वाध्यवसायात्मकः समारोप एव न स्यात् तथा च तस्य व्यवच्छेदः इति भावः। ३ –नादित्याती आ०, ब०, प०, स०। ४ –ये चेद– आ०, ब०, प०, स०। ५ पूर्वमभा– आ०, ब०, प०। ६ –घपट– आ०, ब०, प०, स०। ७ तथापि आ०, ब०, प०, स०। ८ दर्शनस्य।

अपि च, दर्शनशब्दस्य विकल्पवाचित्वात्, यदि सदृशविकल्पादेव तद्विकल्पः। तर्हि सर्वस्यापि मनोविभ्रमस्यान्तरुपप्लवजत्वमेवापतितम्, तथा चेदमेव वक्तव्यम्–

"अस्तीयमपि या त्वन्तरुपप्लवसमुद्भवा" [प्र० वा० २।३६२] 'भ्रान्तिः' इति, न "साधर्म्यदर्शनाल्लोके भ्रान्तिः" इति, तस्यार्थान्तराभावात्। न चैकवचनप्रतिपन्नेऽर्थे वचनान्तरमर्थवत्; अतिप्रसङ्गात्। ततो न दर्शनशब्दस्य विकल्पार्थत्वम्, प्रत्यक्षार्थत्वस्यैवोपपत्तेः। प्रत्यक्षे च तद्दर्शने न सादृश्यस्यावस्तुत्वम्; दर्शनविषयस्य तद्योगात्। दर्शनस्यापि भ्रान्तत्वान्न तद्विषयत्वेन वस्तुत्वं सादृश्यस्येति चेत्; न; सर्वदा सदृशस्यैव विषयस्य दर्शने प्रतिभासनात्। तथा हि–

धूमान्तरसमस्यैव धूमस्येह प्रवेदनम्।
निराकारेऽपि विज्ञाने नात्यन्ताय विधर्मणः ॥४९६॥

धूमश्चायमिति ह्येवं प्रत्यभिज्ञानमन्यथा।
कथं येनास्य लिङ्गत्वं पर्वताग्निप्रसाधने ? ॥४९७॥

पश्यतोऽप्यतिवैधर्म्यं प्रत्यभिज्ञा यदीदृशी।
पाषाणाद्युपलम्भेऽपि किमेवं नोपजायते ? ॥४९८॥

तथा च सति सर्वत्र सर्वस्मादविशेषतः।
हुताशनानुमानं स्याद् वस्तुसादृश्यविद्विषाम् ॥४९९॥

धूमवासनाप्रबोधवत्येव धूमप्रत्यभिज्ञानम्, न च पाषाणादावस्ति तत्प्रबोधवत्त्वं तस्य धूमस्वलक्षणातिविलक्षणत्वेन तत्प्रबोधं प्रत्यनुपयोगात् तत्कथं तत्र तत्प्रत्यभिज्ञानं यतः पावकानुमाने लिङ्गमिति चेत्? न; धूमान्तरस्यापि धूमस्वलक्षणादतिविलक्षणत्वात्। तत्कार्यकारित्वान्नातिविलक्षणत्वमिति चेत्; न; असिद्धत्वात्, एकधूमकार्ये एव धूमान्तरव्यापारस्याप्रतीतेः, तत्सदृश एव तदन्तरस्य व्यापारोपलम्भात्। अस्तु सदृशकार्यकारित्वादेवावैलक्षण्यमिति चेत्; कुतः कार्ययोरपि सादृश्यम्? सादृशापरकार्यद्वयजननादिति चेत्; न; तद्द्वयस्यापि सादृश्यं तदपरसदृशतद्द्वयजननादित्यनवस्थानापत्तेः[11]। स्वत एव कार्यसादृश्ये धूमसादृश्यमपि स्वत एवास्तु किं तत्र[12] कार्यसादृश्यपरिकल्पनया? कारणसादृश्यात् तत्सादृश्यमित्यप्येतेन प्रत्युक्तम्; न्यायस्य समानत्वात्। ततो वस्तुत एव सादृश्यस्य[13] भावात् कथमन्तर्बहिश्च तद्विषयं तद्दर्शनं न भवेत्?

अन्योन्यसदृशोरेव वेदनं स्वार्थयोरिति।
अनुक्तसिद्धमेवेदं साकारज्ञानवादिनः ॥५००॥

---

१ –क्षार्थस्यैवो–आ०, ब०, प०, स०। २ सादृश्यदर्शने। ३ सादृशस्यैव ता०, ब०। ४ धूमस्य प्रतिवे–आ०, ब०, प०, स०। ५ –वतैव धूम–आ०, ब०, प०, स०। ६ पाषाणस्य। ७ धूमकार्ये। ८ एकरूपधूम–आ०, ब०, प०, स०। ९ –प्रतिपत्तेस्तत्स–आ०, ब०, प०। १० एव तत–आ, ब०, प०, स०। ११ –तद्द्वयदर्शनादि–आ०,ब०,प०,स०। १२ तत्कार्यसा–आ०, ब०, प०, स०। १३ सादृश्याभावात्तकथमन्तर्बहिश्च तद्विषयदर्शनम् आ०, ब०, प०, स०।

दर्शनस्यार्थसारूप्यं यदि तत्कल्पितं भवेत् ।
कल्पनाविरहाभावात् प्रत्यक्षं तत्कथं भवेत् ? ॥५०१॥
सविकल्पकमेवेदं प्रत्यक्षं यदि कल्प्यते ।
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं भवेदव्यापि लक्षणम् ॥५०२॥
परमार्थेन सारूप्यस्याभावादर्थवेदने ।
कल्पनाविरहस्तस्मिन्नस्त्येवेति यदोच्यते ॥५०३॥
अतद्रूपस्य तस्यार्थविषयत्वं तदा कथम् ।
सर्वसाधारणस्यास्य नियमोऽपि कथित्कुतः ? ॥५०४॥
स्वहेतुबलतस्तच्चेदर्थविभिन्नतार्थकम् ।
तत्कारूपनिर्कमप्येवं सारूप्यं तर्हि निष्फलम् ॥५०५॥
न चार्थदर्शनं नास्ति तस्य पूर्वं समर्थनात् ।
अर्थदर्शनमध्यक्षं तद्गुणाणैः परिस्फुटम् ॥५०६॥
अकल्पनाकृतं वाच्यं सारूप्यमपि तद्गृहम् ।
सारूप्यदर्शनं तच्चेद्भ्रान्तिरेवार्थबोधयोः ॥५०७॥
अन्यथादर्शनाभावाभावाभ्रान्तपदमर्थवत् ।

तस्माद्वस्तुतत्त्वेव द्रव्यपर्यायात्मकत्ववत् सामान्यविशेषात्मकत्वमपि भावस्य, तद्विषयत्वञ्च प्रत्यक्षस्येति सूक्तम्–'आत्मनाऽनेकरूपेण बहिरर्थस्य तादृशः । व्यक्तं ग्रहणम्' इति ।

तद्विशिनष्टि **विचित्रं** शबलं सामान्यस्य विशेषात्मकं विशेषस्य सामान्यात्मकमिति । तत्र यदि विशेषात्मकमित्यत्रावधारणम्, शबलमिति व्याख्यानमनुपपन्नम्, विशेषैकात्मनः शबलत्वायोगात्। एतेन सामान्यात्मकमित्यपि विचारितम्। नोभयत्राप्यवधारणम्, विशेषात्मनि सामान्यात्मनः, तदात्मनि च विशेषात्मनो विद्यमानत्वादिति चेत्, उपपन्नमेवं शबलमिति व्याख्यानम् **विचित्रपदं तु** पुनरुक्तं भवेत् ग्रहणशब्दस्यास्य **'अनेकरूपेण'** इत्यनेन गतत्वात् । प्रत्यक्षशब्दस्यैव तेन गतं नार्थग्रहणशब्दस्येति चेत्, न, प्रत्यक्षशब्दस्यार्थग्रहणस्याव्यतिरेकात् । तन्नेदं व्याख्यानमित्यन्यथा व्याख्यायते–

विचित्रं स्पष्ट-स्पष्टतरादिप्रतिभासभेदेन नानाप्रकारमिति । नन्विदमपि वैचित्र्यम् । अनेकेत्यादिनैव गतं तत्कथं पौनरुक्त्यपरिहार इति चेत्, न, एकपुरुषप्रत्यक्षस्यैव तेन तदभिधानम्, अनेन तु नानासन्तानग्रहणगतस्य प्रतिभासभेदस्याभिधानमिति पौनरुक्त्यनवतारात् । कस्यचिद्धि प्रत्यासन्नस्य स्पष्टमर्थग्रहणम् अन्यस्य प्रत्यासन्नतरस्य

१ दर्शनस्य । २ विषयप्रतिनियम । ३ –कमित्येवं प० । ४ प्रत्यक्षगतम् । ५ तत् सारूप्यदर्शनं भ्रान्तिरेव चेत्, अर्थबोधयोः अन्यथादर्शनाभावात् इत्यन्वयः । ६ अनेकरूपेणेति पदेन । ७ –नासन्नद्वार आ०, ब०, प०, स० । ८ अनेकरूपेणेति पदेन । ९ विचित्रपदेन ।

स्पष्टतरम् अपरस्य प्रत्यासन्नतमस्य स्पष्टतममिति [1]दृष्ट एवायं विभागः। तथा च "यदसाद्भिन्नप्रतिभासं न तत्तेनैकविषयं यथा रसज्ञानं रूपज्ञानेन, प्रत्यक्षाद् भिन्नप्रतिभासं चानुमानम्" [ ] इत्यत्र भिन्नप्रतिभासत्वं व्यभिचारीति निवेदितं भवति, स्पष्टज्ञानात् स्पष्टतरादिज्ञानस्य भिन्नप्रतिभासत्वेऽप्येकविषयत्वोपलम्भात्। करिष्यते चात्र द्वितीये विस्तर इति नेहातीव निर्बध्यते।

पुनरपि ग्रहणविशेषणं '**विशेषण**' इत्यादि। विशेषणं च जात्यादि व्यवच्छेदकत्वात्, विशेष्यञ्च त[3]द्वत् व्यवच्छेद्यत्वात्, विशेषणविशेष्ये विषयत्वेन भजतीति '**विशेषणविशेष्यभाक्**' इति। अनेनार्थग्रहणस्य विकल्पकत्वमुक्तम्। तथा हि–यत् सविशेषणग्रहणं तत् सविकल्पकं यथा दण्डीति ग्रहणम्। सविशेषणग्रहणञ्च जात्यादिमदर्थग्रहणमिति।

स्यान्मतम्–विशेषणं विशेष्यमिति च सत्येव योजने भवति तदभावे तदप्रतीतेः। [4]योजनञ्च सत्येव भेदे। न च जात्यादि-तद्वतामस्ति परस्परतो भेदः, तदनवभासनात्। संसर्गात्तदनवभासनमिति चेत्; सति भेदे संसर्ग एव कस्मात्? समानदेशकालत्वादिति चेत्; न; समानदेशकालानामपि स्वरूपस्य भेदात्। भिन्नदेशकालानामपि स्वरूपभेदादेव त[5]थाप्रतिभासो न देशकालभेदात्। यदि हि तत्र न स्वरूपभेदो देशादिभेदेऽपि न भेदप्रतिभासनम्। देशाद्यभेदेऽपि परेषां वर्णसंस्थानयोरवभासत एव भेदो वातातपयोश्च इति न देशाद्यभेदादवभासभेदो हीयते। अथ समवायसम्बन्धबलादेकलोलीभावेन प्रतिभासनम्; तथा सति सर्वत्र त[6]थात्वकल्पनाप्रसङ्गतः सर्व एवाभेदप्रतिभासो नाभेदसाधनं भवेत्। ततोऽनवभासनान्नास्त्येव जात्यादि-तद्वतां भेद इति न तदायत्तं तत्र योजनम्, अयोजने च न विशेषणादिकमिति कथं तद्भाक्त्वं प्रत्यक्षस्य यतो विकल्पकत्वं तस्येति? तदपि न साधु मतम्; ऐकान्तिकस्य भेदप्रतिभासस्याभावेऽपि जात्यादि-तद्वतां कथञ्चित्तत्प्रतिभासस्य प्रागेव प्रतिपादितत्वात्। सति च तस्मिन् कथञ्चिद[7]भेदात्मनो योजनस्यापि भावात्। अवश्यं चैतदेवमङ्गीकर्त्तव्यम् ऐकान्तिके भेदप्रतिभासे तदभेदप्रतिभासवद् योजनस्यैवाभावापत्तेः।

नन्वयमिष्टे स्थाने वृष्टिलाभस्तथागतानां योजनाभावस्य तैरभ्युपगमात्। तथा च वचनं प्रज्ञाकरस्य–

"अभिन्नप्रतिभासस्य योजनं कस्य केन वा?
विभिन्नप्रतिभासस्य यो[8]जनं न प्रतिभाति (प्रतीतिभाक्)॥

इत्यभिन्नप्रतिभासं हि तत् एकमेव कस्तत्र योजनार्थः उभयापेक्षत्वाद्योजनायाः। अथ भिन्नप्रतिभासद्वयं तदा परस्परविवेकेन प्रतिभासनान्नितराम् अयोजनेत्यसम्भव एव

---

१ स्पष्ट आ०, ब०, प०, स०। २ –प्रत्यवभासनं न आ०, ब०, प०, स०। ३ तद्यव–आ०, ब०, प०, स०। ४ योजनं स–आ०, ब०, प०, स०। ५ भिन्नप्रतिभासः। ६ तथाकल्पना–आ०, ब०, प०, स०। ७ कथंभेदभेदात्मनो स०। कथंभेदाभेदात्मनो प०। ८ –नं न प्रतिभासति स०। "योजनं न प्रतीतिभाक्"–प्र० वार्तिकाल०।

योजनायाः । तत्र पारमार्थिकी योजना ।" [प्र०वार्तिकाल०२।१४६] इति चेत्, कथं तर्हि तेनैवोक्तम्–"संयोज्यग्रहणं हि कल्पना" [प्र०वार्तिकाल०२।१४६] इति ? योजनाभावे तत्पूर्वकस्य ग्रहणस्यासम्भवात् । तस्य योजनमनिच्छन्नेव तत्पूर्वकं ग्रहणमिच्छतीति कथं स्वस्थः ? संवृत्या तदिष्टेरदोष इति चेत्, न, ¹संवृत्यर्थापरिज्ञानात् । असत्यपि योजने तदाभासं ज्ञानं तदर्थं इति चेत्, नन्विदमपि ज्ञानं नेन्द्रियजम्, तत्र योजनप्रतिभासस्यानभ्युपगमात् । कल्पनैवेति चेत्, न, योजनाभावे तदसम्भवात् । तत्सम्भवेन योजनमिति चेत्, न, अन्योन्याश्रयस्य सुव्यक्तत्वात् । न योजनं पुरोधाय कल्पना येनैवं प्रसङ्गः किन्तु तदात्मिकैव सोपजायत इति चेत्, न, 'संयोज्य ग्रहणं हि कल्पना' इत्यत्र योजनस्य ग्रहणपूर्वकालत्वाभिधानविरोधात् । न विरोध एककालत्वेऽपि 'व्यादाय स्वपिति' इत्यादिवत् औपसंख्यानिकस्य क्त्वाप्रत्ययस्य भावादिति चेत्, न, भेदप्रतिभासयोजनयोरप्येवमेककालत्वप्रसङ्गात् । तथा च यदुक्तं परेण– "योजनात्पूर्वं प्रत्येकदर्शनपूर्विका कल्पना" [प्र० वार्तिकाल० २।१४६] इति, तत्प्रतिविहितम् ।

अपि च, किंविषयं तद्योजनं यदात्मिका कल्पनोत्पद्यते ? न तावद्बहिर्विषयम्, कल्पनाया निर्विषयत्वात् । अन्तर्विषयमिति चेत्, न, तत्रापि भेदप्रतिभासाभावे तदसम्भवात् "अभिन्नप्रतिभासस्य" इत्यादि वचनात् । तत्प्रतिभासेऽपि नितरां तदनुपपत्तेः "विभिन्नप्रतिभासस्य" इत्याद्यभिधानात् । न चानुपदर्शितविषयं योजनं नाम, अयोजनमेव तस्मात् । सत्यमयोजनमेव तत्, संवृत्या तु तस्य योजनत्वमिष्यते इति चेत्, न, 'संवृत्यर्थापरिज्ञानात्' इत्यादिकस्य 'अयोजनमेव तस्मादिति' पर्यन्तस्यावर्तनात्, पुनरपि 'सत्यम्' इत्यादिवचने तस्यैवावर्तनात् चक्रकस्यानवस्थावाहिनः प्रसङ्गात् । तत्र परमार्थेन इव संवृत्यापि परस्य योजनमिति न कल्पना नाम । मा भूदिति चेत्, कुतस्तदभावे योजनाभावस्यावगतिः ? 'अभिन्नप्रतिभासस्य' इत्यादिकाद्वचनादिति चेत्, न, शब्दगतुमात्रात्, कस्यचिदवगमविरोधात्, ज्ञानकल्पनापरिभ्रमवैकल्यापत्तेः । तदुपजनितज्ञानादेवेति चेत्, न ततोऽपि तुच्छाभावस्यावगतिः असम्बन्धात् । नापि मायाम्बरस्वभावस्य, विशेषात्मनः शाब्दज्ञानाविषयत्वात् । सामान्यात्मनोऽपि कस्यचिद्योजितस्याप्रतिभासनात् । योजितप्रतिभासने तु कथं सर्वात्मना कल्पनाभावः ? तत्प्रतिभासस्यैव कल्पनात्वात् । "संयोज्य" इत्यादिवचनात्पारमार्थिकी चेयम्, संवृतिवादे अनवस्थादोषस्योक्तत्वात् । ततो दुरुक्तमेतत् "न पारमार्थिकी योजना" [प्र० वार्तिकाल० २।१४६] इति ।

किञ्च, मा भूदभेदैकान्ते योजनं तस्योभयापेक्षत्वात्, तत्र चोभयरूपाभावात्, भेदैकान्ते तु कथम योजनं तत्र तदुद्भावात् ? अभिन्नत्वेन प्रतिभासनादिति चेत्, किं पुनर्भिन्नमेव

१ संवृत्यर्थापरि–आ०, ब०, प०, स० । २ संवृत्यर्थः । ३ योजनाभिर्देव कल्पना । ४ योजनापूर्वं प्र– आ० ब०, प०, स० । "योजनापूर्वं प्रत्येक–"–प्र० वार्तिकाल० । ५ कल्पनानो मा आ०, ब०, प०, स० । ६ अन्दागममात्रात् आ०, ब०, प०, स० । ७ तमसरूपसद्भावात् ।

योजनम् ? तथा चेत् ; न ; दण्डदेवदत्तयोरप्यमिश्रप्रतिभासत्वेन तद्भावे[1] दण्डीति विकल्पानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । मा भूत्तदुत्पत्तिरिति चेत् ; न ; संयोज्यग्रहणं प्रति तन्निर्दर्शनप्रदर्शनविरोधात्[2] । परप्रसिद्ध्या तत्प्रदर्शनमिति चेत् ; कथं परोऽप्यमिश्रं प्रतिपद्यमान एव मिश्रं प्रतिपद्येत ? प्रतिपद्यमानो दृश्यत इति चेत्[3]; तत्प्रतिपत्तिरेव तर्हि विरोधोद्भावनेन निवारयितव्या ।

अपि[4] [च,] स्वल्लोकव्यवहारस्यैवं[5]विधत्वात्कुतः स्वयं तदभ्युपगमः क्रियते ? प्रयोजनवशादिति चेत् ; किं प्रयोजनम्[6] ? विकल्पस्य संयोज्यग्रहणत्वसाधनम् ; तथा हि–यद्विकल्पकं तत्संयोज्यग्रहणं यथा दण्डीति विकल्पकम्, विकल्पकञ्च[7] विवादास्पदमिति चेत् ; न ; निदर्शनस्य वस्तुतः साध्यविकलत्वात् । परोपगमात्तदविकलत्वमिति चेत् ; न ; उपगममात्रसिद्धस्याऽवस्तुरूपत्वात् । न चावस्तुरूपनिदर्शनबलोपनीतस्य साध्यस्यापि वस्तुरूपत्वम् । अवस्तुरूपमेव तदपि सर्वस्यापि संयोज्यग्रहणस्य सांवृतत्वादिति चेत् ; तर्हि किं तत्साधनप्रयासेन प्रयोजनाभावात् ? प्रयोजनवत्त्वे वस्तुरूपत्वापत्तेः । मा भूत्साध्यस्य प्रयोजनवत्त्वं तत्साधनं तु सप्रयोजनमेव, प्रत्यक्षे तद्रूपकल्पनानिषेधनस्य तत्प्रयोजनत्वात्, अनिरूपिताकारस्य निषेध्यस्य क्वचिन्निषेधायोगात् । स चायं तन्निषेधप्रयोगः–यन्न भेदप्रतिभासं तन्न संयोज्यग्रहणं यथा क्षीरवारिज्ञानमतद्वेदिनः, न भेदावभासञ्च जातिजातिमदादिरूपेण प्रत्यक्षम्, यच्च न संयोज्यग्रहणं न तद्विकल्पकं यथा तदेव क्षीरवारिवेदनमतद्वेदिनः, न संयोज्यग्रहणञ्च प्रत्यक्षम्, ततो निर्विकल्पकमिति चेत् ; न; तत्रावस्तुरूपकल्पनाविरहस्य परं प्रत्यपि[8] प्रसिद्धत्वेन तत्साधने सिद्धसाधनदोषापत्तेः । अवस्तुभूतायामपि[9] कल्पनायां परस्य वस्तुभावाभिनिवेशात् प्रत्यक्षे [10]तत्सद्भाव एव प्रसिद्धो न तद्विरहस्तत्कथं सिद्धसाधनत्वमिति चेत् ? स्वोपगमतस्तर्हि तत्रावस्तुभूताया एव कल्पनाया निषेधात्, [11]वस्तुभूतया कल्पनया सविकल्पकमेव प्रत्यक्षं प्राप्तम् । वस्तुभूता कल्पनैव नास्तीति चेत् ; न; तद्भावे कल्पितकल्पनाया अप्यभावापत्तेः । उभयकल्पनाविलोपस्य च कल्पनामन्तरेण दुरवबोधत्वादित्यावेदितत्वात् । कल्पनयैव कल्पनाविलोपप्रतिपत्तौ च विशेषणविशेष्यतद्योजनप्रतिभासवत्ती वस्तुत एवासौ[12] वक्तव्या, तद्वत्प्रत्यक्षस्यापि [13]तत्प्रतिभासवत्त्वोपपत्तौ कथन्न वास्तवी तत्र कल्पना ? ततो यद्यवस्तुकल्पनाविरहस्तत्र साध्यते वस्तुकल्पनया विकल्पमेव तदापन्नम् । ततः प्रयासमात्रमेवैतत् धर्मकीर्तेः–

"विशेषणं विशेष्यञ्च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम् ।
गृहीत्वा सङ्कलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा ॥
यथा दण्डिनि जात्यादेर्विवेकेनानिरूपणात् ।
तद्वता योजना नास्ति कल्पनाऽप्यत्र नास्त्यतः ॥" [प्र०वा०२।१४५] इति ।

१ योजनाऽभावे । २ –दर्शनवि–आ०,ब०,प०,स० । "प्रत्येकञ्च विशेषणादीनां ग्रहणमन्तरेण न संयोजनं यथा दण्डीति प्रतीतौ ।"–प्र० वार्तिकाल० २।१४६ । ३ चेन्न तत्प्र–आ०,ब०,प०,स० । ४ अपि तु लोक–स० । अपि स्वल्लोक–आ०,ब०,प० । ५ –स्यैवं सिद्धत्वात् आ०,ब०,प०,स० । ६ –जनविक–आ०,ब०,प०,स० । ७ –कल्पञ्च–आ०,ब०,प०,स० । ८ –पि सि–आ०,ब०,प०,स० । ९ –पि विक–आ०,ब०,प०,स० । १० कल्पनासद्भाव । ११ वस्तुभूतायाः कल्पनायाः स–आ०, ब०, प०, स० । १२ कल्पना । १३ विशेषणविशेष्यतद्योजनप्रतिभास ।

वस्तुकल्पनाविरुद्धस्य[1] विप्रतिपत्तिस्थानस्यानेनासाधनात्। तैरकल्पनाविरुद्ध[2] पयानेन साध्यत इति चेत्, न, तल्लक्षणापरिज्ञानात्। इदमेव विशेषणविशेष्यप्रत्येकदर्शनपूर्वकं संयोज्यग्रहणं तल्लक्षणमिति चेत्, क पुनरिदं तल्लक्षणत्वेन प्रतिपन्नम्? दण्डीति विकल्प इति चेत्, न, तत्र योजनस्य-मिश्रणस्य[3] वस्तुतोऽसत्त्वात् अवस्तुविकल्पलक्षणस्यायोगात्। भवतु वा किमपि योजनम्, तथापि दण्डदेवदत्तयोः प्रत्येकदर्शनं विकल्पकम्, अविकल्पकं वा? विकल्पकञ्चेत्, तर्हि तत्रापि दण्डस्य विशेष्यस्य तदवयवानाञ्च विशेषणानां [4]प्रत्येकं दर्शनं योजनञ्चापेक्षणीयम्। तदवयवानाञ्च दर्शनस्य विकल्पकत्वे तत्रापि तेषां तदवयवानाञ्च[5] प्रत्येकं दर्शनं योजनं चापेक्षितव्यं तावदेवं यावदन्ते परमाणवः, तेषाञ्च न दर्शनम्[6], तैरस्मिंश्च न तद्विशिष्टस्य तदवयविनो दर्शनम्, यत्र च न तद्विशेषणस्योत्तरावयविनो दर्शनम्, तावदेवं यावच्च दण्डदर्शनम्[7]। चैव दत्तदर्शननिषेधेऽप्ययमेव न्याय इति प्रत्येकदर्शनाभावाच्च संयोज्यग्रहणं दण्डस्य देवदत्तेनेति[8] कथं तद्दण्डीति ग्रहणम्, यत्रेदं विकल्पलक्षणमवगम्येत? तन्न तयोर्दर्शनं[9] विकल्पकम्। अविकल्पकमेव तदिति चेत्, तत्र कस्य प्रतिभासः? अवयविन इति चेत्, न, तस्य[10] [11]निरवयवस्य तदनुपलम्भात् [12]परस्यानभ्युपगमाच्च। सावयवस्येति चेत्, न, तद्दर्शनस्य विशिष्टविषयत्वेनाविकल्पकत्वाभावप्रसङ्गात्। निरंशक्षणिकस्य स्वलक्षणस्य तत्र प्रतिभासनमिति चेत्, भवत्येव निर्विकल्पकत्वं तद्दर्शनस्य यदि तत्स्वचिदुपलब्धुं[13] शक्येत। नापि तद्विषयस्य क्वचिद्योजनमिति मुग्धवस्थितो दण्डीति विकल्पः।

स्यान्मतम्-संवेदनाकारयोरेव दण्डदेवदत्तयोः प्रत्येकदर्शनं योजनञ्च न बहिराकारयोः, विकल्पस्य[14] वस्तुभूत्या निर्विषयत्वात्, तन्नाय प्रसङ्ग इति, तदपि न समीचीनम्, तत्संवेदनस्यानवगमात्। दण्डिज्ञानात् पूर्वं [15]दण्डप्रतिभासं देवदत्तप्रतिभासञ्च विकल्पद्वयं तदिति चेत्, सम्भवत्यत्र प्रत्येकं दर्शनं न पुनर्योजनं क्षणिकत्वेन पश्चात्तदभावात्[16] द्वयस्यैकीकरणायोगात्। नन्विदमेव पुनर्योजनं यत्तद्द्वयेन[17] उभयप्रतिभासमेकं दण्डिज्ञानमुपजन्यत इति चेत्, न, तद्द्वयस्य युगपदसम्भवात्, अनभ्युपगमात्। क्रमभावे च सन्निहितस्यैव कारणत्वं [18]नेतरस्येति कथं तद्द्वयजन्यत्वं दण्डिविकल्पस्य? सन्निहितस्यापि व्यवहितविकल्पसंस्कारप्रबोधगर्भस्यैव कारणत्वादेवमिति चेत्, अस्ति तर्हि कथञ्चित्प्राच्यविकल्पस्याप्युभयप्रतिभासत्वम्। भवतु को दोष इति चेत्? कुतस्तस्याप्युत्पत्तिः? तादृशादेव प्राच्यविकल्पादिति चेत्, क्व तर्हि प्रत्येकदर्शनमुपयोगवत्[19]? यतस्तद्वचनमपर्यालोचितं न भवेत्। तन्न प्रत्येकदर्शनपुरस्सरं योजनं वस्तुतो विकल्पलक्षणम्, उभयावभासित्वे सत्येकज्ञानस्यस्यैव तल्लक्षणत्वेनावस्थानात्[20]। तथा

१ –स्व प्रति–आ०,ब०,प०,स०। २ वस्तुकल्पनाविरुद्ध। ३ 'मिश्रणस्य इति पदं योजनस्य' इति पदस्य टिप्पणभूतं मूले प्रक्षिप्तमिति भाति। ४ –तत्वाद्वस्तुनि–आ०। ५ प्रत्येकदर्श–आ०,ब०,प०,स०। ६ दण्डावयवानाम्। ७ परमाणुदर्शनाभावे। ८ –नं तावदेव–आ०,ब०,प०,स०। ९ दण्डदेवदत्तयो.। १० अवयविनः। ११ निरंशस्य। १२ यौगस्य। १३ –लब्धुं शक्ये–आ०,ब०,प०,स०। १४ विकल्पकस्य स०। १५ दण्डिप्रति–आ०, ब०,प०,स०। १६ –भावस्यैकीकरण–आ०, ब०, प०, स०। १७ दण्डप्रतिभासेन देवदत्तप्रतिभासेन च। १८ नोतरस्य आ०,ब०,प०,स०। १९–वदत्रा आ०,ब०,प०,स०।–नानावस्थानात्–स०।–नावस्थापनात्–आ०,ब०,प०।

चात्र देवस्य वचनम्–"[1]विविधानुविधानस्य विकल्पनान्तरीयकत्वात्।" [प्रमाणसं० स्व० श्लो० ४] इति। तर्हि तल्लक्षणे एव विकल्पः प्रत्यक्षे [3]प्रतिषिध्यते इति चेत्; केन तत्प्रतिषेधः? "जात्यादेर्विवेकेन" इत्यादिना न्यायेनेति चेत्; न; तेन प्रत्येकदर्शनपुरस्सर-योजनात्मकस्यैव तस्य निषेधात्, "विशेषणम्" इत्याद्युक्त्वा तदभिधानात्, तल्लक्षणस्य च विकल्पस्योक्तप्रकारेणासम्भवात्। न चाऽसम्भवतो निषेधः[4] स्वतः सिद्धेः[5] रागवत्किंशुकानाम्। अन्यतस्तन्निषेध इति चेत्; किं तदन्यत्[6]? प्रत्यक्षमेव; तस्यैकानेकप्रतिभासविकलत्वविकलस्यानुभवात्[7] "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति" [प्र० वा० २।१२३] इत्यभिधानादिति चेत्; न; तस्य[8] तद्विकल्पात्मन एव 'आत्मनाऽनेकरूपेण' इति निवेदितत्वात्। संशयादिदोषापादनेन जात्यन्तरनिराकरणात्तत्र[9] तन्निषेध इति चेत्, न; तथा दण्ड्यादिविकल्पेऽपि[10] तन्निषेधापत्तेः। कल्पित एव सोऽपि न वास्तव इति चेत्; न; वस्तुभूतविकल्पाभावे तत्कल्पनानुपपत्तेर्निवेदितत्वात्। ततो यदि [11]तद्विकल्पे जात्यन्तरस्य न संशयादिना पीडनं प्रत्यक्षेऽपि न स्यादविशेषात्।

किञ्च किमिदं संशयाद्यापादनं प्रमाणम्? अप्रमाणापादितस्य दोषस्यादोषत्वात्। प्रत्यक्षमिति चेत्; न, तस्याविचारकत्वात्। अनुमानमिति चेत्; न; तस्य निर्विकल्पकस्याभावात्, अनभ्युपगमात्। विकल्पकत्वेऽपि स्वयमनवगतस्य अदोषापादनत्वात्। अवगतमेव स्वसंवेदनाध्यक्षेण [11]तदिति चेत् कथमेवं विकल्पाविकल्पात्मना [12]उभयात्मानमनुपद्रवं प्रतिपद्यमानमेव [13]तत् प्रत्यक्षस्य जात्यन्तरे संशयादिकमापादयेत् [14]स्वरूपानभिज्ञत्वप्रसङ्गात्? तन्न तात्त्विकस्य विकल्पस्य प्रत्यक्षे कुतश्चिदपि निषेध इति सिद्धं सविकल्पकं प्रत्यक्षम्।

ननु च विशेषणविशेष्यभाक्त्वेन तस्य सविकल्पकत्वमुक्तं न जात्यन्तरप्रतिभासत्वेन तत्कथमिदं तत्प्रयोजकमुच्यते? जात्यन्तरप्रतिभासादन्यस्य तद्भाक्त्वस्याभावादिति चेत्; न तर्हि '**विशेषणविशेष्यभाक्**' इति पृथगभिधातव्यम्, जात्यन्तरप्रतिभासस्य[15] '**आत्मना**' इत्यादिना प्रतिपादनादिति चेत्; न; उभयथा विकल्पावेदनार्थत्वादेवंवचनस्य। तथा हि–यदि निरंशविषयत्वं निर्विकल्पकत्वम्; न तर्हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पम्[16], तस्यानेकरूपस्वपरावभासित्वेन विकल्पकत्वोपपत्तेः इत्यावेदनार्थमिदमभिहितम्–'**अनेकरूपेण तादृशो ग्रहणम्**' इति। तथा यदि अकृतयोजनं ग्रहणमविकल्पकत्वम्, तर्हि प्रत्यक्षमपि यदेव [17]तथाविधं तदेवाविकल्पकम्, कृतयोजनं तु विकल्पकमेवेति प्रतिपादयितुं '**विशेषणविशेष्यभाक्**' इत्युक्तम्।

---

१ विवादानुविवादनस्य विकल्पान्त–आ०, ब०, प०, स०। २ उभयावभासित्वे सत्येकज्ञानस्वलक्षणः। ३ प्रतिपद्यते इति आ०, ब०, प०, स०। ४ –धः सि–स०। –धः स्वतः सिद्धः आ०, ब०, प०। ५ स्वतः सिद्धत्वादित्यर्थः। ६ प्रत्यक्षस्य। ७–त्यात्मनानेक–आ०, ब०, प०, स०। ८ प्रत्यक्षे। ९ विकल्पत्वनिषेधः। १० दण्ड्यादिविकल्पे। तद्विकल्पजा– आ०, ब०, प०, स०। ११ अनुमानम्। १२ स्वरूपांशे निर्विकल्पकम्, अर्थांशे च विकल्पकमिति। १३ अनुमानम्। १४ अनुमानस्य जात्यन्तरत्वापत्तिभयात् विकल्पत्वमात्रस्वीकारे स्वरूपानभिज्ञत्वं स्यादिति भावः। १५ –सनस्य आ०, ब०, प०, स०। १६ –ल्पकं त– आ०, ब०, प०, स०। १७ अकृतयोजनम्।

ननु च जात्यादिसद्भावेन भेदे सति तादात्म्यमेव योजनम्, तच्च सर्वत्र प्रत्यक्षे विद्यत इति कथम् सर्वस्य तस्य विशेषणादिविषयत्वमिति चेत् ? न, गुणप्रधानभावोपाधिकस्यैव तस्य योजनत्वात्, तद्भावस्य च सर्वत्राभावात्। भवतु विवक्षानियमेन तद्भावनियमः तस्य विवक्षानिबन्धनत्वात्, "विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था" [बृहत्स्व० श्लो० २५] इति वचनात्। प्रत्यक्षस्य तु कथं तद्विषयत्वं तस्य विवक्षारूपत्वाभावादिति चेत्, तथापि विवक्षया जनितसंस्कारप्रबोधगर्भस्य तस्य न विरुध्यत एव विशेषणादिविषयत्वम्, कथमन्यथा 'महत्त्वः' इति 'एक' इति 'बहुविधम्' इति 'एकविधम्' इति च विशेषणादिरूपेण ग्रहणं यतो बह्वादिविशेषभेदेन अवग्रहादिभेदकथनमाम्नायप्रसिद्धमुपपनीपद्येत ? ततः स्थितम्–संयोजनमेव प्रत्यक्षं सविकल्पकं नापरमिति। 'सर्वं संयोजनमेव सविकल्पकमेव' इत्यनुमाने तु यदप्यवादि–"सकलाकारं वस्तु निर्विकल्पकम्" [ ] इति तद्विरुध्येत। निरंशप्रतिभासरूपनिर्विकल्पकत्वप्रत्यनीकभावापेक्षया तु सकलमपि प्रत्यक्षं सविकल्पकमेव, तस्य जात्यन्तरगोचरत्वेन सांशवस्तुविषयत्वोपपत्तेरिति सर्वं निरवद्यम्।

ननु यदिदं भवता जात्यन्तरं पुरोवर्तितया प्रतिभाति नीलादिस्थूलरूपम्, तस्य च दूरविरलकेशादाविव अविद्यमानस्यैव प्रतिभासनात्कथं तद्रूपो बहिरर्थः पारमार्थिको यतस्तद्विषयत्वं प्रत्यक्षस्येति चेत् ? अत्राह–

अर्थज्ञानेऽसतोऽयुक्तः प्रतिभासोऽभिलापवत्। इति।

'**अर्थस्य**' इत्यनुवर्तते। तदयमर्थः–अर्थस्य विषयस्य ग्राहकत्वेन सम्बन्धिनि सति। कस्मिन् ? **अर्थज्ञाने**, अर्थ्यत इत्यर्थो विषयस्तस्माज्ज्ञानम्, पञ्चमीति योगविभागात्समासः, तस्मिन् ? किम् ? **असतो**ऽविद्यमानस्य स्थूलाकारस्य **प्रतिभासो** वेदनविषयत्वम् **अयुक्तः** सङ्गतो न भवति। तथा हि–

> अर्थकार्यं यदि ज्ञानमर्थस्य ग्राहकं मतम्।
> असतः स्थूलरूपस्य प्रतिभासस्तदा कथम् ? ॥५०८॥
>
> असतो न हि विज्ञानमन्यद्वेहोपजायते।
> जायते चेदसतश्च सतः कार्यं हि लक्षणम् ॥५०९॥
>
> चन्द्रद्वित्वादिकस्यैवमहेतुत्वात्स्ववेदने।
> व्यावर्त्याभावतो न स्यादभ्रान्तपदमर्थवत्" ॥५१०॥

---

१ तादात्म्यस्य। २ गुणप्रधानभावस्य। ३ गुणप्रधानभावनियमः। ४ विशेषणादिविषयत्वम्। ५ "बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्। अर्थस्य"–तत्त्वार्थसू० १।१६,१७। ६ –द्युपपद्येत प०। ७ सर्वसंवी –आ०, ब०, प०, स०। ८ मत्सम्बन्धत्वेन आ०,ब०,प०,स०। ९ "यथैव केशा दृश्यन्ते द्वैधे असंवेद्य अपि अनपविवेकतमभासिनः परमाणवोऽपि तथेति न विरोधः।"–प्र० वार्तिकाल० २।२११। १० –भावस्मृत–आ०, ब०, प०, स०। ११ कल्पनापोढमभ्रान्तमिति प्रत्यक्षलक्षणगतमभ्रान्तपदम्।

अहेतोरपि वित्तिश्चेत्तद्द्वित्त्वादेः, तदा कथम् ।
'कारणस्यैव वेद्यत्वम्' इत्ययं नियमो भवेत् ? ॥५११॥

अहेतोर्वेद्यतां वक्ति नियमं वक्ति चेदृशम् ।
केन धान्धा (ध्यन्धा)यितो हन्त जगद्विजयधीरयम्[1] ॥५१२॥

अपि च, यद्यसतोऽपि स्वलक्षणेषु स्थूलाकारस्य दर्शनम्; शब्दस्य किन्न स्यात् ? स्थूलप्रतिभासो दृश्यते न शब्दप्रतिभास इति चेन्; न; 'घटोऽयं पटोऽयम्' इत्यत्र शब्दप्रतिभासस्यापि दर्शनात् । विकल्पप्रतिभास एवायं न प्रत्यक्षप्रतिभास इति चेन्; न; अस्यैव मानसप्रत्यक्षत्वेन प्रज्ञाकरेण कथनात्[2] । शब्दप्रतिभासवत्त्वे कथमस्य प्रत्यक्षत्वं निर्विकल्पकत्वाभावादिति चेन् ? नन्वयं[3] तत्रैव दोषस्तत्किमत्र प्रश्नेन ? स्वकौपीनविवरणस्याप्रतिबुद्धव्यवहारत्वात् ।

नायं दोषः, शब्दप्रतिभासवत्त्वेऽपि पूर्वापरपरामर्शित्वाभावेनाविकल्पकत्वादिति चेन्; उच्यते—यदि तत्परामर्शित्वादेव विकल्पकत्वं तर्हि प्रत्यक्षे सर्वत्र तदेव[4] निराकर्त्तव्यम्, विकल्पप्रसङ्गभयस्य तत्प्रयुक्तत्वात् न शब्दप्रतिभासवत्त्वम्, सत्यपि तस्मिंस्तत्प्रसङ्गभयाभावात् । तदिदं व्याघभयपरिहाराय साधुव्यापादनं तथागतस्य[5] । तत्परामर्शस्यापि शब्दप्रतिभासमूलत्वात्स[6] एव तत्र प्रतिषिध्यत इति चेत्[7]; न; मानसप्रत्यक्षेऽपि तत्प्रतिषेधप्रसङ्गात् । अस्त्येव वस्तुतस्तत्रापि तन्निषेधः[8] केवलं तत्प्रतिभासिना[9] विकल्पेन एकत्वाध्यासात् आभिमानिकं तदपि तत्प्रतिभासमुच्यत इति चेन्; कस्तर्हि वस्तुत इन्द्रियज्ञानात्तस्य[10] भेदः ? न कश्चिदिति चेन्; नास्त्येव तर्हि [11]तदिति न [12]प्रत्यक्षचतुष्टयवादः साधीयान् ।

यत्पुनरेतत्—आगमप्रसिद्धं[13] तदभिप्रेत्य 'नीलमिदम्' इत्यादिविकल्पप्रादुर्भावान्यथानुपपत्त्या चानुमितं तदङ्गीकृत्य तच्चतुष्टयवाद इति; तदास्तां तावत् प्रस्तावान्ते निरूपणात् । ततस्तस्येन्द्रियज्ञानाद् भेदं ब्रुवता तात्त्विक एव [14]तत्र शब्दप्रतिभासो वक्तव्यः ततः[15] कथन्न तत्परामर्शित्वं यतो विकल्पकत्वं न भवेत् ? सत्यपि [16]तत्प्रतिभासे [17]तत्र [18]तत्परामर्शाभावे चक्षुरादिज्ञानेऽपि न भवेदिति [19]तत्र [20]तत्प्रतिभासनिषेधनं प्रयासमात्रमेव कीर्तेः । अतस्तन्निराकरणादवगम्यते सति [21]तस्मिन्नवश्यंभावी [22]तत्परामर्श इति कथन्न विकल्पकं मानसप्रत्यक्षम् ? तथा सति प्रत्यक्षान्तरस्यापि तत्त्वमनिवार्यम् । तथा हि—इन्द्रियादिप्रत्यक्षं विकल्पकं प्रत्यक्षत्वात् मानसप्रत्यक्षवत् । शब्दप्रतिभासाभावान्नेति चेत्; न; तस्याप्यनु-

---

१ सौगतः। २ "इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात्पुरतः स्थिते। साक्षात्करणतस्तत्तु प्रत्यक्षं मानसं मतम् ।"—प्र० वार्तिकाल० २।२४३ । ३ नन्वयं न चैव दो–आ०,ब०,प०,स० । ४ पूर्वापरपरामर्शित्वमेव । ५ तथागतस्य आ०,ब०,प०,स० । ६ शब्दप्रतिभास एव । ७ चेन्न स प्रत्यक्षे–आ०,ब०,प०,स० । ८ शब्दप्रतिभासनिषेधः । ९ शब्दप्रतिभासिना । १० मानसप्रत्यक्षस्य । ११ मानसप्रत्यक्षम् । १२ इन्द्रियमनोयोगिस्वसंवेदनप्रत्यक्षचतुष्टय । १३ "एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम् ।"—न्यायबि०–पृ०१४ । तर्कभा० पृ० ९ । १४ मानसप्रत्यक्षे । १५ कथं नन्व–आ०, ब०, प०, स० । १६ शब्दप्रतिभासे । १७ मानसप्रत्यक्षे । १८ पूर्वापरपरामर्शाभावे । १९ चक्षुरादिज्ञाने । २० शब्दप्रतिभास । २१ शब्दप्रतिभासे । २२ पूर्वापरपरामर्शः ।

मानाम्-इन्द्रियादिप्रत्यक्षं शब्दप्रतिभासमत्, तस्मात् मानसाध्यक्षवदिति । स्वलक्षणेऽप्यसतः कथं शब्दस्य तत्र प्रतिभासनमिति चेत् ? स्थूलाकारवदिति ब्रूमः । तदाह-**अभिलापवत्** । अभिलापः शब्दो विद्यतेऽस्मिन्नित्यभिलापवत् 'अर्थज्ञानम्' इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । तदपि इन्द्रियजं [1]विकल्पकम् इति भावः । ततो यथा मानसतः स्वलक्षणे शब्दस्यावभासनं तथा स्थूलाकारस्यापि न स्यात्, तदस्ति च । तस्मात्सुप्रमेवायमिति कथञ्च तदात्मनो बहिरर्थस्य परमार्थत्वम् ?

अपि च, विरलकेशाधिष्ठानस्यापि घनाकारस्यासत्त्वं [3]कुतोऽवसितम् ? तत्प्रतिभासात् इन्द्रियज्ञानादेवेति चेत्, न, तत्प्रतिभासस्य तदभावप्रतिभासत्वविरोधात् । अन्यथा-

नीलादेर्वस्तुजातस्य यदेव प्रतिभासनम् ।
तदेव तदसत्त्वस्याप्यवभासनमापतेत ॥५१३॥
तद्घनाकारवत्प्राप्त नीलाधभिलमप्यसत् ।
बहिरर्थप्रवादाय दीयतां सलिलाञ्जलिः ॥५१४॥
असत्त्वोपाधिकत्वेन घन एवावभासते ।
न नीलादि ततो नास्ति दोषोऽयमिति चेन्न तत् ॥५१५॥
घनज्ञानस्य मिथ्यात्वं कथमेवं प्रकल्प्यताम् ?
न ह्यसत्त्वमसत्त्वेन गृह्यमाणं मृषोचितम् ॥५१६॥
तस्यापि घनबोधस्य सम्यग्ज्ञानत्वमेव चेत् ।
निवर्तनीयमभ्रान्तपदस्यैवं हि किं भवेत् ? ॥५१७॥
चन्द्रद्वित्वावभासं चेज्ज्ञानं तदपि दुर्घटम् ।
असत्त्वोपाधिकस्यैव तद्द्वित्वस्यापि भासनात् ॥५१८॥
न तथा प्रतिपत्तिश्चेद्घनाकारेऽपि तत्समम् ।
तत्र तत्प्रतिभासेन तदसत्त्वावबोधनम् ॥५१९॥

तदाह-'**अर्थ**' इत्यादि । अर्थस्य घनाकारस्य अर्यत इति व्युत्पत्तेः, ज्ञान तस्मिन् **असतः** असत्त्वस्य तदाकारसम्बन्धिन एव प्रत्यासत्तेः **प्रतिभासोऽव्यक्तः**, '**व्यक्तम्**' इत्यनुवर्तमानेन लिङ्गपरिणामेन् अपहसनपरेण च सम्बन्धात् 'अव्यक्तः' इति लभ्यते । निदर्शनमाह-'**अभिलापवत्**' इति । अभिलापशब्देन तज्जनितं ज्ञानं गृह्यते, अभिलाप इवाभिलापवदिति-अयमर्थो यथाभिलापजं विज्ञानं न स्वयमेव स्वविषयस्याभाव गमयति तथा घनाकारज्ञानमपीति । भवतु तर्हि बाधकप्रत्ययात्तदभावावसाय इति चेत्, कस्तत्प्रत्ययः ? विरलकेशविषय इति चेत्, कीदृशास्ते केशा यद्विषयं ज्ञानं विरलत्वम् । स्थूलरूपा इति चेत्, न,

१ प्रत्यक्षवत् । २ विकल्पमिति स० । ३ कुतोऽवसितमतत्प्रतिभासो इन्द्रियज-आ०, ब०, प०, स० । ४ -अर्थस्यैतत्-आ०, ब०, प०, स० । ५ -माह अभिलापशब्देन आ०, ब०, प०, स० । ६ -ज्ञानत्वं विर-आ०, ब०, प०, स० ।

स्थूलाकारस्यासद्रूपत्वे तदधिष्ठानविरलभावस्याप्यसद्रूपत्वेन तज्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानत्वात् । न हि मिथ्याज्ञानमेव घनाकारप्रत्ययस्य बाधकम्, अन्यत्रै[1]वमदर्शनात् । व्यवहारतः सन्नेव विरलकेशस्थूलाकार इति चेत्; न; स्तम्भादिस्थूलाकारस्यापि व्यवहारतः सत्त्वाविशेषात् । व्यावहारिकमप्रतिषिद्धमेव त[2]त्सत्त्वं पारमार्थतत्सत्त्वस्यैव निषेधादिति चेत्; कुतस्तन्निषेधः ? विरलकेशघनाकारनिदर्शनादिति चेत्; तदाकारस्यापि परमार्थसत्त्वाभावात् निदर्शनत्वम्, व्यवहारसत्त्वाभावाद्वा ? परमार्थसत्त्वाभावादिति चेत्; कुतस्तस्य तदभावः ? तत्प्रत्ययस्य स्खलनादिति चेत्; तदपि कुतः ? बाधनाद्विरलकेशप्रत्ययेनेति चेत्; स्या[3]देतदेवं यदि तस्य परमार्थविषयत्वम्, ता[4]दृशेनैव तत्प्रत्यनीकविषयस्य[5] बाधोपपत्तेः । न चैवम्, तस्य संवृतिसिद्धस्थूलविरलकेशविषयत्वेन अनन्तरं प्रतिपादनात् । न च तादृशेन क्वचित् परमार्थसत्त्वस्य[6] बाधनमुपपन्नम्, संवृतिसिद्धसिंहज्ञानेन माणवके मनुष्यज्ञानस्य बाधप्रसङ्गात् । नन्न परमार्थसत्त्वाभावात्तदाकारस्य निदर्शनत्वम् । व्यवहारसत्त्वाभावात्तु निदर्शनत्वे[7] ततो व्यवहारसत्त्वाभाव एव स्तम्भादिस्थूलाकारस्य शक्यापादनो न परमार्थसत्त्वाभावः ।

भवतु तर्हि परमार्थविषय एव स्थूलविरलकेशप्रत्ययोऽपीति चेत्; कुत एतत् ? बाधकप्रत्ययोपनिपातपरिपीडारहितत्वा[8]दिति चेत्; खान्नो रत्नवृष्टिः पतिता, स्तम्भादिस्थूलाकारप्रत्ययस्यापि त[9]त्पीडारहितत्वेन परमार्थसद्विषयत्वोपपत्तेः । तन्न स्थूलात्मानस्तत्केशाः । परमाण्वात्मान इति चेत्, न, परमाणूनामप्रतिभासनात्, सर्वदा स्थूलाकारस्यैव बहिरवलोकनात् ।

स्यान्मतम्–विततत्वमेव स्थूलत्वम्, तच्च परमाणुपरस्परप्रत्यासत्तिरूपमेव नाखण्डावयविरूपं तस्य क्वचिदप्यनवलोकनात् । अतः स्थूलप्रतिभास एव परमाणुप्रतिभासः, तत्कथं तदप्रतिभास इति ? तन्न; एवं बाध्याभावप्रसङ्गात् । केशघनाकारप्रत्ययो [10]बाध्य इति चेत्; न; एवं तस्यापि केशपरस्परप्रत्यासत्तिरूपघनाकारगोचरत्वेन यथार्थत्वात्, तादृशस्य च बाध्यत्वानुपपत्तेः । अवयविविषय एव घनाकारप्रत्ययः तेन बाध्यत्वमिति चेत्; न; केशप्रत्ययस्यापि तद्विपर्य[11]यत्वतः तत्प्रतिभासत्वापत्त्या परमाणुप्रतिभासनाभावस्यापरिहारात् । अपि च, परमाणूनां प्रत्यासत्त्या यदि तद्भेदस्याप्रतिरोधः कथं तदात्मकं वैतत्यम्, विभिन्नेषु स्तम्भादिषु [12]तददर्शनात् ? भेदप्रतिभासस्य [13]तया प्रतिरोध इति चेत्; न; भेदाव्यतिरेकात् परमाणूनां [14]तत्प्रतिभासस्यापि [15]तया [16]तत्प्रसङ्गात् । तथा च 'तत्प्रत्यासत्तिर्वैतत्यम्' इति रिक्ता वाचोयुक्तिः अनधिगतविषयत्वात् । नीलादितयावभासन्त एव परमाणव इति चेत्, तथापि कथं वितताः ? प्रत्यासत्तिकृताद् भेदा-

१ –त्रैव दर्श–आ०, ब०, प०, स० । २ स्तम्भादिस्थूलाकारसत्त्वम् । ३ –स्यात्तदेवं आ०, ब०, प०, स० । ४ परमार्थविषयेणैव । ५ –स्याबाधो–आ०, ब०, प०, स० । ६ –स्याबाध– आ, ब०, प०, स० । ७ –त्वे तद्यव–आ०, ब०, प०, स० । ८ निर्बाधत्वेन । ९ बाध्यभाव–आ०, ब०, प०, स० । १० बाध्यन इति आ०, ब०, प०, स० । ११ –यत इति चेन्न तत्प्रति–आ०, ब०, प०, स० । १२ तद्दर्शना–आ०, ब०, प०, स० । १३ प्रत्यासत्त्या । १४ परमाणुप्रतिभासस्यापि । १५ प्रत्यासत्त्या १६ प्रतिरोधप्रसङ्गात्

नवभासनादिति चेत्, कोऽसौ 'तदनवभासः ? तुच्छोऽवभासप्रतिषेध इति चेत्, न, तुच्छश्च स्थूलश्चेति व्याघातात्। अभेदप्रतिभासस्तदनवभास इति चेत्, न, अभेदस्याभावात्। असत्ये वासौ' प्रतिभासत इति चेत्, न, तत्प्रतिभासस्य विभ्रमप्रसङ्गात्। को दोष इति चेत्, कथं ततो नीलादिसिद्धिः? तत्राविभ्रमादिति चेत्, कथं विभ्रमाविभ्रमरूपत्वमेकस्य ज्ञानस्य? विरोधात्। अविरोधे वा स्थूलसूक्ष्मरूपत्वमप्येकस्य वस्तुनस्तात्त्विकमेवेति नैकान्तेन स्थूलाकारस्यापरमार्थसत्त्वम्।

यत्पुनरस्मिन्नवसरे–'कथं भवद्भी रथ्यासु विप्रकीर्णः केशकलापः पललपिण्डोऽन्यो वा स्थूलः शक्यते व्यवस्थापयितुम्? न हि इमेऽवयविनो भवद्भिरभ्युपगम्यन्ते, अन्त्यावयवित्वेन पललादिव्यक्तीनां द्रव्यान्तरानारम्भात्' इति सौगतस्य चोद्ये त्रिलोचनस्य वचनम्–"नैष दोषः, पृथक्त्वाग्रहणनिबन्धनस्य वनप्रत्ययवदस्यापि स्थूलप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्" [ ] इति, तदप्येतेन चिन्तितम्, तथा हि–

पिण्डे पललबोधस्य विभ्रमो बाधनाद्यदि ।
पलले तर्हि तस्यास्तु निर्बाधत्वादविभ्रमः ॥५२०॥
संयोगान्योन्यतो भेदे विभ्रमेतररूपयोः ।
मिश्रतद्रूपताऽस्य स्याद् बोधस्यापि मिश्रा भवेत् ॥५२१॥
बोधद्वितयभावे च तज्जन्म युगपत्कथम् ?
ज्ञानानां युगपज्जन्म यत्र योगैरनीप्सितम् ॥५२२॥
क्रमतश्चेदुत्पत्तिः दृश्यते युगपत्कथम् ? ।
आशुभावनिमित्तोऽस्ति भ्रमस्तादृशो मतः ॥५२३॥
विभ्रमस्य कुतो यौगपद्य ? बाधनतो यदि ।
बोधयोस्तर्हि तस्यास्तु निर्बाधत्वादविभ्रमः ॥५२४॥
अत्रापि पूर्वन्यायेन बोधद्वयस्य कल्पने ।
तस्यापि युगपज्जन्म कथं स्यादविरोधो भवेत् ? ॥५२५॥
तज्जन्मक्रमभावे च प्रसङ्गः पूर्ववद्भवेत् ।
सर्वज्ञानवत्स्यादनुरसहक्लेशमापतेत् ॥५२६॥
एकत्वं चेत्कथञ्चित्स्यात्विभ्रमेतरयोर्मिथः ।
भागानां भागिनश्चैवं तादात्म्यं किन्न मन्यते ? ॥५२७॥

---

१ भेदानवभासः । २ अभेदः । ३ पललबोधस्य । ४ 'पललसिद्धोऽयम्' इति बौधगन्थौ विभ्रमे तत्सम्बौ । ५ बोधद्वितीय–आ०, ब०, प०, स० । ६ युगपद्भासमानः । ७ पूर्वमन्या–आ०, ब०, प०, स० । ८ –द्वैत् आ०, ब०, प०, स० ।

प्रतीतिरपि तादात्म्यविषयैवात्र लौकिकी ।
तन्तवो यत्पटीभूता इति लोकोऽवगच्छति ॥५२८॥
जात्यन्तरमपाकृत्य प्रतीतं भागभागिनोः ।
अन्यथा कल्पयंल्लोकमतिक्रामति केवलम् ॥५२९॥
भेदाभेदात्मकत्वं[1] तद्वक्त्र्यं भागतद्वताम् ।
एतदेव स्वयं देवैरुक्तं सिद्धिविनिश्चये ॥५३०॥

प्रत्यासत्त्या यथैक्यं स्याद्भ्रान्तिप्रत्यक्षयोस्तथा[2] ।
भागतद्वदभेदोऽपि ततस्तत्त्वं द्वयात्मकम्[3] ॥"

[सिद्धिवि० परि० ६] इति ।

तत्र परमाणूनां विवेकानवभासने नीलादितयाप्यवभासनमुपपन्नम् उक्तदोषात् । अविद्यमानश्च परमाणुरूपकेशविरलाकारप्रतिभासः कथं घनाकारप्रतिभासस्य बाधक इत्यनिश्चितमेव तस्यातदर्थविषयत्वम् , एतदेवाह–**युक्तः**' इति । युक्तिः बाधोपपत्तिः, युक्तस्यायुक्तः[4] प्रतिभासः, 'अव्यक्तः' इति पूर्ववदुपहासः । कस्य ? **असतः** असत्त्वस्य घनाकारसम्बन्धिन इति । निदर्शनमाह–**अभिलापवत्** । अभिलापादिव[5] अभिलापवदिति । यथा 'नास्ति घनाकारः' इति वचनमात्रान्न तस्यावभासः तथा बाधोपपत्तेरपि तस्या एवाभावादिति भावः । तत्र केशघनाकारप्रतिभासनिदर्शनेन स्तम्भादिस्थूलाकारप्रतिभासस्यासदर्थत्वनिश्चयः साधीयान् ।

यत्पुनरेतत्–[6]असदर्थविषयः स्थूलप्रतिभासो मानसत्वात् मरीचिकातोयप्रतिभासवदिति; तन्न, तस्येन्द्रियभावाभावानुविधायिनो मानसत्वायोगात् । अन्यस्यैव स्वलक्षणदर्शनस्य तदनुविधायित्वं स्थूलप्रतिभासे तु तत्सान्निध्यात् [7]तदाभिमानिकमेव न वास्तवमिति चेत्; न; तदन्य[8]स्याप्रतिवेदनात् नयनोन्मीलनानन्तरं झटिति स्थूलप्रतिभासस्यैव प्रत्यवलोकनात् । अप्रतिविदितस्यापि भावे ततोऽप्यन्यस्यैव तदनुविधायित्वं पुनरपि ततोऽप्यन्यस्यैवेति न क्वचिदवस्थितिर्भवेत् । एकत्वाध्यवसायात्तदप्रतिवेदनं[9] नाभावादिति चेत् ; किं पुनस्तदध्यवसायस्तस्य[10] स्थूलप्रतिभासात्पृथग्भावं प्रतिरुणद्धि, स्वसंवेदनं वा[11]? तथा चेत्; सिद्धो नः सिद्धान्तः 'स्थूलप्रतिभासान्नापरमस्ति' इति । अथ न प्रतिरुणद्धि; कुतो न भेदप्रतिवेदनम्? विद्यत एव तत् , केवलं व्यवहार एव तदनुरूपो न भवतीति चेत्; तत्प्रतिवेदनं चेत्तत्र[12] समर्थं सोऽपि कस्मान्न भवति ? एकत्वाध्यवसायेन प्रतिरोधादिति चेत् ; न ; सति समर्थे कारणे तदयोगात् । [13]तत्सामर्थ्यमेव तेन[14] प्रतिरुध्यत इति चेत् ; न ; प्रत्यक्षस्यैव [15]तत्प्रसङ्गात् । [16]ततस्तस्याव्यतिरेकात् । अत्र

१ –त्मकं तद्वक्त–आ०, ब०, प०, स० । २ –प्रत्यययोस्तथा ता० । ३ "त्रयात्मकम्"–सिद्धिवि० । ४ –क्तप्र–आ०, ब०, प०, स० । ५ –पा इव आ०, ब०, प०, स० । ६ असमर्थविषयस्थू–आ०, ब०, प०, स० । ७ तदनुविधायित्वम् । तथाभि–आ०, ब० । ८ स्वलक्षणदर्शनस्य । ९ –नं नानाभा–आ०,ब०,प०,स० । १० स्वलक्षणदर्शनस्य । ११ 'वा'शब्दः समुच्चयार्थकः । १२ व्यवहारे । १३ भेदप्रतिवेदनगतं व्यवहारसामर्थ्यम् । १४ एकत्वाध्यवसायेन । १५ प्रतिरोधप्रसङ्गात् । १६ सामर्थ्यात् ।

चोक्तम्–[1]सिद्ध इत्यादि। असमर्थं चेत्, न, भेदवत् तद्वेदनादपि [2]तद्व्यवहारप्रसङ्गात्। न चैवमेकत्वाध्यवसायेन किञ्चित्। अथ सन्निहितत्वात्तदध्यवसाय एव लोकं व्यवहारयति न [3]भेदप्रतिवेदनं [4]तस्यासन्निहितत्वात्, अयमेव च तदध्यवसायेन भेदव्यवहारस्य प्रतिरोध इति चेत्, न, [5]तत्प्रतिवेदनमपि यदा सन्निहितम्, तदा तद्व्यवहारस्यापि प्रसङ्गात्। तन्नैकत्वाध्यवसायेन भेदव्यवहारप्रतिरोधात् ततोऽपि भेदप्रतिवेदनस्यानुपलम्भनं किन्त्वभावादेव इति न स्थूलप्रतिभासस्याभिमानिकमिन्द्रियभावाभावानुविधायित्वम्, वस्तुत एव तदुपपत्तेः।

अपि च, यदि [6]तत्प्रतिभासो मानस एव [7]प्रतिसङ्ख्यानतो निवर्तेत "[8]शक्यन्ते हि कल्पना प्रतिसङ्ख्यानबलेन निवर्तयितुम्" [ ] इति स्वयमभिधानात्। न [9]चैवम्, निरंशं विकल्पयतोऽपि स्थूलप्रतिभासानिवृत्तेः, तस्मात् [10]स्तम्भादिस्थूलप्रतिभासो मानसः प्रतिसङ्ख्यानेनानिवर्तनात् गोरूपस्थूलप्रतिभासवत्। ननु च न गोरूपोऽपि स्थूलाकारः परमार्थसन्नस्ति परमार्थतो रूपादिपरमाणूनामेव भावात्, घटाद्यवयविव्यवहारस्यापि तदधिष्ठानत्वात्। [10]"यदि तर्हि नावयवी अपि तु रूपादय एव तदा न 'घटस्य रूपादयः' इति भवेत्। न हि भवति 'रूपादीनां रूपं [11]'रूपादयः घटस्य घटः' इति पर्यालोचनं परस्यासङ्गस्य धर्मकीर्तिराह–

> "रूपादिशक्तिभेदानामनाक्षेपेण वर्तते।
> तत्समानफलाहेतुव्यवच्छेदे घटश्रुतिः॥
> अतो न रूपं घट इत्येकाधिकरणा श्रुतिः।
> भेदश्रायमतो जातिसमुदायाभिधानयोः॥
> रूपादयो घटस्येति तत्सामान्योपसर्जनाः।
> तच्छक्तिभेदाः ख्याप्यन्ते वाच्योऽन्योऽप्यनया दिशा॥"
>
> [प्र० वा० १।१०२–१०४] इति।

अत्र प्रज्ञाकरस्य व्याख्यानम्–"रूपादीनां [12]प्रतिनियतशक्तिभेदमनाक्षिप्य तेषु समानोदकधारणशक्त्याक्षेपेण घटश्रुतिः प्रवर्तते ततो 'न रूपादयो घटः' इति समानाधिकरणता। अत एव समुदायशक्तिविवक्षायाम् अयं समुदायशब्दः, जातिशब्दस्तु प्रत्येकमेकफलस्ये यथा वनं यथा वृक्ष इति। कथं तर्हि 'रूपादयो घटस्य' इति व्यपदेशः? [13]उदकाहरणसाधारणरूपादिप्रत्ययजननसमर्थाः प्रत्येकमित्यर्थः। अथ यथा

---

१ सिद्ध इत्यन्ताधम–आ०, ब०, प०, स०। 'सिद्धो नः सिद्धान्तः' इत्यादि। २ यथा भेद प्रतिवेदनं भेदव्यवहारे असमर्थं तथा। ३ व्यवहारप्रसङ्गात्। ४ भेदप्रति–आ०, ब०, प०, स०। ५ तत्प्रतीतिस्या–आ०, ब०, प०। तत्प्रतीतत्वा–स०। ६ भेदप्रतिवेदनम्। ७ स्थूलप्रतिभास। ८ "अशुभादयस्सम्भवता रागादिप्रतिपक्षभूता प्रज्ञा प्रतिसङ्ख्यानम्"–तत्त्वसं० पं० पृ० ५००। ९ तुलना–"न चैतद् व्यवसायात्मं प्रत्यक्षं मानसं मतम्। प्रतिसङ्ख्याननिरोध्यत्वात्पर्यवसितमपेक्ष्यात्।"–सिद्धिवि० प्रत्यक्षपरि०। १० "यदि तर्हि नावयवी रूपादय एव तदा न घटस्य रूपादयः इति भवेत्। न हि भवति रूपादीनां रूपम्, नापि घटस्य वा घट इति पर्यालोचनं परस्यासङ्गस्याह"–प्र० वार्तिकाल० २।१००। ११ 'रूपादयः' इति पदमधिकं भाति। १२ प्रतिनियतशक्तिरे घटमना–आ०, ब०, प०, स०। १३ उदकपूरण–स०।

'वृक्षाणां वनं वृन्दा वनम्' इति तथा 'घटो रूपादीनां रूपादयो घटः' इति कस्मान्न भवति ? भवत्येव यदि शास्त्रान्तरसंस्कारो न भवति । लोकस्तु प्रायशस्तत्संस्कारानुसारी, ततो न भवति । यस्तु सम्यगवबोधयुक्तः तस्य भवत्येव स[2] प्रत्ययः 'रूपादय एव केचित् घटः कार्यविशेषसमर्थाः, उदकाद्याहरणं च कार्यविशेषः, सन्निवेशविशेषेण वा व्यवस्थिताः, यतः[3] सन्निवेशविशेषादुदकधारणविशेषः । 'रूपं घटः' इति तु न भवति सामानाधिकरण्यम् अवयवावयविभेदेन परस्परव्याप्त्यभावात् ।" [प्र०वार्तिकाल०] इति । ततः कल्पितत्वात् गोरूपस्य मानस एव तत्प्रतिभास इति कथन्न साध्यवैकल्यमुदाहरणस्येति चेत् ? कथमेवमिन्द्रियज्ञानस्य प्रतिसङ्ख्यानबलादनिवर्त्यत्वम् (र्त्यत्वे) भवता तत्र गोदर्शनं निदर्शनमुक्तम् ? सामग्रीसाकल्ये अनिवर्त्त्या गोबुद्धिः अश्वं विकल्पयतोऽपि गोदर्शनादिति [6]तस्यापि मानसत्वे [7]प्रतिसङ्ख्याननिवर्त्यत्वात् तदनिवर्त्यत्वं प्रति साध्यविकलत्वेनोदाहरणत्वायोगात् । तदयमिन्द्रियज्ञानविषयत्वं गोरूपस्य प्रतिपद्यमान एवं तस्य विकल्पितत्वमप्याचष्ट इति कथमनुन्मत्तो धर्मकीर्त्तिः ? भारवहनाद्येकप्रयोजनसाधनसाधारणरूपादिशक्तिरूपत्वात् अकल्पित एव गवार्थः । यदाह–"तेषु समानोदकधारणशक्त्याक्षेपेण घटश्रुतिः" [प्र० वार्तिकाल०] इति चेत् ; न ; शक्तेरप्रत्यक्षत्वेन दर्शनविषयत्वानुपपत्तेः । प्रत्यक्षत्वेऽपि यद्येका चाव्यतिरिक्ता च रूपादिभ्यस्तच्छक्तिरभ्यनुज्ञायते; सिद्धस्तर्हि [10]परमार्थत एव तद्रूपो गौरवयवीति [11]कथमुक्तम्– "अवयवा एव नावयवी विद्यते" [प्र० वार्तिकाल० १।९९] इति ? व्यतिरिक्ताऽवयव्यभिप्रायेण तद्वचनमिति चेत्; न; अव्यतिरेकेऽपि अवयवित्वायोगात् । कथञ्चिद्व्यतिरेके [12]तद्योग इति चेत्; न; स्याद्वादिमतानुप्रवेशप्रसङ्गात् । तन्नैका शक्तिः ।

प्रतिरूपादिव्यक्ति भिन्नैवेति चेत् ; कथमेवम् एकगवप्रत्ययविषयत्वमेकस्यैव ? [13]अतत्फलहेतुव्यवच्छेदस्य [14]तासु भावादिति चेत् ; तद्व्यवच्छेदस्तर्हि गोऽवयवी ? सत्यम् ; यदाह–

"तत्समानफलाहेतुव्यवच्छेदे[15] घटश्रुतिः" इति । इति चेत् ; न तर्हि तस्य दर्शनविषयत्वं नीरूपत्वेनाप्रतिबन्धात्[16], तत्कथमश्वं विकल्पयतो गोदर्शनादिति निदर्शनोपन्यासः ? तद्व्यवच्छेदस्य च गोऽवयवित्वे 'तद्व्यवच्छेदो[17] गौः' इति प्रत्ययेन भवितव्यं न 'रूपादयो गौः' इति । ततो यदुक्तम्–'यस्तु सम्यगवबोधयुक्तस्तस्य' इत्यादि 'घटः' इति पर्यन्तम् ; तदसम्यगवबोधविजृम्भितमेव [18]प्रज्ञाकरस्योत्पश्यामः । [19]तद्व्यवच्छेदस्य शक्तिरूपेभ्यो रूपादिभ्योऽव्य-

---

१ वृक्षवन–आ०,ब०,प०,स० । २ सम्प्रत्ययः–आ०,ब०,प०,स० । प्र०वार्तिकाल० । ३ यतस्तन्निवे– आ०, ब०, स० । यतस्तत्सन्निवे–प० । ४ भवतात्र आ०, ब०, प०, स० । ५–वर्त्यगोबुद्धिमश्वं विकल्पयतो गोदर्शनादिति तस्यापि समानत्वे प्रतिसख्याननिवर्त्यत्वं तदनि–आ०, ब०, स० । ६ गोदर्शनस्यापि । ७ प्रतिसंख्याननिवर्त्यत्वं प्रति प० । ८ एतस्य आ०, ब०, प०, स० । ९ यथाह आ०, ब०, प०, स० । १० परमार्थ एव आ०, ब०, प०, स० । ११ कथं युक्तं आ०, ब०, प०, स० । १२ तद्योग्य इ–आ०, ब०, प०, स० । अवयवित्वयोगः । १३ अतत्कार्यकारणव्यावृत्तेः । १४ भिन्नशक्तिषु । १५ –दे घट इति चेन्न आ०, ब०, प०, स० । १६ तुच्छस्वभावत्वेन सम्बन्धाभावात् । १७–च्छेदा गौ–आ०, ब०, प० । १८ प्रज्ञाकरस्यो–ता० । १९ अतद्धेतुफलव्यवच्छेदस्य ।

विरेकात् स एव गौरित्यपि प्रत्ययो न लुप्यतीति चेत्, न, तस्यै प्रविभक्तस्यभिन्नस्य तदन्यविरेके तात्त्विकस्यैवावयविनः सिद्धिप्रसङ्गात्। तुच्छस्य तद्व्यवच्छेदस्य तत्साधारणस्य कल्पने 'तद्व्यवच्छेदस्तर्हि' इत्यादेः 'तत्कथम्' इत्यादिपर्यन्तस्य प्रसङ्गस्य पुनः पुनरनुबन्धादानिवृत्तिक्रमापद्येत।

स्यान्मतम्—न तद्व्यवच्छेदस्यैकत्वादेकगवप्रत्ययविषयत्वम्, अपि तु सन्निवेशविशेषात्। यदाह—"सन्निवेशविशेषेण वा व्यवस्थिताः" [प्र० वार्तिकाल० १।१००-१०२] इति, तन्न, अत्रापि समानत्वात्तत्प्रसङ्गस्य। तथा हि—

रूपादिभ्यो विभिन्नश्चेत्सन्निवेशः स एव गौः।
न तु रूपाद्यवस्थासाप्ते गौरिति मतिः कथम्? ॥५३१॥

अविविक्तः स चेत्तेभ्यो यथालक्षणश्च कल्प्यते।
वास्तवोऽवयवी सिद्धश्चेत् स्याद्यदिमिरभिप्लुतः ॥५३२॥

तेभ्यश्चेदविविक्तः सः प्रतिरूपादि भेदवान्।
तद्वत्तस्यापि नानात्वान्मतिरेकगवे कथम् ॥५३३॥

सन्निवेशविशेषस्य पुनरन्यस्य कल्पने।
पूर्व एव प्रसङ्गः स्यादन्यत्वसामयप्रदः ॥५३४॥

तन्न शक्तिव्यवच्छेदः सन्निवेशेषु कश्चन।
गवार्थस्तात्त्विको यस्य दर्शनं निर्विकल्पकम् ॥५३५॥

स्यान्मतम्—अतत्फलहेतुव्यवच्छेदः सन्निवेशविशेषो वा न कश्चिदेकरूपो गौरस्ति, शक्तीनामेव बह्वीनां तत्त्वात्, एकत्वव्यवहारस्तु तत्रैकार्थक्रियानिबन्धन इति, तन्न, 'तत्समान' इत्यादिकस्यैव 'सन्निवेशविशेषेण' इत्यादिकस्य चावचनप्रसङ्गात्। एकार्थक्रियानिबन्धनश्च एकत्वव्यवहारो न तावद्दर्शनसमकालः, तदा पूर्वं तत्क्रियाया अभावात् तद्व्यवहारस्यासम्भवात्। दर्शनमेव तत्क्रियेति चेत्, न, तत्कार्यतद्व्यवहारस्य तत्समकालत्वस्यायोगात्। दर्शनोत्तरकालस्तद्व्यवहार इति चेत्, दर्शने तर्हि गोव्यपदेशभाजः परमाणवो विरलारमान एव प्रत्ययमासेरम्। एवमिति चेत्, कुत एतत्प्रतिपत्तव्यं न चेत्कोशपानं न चेद्य एतद्धर्मैरपालम्भासनम्। अनुभवबलं तु न तादृशमुत्पश्यामो यतस्तान्प्रतिपद्येमहि। ततः कस्यचिदप्यवयविस्येनानवस्थानात् कथं तदुपसर्जनरूपादिशक्तिभेदाः प्रतिपाद्येरन् 'गवादे रूपादयः' इति। तन्न केवलम् 'अस्य विकल्पयतः' इत्यादिकमेव, अपि तु 'रूपादयो घटस्य' इत्यादिकमपि दुर्भाषितमेव। ततो गोदर्शनं निर्विकल्पकमवयव्युपसर्जनस्य रूपादिशक्तिविशेषव्यपदेशं विधातुमिच्छता

१ प्रव्यवच्छेदस्त। २ रूपादय। ३ विवेभ्यः आ०, ब०, प०, स०। ४ रूपादिभ्यः। ५ सन्निवेश। ६—स्तनम् आ०,ब०,प०,स०। ७ गौत्वात्। ८ धर्मकीर्तेरुक्तस्य। ९ प्रज्ञाकरोक्तस्य। १०दर्शनसमकालत्वस्यायोगात्। ११—अत्राप—आ०, ब०, प०, स०। १२—न् गोपर उपायः आ०, ब०, प०, स०।

तात्त्विक एव गवादिरवयवी वक्तव्यः । तात्त्विकत्वे तस्य कुतो नावयवविवेकेनोपलम्भ इति चेत् ? न; कथञ्चिदविवेकस्यापि भावात् । कथं पुनः सूक्ष्माविवेकित्वं स्थूलस्य विरोधादिति चेत् ? कथं शक्तिसामान्याविवेकित्वं शक्तिविशेषस्य विरोधाविशेषात् ? शक्तिविशेष एव रूपादीनां न तत्सामान्यमिति चेत् ; न; 'तेषु समान' इत्यादिवचनविरोधात् । कल्पितं तेषु तत्सामान्यमिति चेत् ; न; अतो गौरिति वा घट इति वा प्रत्ययस्यायोगात् , कल्पितस्यानर्थकरत्वात् , अन्यथा नित्यादिप्रद्वेषस्य निर्निबन्धनत्वापत्तेः । कल्पितादपि तस्मात्कथं तद्विशेषस्याविवेको विरोधपरिहाराभावात् ? विवेक एवास्त्विति चेत् ; न; 'गवादे रूपादयः' इति व्यपदेशाभावप्रसङ्गात् सम्बन्धाभावात् । सम्बन्धादपि कल्पितादेव तथा व्यपदेश इति चेत् ; 'रूपादयो घटस्य' इत्यादेर्विरोधात् । कल्पितस्तद्विशेष इति चेत् ; न ; ततोऽपि 'रूपमिति रस इति' च प्रत्ययायोगात् कल्पितस्यानर्थकरत्वात् ।

अन्यथा नित्यविद्वेषो निर्निबन्धनतां व्रजेत् ।
तस्यापि शक्तिसङ्कल्पादर्थकारित्वसम्भवात् ॥५३६॥

कल्पितोऽप्यविविक्तोऽसौ शक्तिसामान्यतो यदि ।
कल्पिताकल्पितात्मत्वं विरोधायुज्यते कथम् ? ॥५३७॥

विविक्त एव तस्माच्चेत्तस्येति कथमुच्यताम् ? ।
सम्बन्धेन विना सोऽपि कल्पितो यदि कथ्यते ॥५३८॥

तस्मादभिन्नं तच्छक्तिभेदतद्वद्द्वयं यदि ।
कल्पिताकल्पितात्मत्वं विरुद्धं पुनरापतेत् ॥५३९॥

ततोऽपि तद्विवेकश्चेत्सम्बन्धाभावतः कथम् ।
स तस्येति वचोवृत्तिः सौगतस्योपपद्यते ? ॥५४०॥

पुनः सम्बन्धक्लृप्तौ तु प्राक्प्रसङ्गानुवर्त्तनात् ।
अनवस्थालता व्योमविस्तारव्यापिनी भवेत् ॥५४१॥

ततस्तच्छक्तिसामान्यं तद्विशेष इति द्वयम् ।
न्यायवर्त्मनि निष्णातैरवगन्तव्यमाञ्जसम् ॥५४२॥

भवतु तात्त्विकमेव शक्तिद्वयम् , तत्तु परस्परं भिन्नमेवेति चेत् ; न; दत्तोत्तरत्वात् । सम्बन्धाभावेन 'गवादे रूपादयः' इति व्यपदेशायोगात् , कल्पिते च सम्बन्धेऽनवस्थानदोषात् । हेतुफलभावे च तस्मिन् तयोरेकसमयत्वाभावप्रसङ्गादिति । परस्परभेदेऽप्येकेन रूपादिना तादात्म्यात्तद्व्यपदेश इति चेत् ; एवमपि न काचित् क्षतिः, स्थूलेतराकारयोरप्येवमन्योन्यभेदे सत्यपि द्रव्येणैकेन तादात्म्योपपत्तेरवयविनो जैनाभिमतस्य सुव्यवस्थानात् । ततस्तात्त्विकत्वाद्

१–वेकोपल–आ०, ब०, प०, स० । २–मान्यविवे–आ०, ब०, प०, स० । ३ प्रज्ञाकरगुप्तवचन । ४ शक्तिसामान्यात् । ५ शक्तिविशेषः । ६ परमार्थसत् । ७ परस्परमभि–आ०, ब०, प०, स० ।

गोऽवयविनो न तत्प्रतिभासस्य मानसत्वम्, अतो न साध्यवैकल्यमुदाहरणस्य । नापि साधनवैकल्यम्, [1]तत्प्रतिभासे प्रतिसङ्ख्यानेनानिवर्त्यत्वं प्रति परस्याविवादात् । तन्न दृष्टान्तस्य कश्चिद्दोषः ।

नापि हेतोः । असिद्धत्वादोष एवेति चेत्, न, प्रतिसङ्ख्यानेनानिवर्त्यत्वस्य घटादिस्थूलप्रतिभासे धर्मिण्यपि समर्थितत्वात् । अनैकान्तिकत्वादिति चेत्; न; विपक्षे सर्पादिविषयमानसप्रतिभासे[4] तदभावात्, तत्र प्रतिसङ्ख्यानाभिमुखैरेव दर्शनात् । विरुद्धत्वादिति चेत्, न, निश्चितविपक्षव्यावृत्तिकस्य विरुद्धत्वायोगात् । तस्मादसिद्धादिसकलावद्यविकलत्वादनवद्यमिदं साधनम्–घटादिस्थूलप्रतिभासो न मानसः प्रतिसङ्ख्यानेनानिवर्त्यत्वात् गोरूपस्थूलप्रतिभासवदिति । एतदेवाह–'अर्थं'इत्यादि । सन् घटादिरवयवी तस्य स्वावयवेषु विद्यमानत्वात् तस्य प्रतिभासो धर्मिनिर्देशोऽयम् । अर्थम् अर्थक्रियासमर्थं स्वविषयं जानातीति अर्थज्ञाः [6]विच्येव रूपत्वात् साध्यनिर्देशोऽयम् । 'नो' इति 'इ' इति च प्रतिषेधाभ्यामस्यैवार्थस्याभिधानात् । अनेन कल्पितविषयत्वप्रतिषेधाद् अमानसत्वं तत्प्रतिभासस्याभिहितम् । हेतुमाह–योजनं प्रतिसङ्ख्यानकृतं समाधानं युक्तं तदभावाद् 'अयुक्ता' इति मत (प्रतिस)ङ्ख्यानेनासमाधेयत्वादिति । दृष्टान्तमाह–अभिलापवत् । अभिलप्यते परेणाभ्युपगम्य कथ्यत इति अभिलापो गोप्रतिभासः स इव तद्वदिति ।

अपि च, यो मानसप्रतिभासो नासौ सन्निहितार्थो यथा अतीतादिप्रतिभासः, सन्निहितार्थश्चायं घटादिस्थूलप्रतिभासः, तन्न मानसः । न हि 'अयं घटः' इत्यसन्निहितेऽर्थे भवति । इदं च नः प्रत्यक्षम्, सन्निहितार्थनिश्चयलक्षणत्वात् । ननु कः पुनरसौ स्थूलो नाम यस्य विषयत्वेन सन्निधानम्? वर्ण एवेति चेत्, न तर्हि '[9]स्पृशतस्तत्प्रतीतिः' स्यात्, भवति च परिपिहितलोचनस्य स्पृशतोऽपि तदवलोकनात् । स्पर्श एवेति चेत्, न, अस्पृशतोऽप्युन्मीलितलोचनस्य [10]तदुपलब्धेः । [11]"रूपाद्यधिकरणमन्यद् द्रव्यमेव सः" इति चेत्, न, 'अयं घटः' इत्यत्र वर्णादेरन्यस्याप्रतिवेदनात् । अत एवोक्तम्–

"नायं घट इति ज्ञाने वर्णप्रत्यवभासनात्" [ ] इति ।

ततो न घटादिप्रतिभासश्चाक्षुषो नापि स्पार्शनः, अपि तु तदुभयजन्मा मानस एव, तस्मादसन्निहितार्थ एवायमिति चेत्, न, रूपादेरन्योन्याविवेकलक्षणस्यार्थस्य सन्निधान एव तत्प्र[13]तिभासभावात् । कथमन्योन्याविवेको विरोधादिति चेत्? न, परस्परपरिहारस्यैव विरोधत्वात् । तस्य चैकान्तिकस्याभावात्, अविवेकस्यापि प्रतिभासात् । न च प्रतिभासादन्यद्विरोधेऽपि निबन्धनमस्ति । कुतस्तत्प्रतिभास इति चेत्? दर्शनादेवेति ब्रूमः । [14]तदपि चाक्षुषम्, स्पर्शादेस्तेनाग्रहणात् कथं स्वविषयस्य तदविवेकं प्रत्येति तदविवेकग्रहणस्य[15] तद्ग्रहणनान्तरीयकत्वात्?

---

१ गोरूपस्थूलप्रतिभासे । २–नानिवर्त्यत्वं आ०, ब० प०, स० । ३–वर्तस्य आ०, ब०, प०, स० । ४–सौ सति तद्–आ०, ब०, प०, स० । ५ तद् एव–आ०, ब०, प०, स० । ६ विद्यमाने सति 'अर्थज्ञाः' इति सिध्यति । विच्ये चेत् ए–आ०,ब०,प०,स० । ७ नेति च प्रति–आ, ब०, प०, स० । ८ स्पर्शे कुर्वतः । ९ स्पृशतः प्रतीतिः । १० स्पृशेरलम्पे । ११ रूपादिक–आ०,ब०,प०,स० । १२ स्पृश । १३–तिभासभावा–स० । १४ दर्शनम् । १५–स्य तद्ग्रह–आ०, ब०, प० ।

एतेन स्पार्शनं तदित्यपि प्रत्युक्तम्; तेनापि रूपादिकमजानता स्वग्राह्ये तदविवेकस्य दुर्ज्ञानत्वात्, न च रूपादिसर्वस्वविषयं दर्शनान्तरमस्ति यत्तदविवेकमुपदर्शयेदिति चेत्; न; अविवेकवत् विवेकस्याप्यग्रहणप्रसङ्गात्। तथा हि–न चाक्षुषमेव ज्ञानं स्पर्शादिकमप्रतियत् स्वविषयस्य तद्विवेकं प्रत्येतुमर्हति, तद्विवेकप्रतिपत्तेरपि तत्प्रतीतिपुरस्सरत्वात्। एतेन स्पार्शनं तदित्यपि प्रत्युक्तम्; तेनापि रूपादिकमप्रतियता स्वविषये तद्विवेकस्य दुरवबोधत्वात्, सकलरूपादिविषयस्य च दर्शनान्तरस्याभावात् न ततोऽपि तदवगम इति कथं दर्शनबलात् परस्परं विविक्तं रूपादिस्वलक्षणं शक्यमवस्थापयितुम्?

स्यान्मतम्–रूपादिदर्शनस्य स्पर्शाद्यविषयत्वेऽपि तद्विवेकस्य स्वविषयादनर्थान्तरत्वात् स्वविषयं प्रतियत्तमपि नियमेन प्रत्येति अन्यथा अनर्थान्तरत्वायोगादिति; तदयमस्माकमानन्दहेतुरमृतस्यन्दः; तद्विवेकवत् तदविवेकस्याप्येवमवगमोपपत्तेः, कथञ्चित्स्पर्शाद्यविवेकस्य रूपादेर्दर्शनविषयादनर्थान्तरत्वाविशेषात् अप्रतिपन्नादपि तद्विषयस्याविवेके[6] दधिरूपस्योष्ट्रस्पर्शादेरप्यविवेकः स्यात् अप्रतिपन्नत्वाविशेषात्, ततश्च दधिकरभयोरेकावयवित्वात् दधनि प्रवृत्तिचोदनायामुष्ट्रेऽपि प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्; न; तद्विवेकस्याप्येवमव्यवस्थितिप्रसङ्गात्, रूपस्वलक्षणस्य[7] हि सर्वस्माद्विवेके स्वतोऽपि विवेक इति नीरूपमेव तदिति तच्चोदनायामुष्ट्रवद् दधन्यपि न प्रवृत्तिः स्यात् नीरूपस्य व्योमवदशक्यस्वादनत्वात्। तथा च कस्यचिद्वचनम्;–"आकाशमास्वादयतः कुतस्तु कवलग्रहः?" [ ] इति।

सर्वस्माद्व्यतिरेकित्वे[9] तद्विशेषनिराकृतेः।
स्वतोऽपि [10]व्यतिरेकित्वान्निःस्वभावं भवेद्दधि ॥५४३॥
तथा च दधि खादेति चोदितोऽपीह मानवः।
दधन्यपि च नीरूपे वर्त्ततां कथमुष्ट्रवत्? ॥५४४॥

स्वरूपस्य प्रतिपन्नत्वात् कथं तत एव तस्य व्यतिरेक इति चेत्? न; प्रतिपन्नत्वादव्यतिरेके परतोऽपि न स्यात् तस्यापि कुतश्चित्प्रतिपत्तिसम्भवात्, अन्यथा सत्त्वानुपपत्तेः "उपलम्भः [11]सत्येव" [प्र० वार्तिकाल० २।५४] इति [12]वचनात्। अव्यतिरेके प्रतिपत्तिरव्यतिरेकसाधनी, सा च स्वरूप एव न परत्र, तत्र व्यतिरेकप्रतिपत्तेरेव भावादिति चेत्; न तर्हि दधिरूपस्यापि करभादव्यतिरेको व्यतिरेकप्रतिपत्तेरेव तत्र भावात्। सत्यपि [13]सा न व्यतिरेकसाधनीति चेत्; न; अव्यतिरेकस्यापि [14]तत्प्रतिपत्तेरसिद्धिप्रसङ्गात्। निर्बाधत्वात् ततस्तत्सिद्धिरिति चेत्; न; व्यतिरेकेऽपि तुल्यत्वात्, तत्प्रतिपत्तेरपि निर्बाधत्वाविशेषात्। न हि लौकिकः परीक्षको वा करभविविक्तदधिरूपनिरूपणोपनिबद्धां बुद्धिं बाधोपरुद्धामवबुध्यते।

---

१ दर्शनम्। २ स्पर्शादिविवेकम्। ३ तद्विवेकविषयस्य आ०, ब०, प०, स०। स्पर्शादिविवेकस्य। ४ रूपादेः। ५ स्पर्शादिविवेकमपि। ६–वेका दधि–आ०, ब०, प०।–वेकोदधि–स०। ७–स्य सर्व–आ०, ब०, प०, स०। ८–क्यबाधन–आ०, ब०, स०। ९–रेकत्वे आ०, ब०, प०, स०। १० व्यतिरेकत्वा–आ०, ब०, प०, स०। ११ सत्येति व–आ०, ब०, प०, स०। १२ "सत्तोपलम्भ एवेति भावानां पारमार्थिकी" –प्र० वार्तिकाल० २।५४। १३ व्यतिरेकप्रतिपत्तिः। १४ अव्यतिरेकप्रतिपत्तेः।

स्यान्मतम्–येनातिशयेन दधिव्यपदेशनिबन्धनेन करभाद्दधिरूपं व्यतिरिच्यते तस्य व्यतिरेकविधिस्वभावत्वे करभादिव स्पर्शादेरपि दधिगतात्तद्रूपस्य व्यतिरेक एव स्यात्। अतत्स्वभावत्वे[3] करभादप्यव्यतिरेकापत्तिः, अतो न वर्णस्पर्शाद्यात्मकत्वेनोभयात्मकत्वं दधिद्रव्यस्येति, तदपि स्ववधायैव परशुधारानिशातनं परस्य, तथा हि–स्पर्शादेरपि येनातिशयेन व्यतिरिच्यते तद्रूपं तद्व्यपदेशनिबन्धनेन [4]तत्रापि व्यतिरेकविधिस्वभावत्वाविशेषात् दधिरूपस्य स्पर्शादेरिव स्वरूपादपि व्यतिरेक एव प्राप्तः, तस्यातत्स्वभावत्वे स्पर्शादेरप्यव्यतिरेकापत्तेः, अतो न वर्णाद्यात्मकत्वमपि दधिस्वलक्षणस्य, अपि तु नीरूपत्वमेव। तदुक्तमुम्बेकेन (?)–

"न भेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसङ्गतः॥" [ ] इति।

तस्य तद्विवेकविधिस्वभावत्वं स्पर्शादिविषयमेव न स्वरूपविषयमिति चेत्, कुत एतत्? एवमनुभवादिति चेत्? किं भवान् अनुभवव्यापारमपि जानाति? तथा चेत्, सुस्थितं तर्हि दधिरूपस्य तद्गतस्पर्शादेरव्यतिरेकित्वम्, व्यतिरेकित्वञ्च करभात्, अनुभवव्यापारस्यैवमेव प्रतीतेः। एकसामग्र्यधीनतया कल्पित एव तस्य स्पर्शाद्यव्यतिरेकः, तत्कथं तस्यानुभवविषयत्वं कल्पितस्य तदयोगादिति चेत्? न; नीलादिरूपस्यापि अविद्याविलासिनीविलासोपनीतशरीरत्वेन दर्शनविषयत्वाभावापत्तेः। तथा च वेदमस्तकवचनम्–"नेह नानास्ति किञ्चन" [बृहदा० ४।४।१९] इति "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" [ऋक्० ४।७।३३, बृहदा० २।५।१९] इति च। नीलादेरपरं दर्शनवेद्यं न प्रतीयत इति चेत्, न, तदव्यतिरेकशून्यस्यापि तद्वेद्यस्याप्रतीतेः। नीलादिमात्रं प्रतीयत एवेति चेत्, न, अन्येनापि 'सन्मात्रं प्रतीयत एव' इति कर्तुं (वक्तुं) शक्यत्वात्।

ननु सन्मात्रे वस्तुसति तद्व्यतिरिक्तं दर्शनमेव नास्ति द्वैतवादापत्तेः, तत्कथं [11]तस्य तद्वेद्यत्वमिति चेत्, न, नीलादिमात्रेऽपि [12]परमार्थसति [13]तदभावात्। नीलादिसुखादिशरीरव्यतिरे[14]किणः तद्ग्राहकस्य [15]अलङ्कारकारेणानङ्गीकारात्। नीलादिसुखादिशरीरयोश्च ग्राह्यत्वेन ग्राहकत्वानभ्युपगमात्। नीलादिरूपमेव तद्दर्शनमिति चेत्, सन्मात्ररूपमेव तद्दर्शनमपि किन्न स्यात्? सन्मात्रस्य[16] सविवादत्वात्तदनर्थान्तरत्वे दर्शनस्यापि सविवादत्वमिति न तस्य तत्र प्रामाण्यम्, निर्विवादस्यैव प्रामाण्यादिति चेत्, न, नीलादिदर्शनस्यापि तदभावप्रसङ्गात्। अत्यन्तासाधारणस्य नीलादेरपि विवादाधिष्ठानत्वेन [17]तदनर्थान्तरत्वे तद्दर्शनस्यापि तदधिष्ठानत्वाविशेषात्। तद्दर्शनविवादस्य कुतश्चिदुपपत्तिविशेषादभिराकरणमिति चेत्, न, सन्मात्रदर्शनविवादस्यापि तत एव निराकरणप्रसङ्गात्। तदुपपत्तिबलस्य सन्मात्रादनर्थान्तरत्वे [18]तद्विवादविषयत्वात् कुतस्तत्तद्दर्शनविवादनिवृत्तिः विवादास्पदादेव तदयोगात्? अन्यथा दर्शनादेव [19]तादात्म्यात् तद्विवादनिवृत्तेः [20]तद्-

---

१ अतिशयस्य। २ दधिरूपस्य। ३ व्यतिरेकविधानस्वभावाभावे। ४ अतिशयस्यापि। ५ प्राप्तं स्यात् तस्य तत्स्वभा–आ०, ब०, प०, स०। ६ इदं मण्डनमिश्रस्य ब्रह्मसिद्धौ (२।५) उपलभ्यते। ७–न तस्य तद्–आ०, ब०, प०, स०। ८ दधिरूपस्य। ९ तदनिबन्धनम्। १० स्पर्शादिभेदव्यवहार। ११ सन्मात्रस्य। १२ परमार्थसति आ०, ब०, प०, स०। १३ दर्शनाभावात्। १४–रव्यतिरेकेण त–आ०, ब०, प०, स०। १५ प्रज्ञाकरगुप्तेन। १६–स्य विवा–आ०, ब०, प०, स०। १७ तदर्थान्त–आ०, ब०, प०, स०। १८ सन्मात्रवत्। १९ विवादास्पदात्। २० उपपत्तिबलोपेतस्य।

लोपकल्पनवैफल्यप्रसङ्गात् । तद्बलविवादस्यापि अन्यस्मादुपपत्तिबलान्निवर्त्तनमिति चेत्, न; तत्रापि [1]प्राच्यप्रसङ्गानतिवृत्तेरनवस्थानोपस्थानात् । अर्थान्तरत्वे तु[2] द्वैतदोषोपनिपातात् न सन्मात्रग्राह्यस्य दर्शनविषयत्वमिति चेत्; न ; नीलादिस्वलक्षणविषयदर्शनाधिष्ठानविवादव्यावर्त्तनपरस्यापि उपपत्तिबलस्य तत्स्वलक्षणादनर्थान्तरत्वे[3] तद्वद्विवादविषयत्वेन तद्दर्शनविवादव्यावर्त्तकत्वाभावस्य तद्विवादस्याप्यन्योपपत्तिबलाद्व्यावर्त्तने[4] अनवस्थादोषस्य चाविशेषात् । अर्थान्तरत्वेऽपि यदि तस्यासाधारणरूपत्वं तदवस्थ एव [5]तस्य तद्दर्शनविवादनिवर्त्तकत्वाभावः तस्यापि तत्स्वलक्षणवद्विवादभूमित्वात् । तद्विवादस्याप्यन्यस्मादसाधारणादेवोपपत्तिबलान्निवृत्तिरिति चेत्; न, द्वितीयस्य अनवस्थानदोषस्य प्रसङ्गात् । भवतु साधारणमेव [6]तस्य रूपमिति चेत्; न; वस्तुसतो भवन्मतेनाऽभावात् । अवस्तुसदेव तत् कल्पितत्वादिति चेत्; न; [7]तादृशादेव तद्बलात् सन्मात्रदर्शनविवादस्यापि निवृत्तिप्रसङ्गात् । न तत्र तादृशमपि [8]तत्सम्भवति अद्वैतवादपरिपीडनादिति चेत्; न, तस्य कल्पितत्वेन नीरूपस्य अद्वैतवादप्रत्यनीकत्वायोगात् । [9]नीरूपात् कथं तद्विवादनिवर्त्तनमिति चेत् ? कथं तत एव स्वलक्षणदर्शनविवादनिवर्त्तनमिति समानः पर्यनुयोगः ? सन्मात्रे वस्तुसति कल्पनमपि कुतस्तद्बलस्य[10] ? तत एव सन्मात्रादिति चेत्; न ; तस्य स्वयंज्योतीरूपस्य नित्यशुद्धत्वेनाभ्यनुज्ञानात् । न च कल्पनायां न [11]तच्छुद्धिः, [12]तस्या मिथ्याप्रतिभासत्वेनाशुद्धित्वादिति चेत्; ननु [13]असाधारणलक्षणवस्तुवादिनोऽपि कुतस्तद्बलस्य[14] कल्पनम् ? ज्ञानस्वलक्षणादेव कुतश्चिदिति चेत् ; न; तस्य स्वसंवेदनात्मनः शुद्धस्यैवाभ्युपगमात्, तत्र च कल्पनारूपस्याशुद्धिदोषस्यानुपपत्तेः । नैकान्ततः शुद्धमेव[15] संवेदनम् स्वरूपापेक्षया शुद्धस्यापि ग्राह्याकारापेक्षया[16] तद्विपर्ययभावात्, अन्यथा "अभिलापसंसर्ग" [न्यायवि० पृ० १३] इत्यादेर्निर्विषयत्वप्रसङ्गादिति चेत ; न; सत्तातत्त्वेऽपि तुल्यत्वात्, तस्यापि पादत्रयेणैव परिशुद्धिभावात् "त्रिपादस्यामृतं दिवि" [यजु०पुरुष० ३१।३। छान्दो० ३।१२।६] इत्याम्नायात् । पादतः पुनरपरिशुद्धिरेव, तस्य विश्वभूतत्वाभिधानात् । तद्भूतानाञ्च भेदप्रतिभासरूपत्वेनाऽशुद्धिरूपत्वे तदात्मनि तत्पादेऽप्यशुद्धिं प्रति विवादाभावात् । अन्यथा "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" [यजु० पुरुष० ३१।३। छान्दो० ३।१२।६] इति श्रुतेर्निर्विषयत्वापत्तेः । अस्त्येव वस्तुतो निर्विषयत्वं श्रुतेः पादतोऽपि तस्य परिशुद्धत्वात्, अन्यथा मोक्षाभावानुषङ्गात् । अशुद्धिपरिक्षये मोक्ष इति चेत् ; न; अशुद्धेस्तत्पादस्वभावत्वेन तत्परिक्षये तत्पादस्यापि परिक्षयोपनिपातात् । न चैतत्पथ्यं परेषाम्, आत्मपरिक्षयस्य तैरनभ्युपगमात । केवलमविचारबन्धुरप्रतिभासमात्रसावलम्बनेनैवेयं "पादोऽस्य" इत्यादिका श्रुतिरिति चेत्; न ; अभिलापसंसर्ग"[न्यायवि०] इत्यादेरपि निर्विषयत्वात् परिशुद्धरूपस्यैव संवेदनस्य भावात् ।

---

१ प्राप्यप्रस–आ०, ब०, प०, स० । २ तु वैतद्दोषो–आ०,ब०,स० । तु नैतद्दोषो–प० । ३–त्वे तदविवा–आ०, ब०, प०, स० । ४–स्याप्यनुपप–आ०, ब०, प०, स० । ५ तस्यादर्श–आ०, ब०, प०, स० । ६ उपपत्तिबलस्य । ७ साधारणादेव । ८ उपपत्तिबलम् । ९ तुच्छस्वभावादुपपत्तिबलात् । १० उपपत्तिबलस्य । ११ तच्छुद्धः आ०, ब०, प०, स० । १२ कल्पनायाः । १३ असाधारणचणवस्तु–आ०, ब०, प०, स० । १४ उपपत्तिबलस्य । १५ –व स्वसं–ब० । १६–या विप–आ०, ब०, प०, स० ।

"प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्या" [प्र० वा० १।२१०] इति वचनात्। मलपरिक्षय एव प्रभास्वरत्वं न सर्वदेति चेत्, न, मलानां कदाचिदपि वस्तुस्पर्शेनाभावात्। "परमार्थतस्तु विज्ञानं सर्वमेवाविकल्पकम्" [प्र० वार्तिकाल० १।२४९] इत्यलङ्कारात्। "अभिलापसंसर्ग" [न्यायबि०] इत्यादिस्तु श्रुतिवशिष्टविचारपरीक्षाक्षम-प्रतिभासमात्रविषय एव। ततः सत्तावस्त्ववादवत् स्वलक्षणवादेऽपि तादृग् किञ्चिदस्ति यत्तद्दर्शनविषादनिदर्शनपरमुपपत्तिमत्त्वमुपकल्पयेत्। प्रतिभासमात्रादेव तर्हि विचारविपर्ययविशा-रदशरीराम् तदुपकल्पनम्, इत्यपि दुर्घटम्, मतान्तरेऽपि संमतत्वात्। ततो यदि रूपादेः स्पर्शादिभ्यो विवेक एव, अविवेकस्तु कल्पित, तर्हि स्वरूपतोऽपि विवेक एव, तदविवेकस्तु कल्पित एवास्तु। ततस्तस्य स्पर्शाद्यविवेकवत् स्वरूपतोऽपि न दर्शनविषयत्वं सत्तावस्त्वस्येव सर्वत्र सर्वदा सर्वथा च विवेकविकल्पस्य तदुपपत्तेः। तथा च श्रुतिः–"पश्यन्वा एतत् द्रष्टव्यं न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।" [बृहदा० ४।३।२३]।

स्यान्मतम्–वाङ्मात्रमेवेदं 'पश्यन्वा' इत्यादि, न हि निरस्तसकलभेदकल्लोलप्रति-भासप्रपञ्चं सत्तातत्त्वमनुभवपथोपस्थापितमुपलभ्यामः। ततो यदि रूपादिरपि न स्यात् निर्वि-वाद शून्यवादावतारः स्यात्, न चायं न्याय्य प्रमाणाभावात्। ततो न रूपादेः स्वरूपतो विवेकः परस्परत एव तद्भावात्, तथैवानुभवव्यापारस्य निरवद्यस्योपलम्भादिति, तदपि न समीचीनम्, निरस्तस्पर्शाद्यविवेकतत्प्रतिभासस्य रूपादेरपि तत्पथोपस्थापितस्यासम्प्रतिपत्तेः शून्यवादावतारस्य तदवस्थत्वात्। ततो न रूपादेर्दधिगतस्य तत्स्पर्शादेर्विवेकः परमार्थेन सद्भावात् अनुभवव्यापारस्य तथैव संवेदनात्। धर्मकीर्तिनाऽपि तद्व्यापारनिबन्धनादेवेदमभिहितम्–

"सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ? ॥
अथास्त्यतिशयः कश्चिद्येन भेदेन वर्त्तते।
स एव दधि सोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं परम्॥"[प्र०वा०३।१८१-८२]इति।

ततः सिद्धं तदविवेकलक्षणावयविसन्निधानसापेक्षत्वेन दध्यादिस्थूलप्रतिभासस्य सन्नि-हितार्थत्वं तत्प्रामाणत्वम्। तदाह–'अर्थ' इत्यादि। प्रतिभासः प्रस्तावात् स्थूलाकार-गोचरः स धर्मी, साध्यमाह–अयुक्तः असङ्गतः। कुतः सकाशात् ? अक्षतः, अस्यति प्रेरयति स्वविषयेष्विन्द्रियाणीत्यक्षं मनः तस्मात्त इति इन्द्रियादेव युक्त इत्यर्थः। निमित्त माह–अर्थज्ञाने अर्थस्यानन्तरोक्तस्य ज्ञानम् उक्तन्यायेन तत्प्रतिभासं प्रति सन्निहितत्वेनावगमः"

१ परिक्षय एव आ०,ब०,प०,स०। २ परमतस्तु आ०,ब०,प०,स०। ३–चोदपि–आ०,ब०,प०,स०। ४ सम्मतत्वात् आ०,ब०,प०,स०। ५ दर्शनविषयत्वोपपत्तेः। ६ द्रष्टव्यमिति पदम् 'एतत्' इत्यस्य टिप्पणभूतं व्याख्यानमिति भाति। "पश्यन्नेतन्न पश्यति" –बृहदा०। ७ विवेकाभावात्। ८ तत्त्वाचारा–आ०,ब०, प०, स०। ९ सिद्धान्तादपि–आ०, ब०,प०,स०। १० तथाह आ०,ब०,प०,स०। ११ –गतोऽस्मिन् तत्रा–आ०,ब०,प०,स०।

तस्मिन् इति, तस्मान्निमित्तादिति यावत्। परप्रसिद्धं निदर्शनमाह–**अभिलापवत्** अभि समन्ताज्ज्ञानं खण्डनमभिला तामाप्नोतीत्यभिलापं स्वलक्षणं तस्येव तद्वदिति। तदयमत्र सङ्ग्रहः–

स्थूलाकारावभासोऽयमर्थसन्निधिसम्भवात्।
अमानसोऽवगन्तव्यः स्वालक्षण्यावभासवत् ॥५४५॥ इति।

तदेवं स्पर्शादिनानावयवाधिष्ठानस्य तदविवेकलक्षणस्यावयविनः पारमार्थिकस्यैव भावादुपपन्नं तस्य प्रत्यक्षविषयत्वम्। ततः सूक्तम्–**'बहिरर्थस्य ग्रहणम्'** इति।

न केवलमवयविन एव तस्य तद्विषयत्वमपि तु द्रव्यस्यापि अक्रमवत् क्रमेणापि पराऽपरपर्यायाविष्वग्भावस्वभावस्य[1] द्रव्यसंज्ञितस्य स्तम्भादेरविरोधात्। एतदेवाह–

परमार्थैकनानात्वपरिणामाविघातिनः ॥९॥ इति।

एकं च नाना च एकनाना तयोर्भाव **एकनानात्वम्** 'एकत्वं च नानात्वं च' इत्यर्थः, भावप्रत्ययस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्, स एव **परिणामो** विवर्त्तः। **परमार्थ**श्चासौ अकल्पितत्वात् एकनानात्वपरिणामश्च स तथोक्तः, तस्य **अविघातः** प्रमाणैरप्रतिक्षेपः स विद्यतेऽस्मिन्निति **परमार्थैकनानात्वपरिणामाविघाती** बहिरर्थस्तस्य 'प्रतिभासः' इति सम्बन्धः। कुतस्तत्प्रतिभास इति चेत्? न; प्रत्यक्षादेव चक्षुरादिजनितात् क्रमानेकस्वभावादिति निवेदितत्वात्।

स्यान्मतम्–अवयवेभ्यो भिन्न एवावयवी, पर्यायेभ्यश्च द्रव्यमर्थान्तरमेव बहिरर्थः, अवयवा एव वा, निरवयविनो निर्द्रव्या एव वा पर्यायाः बहिरर्थः, ततस्तस्यैव प्रत्यक्षात्प्रतिभासो न क्रमाक्रमानेकस्वभावस्येति। तत्राह–

प्रतिज्ञातोऽन्यथाभावः प्रमाणैः प्रतिषिध्यते। इति।

अन्यथा पूर्वोक्तादन्येन प्रकारेण **भावः** सत्त्वं बहिरर्थस्य **प्रतिज्ञातः** परैरङ्गीकृतः **प्रमाणैः** प्रत्यक्षादिभिः **प्रतिषिध्यते** प्रतिक्षिप्यते इति। ततो न तथा बहिरर्थ इति भावः। यदि तस्यान्यथाभावो न प्रतिपन्नः कथं प्रतिषेधः तस्य[2] निर्विषयत्वायोगात्? प्रतिपन्नश्चेत्, तत्रापि यदा[3] तत्प्रतिपत्तिर्न तदा तत्प्रतिषेधः प्रतिपत्त्यधिष्ठितस्य तदयोगात्, प्रतिपत्तित एव सत्त्वव्यवस्थितेः, अन्यस्य तद्व्यवस्थित्युपायस्याभावात्। अन्यदा तु तत्प्रतिषेधे न सर्वथा तदन्यथाभावप्रतिषेधः, प्रतिपत्त्यवस्थायां तदभावादिति[4] चेत्; न; प्रतिपन्नस्यैव तस्य प्रतिषेधेन तन्निर्विषयत्वाभावात्। नापि प्रतिपन्नस्यान्यदैव निषेधः; प्रतिपत्तिसमयेऽपि निषेधात्। तत्समयेऽप्यसतः कथं प्रतिपत्तिरिति चेत्? स्यादेतदेवम्, यदि विषयाधीनसत्ताकत्वं प्रतिपत्तेः, न चैवम्, तत्र[5] विषयाहेतुत्वस्य निवेदनात्। कुतस्तर्हि तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्?, तच्छास्त्रादेव[6]। तत्कृतां[7] तु कुतश्चिदात्मसम्बद्धात् पुद्गलविशेषादिति ब्रूमः। तथा च प्रयोगः–सर्वथैकान्तज्ञानं

---

१ परापरपर्यायतादात्म्यरूपस्य। २ प्रतिषेधस्य। ३ यथा त–आ०, ब०, प०, स०। ४ प्रति षेधाभावा ५ प्रतिपत्तौ। ६ परशास्त्रादेव। ७ शास्त्राकाराणां तु। तत्कृतां तत्कृत–आ०, ब०, प०, स०।

तद्वादिनो शरीरेन्द्रियादिव्यतिरिक्तजीवसम्बद्धपुद्गलपरिपाकपूर्वकं मिथ्याज्ञानत्वात् मदिराद्युपयोगजनितमिथ्याज्ञानवत्[1] । सर्वज्ञत्वं च तस्य प्रत्यक्षादिना बाध्यमानत्वात् । तदुक्तम्–

"जीवस्य संविदो भ्रान्तेर्निमित्तं मदिरादिवत् ।
तत्कर्मागन्तुकं तस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥" [सिद्धिवि० पृ० १७१] इति ।

भविष्यति चास्य तृतीये विस्तर इति नेदानीं क्रियते । [2]भवत्वेवम्, तथापि कथम् सतो विषयस्य तत्र प्रतिभासनमिति चेत् ? तज्ज्ञानशक्तित एव, सतोऽपि तस्य तत एव तदुपपत्तेः । निरूपितं चैतत्पूर्वमिति न निरूप्यते ।

यदि प्रतिपत्तिविषयस्याप्यभावो हन्तैव कथमनेकान्तेऽपि विश्वास इति चेत् ? भवत्वेवम्, यदि प्रतिपत्तिमात्रात्तत्सिद्धिरुच्येत, न चैवम्, तद्विरोपायेव[7] निर्व्याबाधात् तदभ्युपगमात्, तस्य च प्रमाणैः सत्रोपस्थापनात् । यद्येवमनेकान्तविधिपरैः[8] कथं तैरेकान्तप्रतिषेध इति चेत् ? न, प्रतिषेधपरत्वस्यापि तेषु भावात्, अन्यथा तैर्विषयेषु स्वरूपादिवत् पररूपादिनापि विध्युपकल्पनायां माऽन्वयव्यतिरेकव्यतिविभागः, सर्वमेवापत्तेः । नायं दोषो ब्रह्मवादिनामिति चेत्, आस्तामेतत्, तन्मतस्य यथावसरं निरूपणात् । एतेन प्रतिषेधपरेष्वपि तेषु विधिपरत्वमप्यवबोद्धव्यम्, अन्यथा तैर्विषयेषु पररूपादिवत् स्वरूपादिनापि प्रतिषेधोपकल्पनायामपि न तद्विभागसिद्धिः सकलविषयनिःस्वभावतापत्तेः । नायं दोषः शून्यवादिनामिति चेत्, इदमप्यास्तां निरूपितत्वाभिरूपयिष्यमाणत्वाच्च । ततो विषयाणां परस्परतो विवेकमविवेकञ्च स्वतो वदता मवश्यम्भावी प्रमाणेषु विधिप्रतिषेधपरतया द्वैरूप्याभ्युपगमः । तथा च तान्येव आरमन्त्यनेकान्तम् एकान्तविरोधिनं प्रतिपद्यमानानि तत्र परप्रतिज्ञातं[9] तदन्यथाभावं प्रतिषेधन्तीति किमत्र प्रयासेन ? बहिर्विषय एवाचेतने "तद्व्यापारोपदर्शनेन स्वस्मान्निस्तरप्रतिषेध"[10]विभानात् । तद्व्यापारेऽपि पराभिमतबहिर्विषयानुरूप एवेति चेत्, किं तत्प्रमाणं यत्रैष व्यापारः ? प्रत्यक्षमेवेति चेत्; न, अस्य अवयवावयव्यादेरूपमभेदे[12] "तदर्शनात्[13] । अन्यथा तत्र न विवादः स्यात्, अस्ति हि केचित्[14] तत्रात्यन्तभेदस्य,"[15] अपरैः कथञ्चिद्भेदस्य, योगैरेकान्तभेदस्य च प्रतिपादनात् । स्याद्वादिनामपि यदि कथञ्चिद्भेदे तद्व्यापारः कथं विवाद इति चेत् ? न, सत्यपि "तद्व्यापारे बलवद्व्यामोहस्यानि(हानि)प्रयसम्भवात् विवादोपपत्तेः, निश्चयस्यैव विवादविरोधित्वात् । न[18] चैवं नैयायिकानाम्, तत्प्रत्यक्षस्य निश्चयैकरूपत्वात् "व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्यायसू० १।१।४] इति तल्लक्षणभवणात् । स्याद्वादिनामपि निर्णयात्मकमेव प्रत्य-

१–सम्बन्धपु–आ०,ब०,प०,स० । २ –तज्ज्ञानत्वं तस्य आ० ब०,प०, स० । ३ मिथ्याज्ञानत्वम् । ४–र्भ्रान्तेर्निमित्तं स० । ५ अत्र ताडपत्रं त्रुटितम् । भवत्वेवं प०,स० । ६ ज्ञानशक्तित एव । ७ प्रतिपत्तिविशेषादेव । ८ प्रमाणैः । ९ प्रमाणेषु । १० –स्तत्रं तद्–आ०, ब०, प०, स० । ११ प्रमाणव्यापारोपदर्शनेन । १२ अन्यथाभावनिषेध । १३ तद्दर्शनात् आ०,ब०,प०,स० । १४ चैकस्तत्र आ०, ब०,प०,स० । १५ बौद्धैः । १६ जैनैः, कुमारिलप्रभृत्यनुसारिभिश्च । १७ तद्व्यापारबल–आ०, ब०, प०, स० । प्रमाणव्यापारे । १८ न चैवं वक्तुं युक्तं नैयायिकानाम् ।

क्षम् "व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" [ ] इति तल्लक्षणस्यापि श्रवणादिति चेत्; न; एकान्ततस्तदात्मकत्वाभावात्, व्यवसायात्मनोऽपि तस्य कथञ्चिदव्यवसायस्यापि सम्भवात्। एकान्तव्यवसायस्वभावाभ्युपगमे हि तत्र तेषां स्थूलादित्वस्याभावापत्तेः कथन्न स्वमतव्यापत्तिः? न चैवं नैयायिकानां तदेकान्तभेदे प्रत्यक्षमनिर्णयस्वभावमित्युपपन्नम्, अवयवावयव्यादावपि तस्य तत्स्वभावत्वापत्तेः क्वचिदपि व्यवसायाभावप्रसङ्गात्। न चैतन्न्याय्यम्, "व्यवसायात्मकम्" इति तल्लक्षणस्यासम्भवदोषानुपङ्गात्। 'तदेकान्तभेद एव तदव्यवसायं नावयव्यादौ' इत्यप्यनुपपन्नम्; व्यवसायेतरस्वभावतया उभयात्मकस्य तत्प्रत्यक्षस्याभ्यनुज्ञाने [4]तेषामनेकान्तविद्वेषाभावप्रसङ्गात्। तस्मात् व्यवसायेतरस्वभावमप्यक्षमाचक्षाणानाम् अवयव्यादिवत् तद्विपर्ययेण तदेकान्तभेदेनापि व्यवसितेनैव भवितव्यमिति कुतस्तत्र विवादप्रवृत्तिः?

स्यान्मतम्–यथा प्रत्यक्षेऽनिर्णीतेऽप्यवयव्यादौ सौगतस्य विवादस्तथा यदि तदेकान्तभेदेऽपि को दोष इति? तन्न; विवादस्यानन्त्यापत्तेः। तथा हि–

विवादस्य निवृत्तिर्हि निर्णयादेव नान्यतः।
निर्णीतेऽपि विवादश्चेत्कुतः स्यात्तन्निवर्त्तनम्? ॥५४६॥
अध्यक्षादनिर्वृत्तश्च सोऽनुमानादितः कथम्?
निवर्त्तेत न तस्यापि निर्णयादपरं बलम् ॥५४७॥
तदशक्यव्यवच्छेदो विवादोऽनन्ततां व्रजन्।
कथारम्भस्य नैष्फल्यं व्यक्तं वक्ति प्रवादिनाम् ॥५४८॥
विवादस्तत्र निर्णीते युक्तो न्यायविदामयम्।
निश्चयश्च विवादश्चेत्यन्योन्यपरिपीडनात् ॥५४९॥

यत्तूक्तम्–[10]यथेत्यादि निदर्शनम्; तदयुक्तम्; अवयव्यादौ निर्णीते स्थूलादितया सौगतस्य विवादाभावात्। तत्परमार्थसत्त्वे विवाद इति चेत्; न तर्हि निर्णीते विवादः, तस्य तत्सत्त्वे निर्णयाभावात् स्थूलादावेव तद्भावात्। [11]यद्येवं न बहिरर्थपरमार्थसत्त्वं प्रत्यक्षविषय इति [12]कथमिदमुक्तम्–'अर्थवेदनं प्रत्यक्षलक्षणम्' इति। इति चेत्; न; व्यामोहविकलप्रतिपत्त्रपेक्षया तद्वचनात्, तेषां प्रत्यक्षलक्षणत एव तत्सत्त्वनिश्चयात्। तर्हि तान् प्रति निरर्थकमेव तद्वचनं विवादाभावेन तन्निवर्त्तनस्य तत्फलस्याभावात्, प्रत्यक्षस्वरूपनिर्णयस्य[13] च स्वत एव भावादिति चेत्; सत्यम्; न तान्प्रति तद्वचनस्य तत्स्वरूपनिर्णयनार्थत्वं[14] नापि तद्विषयविवादनिवर्तनफलत्वम्, तथापि न वैफल्यं संशयविशेषव्यवच्छेदार्थत्वात्। तथा हि–'सम्यग्ज्ञानं निःश्रेयसकारणम्'[15]

---

१ प्रत्यक्षस्य। २ अनिर्णयस्वभावत्वापत्तेः। ३ यदेका–आ०,ब०,प०,स०। अवयवावयव्याद्येकान्तभेदे। ४ नैयायिकानाम्। ५–क्षं नि–आ,ब०,प०,स०। ६–वृत्तिश्च आ०,ब०,प०,स०। ७ अनुमानादेरपि। ८ व्रजेत् आ०, ब०, प०, स०। ९ व्यक्ति आ०, ब०, प०,स०। १० यदेतया–आ०,ब०,प०। ११ यदैवं आ०,ब०, प०,स०। १२ न्यायविनिश्चये तृतीयश्लोके। १३–स्य वस्तुत एव आ०,ब०,प०,स०। १४ निर्णयार्थत्वं स०। १५ –सकरणम् स०।

इति श्रवणात् तेषामपि संशयः—'कः पुनरसौ ? सम्यग्ज्ञानवचनस्य विषयः ?' इति । तत्र नापरस्तद्विषयः किन्तु यदेवेदं भवतां सुप्रसिद्धमात्मार्थवेदनं तदेवेति तद्वचनविषयसंशयव्युदासार्थमिदमभिहितम्—'आत्मार्थवेदनं प्रत्यक्षलक्षणम्' इति। एवं परोक्षलक्षणेऽपि वक्तव्यम्। [1]येषां तु सतोऽपि कचिन्निर्णयस्यानुत्कृष्टत्वादपरितुष्टो व्यामोहस्तेषां तद्व्यापारोपदर्शनादेव व्यामोहप्रध्वंसे निर्विवादत्वसम्भवात् । तदयोगमनपरमिदमपि वचनमनवद्यमेव देवस्य—

"न पश्यामः कचित्किञ्चित्सामान्यं वा स्वलक्षणम् ।
जात्यन्तरं तु पश्यामस्ततोऽनेकान्तसाधनम् ॥" [सिद्धिवि०पृ०१२१] इति।

न [3]चैवं नैयायिकाना तद्व्यैकान्ते प्रत्यक्षस्यानिर्णयत्वमनुत्कृष्टनिर्णयत्वं वा युक्तम्, अवयव्यादिमात्रेऽपि तत्प्रसङ्गात् अनेकान्तविद्वेषित्वेन तत्र निर्णयानिर्णययोः [2]निर्णयोत्कर्षानुत्कर्षयोरप्यसम्भवात् । ततः स्थितम्—न तद्व्यैकान्ते प्रत्यक्षव्यापारो विवादादिति । ततो यदुक्तं व्योमशिवेन—"[5]प्रत्यक्षेण रूपादिव्यतिरिक्तस्य [4]द्रव्यस्यावधारणात्तद्विपर्ययव्युदासः" [प्र०व्यो० पृ० ४४] इति; तत्प्रतिव्यूढम्, एकान्ततस्तद्व्यतिरिक्तस्य तेनानवधारणात्, अन्यथा विवादानवतारप्रसङ्गात् । अवधारिते तदयोगादित्युक्तत्वात् ।

यदप्यपरमुक्तं तेनैव—"द्वीन्द्रियग्राह्यं तु द्रव्यम्, कथमेतत् ? प्रतिसन्धानात् । तथा हि—'यमहमद्राक्षं चक्षुषा तमेतर्हि स्पृशामि यं चास्प्राक्षं तं पश्यामि' इति । न च द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यामेकार्थग्रहणं विना प्रतिसन्धानं न्याय्यम्"[प्रश०व्यो०पृ० ४४] इति; तत्रापि [6]प्रतिसन्धानस्य किंविषयमविनाभावित्वम्—किं द्रव्यविषयम्, किं वा तद्ग्रहणविषयम् ? द्रव्यविषयमिति चेत्, अत्रापि किं तस्य तैः [7]तदविनाभावकथने प्रयोजनम् ? निश्चिताविनाभावात् [8]ततः [9]तत्परिज्ञानमेवेति चेत्, तेनापि द्रव्यस्येति कुतः ? [10]तदविनाभावादिति चेत्, तर्हि [11]ततोऽन्यस्यैव [12]तत्परिज्ञानम् । [13]तस्यापि तदविनाभावात्तत्सम्बन्धित्वे[14] [15]ततोऽपि [16]तत्परिज्ञानमपरमेवेति न वयमवधारयाम' क पुनरिदमनवस्थादोषोपद्रुतं द्रव्यपरिज्ञानं लभ्यत इति । तदाविनाभावात् [17]ततस्येति युक्तम् । स्वयं [18]तत्परिच्छित्तिरूपत्वादिति चेत्, न, प्रतिसन्धानस्यापि [19]तत एव तत्सम्बन्धित्वापत्तेः । इष्टमेवैतत् बौद्धस्यैवेति चेत, तर्हि किमर्थं [20]तस्य [21]तदविनाभावकथनम् ? तत्परिच्छित्तिरूपत्वनिवेदनार्थमिति चेत्, न; अप्रतिपन्नस्य तन्निवेदनायोगात्, अविनाभावस्यैव तत्रासिद्धेर्धूमादिवत् । यदप्युक्तं चैतत्—"अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य

1 तैर्षां तु आ०, ब०, प० । एतेषां तु स० । 2 –नयोरुत्कर्षा–आ०, ब०, प०, स० । 3 न चैवं –आ०, ब०, प०, स० । 4 रूपादिव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्य । 5 प्रत्यक्षेण । 6 प्रतिसन्धानस्य । 7 द्रव्याविनाभावकथने । 8 प्रतिसन्धानतः । 9 द्रव्यपरिज्ञानम् । 10 द्रव्याविनाभावात् । 11 द्रव्यपरिज्ञानादपि । 12 द्रव्यपरिज्ञानं द्रव्याविनाभावीति परिज्ञानम् । 13 अन्यपरिज्ञानस्यापि । 14 –त्वेन ततोऽपि आ०, ब०, प०, स० । 15 अन्यपरिज्ञानादपि । 16 अन्यपरिज्ञानं तदविनाभावीति तृतीयपरिज्ञानम् । 17 द्रव्यपरिज्ञानं द्रव्यस्येति । –ज्ञातस्येति आ०, ब०, प०, स० । 18 द्रव्यपरिच्छित्ति । 19 तत्परिच्छित्तिरूपत्वादेव । 20 प्रतिसन्धानस्य । 21 द्रव्याविनाभावित्वकथनम् ।

न सिद्ध्यति।"[न्यायवि० श्लो० १२] इति । प्रतिपन्नस्यैव[1] [2]ततस्तन्निवेदनमित्यप्ययुक्तम् ; यतस्तत्प्रतिपत्तिः[4] तत एव तद्रूपत्वस्यापि प्रतिपत्तेः, तस्य[5] तदनर्थान्तरत्वात्, अन्यथा तद-योगात् अविनाभावनिवेदनानर्थकत्वस्य तदवस्थत्वात्, खण्डशः प्रतिपत्तेश्च निवारितत्वात्[6] । तन्न तस्य द्रव्यविषयमविनाभावित्वं[7] सप्रयोजनं यतस्तत्कथनमिति स्थितम् ।

भवतु [8]तद्ग्रहणविषयमेव [9]तस्याविनाभावित्वमिति चेत्; तत्रापि स एव दोषः–'किं तस्य'इत्यादिः । अपि च, यदि तस्य[10] [11]तदविनाभावित्वेन [12]तदवभासित्वम्; कथं द्रव्ये प्रामाण्यम् ? [13]अन्यविषयस्यान्यत्र[14] तदयोगात् अतिप्रसङ्गात् । प्रामाण्यमपि तस्य तद्ग्रहण एवेति चेत् ; न; "प्रतिसन्धानमर्थसिद्धौ प्रमाणम्" [प्रश०व्यो०पृ० ४५] [15]इत्यस्य विरोधात् । न च 'द्वाभ्याम्' इत्यादिना तस्य तद्ग्रहणाविनाभावमुपक्रम्य 'प्रतिसन्धानम्' इत्यादिना द्रव्ये तत्प्रामाण्योपसंहारं कथं पूर्वापरवेदी विदध्यात्, [16]उपक्रमोपसंहारयोर्विसंवादादिति चेत् ? सत्यम्; अयमपरः परस्य दोषः। नास्ति दोषः, द्रव्ये तत्प्रामाण्यस्य [17]तद्ग्रहणप्रामाण्यद्वारोपनीतस्यामुख्यस्य [18]प्रतिपादनादिति चेत् ; न ; द्रव्येन्द्रियसन्निकर्षोपनीतजन्मनस्तस्य[19] [20]तत्र मुख्यस्यैव प्रामाण्यस्योपपत्तेः । न च तत्सन्निकर्षजत्वं तस्यासिद्धम् ; "इन्द्रियमर्थेषु सविकल्पकज्ञानोत्पत्तौ सङ्केतस्मरणापेक्षम्" [प्रश० व्यो० पृ० ४४] इत्यादिना स्वयमेव तत्समर्थनात् । भवतु तर्हि मुख्यत एव प्रतिसन्धानस्य द्रव्यविषयत्वम् , तस्यार्थकार्यस्य सतो निर्विषयत्वस्याप्ययोगादिति चेत्; न; द्विचन्द्रादिवेदनस्यार्थकार्यस्यापि निर्विषयत्वदर्शनात् । [21]प्रतिभासवदर्थत्वेन न निर्विषयत्वमिति चेत् ; नन्वत्र प्रतिभासवानर्थो नामावयवी, तस्य च नानुपलब्धपूर्वस्य प्रतिभासनम् , अन्यथा दर्शनस्पर्शनविषयतया तद्ग्रहणायोगात् । न चैवम् , 'यमहम्'इत्यादिना तद्विषयतयैव तस्य कथनात्[22] । उपलब्धपूर्वस्यैव भवतु प्रतिभासनमिति चेत्; न ; उपलब्धेर्दर्शनादिरूपाया अप्रतिभासे तद्विषयतया तस्य प्रतिभासासम्भवात् । भवतु दर्शनादेरपि प्रतिभास इति चेत् ; कस्तत्रेन्द्रियसन्निकर्षः ? संयोग इति चेत्; न; तस्य गुणत्वेन [23]गुणे वृत्त्यभावात्, गुणश्च दर्शनादिरात्मनः । तत एव न तस्य श्रोत्रे शब्दवच्चक्षुरादौ समवायः; अन्यगुणस्यान्यत्र [24]तदयोगात् । नापि संयुक्तसमवायादिः; चक्षुरादिसंयुक्तेऽवयविनि [25]तस्य समवायाभावादिति कथमतत्सन्निकृष्टस्य तस्य[25] प्रतिसन्धाने प्रतिभासनं [26]तत्प्रत्यक्षत्वसमर्थनविरोधात् ? अस्त्येव सम्बद्धविशेषणभावः तत्रापि सन्निकर्षः चक्षुरादिसम्बद्धद्रव्यापेक्षया दर्शनादेर्विशेषणत्वात् [27]तद्भा-

१ प्रतिसन्धानस्य । २ अविनाभावकथनेन । ३ तत्परिच्छित्तिरूपत्वनिवेदनम् । ४ प्रतिसन्धानप्रतिपत्तिः । ५ तत्परिच्छित्तिरूपत्वस्य । ६ –त् न तस्य आ०, ब०, प०, स० । ७–त्वं न प्र –आ०, ब०, प०, स० । ८ द्रव्यग्रहणविषयम् । ९ प्रतिसन्धानस्य । १० प्रतिसन्धानस्य । ११ द्रव्यग्रहणाविनाभावित्वेन । १२ द्रव्यग्रहणावभासित्वम् । १३ द्रव्यग्रहणविषयस्य । १४ द्रव्ये । १५ "प्रतिसन्धानं द्रव्यसिद्धौ प्रमाणम्"–प्रश० व्यो० । १६ –हारविसं–स० । १७ द्रव्यग्रहण । १८ प्रतिसाधनात् आ०, ब०, प०, स० । १९ प्रतिसन्धानस्य । २० द्रव्ये । २१ प्रतिभाससमर्थकार्यत्वेन निर्वि–आ०, ब०, प०, स० । २२–नानुपल–आ०, ब०, प०, स० । २३ दर्शनादौ । २४ समवायायोगात् । २५ दर्शनादेः । २६ प्रतिसन्धाने प्रत्यक्षत्वसमर्थनस्य विरोधात् । २७ विशेषणभावस्य ।

तस्य च संनिहितद्रव्यज्ञानान्यथानुपपत्त्यैवाधिगमात्। 'द्रव्येणासम्बद्धं दर्शनादि कथं तद्विशेषणमपि' इत्यपि वार्त्तम्, 'संयुक्तं समवेतं वा विशेषणम्' इति नियमानभ्युपगमादिति[2] चेत्, न, गुणादीनां सम्बन्धाभावे विशेषणभावस्य स्वयमेव निराकरणात्। "नैतदेवम्, गुणकर्मसामान्यानां समवेतानामेव विशेषणतोपलब्धेः" [प्रश०व्यो०पृ० ५०] इति वचनात्।

स्यान्मतम्–प्रतिसन्धानसमये दर्शनादेरपक्रमावपक्रान्त एव तद्विषयभावः, केवलं तदुपजनितसंस्काराभिव्यक्तिवशादविद्यमानस्यैव तस्य प्रतिभासनम्, तत्र च भ्रान्तमेव प्रतिसन्धानम्, शुद्ध[3] एव द्रव्ये तदविभ्रमोपगमादिति। तत्रेदमुच्यते–तद्भावाद् द्रव्यमविविक्तं चेत्, तदपि तद्वदविद्यमानमेवेति न प्रतिसन्धानादसिद्धिः, तद्भावस्य च द्रव्यादविवेके तस्यापि[4] तद्वदविद्यमानत्वेति कथं तत्र प्रतिसन्धानस्य भ्रान्तत्वम्? अपरित्यक्तसदसत्स्वभावयोः परस्परमविवेकादयमप्रसङ्ग इति चेत्, न, रूपस्पर्शयोरप्यनुन्मुक्ततदात्मनोरेवान्योन्यमविविक्तत्वापत्तेः। नियतेन्द्रियग्राह्यत्वान्नेति चेत्, न, प्रोच्ययोरपि भेदप्रतिभासविषयत्वेन तद्भावानुपङ्गात्। यथैव हि नयनस्पर्शनाभ्यां रूपस्पर्शयोर्ग्रहणमेवं तद्भावद्रव्ययोरपि भ्रान्तेतरप्रतिभासाभ्यामिति न विशेषं पश्यामः। तदुभयप्रतिभासात्मकमेकमेव तद्विज्ञानं तद्विषयत्वादविरुद्ध एव तयोरविवेक इति चेत्, न, नयनस्पर्शनोपजनितप्रतिभासभेदेऽपि तदात्मकस्य ज्ञानस्यैकत्वात्, तद्विषयत्वेन रूपस्पर्शाविवेकस्याप्यविरोधोपपत्तेः। अस्तु को दोष इति चेत्? न, तस्यैव द्रव्यत्वस्यापनात्। विविक्तमेव तद्विषयभावाद्द्रव्यमिति चेत्, तस्य[8] यदि तथा प्रतिभासनं[9] न तर्हि तद्भावप्रतिभासनम्, न हि पीतविविक्तशङ्खावभासने पीतावभासनमुपलब्धम्। तथा चोत्सन्न एव 'यमहम्' इत्यादिरूपः प्रतिभासव्यवहारः स्यात्। नास्ति तथा तस्य[10] प्रतिभासनमिति चेत्, न, अभेदात् द्रव्यरूपेणाप्यप्रतिभासनप्रसङ्गात्। सम्मूर्च्छितसत्प्रतिभासेतरभावद्वयं तदेकमेव द्रव्यमिति चेत्, न, सम्मूर्च्छितरूपस्पर्शस्वभावद्वयस्यापि[11] द्रव्यस्यैकस्याभ्युपगमप्रसङ्गात्। तथा च तत्रैवावयविद्रव्ये तस्यैव प्रतिसन्धाने प्रतिभासनात्, [12]'अस्प्राक्षम्' इति तद्गीतस्य स्पर्शस्य 'पश्यामि' इति रूपस्य 'यं तम्' इति च तदविवेकस्वभावस्यावयविनस्तत्राध्यवसायात् नापरं विपर्ययात्। वक्ष्यति चैतत्–

"स्पर्शोऽयं चाक्षुषत्वाच्च न रूपं स्पर्शनग्रहात्।
रूपादीनि निरस्यान्यन्न चाप्युपलभेमहि॥" [न्यायवि०श्लो०२८५] इति।

ततो मिथ्याख्यमेतत्-"रूपस्पर्शयोश्च प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वादेतत्प्रतिसन्धानं न सम्भवति" [प्रश० व्यो०पृ० ४४] इति, तत्रैव तत्सम्भवस्य प्रतिपादनात्।

---

१ दर्शनादिः चक्षुर्विशेषणम् 'चक्षुर्दर्शनम्' इत्यादिविशिष्टज्ञानान्यथानुपपत्तेः। २ "संयुक्तं समवेतं वा विशेषणमिति नियमानभ्युपगमात्"–प्रश०व्यो०पृ० ५०। ३–शुद्धपरिति भा०,ब०,प०,स०। ४ दर्शनविषयत्वस्य। ५ विद्यमान एव। ६ दर्शनविषयभावात्। ७ तद्भावस्यापि। ८ द्रव्यस्य। ९ अन्ययोरपि चैतन्य–भा०,ब०,प०,स०। द्रव्यदर्शनविषयभावयोरपि। १० द्रव्यस्य। ११ तद्विषयभावविविक्तत्वेन। १२ –नं तद्भाव–भा०,ब०, प०,स०। १३ विविक्तत्वेन। १४ द्रव्यस्य। १५–र्शस्वरूपावस्थापि भा०,ब०,प०। १६ अस्प्रार्क्षम् भा०,ब०। अस्प्रार्क्षम् स०। अस्प्रार्क्षम् प०।

यदि च रूपस्पर्शात्मकमेकं द्रव्यं न भवेत्; कथं भ्रान्तेतरस्वभावमेकं प्रतिसन्धानम्? तदपि मा भूदिति चेत्; न; तस्यैकान्ततो विभ्रमे दर्शनादिविषयत्ववत् द्रव्यस्याप्यसिद्धेः। अविभ्रमे द्रव्यवत्तद्विषयत्वस्यापि परमार्थत एव सिद्धेर्निवेदितत्वात्।

अपि च, यदि न सम्भवत्येव भ्रान्तेतरस्वभावमेकं संवेदनम्; न तर्हि 'इह ग्रामे वृक्षाः' इत्यपि ज्ञानं सम्भवेत्। तद्धि ग्रामादावव्यभिचारित्वेनाभ्रान्तं न इहभावे व्यभिचारात्। इहभावाभावे कथं तज्ज्ञानमिति चेत्? न; अन्तरालादर्शनमात्रेण तद्भावात्। तथा च परस्य वचनम्—"दूराद् ग्रामारामयोरन्तरालमपश्यताम् 'इह ग्रामे वृक्षाः' इति ज्ञानं दृष्टम्" [प्रश० व्यो० पृ० १०७] इति। मा भूत्तदपि ज्ञानमिति चेत्; कथं तर्हि 'दृष्टम्' इत्युक्तम्? कथं वा समवायलक्षणे तद्व्यवच्छेदार्थं सम्बन्धपदम्? तदपि तदर्थं नेति चेत्; न; "दृष्टश्च भ्रान्तेहज्ञानस्य व्यवच्छेदार्थं सम्बन्धपदम्" [प्रश०व्यो०पृ० १०७] इत्यस्य विरोधात्।

'इहाकाशे शकुनिः' इत्यपि ज्ञानमेतेन व्याख्यातम्; तस्यापि शकुनावव्यभिचारित्वेनाभ्रान्तत्वेऽपि इहभावे भ्रान्तत्वात्। आकाशस्यातीन्द्रियत्वेन तत्र इहेति प्रत्यक्षप्रत्ययायोगात्। तथा च परस्य वचनम्—"अतीन्द्रियेऽप्याकाशे यत् 'इह' इत्यपरोक्षज्ञानं तत्केवलं भ्रान्तम्" [प्रश०व्यो०पृ० १०७] इति। मा भूत्तदपि ज्ञानमिति चेत्; तर्हि कथम् "इहाकाशे शकुनिरिति ज्ञानं दृष्टम्" [प्रश०व्यो०पृ० १०७] इत्युक्तम्? कथं वा "तद्व्यवच्छेदार्थम् आधार्याधारग्रहणम्" [प्रश०व्यो०पृ० १०७] इत्यभिहितम्? तन्न भ्रान्तेतराकारज्ञानपरित्यागः परस्य श्रेयान्। तदपरित्यागे च यथा तदाकारयोः परस्परप्रत्यनीकत्वेऽपि कथञ्चिदविवेकस्तथा वर्णस्पर्शयोरपि इति तदविवेक एवावयवी नापर इति नासौ बहिरर्थो नापि शुद्धावयवमात्रम्, न च द्रव्यमेकान्तभिन्नं पर्यायेभ्यः; तस्य सर्वस्यापि प्रत्यक्षत एव निषेधात् तस्य तद्विरुद्धावभासितत्वात्।

भवतु तर्हि निर्द्रव्यः पर्याय एव बहिरर्थः; तस्य दीपादिनिदर्शनेन अन्यत्राप्यवगमात्। दीपादौ च निर्विवादं प्रत्यक्षेणैवाधिगमात्। निर्विवादो हि दीपादौ क्षणभङ्गी पर्यायः, प्रत्यक्षादेव बालाबलानामपि तत्र सम्प्रतिपत्तेः। धर्मकीर्तिनापि तदुपदर्शनार्थमेव—

"तथा ह्यलिङ्गमाबालमसंसृष्टोत्तरोदयम्।
पश्यन्परिच्छिनत्त्येव दीपादिं नाशिनं जनः॥" [प्र०वा० २।१०५]

इत्यस्याभिधानादिति चेत्; न; तत्रापि विवादाविशेषात्। कथमन्यथा "न चैकदेकतैलजनित एक एवासौ दीपज्वालाप्रतानः" [प्र०वार्तिकाल०] इति प्रज्ञाकरेण तस्योपदर्शनम्? अविद्यमानस्य तदयोगात्। स्वयमुद्भावितस्योपदर्शनमिति चेत्; न; उद्भावनस्य प्रयोजनाभावात्।

---

१ प्रतिसन्धानस्य। २ संभवतीत्येव आ०,ब०,प०,स०। ३ अन्तरालदर्श–आ०,ब०,प०,स०। ४ "दृष्टश्च भ्रान्तेह……"–प्रश०व्यो०। ५ "अतीन्द्रियेऽप्याकाशे इहेति ज्ञानं केवलं भ्रान्तम्"–प्रश०व्यो। ६ तदा आ०, ब०,प०,स०। ७ वर्णस्पर्शाद्यभेदः। ८ नैयायिकाभिमतः अवयवात् पृथग्भूतः। ९ बौद्धाभिमतः। १० प्रत्यक्ष एव आ०, ब०, प०, स०। ११ नष्टोत्पन्नदीपा–आ०, ब०, प०, स०।

परिहारः प्रयोगसममिति चेत्, नन्वेवमनुद्भावनमेव न्याय्यम्, उद्भाव्यसमाधानस्य स्वीत्या समीकरणवत् अबुद्धिमल्लोकव्यवहारत्वात्। तत्रायं स्वयमुद्भावितः, परेषामेव भावात्। यदि तत्रापि विवादः कथम् 'अलिङ्गम्' इत्युक्तम्? विवादव्यवच्छेदस्य लिङ्गादेव भावात्, अन्यतस्तदभावस्यानन्तरमेव निवेदयिष्यमाणत्वात्, तस्मादलिङ्गवचनाद्विवाद एव दीपादौ तत्पर्यायः। तद्विवादोपदर्शनं तु शास्त्रविरुद्धमेव [1]निबन्धनकारस्येति चेत्, सत्यम्, अस्त्ययं तस्य दोषः। नास्ति दोषः, सत्यप्यलिङ्गत्वे विवादव्यवच्छेदस्य अन्यत एव भावादिति चेत्, किं पुनस्तदन्यदन्यत्र प्रत्यक्षात्? तदेवास्तु इति चेत्, न, तस्य तद्विषयविकल्पानतिक्रमात्। तद्विषयादेवेति चेत्, न, दीपादिवदन्यत्रापि प्रत्यक्षत एव तद्विवादनिवृत्तेः अनुमानवैफल्यात्। अन्यत्र तस्यैव विवादनिमित्तत्वान्न ततस्तद्व्यवच्छेद इति चेत्, कुतस्तस्य तन्निमित्तत्वम्? समानाकारगोचरत्वादिति चेत्; न, दीपादावपि तदविशेषात्। समानाकारप्रभावान्नेति चेत्; न, "केवलं तु सादृश्यात् समानग्रामप्रीतो वा स एवायमिति व्यवहारः" [प्र० वार्तिकाल०] इति तत्सादृश्यानुवादिन्या अलङ्कारपूर्णेर्विशेषात्। तन्न तद्विषयादेव प्रत्यक्षात्तद्व्यवच्छेदः। तदन्यविषयात्; इत्यप्यसङ्गतम्, अतिप्रसङ्गात्–नीलप्रत्यक्षादेव लोहिते पीतव्यवच्छेदापत्तेः। तन्न प्रत्यक्षत्वे (क्षं) तदन्यत्। तर्हि तदुत्तरकालभावी विकल्प एव तदन्यः, तत एव तद्व्यवच्छेद इति चेत्, न, ततोऽपि अप्रमाणादनुपयोगात्, अतिप्रसङ्गात्, प्रमाणसिद्धिप्रयासवैफल्याच्च। प्रमाणमेवासौ[2] प्रत्यक्षत्वेनेति चेत्, न, अध्यक्षेतरत्वात्। तृतीयप्रमाणत्वे च प्रमाणसङ्ख्यानियमव्यापत्तेः। ततः 'एकदा' इत्यादेर्विवादस्य व्यवच्छेदकमुक्तम्–

"यदि प्रत्ययसम्पातमात्रादुत्पन्न एव सः।
कालान्तरव्यापितया वृथा तत्साधनः परम्॥" [प्र०वार्तिकाल० २।१०५] इति,

तदपास्तम्, तस्य प्रत्यक्षत्वे तदुत्पत्तिविकल्पत्वे च दोषस्योक्तत्वात्। अनुमानविकल्प एवायं विकल्पः कश्चिदिति चेत्, ननु तद्विकल्पस्य लिङ्गायत्तत्वात् लिङ्गादेव तद्व्यवच्छेद इत्यायातम्, तथा च स एव [3]शास्त्रविरोधः, तत्रालिङ्गवचनेन विवादाभावस्य प्रतिपादनात्, निबन्धनकृता" तु विवादस्य लिङ्गतद्व्यवच्छेदस्य चाभिधानात्।

स्यान्मतम्–अलिङ्गवचनाभिर्विवादत्वं परमसमय एव प्रज्ञाभिप्रेतं तत्र चाक्षादेरप्यविवादस्यैव नाशदर्शनस्य भावात्। न च तत्रैव विवादः, लिङ्गतद्व्यवच्छेदो वा निबन्धनकृता निरूप्यते, पूर्वपूर्वतत्पर्यायेष्वेव तदभिप्रायणात्, तत्रैव दर्शनस्य सादृश्यविषयत्वेन विवादनिमित्तत्वात्, न परमपर्याये तत्र तदुत्तरपर्यायस्यानुत्पत्तेः, दर्शनस्य तत्सादृश्यविषयस्याभावात् तत्कथं शास्त्रविरोध इति? तन्न, 'नाशिनम्' इत्यस्य मध्यमपर्यायापेक्षयैव व्याख्यानात् "मध्यादनरूपं विनाशोऽनित्यमेति च व्यपदिश्यते" [प्र० वार्तिकाल०] इति। तदपि

१ स्वीत्या। २ तत्प्रमाणस्य आ०,ब०,प०,म०। ३ प्रमाणसारः। ४ तदेवासौमिति आ०,ब०,प०,म०। ५ प्रत्यक्षस्य। ६ शिरसिविशेषम्। ७ विवादव्यवच्छेदः। ८ विवादः। ९ "मरणमध्यस्थानात्"–प्र०वार्तिकाल०। १० प्रथमपर्याय। ११ प्रज्ञाकरगुप्तेन अभ्युपगता।

चरमपर्यायापेक्षमेवेति चेत्; न; "न च प्रदीपादीनां तादवस्थ्यम् अपि तु परापरतैलोपादानजन्यमाना परापरैव प्रदीपज्वाला" [प्र० वार्तिकाल०] इति तत्रैव तद्व्याख्यानस्य समर्थनात्। चरमपर्यायापेक्षायां परापरेत्यनुपपत्तेश्चरमविरोधात्। ततो दुरुत्तर एवायं शास्त्रविरोधः परस्येत्यलं तन्निर्वन्धेन[1]। विवादस्तु विद्यत एव, तत्कथं सति तस्मिन् दर्शनादेव दीपादौ क्षणभङ्गसिद्धिः अतिप्रसङ्गात्? व्यवच्छिन्ने विवादे भवत्येवेति चेत्; कुतस्तद्व्यवच्छेदः? यदी[2]त्यादेर्विचारादिति चेत्; न; कथञ्चिदक्षणिकत्वेऽपि प्रदीपादेरपरापर[3]तैलादिना तत्रैवापरापरस्यातिशयस्योपकल्पनात्। न च तस्य[4] तस्मा[5]देकान्तेन भेदो यतः सम्बन्धाभावान्न तस्येति व्यपदिश्येत, तेन[6] वा तदन्तरस्य[7] करणेऽनवस्थानं भवेत्, अपि तु अभेद एव। सोऽपि नैकान्तिकः, येन प्रदीपादिवत्तदतिशयस्यापि तदात्मनः[8] प्रथमतैलादिसम्पातादेवोत्पत्तेरपरापरतत्सम्पातस्य वैयर्थ्यम्, तदतिशयवद्वा प्रदीपादेरपि तदात्मत्वेना[9]परापरस्वभावत्वादैकान्तिकमनित्यत्वमापद्येत भेदाभेदयोरनेकान्तेनाभ्यनुज्ञानात्। न चैतद्वचनमात्रम्; प्रत्यक्षेणैव भेदेतरात्मना प्रसिद्धत्वात्। न च तस्य[10] तदात्मत्वमसिद्धम्; अनुभवसिद्धत्वात्। यदीत्यादिविचारस्याप्यन्यथानुपपत्तेः। निरूपितं चैतत् 'आत्मनाऽनेकरूपेण' [11]इत्यादौ। तत्र विचाराद्विवादव्यवच्छेदः तस्य तदनुकूलत्वात्। ततो न क्वचिदपि प्रत्यक्षान्निर्विवादात् क्षणभङ्गसिद्धिः, यतो निर्द्रव्यः पर्याय एव वहिरर्थोऽवतिष्ठेत, सद्रव्यस्यैव तस्यावस्थानात्, तत्रैव प्रत्यक्षस्य निर्विवादत्वोपवर्णनात्। चरमक्षणेऽपि किमेवं नावतिष्ठत इति चेत्? क एवमाह 'नावतिष्ठते' इति? तर्हि कुतस्तदुत्तरक्षणे नोपलभ्यत इति चेत्? अनुपलभ्यत्वेन परिणामादेव[12]। अविद्यमानत्वादेवानुपलभ्यत्वं किन्नेति चेत्? न; चरमक्षणस्यावस्तुत्वप्रसङ्गात् अकार्यकारित्वात्। स्वविषयज्ञानकरणान्नैवमिति चेत्; न; सजातीयकरण एव विजातीयकरणं[13] नान्यथेति निवेदयिष्यमाणत्वात्। तत्र प्रत्यक्षं पराभिमतवहिर्विषयानुरूपं तस्यानेकान्तानुरूपस्यैवोपलम्भात्। नापि प्रमाणान्तरम्; तस्याप्यनेकान्तनियतत्वेन निवेदयिष्यमाणत्वात्। तथा चानेकान्तस्यैकान्तनिषेधात्मकत्वेन प्रमाणैः तद्विधेरेव [14]तन्निषेधत्वोपपत्तेरुपपन्नमेतत्—

प्रतिज्ञातोऽन्यथाभावः प्रमाणैः प्रतिषिध्यते ॥१०॥ इति।

तदेवं [15]व्याख्यातमिन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकम्। तत एव च निदर्शनात् अनिन्द्रियप्रत्यक्षमपि स्वसंवेदनापरसञ्ज्ञकं व्यवसायात्मकमवगन्तव्यम्। तथा हि—व्यवसायात्मकं स्वसंवेदनं प्रत्यक्षत्वात् इन्द्रियप्रत्यक्षवत्। न चेदमाश्रयासिद्धं साधनम्; सर्वज्ञानानां स्वरूपवेदनस्यान्यनिरपेक्षप्रतिभासत्वेनालङ्घनार्हत्वात्। तत्प्रतिभासत्व एव विवाद इति चेत्; न;

---

१ तन्निवन्धेन आ०, ब०, प०, स०। २ यदित्या– आ०, ब०, प०, स०। 'यदि प्रथमसम्पातमात्रादुत्पन्न' इत्यादिविचारात्। ३ –रतैलादीनामत्रैवा– प०। –रतैलादिनामत्रैवा– आ०, ब०, स०। ४ अतिशयस्य। ५ दीपादेः। ६ अतिशयेन। ७ अतिशयान्तरस्य। ८ प्रदीपात्मनः। ९ अतिशयात्मकत्वेन। १० प्रत्यक्षस्य। ११ न्यायवि० श्लो० ८। १२ "उक्तञ्च–सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति"–ता० टि०। १३ –यकरणान्नान्य– आ०, ब०, प०, स०। १४ तन्निषेधोप– आ०, ब०, प०, स०। १५ व्याख्यानमि– आ०, ब०, प०, स०।

नीलज्ञानादन्यस्य तद्वेदनस्यानुभवात्, तस्य च प्रतिभासनाद्विवादानुपपत्तेः, अन्यथाऽर्थप्रतिभासेऽपि विवादात् न बहिर्नान्तः प्रतिभास इत्यन्यकल्पं जगद्भवेत् । तदाह–

परोक्षज्ञानविषयपरिच्छेदः परोक्षवत् । इति ।

परोक्षं स्वप्रकाशविकलम् । ननु परोक्षमस्पष्टमिति प्रसिद्धं तत्कथं 'स्वप्रकाशविकलं तदुच्यते' इति चेत् ? न, व्युत्पत्तिभेदेनार्थद्वयप्रतिपादनात् । अक्षमिति हीन्द्रियम्, तच्च वैशद्यहेतु, आवरणविगमविशेषाधिष्ठानं जीवप्रदेश एवोच्यते तस्यैव मुख्यत इन्द्रियत्वात्, तदाश्रितं प्रत्यक्षमिति स्पष्टप्रतिपत्तिः, तस्मात्परावृत्तमवैशद्यकारणावरणाधिष्ठानजीवप्रदेशोपनीतं परोक्षमित्यत्रास्पष्टप्रतिपत्तिः । यद्वा अक्षणम् अर्थस्वरूपस्यापि ग्राहकत्वेन व्यापनम् अक्षः, तस्मात्परावृत्तं परोक्षमिति, तदा स्वप्रकाशवैकल्यप्रतिपत्तिः । अत्र च स्वसंवेदनाभावस्य प्रकल्पनाद्यमेवार्थो गृह्यते नास्पष्टत्वं विपर्ययात् । ततः परोक्षं स्वप्रकाशविकलं ज्ञानं येषां ते **परोक्षज्ञाना** याज्ञिकाः, तेषां **विषयपरिच्छेदो** परितः छेदो व्यावृत्तिर्यस्य सः परिच्छेदः, विषयश्चासौ परिच्छेदश्च **विषयपरिच्छेदो** भावविशेष इत्यर्थः । परोक्षं विषयि तेन समानं वर्तते इति **परोक्षवत्**, सोऽपि परोक्ष एव भवति विवादाविशेषादिति भावः ।

लोकप्रसिद्धमप्येतज्ज्ञानानामात्मवेदनम् ।
याज्ञिकस्य विवादाच्चेन्न भयस्यैव तत्त्वतः ॥५५०॥
अर्थवेदनमप्येवं न भवत्येव तादृशम् ।
तत्रापि विवदन्ते यत्प्रबुद्धा बुद्धशासने ॥५५१॥
अविज्ञाने च वाक्यस्य तद्विशेषैः कथं पुनः ।
यज्ञं कुर्वीत येनायं याज्ञिकः स्वर्गमाप्नुयात् ? ॥५५२॥
अज्ञातस्यैव यज्ञस्य करणं यदि कल्प्यते ।
व्यर्थिका धर्मजिज्ञासा किन्न स्याद्वेदवादिनाम् ? ॥५५३॥
अपरिज्ञातमेवास्ति नापि तत्करणं क्वचित् ।
सर्वेषां यज्ञकारित्वमन्यथा स्यादनाकुलम् ॥५५४॥
अयमहं प्रसिद्धोऽयमपज्ञवाक्येष्वपि ।
विवाद विप्रतीतास्मिन्ननुमतो यतः कथम् ? ॥५५५॥
इत्यपि स्वगृहे मुख्यमुत्तरं निम्नगागतम् ।
तस्मात्स्ववेदनं सर्वज्ञानानामनुपद्रवम् ॥५५६॥

यथा च यदुक्तम्–

"यदा तु ग्राह्यमाकारं नीलादिं प्रतिपद्यते ।
न तदा ग्राहकाकारसंवित्तिर्दृश्यते क्वचित् ॥" [मी०श्लो०शून्य०७४] इति ।

१ –र्तं यावता– आ०, ब०, स० । –र्तं यर्थया–प० । २ अपि इत्यत्र आ०, ब०, प०, स० ।

तत्र कीदृशस्य तदाकारस्य संवित्तिर्न दृश्यते ? नीलादेरव्यतिरिक्तस्येति चेत् ; न काचित् क्षतिः अस्माकमपि तदनिष्टेः । व्यतिरिक्तस्येति चेत् ; न; नीलवदहमिति तदाकारस्यापि दर्शनात् । अहम्बुद्धावात्मन एव दर्शनं न नीलवेदनस्येति चेत् ; न; नीलग्रहणस्वभावस्यैव तत्र[1] दर्शनात्, अन्यथा नीलस्य कर्मत्वेन प्रतिभासविरोधात् । तद्ग्रहण[2]स्वभावत्वमप्यात्मन एवेति चेत्; अनर्थकमेव तर्हि ज्ञानं तत्प्रयोजनस्य विषयपरिच्छेदस्यात्मन एव भावात्। ज्ञानस्य तत्र करणत्वान्नानर्थकत्वमिति चेत् ; न ; कार्यस्यैव करणापेक्षणात् । न चात्मा कार्यम् ; तस्य नित्यत्वात् । अनित्य एव विषयपरिच्छेदपर्यायस्त[3]स्येति चेत् ; न ; तत्रापि चक्षुरादेरेव प्रतीतस्य करणत्वोपपत्तेः । ततो दुर्भाषितमेतत्[4]–"परोक्षात्मनो बुद्धिः" [ ] इति; बुद्धेरेवाभावात् । त[5]त्पर्याय एव बुद्धिरिति चेत् ; न तर्हि तस्य परोक्षत्वम् अहम्बुद्धौ प्रत्यवभासनात् । तत्रापि न शक्तिरूपेण प्रतिभासनमिति चेत् ; अस्तु तस्यैव[6] परोक्षत्वं तत्पर्यायस्य तु कथम् ? तस्यापि तदव्यतिरेकादिति चेत्; न तर्हि नीलादेरपि प्रत्यक्षत्वं तच्छक्तिरूपात्तस्याप्यव्यतिरेकात् । प्रत्यक्षमेव त[7]स्य तद्रूपमिति चेत्; न ; तस्यातीन्द्रियत्वोपगमात् । अन्यथा "तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञाताद्दाहाद्दहनशक्तता" [मी० श्लो० अर्था० ३] इत्यादेरर्थापत्तेर्वैफल्यात् । तथा चेद[8]मपि दुर्भाषितमेव–"प्रत्यक्षोऽर्थः[9]" [ ] इति । ततो यथा परोक्षत्वेऽपि [10]तद्रूपस्य प्रत्यक्षमेव नीलादिकं तथैवानुभवात्, तथा तत्पर्यायोऽपि[11], तत्रापि तथाऽनुभवस्याविशेषात् । [12]कुतश्चेदं निश्चितम् 'सकलं ज्ञानं स्वप्रकाशविकलम्' इति ?

"व्यापृतं चार्थसंवित्तौ [13]नात्मानं ज्ञातुमर्हति ।
तेन प्रकाशकत्वेऽपि बोधायान्यत्प्रतीक्ष्यते ॥
[14]ईदृशं वा प्रकाशत्वं तस्यार्थानुभवात्मकम् ।
सति प्रकाशकत्वे च व्यवस्था दृश्यते यथा ॥
रूपादौ चक्षुरादीनां तथात्रापि भविष्यति ।
प्रकाशकत्वं बाह्येऽर्थे शक्त्यभावात्तु नात्मनि॥" [मी०श्लो०शून्य० १८४–८७]

इत्यादेर्विचारादिति चेत् ; उच्यते–यद्ययं विचारः सकलज्ञानान्तःपातिनमात्मानमपि[15] स्वप्रकाशविकलमवैति; कथं सकलमपि ज्ञानं स्वप्रकाशविकलं विचारज्ञानस्य स्वप्रकाशप्रसिद्धेः[16] ? अथ नावैति; कथं सकलज्ञानानां स्वप्रकाशवैकल्यमवगतम्, विचारज्ञानस्य तदनवगमात् ? तस्यापि विचारज्ञानान्तरात्तदवगम इति चेत् ; न; [17]तदन्तरस्याप्यपरतदन्तरात् तदवगमेऽन-

१ अहम्बुद्धौ । २ नीलग्रहणस्वभावत्वमपि । ३ आत्मनः । ४ "तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः"–शाबरभा० १।१।५ । ५ आत्मपर्याय एव । ६ शक्तिरूपस्यैव । ७ नीलादेः । ८ शक्तिरूपम् । ९ "आकारवान् बाह्योऽर्थः, स हि बहिर्देशसम्बद्ध· प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।"–शाबरभा० १।१।५ । १० शक्तिरूपस्य । ११ आत्मपर्यायोऽपि । १२ कुतश्चिदनि–आ०,ब०,प०,स० । १३ "ज्ञानं नात्मानमृच्छति"–मी० श्लो० । १४ "ईदृशं वा प्रकाशत्वं तस्यार्थानुभवात्मकम् । न चात्मानुभवोऽस्त्यस्येत्यात्मनो न प्रकाशकम्॥"–मी०श्लो० । १५ विचारस्वात्मानपि । १६ स्वात्मानं स्वप्रकाशविकलमनुभवतो विचारस्य स्वप्रकाशत्वमेवायातमिति भावः । १७ तदनन्तरस्या–आ०, ब०, प०, स० ।

वस्थादोषात् । न तद्दोषः, यावच्छ्रममेव विचारज्ञानप्रबन्धोत्पत्तेः, प्रत्युत्पन्ने तु श्रमे तत एव [1]तद्विनिवृत्तेः, अभिरुचेस्तन्निवृत्तिसाकाङ्क्षया[2] वा [3]तद्विच्छित्तेः । न ह्यनभिरुचितं विचारज्ञानं प्रबन्धु (प्रवर्द्धु) मर्हति । विषयान्तरसम्पर्काद्वा [4]तन्निवृत्तेः । दृश्यते हि कचिन्नीलज्ञानस्य प्रवर्तमानस्यापि पीतादिसन्निधापनवशात् पीतादिज्ञानस्यैव तथा प्रादुर्भावात् । यदुक्तम्–

"यावच्छ्रमं च तद्बुद्धिस्तत्प्रबन्धे च सत्यपि ।
[5]समाहत्या(श्रमाद्रुच्या)न्यसम्पर्काद्विच्छेदो विषयेष्विव ॥" [मी० श्लो० शून्य० १९३]

इति चेत्, भवत्वयमनवस्थादोषस्य परिहारो न पुनः सकलसंवेदनस्वप्रकाशवैकल्यापरिज्ञानदोषस्य, तस्य तदवस्थत्वात् । ततस्तमपि दोषं परिजिहीर्षता सुदूरमनुसृत्यापि विचारज्ञानं स्वपरप्रकाशरूपमुररीकर्तव्यम्, अन्यथा स्वगतपरोक्षतायास्तेनाप्रतिपत्तेः तद्दोषापरिहारात् । एतदेव दर्शयितुमाह–'**परोक्ष**' इत्यादि । परोक्षं स्वप्रकाशविकलं ज्ञानं जानातीति **परोक्षज्ञः** *मीमांसकस्य सम्बोधनमेतत् । विधिप्रत्यये सति पर्वरूपसिद्धिः ।* **विषयपरिच्छेदो** विषयस्य सकलज्ञानपरोक्षतालक्षणस्य परिच्छेदो विचारः परिच्छिद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः, स न **परोक्षवत्** परोक्षप्रभृतिः स्वप्रकाशवैकल्यात् तत्र तत्समानो न भवति, स्वप्रकाशस्यापि तत्र भावादिति भावः । ततो यथा विचारज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमपि तथैव निर्बाधादनुभावात् तथार्थज्ञानस्यापि तदस्तु तदविशेषात् । तच्छक्तेरपि तत्र तर्हि एव विचारज्ञानैरवधिगमात् । ततो नेदं पर्यालोचितवचनम्–'प्रकाशकत्वम्' इत्यादि ।

अथार्थज्ञानस्य [9]विषयवत्तास्वप्यपि व्यापारः तर्हि चक्षुरादेः रूपादिवत्सत्तावपि व्यापारः कुतो नेति चेत् ? 'तथैवादर्शनात्' इति ब्रूमः । तथा स्वरूपव्यापारस्यादर्शनम्, तद्दर्शनस्य निवेदितत्वात् । तत इदमपि [10]तादृशमेव–'सति प्रकाशकत्वे च' इत्यादि । तेन 'प्रकाशकस्येऽपि' इत्यादि पुनः अनुभवप्रत्यनीकत्वादेव प्रतिषिद्धितम् ।

*किं वा [11]तदनवबोधे परिहीयते स्वतस्तदवबोधायान्यप्रतीक्षणम् ? अर्थप्रकाशनमेव, अपरि*ज्ञा([12]अपरज्ञा)नादप्यपरिज्ञातादर्थज्ञानप्रकाशनायोगात्, [13]तदपि स्वप्रकाशनाय ज्ञानान्तरं प्रतीक्षेत । [14]तदपि तदपरं ज्ञानान्तरमित्यव्ययपरज्ञानप्रतीक्षायामेवासंसारं व्यापारात् प्रथमज्ञानस्य प्रकाशनम्, [16]तदभावादर्थस्यापि न प्रकाशनमित्युपरतमिदानीं मेयमेयकभावेन, ततो दूरमनुसृत्यापि कस्यचित्परिज्ञातस्यैव[17] स्वविषयप्रकाशकत्वे प्रथमज्ञानस्यापि तदस्तुपपत्तेः व्यर्थमेतत्परिज्ञानार्थमन्यप्रतीक्षणम् । [18]तत्र अर्थज्ञानापरिज्ञानेऽर्थप्रकाशनस्य [19]परिहाणिः । अर्थज्ञानस्मरणस्य तर्हि परिहाणिः, अपरिज्ञाते तस्मिन्[20] तदयोगात् तस्य परिज्ञातविषयत्वात् । अस्ति च तज्ज्ञानस्य

---

१ तद्विनि–आ०, ब०, प०, स० । अनवस्थानिवृत्तेः । २ साकाङ्क्षया ता० । ३ अनवस्थाविच्छित्तेः । ४ अनवस्थाव्यावृत्तेः । ५ समाहत्या–ता० । ६ –सर्वापि आ०, ब०, प०, स० । ७ निर्बाधानुभवादेव । ८ –ज्ञान इति–आ०, ब०, स० ।–ज्ञानावधि–प० । ९ विषयवत्तायाम्–स० । विषयवत्तास्व–प० । विषयवत्तास्व–आ०, ब० । १० –न इदं–आ०, ब०, प०, स० । ११ अपर्यालोचितमेव । १२ स्वस्यानवबोधे । १३ द्वितीयज्ञानात् । १४ द्वितीयज्ञानमपि । १५ पूर्वोक्तं ज्ञानम् । १६ प्रथमज्ञानप्रकाशनाभावे । १७ –दिज्ञानस्यैव स० । १८ तज्ज्ञानार्थज्ञानापरिज्ञाने आ०, ब०, प०, स० । १९ परिहाणिः आ०, ब०, प०, स० । २० प्रथमज्ञाने ।

स्मरणम् 'परिज्ञातो मया घटः' इत्यत्र विषय[वत्]विषयिणोऽपि प्रतिभासनात्, ततस्तदन्यथानुपपत्त्या अर्थज्ञानस्य परिज्ञानमवगम्यत इति चेत्; न; भ्रान्तस्य [1]तस्यासत्यपि तत्परिज्ञाने सम्भवात्, क्वचिदज्ञातपूर्वेऽपि 'स' इति स्मरणविभ्रमस्योपलम्भात्। अभ्रान्तमेव स्मरणमिति चेत्; कुत एतत्? सत्येव तत्परिज्ञाने भावादिति चेत्; सत्येवेति कुतः? स्मरणस्याभ्रान्तत्वादिति चेत्; न; परस्पराश्रयात्–'सिद्धेन तत्स[2]त्त्वेन तदभ्रान्तत्वसिद्धिः, ततश्च तत्सत्त्वसिद्धिः' इति। अन्यत एव [3]तत्सत्त्वसिद्धिरिति चेत्; न; स्मरणवैयर्थ्यापत्तेः।

अपि च, अन्यदपि[4] [5]तद्विषयं यदि न भवेत् किं [6]तस्य परिहीयेत? स्वविषयप्रकाशनमिति चेत्; न; दत्तोत्तरत्वात्। स्मरणमेव तद्विषयं परिहीयते सत्येव तस्मिन् तदुपपत्तेरिति चेत्; न; 'भ्रान्तस्य तस्य' इत्यादेः पुनरनुबन्धात् अनवस्थावाहिनश्चक्रकस्यापत्तेः। अभ्रान्तत्वं स्मरणस्य निर्बाधत्वादवगम्यते न द्वितीयज्ञानभावात् ततोऽयमदोष इति चेत्; न; तन्निर्बाधत्वस्य स्वतो दुरवबोधत्वात् स्वसंवेदनवादप्रत्युज्जीवनापत्तेः। अन्यतस्तदवबोधं[7] इति चेत्; न; ततोऽपि भ्रान्तात्तदयोगात्। [8]अभ्रान्तमेव तदिति चेत्; कुत एतत्? सत्येव [9]तन्निर्बाधत्वे भावादिति चेत्; सत्येवेति कुतः? तस्याभ्रान्तत्वादिति चेत्; न; पूर्ववत्परस्पराश्रयदोषात्। न तद्दोषः, तन्निर्बाधत्वस्यान्यत एवावगमादिति चेत्; न; प्राच्यस्यान्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः।

अपि च, अन्यदपि द्वितीयं यदि भ्रान्तम्; कुतस्ततोऽपि [10]तदवगमः अतिप्रसङ्गात्। अभ्रान्तमेव तदपीति चेत्; न; 'कुत एतत्' इत्यादेरावृत्त्या परिनिष्ठाशून्यस्य [11]परिभ्रमणस्योपनिपातात्। तदनेनार्थज्ञानस्यापि निर्बाधत्वं दुरवबोधमिति प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यं समानत्वान्न्यायस्य। तत इदमसम्भव्येव [12]लक्षणं 'बाधवर्जितं प्रमाणम्' इति। स्वसंवेदनवादिनां तु नायं दोषः, कस्यचित्क्वचिदभ्यासपाटवातिशयाधिष्ठानस्य देशकालनरान्तरापेक्षयापि निर्बाधत्वस्य स्वत [13]एवाध्यवसायात्, अन्यथा सकलप्रवृत्त्यादिव्यवहारविलोपापत्तेरिति निरूपितम्, निरूपयिष्यते च यथास्थानम्। ततो न स्मरणस्यापि परिहाणिः यतस्तद्बलेनार्थज्ञानस्य स्वज्ञानायान्यप्रतीक्षणमुपपाद्येत। अपि च–

प्रतीक्ष्यमाणमप्यन्यत्तावता लभ्यते कथम्।
न[14] हि विप्रेच्छया लब्धिर्धूर्तपूरस्य दृश्यते ॥५५७॥
अर्थप्रकाशतस्तच्चेदन्यथानुपपत्तिका।
तस्यापि निर्मुखस्यार्थे तज्ज्ञानोन्मुखता कथम्? ॥५५८॥
तत्स्वरूपे हि निर्ज्ञाते तस्येदं बुद्धिरुद्भवेत्।
ज्ञात एव पितर्येष पुत्रस्तस्येति निर्णयात् ॥५५९॥

---

१ स्मरणस्य। २ तत्परिज्ञानसत्त्वेन। ३ प्रथमज्ञानस्य परिज्ञानसत्त्वसिद्धिः। ४ द्वितीयज्ञानम्। ५ प्रथमज्ञानविषयम्। ६ प्रथमज्ञानस्य। ७ –बोधनमिति आ०,ब०,प०,स०। ८ अभ्रान्तेरेव त–आ०,ब०, प०, स०। ९ पूर्वज्ञानस्य निर्बाधत्वे। १० पूर्वज्ञानस्य निर्बाधत्वावगमः। ११ चक्रक। १२ "एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।"–शास्त्रदी० १।१।५। १३ एव स्यवसा–आ०, ब०, प०, स०। १४ तर्हि वि–आ०, ब०, प०, स०।

ज्ञानमात्रोन्मुखे तस्मिन् सम्बन्धग्रहनिर्मुखे ।
अर्थस्य ज्ञानमित्येष व्यवहारः क्षयं व्रजेत् ॥५६०॥
अर्थाभिमुख्ये तस्यापि तत्कृतात्स्वप्रकाशनात् ।
तज्ज्ञानमपि लभ्येत तत्राप्येवं निरूपणे ॥५६१॥
अनवस्थानदोषोऽयमनिवार्यः प्रसज्यते ।
विषयान्तरसञ्चारनिषेधश्रमविभ्रमः ॥५६२॥
तत्तज्ज्ञानावगाहिन्यः स्मृतयोऽप्यनवस्थिताः ।
प्राप्नुवन्ति तदन्यार्थस्मृतिसञ्चारवारिकाः ॥५६३॥
ज्ञानम् प्रवर्तकं वाक्यं स्मर्तेस्तज्ज्ञानमप्ययम् ।
कथं तदर्थवित् विप्रस्तज्ज्ञानस्मृतिमान् कथम् ?॥५६४॥
येन तद्विषयं कुर्यादनुष्ठानमनाकुलम् ।
प्रत्यवायैर्विमुच्येत प्रेत्य चेह च याज्ञिकः ॥५६५॥

स्यान्मतम्–सत्यम् अर्थाभिमुखस्यैव तस्यार्थज्ञानाभिमुख्यम् अनवगतेऽर्थे 'तस्येदं ज्ञानम्' इत्यवगमायोगात्, प्रतियोगिनि पितरि ज्ञात एव 'तस्यायं पुत्रः' इति प्रतिपत्तिदर्शनात् । सम्बन्धग्रहणनिर्मुखतया ज्ञानमात्रस्य तेन ग्रहणे तु 'अर्थस्य ज्ञानम्' इति व्यवहारलोपप्रसङ्गात् । तत्र यद्यपि तत्कृतात्स्वयंप्रकाशनात्तद्विषयमपि[8] ज्ञानम्, तत्कृतादपि ततस्तद्विषयं[10] ज्ञानमित्य-परापरज्ञानोपकल्पनम्, तथापि नानवस्थानं यावच्छ्रममेव तदुपक्रमणात्, श्रमजाते तु श्रमे तदभावात् । तत एव न स्मृतीनामप्यनवस्थानम्, तासामप्युपजातज्ञानपरम्परामात्रपर्यवसायि-त्वेन[11] परतः प्रवृत्तेरभावात् । तदुक्तम्–

"घटादौ च गृहीतेऽर्थे यदि तावदनन्तरम् ।
अर्थापत्त्यावबुध्यन्ते विज्ञानानि पुनः पुन. ॥
यावच्छ्रमं ततः पश्चात्तावन्त्येव स्मरिष्यति ॥"[मी० श्लो० शून्य० १९०] इति ।

ततः प्रवर्तकवाक्यरूपाद्विषयान्तरे तदर्थग्रहणे सञ्चारसम्भवे कथम्[12] तज्ज्ञानं कथं वा न[13] तज्ज्ञानस्मरणं यतस्तदनुष्ठानासम्भवात् प्रेत्य चेह च याज्ञिकस्य प्रत्यवायनिर्मुक्तिर्न भवेदिति, तदपि न समीचीनम्, श्रमापरिज्ञानात्–'कस्य श्रमः, को वा श्रमः ?' इति । अर्थप्रकाशस्यैव श्रमः, अन्यथानुपपत्तिविकल्पमेवं[14] च श्रम इति चेत्; न, प्रथमस्याप्यर्थज्ञानस्याग्रहणप्रसङ्गात् । न हि तस्याप्यर्थप्रकाशनादन्यतो ग्रहणम् । न चान्यथानुपपत्तिविकल्पादपरापरज्ञानवत्तस्यापि[15]

१ वेदवाक्यम् । २ वाक्यज्ञानम् । ३ वाक्यार्थवेत्ता । तदर्थविप्रस्तज्ज्ञानस्य स्मृतिमान् आ०, ब०, प०, स० । ४ यदि तदर्थस्तं नास्ति कथमनुष्ठानमस्ते अर्थज्ञानस्मरणं स्यादिति भावः । ५ द्वितीयज्ञानस्य । ६ द्वितीय ज्ञानेन । ७ द्वितीयज्ञानस्यात् । ८ प्रथमज्ञानस्य यो विषयः तद्विषयमपि ज्ञानम् । ९ तृतीयज्ञानकृतादपि । तत्कृत स्तादपि आ०, ब०, प०, स० । १० द्वितीयज्ञानस्य यो विषयः तद्विषयमपि ज्ञानम् । ११ –र्यवसितत्वेन आ०, ब०, प०, स० । १२ वाक्यार्थज्ञानम् । १३ वाक्यार्थज्ञानस्मरणम् । १४ –विकल्पश्रममेव च श्रमा–आ०, ब०, स० ।–विकल्पश्रमः ब० । १५ प्रथमज्ञानस्यापि ।

ततो[1] ग्रहणमुपपन्नम्; अतिप्रसङ्गात्। तत्र तत्प्रकाशस्य श्रमः। आत्मनः श्रम इति चेत्; कस्य-स्यापि श्रमः? अर्थज्ञानतज्ज्ञानादिप्रबन्धप्रतिपत्तावभिरुचिवैकल्यमिति चेत्; न; तद्वैकल्येऽपि सामग्रीसद्भावे तत्प्रतिपत्तेरवश्यम्भावात् अशुचिप्रतिपत्तिवत्। तर्हि सामग्रीवैकल्यमेव तस्य [3]श्रम इति चेत्; ननु अर्थप्रकाश एव सामग्री, स च विद्यत एव, कथं तद्वैकल्यम्? न तन्मात्रमेव सामग्री चेन्नैवम्, अपि त्वन्यथानुपपन्नतया तत्परिज्ञानमपि, न च [5]तत्सर्वस्मिन्नपरापरे तत्प्रकाशे विद्यते, त्रिचतुरादितत्प्रकाशे एव तद्भावात् तत्कथमनवस्थानमिति चेत्? न तर्हि प्रथमस्याप्यर्थज्ञानस्य ग्रहणम्, तत्राप्यन्यथानुपपत्तिपरिज्ञानाभावस्य वक्ष्यमाणत्वात्। ततो न प्रतीक्ष्यमाणस्यापि ज्ञातज्ञानस्य कुतश्चित्सम्भवः। तदेवाह–'परोक्ष' इत्यादि। **परोक्षज्ञानम्** आद्यमर्थज्ञानं तस्य **विषयो** विषयप्रकाशः तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्योपपत्तेः; तेन **परिच्छेदो** ग्रहणम्, **परोक्षवत्** परः पश्चाद्भाव्यर्थो बोधस्तस्येव तद्वदिति।

आद्यस्याप्यर्थबोधस्य ग्रहणं नार्थदर्शनात्।
अन्यथासम्भवाज्ञानादुत्तरज्ञानतानवत् ॥५६६॥

तत्र अर्थप्रकाशादेवार्थज्ञानं ग्रहणम्। अन्यथानुपपन्नतया परिज्ञातात् ततस्तद्ग्रहणमिति चेत्; सिद्धस्य, असिद्धस्य वा [10]तस्य तत्परिज्ञानम्? सिद्धस्येति चेत्; कुतः सिद्धिः? स्वत इति चेत्; ज्ञानधर्मस्य, अर्थधर्मस्य वा? ज्ञानधर्मस्य चेत्; न; ज्ञानस्यैव स्वतस्सिद्धिप्रसङ्गात् तस्य तत्प्रकाशादव्यतिरेकात्, तथा च व्यर्थं तस्यान्यथानुपपत्तिपरिज्ञानम्, तस्य ज्ञानप्रतिपत्त्यर्थत्वात्, तस्याश्च स्वत एव सिद्धत्वात्। अन्यत एव तत्सिद्धिरिति चेत्; तदपि कुतः सिद्धम्? तत्कृतात्प्रकाशादिति चेत्; न; तस्यापि तज्ज्ञानधर्मत्वे स्वतः सिद्धत्वे च [11]पूर्ववद्दोषात्, पुनरन्यतस्तत्सिद्धिकल्पनायाम[12]प्यनवस्थापत्तेः। तन्न ज्ञानधर्मस्य कुतश्चित्सिद्धिः।

अर्थधर्मस्यैवेति चेत्; न; तस्यापि स्वतःसिद्धावर्थस्यापि तत एव सिद्धेर्ज्ञानकल्पनावैफल्यम्। विज्ञानवादप्रत्युज्जीवनञ्च, स्वसंविदिततत्प्रकाशानर्थान्तरत्वे विषयस्य तज्ज्ञानत्वापत्तेर्निर्विवाद-त्वात्। न च याज्ञिकस्य तदभ्युपगमः श्रेयान्, बहिरर्थाभावे तन्निबन्धनस्य यागादेरभावप्रसङ्गात्। तन्न स्वतस्तत्सिद्धिः[13]। नाप्यन्यतः; तदभावात्। अर्थज्ञानं तदस्तीति चेत्; न; ततोऽर्थस्यैव सिद्धेः। [14]तत्सिद्धेरपि [15]तत एव सिद्धिरिति चेत्; न; तस्यार्थसिद्धि प्रत्युपक्षीणस्य तत्सिद्धिं[16] प्रत्यव्यापारात्। व्यापारे चानवस्थानात्, अपरापरतत्सिद्धौ तस्यैवासंसारं व्यापारात्। मा भूदर्थज्ञानात्तत्सिद्धिः, तदन्यत एव तद्भावादिति चेत्; न; ततोऽप्यनर्थविषयात् तत्प्रकाशग्रहणायोगात्। अर्थविषयमेव तदिति चेत्; कुतस्तदपि [17]ज्ञातम्? तत्कृतादेवार्थप्रकाशादिति चेत्; न; प्राक्तनार्थज्ञानवद्दोषात्,

१ अर्थप्रकाशात्। २ –पत्तिर्हि वर्तिनी सा–आ०, ब०, स०।–पत्तिर्हि वर्मनि सा–प०। ३ श्रम इति चेन्नार्थ–आ०, ब०, प०, स०। ४ अन्यथानुपपन्नतया परिज्ञानमपि। ५ –ग्रत एव आ०, ब०, प०, स०। ६ ग्रहणाम्नार्थ–आ०, ब०, प०, स०। ७ प्रबन्धवत्। ८ परिज्ञानात्–आ०, ब०, प०, स०। ९ अर्थप्रकाशात्। १० अर्थप्रकाशस्य। ११ पूर्वदोषात् आ०, ब०, प०, स०। १२ –चामव्यवस्था–आ०। १३ अर्थप्रकाशसिद्धिः। १४ अर्थप्रकाशसिद्धेरपि। १५ अर्थज्ञानादेव। १६ अर्थप्रकाशसिद्धि प्रति। १७ ज्ञानम् आ०, ब०, स०।

तत्प्रकाशस्यापि ज्ञानान्तरात्सिद्धावनवस्थानात्। तन्न सिद्धस्य तस्यान्यथानुपपत्तिपरिज्ञानम्। नाप्यसिद्धस्यैव, न ह्यप्रतिपन्ने धूमे तस्य पावकापेक्ष[1]मुपरिज्ञानम् अन्यथाऽनुपपन्नत्वम्। तदेवाह–

अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति ॥११॥ इति।

अन्यथा अर्थज्ञानाभावप्रकारेण **अनुपपन्नत्वम्** अघटनम् उक्तप्रकारेण **असिद्धस्य** विषय[2]प्रकाशस्य **न सिध्यति**।

अपि च, ज्ञेयमर्थधर्मः सन् कथं बुद्धिमनुमापयति? तत्कृतत्वादिति चेत्, सा यथा-त्मनः, कथं तथा तद्वेदने तत्कृतत्ववेदनम्? तस्या एव ततोऽनुमानादिति चेत्, एतदपि कुतः? तथा संवेदनादिति चेत्, [3]किं तत्संवेदनम्? तदेवानुमानमिति चेत्; किं पुनस्तस्य स्वसंवेदनमस्ति? न चेत्, कथं तत्सत्त्वे[4] संवेदनम्? अप्रतिविदितादेव तस्मात्तस्य प्रतिनियतपुरुषबुद्धिगोचरत्वस्य दुरवबोधत्वात्। मा भूत्तस्य स्वसंवेदनम्, अन्येन तु वेद्यमानं तथाविधमेव तद्वेद्यत इति चेत्, तस्यापि[6] तथाविधतद्वेदनविषयत्वं कुत[7]? तथा संवेदनादिति चेत्, किं[8] तत्संवेदनं तदेव? अन्यदिति चेत्, न, अत्रापि 'किं पुनस्तस्य' इत्यादेरनुबन्धात् अनवस्थानोत्तरस्य चक्रकस्यापत्तेः। एतेन 'परस्य सा बुद्धिर्बुद्धिमात्रम्' इत्यपि प्रत्युक्तम्, न्यायस्य समानत्वात्। तन्न बुद्धिकृतत्वमर्थप्रकाशस्य।

अहेतुकत्वे कथं सत्त्वमेव [11]तस्येति चेत्, न, अर्थहेतोरेव तदुपपत्तेः, यावदर्थभावित्वं तस्य नीलत्वादिवत्। ततः कादाचित्कत्वं न स्यादिति चेत्, किं पुनस्तद्रहितोऽपि[12] कदाचिदर्थोऽस्ति? तथा चेत्, कुत एतत्? तथादर्शनादिति चेत्, ननु तत्प्रकाश एव तद्दर्शनम्, तत्कथं 'स एवास्ति, स एव नास्ति' इत्युपपन्नं व्याघातात्? चिरदृष्टस्यान्तराऽस्तित्वं प्रकाशरहितमेव पश्चात्प्रत्यभिज्ञायत इति चेत्, प्रत्यभिज्ञायां यदि तन्न प्रकाशते कथं [13]तस्यास्तद्विषयत्वम् अतिप्रसङ्गात्। प्रकाशने चेत्, कथं तस्य प्रकाशरहितत्वं व्याघातस्योक्तत्वात्? प्रत्यभिज्ञायाः पूर्वमप्रकाशमेव तदस्तित्वमिति चेत्, न, तदपरिज्ञाने 'तदप्रकाशमन्यथा वा' इति दुरवबोधत्वात्। अर्थकारणात् भवतस्तत्प्रकाशस्य[14] कथं न सर्वप्रतिपत्तृसाधारणत्वं नीलवदिति चेत्, न, ज्ञानात्परोक्षात् भावेऽपि समानत्वात्, अन्यथा [15]अज्ञानाधीनस्य नीलस्यापि [16]तद्भावप्रसङ्गात्। न चापरिज्ञातस्य तस्य कादाचित्कत्ववेदनम्। नापि परिज्ञातस्य, अर्थज्ञानादन्यतश्च तत्परिज्ञानाभावस्य निवेदितत्वात्।

तस्मात्परोक्षत्वे ज्ञानस्य तत्कृतो विषयपरिच्छेदोऽपि परोक्ष एव पुरुषान्तरज्ञानकृततत्परिच्छेदवदिति। एतदेव निवेदयति–'परोक्ष' इत्यादिना। 'परोक्षवत्' इति। [17]परं पुरुषान्तरज्ञानं तदुत्पन्नतत्कृतो विषयपरिच्छेदस्तद्वदिति असिद्ध इति यावत्। न च [18]तथाविधात्परि-

---

१ स्वपरिज्ञा–आ०, ब०, प०, स०। २ प्रकाशनस्य आ०, ब०, प०, स०। ३ अर्थप्रकाशः। ४ बुद्धेः। ५ आत्मन इव बुद्धिरिति वेदने। ६ किं संवे–आ०, ब०, प०, स०। ७ कुतः आ०, ब०, प०, स०। ८ कारणस्यापि। ९ किं पुनः संवे–आ०, ब०, प०, स०। १०–वस्थोपपत्तेः आ०, ब०, प०, स०। ११ अर्थप्रकाशस्य। १२ अर्थप्रकाशरहितोऽपि। १३ प्रत्यभिज्ञाया अन्तरालवर्तित्वम्। १४ अर्थप्रकाशस्य। १५ ज्ञानाधीनस्य। १६ सर्वप्रतिपत्तृसाधारणत्वाभाव। १७ परपुरुष–आ०, ब०, प०, स०। १८ तथाविधात्तत्परि–आ०, ब०, प०, स०।

च्छेदात्स्वबुद्ध्यनुमानं पुरुषान्तरज्ञानकृतादपि [1]तनस्तदनुमानप्रसङ्गात् । तस्य तदन्यथानुपपत्तिनियमानिश्चयान्नेति[2] चेत् ; न; स्वबुद्धिकृतस्याप्यसिद्धस्य[3] [4]तदनिश्चयाविशेषादिति एतदेव वक्ति । **'अन्यथा'**इत्यादिना निवेदनात् तत्कस्तवातिशयो दूषणाभिधाने परसामर्थ्यमुपजीवत इति ? तत्राह–

मिथ्याविकल्पकस्यैतद्दूषकत्वमात्मविडम्बनम् । इति ।

[5]अत्रेदमैदम्पर्यम्–भवेदेवेदं भवत्सामर्थ्यं यदि दूषणे भवतोऽधिकारः स्यात् । न चैवम्, अनुपायत्वात् । "दृष्ट[6](अदृष्ट)दृष्टयः"[प्र०वा० २।४६८] इत्यादिर्विकल्प एव तत्रोपायः, तेनास्वसंविदितज्ञानेऽर्थगोचरत्वनिषेधस्य दूषणस्यापादनादिति चेत् ; न ; [7]तस्य निर्विषयत्वात्, "विकल्पोऽवस्तुनिर्भासात्" [ ] इत्यभिधानात् । न च [8]तादृशात्कस्यचित्क्वचिदापादनम्; अतिप्रसङ्गात् ।

अस्वसंविदितज्ञानादर्थदृष्टेर्निषेधनम् ।
अवस्तुज्ञाद्विकल्पाच्चेत् ; ततः कस्मान्न [9]तद्विधिः ॥ ५६७ ॥
निषेध एव [10]तस्यास्ति प्रतिबन्धो विधौ न चेत् ।
सोऽपि तद्दृ[11]ष्ट्यनिर्ज्ञानाभावे केनावगम्यताम् ?॥ ५६८ ॥
तस्मादेव न तज्ज्ञानं तस्य [12]स्वांशव्यवस्थितेः ।
न विकल्पान्तरात्तस्याप्येतद्दोषानतिक्रमात् ॥ ५६९ ॥
न चोभयापरिज्ञाने तत्सम्बन्धप्रवेदनम् ।
"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः"[13]इत्यादिवचनक्षतेः ॥ ५७० ॥
सम्बन्धोऽपि यदि द्विष्ठो विकल्पस्येह गोचरः ।
तदवस्तुविनिर्भासप्रवाद[:]स्थितिमान् कथम् ? ॥ ५७१ ॥
सोऽपि तत्प्रतिबन्धाच्चेत्तद्व्यवस्थानिबन्धनम् ।
तस्यापि प्रतिबन्धस्य विकल्पादन्यतः स्थितौ ॥ ५७२ ॥
परापरविकल्पानामासंसारमुपस्थितेः ।
अनवस्थानदोषः स्यादलङ्घ्यस्त्रिदशैरपि ॥ ५७३ ॥

ततो निराकृतमेतत्–

"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।
प्रतिबन्धात्तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥" [प्र०वा० २।८२] इति ;

---

१ अर्थपरिच्छेदात् । २–न्नैदिति आ०,ब०,प०,स० । ३ अस्वसंविदितस्य । ४ अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयाभावाविशेषात् । ५ अत्रेदमेव तात्पर्यम् आ०,ब०,प०,स० । ६ दृढदृष्टय. आ०,ब०,प०,स० । "अदृष्टदृष्टयोऽन्येन द्रष्ट्रा दृष्टा न हि क्वचित् । = हि यस्माददृष्टा दृष्टिर्ज्ञानं येषां तेऽर्थाः क्वचिदन्येन द्रष्ट्रा दृष्टा इति न, दृष्टा निश्चयविषयाः स्यु ।"–प्र० वा० म० २।४६८ । ७ विकल्पस्य । ८ निर्विषयविकल्पात् । ९ अर्थदृष्टिविधानम् । १० विकल्पस्य । ११–यविज्ञाना– आ०, ब०, प० । १२ स्वांशे व्यवस्थिते आ०, ब०, प०, स० । १३ "द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् । द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ॥"–प्र० वार्तिकाल० १।१ ।

प्रतिबन्धस्यैव दुरवबोधत्वात्। तस्मात् मिथ्या वस्तुतो निर्विषयत्वादसन्तो विकल्पः "अदृष्टदृष्टयः" इत्यादिविर्निषाये यस्य तस्य मिथ्याविकल्पकस्य सौगतस्य एतत् परोक्षज्ञानबोधोपकल्पने स्पष्टं परिस्फुटं यथा भवति तथा आत्मविडम्बनम्, आत्मतिरस्करणम् असाधनाङ्गवचनाभिमतत्वात्।

अपि च, अप्रत्यक्षज्ञानादर्थदृष्टेः प्रतिषेधो यदि [1]तुच्छः कथं तत्र अनन्तरविकल्पस्य प्रतिबन्धः तत्तादात्म्याभावात्, अन्यथा विकल्पस्यापि तुच्छत्वापत्तेः, तत्कार्यत्वाभावाच्च तत्प्रतिषेधस्य तुच्छत्वेनाहेतुत्वात्। [2]प्रत्यक्षज्ञानादर्थदृष्टिरेव पर्युदासवृत्त्या [3]तद्विपरीतार्थदृष्टिप्रतिषेध इति चेत्, तदपि यथाप्रतिभासम्, यथाभ्युपगमं वा स्यात्? आद्येऽपि विकल्पे यदि तद्विषयाकारम्, तर्हि परस्परविविक्तानेकनीलपीताद्याकारं तदेकमभ्युपगन्तव्यम्–"चित्रप्रतिभासेऽप्येकैव बुद्धिः" [प्र० वार्तिकाल० २।२२०] इति वचनात्। तदाक्रमवत् क्रमेणापि तथाविधत्वं न परित्यजति अथाकारविशेषसत्त्वस्यैव तत्रापि निरूपणादिति सम्भवक्रमाभ्यां सविकल्पक तत्प्रतिविधानुविधानस्यैव विकल्पलक्षणत्वात्, शब्दसंसर्गस्य तु तल्लक्षणस्य 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा नाम्' इत्यादौ" निषेधात्। अविषयाकारं चेत्, न, तथाप्यनेकशक्तिकत्वस्यावश्यम्भावित्वात्, अन्यथा युगपदनेकार्थग्राहकत्वानुपपत्तेः सन्निधानाभ्यनन्तरविरोधात्। [11]सम्भवानेकान्ताच्च "पर्यायानेकान्तस्य व्यवस्थानात् सिद्धं तथापि" सम्भवक्रमाभ्यां सविकल्पकत्वम्। न च "सविकल्पस्यार्थज्ञानत्वम्, तस्यावस्तुविषयत्वेनाभ्युपगमात्, ततश्च प्रत्यक्षात्तस्यार्थदर्शनमेव तद्विपरीतार्थप्रतिषेधो यतस्तत्र विचारविकल्पस्य प्रतिबन्धः प्रत्यक्षस्य वा "ततः स्वसंवेदनसाधनं भवेत्? तदाह–'मिथ्या' इत्यादि। मिथ्या निर्विषयो विकल्प एकमनेकाकारमेकमनेकशक्तिकं वा ज्ञानं यस्य तस्य सौगतस्य एतत् अर्थदर्शनान्यथानुपपत्त्या सविकल्पस्वसंवेदनसाधनं व्यक्तमात्मविडम्बनं विकल्पस्यानर्थविषयत्वेनार्थदर्शनलक्षणस्य हेतोरेवासिद्धत्वादिति भावः। तत्र यथाप्रतिभासं तत्प्रत्यक्षसंवेदनम्।

तर्हि यथाभ्युपगमं "तदस्त्विति चेत्, न, निरंशस्य "तस्य साकारस्य निराकारस्य चाननुभवात्, विकल्पोपसंहारवेलायामपि चित्रावभासस्यैव तस्य प्रतिसंवेदनात्, तदुपसंहारव्युत्थाने तथैवानुस्मरणाच्च। ततस्तत्र व्योमकुसुमवत् स्वसंवेदनसाधनं प्रयासमात्रकमेव। "तदाह–'मिथ्या' इत्यादि। अविकल्पकस्य निरंशदर्शनस्य एतत् स्वसंवेदनसाधनं मिथ्या न समीचीनं अनुपायत्वेनाशक्यत्वात् निरंशार्थदर्शनस्य तल्लिङ्गस्यासिद्धेः, अतश्च व्यक्तमात्म-

१ विकल्पतात्पर्यविषय। २–दर्थदृष्टेरेव आ०, ब०, प०, स०। ३ अप्रत्यक्षज्ञानात् अर्थदृष्टिप्रतिषेधः। ४ प्रत्यक्षज्ञानम्। ५ प्रत्यक्षज्ञानम्। ६ एकत्वम्। ७ "चित्रामाप्यपि बुद्धिरेकैव बाह्यविभ्रमविलक्षणत्वात्, शक्यविवेचनं चित्रमनेकम्, अशक्यविवेचनमाहुः बुद्धेर्नीलमिव।"–प्र० वार्तिकाल० ३।२२०। ८ युगपत्क्रमाभ्याम्। ९ प्रत्यक्षज्ञानम्। १० "विविधाऽविचारस्य विकल्पकान्तरीयकत्वात्"–प्रमाणस० पृ० १८। ११ न्यायवि० श्लो० ६। १२ युगपदनेकधर्मसम्भवत्वात्। १३ क्रमेण अनेकधर्मपरिणामकस्य। पर्यायोऽनेक–आ०, ब०, प०, स०। १४ तथा हि आ०, ब०, प०, स०। १५ सविकल्पकत्वा–आ०, ब०, प०, स०। १६ विचारात्। १७ तदस्तीति आ०, ब०, प०, स०। १८ प्रत्यक्षस्य। १९ तथाह आ०, ब०, प०, स०।

विडम्बनं परोक्षज्ञानवादितिरस्कारेणात्मनः सौगतस्यापि तिरस्कारात्, तदभ्युपगतस्यापि संवेदनस्य [1]वस्तुतः परोक्षत्वादिति मन्यते ।

यदि चायं निर्बन्धः ना[2]परिज्ञातात् संवेदनादर्थदृष्टिर्भवतीति ; तर्हि कथमव्यवसितादपि व्यवसायादर्थव्यवसायः स्यात् ? व्यवसित एव व्यवसायो व्यवसायान्तरेणेति चेत् ; कुत एतत् ? तस्य स्मरणादेव, न ह्यव्यवसितस्य स्मरणमतिप्रसङ्गादिति चेत्; तर्हि व्यवसायस्यापि व्यवसायेन भवितव्यम्, तत्रापि स्मरणाविशेषादिति व्यवसायमालोपनीता स्यात्। अस्तु को दोष इति चेत् ? कुतस्तर्हि त[3]न्मालाप्रसूतिः ? पूर्वपूर्वस्मात् व्यवसायादिति चेत् ; न; विषयान्तरसञ्चाराभावप्रसङ्गात्–पूर्वपूर्वव्यवसायस्य स्वविषयापरापरव्यवसायजनन एवोपक्षीणस्य विषयान्तरव्यवसायं प्रत्यव्यापारात् । न हि जनकत्वेन ग्राह्यलक्षणप्राप्तं स्वसन्तानसम्बन्धित्वेनान्तरङ्गञ्च पूर्वपूर्वव्यवसायं परित्यज्योत्तरोत्तरव्यवसायस्य विषयान्तरव्यापारः सम्भवति । सम्भवत्येवार्थसन्निधौ, अर्थो हि सन्निधो (धौ) व्यवसायस्य पूर्वव्यवसायग्रहणाभिमुख्यं प्रतिबद्ध्य स्वग्रहणाभिमुख्यमेवोपकल्पयतीति चेत्; न तर्हि व्यवसायस्य व्यवसायः स्यात्, अर्थव्यवसायस्यैव प्राप्तेः, तथा च व्यवसायस्य स्मृतिरेव न स्यात्, अव्यवसिते त[4]दनुपपत्तेः । प्रतिबन्धकस्यार्थस्यासन्निधाने भवत्येवेति [5]चेत्; न; असन्निहितार्थाया व्यवसायदशाया एवासम्भवात्। तथा च निरवद्यप्रतिपत्तिरक्षाविधानविकलतयोत्स[6]न्नमूला एव व्यवसायबुद्धयस्तद्विषयाश्च स्मृतय इत्युज्ज्वलं ताथागतदर्शनम् ! ततो यदुक्तम्–

ज्ञानस्य–"ज्ञानान्तरेणानुभवो भवेत्तत्रापि च स्मृतिः ।
दृष्टा तद्वेदनं केन तस्याप्यन्येन चेदिमाम् ॥
मा[7]लां ज्ञानविदां कोऽयं जनयत्यनुबन्धिनीम् ।
पू[8]र्वा धीः सैव चेन्न स्यात्सञ्चारो विषयान्तरे ॥
तां ग्राह्यलक्षणप्राप्तामासन्नां जनिकां धियम् ।
अगृहीत्वोत्तरज्ञानं गृह्णीयादपरं कथम् ? ॥
ग्राह्यः सन्निहितोऽप्यर्थस्तां पिबन्धुं (पिबद्धुं) नहि प्रभुः ।
धियं नानुभवेत्कश्चि[9]दन्यथाऽथस्य सन्निधौ ॥
न चासन्निहितार्थास्ति दशा काचिदतो धियः ।
उत्सन्नमूलास्मृतिरप्युत्सन्नेत्युज्ज्वलं मतम् ॥" [प्र०वा० २।५१३-१८] इति;

तत्प्रतिक्षिप्तम् ; स्वपक्षेऽप्यनिवारणात् ।

नन्वयं पक्ष [10]एवाऽसौगतानां यद्व्यवसायस्य व्यवसायान्तरेण व्यवसाय इति, तत्कथमेवमुपक्षेपः कृत इति चेत्?न;स्वतस्तद्व्यवसायाभावे व्यवसायान्तरतस्तद्व्यवसायस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वात्,

१ वस्तुनस्तत्परो–प० । वस्तुतत्परो–आ०, ब०, स० । २ परिज्ञानात्सं–आ०, ब०, प०, स० । ३ तन्मालोपस्मृतिः स० । तन्मालोलाप्रसूपस्मृतिः आ०, ब०, प० । ४ स्मरणानुपपत्तेः । ५ चोक्तसन्नासन्निहि–आ०, ब०, प०, स० । ६–त्पन्नमू–आ०, ब०, प०, स० । ७ मालाज्ञानविधां आ०,ब०,प०,स० । ८ पूर्वादिः सै–आ०, ब०, प०,स० । ९–दन्यतोऽर्थ–आ०, ब०, प०, स० । १० एव सौग–आ०,ब०,प०, स० ।

अन्यथा तंतोऽर्थव्यवसायस्य तत्स्मरणस्य चासम्भवात् । स्वसंवेदनवेद्यत्वात्तस्य ततोऽर्थव्यवसाय[ः] स्मरणञ्च तस्य, न व्यवसायान्तरवेद्यत्वादिति चे , कीदृशं तत्स्वसंवेदनम् ? अव्यवसायस्वभावमिति चेत् , न तर्हि व्यवसायस्य तत् स्वसंवेदनं तैस्याव्यवसायस्वभावाभावात् । व्यवसायस्वभावमेव हि संवेदनं तत्स्वसंवेदनं न तद्विपरीतम् , अन्यथा सुखस्वभावमपि स्वसंवेदनं दुःखस्वसंवेदनं भवेत् । सुखदुःखयोर्भेदाभावेति चेत् , न , व्यवसायेतरयोरपि तदविशेषात् । माभूत्तस्य स्वसंवेदनम् अन्यदेवास्त्विति चेत् , तदपि यद्यव्यवसायस्वभावम् , स एव प्रसङ्गः–'न तर्हि' इत्यादिः । पुनरपि तथाविधस्वसंवेदनकल्पनायामनवस्था । व्यवसायस्यैव कथञ्चिदव्यवसाय स्वभाव इति चेत् ; भवत्वेवम् , तथापि तस्याव्यवसायस्वभावेनैव बहिर्विषयत्वं तेनैव प्रतिपन्नस्याभावपरेण विपर्ययात् । को दोष इति चेत् ? अर्थव्यवसायाभाव एव । न ह्यव्यवसायस्वभावसंवेदनविषयतामुपगतस्य व्यवसितस्य नाम, अव्यवसितस्यैव कस्यचिदभावापत्तेः । तैत्स्वभावमपि संवेदनमर्थव्यवसायमुपनयति व्यवसायस्वभावात् कथञ्चिदनर्थान्तरत्वादिति चेत् , स्वव्यवसायं किमेवं नोपनयति तदविशेषात् ? आत्मव्यवसायं प्रति तदनर्थान्तरत्वमनङ्गमिति चेत् , अर्थव्यवसायं प्रति कथमङ्गमिति न किञ्चिदेतत् ? तस्माद्व्यवसायस्वभावं तत्स्वसंवेदनम् ।

भवतु व्यवसायस्वभावमेव तदिति चेत् ; न , अभिजल्पसंसर्गाभावात् । अभिजल्पसंसर्गे हि व्यवसायोऽवकल्प्यते । न च स्वरूपे तत्संसर्गोऽस्ति बहिर्व्यवसायाभावप्रसङ्गात्– बहिर्व्यवसायोऽपि सत्येव [1]तत्संसर्गे भवति, साम्प्रतं यदि स्वरूपे संसर्गः न बहिः स्यात् , युगपदभिजल्पद्वयसम्बन्धस्याप्रतिवेदनादनभ्युपगमाच्च । क्रमेणैकत्र ज्ञाने तद्द्वयसंसर्ग इति चेत् , न , एकस्य क्रमाभावात्[11] क्षणभङ्गवादव्यापत्तेः । नाभिजल्पसम्बन्धाद् व्यवसायानां [12]तद्रूप्यं येनायं प्रसङ्गः, किन्तु संशयादिव्यवच्छेदस्वभावत्वात् । तदपि नाभिजल्पसम्बन्धात् , अपि [13]तु स्वहेतुविशेषात् तच्छक्तित्वेन तेषामुत्पत्तेः । तस्मात् स्वशक्तित एव स्वरूपाधिगत संशयादिव्यवच्छेदस्वभावत्वात् व्यवसायस्वभावमेव व्यवसायानां स्वसंवेदनमिति चेत्, उपपन्नमेवैतत् एवमेव व्यवसायानां तत्त्वव्यवस्थितेः, अन्यथा तदसम्भवात् । तथा हि–नाभिजल्पस्यानुस्मृतस्य योजनम्, न चादृष्टे तद्विषये[14] [15]तदनुस्मरणम् अतिप्रसङ्गात् । दृष्टेऽपि न चानिश्चिते[16], क्षणभङ्गाद्यभिजल्पस्याप्यनुस्मरणापत्तेः, तथा च [17]तद्दर्शनानन्तरमेव तदभिजल्पानुविद्धस्य [18]तद्व्यवसायस्योत्पत्तेर्नीलादिवत् , न [19]तत्रानुमानस्य साफल्यमुत्पश्यामः, [20]व्यवसिते विपरीतारोपस्यानुत्पत्तेः तद्व्यवच्छेदस्याप्यसम्भवात् । निश्चित एव तर्हि तद्विषये तदभिजल्पा-

१ व्यवसायात् । २ व्यवसायस्य । ३–स्वभावात् व्य–आ०, ब०, प०, स० । ४ तत्स्वसंवेदनाच्च आ०, ब०, प०, स० । ५–सुखस्य प०, स० । ६ अव्यवसायस्वभावेनैव ज्ञातत्वात् । ७ नाम व्यव–आ०, ब०, प०, स० । ८ अव्यवसायस्वभावमपि । ९ स्वस्य व्यव–आ०, ब०, प०, स० । १० शब्दसंसर्गे । ११–त् क्षणभङ्गव्या आ०, ब०, प० स० । १२ व्यवसायात्मकत्वम् । १३ तु विशेषात् आ०, ब०, प०, स० । १४ शब्दविषये । १५ शब्दस्मरणम् । १६ शब्दस्मरणं भवतीति शेषः । १७ क्षणभङ्गदर्शनानन्तरमेव । १८ क्षणिकमिदमिति शब्द मात्रविकल्पस्योत्पत्तेः । १९ क्षणभङ्गे सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यनुमानस्य । २० विपरीतारोपनिषेधार्थमनुमानस्य साफल्यं स्यादित्याशङ्कायामाह ।

नुस्मरणमिति चेत्; न; 'निश्चिते[1] तस्मिन् तद[2]नुस्मरणम्, तदनुस्मरणे च त[3]द्योजनया त[4]न्निश्चयः' इति परस्पराश्रयस्य सुव्यक्तत्वात्। ततः स्वहेतुसामर्थ्यादेव क्षयोपशमविशेषलक्षणात् संशयादिव्यवच्छेदस्वभावत[5]योत्पत्तेः व्यवसायानां तत्त्वमवतिष्ठते नान्यथा। तथा च देवस्यान्यत्र वचनम्–

"व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वत एव नः।
अभिधानाद्यपेक्षायां भवेदन्योऽन्यसंश्रयः॥" [ ] इति।

ततो यदुक्तम्–

"रूपं रूपमितीक्षेत तद्धियं किमितीक्षते।
अस्ति चानुभवस्तस्याः स[6]विकल्पः कथं भवेत्॥" [प्र०वा० २।१७७]इति;

तत्प्रतिविहितम्; अभिजल्पसम्बन्धेन हि व्यवसाये रूपव्यवसायसमये तद्बुद्धिव्यवसायो न भवेत्, युगपदभिजल्पद्वयसम्बन्धाप्रतिवेदनात्। अस्ति च त[7]दापि तदनुभवः, स च क[8]थं व्यवसायात्मकप्रत्यक्षवादिन इति भवत्ययं पर्यनुयोगः। न चैवम्, अन्यथैव व्यवसाय[9]स्य व्यवस्थापनात्। ततो व्यवसायात्मकमेव व्यवसायानां स्वसंवेदनम्। तच्च न [10]परस्य प्रत्यक्षम्; [11]तस्याव्यवसायस्वभावतयाऽभ्युपगमात्। नाप्यनुमानम्; साध्यादर्थान्तरस्यानुमानत्वात्, स्वसंवेदनस्य च व्यवसायेभ्यो भेदाभावात्। नाप्यन्यत्प्रमाणम्; प्रमाणद्वयनियमव्याघातात्। न चाप्रमाणम्; अप्रमाणाद्व्यवसायसिद्धेरयोगात्, प्रमाणचिन्तावैफल्यापत्तेः। [12]अतो'वरमस्वसंवेदनमेव व्यवसायानाम्। न चेदमपि शोभनम्; अव्यवसितैर्व्यवसायैरर्थव्यवसायायोगात्, अन्यथा अपरिच्छिन्नैरपि ज्ञानैरर्थपरिच्छित्तिप्रसङ्गात्। नन्वेवं सन्तानान्तरज्ञानैरर्थपरिच्छित्तिः किन्न भवति अपरिच्छिन्नत्वाविशेषात्, तथा च प्रतिसन्तानं निष्फलमेव ज्ञानभेदकल्पनम्, एकसन्तानज्ञानैरेव सर्वेषां वहिरर्थपरिच्छेदोपपत्तेरिति चेत्; व्यवसितिरप्यर्थानामन्यसन्तानव्यवसायैः कस्मान्न भवति अव्यवसितत्वाविशेषात्? तथा च प्रतिसन्तानं त[13]द्भेदकल्पनमपि निष्फलमेव, एकसन्तानव्यवसायैरेव सर्वेषां वाह्यव्यवसायोपपत्तेः। अव्यवसितैरपि स्वव्यवसायैरेव स्वयमर्थावसायो न परव्यवसायैरिति चेत्; न; 'अननुभूतैरपि स्वानुभवैरेव स्वयमर्थानुभवो न परानुभवैः' इत्यपि प्रसङ्गात्। अननुभूतानां तेषां स्वानुभवत्वमेव कुतोऽवगतं येनैवमुच्यते? [14]तादृशानामिन्द्रियाणां कथमात्मीयत्वमगम्यत इति चेत्? मा भूत्तदवगमः, न काचित्क्षतिः? कथं [15]तैरर्थावगम इति चेत्? न; तदभावात्। कथं [16]तथा व्यवहार इति चेत्? न; तस्य भाक्तत्वात्, रूपादिविषयानुभवहेतुत्वेन तदुपपत्तेः। अनुभवस्य तु न भाक्तमर्थप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वम्, तस्यानुभवान्तरनिमित्तत्वाभावादनवस्थापत्तेः। तस्मादनुभवहेतू[17]नामप्रसिद्धिर्न दोषाय नानुभवानाम्, तदप्रसिद्धौ विषयाप्रसिद्धेः, अन्यथा सर्वदा सर्वविषयप्रसिद्धिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्–

१–तेऽस्मिन् आ०,व०,प०,स०। २ शब्दानुस्मरणम्। ३ शब्दयोजनया। ४ अर्थनिश्चयः। ५–तयोपजायते व्य–आ०,व०,प०,स०। ६ सोऽविकल्पः आ०,व०,प०,स०,प्र०वा०। ७ रूपव्यवसायकाले रूपवुद्ध्यनुभवः। ८ कथमव्यवसा–आ०,व०,प०,स०। ९–यस्यैव व्यव–आ०,व०,प०,स०। १० बौद्धस्य। ११ प्रत्यक्षस्य। १२ अतोऽपरमस्व–आ०,व०,प०,स०। १३ व्यवसायभेद। १४ अननुभूतानाम्। १५ इन्द्रियैः। १६ चक्षुषा पश्यामीत्यादिव्यवहारः। १७ इन्द्रियाणाम्।

"आत्मानुभूतं प्रत्यक्षं नानुभूतं परैर्यदि ।
आत्मानुभूतिः सा सिद्धा कुतो येनैवमुच्यते ॥
व्यक्तिहेत्वप्रसिद्धिः स्यान्न व्यक्तेर्व्यक्तमिच्छतः ।
व्यक्त्यसिद्धावपि व्यक्तं यदि व्यक्तमिदं जगत् ॥"[प्र०वा० २।५४० ४१]

इति चेत्, न, व्यवसायेष्वपि समानत्वात् । तेऽपि हि कथमव्यवसिता आत्मीयत्वेनाव-गम्यन्ते ? तद्वेदनोऽनुभवात्प्रत्यक्षा एव कथं तैयावगम्यन्त इति चेत् ? मा भूत्तथा तदवगमो न काचित् क्षतिः । कथं तैर्व्यवसाय इति चेत् ? न, तदभावात् । कथं तथा व्यवहार इति चेत् ? न, तस्य भाक्तत्वात्, बहिर्व्यवसायहेतुत्वेन तदुपपत्तेः । व्यवसायानां तु न भाक्तमर्थ-व्यवसायनिबन्धनत्वं तेषां तद्व्यवसायान्तरनिबन्धनत्वाभावादनवस्थापत्तेः । तस्मात् व्यवसाय-हेतूनामव्यवसायो न दोषाय न व्यवसायानाम्, तदव्यवसाये विषयाव्यवस्थितेः, अन्यथा सर्वदा सर्वविषयव्यवसायापत्तेः । तदज्ञानमप्येवं (तदत्राप्येव) वक्तव्यम्–

आत्मनिश्चितमेव स्यान्निश्चितं नान्यनिश्चितम् ।
यथात्मनिश्चयः सिद्धः कुतो येनैवमुच्यते ॥५७४॥
मा भून्निश्चयहेतूनां निश्चयस्तेन का क्षतिः ।
न ह्यनिश्चयः सिद्ध्येन्निश्चयैरप्यनिश्चितैः ॥५७५॥
अनिश्चयेऽपि तेषां चेदर्थो निश्चीयते परैः ।
तदा सर्वं जगत्प्राप्तं सुनिश्चयपथं गतम् ॥५७६॥ इति ।

प्रत्युक्तश्च व्यवसायानां स्वतः परतश्च व्यवसायः । ततो मिथ्यैवेदं यत्–"अव्यवसितैरपि व्यवसायैर्याद्य व्यवसीयते"[ ] इति । तदाह–'**मिथ्याविकल्पकस्यैतत्**' इति । न विद्यते विकल्पनं विकल्पो व्यवसायो यस्य तत् अविकल्पं तच्च तत् कं च ज्ञानं तस्य कार्यत्वेन सम्बन्धि । किं तत् ? एतत् । याद्यं व्यवसितमिति । अस्यैव परचेतसि स्थितत्वेनैवच्छद्मेन परामर्शात् । तत्किम् ? **मिथ्या**, न सम्यक् । अन्यथा 'अव्यक्तेनाप्यनुभवेन याद्य व्यक्तम्' इत्यपि न मिथ्या स्यात् । ततः किम् ? इत्यत्राह–'**व्यक्तम्**' इत्यादि । '**एतत्**' इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम् । **एतत्** परेणोच्यमानं "व्यक्त्यसिद्धावपि व्यक्तं यदि व्यक्तमिदं जगत्" इति तत् **व्यक्तं** स्पष्टम् **आत्मविडम्बनम्** आत्मविरस्करणम्, अक्षेपे दोषोपक्षेपणात् । ततो न सौगतस्य दूषणवचनसामर्थ्यम् असद्दूषणवादित्वात् । तस्कर्म तदुपजीवनं स्याद्यादिन इति कारिकाखण्डस्य तात्पर्यम् ।

---

१ "ननु चक्षुरादावननुभूते चक्षुरादिभ्य स्यादनुभूतमिति यथा तथा कमलानुभवेऽप्यर्थो ज्ञात इति भविष्यतीत्याह–सर्वमपि स्वेतरचक्षुरादेरर्थदर्शनेऽप्यप्रसिद्धिरव्यक्तिः स्यात्, ततो न व्यक्तदर्शनपूर्वकं कार्यदर्शनम् । न तु व्यक्तेरुपलब्धेः व्यक्तदर्शनमिष्यते व्यक्तसिद्धिर्युक्ता । यदि पुनर्व्यक्तेरसिद्धावपि व्यक्तं वस्तूच्यते तदा सर्वमिदं जगत् व्यक्तं स्यात्, अव्यक्तव्यक्तित्वेन विशेषाभावात् ।"–प्र०वा०म० पृ० १८१ । २ अननुभूता । ३ आत्मीयत्वेन । ४ अनुभवादिभिः । ५ व्यवहारहेतु–आ०,ब०,२०,स० । अनुभवादीनाम् । ६ तर्हि आ०,ब०,प०,स० ।

तदेवं प्रासङ्गिकं प्रतिपाद्य **'परोक्ष'** इत्यादिकस्यैवार्थम् **'अध्यक्षम्'** इत्यादिभिः श्लोकैः सङ्ग्रहीतुकामः प्रथमं परप्रसिद्धेनैव अर्थज्ञानानुमानेन अर्थज्ञानस्य स्वसंवेदनविषयतां व्यवस्थापयन्नाह–

अध्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ॥१२॥
नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः । इति ।

अध्यक्षं स्वानुभवप्रत्यक्षवेद्यत्वात् न प्रत्यक्षान्तरवेद्यत्वात् तस्य निराकरणात् । किं तत् ? **ज्ञानं** नीलादिवेदनम् । कस्मिन् ? **आत्मनि** । कीदृशे तस्मिन् ? **अपरत्र** अनर्थान्तरे स्वात्मनीति यावत् । कुत एतत् ? **आनुमानिकम्** इति । अनुमानमत्रार्थापत्तिरेव, "ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति" [शाबरभा० १।१।५] इत्यत्र अर्थापत्तेरेवानुमानशब्देनाभिधानात् । अनुमानेन गृह्यत इत्यानुमानिकम् । हेतुपदं चैतत् । तदयमर्थः–स्वात्मनि स्वसंवेदनप्रत्यक्षम् अर्थज्ञानम्, आनुमानिकत्वादिति । किं पुनरानुमानिकत्वं स्वसंवेदनाभावे न भवति ? न भवत्येव । तदाह–**'नान्यथा'** इति । अन्यथा स्वसंवेदनाभावप्रकारेण आनुमानिकं स्वात्मनि ज्ञानं न भवतीति । एतदेव कुतः ? इत्यत्राह–**'विषय'** इत्यादि । अत्रापि **'अन्यथा'** इत्यनुवर्त्तयितव्यम्, **अन्यथा** अर्थज्ञानस्याध्यक्षत्वाभावप्रकारेण **विषयः** अनन्यत्रभावः स चान्यथानुपपत्तिरेव तस्य **आलोको** दर्शनं स एव **व्यवहारो** व्यवसायरूपत्वात्, तस्य विलुप्तिर्**विलोप**स्तस्मात्तत इति । तथा हि–अर्थापत्तिस्तावदन्यथानुपपत्तिबलादेव । तच्च नापरिज्ञातमेव तत्प्रसूतिनिबन्धनम् अपरिज्ञातसमयस्यापि ततस्तत्प्रसूतिप्रसङ्गात्, तथा च निर्विवादं भवेत् । न हि अर्थापत्तित एवार्थज्ञानं प्रतिपद्यमानस्तत्र विप्रतिपत्तुमर्हति । भवति चात्र विप्रतिपत्तिः–स्वानुभवप्रत्यक्षवेद्यमर्थज्ञानमिति जैनादेः, प्रत्यक्षान्तरवेद्यमिति वैशेषिकादेः, अर्थापत्तिवेद्यमिति च मीमांसकस्य तद्दर्शनात् ।

भवतु परिज्ञातादेव तद्बलात्तत्प्रसूतिरिति चेत्; कुतस्तत्परिज्ञानम् ?–अर्थज्ञानादन्यत एव कुतश्चिदिति चेत्; तेनापि यद्यर्थज्ञानस्याऽपरिज्ञानं कथं तद्विषयस्य तद्बलस्य ततः परिज्ञानम् ? सर्वापरिज्ञानवतोऽपि कुतश्चित् सर्वविषयपुरुषविशेषज्ञानस्य परिज्ञानप्रसङ्गात्, तथा च दुर्भाषितमेतत्–

"सर्वज्ञोऽयमिति ह्येवं तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः ।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥" [मी०श्लो० १।१।२, श्लो० १३४] इति ।

भवतु ततोऽर्थज्ञानस्यापि परिज्ञानमिति चेत्; अर्थापत्तिरूपं तत्र तदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यतस्तत्परिज्ञानायोगात्, "अनुमानादवगच्छति" इति वचनात् । अभ्युपगम्यत एवेति चेत्; तद्बले तर्हि तत् किन्नाम प्रमाणम् ? अन्यदेव किमपीति चेत्; तर्हि प्राप्तमर्थ-

१ न्यायवि० श्लो० १० । २ अनन्यत्राभाव. आ०, ब०, प० । नान्यत्राभावः स० । ३ –तस्य यस्यापि आ०, ब०, प०, स० । ४ भवतु चात्र आ०,ब०,प०,स० । ५ अन्यथानुपपत्तिबलात् । ६ तद्बलेन तर्हि स० । अन्यथानुपपत्तिबले ।

ज्ञानेऽर्थापत्तिः अन्यथानुपपत्तिबलेन चान्यदिति । तथा च न तयोरन्यतरेणाप्यर्थज्ञानविषयं तद्बलमवगतं भवति, एकत्र प्रवृत्तेनान्यस्याऽपरिज्ञानात् । न चैकेनोभयापरिज्ञाने तद्गतो विषयविषयिभावः शक्योऽवगन्तुम् ।

स्यादाकूतम्–अर्थापत्तिरन्यरूपतयोभयस्वभावमेकमेवेदं तदुभयविषयं नैकान्तभेदवत्तया प्रमाणद्वयं तद्यमप्रसङ्ग इति, तन्न, तस्य सप्तमप्रमाणत्वप्रसङ्गात् प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावात् । भवतु तद्बलेऽपि तदर्थापत्तिरूपमेवेति चेत्, न, तत्संवित्तिनिबन्धनस्य तद्बलान्तरस्याभावात् । भावे तत्र पदार्थज्ञानार्थापत्तेः प्राक्तनस्य तद्बलस्य वैफल्यं स्यात् । भवत्विति चेत्, विलुप्तस्तर्हि तदा लोकव्यवहारो विकल्पव्यवहारे प्रयोजनाभावात् । तद्बलान्तरेऽपि व्यवहारविशेषर्नातिरेक वक्तव्यः–तत्रापि 'तत्र नापरिज्ञातमेव' इत्यादेः 'विलुप्तस्तर्हि व्यवहारः' इत्यादिपर्यन्तस्य पुनर्निरूपणत्वात् । पुनरपि तद्बलान्तरे सर्वोऽपि तत्प्रसङ्गो वक्तव्य इति नानवस्थातो मुक्तिः । तन्न परतस्तत्परिज्ञानम् ।

एतेन आत्मनस्तत्परिज्ञानमिति प्रत्युक्तम् । ततोऽपि तद्विषयप्रमाणपर्यायनिरपेक्षात् तदसम्भवात्, प्रमाणकल्पनस्यैव वैफल्यप्रसङ्गात् सकलप्रमाणविषयपरिज्ञानस्यात्मन एवोपपत्तेः । तत्पर्यायसापेक्षादेव तेनतत्परिज्ञानमिति चेत्, न, तस्यार्थज्ञानादन्यत्वे तदर्थापत्तिरूपत्वस्य तद्दोषस्य च निवेदितत्वात् । अस्तु तर्हि तेनोऽर्थज्ञानरूपादेव तत्परिज्ञानमिति चेत्, न, तस्य स्वसंवेदनाभावे ततोऽपि तत्परिज्ञानासम्भवात् । यदि हि तत् परिज्ञातस्वरूपं भवति, भवत्येव ततः स्वविषयतद्बलपरिज्ञानं नान्यथा । न हि 'मद्विषयमिदमन्यथानुपपत्तिबलम्' इति परिज्ञानम् अनात्मज्ञस्य ततः सम्भवति । न चापरिज्ञातात् ततोऽर्थापत्तिरर्थज्ञानस्येति स्वानुभवप्रत्यक्षवेद्यं तदङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा तस्यानुमानिकत्वायोगादिति सूक्तम्–'अध्यक्षम्' इत्यादि ।

तदयम् 'अन्यथानुपपन्नत्वम्' इत्याद्यर्थस्य संग्रहः । स्वसंवेदनाभावे तस्यान्यथानुपपन्नत्वस्य दुरवबोधत्वमनेन प्रतिपाद्यते । तत्र 'अन्यथानुपपन्नत्वम्' इत्यादिनापि प्रतिपादितमेव–अन्यथानुपपन्नत्वम् असिद्धस्य स्वभावप्रत्यक्षाभावेऽस्य सम्बन्धि तद्गमकत्वेन न सिद्ध्यति' इति तद्व्याख्यानप्रायात् । पुनरप्युक्तस्यैवार्थस्य सोपपत्तिकं संग्रहमाह–

आन्तरा भोगजन्मानो नार्थाः प्रत्यक्षलक्षणाः ॥ १३ ॥
न धियो नान्यथेत्येते विकल्पा विनिपातिताः । इति ।

अन्तश्चेतसि भवा आन्तराः सुखादयस्ते प्रत्यक्षलक्षणाः प्रत्यक्षं लक्षणं प्रमाणं येषां ते तथोक्ताः । 'न' इति तेषां तथात्वप्रतिषेधे । कथम् ? अन्यथा तत्संवेदनस्य स्वात्मन्यप्यप्रसुत्वाभावप्रकारेण ।

---

१ स्वाङ्गीकृतम् । २ भवाप्रपुनरति । ३ अन्यथानुपपत्तिबलान्तरस्याभावात् । ४–नापरिज्ञातमेव आ०,ब०,प०,स० । ५ आत्मनः अन्यथानुपपत्तिबलपरिज्ञानमिति । ६–स्व मिति–आ०,ब०,प०,स० । ७ आत्मनः । ८ परिज्ञानम् आ०, ब०, प०, स० । ९ न्यायवि० श्लो० ११ । १० वैति आ०,ब०,प०,स० ।

तदयमत्र प्रयोगः—स्वात्मनि सुखादिसंवेदनं प्रत्यक्षम्, अन्यथा सुखादीनामपि प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। तथा हि—सुखादयः प्रत्यक्षविषयतामनुभवन्तः स्वतः, अन्यतो वाऽनुभवेयुः ? अन्यत एवेति चेत् ; तदपि तद्वेदनं नियतम्, अनियतं वा भवेत् ? नियतमेवेति चेत् ; कुत एतत् ? सुखादीनामवश्यसंवेद्यत्वात् , तदपि सत्त्वादिति चेत् ; न ; सर्वस्य सर्ववेदित्वापत्तेः, विषयान्तरसञ्चाराभावप्रसङ्गाच्च—सुखादिवत्तद्विषयस्य संवेदनस्यापि सत्त्वेन अवश्यसंवेद्यत्वात् , तथा तत्संवेदनस्यापीत्यासंसारं तत्संवेदनप्रबन्धस्यैव प्रादुर्भावान्न विषयान्तरसञ्चारः संवेदनस्य स्यात् । सति विषयान्तरसन्निधाने भवत्येव तत्र तस्य सञ्चार इति चेत्; न तर्हि सतोऽवश्यसंवेद्यत्वम्, तच्चरमसंवेदनस्य सत्त्वेऽपि तदभावात्[1] ।

अपि च, तत्संवेदनं यदि सुखादिमात्रात्; न प्रत्यक्षं स्यात् इन्द्रियसम्प्रयोगजस्य तत्त्वात्[2]। नाप्यनुमानादि ; लिङ्गादिनिरपेक्षत्वात् । अपि तु प्रमाणान्तरमेव सप्तमं भवेत् । भवत्विति चेत्; ननु तेनापि पश्चाद्भाविना तात्कालिकस्यैव सुखादेर्वेदनं न पौर्वकालिकस्य। तत्र च दोषं वक्ष्यामः। तात्कालिक एव सुखादिर्न पौर्वकालिक इति चेत् ; न; सर्वथा समानकालत्वे सुखादितत्संवेदनयोर्युवतिनयनयोरिव हेतुफलभावाभावापत्तेः । तन्न सुखादिमात्रात्तत्प्रत्यक्षम् । यदि पुनस्तन्मनःसम्प्रयोगजमेव तदिति[3] मतम्; तदपि न समीचीनम्; तत्सम्प्रयोगस्यानियमेन तत्संवेदनस्याप्यनियमापत्तेः । नियत एव तत्सम्प्रयोगे[4] इति चेत् ; न; बहिर्विषयेष्वेवमदर्शनात् । अन्तर्विषयेष्वेवमेवेति चेत्; न; सुखादिवत् तत्संवेदन-तत्संवेदनसंवेदनादिष्वपि तन्नियमेन तद्वेदनस्यापि नियमप्रसङ्गात् विषयान्तरसञ्चाराभावस्य तदवस्थत्वात् । तन्न तत्र नियतं किञ्चित् वेदनम् ।

अनियतमेव भवत्विति चेत् ; किं पुनरेवं कदाचित्सुखादेरसंवेदनमप्यस्ति ? तथा चेत्; न; तस्य भोगरूपत्वाभावापत्तेः[5], असंवेदने तदयोगात्, भोगरूपश्च सुखादिः। अत एवाह-**'भोगजन्मानः'** इति । भोगो भुक्तिर्वेदनारूपः स एव जन्म प्रादुर्भावो येषां ते तथोक्ता इति । न च स्वतोऽन्यतश्चाऽवेदने तस्य भोगरूपत्वमुपपन्नमतिप्रसङ्गात् । तथा हि—

अविज्ञातोऽपि भोगश्चेत्सुखादिः परिकल्प्यते ।
सर्वदा सुखदुःखादिभोगाक्रान्तं जगद्भवेत् ॥५७७॥

संवित्तिसमये भोगसत्त्वस्य नियमो यदि ।
स्तम्भादेः संविदः पूर्वमपि सत्त्वं कथं भवेत् ? ॥५७८॥

इत्यचोद्यं पुराभावः तत्र[6] यच्छक्यकल्पनैः[7] ।
आकारभेदनिर्णीतेर्वचनादपि तद्विदाम्[8] ॥५७९॥

प्रत्यग्रोऽयं पुराणो वा गृहस्तम्भादिरित्यलम् ।
जानन्त्येव तदाकारदर्शनादेव देहिनः ॥५८०॥

---

१ अवश्यसंवेद्यत्वाभावात् । २ प्रत्यक्षत्वात् । ३ सुखादिसंवेदनम् । ४ मनःसम्प्रयोगः । ५–त्तेः संवित्त्या०, ब०, प०, स० । ६ स्तम्भादौ । ७–ल्पना आ०, ब०, प०, स० । ८ तद्विधाम् आ०, ब०, प०, स० ।

यत्राप्याकारवैशिष्ट्यं न स्वतः सम्यनिर्णयम् ।
तत्रापि तद्विवेकः स्यात्तद्विदां वचनक्रमात् ॥५८१॥
नैवं भोगपुरःसत्त्वमाकाराच्छब्दपेक्षणम् ।
तथाप्रतीतिवैधुर्यादविगानपदं गतात् ॥५८२॥
न चैकात्मसुखादीनां द्रष्टा कश्चिदिहापरः ।
यतस्तद्वचनाद्येषां पूर्वभावः प्रतीयताम् ॥५८३॥
तस्मादविदितो भोगः क्षणेऽपि यदि सम्भवेत् ।
सर्वदा तेन तस्यास्य दुर्निवारं प्रसज्यते ॥५८४॥
अग्निहोत्राद्यनुष्ठानं स्वर्गभोगाय तत्कृया ।
नित्यसिद्धे हि तद्भोगे किं निमित्तव्यपेक्षया ॥५८५॥
तदभिव्यक्तये तच्चेदनुष्ठानमभीप्सितम् ।
इन्द्रियज्ञानमप्येवं तद्बोधोऽभ्येत्यमिष्यताम् ॥५८६॥
यत् 'बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्' इति सूत्रस्थितिः कथम् ? ।
जन्मश्रुतिर्यतो लोके नास्त्यभिव्यक्तिवाचिनी ॥५८७॥
तत्रापि व्याप्त्यभिव्यक्तेत् सर्वकार्यं तथा भवेत् ।
ततः सांख्यमतं तच्च यथास्थानं निषेत्स्यते ॥५८८॥
तस्मादप्रतिपन्नस्य न यथा सर्वकालता ।
भोगस्य क्षणकालत्वमपि नैव प्रकल्प्यताम् ॥५८९॥

भवतु तर्हि संवित्तिसमय एव सुखादिरिति चेत्, तथापि कथं तस्याभिन्नरूपत्वे भोगरूपत्वं सुखकारत्वम् ? अचेतनत्वेऽपि यथा किञ्चिन्नीलं धवलञ्च किञ्चित्, तथा किञ्चिदनुग्रहरूपं पीडारूपं किञ्चित् किमिति विरुद्धम्, यतोऽचेतनमपि भोगरूपं न भवतीति चेत् ? न सारमेतत्, नीलादिवद्भोगस्यापि साधारणत्वप्रसङ्गात् । अचेतनं हि नीलादि देवदत्तमिव अन्यान् प्रत्यपि नीलमेव न पीतादीनामन्यतमम्, एवमचेतनो भोगोऽपि किञ्चिदिव सर्वान् प्रत्यपि भोग एव स्यान्नाऽभोगः । तथा च–

भोगेनैकेन सर्वेषां भोगवत्त्वं तनुभृताम् ।
दुर्निवारप्रसङ्गं स्यात्तद्भोगविदां मते ॥५९०॥
यो येन वेद्यते भोगो भोगी तेन स एव चेत् ।
अन्येन वेदने तस्य सोऽपि स्यात्तेन भोगवान् ॥५९१॥
अन्येन तस्य वित्तिश्चेत् देहान्तर्गतत्वतः ।
देहान्तर्गत एवास्य किन्न स्यात्तत्प्रवेदकः ? ॥५९२॥

१ तद्भेदात् ता० । २ तत्र तस्य–ता०, ब०, प०, स० । ३ "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।"–मी० सू० १।१।४ । ४ जन्मश्रुतिः ।

आत्मधर्मत्वतस्तस्य[1] यद्यन्येनाप्रवेदनम् ।
अचेतनः कथन्नाम तद्धर्मो मृद्विकारवत् ॥५९३॥
तद्धर्मत्वेन[2] वा मा भूत्तस्याध्यक्षेण वेदनम् ।
अनुमानेन तद्वित्तिः, परस्यापि कथन्न वः ॥५९४॥
ततोऽनुमानवेद्येन [3]भोगेनैकस्य कस्यचित्[4] ।
तदन्यस्यापि भोगित्वं निर्विवादमुपस्थितम् ॥५९५॥
[5]सामान्यमनुमावेद्यं तच्चाह्लादाद्यनात्मकम् ।
नास्ति तत्तेन[6] भोगित्वं परस्येत्युपकल्पने ॥५९६॥
सामान्यं यदि तद्वस्तु ह्लादाद्यात्मैव तन्न किम् ? ।
अवस्तु यदि ; तज्ज्ञानं प्रमाणमनुमा कथम् ? ॥५९७॥
विशेषाग्रहणे तच्च सामान्यं गृह्यते कथम् ? ।
न ह्यविज्ञातखण्डादेर्गोत्वं शक्यप्रवेदनम् ॥५९८॥
विशेषग्रहणे सिद्धं भोगित्वमनुमावतः ।
विशेषस्यापि सामान्यरूपेण ग्रहणान्न[7] चेत्[8] ॥५९९॥
कथं [9]तस्यान्यरूपेण ग्रहणम् ? यदि विभ्रमात् ।
विभ्रान्तस्य प्रमाणत्वमनुमानस्य तत्कथम् ? ॥६००॥
[10]तस्य सामान्यतादात्म्यात्तद्रूपेण[11] प्रवेदने ।
प्रत्यक्षेणापि [12]तस्यास्तु तथैव[13] प्रतिवेदनम् ॥६०१॥
[14]अन्यथा [15]तेन [16]तद्वित्तौ भ्रान्तिः प्रत्यक्षमाश्रयेत् ।
तज्जगन्मान्यमानत्वगौरवक्षयकारिणी ॥६०२॥
प्रत्यक्षानुमयोरेवमभिन्ने विषयग्रहे ।
भोगाध्यक्षीव भोगी स्यात्किन्न भोगानुमानकृत् ? ॥६०३॥

स्यान्मतम्–स्पष्टोपलम्भविषय एव भोगः परितोषादिनिबन्धनं तदुपलम्भश्च प्रत्यक्षत एव नानुमानात्, तस्य अस्पष्टप्रतिभासत्वात् । न चापरितोषादिकारिणा भोगेन भोगवत्त्वं तदनुमानवतस्तदयमप्रसङ्ग इति; तन्न; अस्पष्टोपलम्भविषयस्यापि मनोज्ञादिरूपस्य परितोषादिकारित्वोपलम्भात् । 'अन्यभोगस्यात्मीयत्वेनाप्रतिपत्तेर्न तेन परितोषादिः' इत्यप्यनेन प्रतिविहितम्; नवयुवतिवदनकमलकमनीयरूपादेरनात्मीयत्वेन दर्शनेऽपि परितोषाद्युपलम्भात् । प्रतिपत्तिविषयोऽपि [17]कुतश्चिददृष्टशक्तिवशात् कश्चिद्भोगः कस्यचिदेव परितोषादिहेतुर्न तदपरस्येति चेत् ; उच्यते–

१ भोगस्य । २– न मा वा भू –ता० । आत्मधर्मत्वेन । ३ भोगेनैकेन क–आ०, ब०, प०, स० । ४ भोगित्वे स्वीक्रियमाणे । ५ भोगत्वादिरूपम् । ६ अनुमानवेद्येन भोगसामान्येन । ७ ग्रहणं न चेत् आ०, ब०, प०, स० । ८ भोगित्वं परस्य । ९ विशेषस्य सामान्यरूपेण । १० विशेषस्य । ११ सामान्यरूपेण । १२ विशेषस्य । १३ सामान्यरूपेण । १४ सामान्यरूपेण । १५ प्रत्यक्षेण । १६ विशेषज्ञाने । १७ कुतश्चिद्दृष्ट–आ०, ब०, प०, स० ।

भोगः स्वयं यदि परितोषाद्यात्मा तदा तेनैव तदपरपरितोषाद्यकरणेऽपि प्रत्यक्षभोगप्रतिपत्तिमत्त्व इवानुमानभोगप्रतिपत्तिमतोऽपि परितोषादिमत्त्वोपपत्तेः कथम् कस्यचिद्भोगेन तदपरस्यापि [1]भोगवत्त्वं भवेत् ? परितोषाद्यात्मत्वेऽपि [2]तस्यादृष्टवशात् कस्यचिदेव नापरं प्रतीति चेत्, कुत एतत् ? केनचिदेव [3]तस्य [4]तद्रूपेण प्रतिपत्तेरिति चेत्, न, परेणापि तस्य तद्रूपेणैव प्रतिपत्तेः । रूपान्तरेण प्रतिपत्तिस्तु न तत्प्रतिपत्तिः अतिप्रसङ्गात् । रूपान्तरमपि तस्मादभिन्नमेवेति चेत्, व्याहतमेतत्–'तदन्तरञ्च तदभिन्नं च' इति । [5]भेदैकान्तानुपगमवादेऽप्येवं, एवमपि तत्प्रतिपत्तौ यदि न परितोषादिमत्प्रतिपत्तिः, अप्रतिपन्न एव परसुखादिर्भवेत् परितोषादिनैव तस्य सुखादित्वोपपत्तेः, अन्यथा सत्त्वादिमात्रेणापि [6]तत्त्वप्रसङ्गात् । तदात्मना तत्प्रतिपत्तौ तु कथम् परोऽपि परितोषादिमान् यतः कस्यचिद्भोगेन परोऽपि तद्वान् भवेत् ? तन्न स्वयं परितोषाद्यात्मत्वे भोगस्य प्रत्यात्मं तद्व्यतिनियमः ।

स्वयं [7]वेदनात्मकत्वे तु कथं तस्य भोगत्वम् ? परितोषादिकरणादिति चेत्, न, स्रक्चन्दनादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् तेनापि तत्करणात् । अस्त्येवोपचारात्तस्यापि [8]तत्त्वमिति चेत्, उपचार इति कुतः ? स्वयमपरितोषादिरूपत्वादिति चेत्, न, तत एव सुखादेरप्युपचारत एव तत्त्वापत्तेः । न चैवम्, तस्य स्वत एव भोगत्वेन सर्वप्रमाणभुवां प्रसिद्धत्वात् । एतदर्थञ्च 'भोगजन्मानः' इति वचनम् । [9]तस्योपचारभोगत्वे वा मुख्यो भोगो वक्तव्यः, तेन[10] विना उपचारस्यासम्भवात् । तत्कृतपरितोषादिर्मुख्य इति चेत्, सोऽपि यद्यर्थान्तरज्ञानविषयतया कस्यचिद्भोगः, तदपरस्यापि स्यात्, तेनापि तत्परिज्ञानाविशेषात् [11]तदविशेषेऽपि [12]तस्य परितोषाद्यात्मत्वम् अदृष्टवशात् कस्यचिदेव नापरं प्रतीति चेत्, न, तत्रापि 'कुत एतत्' इत्याद्यनुपर्यायानुवृत्तिदोषस्यानतिवर्तनस्य प्रसङ्गात् । तन्न परतः सुखादीनां प्रत्यक्षत्वानुभवनमुपपन्नम्, [13]प्रत्यात्मं तन्नियमाभावप्रसङ्गात् ।

अस्तु तर्हि स्वत एव तेषां[14] तदनुभवनमिति चेत्, अपरोक्षं तर्हि तद्वेदनं वक्तव्यम्, अन्यथा [15]तदनर्थान्तरत्वेन तेषामपि परोक्षत्वेन ततो हर्षाद्यनुदयप्रसङ्गात् । वक्ष्यति चैतत् 'सुख-दु:खादिसंवित्तेः' इत्यादिना[16] । ततः सूक्तमिदम्–'सुखादिवेदनम् आत्मनि प्रत्यक्षम् अन्यथा सुखादीनामपि प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः' इति ।

पुनरप्यात्मनि ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमुपपादयतीति–प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानम् । कुत एतत् ? अर्थाः प्रत्यक्षलक्षणाः नान्यथा इति । अन्यथा ज्ञानस्यात्मनि स्वतः प्रत्यक्षत्वाभावप्रकारेण अर्थाः नीलपीतादयः प्रत्यक्षलक्षणाः प्रत्यक्षप्रमाणाः न भवेयुः । यदि

1 –गतं आ०, ब०, प०, स० । 2 तस्यादृष्टवशात् किञ्चिदेव आ०, ब०, प०, स० । 3 भोगस्य । 4 परितोषादिरूपेण । 5 भेदैकान्तानभ्युप– आ०, ब०, प०, स० । 6 सुखादित्व । 7 तदात्मकत्वे आ०, ब०, प०, स० । परितोषाद्यात्मकत्वे । 8 भोगत्वम् । 9 सुखादेः । 10 सुखादेः । 11 मुख्येन । 12 तदपि विशेषेऽपि तस्य परि– आ०, ब०, प०, स० । 13 सुखादेः । 14 प्रत्यात्मं नि– आ०, ब०, प०, स० । 15 सुखादीनाम् । 16 परोक्षज्ञानाभिन्नत्वेन । 17 न्यायवि० श्लो० 114 ।

भवेयुः को दोष इति चेत् ? तल्लक्षणत्वापरिज्ञानमेवेति ब्रूमः । [1]तल्लक्षणत्वं हि तेषां[2] स्वतः, परतो वा परिज्ञायते ? न तावत् स्वतः ; तस्यार्थधर्मत्वाभावप्रसङ्गात् । अर्थधर्मत्वे हि [3]तस्यार्थस्यापि स्वतः परिज्ञेयत्वं भवेत् धर्मधर्मिणोरभेदनयाभ्यनुज्ञानात् । न चैवम्, अतो न तस्यार्थधर्मत्वम् । नापि ज्ञानधर्मत्वम् ; ज्ञानस्यापरोक्षत्वापत्तेः, स्वतः परिज्ञानविषयत्वेनापरोक्षात् [4]तल्लक्षणत्वादव्यतिरेकात् । तद्धर्मत्वे[5] वा तेन कथमर्थस्तल्लक्षणो भवेत् अतिप्रसङ्गात् । तेनापि[6] तस्य तल्लक्षणत्वकरणादिति चेत् ; न ; तस्यापि प्राच्यवत् ज्ञानधर्मत्वात्, तेनाप्यर्थस्य तल्लक्षणत्वानुपपत्तेः । पुनस्तेनापि[7] तस्यापरतल्लक्षणत्वकरणे परिनिष्ठाभावप्रसङ्गात् । एतेन तस्यात्मधर्मत्वं प्रतिविहितम् ; समानत्वान्न्यायस्य । तन्न स्वतस्तस्य परिज्ञानम् । परत इति चेत् ; किं तत्परम् ? अर्थज्ञानादन्यदेव ज्ञानमिति चेत् ; कुत एतत् ? तत्कृतस्य परिज्ञेयत्वस्य तत्र दर्शनादिति चेत् ; न ; तस्य स्वतो दर्शने पूर्ववद्दोषात् । परतो दर्शने 'किं तत्परम् ?' इत्यादिप्रसङ्गस्यानिवृत्तेरव्यवस्थापत्तेः । एतेन 'आत्मा परः' इति प्रत्युक्तम् ; अनवस्थादोषस्याविशेषात् ।

अर्थज्ञानादेव तत्परिज्ञानमिति चेत् ; [10]तेनापि [11]यद्यतत्कृतत्वेन तत्परिज्ञानम् ; भ्रान्तमेव तद्भवेत् ;अर्थानां तल्लक्षणत्वस्य [12]तत्कृतत्वात् ,तस्य चान्यथा[13] तेन[14] परिज्ञानात् । तत्कृतत्वेन तु तेन तत्परिज्ञाने सिद्धं तस्य[15] स्वतः प्रत्यक्षत्वम् ,अन्यथा तत्कृतस्य तल्लक्षणत्वस्य तेन परिज्ञानायोगात् । न हि तदेवाजानतः शक्यं [16]तत्कृतत्वपरिज्ञानम् । अपरिज्ञातं[17](परिज्ञातं) तल्लक्षणत्वमेव [18]तेषां मा भूदिति चेत् ;कथमिदानीं [19]यागाद्यङ्गत्वेन तेषां स्वर्गादिसुखादिभोगहेतुत्वम्, अतल्लक्षणानां[20] तदङ्गभावस्य कर्तुमशक्यत्वात् ? भोगहेतवश्चार्थाः परस्याप्यभिमताः । तत एवाह–**'भोगजन्मानः'** इति । भोगस्य स्वर्गसुखादेर्जन्म येभ्यस्ते **भोगजन्मानो**ऽर्थाः इति । ततोऽवश्यम्भाविनि तेषां तल्लक्षणत्वे तत्परिज्ञाने च तदन्यथानुपपत्तिबलादेव स्वतः प्रत्यक्षमर्थज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । अतश्च तत्तथाऽभ्युपगन्तव्यम्–**न,** यतः **अन्यथा** तथा तदभ्युपगमाभावप्रकारेण **धियो**[21] बुद्धयः । बुद्धय एव कीदृश्यः ? **प्रत्यक्षलक्षणाः** । प्रत्यक्षस्य लक्षणं सत्सम्प्रयोगजत्वं तद्विद्यते आसामिति तल्लक्षणाः, सत्त्वर्थीयाकारप्रत्यये सति एवंरूपत्वात्, प्रत्यक्षबुद्धय इति यावत् । कुतस्ता न भवन्तीति चेत् ? प्रमाणाभावात् । यद्यपि न प्रत्यक्षं तत्र प्रमाण[मनुमान]मस्त्येवेति चेत् ; न ; तस्य **'विषयेन्द्रिय'**इत्यादिना[22] निषेधात् । मा भूवन् तर्हि तद्धिय इति चेत् ; न ; तासामर्थपरिच्छेदरूपं भोगं प्रति हेतुत्वविरोधात्, असतीनां गगनकुसुमस्रजामिव तद्योगात्, तद्धेतवश्च ताः । तदाह–**'भोगजन्मानः'** इति । व्याख्यातमेतत् ।

---

१ प्रत्यक्षलक्षणत्वम् । २ नीलधवलादीनाम् । ३ प्रत्यक्षलक्षणत्वस्य । ४ प्रत्यक्षलक्षणत्वात् । ५ ज्ञानधर्मत्वे । ६ ज्ञानधर्मेण प्रत्यक्षलक्षणत्वेनापि अर्थस्य अपरप्रत्यक्षलक्षणत्वकरणादिति चेत् ; । ७ अपरप्रत्यक्षलक्षणत्वेनापि । ८ तत्परमार्थज्ञा–आ०,ब०,प०,स० । ९ प्रत्यक्षलक्षणत्वपरिज्ञानम् । १० अर्थज्ञानेनापि । ११ अर्थाकृतत्वेन । १२ अर्थकृतत्वात् । १३ अतत्कृतत्वेन रूपेण । १४ अर्थज्ञानेन । १५ अर्थस्य । १६ तत्कृतपरि–आ०,ब०, प०, स० । १७ अपरिज्ञानं त–आ०, ब०, प०, स० । १८ अर्थानाम् । १९ योगाद्य–आ०, ब०, प०,स० । २० प्रत्यक्षलक्षणत्वशून्यानाम् । २१ –यो बुद्धय एव ता० । २२ न्यायवि० श्लो० १६ ।

तस्माद्वस्त्वन्तरभाविन्यर्थपरिच्छेदे सत्य एव तद्बुद्धयो वक्तव्याः । तत्र च स्वानुभवप्रत्यक्षमेव प्रमाणम् अनुमानस्यापि तदाश्रयीयकत्वात् । वक्ष्यति चैवम् 'तावत्' इत्यादिना । ततः स्वात्मनि तत्प्रत्यक्षमेधा एव प्रत्यक्षधियो वक्तव्याः । **इति एवम् एते अनन्तरोक्ता विकल्पाः** भेदाः सुखादयो नीलादयश्च बुद्धयश्च ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वे प्रत्यक्षलक्षणा न भवन्तीति निर्धार्य **विनिपातिताः** निराकृताः **'परोक्ष'** इत्यादिकारिकार्धेन, तेनाप्यस्यैवार्थस्याभिधानात् । तदनेन तदर्थस्यैवार्थं सङ्ग्रह इति दर्शयति ।

यत्पुनरेतत्—मा भूत् सुखादीनां प्रत्यक्षत्वमिति । तत्राह—

सुखदुःखादिसंवित्तेरवित्तेर्न हर्षादयः ॥ १४ ॥ इति ।

सुखदुःखादीनां संवित्तेः परोक्षत्वेन यदि **अवित्तिः** तदा तेषामपि[5] तदनर्थान्तरत्वात्, तदनर्थान्तरत्वेऽप्यर्थवेदनोक्तन्यायेनावित्तिरेवेति कथं तेभ्यो **हर्षादयः** कस्यचित्, अतिप्रसङ्गात् ? हर्षादय इति संयोगपरत्वेऽपि न पञ्चमस्य लघुत्वहानिः, कश्चिच्छन्दोविधिविवेदिनां तदङ्गीकारात् "कोपनिपण्णस्य प्रकृतिमलिनस्य"[ ]इतिवत् । प्रत्यक्षेण तेषामवेदनेऽप्यनुमानेन वेदनात्तेभ्यो हर्षादय इति चेत्, न, तस्यैवासम्भवात् लिङ्गाभावात् । सुखादीनां परिच्छेद एव लिङ्गमिति चेत्, न, तद्बुद्ध्यसिद्धौ तदसिद्धत्वस्योक्तत्वात् ।

अभ्युपगम्याप्याह—

आनुमानिकभोगस्याप्यन्यभोगाविशेषतः । इति ।

अनुमानेन यो गृह्यते भोगः सुखाद्यनुभवस्तस्य **अपि** शब्देन तदभ्युपगमं दर्शयति, पुरुषान्तरभोगाविशेषात् न ततो हर्षादय इति । तथा हि—न विवक्षितो भोगो हर्षादिहेतुः आनुमानिकत्वात् आत्मान्तरभोगवत् । पुत्रादिभोगेन व्यभिचारः साधनस्य तस्यानुमानिकत्वेऽपि पित्रादेर्हर्षादिकारणत्वादिति चेत्, न, असिद्धत्वात् । न हि तस्य तद्भोगानुमानादेव हर्षादयः, अपि तु तदनुमाने सति स्नेहपरवशस्य स्वयमेव स्वानुभवसंवेद्यभोगरूपेण परिणामात्, अन्यथा वैरीभूतपुत्रादिभोगानुमानादपि तस्य[7] तत्प्रसङ्गात् । ततो न सुखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वं न्याय्यम् ।

इतश्च न तथाप्यमित्याह—

तावत्परत्र "शक्योऽयमनुमातुं कथं प्रियम् ॥ १५ ॥

यावदात्मनि तत्रोत्तासम्बन्धं न प्रपद्यते । इति ।

परोक्षज्ञानवादिनोऽपि[10] मीमांसकस्य परबोधप्रतिपत्तिरप्रत्यक्षतया[11] प्रबन्धविधोपदेशादेरन्यथानुपपत्तेः । न च परबोधस्य प्रत्यक्षतो वित्तिः, "अनिन्द्रियसम्प्रयोगात् । अनुमानतस्तद्वित्तिस्तु लिङ्गतत्सम्बन्धपरिज्ञानसव्यपेक्षा । न चाप्रत्यक्षे बोधे तत्सम्बन्धो लिङ्गस्य

---

१ न्यायवि॰ श्लो॰ १४ । २ –शोऽय एव आ॰, ब॰, प॰, स॰ । ३– चार्थ मिथ–आ॰, ब॰, प॰, स॰ । ४ न्यायवि॰ श्लो॰ १० । ५ सुखदुःखादीनामपि । ६ समभावरम्य इत्यादि । ७ पित्रादेः । ८ –सुखादि भवदि–आ॰, ब॰, प॰, स॰ । ९ पित्रादेः । १० इत्यादि । ११ परबोधम् आ॰, प॰, प॰, स॰ । १२ –मी मी–आ॰, ब॰, ब॰, स॰ । १३ –न्य तत्र च चादि–आ॰,ब॰,प॰,स॰ । १४ इन्द्रियसम्प्रयोगाभावात् ।

शक्यपरिज्ञानः, ततो **यावत् असौ आत्मनि** प्रत्यक्षत एव बोधपूर्वत्वं व्याहारादेर्न प्रतिपद्येत न तावत्पुरुषान्तरबोधमनुमातुमर्हतीति कथमस्य परार्थं किमपि चेष्टितमिष्टं भवेत् ? आत्मन्यपि बोधमनुमिमान एव तत्पूर्वकत्वं व्याहारादेरवगच्छतीति चेत् ; तदनुमानं यदि तस्मादेव लिङ्गात् ; तदा 'ततः सम्बन्धपरिज्ञानम्, परिज्ञातसम्बन्धाच्च लिङ्गात्तत्' इति सुव्यक्तमुभयथा प्रक्लृप्तिनिबन्धनमन्योन्याश्रयणम्। अन्यत एव लिङ्गात्तदिति चेत् ; न ; तत्सम्बन्धस्याप्यन्यतोऽनुमानादवगमः, तदपि लिङ्गात्, तत्सम्बन्धस्यापि तदनुमानादवगम इत्यनवस्थादोषात्। तन्नात्मनि बोधज्ञानमनुमानात्, लिङ्गाभावाच्च। तदाह–

विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षणः ॥ १६ ॥

अहेतुरात्मसंवित्तेरसिद्धेर्व्यभिचारतः । इति ।

आत्मनि बोधानुमाने हि विषयेन्द्रियादीनामन्यतमस्यैव लिङ्गत्वं सम्बन्धसम्भवात्, नापरस्य विपर्ययात्। तत्र न तावद्विषयेन्द्रियान्तःकरणानां लिङ्गत्वम् ; तेषां बोधं प्रति हेतुत्वेन व्यभिचारसम्भवात्। अप्रतिबद्धशक्तित्वेनाव्यभिचार एवेति चेत्; न; कार्यादर्शने[6] तस्यैवापरिज्ञानात्। विद्युदादिचरमक्षणस्य तददर्शनेऽपि तत्परिज्ञानमिति चेत्; सत्यम्; सजातीयकार्यापेक्षया तत्सत्त्वादेव तत्परिज्ञानं तस्य [10]ना(तन्ना)न्तरीयकत्वात्, [11]अन्यथा तत्सन्तानस्यैव अवस्तुत्वापत्तेरित्युत्तरत्र विस्तरविधानात्। न चैवं विजातीयकार्यापेक्षयापि ततस्तत्परिज्ञानं बहुलं [12]तदभावेऽपि भावसत्त्वस्योपलम्भात्। विजातीयञ्च कार्यं विषयादीनां बोधस्तत्कथं तत्र[13] [14]तेषामप्रतिहतशक्तिकत्वमिति सम्भवद्व्यभिचारत्वान्न लिङ्गत्वम्। असिद्धत्वाच्च। असिद्धा हि विषयादयः परोक्षज्ञानवादिनाम्, तदपरिज्ञानस्य निवेदितत्वात्।

एतेन विज्ञानस्यापि तत्रालिङ्गत्वमुक्तम्; स्वत एव परोक्षज्ञानवादिनां [15]तदसिद्धत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात्। किं पुनरिदं विज्ञानं नाम ? स एव साध्यो बोध इति चेत्; न; तत्र लिङ्गत्वसम्भावनस्याप्यसम्भवात्। न हि साध्यमेव कश्चिदनुन्मत्तो लिङ्गं सम्भावयति अनित्यत्ववत्। सति तत्सम्भावने तत्र दूषणवचनम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अर्थापत्तिरनुमानं वा विज्ञानमिति चेत्; न; तद्द्वयस्यापि [16]तद्विषयत्वे [17]तत्रापि [18]तत्सम्भावनाऽभावात्, [19]प्रत्यक्षेऽपि प्रसङ्गात् न कश्चित्प्रत्यक्षवेद्यो भावः [20]स्यात्। अतद्विषयत्वे[21] तदुद्भवानुमाने तत्सम्भावनप्रसङ्गः[22] तथा तत्प्रभवानुमानेऽपीति न कचिद्व्यवस्थितिर्यतोऽनुमानवेद्यो बोधो भवेत्। ततो दूरमनुसृत्यापि यदि तस्य स्वतस्तद्विषयत्वान्न [23]तत्सम्भावना, आद्यस्यापि न स्यादविशेषात्, इति नार्थापत्त्या-

१ लिङ्गादिति आ०, ब०, प०, स०। २ –स्यान्य–आ०, ब०, प०, स०। ३ –गमनं त–आ०, ब०, प०, स०। ४ –क्तिकेनाव्य–आ०, ब०, प०, स०। ५ अप्रतिबद्धशक्तिकत्वस्यैव। ६ कार्यादर्शनेऽपि। ७ कार्यसत्त्वादेव। ८ अप्रतिबद्धशक्तित्वपरिज्ञानम्। ९ कार्यस्य। १० अप्रतिबद्धशक्तिकत्वाविनाभावित्वात्। ११ चरमक्षणस्य कार्यकर्तृत्वाभावे। १२ विजातीयकार्याभावेऽपि। १३ बोधे। १४ विषयादीनाम्। १५ विज्ञानासिद्धत्वस्य। १६ स्वस्वरूपविषयत्वे। १७ साध्यात्मकबोधेऽपि। १८ लिङ्गत्वसम्भावनाऽभावात्। अर्थापत्त्यनुमानयोरपि बोधस्यापि ज्ञानत्वेन स्वरूपविषयत्वादिति भावः। १९ स्वरूपविषयत्वेन प्रत्यक्षत्वेऽपि लिङ्गसम्भावनायाम्, सर्वत्र प्रत्यक्षविपर्यासभूतेऽर्थे। २० सर्व एव अनुमेयः स्यादिति भावः। २१ स्वस्वरूपाविषयत्वे। २२ यतः तस्य स्वरूपाविषयत्वात्। २३ लिङ्गसम्भावना।

दिकमपि विज्ञानम् । साध्यज्ञानादुत्तरज्ञानस्यैव तत्त्वोपपत्तेः तत्र सम्बन्धसम्भवेन तत्सम्भावनस्य सम्भवात् । आदिशब्देन अनुक्तपरिग्रहः । अनुक्तश्च परिच्छिन्नो विषयः, तत्परिच्छेदो[1] वा स्यात् ? । सोऽपि आत्मसम्वित्तेः मीमांसकज्ञानस्य अहेतुः अगमकः इत्याह–

असिद्धसिद्धि(द्धे)रप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत् ॥ १७ ॥

सिद्धम् [तत्किमतो ज्ञेयं सैव किन्नानुपाधिका ।] इति ।

परिच्छिन्नस्य विषयस्य तत्परिच्छेदस्य वा नापरिज्ञातस्यैव तद्धेतुत्वम्, अतिप्रसङ्गात् । न चापरिज्ञातज्ञानस्तद्विषयः तत्परिच्छेदो वा 'परिज्ञात' इत्युपपन्नम्, 'अखिलं जगत्परिज्ञातम्' इत्यप्युपपत्तेः । परिज्ञायत एव स्वतो मुख्यतोऽर्थविशेषणत्वेन वा तत्परिच्छेद इति चेत्, सोऽपि यदि ज्ञानधर्मः, तत्राह–'तत्किमतो ज्ञेयम्' इति । तत् अर्थज्ञानम् अतः परिच्छेदात् किम् नैव ज्ञेयम् अनुमातव्यम्, परिच्छेदपरिज्ञानादेव तदनर्थान्तरत्वेन ज्ञानस्यापि स्वत एव परिज्ञातत्वादिति भावः । भवतु चार्थस्यैव धर्म इति चेत्, आह–सैव किन्नानुपाधिका ? सैव परिच्छित्तिरेव सिद्धिशब्दवाच्या किं न भवत्येव अनुपाधिका विषयज्ञानविशेषणशून्या ? परिच्छित्तेः स्वतः प्रत्यक्षायाः अव्यतिरेकेणार्थस्यापि तत एव प्रत्यक्षत्वात् विपक्षमेव ज्ञानम्, अतो विरुद्धो हेतुः, ज्ञानसाधनाय प्रयुक्तेन तदभावस्यैव साधनादिति तात्पर्यम् । तदयं 'परोक्षज्ञान' इत्यादेः संग्रहः ।

तदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह–

एतेन येऽपि मन्येरन्नप्रत्यक्षं धियोऽपरम् ॥ १८ ॥
संवेदनं न तेभ्योऽपि प्रायशो दत्तमुत्तरम् । इति ।

एतेन परोक्षेत्यादिना मीमांसकदूषणेन तेभ्योऽपि नाऽदत्तं किन्तु दत्तमेवोत्तरम् । कथम् ? प्रायशो बाहुल्येन, परस्याप्युत्तरस्य वक्ष्यमाणत्वात् । सर्वात्मना तद्दाने तदनुपपत्तेः । तेभ्यो येऽपि सांख्या मन्येरन् । किम् ? संवेदनम् चैतन्यम् । कीदृशम् ? अप्रत्यक्षम् प्रत्यक्षस्य प्रमाणविशेषत्वात्, प्रामाण्यस्य च चित्तधर्मत्वात्, चित्ताच्च संवेदनस्य भिन्नत्वेन प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । अत एवाह–धियो व्यवसायात्मिकाया बुद्धेः अपरं भिन्नमिति । तस्य चेमत्र परोक्षसंवेदनेन यदि बुद्धिप्रतिबिम्बितार्थानुभवन विषयानुभवनमेव किन्न स्यात् यतो न मीमांसकमतम् ? आक्षेपसमाधानयोरुभयत्रापि समानत्वादिति । एते सङ्ग्रहश्लोकाः ।

नैयायिकस्त्वाह–अर्थप्रकाशनमेव ज्ञानं नात्मप्रकाशनं तत्सिद्धावुपायाभावात् । अर्थप्रकाशनमेव तत्रोपायः तस्य तदन्तरेणानुपपत्तेः । अत एव कस्यचिद्वचनम्–"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति ।" [　　　　　] इति । इति चेत्, केयमर्थदृष्टेः प्रसिद्धिः–किमुत्पत्तिः, आहोस्विदुपलब्धिः ? कथोपलम्भोऽपि यस्याप्रत्यक्षत्वे सत्यर्थदृष्टिर्न प्रसिध्यति–किं

१ विरुद्धोपपत्तेः । २ विषयपरिच्छेदः । ३ 'प्रायशः' इति बचमानुपपत्तेः । ४ 'अभवानुपपन्नत्वम्' इत्यारभ्य 'एतेन येऽपि' इत्यन्तग्रन्थो संग्रहश्लोक, 'परोक्षज्ञानविषय' इत्यादिकस्य अर्थस्य एभिः संग्रहात् । ५ आत्मप्रकाशने । ६ अर्थप्रकाशनस्य । ७ आत्मप्रकाशनं विना । ८–प्यतीति सैव आ०, ब०, प०, स० ।

सैवार्थदृष्टिः, उत तज्जनकं ज्ञानमिति ? तत्र यद्यभिमतिः सैवार्थदृष्टिरुपलम्भः, तस्याप्रत्यक्षत्वे सत्युत्पत्तिर्न सम्भवतीति; तदयुक्तम्; उत्पादे सति पश्चादर्थदृष्टेः प्रत्यक्षत्वं युक्तं न पूर्वमेव, अन्यथा अतिप्रङ्गात् । अथ अर्थदृष्टिजनकं ज्ञानमुपलम्भः, तस्याप्रत्यक्षत्वेऽर्थदृष्टिर्नोत्पद्यते इति; तदयुक्तम्; चक्षुरादिवदप्रत्यक्षस्याप्युत्पादकत्वसम्भवात्, तीव्रस्पर्शादिना सुषुप्तप्रबोधे पूर्वज्ञानासंवेदनात् । अथार्थदृष्टेः प्रसिद्धिरुपलब्धिः; तदाप्ययं स्याद्वाक्यार्थो भवति–अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थोपलम्भः प्रत्यक्ष इति । न चानेन किञ्चित्साधितं–भवति । अथ दृश्यत इति दृष्टिः अर्थ एव, ततश्चाप्रत्यक्षोपलम्भास्यार्थोऽपि प्रत्यक्षो न भवतीत्यं वाक्यार्थः; न; उपलम्भादर्थान्तरत्वात् । न चैकस्याप्रत्यक्षत्वेन अन्यस्याप्यप्रत्यक्षत्वम् ; अतिप्रसङ्गात् । अथोपलम्भस्याप्रत्यक्षत्वे सति अर्थो दृष्ट इत्येवम्प्रतीतिर्न भवतीत्यभिमतमेतदस्माकम्, नागृहीतं विशेषणं विशिष्टप्रतीतौ निमित्तम् । न च सर्वत्र दर्शनविशिष्ट एवार्थो गृह्यते । न हि 'शुक्लो गच्छति गौः' इत्यत्र गोदर्शनमनुभूयते, अपि तु गुणक्रियाविशिष्टो गौरेवानुभूयते । ततो नार्थदर्शनस्य स्वसंवेदनसिद्धावुपायत्वम् , अन्यथानुपपत्तिवैधुर्यादिति । तदेतत् व्यामोहविजृम्भितं भासर्वज्ञस्य ; स्वप्रकाशनाभावे ज्ञानस्य विषयनियमानुपपत्तेः 'नार्थदृष्टिः' इति निवेदनात् । न ह्यस्वप्रकाशस्य तस्य 'अयमेव विषयो नान्यः' इति शक्योपपादनम् । तत्कारणस्य विषयप्रतिनियमात् तस्यापि तन्नियमः, प्रतिनियतविषयं हि तत्कारणम् इन्द्रियसन्निकर्षादिकम्, अतस्तदुपजनितं ज्ञानमपि प्रतिनियतविषयमेवेति चेत् ; कुतः कारणस्य तन्नियमः ? ज्ञानस्य तन्नियमादिति चेत्; न; परस्पराश्रयस्य सुव्यक्तत्वात् । कारणस्य तज्ज्ञानादेव तन्नियम इति चेत् ; न; तस्याप्यस्वप्रकाशस्य तन्नियम एव विषयो नातन्नियम इत्यशक्योपपादत्वात् । तत्कारणस्य तद्विषयनियमात्तस्यापि तन्नियम इति चेत् ; न; 'कुतः कारणस्य तन्नियमः' इत्याद्यनुबन्धादनवस्थापत्तेश्च । ततो नाऽनात्मवेदनस्य ज्ञानस्य विषयप्रतिनियमो विवक्षितवदन्यत्रापि तस्य प्रवृत्तिसम्भवात् । तदेवाह–

विमुखज्ञानसंवेदो विरुद्धो व्यक्तिरन्यतः ॥१९॥ इति

मुखं स्वसंवेदनम् अर्थप्रकाशस्य विषयनियमे तस्यैवोपायत्वेनाधुनैव निवेदनात्, तस्याभावो **विमुखम्**–अर्थाभावेऽव्ययीभावविधानात्, तज्जानन्तीति **विमुखज्ञाः**, नैयायिकानां सम्बोधनमेतत । **न संवेदः** समीचीनं वेदनं संवेदो न सम्भवति युष्माकम् । 'वः' इत्यस्य वक्ष्यमाणस्य सिंहावलोकिते सम्बन्धात् । कीदृशः संवेदो न सम्भवति ? **विरुद्धः** विषयप्रतिनियमेन स्वीकृतः । कुत इति चेत् ? **व्यक्तिरन्यतः** विवक्षितार्थवदन्यत्रापि तत्संवेदनरूपा व्यक्तिः सम्भवति यत इत्यर्थः । तात्पर्यमत्र–

---

१ तज्जन्मकमिति सैव आ०,ब०,प०,स०। २–प्रबोधपूर्व–आ०, ब०, प०, स० । ३–नादयथार्थ–आ०, ब०,प०,स० । ४ –म्मप्रत्य– आ०,ब०,प०,स० । ५ –दृश्– ता० । ६ –स्य प्रका– आ०, ब०, प०, स० । ७ विषयप्रतिनियमः । ८ सति कारणस्य विषयप्रतिनियमें ज्ञानस्य तन्नियमः, तस्मिंश्च कारणस्य विषयप्रतिनियम इति । ९ कारणज्ञानादेव । १० विषयप्रतिनियमः ।

ज्ञानस्यानात्मवेदित्वे तस्यायं विषयो घटः ।
इति स्वेच्छानिमित्तोऽयमर्थास्य नोपपत्तिमान् ॥६०४॥
स्वेच्छानिमित्ताः सर्वेऽपि तस्यैव विषया न किम् ? ।
यतो विवक्षितादर्थादन्यत्रापि न तद्गतिः ॥६०५॥
स्यान्मतं घटविज्ञानं यदि सर्वत्र वर्तते ।
सर्वत्र व्यवहारोऽयं भवेदानयनादिकम् ॥६०६॥
न चैवं नियतार्थस्य व्यवहारस्य दर्शनात् ।
ततोऽपि[1] नियतार्थत्वं ज्ञानस्यानात्मवेदिनः ॥६०७॥
इति तत्रेष्टमृमित्वाद्व्यवहारस्य देहिनाम् ।
बहूनां दर्शनेऽप्यर्थे कश्चिदिष्टे तदीक्षणात् ॥६०८॥
नियतार्थनिबद्धस्य व्यवहारः कुतो गतः ? ।
तदृष्टेश्चेन्न तत्रापि चोद्यस्यास्य प्रवर्तनात् ॥६०९॥
अस्वप्रकाशात्तदृष्टेरपि तस्याः कथं भवाम् ।
[2]विषये व्यवहारोऽयं नान्य इत्यपि कल्पयेत् ॥६१०॥
अन्यतस्तन्नियमाच्चेदन्येषमनवस्थितिः ।
सर्वस्यापि प्रसङ्गस्य प्राच्यस्यात्रोपबृंहणात् ॥६११॥
तदृस्वसंवित्तो बुद्धेरर्थानां नियमास्थितेः ।
व्यवहारः क्वचिदिसिद्धत्वम् तदन्यत्रापि सिद्ध्यति ॥६१२॥

तदेवाह–

असञ्चारो न च' [स्थानमविशेष्यविशेषणम् ।] इति ।

'अन्यतः' इत्यनुवर्तते । विवक्षितादन्यत्रापि विषये समीचीनं चरणं सञ्चारः संव्यवहारः तदभाव' असञ्चारः स न च इति पूर्ववत् । तत्र व्यवहारनियमादपि ज्ञानस्य विषयनियमः तस्यैवासिद्धेः ।

तदेवं सर्वविज्ञानसर्वार्थत्वे प्रसञ्जिते ।
स्याद्वः सर्वज्ञकिञ्चिज्ज्ञविभागविकल्प स्थिति ॥६१३॥

तदाह–'स्थानमविशेष्यविशेषणम्' इति । विशेष्याश्च सर्वज्ञाः सकलवेदन-लक्षणविशेषेणाधारत्वात् विशेषणाश्च किञ्चिज्ज्ञाः तदभावात् , विशेष्यविशेषणा न विद्यन्ते यस्मिंस्तद् अविशेष्यविशेषण स्थानम् ।

स्यान्मतम्–न कारणनियमाभावापि कार्यनियमात् दर्शनस्य नियतविषयाभिमुख्यं येनैवं स्यात्, अपि तु अनुभवादेव । सर्वविषयत्वे हि 'सर्वं दृष्टम्' इत्यनुभवः स्यात् । न चैवम्,

---

१ –पि न यथार्थम् आ०, ब०, प०, स० । २ विषयस्य– आ०, ब०, प०, स० । ३ –धाधारत्वात् आ०, ब०, प० । –धाधारत्वात् स० ।

'घटो दृष्टः पटो दृष्टः' इति विषयनियमेनैव तस्यानुभवात्। योगिदर्शनस्य तु सर्वार्थत्वमुपपन्नमेव, सर्वत्रापि दृष्टत्वेनैव तदनुभवोद्भवात्, तत्कथमविशेष्यविशेषणं नैयायिका[1]नामवस्थानम् अनुभवबलादेव सकलेतरविषयसंवेदनभेदव्यवस्थितौ सर्वज्ञकिञ्चिज्ज्ञविभागोपपत्तेः सविशेष्यविशेषणस्यैव तदवस्थानस्य सम्भवादिति ? तत्रोच्यते–कोऽयमनुभवो येन दर्शनस्य त[2]दाभिमुख्यम् ? तदेव दर्शनमिति चेत्; स्वतस्तर्हि तस्य तदाभिमुख्यवगन्तव्यम्। तथा चेत्; न; स्वसंवेदनप्रत्युज्जीवनेन तदभावप्रतिज्ञाविरोधात्। तदेवाह–'**विमुखज्ञानसंवेदो विरुद्धः**' इति। विमुखं च तत् विषयान्तरनिर्मुखत्वात्, ज्ञानञ्च घटादिदर्शनं **विमुखज्ञानं** तस्य यः स्वत एव **संवेदः** अन्यतः संवेदनस्य वक्ष्यमाणोत्तरत्वात्। स **विरुद्धो** विरोधवान् स्वप्रकाशविकलसकल[3]ज्ञानप्रतिज्ञयेति यावत्।

भवतु तर्हि तदन्यदेव ज्ञानं तदनुभव इति। तदेवाह–'**व्यक्तिरन्यतः**' इति। दर्शनस्य यत्तदाभिमुख्यं तस्य **अन्यतः** दर्शनविषयादेव ज्ञानात् **व्यक्तिः** प्राकट्यमिति। अत्रेदमाह–'**असञ्चारः**' इति। समीचीनश्चारो ज्ञानं तदाभिमुख्यस्य तदभावः **असञ्चारः** तदन्यतोऽपि तस्य न सम्यक् परिज्ञानमित्यर्थः। तथा हि–तस्याप्याभिमुख्यं 'नियताभिमुख एव दर्शने न सर्वाभिमुखे' इति कुतः परिज्ञानं येनैवमुच्यते नियताभिमुखमेव दर्शनं दृष्टमित्यनुभवात्, अन्यथा च तदभावादिति चेत् ? न; तत्रापि 'कोऽयऽमनुभवः' इत्यादि प्रबन्धस्यानुबन्धादनवस्थानदोषानुषञ्जनात्। तदेवाह–'**अनवस्थानम्**' इति।

[4]अवस्थानमदृष्टशक्तेः, ईश्वरानुग्रहात्, अन्यतो वा भवतीति चेत्; यस्य तर्हि ज्ञानस्य स्वतः परतश्च न परिज्ञानं तद्व्यापारस्येत्थम्भावेनानिरूपणात् न तद्विषयस्य ज्ञानस्येत्थम्भावनिर्णयः तदभावे च तद्विषयस्य, इति तावद्वक्तव्यं यावदर्थदर्शनस्य नियताभिमुख्यं निर्णयदूरं भवति। ततो न तदाभिमुख्यं विशेषणं तद्दर्शनञ्च विशेष्यमित्युपपन्नम्। एतदाह–**अविशेष्यविशेषणम्**। विशेष्यविशेषणयोरुक्तरूपयोरभाव एव स्यादित्यर्थः। ततोऽनुभवबलमपि दर्शनस्य नियतविषयत्वे निबन्धनमिति [5]कल्पनैव केवलमवशिष्यते तस्याश्च सर्वत्राविशेषात्सर्वाभिमुखमपि तत्प्राप्तम्। ततो यदुक्तं [6]व्योमवता (?)–"**यस्मिन्नेव विषये ज्ञानमुत्पन्नं स एवोपलभ्यो नेतर इति विषयविषयिभावस्य नियामकत्वम्**" [प्रश० व्यो० पृ० ५२८] इति; तदत्यन्तबालभाषितम्; विषयविषयिभावस्यैवातिप्रसङ्गेन पर्यनुयुक्तत्वात्। न हि दोषेण पर्यनुयुक्तस्यैव तत्परिहारायोपदर्शनमुपपन्नम्, अन्यथा विप्रतिपत्त्या पर्यनुयुक्तस्य अनित्यत्वादेरेव तत्परिहारायोपदर्शनसम्भवात्तदर्थं कृतकत्वाद्युपदर्शनमुपपन्नं न भवेत्। न चैवं कस्यचिदिष्टाप्रसिद्धिः, विवादविषयमेवोपदर्श्य तत्परिहारस्य सम्भवे प्रयासरहितस्यैव स्वपक्षव्यवस्थापनस्य सम्भवात्। तदस्मादशक्यप्रतिषेधमेव दर्शनस्य सर्वविषयत्वम्।

अपि च, कस्यचित् तेन द्रष्टृत्वे परस्यापि स्यात् तदनात्मप्रकाशस्याविशेषात्। नायं

1–मनवस्था– आ०,ब०,प०,स०। २ तथाभि– आ०,ब०,प०,म०। ३ –लप्रतिज्ञानप्रति–आ०,ब०,प०,स०। ४ अनव–आ०,ब०,प०,स०। ५ कल्पः नैव आ०,ब०,प०,स०। ६ व्योममतौ आ०,ब०,प०,स०।

दोषः, सम्बन्धस्य नियामकत्वात्। अनात्मप्रकाशस्यापि यत्रैव तस्य सम्बन्धस्तस्यैव तद्विषय-दर्शनं भवति न परस्य। तथा च परस्य वचनम्–"यस्मिन्नात्मनि समवेतं ज्ञानमुत्पन्नं स एव द्रष्टा नान्यः। तत्र चित्तविज्ञानासमवायात्।" [प्रश० व्यो० पृ० ५२९] इति चेत्, न, समवायनियमस्य दुरवबोधत्वात्। तथाहि–कुत इदमवगन्तव्यम्–'क्वचिदेवात्मनि दर्शनस्य समवायो नान्यत्र' इति ? तत एव दर्शनादिति चेत्, न, स्वसंवेदनप्रत्युज्जीवनात्। तस्य च तदभावप्रतिज्ञया विरोधात्। तदाह–'विमुखज्ञानसंवेदो विरुद्धः' इति। व्याख्यानं पूर्ववत्। इयान्विशेषः–'विमुखस्य [1]पूर्वं विषयान्तरं प्रति, अधुना तु आत्मान्तर-[2]सम्बन्धं प्रति' इति।

भवतु तर्हि ज्ञानादन्यत एव तस्य तन्नियमावगमः। तत्राह–व्यक्तिरन्यतः तन्निय-मस्येति। तत्राह–असञ्चारः असम्भवितप्रतिपत्तिः तन्नियमस्य। कुतः ? इत्याह–अनवस्थानं यत इति। तथाहि–तेनापि ज्ञानं तदात्मन्येव समवेतं तद्विषयम् [6]"एकात्मसमवेतानन्तरज्ञान-वेद्यमर्थज्ञानम्" [ ] इत्यभ्युपगमात्। तस्यापि कुतस्तन्नियमावगम ? तत एवेति चेत्, न, 'स्वसंवेदनप्रत्युज्जीवनात्' इत्याद्यनुबन्धादनवस्थोपस्थानस्य व्यक्तत्वात्। तदुपस्थान-भयाद् ज्ञानिवृत्त्या नियम्यत इति चेत्, न तर्हि चरमस्य तन्नियमपरिज्ञानं तदभावाच्च [1]तत्पू-र्वस्येति [न] दर्शनस्य क्वचित्समवायनियमः सतोऽन्यतश्च तदपरिज्ञानादिति न तज्ज्ञानं विशेष्यं नापि तस्य नियतात्मसमवेतत्वं विशेषणमित्यायातम्। तदेवाह–अविशेष्यविशे-षणम्। विशेष्यविशेषणे व्याख्याते, तयोरभावः अविशेष्यविशेषणम् अर्थाभावेऽव्य-यीभावात्।

अपि च, अनात्मप्रकाशने ज्ञानस्य ज्ञानत्वमेव कथम् ? कथं च न स्यात् ? तत्प्रति-पत्त्युपायाभावात्। [10]तत्रैव तत्रोपाय इति चेत्, न, स्वसंवेदनप्रत्युज्जीवनेन तदभावप्रतिज्ञावि-रोधात्। तदाह–'विमुखज्ञानसंवेदो विरुद्धः' इति। व्याख्यातं विमुखं तस्य ज्ञानेन ज्ञानात्मना स्वतः संवेदो विरुद्धः पूर्ववत्।

व्यक्तिस्तर्हि तज्ज्ञानत्वस्य अन्यतस्तद्विषयाज्ज्ञानादिति परः, तत्राह–'असञ्चारः' इति। तात्पर्यमत्र यत्तदन्यज्ज्ञानं तत्स्वरूपग्रहम्, न चैतद् भवेत् ? प्रत्यक्षमपि यदर्थप्रकाशनं न भवति कथं तदभिमुखस्य ज्ञानस्य प्रकाशनं विषयाप्रकाशने तदाभिमुख्यस्याप्यप्रकाशनत्वात् ? तदप्रकाशने तद्विशिष्टतयैव ज्ञानस्याप्रकाशनम्, अतो मा भूत्तद्विषयं सविकल्पकं प्रत्यक्षं तस्य सविशेषणवस्तुप्रतिपत्तिरूपत्वेन विशेषणाप्रतिपत्तावनुत्पत्तेः, निर्विकल्पकं तु तत्स्वरूपमात्रालो-चनरूपं प्रत्यक्षं [11]तदप्रतिपत्तावपि भवत्येवेति चेत्, न, तदभिमुखतयैव तस्य ज्ञानत्वप्रतिप-

1 –ङ्मुखस्य आ०, ब०, प०, स०। 2 पूर्वमिव– आ०, ब०, प०, स०। 3 –रसम्बन्धं प्रति आ०, ब०, प०, स०। 4 –मावगमः आ०, ब०, प०, स०। 5 तदपरिज्ञानं आ०, ब०, प०, स०। 6 एकार्थसम– आ०, ब०, प०, स०। 7 –मावगम आ०, ब०, प०, स०। 8 अनवस्थोपस्थानम्। 9 समवायनियम। 10 तत्रायमत्र। 11 तन्मतेन एदविदी प्रत्यक्ष। 12 –त्वे तद– ब०। 13 विशेषणाप्रतिपत्तावपि।

म्भात्, "अर्थग्रहणं बुद्धिः" [न्यायभा० ३।२।४६] इत्यभ्युपगमात्। तदाभिमुख्यस्य चेदप्रतिपत्तिः किमविशिष्टं[1] तस्य रूपं यन्निर्विकल्पक[2]प्रत्यक्षवेद्यं भवेत् ? प्रकाशमात्रमिति चेत् : न; विषयविमुखस्य तस्यैवाभावात्। सत्यम्, तदभिमुखमेव तत्, केवलं तदाभिमुख्यं न गृह्यते, प्रकाशमात्रस्यैव ग्रहणादिति चेत् ; न ; प्रकाशात्तदाभिमुख्यस्याभेदे कथमग्रहणं प्रकाशस्यापि तत्प्रसङ्गात् ? गृहीतेतरस्वरूपतायाश्च विरोधात्। भेदे तु न प्रकाशस्य प्रकाशत्वम् अर्थाभिमुखत्वाभावात्, अतिप्रसङ्गात्। भिन्नेनापि तदाभिमुख्येन सम्बन्धात्तदभिमुखतयैव प्रकाश इति चेत् ; नैवम् ; स्वाभिमुखत्वस्यापि सम्भवात्, तत्सम्बन्धस्यापि तत्रोपपत्तेः। तत्प्रकाशमनात्मप्रकाशं ज्ञानम्। न च सविकल्पकस्य प्रत्यक्षस्य तत्राभावे निर्विकल्पकमपि सम्भवति तँस्यैव[3] तँत्र[4] प्रमाणत्वात्। तथा च [5]व्योमवता उक्तम्–"**अथास्त्वेवं निर्विकल्पकज्ञानस्योत्पत्तिः, सद्भावे तु किं प्रमाणम् ? सविकल्पकज्ञानोत्पत्तिरेव**" [प्रश० व्यो० पृ० ५५७] इति[6]। ततः सत्यपि निर्विकल्पके सविकल्पकमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा तदसिद्धेः। तस्य च[7] न विषये सञ्चारो न प्रवृत्तिस्तत्कथं तेन तदर्थज्ञानस्य प्रकाशनम् ? तत्रासञ्चार एव तस्य कस्मादिति चेत् ? अतत्सन्निकर्षजत्वात्, अर्थसन्निकर्षजं हि ज्ञानमर्थे सञ्चारवन्नापरम्। न च द्वितीयज्ञानं तत्सन्निकर्षजम्, अर्थज्ञानसन्निकर्षादेवं संयुक्तसमवायलक्षणात्तदुत्पत्तेः। अतत्सन्निकर्षजस्यापि तत्र सञ्चारे कथमयमेवास्य विषयो नापर इति व्यवस्था ? तदाह–**अनवस्थानम्** विषयस्येति यावत्। तन्न प्रत्यक्षादर्थज्ञानस्य ज्ञानत्वप्रतिपत्तिः।

भवतु तदन्यत एव तत्प्रतिपत्तिर्द्वितीयस्यैव विकल्पस्योपादानादिति चेत् ; न; किं तदन्यत् ? उपमानमिति चेत् ; न; तस्योपलभ्य एव विषये वाच्यत्वोपाधिकत्वेन प्रवृत्तेः, अर्थज्ञानस्य चानुपलभ्यत्वप्रतिपादनात्। आगम इति चेत् ; न; तस्मादप्यपरिज्ञातात्तदप्रतिपत्तेः। परिज्ञातादेव भवत्विति चेत् ;

[10]तज्ज्ञानस्यापि [11]तज्ज्ञत्वं वेद्यं चेदागमान्तरात्।
तत्राप्येवं प्रसङ्गः स्यात्तथा सत्यनवस्थितिः ॥६१४॥
अनुमानं तु नास्त्येव तज्ज्ञानत्वावबोधनम्।
प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन [12]तदभावे तदत्ययात् ॥६१५॥
न चास्ति पञ्चमं मानं न्यायतत्त्वविदां मते।
अर्थबोधस्य बोधत्वं यतः स्यादुपपत्तिमत् ॥६१६॥

ततः किम् ? इत्याह–**अविशेष्यविशेषणम्** ज्ञानं विशेष्यं तस्य विशेषणमर्थस-

१ "अर्थाभिमुख्यविशेषणरहितम्" –ता० टि०। २ –कं प्र–आ०, ब०, प०, स०। ३ सविकल्पस्यैव। ४ निर्विकल्पके। ५ व्योमवतावुक्तं स०। व्योममतेरुक्तं प०। व्योममतारुक्तं आ०, ब०। ६ "अन्यथा हि विशिष्टार्थानुपलब्धौ विशिष्टस्य सङ्केतस्मरणस्यानुपपत्तेः सविकल्पकं ज्ञानं न स्यात्, तस्य तत्कार्यत्वात्" –प्रश० व्यो० पृ० ५५७। ७ च वि– आ०, ब०, प०, स०। ८ –यं ज्ञा– आ०, ब०, प०, स०। ९ मनःसंयुक्ते आत्मनि अर्थज्ञानस्य समवेतत्वात्। १० आगमज्ञानस्यापि। ११ अर्थज्ञानज्ञत्वम्। तज्जत्वं आ०, ब०, स०। तस्मन्यत्वं प०। १२ प्रत्यक्षाभावे।

म्यनिष्पत्तं तदुभय न भवेत् अनुपायत्वेनाप्रतिपत्तिविषयत्वादिति । ततो यदुक्तं मासर्वज्ञेन–"स्वात्मावबोधकत्वाभावे कथमसौ बोधस्वभाव इति चेत् इति पूर्वपक्षयित्वा समाधानम्–स्वात्मदाहकत्वाभावेऽपि यथाग्निर्दहनस्वभावः स्वात्मदायकत्वाभावेऽपि यथा दात्रादिकं दात्रादिस्वभावम् ।" [ ] इति, तत्प्रतिविहितम्, दृष्टान्तमात्रात्साध्यसिद्धौ सर्वत्र हेतुवैफल्यात् अतिप्रसङ्गाच्च । न तन्मात्रादेव तत्साधनमपि तूपपत्तिमत्तया च, उपपत्तिश्च तथाप्रतिपन्नत्वम् । तदयमर्थः–अनात्मवेदनेऽपि ज्ञानं ज्ञानमेव तथाप्रतिपन्नत्वात् अनात्मदहनेऽपि वह्निवत्, इत्यपि न सारम्, असिद्धत्वाद्धेतोः, तथाप्रतिपन्नत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।

यदप्यन्यदुक्तं तेनैव–"तदप्रसिद्धौ विषयस्याप्यप्रसिद्धिरिति चेत्, इति पूर्वपक्षयित्वा समाधानम्–किं कारणम् ? न हि तदुपलम्भः स्वविषयं लिङ्गवत्साधयति येन तदप्रसिद्धौ विषयस्याप्यप्रसिद्धिः स्यात् । किं तर्हि ? तदगृहीतिरूपतयोत्पादमात्रेण तं विषयं व्यवहारयोग्यं करोति तदप्रसिद्धावपि विषयः प्रसिद्ध एवेत्युच्यते" [ ] इति, तदप्यसम्यक्, तदगृहीतिरूपतयोत्पादस्यैव दुष्परिज्ञानत्वेन प्रतिक्षिप्तत्वात् । ततो ज्ञानस्य विषयनियमं नियतप्रमातृसमवायमर्थप्रकाशरूपत्वञ्च प्रतिपत्तुमिच्छता स्वप्रकाशरूपं तदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तदसम्भवादुक्तमत् । स्वप्रकाशे तु ज्ञाने सम्भवति तत्प्रतिपत्तिः–'यद्विषयतया यदात्मस्वभावतया च स्वतस्तस्य वेदनं स एव तदर्थो नापरः स एव च तेन प्रमाता नापरः' इति, अस्यार्थपरिच्छित्तिरूपतया च स्वतः प्रवेदनात् 'ज्ञानमेव सत् नाज्ञानम्' इत्यस्य च स्वत एव व्यवस्थापनात् । ततः स्वप्रकाशमेव ज्ञानं स्वहेतुसामर्थ्यादुत्पत्तेः ।

यत्पुनरत्र तस्यैव वचनम्–"उत्पादे हि सति पश्चादर्थदृष्टेः प्रत्यक्षत्वं युक्तं न पूर्वमेव" [ ] इति, तदपराभिप्रायापरिज्ञानादेवोक्तम् । न हि सौगतस्यापि 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य' इत्यादि ब्रुवाणस्यायमभिप्रायः 'प्रागेवार्थदृष्टेः प्रत्यक्षत्वं पश्चादुत्पत्तिः' इति, अपि तूत्पद्यमानैव सा स्वप्रकाशरूपतया प्रत्यक्षैवोत्पद्यते, तदप्रतयोत्पत्तावेव "तस्यास्तद्रूपत्वोपपत्तेः", अतद्रूपतयोत्पत्तिः "अनुत्पत्तिरेवेति अनुत्पन्नैवार्थदृष्टिर्भवेदित्ययमेवं" । तत्कथं पराभिप्रायतः पौर्वापर्यमर्थदृष्टौ तत्प्रत्यक्षत्वतदुत्पादयोर्यतस्तत्र 'नहि' इत्यादि दूषणमुद्घुष्येत ? तदयमविज्ञातपूर्वपक्षतया दूषणमुद्भावयन्नात्मनो विदूषकत्वमावेदयति । एवमन्यदपि तस्य दुर्विलसितमुपदर्शयं प्रतिविधातव्यम् ।

कथं पुनरात्मवेदनं ज्ञानस्य ? कथञ्च न स्यात् ? स्वात्मनि क्रियाविरोधादिति चेत्, न, असिद्धत्वात् । विरोधोऽपि प्रमाणबाधनमेव नापरः, तत्र च स्वविधिनिषेधायोगात् । स च

१ पैशर्व पूर्व– स० । पैश तदिति पूर्व –प० । २ स्वात्मदाहक– आ०, ब०, प०, स० । तथमार्थ कल्पनायां दाहक इति स्पष्ट, दैदक इति भवेत् । ३ धात्रादि– आ०, ब०, प० । ४ दृष्टान्तमात्रादेव । ५–तता बोध– आ०, ब०, प०, स० । ६ यथार्थ–आ०, ब०, प०, स० । ७ मासर्वज्ञेनैव । ८ तदप्यसम्यक्म् आ० । ९ जयदृद्धि । १० अर्थदृष्टेः । ११ मर्थदृष्टिर्भवेदिति । १२ –तिरन्वेतत्वत–आ०, ब०, प०, स० । १३ पैगतस्याभिप्रायः । १४ तदयमपि इन–आ०, ब०, प०, स० ।

[1]प्रमाणप्रसिद्धेन सिद्ध्यति, 'तत्प्रसिद्धञ्च तद्वाधितं च' इति तत्रैव विरोधात्। प्रमाणप्रसिद्धञ्च ज्ञानस्य स्वप्रवेदनं विषयनियमादिनाऽनुमानेन तद्व्यवस्थापनात्। [2]सपक्षानुगमाभावादनुमानमेव तन्न भवतीति चेत्; स्यादेतदेवम्, यदि [3]तदनुगमस्यासाधारणतया [4]तल्लक्षणत्वम्। न चैवम्, तदाभासेऽपि [5]तत्पुत्रत्वादौ भावात्। तस्मादन्यथानुपपन्नत्वस्यैव [6]तथा तल्लक्षणत्वम्। तच्चाविकलमेव विषयनियमादौ। [7]तदेव कथं [8]तदनुगमाभावे गम्यत इति चेत्? न; विपक्षे बाधकबलादेव तदवगमात्, तस्य चोपदर्शितत्वात्। करिष्यते च [9]तस्यैव तल्लक्षणत्वे प्रबन्ध इति नेह प्रतन्यते। ततः सम्यगेव प्रकृतमनुमानमिति न तद्विषये ज्ञानस्यात्मवेदने कश्चिद्विरोधो यतस्तन्निषेधः स्यात्।

प्रमाणसिद्धमप्येतद्विरुद्धं चेत्स्ववेदनम्।
अर्थवेदनमप्येवं विरुद्धमवबुध्यताम् ॥६१७॥
प्रमाणमेव तस्यापि परित्राणाय नापरम्।
ततः स्ववित्तेरत्राणे त्राणमर्थविदः कथम्? ॥६१८॥
स्वार्थवित्तिविलोपे च ज्ञानमेव क्षयं व्रजेत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं स्वसंवेदनविद्विषाम्? ॥६१९॥
ज्ञानज्ञेयविलोपे च शून्यवादानुषञ्जनम्।
तस्मान्न्यायव्रनिर्बन्धो मुच्यतामस्ववेदनात् ॥६२०॥

इदमेवाभिसन्धाय सौगतेनाप्युक्तम्–

"यदा स्वरूपं तत्तस्य तदा केन विरोधिता।
स्वरूपेण विरोधे हि सर्वमेव [10]प्रलीयते ॥" [प्र० वार्तिकाल० २।३२९] इति।

कश्चायं [11]स्वात्मा नाम यत्र क्रियाविरोधः? क्रियावानेवार्थ इति चेत्; तत्र[12] तद्विरोधे कथं क्रियावत्त्वम्? क्रियावत्त्वे वा कथं तद्विरोधो व्याघातात्? न व्याघातः तत्कर्मकत्वेन तत्र तद्विरोधस्याभिधानात्, तत्कर्तृका तु न विरुध्यत एव 'छिनत्ति खड्गः' इति प्रतीतेः, कर्म तु तत्र व्यतिरिक्तमेव खड्गः काष्ठं छिनत्तीति प्रत्ययादिति चेत्; नन्वेवं बुद्धेरप्यात्मसमवायिन्याः तत्कर्म-[13]कत्वमेव [14]प्रतिषिद्धं भवति, न चैतत्पथ्यं भवताम्, आत्मनोऽप्रमेयत्वप्रसङ्गात् तस्यैव बुद्धौ कर्तृत्वात्। तदिदमन्यत्र सन्धानमन्यत्र पातः शरस्य, बुद्धेः स्वसंवेदनप्रतिषेधायोपक्रान्तेन आत्मनि प्रतिपत्तिकर्मत्वप्रतिषेधात्। तत्र क्रियावानर्थः स्वात्मा। क्रियैवेति चेत्; कः पुनः क्रियाविरोधः? ताद्रूप्यानुपपत्तिरिति चेत्; कथं पुनस्तस्या एव तद्रूपत्वानुपपत्तिः द्रव्यादी-

---

१ प्रमाणसिद्धेनसिद्धयतेतप्र– आ०, ब०, प०। प्रमाणसिद्धेनसिद्ध्यत्येतप्र– स०। २ स च पक्षा– आ०, ब०, प०, स०। ३ तदनवगम– आ०, ब०, प०, स०। सपक्षानुगमस्य। ४ अनुमानलक्षणत्वम्। ५ गर्भस्थः श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरपुत्रवदित्यादौ। ६ असाधारणतया। ७ अन्यथानुपपन्नत्वमेव। ८ सपक्षानुगमाभावे। ९ अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव। १० प्रतीयते प०, स०। ११ स्वात्मनाम् यत्र आ०, ब०, प०, स०। "स्वात्मा हि क्रियायाः स्वरूपम्, क्रियावादात्मा वा?"–प्रमेयक० पृ० १३६। न्यायकुमु० पृ० १८८। स्या० रत्ना० पृ० २२९। १२ क्रियावत्यर्थे। १३ बुद्धिकर्मकत्वमेव बुद्धिविषयत्वमेव। १४ प्रसिद्धं आ०, ब०, प०, स०।

नामपि ग्रन्थ्यादिरूपस्यानुपपत्त्या शून्यवादानुपङ्गात्। तद्विषयत्वेन तत्र तैरनुपपत्तिर्न तद्रूपत्वेनेति। न हि छिदिरात्मन्यपि छिदिर्भवतीति चेत् , किंविषया तर्हि छिदिः ? निर्विषयत्वे स्वात्मनीति विशेषानुपादानप्रसङ्गात्। काष्ठविषयेति चेत् , कुत एतत् ? स्वसत्ताया एवेति चेत् , न , स्वात्मविषयत्वस्यापि प्रसङ्गात्। विशेषाधानादिति चेत् , न , स्वात्मन्यपि तत्सम्भवात्। काष्ठ एव छिदिकृतस्य विशेषस्य विनाशात्मनः प्रतिपत्तिर्न छिदात्मनीति चेत् , न, काष्ठेऽपि साक्षात्तस्य तत्कृतस्याभावात् , तदारम्भकावयवसंयोगविनाशकृतत्वात्। पारम्पर्येण छिदिकृतत्वमपीति चेत्, सिद्ध तर्हि तस्याः स्वात्मविषयत्वमपि तद्विनाशस्यापि पारम्पर्येण तत्कार्यत्वात्। छिदिर्हि स्वङ्गसमवायिनी स्वङ्गकाष्ठसंयोगात् स्वकार्याभिवर्त्तमाना भवत्येव परम्परया स्वविनाशस्य कारणम्। अथैवमपि तस्या न स्वविषयत्वम् , काष्ठविषयत्वमपि मा भूत्। ततो न स्वात्मन्येव क्रियाविरोधः परात्मन्यपि तद्भावात्। तथा च–

यथा विरोधमुद्वीक्ष्य [11]छिदेरात्मनि कल्प्यते ।
विरोधो वेदनस्यापि स्वात्मनि न्यायवेदिभिः ॥६२१॥
तथाऽन्यत्रापि [12]तं दृष्ट्वा तस्याः किन्नोपकल्प्यते ।
वेदनस्य तथात्वेऽपि विरोधो बाधवर्जितः ॥६२२॥
[13]उभयत्र विरुद्धत्वं ज्ञानं तदिति केवलम् ।
प्रत्येतव्यं भवेदेवद्धीवमुद्राप्रमाणकैः ॥६२३॥

ततो न स्वात्मनि क्रियाविरोधेन अर्थज्ञानस्य स्वसंवेदननिषेधनमुपपन्नम्।

तन्निषेधे वा कुतस्तस्य[2] प्रतिपत्तिः ? अप्रतिपत्तिरेव तत्सत्त्वेति चेत् , न , व्योमकुसुमवत्तदभावापत्तेः। [11]एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानादिति चेत् , कुत इदमवसितम् ? 'अर्थज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं वेद्यत्वात्' [14]'कलशवत्' [15]इत्यनुमानादिति चेत् , कलशस्यापि कुतस्तद्वेद्यत्वमवसितं यतो निदर्शनस्य साध्यवैकल्यं न भवेत् ? तद्वेदनादेवेति चेत् , न , तस्यास्वसंवेदनत्वात्। यदि हि न [16]तत्स्वसंवेदनं भवत्येव ततः कलशान्यत्वस्य [17]तद्धर्मस्य ग्रहणम्। न चैवम् , अतो विरुद्धमेतत्–'अनात्मवेदिन एव ज्ञानात्तस्य कुतश्चिदन्यत्वं गृह्यते' इति। तदेवाह–'विमुख' इत्यादि। विषयात् विभिन्नं मुखं रूपं यस्य तत् ज्ञानं विमुखज्ञानम् , तस्य यः स्वतः संवेदः स विरुद्धः स्वसंवेदनप्रसङ्गात्। व्यक्तिरन्यतः कलशज्ञानादन्यत एव ज्ञानात्तत्कलशज्ञानान्यत्वस्य व्यक्तिः प्रकाशनमिति परः। तत्राह–'असम्भार' इति। असम्भारः असम्प्रतिपत्तिः कलशज्ञानान्यत्वस्येति यावत्।

---

१ विरोधीत्यत्रैव। २ क्रियायाम्। ३ विशदस्वसंवेदनं। ४ स्वात्मनैव आ०, ब०, प०, म०। ५ छिदिरात्। ६–वस्मादव–आ०, ब०, प०, म०। ७ वेदनेऽपि आ०, ब०, ब०, स०। ८ छिदिर्विनाश इत्यादि। ९ –पदी नन्वा–आ०, ब०, ब०, म०। १० छिदिरात्मनि द–आ०, ब०, प०, स०। ११ तद्दृष्ट्वा–आ०, ब०, ब०, म०। विरोधम्। १२ तन्त्रे इत्यर्थनि च। १३ अधप्रकरण। १४ एकार्थसम–आ०, ब०, ब०, म०। १५ कलशवदित्यत्र आ०, ब०, प०, म०। १६ प्रत्यक्ष– पृ० ११२ टि० ११ १७ तत्स्य वेदनम्। १८ तद्धर्मस्य।

अन्यत्वं कलशज्ञानस्यान्यतो यदि वेद्यते ।
तस्यापि कलशज्ञानादन्यत्वं गम्यते कुतः ? ॥६२४॥
तदन्यत्वापरिज्ञाने वचस्तत्तादृशं कथम् ? ।
कलशाद्वेदनान्यत्वमन्यतो वेदनादिति ॥६२५॥
वेदनं न स्वतस्तस्य स्वसंवित्त्यपलापिनाम् ।
अन्यतो वेदने तु स्यादनवस्थानदूषणम् ॥६२६॥

तदाह-'**अनवस्थानम्**' इति । ततश्च न तज्ज्ञानं विशेष्यं नापि तस्य कलशार्थान्तरत्वं विशेषणमित्यायातम् । तदाह-'**अविशेष्यविशेषणम्**' इति । ततो निदर्शनस्य साध्यवैकल्यमिति भावः ।

यत्पुनरत्र परस्यानुमानम्-"**कलशादर्थान्तरं तज्ज्ञानं चेतनत्वात् , यत्पुनस्तस्मादनर्थान्तरं तन्न चेतनं यथा तस्यैव स्वरूपम् , चेतनञ्च तज्ज्ञानम् , तस्मात् ततोऽर्थान्तरम्**" [ ] इति ; तदपि न समीचीनम् ; अनुमानज्ञानस्यापि [2]तज्ज्ञानादन्यत्वस्य स्वतः पूर्ववदप्रतिवेदनात् , अनुमानान्तरपरिकल्पनायामनवस्थापत्तेः ।

अपि च, कुतः कलशाच्चेतनत्वस्य व्यावृत्तिः ? तस्य तद्विरुद्धेनाचेतनत्वेन व्याप्तत्वादिति चेत् ; तदेव कुतोऽवगतम् , यतस्तद्व्याप्ताद् नर्थान्तरत्वात् व्यावर्त्तमानं चेतनत्वमर्थान्तरत्व एव नियतं तदवगमयेत् ? तत एव कलशज्ञानादिति चेत् ; तेनापि चैतन्यं क प्रतिपन्नं यतस्तत्पर्युदासरूपमचेतनत्वं कलशस्य [3]ततोऽवगम्यताम् ? अप्रतिपन्ने तस्मिन्[4] तत्पर्युदासस्य दुरवगमत्वात् अप्रतिपन्नमेशकपर्युदासवत् । आत्मन्येव[6] तत्प्रतिपन्नमिति चेत् ; न, अनात्मवेदिनि तस्मिन् तदयोगात् । ज्ञानान्तर इति चेत् ; न; तस्य तदविषयत्वात्[8] । तन्न कलशस्य तज्ज्ञानादेवाचेतनत्वपरिज्ञानम् । अन्यतो ज्ञानादिति चेत् ; न; ततोऽपि कलशमात्रविषयात्तदनुपपत्तेः । प्रतिषेध्यचेतनत्वविषयमपि [9]तदिति चेत् ; किं तच्चेतनम् ? तदेव ज्ञानमिति चेत् ; न; अस्वात्मवेदिनस्तस्य तद्विषयत्वायोगात् । कलशज्ञानमिति चेत् ; कुत एतत् ?, [10]तस्य [11]तेनार्थवेदनत्वेन ग्रहणात्तद्रूपत्वाच्च चेतनस्येति चेत् ; ईदृशस्तद्व्यापारः कुतोऽवगतो येनैवमुच्यते ? न तावत्तत एव ; तस्यानात्मविषयत्वात् । तादृशतद्व्यापारगोचरत्वस्य[12] स्वतः [13]प्रतिवेदनाभावात् । अन्यतश्च तत्कल्पनायाम् अनवस्थादोषात् । आकाङ्क्षानिवृत्त्या तद्दोषनिवृत्तिरिति चेत् ; कथं पुनर्जिज्ञासिततादृशतद्व्यापारनिश्चयाभावे तदाकाङ्क्षानिवृत्तिः [14]तस्यास्तन्निश्चयनिबन्धनत्वात् ? अदृष्टादेस्तर्हि [15]तद्दोषनिवृत्तिरिति चेत् ; सोऽपि यदि

1 -स्वविलापि-आ०, ब०, प०, स० । 2 कलशज्ञानात् भिन्नत्वस्य । 3 कलशज्ञानात् । 4 चैतन्ये । 5 -मश्वक्यपर्यु- आ०, ब०, प०, स० । 6 -व न तत्प्र-आ०, ब०, प०, स० । 7 ज्ञानान्तरस्य । 8 कलशज्ञानाविषयत्वात् । 9 ज्ञानान्तरम् । 10 कलशज्ञानस्य । 11 ज्ञानान्तरेण । 12 -स्वोरगोचरत्वस्य-आ०, ब०, प०, स० । 13 परिवेदना- आ०, ब०, प० । 14 आकाङ्क्षानिवृत्तेः । 15 अनवस्थादोष ।

तदभिधेयमविधाय तद्दोषं निदर्शयति तत्स्वरूपं तद्व्यापारापरिज्ञानम् । तद्विधानमपि यद्यन्यतः, कथं तद्दोषनिदर्शनम् ? तत्राप्यन्यतस्तद्विधानस्यापेक्षणीयत्वात् । तद्व्यापारे मुमुक्षित-वस्तुत एव तद्विधानमिति चेत्, न, स्वसंवेदनयाप्यप्रस्तुतमञ्जनप्रसङ्गात् । तथाप्यतो विज्ञानात् कल्मषस्याचेतनत्वं शक्यपरिज्ञानम्, पर्यवसितस्य चेतनत्वस्य कथञ्चिदप्यपरिज्ञानात् । तत्कथं [?]तेनाऽनर्थान्तरत्वं व्याप्तं चतस्तस्माद्व्यावृत्तं चेतनत्वमर्थज्ञानस्य कल्मषादर्थान्तरत्वमवबोधयेत् ? तदयं सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनानैकान्तिकत्वान्न सम्यग्धेतुः, [3]नैतो नानुमानादपि कल्मषात् ज्ञानस्यार्थान्तरत्वमिति साध्यवैकल्यादुदाहरणस्य न कल्मषज्ञानस्यार्थान्तरज्ञानविषयत्वसाधनं सम्यक् साधनम् ।

व्यभिचाराच्च । व्यभिचारि खल्विदं वेद्यत्वं व्याप्तिज्ञानेन । न ह्यविज्ञातव्याप्तिकस्यानुमानम् अतिप्रसङ्गात् । नापि प्रोत्रेन्द्रियकल्पविज्ञानस्य, [6]यदैवाविज्ञातव्याप्तिकं तेनैव व्यभिचार-शङ्कनात् । ततः साकल्येन [7]तद्विज्ञाने तु तदेयात्मगतस्यापि वेद्यत्वस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेन व्याप्तिं प्रतियत् आत्मवेदनमेव न तदन्तरवेद्यमिति सुव्यक्तो व्यभिचारः । साध्यसाधनसामान्यस्यैव तेज्ज्ञानविषयत्वं व्याप्तेस्तन्निष्ठत्वेन [10]तदपरिज्ञाने परिज्ञानासम्भवात्, न व्यक्तीनां विपर्ययात्, व्यक्तिरूपं च [11]तज्ज्ञानं तत्कथं तस्य तद्विषयत्वमिति चेत् ? न, [12]तदपरिज्ञाने सामान्यस्याप्य परिज्ञानात् [13]तस्य तन्निष्ठत्वात् । कतिपयव्यक्तिपरिज्ञानादेव भवति [14]तत्परिज्ञानमिति चेत्, न, [15]तावता व्याप्तिपरिज्ञानासम्भवात्, अन्यथा वस्तुत्वादावपि [16]तत्सम्भवाच्च व्यभिचारः स्यात् । साधनान्तरे[17] व्यभिचार इति चेत्, न, "लक्षणयुक्ते बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्" [प्र० वार्तिकाल० २।१५] इति वेद्यत्वादावपि बाधाविरहं प्रति न निःशङ्कं चेतः स्यात् । बाधस्यानुपलम्भाभिःशङ्कमेवेति चेत्, न, अनुपलम्भस्य सर्वसम्बन्धिनः [18]सतोऽपि दुरव-बोधत्वेनासिद्धत्वात् । आत्मसम्बन्धिनश्च [19]परचित्तो (चेतो) वृत्तिविशेषैर्व्यभिचारित्वात् । अतो नाबाधितविषयत्वमनुमानलक्षणम्, अपि तु विज्ञातव्याप्तिकत्वमेव, तच्च सकलव्यक्तिविज्ञानमुखे-नैव नान्यथेति कथञ्च तद्व्याप्तिज्ञानस्य [20]तद्विषयत्वमिति सुव्यक्तमेव तेनानैकान्तिकत्वम् ।

[21]सुखादिना च, तस्यापि स्वत एव प्रकाशनात् । न हि तस्य वेद्यस्यापि परं प्रकाशन मनुभूयत इति । तदाह–'विमुख'इत्यादि । विमुखं स्वमहणपराङ्मुखत्वात् अर्थज्ञानं[22] तस्य ज्ञानमर्थान्तरं विमुखज्ञानं तस्य सम्बन्धी गमकत्वेन यः संवेदः संवेद्यत्वं हेतुः सः

१ विधयविधायम् । २ यथैतन्नतेव । ३ ततो नानु–भा०, ब०, प०, । ४ –स्यार्थान्तर–भा०, ब०, प०, स० । ५ कतिपयसाध्यसाधनव्यक्तिषु गृहीतव्याप्तिकस्य । ६ यदैव यत्र । यदैवाविज्ञातव्या– भा०, ब०, प० । ७ व्याप्तिज्ञाने । तद्विज्ञाने तदै– भा०, ब०, प०, । ८ व्याप्तिज्ञानम् । ९ व्याप्तिज्ञान । १० साध्यसाधनसामान्या परिज्ञाने । ११ व्याप्तिज्ञानम् । १२ व्यक्त्यपरिज्ञाने । १३ सामान्यस्य । १४ सामान्यपरिज्ञानम् । १५ कतिपय व्यक्तिपरिज्ञानमात्रेण । १६ व्याप्तिज्ञानसम्भवात् । १७ तद्व्यभिचारी । १८ सतोऽपि भा०, ब०, प०, स० । १९ परचेतोनिवृत्ति– ता० । परिचितोवृत्ति– प० । २० साक्षित्वमिति । २१ तुलना–"सुखादिनैव हेतोर्व्य भिचारम् मरीचिकाज्ञानेन च" –प्रमेयक० पृ० ११२ । २२ –र्थं च तस्य भा०, ब०, प०, स० ।

अविरुद्धो[1] विपक्षेऽपीति शेषः, तस्माद्व्यभिचारीति भावः। [2]व्याप्तिज्ञाने सुखादिज्ञानेऽपि तद्व्याप्तेः सुखादेश्चान्यत एव ज्ञानात् व्यक्तिः ; इत्याह–**'व्यक्तिरन्यतः'** इति। तत्रोत्तरम्–**'असञ्चारः'** इति। तँत्र[3] तद्व्याप्तेः सुखादेश्चान्यतो न सञ्चारः न परिज्ञानम्। कुतः ? इत्यत्राह–**अनवस्थानम्**। 'यतः' इति शेषः। तथाहि–

तदन्यत्रापि तद्व्याप्तिरन्यतो यदि चेष्यते।
तत्राप्येवं प्रसङ्गे स्यादनवस्था कथन्न वः ? ॥६२७॥

आकाङ्क्षाविनिवृत्त्यादि पूर्वमेव विचिन्तितम्।
तस्मात्तद्व्याप्तिसंवित्तिस्तत एवोपगम्यताम् ॥६२८॥

सुखाद्यपेक्षया तु व्याख्यानम्–यद्यन्यदेव सुखादेस्तद्वेदनं तर्हि पश्चादेव न सुखाद्युत्पत्तिसमये, तँतः[4] पूर्वं तन्निमित्तस्य सन्निकर्षस्याभावादित्यविदितस्यैव [5]तस्योत्पत्तिः। तथा च–'उत्पन्नमात्रेणैव सुखादिना तद्वान् पुरुषः' इति यद्वस्थानं व्यवस्था लोकस्य तन्न स्यात्, अविदितस्यानुत्पन्नकल्पत्वादि[6]त्यनवस्थानम्। पश्चाद्वेदनान्न तत्कल्पत्वमिति चेत् ; न ; व्यवधाने तदयोगात् तावत्कालं [7]तदनवस्थानात्। अनन्तरमिति चेत् ; न; नियमाभावात्। न ह्युत्पन्नस्यानन्तरमेव वेदनमिति नियमः, अन्यत्रैवमदर्शनात्।

यत्पुनरत्र विश्वरूपस्य समाधानम्–"सुखादेर्धर्माधर्माभ्यामुत्पादि[8]तौ च यथा सुखाद्युत्पत्तिमाक्षिपतस्तद्वदनन्तरक्षणे तत्संवेदनमपि" [ ] इति; तदप्यनुपपन्नम् ; उत्पत्तिसमय एव तँस्य[9] संवेदनं न हि समसमयस्य [10]तस्यानन्तरसमयत्वम् ; [11]तत्समयस्यापि तदपरसमयत्वेन व्यवधानप्रसङ्गात्। अत्रापि यत्तस्य[12] प्रतिवचनम्–"या तूत्पत्तिकाल एव सुखादेः संवित्तिः सा भ्रमनिमित्तस्याशुभावस्य तत्र सम्भवात् तत्कृता, यथा घटादेरुत्प[13]द्यमानस्य प्रयत्नता, तत्रावश्यं घटस्योत्पत्ति[14]द्वितीयक्षणे रूपादिसमवायः तृतीये संवेदनम् अथ च [15]युगपत्संवित्तिः। सुखादौ तु द्वितीयक्षणे संवेदनोत्पादात् स्वप्रकाशभ्रमः" [ ] इति। तत्रोच्यते–कस्यासौ तद्भ्रमः ? तस्यैव सुखादेरिति चेत्; न; अचेतनत्वात्। चेतनधर्मो हि विभ्रमः, स कथमचेतनस्य स्यात् घटादावपि प्रसङ्गात् ? आत्मन इति चेत् ; न; तस्याप्यचेतनत्वात्। चेतन एवात्मा चेतनसमवायादिति चेत् ; तद्यदि चेतनमन्यविषयमेव कथं सुखादौ तद्विभ्रमः स्यादतिप्रसङ्गात् ? तद्विषयमेवेति चेत् ; न; घटादावपि [16]तद्वेदनस्य तद्विभ्रमत्वप्रसङ्गात्। ततश्चानिश्चितं [17]तस्यान्यवेद्यत्वमिति कथमर्थज्ञानस्य [18]तदन्तरवेद्यत्वे [19]तस्य निदर्शनत्वम्। आशुभावात्संवेदनस्य तत्र यौगपद्यविभ्रम एव न स्वप्रकाशविभ्रम इति

१ –द्धोपि प–आ०,ब०,प०,स०। २ व्याप्तिज्ञानेऽपि आ०,ब०,प०,स०। ३ व्याप्तिज्ञाने सुखादिज्ञाने च। ४ सुखाद्युत्पत्तेः प्राक्। ५ सुखादेः। ६ कल्पनता–आ०,ब०,प०,स०। ७ तदवस्था–आ०,ब०,प०,स०। ८ –त्पादनात्तौ आ०,ब०,प०,स०। ९ सुखादेः। १०सुखादिसंवेदनस्य। ११ अनन्तरसमयस्यापि। १२विश्वरूपस्य। १३ –रूपाद्यमा–आ०,ब०,प०,स०। १४ –त्पति. द्वि–ता०। १५ रूपवान् घट इति विशिष्टज्ञानम्। १६ घटवेदनस्य। १७घटस्य। १८तदनन्तरवेद्य–आ०,ब०,प०,स०। १९घटस्य। तस्य निदर्शनस्य निद–आ०,ब०,प०,स०।

चेत्, न, सुखादावपि तस्यैव प्रसङ्गात्। भवत्विति चेत्, न, 'स्वप्रकाशभ्रमः' इत्यस्य विरोधात्। सत्यपि यौगपद्यभ्रमे कथं तस्य प्रत्यक्षत्वम् अभ्रान्तस्यैव तत्त्वात्? अप्रत्यक्षमेव[1] तद्वेदनमिति चेत्, कथं ततः सुखादिसिद्धिः[2]? विभ्रमाभ्युपगमादतिप्रसङ्गात्। यौगपद्य एव तस्य भ्रमस्य न सुखादाविति चेत्, कथमेकस्य[3] विभ्रमाविभ्रमस्वभावत्वम् विरोधात्? अविरोधे[4] वा यस्यैव सुखादित्वं तस्यैव स्वप्रकाशनत्वमपि भवेदिति न सुखादेरन्यतः सञ्चारः तस्यैवान्यस्यान्यप्रस्थानात्। तदाह-अनवस्थानम्। ततः स्थितं सुखादिनापि वेद्यत्वस्य व्यभिचारित्वम्।

[7]ईश्वरज्ञानेन च। न हि तस्यान्यवेद्यत्वम्, एकत्वात् तस्य। नाप्यवेद्यत्वम्, ईश्वरस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। अस्त्येव तस्यापि ज्ञानान्तरम्, न चानवस्थानम्, तयोरन्यस्यैकेनैकस्य चान्येन वेदनात्, नापि परस्पराश्रयणम्, स्वप्रकाशनिरपेक्षयोरेव विषयप्रकाशत्वादिति चेत्, न, तथापि स्वप्रकाशस्यावश्यम्भावात्। तथा हि तदेकमन्यस्य आत्मविषयस्यैव प्रकाशनम्, न चात्मापरिज्ञाने तद्विषयतया तस्य प्रकाशनमुपपन्नम्। आत्मपरिज्ञाने च किमन्यज्ञानपरिकल्पनया? भवत्वेकमेव तज्ज्ञानं तथापि न व्यभिचारः तस्यापरिज्ञानात्, तद्व्यतिरेकेणैव तस्य सर्वज्ञत्वोपगमादिति चेत्, तदपरिज्ञाने[8] तत्समवायित्वेन कथं तदात्मनोऽपि[9] परिज्ञानम्? मा भूदिति चेत्, कथं तर्हि "स वेत्ति विश्वम्" [श्वेता० ३।१९] इत्यादिना तस्य [10]स्वरूपोपदर्शनम् अपरिज्ञातस्य तदयोगात्? न चेदमपौरुषेयमेव, अनभ्युपगमात्। अपरिज्ञातस्य[11] चोपदेशे[12] करणमपि [13]तस्यैवेति कथं जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वम्? अतो न तदपरिज्ञानमुपपन्नं बहुदोषत्वात्। [14]नाप्यन्यतस्तत्परिज्ञानमिति कथन्न तेन व्यभिचारः साधनस्य? न व्यभिचारः अनित्यत्वेन विशेषणात्, [15]अनित्यत्वविशिष्टं हि वेद्यत्वं साधनं न सन्मात्रमेव, 'अर्थज्ञानं तदन्यवेद्यम् अनित्यत्वे सति वेद्यत्वात् [16]कलशवत्' इति प्रयोगकरणात्। माहेश्वरे च ज्ञाने तद्विशिष्टस्य हेतोरभावात्, तस्य नित्यत्वादिति चेत्, न; हेत्वन्तरत्वेन निग्रहस्थानप्रसङ्गात्, "अविशेषोक्ते हेतौ निषिद्धे पुनर्विशेषोपादानं हेत्वन्तरम्" [न्यायसू० ५।२।६] इति वचनात्। प्रथममेव तथा वचने न दोष इति चेत्, न, तथापि व्यभिचारस्यानिवारणात् विशेषणस्य विपक्षाविरुद्धत्वात्। न हि विपक्षेणाविरुद्धं विशेषणं ततो हेतुं व्यावर्तयितुमलम्। अनित्यत्वं हि नित्यत्वस्यैव परिहारेण तस्यैव[17] तत्प्रत्यनीकत्वात्, न स्वप्रकाशस्य विपर्ययात्, अत एव स्वप्रकाशोऽपि अस्वप्रकाशस्यैव परिहारेण नानित्यत्वस्येति न परस्परपरिहारेण स्वप्रकाशविरुद्धत्वमनित्यत्वस्य। नापि सहानवस्थानेन, असति

१ यौगपद्यविभ्रमस्यैव। २ प्रत्यक्षत्वात्। ३ –सत्त्वमेव आ०, ब०, प०, स०। ४ –द्विविभ्र– आ०, ब०, प०, स०। ५ –स्य विभ्रमत्व– आ०, ब०, प०, स०। ६ –येन न– आ०, ब०, प०। –येनाप– स०। ७ "महेश्वरार्थज्ञानेन हेतोर्व्यभिचारात्"– प्रमाणप० पृ० ६०। युक्त्यनुशा० टी० पृ० १०। न्यायकुमु० पृ० १८३। स्या० रत्ना० पृ० ३१२। ८ ज्ञानापरिज्ञाने। ९ स्यात्मनोऽपि। १० स्वरूपदर्श– आ०, ब०, प०, स०। ११ महेश्वरस्वरूपस्य। १२ चोपदेशकरण– आ०, ब०, प०, स०। १३ अपरिज्ञातस्यैव। १४ नाप्यन्तस्य– आ०, ब०, प०, स०। १५ अनित्यत्वविशेषणं तद– आ०, ब०, प०, स०। १६ कलशादिवत् आ०, ब०, प०, स०। १७ नित्यस्यैव।

परस्परपरिहारे सहावस्थानस्यापि[1] सम्भवात्। कलशादावदर्शनान्न[2] तत्सम्भव इति चेत्; नित्यत्वस्यापि न स्यात् आत्मादावदर्शनात्, तत्कथमीश्वरज्ञानस्य नित्यस्यापि स्वप्रकाशत्वम्? क्वचिद(दद)र्शनेऽपि न नित्यत्वस्य तद्विरोध[3] इति चेत्; अनित्यत्वेन किमपराद्धं भवतो यतस्तत्रैव तद्विरोधमावेदयति? ततो विपक्षाद्विशेषणस्य व्यावृत्तिनियमाभावात्तद्विशिष्टस्य हेतोरपि न तन्नियम[4] इति संशयितविपक्षव्यावृत्तिकत्वात्तदवस्थं सविशेषणस्यापि व्यभिचारित्वम्। ततश्च यदत्र भासर्वज्ञेन[5] पक्षत्रयमुपन्यस्तम्–"अनेकान्तिकत्वपरिहारार्थं परमेश्वरस्य ज्ञानद्वयमभ्युपगन्तव्यम्, तद्व्यतिरेकेण वा सर्वज्ञत्वम्, अनित्यत्वे सति इति वा हेतुविशेषणं कर्त्तव्यम्" [ ] इति; तत्प्रतिविहितम्; पक्षत्रयेऽपि अनेकान्तिकत्वस्याशक्यपरिहारत्वेन प्रतिपादित्वात्, इत्यलमतिप्रसङ्गेन। ततः साध्यविकलनिदर्शनत्वादनैकान्तिकत्वाच्च न वेद्यत्वं विशिष्टमविशिष्टं वा सम्यक् साधनमिति न ततो ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं सिद्ध्यति।

तदेवाह–'**अविशेष्यविशेषणम्**' इति। विशेष्यं ज्ञानं तस्य विशेषणं ज्ञानान्तरवेद्यत्वं तदुभयस्याभावः **अविशेष्यविशेषणम्**। ततो न ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमाणाभावात्। स्वसंवेद्यत्वे च प्रमाणमुक्तमेव, ततस्तदेव प्रेक्षावद्भिरभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तद्वन्व्यवघटनादिति स्थितम्।

अपि च, यद्यस्वप्रकाशत्वमेव सकलसंवेदनानां तदा कथं क्वचिन्नैरन्तर्यं संवेदनानां तत्परिज्ञानं वा? न हि–'देवदत्त गामभ्याज' इत्यादौ दकारादिविषयमेकमेव संवेदनम्, तस्य[10] कालदैर्घ्यस्यासम्भवात्, उत्पन्नापवर्गित्वेनाभ्युपगमात्[11]। क्षणक्षीणत्वे च न[12] दकारसंवेदनस्यैव एकारादौ प्रवृत्तिः, तस्यासन्निकृष्टत्वात्[13], असन्निकृष्टेऽपि प्रवृत्तावतिप्रसङ्गात् "प्रत्यर्थनियता हि बुद्धयः" [न्यायभा० ३।२।४६] इति भाष्यविरोधाच्च। तस्मात् प्रतिवर्णं विद्यन्त एव तद्वेदनानि निरन्तराणि च, 'निरन्तरमुपलब्धा दकारादयः' इति स्मरणात्। न च स्मरणम्[14] अप्रतिपन्ने तन्नैरन्तर्ये[15] सम्भवति; अतिप्रसङ्गात्। न च तत्परिज्ञानं[16] तेषां[17] स्वत एव; तदस्वसंवेदनप्रतिज्ञाविरोधात्। एतदेवाह–'**विमुख**' इत्यादि।

विमुखानां स्वप्रकाशविकलानां **ज्ञानानाम्** उक्तवाक्यदकारादिविषयाणां **संवेदः** सङ्कुलितत्वेन[18] नैरन्तर्येण वेदनं स्वतो **विरुद्धः**[19] तदस्वसंवेदनप्रतिज्ञयेति। **व्यक्तिरन्यतः** संवेदनान्नैरन्तर्यस्येति परः, तत्राह–'**असञ्चारः**' इति। अन्यतस्तस्य[20] **न सञ्चारो** न संवेदनम्। कुतः? इत्याह–**अनवस्थानं** यतः। तथा हि–तदन्यदेकं चेत्; सर्वचरमेण तेन भवित-

---

१ स्वप्रकाश-अनित्यत्वयोः। २ कलशादावनित्यत्वं वर्तते न स्वप्रकाशत्वमिति। ३ स्वप्रकाशविरोधः। ४ विपक्षव्यावृत्तिनियमः। ५ भासर्वज्ञत्वेन आ०, ब०, प०, स०। ६ –लदर्श–भा०, ब०, प०, स०। ७ –त्वेदना– आ०, ब०, प०। ८ तथा आ०, ब०, प०, स०। ९ तत्त्वज्ञानं आ०, ब०, प०, स०। १० देवदत्तेत्यादिविषयस्यैकस्य संवेदनस्य। ११ उत्पन्नापवर्गत्वे–आ०, ब०, प०, स०। १२ न तदाकार–आ०, ब०, प०, स०। १३ एकारस्य। १४ स्मरणौघप्रति– आ०, ब०, प०, स०। १५ दकारादिनैरन्तर्ये। १६ नैरन्तर्यपरिज्ञानम्। १७ दकारादीनाम्। १८ संकलितत्वेन आ०, ब०, प०, स०। १९ –द्धस्ततस्तत्स्वसं– आ०, ब०, स०। –दस्तत्स्वसं– प०। २० अतस्तस्य आ०, ब०, प०, स०।

कथं [1]तदेव तद्वेदनसम्भवात्। भवत्विति चेत्, न, [2]तेन [3]तेषामवेदने तद्धर्मस्य नैरन्तर्यस्यापि वेदनायोगात्। न च तेषामपि वेदनम्, [4]तदा तेषामुत्पन्नापवर्गित्वेनानवस्थानात्। अवस्थाने वा कथं निरन्तरत्वं तदेकसमयमात्रतया क्रमाभावात्? सत्येव [5]तत्क्रमे [6]तदुपपत्तेः। 'अपरित्यक्तक्रमाणामेव तेषामवस्थानम्' इत्यपि न युक्तम्, अवस्थितस्वभावापेक्षया नैरन्तर्याभावस्य क्रमवत्स्वभावापेक्षया च तदपरिज्ञानस्य पूर्ववत्प्रसङ्गात्। पुनरपि क्रमापरिहारेणावस्थानकल्पने तदेवोत्तरमित्यनवस्थादोषपारम्पर्योपनिपातात्। तस्मात्सर्वात्मना नावस्थानम्। तत्र च कथं नैरन्तर्यं कथं वा युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः? "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [न्यायसू० १।१।१६] इति व्यवस्थितेव? कथं वा सविषयत्वम्? तत्काले दकारादीनामपक्रमात्। अनपक्रमे वा कथम युगपद्ग्रहणम्? तदयं पक्षः श्रेयान्। तस्मात्प्रतिवेदनं भिन्नान्येव तद्वेदनानि। तत्र च पूर्वं दकारवेदनं पुनस्तद्वेदनं ततोऽप्येकारवेदनं पुनरपि [10]तद्वेदनमेवमुत्तरत्रापीति न वर्णज्ञानानां नैरन्तर्यं पश्यामः [11]तज्ज्ञानैर्व्यवधानात्, तत्कथं निरन्तरतया तत्परिज्ञानम्? घटनादिति चेत्, न, नैरन्तर्यस्यैव घटनत्वात्, तस्य चाभावात्। आशुभावप्रयुक्तविभ्रमाद् घटनमिति चेत्, [13]तत्किमिदानीमवस्तुभूतैव? तथा चेत्, न, तदेकज्ञानसंसर्गितया[14] सवेदनानामप्यवस्तुत्वप्रसङ्गात् कथं तैरर्थप्रकाशनं व्योमकुसुमैरिवावस्तुसद्भिस्तदयोगात्? घटन एव तज्ज्ञानस्य विभ्रमो व्यवधानज्ञानस्य बाधकस्य भावान्न वेदनस्वरूपे विपर्ययादिति चेत्, न, [15]तत्रापि घटनस्यैव रूपत्वात्। न हि [16]दकारज्ञानमप्यघटनरूपं सम्भवति। तथाहि—[17]अर्धमात्रिकत्वमपि दकारस्यानेकक्ष[18]णक्रमोपनिबद्धमित्यवश्यम्भाविनि क्षणभेदे तत्तत्क्षणभाविनां [19]दकारभागानामपि भेदादवश्यम्भावी तज्ज्ञानानामपि भेदः, तत्र च घटनं यदि विभ्रमनिबद्धमेव कथं तत्र कस्यचिद्भावस्याभ्रान्तत्वं विभ्रमनिबन्धनपरिज्ञानेन बाधनादिति न दकारज्ञानस्यापि वस्तुत्वम्। वर्णान्तरज्ञानेऽप्ययमेव न्याय इति न किञ्चिद्वर्णज्ञानं वस्तुसदस्तीति विलुप्तो वर्णव्यवहारः।

वर्णज्ञानविलोपे च पदज्ञानं कथं भवेत्?।
सत्येव वर्णविज्ञाने पदज्ञानस्य सम्भवात् ॥६२९॥ ८१

पदज्ञानमनापृच्छ्य वाक्यज्ञानञ्च दुर्लभम्।
पदज्ञानानुगं यस्माद्वाक्यज्ञानं परैर्मतम् ॥६३०॥

पदवाक्यव्यवस्था च तज्ज्ञानासम्भवे कथम्?।
व्यवहारो यतः शाब्दः सिद्धोऽन्यायविदां मते? ॥६३१॥

---

१ तदेव भा०,ब०,प०,म०। २ सर्वतरमपूर्वेण अन्यज्ञानेन। ३ दकारादिवर्णविज्ञानानाम्। ४ चरमक्षणे। ५ -तत्क्रमे- भा०,ब०,प०,म०। ६ स्वलक्षणे। ७ नैरन्तर्योपपत्तेः। ८ दकारादिवर्णविज्ञानम्। ९ -ते तदा कथ- भा०,ब०,प०,म०। १० दकारवेदनवेदनम्। ११ एकारवेदनवेदनम्। १२ दकारादिज्ञानज्ञानैः। १३ घटनम्। १४ -संसर्गितया भा०,ब०,प०,म०। १५ तैरनेकैः। १६ गकार- भा०,ब०,प०,म०। १७ अर्धमात्रिक- भा०, ब०, प०। अर्धमात्रिक- म०। १८ क्षणक्रमोप- भा०, ब० प०, म०। १९ दकारभागज्ञानानाम्।

एतदेवाह–**अविशेष्यविशेषणम्** । विशेष्यो वर्णादिस्तस्य विशेषणं ज्ञेयत्वं तस्याभावः '**अविशेष्यविशेषणम्**' इति । ततो वर्णज्ञानस्य परमार्थसत्त्वमिच्छता[1] तद्भागज्ञानघटनस्य तदभ्युपगन्तव्यं तस्यैव[2] वर्णज्ञानत्वात् । न च तत् अन्यवेद्यत्वनियमे[3] सम्भवतीति स्वसंवेद्यमेव तदङ्गीकर्त्तव्यम् । कथं पुनः सत्यप्यात्मवेदने[4] घटितत्वेन वेदनं वेदनानां तैरितरैरितरापरिज्ञानादिति चेत् ? न; तेषां कथञ्चिदन्वयस्यापि भावात्, अन्वितेनात्मना घटाधिष्ठानज्ञानानां परिज्ञाने घटनस्यापि सुपरिज्ञानत्वात् । उक्तञ्चैतत्–'**आत्मनाऽनेकरूपेण**' इति[5]। प्रतिक्षणभेदनियमे तु तेषां[6] न भवत्येव क्वचिदपि घटनज्ञानं तद्विकरणभेदपरिज्ञानस्य[7] कुतश्चिदसम्भवात् । न ह्येकमपरापरतद्विष्ठानभेदविषयं ज्ञानं तन्नियमवादिनां[8] सम्भवति, सन्निहितविषयत्वेन तस्या[9]भ्युपगमात् तत्कथं तद्गतघटनपरिज्ञानम् ?

ततो यदुक्तं प्रज्ञाकरेण–"**तदाकारैकबुद्धिवेदने दीर्घवेदनव्यवस्था**" [प्र० वार्तिकाल० २।४८५] इति; तत्प्रतिविहितम्; दीर्घत्वं हि वर्णानां समयक्रमानुपातित्वम्, तदाकारत्वे बुद्धेरपि तदनुपातित्वेना[10]क्षणिकत्वानुपङ्गात् । कल्पनयैव[11] तस्याः[12] तदाकारत्वं न वस्तुत इति चेत्; न; कल्पनातस्तदाकारत्वस्य "**बालानाम्**" इत्यादिवृत्तव्याख्याने[13] प्रतिविहितत्वात् । ततः समान एव नैयायिकवत्सौगतस्यापि शाब्दव्यवहाराभाव इत्यलं प्रसङ्गेन ।

साम्प्रतं **विमुख**इत्यादिकमेव व्याख्यातुकामो यौगज्ञानदूषणं सौगतज्ञानेऽपि योजयन्निदमाह–

> **निराकारेतरस्यैतत्प्रतिभासभिदा यदि ॥२०॥**
> **तत्राप्यनर्थसंवित्तावर्थज्ञानाविशेषतः ।** इति ।

निराकारं नैयायिकादेर्ज्ञानं तस्मात् **इतरत्** साकारं तस्य **एतत्** '**विमुख**'इत्यादि दूषणम् । कुतः ? इत्याह–**अर्थज्ञानाविशेषतः** । अर्थस्यैव न स्वरूपस्य ज्ञानं तस्मादविशेषादवैलक्षण्यात् । न हि यद्यस्मादविशिष्टं तत्तद्दूषणापरामृष्टं भवितुमर्हति तदविशिष्टत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात् । असिद्धं[14] तस्य तदविशिष्टत्वम्, तदाह–**प्रतिभासभिदा यदि** । प्रत्यात्मं भावनं **प्रतिभासः** स्वप्रकाशनं तेन **भिदा** साकारज्ञानस्यार्थज्ञानाद्विशेषो **यदि** चेत्; तत्राह–**तत्रापि** तद्भिदायामपि तद्दूषणं भवतीति यावत् । अत्रेदमैदम्पर्य्यम्–नाविशिष्टत्वमर्थज्ञानात् साकारज्ञानस्यानात्मवेदित्व[15]मुच्यते यतः प्रतिभासभिदोच्येत, किन्तु विषयविषयिणोरन्यतरापरिज्ञानमेव । तच्चास्ति स्वप्रकाशेऽपि ज्ञाने । कदा ? इत्याह–**अनर्थसंवित्तौ** अर्थपरिच्छित्त्यभावे । तथा च,

> अर्थज्ञत्वं यद्वद् दुर्बोधं स्वप्रकाशशून्यस्य ।
> स्वपराभ्यां तद्बोधप्रतिषेधात् पूर्वमस्माभिः ॥६३२॥

---

१ परमार्थसत्त्वम् । २ तद्भागज्ञानघटनस्यैव । ३ –यमे भव–आ०, ब०, प०, स० । ४ सत्यस्यात्म–आ०,ब०,प०,स० । ५ न्यायवि० श्लो० ८ । ६ ज्ञानानाम् । ७ घटनाविकरणज्ञानानां भेदपरिज्ञानस्य । ८ प्रतिक्षणभेदनियम । ९ ज्ञानस्य । १० समयक्रमानुपातित्वेन । ११ कल्पनयैतस्याः आ०,ब०,प०,स० । १२ बुद्धेः । १३ न्यायवि०श्लो० २ । १४ असिद्धत्वस्य त–आ०,ब०,प०,स० । १५ –ज्ञानस्यात्मवेदि–आ०,ब०,प०,स० ।

तत्परिज्ञार्थग्रहणे तत्सारूप्य स्ववेदिनोऽपि कथम् ।
गम्येत, तन्मुखेन यद्यर्थग्रहण भणन्ति परे ॥६३३॥

अर्थसरूपज्ञानग्रहणमेव हि परेषामर्थग्रहणम् उपचारात्, तत्त्वतस्तदेव च सारूप्यज्ञानं कथमर्थापरिज्ञाने भवेत् ? ज्ञानमात्रपरिज्ञानाद्भवत्येवेति चेत्, न, सारूप्यस्य सम्बन्धवद् द्विष्ठत्वेन तत्परिज्ञानस्यैकरूपपरिज्ञानमात्रादसम्भवात् ।

द्विष्ठसारूप्यसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयस्वरूपग्रहणे सति सारूप्यवेदनम् ॥६३४॥

अन्यथा सम्बन्धज्ञानस्यापि तन्मात्रादेव सम्भवादश्लीलमेवेदं भवेत्–"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः" [प्र० वार्तिकाल० १।१] इत्यादि ।

भवतु परिज्ञाते पदार्थे सारूप्यपरिज्ञानमिति चेत्, कुतस्तत्परिज्ञानम् ? तत एव ज्ञानादिति चेत्, यदि सारूप्यमनादृत्य, निष्फलं तर्हि [1]तत्कल्पनम् । [2]तत्परिज्ञानमुखेनैवेति चेत्, न, 'अर्थपरिज्ञाने तत्परिज्ञानम्, [3]तन्मुखेन चार्थपरिज्ञानम्' इति परस्पराश्रयात् । सारूप्यान्तरपरिज्ञानमुखेनैवेति[4] चेत्, न, एकार्थापेक्षया [5]तदन्तरस्याभावात् । भावेऽपि [6]कथमर्थापरिज्ञाने [7]तस्यापि परिज्ञानम् ? परिज्ञात पदार्थ इति चेत्, न, 'कुतः' इत्यादेरनुबन्धादन[8]वस्थानानुषङ्गात् । तत्र तत एवार्थस्य तत्सारूप्यस्य च परिज्ञानम् । अत्रार्थे 'विमुख' इत्यादेर्व्याख्यानम्–मुखमिव मुखं चैतन्यं वस्तुरूपपरिज्ञानस्य तदधीनत्वात्, विगतं मुखं यस्मात्स विमुखः अचेतनार्थः, स च ज्ञानञ्च विमुखज्ञाने तयोः संवेदः समस्तेन स्वरूपत्वेन वेदनम् । स्वतो विरुद्धोऽनुपपन्न इति । अन्यत एव तर्हि ज्ञानात्तत्सारूप्यस्य व्यक्तित्वेनार्थस्य तज्ज्ञानस्य च ग्रहणसम्भवादिति चेत्, न, [9]तेनाप्यनादृतसारूप्येण तद्ग्रहणात्, प्रथमज्ञानेऽपि तत्कल्पनावैफल्यानुषङ्गात् । सारूप्यपरिज्ञानमुखेन तु तेन[10] तद्ग्रहणे पूर्ववत् परस्पराश्रयस्य सारूप्यान्तरकल्पने चानवस्थानस्य प्रसङ्गात् । तत्र ततोऽपि प्रथमज्ञान सारूप्यस्य तदाधारः सम्प्रतिपत्तिः, तत्सारूप्यस्यैवासम्प्रतिपत्ते. । तस्याप्यन्यतः परिज्ञानपरिकल्पनायामनवस्थानम् । अत्र पार्थे 'व्यक्तिः' इत्यादि 'अनवस्थानम्' इत्यन्तं सुगम व्याख्यास्येयम् । ततो न प्रत्यक्षात्मनोऽन्यतो वा सारूप्यपरिज्ञानम् ।

नापि तत्पृष्ठभाविनो विकल्पात्, तस्यावस्तुविषयत्वात् । ततोऽपि वस्तुसिद्धावति प्रसङ्गात् । वक्ष्यति चैतत् "अयमेवं[11] न वेत्त्येवम्" इत्यादिना[12] । सारूप्यमप्रत्यक्षमेवेति चेत्; न,

1 अर्थसरूप–आ०, ब०, प०, स० । 2 कथमर्थपरि–आ०, ब०, प०, स० । 3 ज्ञानतास्मात्र–आ०, ब०, स० । ज्ञानमात्र–प० । 4 एकस्यज्ञानमात्रादेव । 5 –ज्ञान एवा–आ०, ब०, प० । 6 सरूप एव परि–आ०,ब०,प०,स० । 7 सारूप्यकल्पनम् । 8 सारूप्यपरिज्ञान । 9 सारूप्यपरिज्ञानम् । 10 सारूप्यमुखेन । 11 –मुखेनैवेति आ०,स० । 12 सारूप्यान्तरस्य । 13 कथमर्थपरि–आ०,ब०, प०, स० । 14 सारूप्यान्तरस्यापि । 15 –सम्प्रमुख–आ०,ब०,प०,स० । 16 तेनाप्यनादृत–आ०,ब०,प० । 17 प्रथमज्ञानेन । 18 –मर्थवेदना आ०, ब०, प०, स० । 19 न्यायवि० श्लो० ६१ ।

तदात्मनः प्रत्यक्षस्याप्यवस्तुत्वप्रसङ्गात् । तदयम् अञ्जनविन्यासादेव लोचनभङ्गः । प्रत्यक्षस्य तत्प्रति [1]संस्कारार्थेनैव सारूप्येण [2]नीरूपत्वस्योपस्थापनात् । अवस्तुविषयस्यापि [3]तस्य तत्र प्रामाण्यं [4]प्रतिबन्धादिति चेत्; न; अनुमानादन्यस्य [5]तदभावात् । तस्य च "प्रकाशनियमः" [6]इत्यादौ निषेत्स्यमानत्वात् । ततो न कुतश्चिदपि सारूप्यं सुपरिज्ञानम् । ततो न तज्ज्ञानं विशेष्यं नापि तस्य विशेषणं सारूप्यम्, अत इदमुक्तम्–**अविशेष्यविशेषणम्** । इति सूक्तं **'निराकारेतरस्य'** इत्यादि । ततो न यौगसौगतावन्योन्यमतिशयाते अस्ववेदनादिव[7] स्ववेदनादपि संवेदनादर्थसिद्धेरभावात् । मा भूत्तत्सिद्धिः, संवेदनमात्रस्यैवाभ्युपगमादिति चेत्; न; "**स्वतस्तत्त्वम्**"[8] इत्यादिना तन्निराकरणात् ।

इदानीमनवस्थानमेव संविद्विषयं पूर्वोक्तं व्यक्तीकुर्वन्नाह–

ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानमपेक्षितपरं[9] तथा ॥२१॥
ज्ञानज्ञानलताशेषनभस्तलविसर्पिणी ।

पर्यन्ते–**'प्रसज्येत'** इति । निराकारमेव ज्ञानं ततो नानवस्थानं परतस्तत्र सारूप्यपरिज्ञानाभावादिति चेत्; न; तद्वदेव प्रथमज्ञानस्यापि निराकारत्वापत्तेरविशेषात् । निराकारस्य कथं विषयनियमः ? इत्यपि न युक्तम्; पर्यन्तज्ञानेऽपि समानत्वात् । शक्तिनियमात्तत्र[10] तन्नियमः प्रथमज्ञानेऽपि न वैमुख्यमावहति । तदेवाह–

[प्रसज्येत] अन्यथा तद्वत्प्रथमं किन्न मृग्यते ? ॥२२॥ इति ।

ततः प्रथमवत् पर्यन्तेऽपि [11]सरूपमेव ज्ञानम् । तस्य च परतः प्रतिपत्तौ तदवस्थ एव [12]तत्प्रसङ्गः । तत्र च सुदूरमनुसृत्यापि पर्यन्तज्ञानस्य [13]कुतश्चिदप्रतिपत्तौ न [14]ततस्तत्पूर्वस्य[15] नापि [16]ततस्तत्पूर्वस्य परिज्ञानं यावत्प्रथमज्ञानमप्रतिपन्नम् । [17]अर्थप्रतिपत्तिरर्थाकारज्ञानप्रतिपत्तेरेव तत्प्रतिपत्तित्वात्, तस्याश्चाभावादिति प्रवृत्त्यादिव्यवहारविकलमखिलं जगद्भवेत्, [18]तस्यार्थतत्त्वप्रतिपत्तिमूलत्वेन तदभावेऽभावात् । एतदेवाह–

गत्वा सुदूरमप्येवमसिद्धावन्त्यचेतसः ।
असिद्धेरितरेषां च तदर्थस्याप्यसिद्धितः ॥२३॥
असिद्धो व्यवहारः इति ।

मा भूत्तद्व्यवहार इति चेदत्राह–

अयमतः किं कथयाऽनया ? इति ।

---

१ संसारा–आ०, ब०, प०, स० । २ निरूप–आ०, ब०, प०, स० । ३ विकल्पस्य । ४ वस्तुप्रतिबन्धात् । ५ प्रामाण्याभावात् । ६ न्यायवि० श्लो० ३३ । ७ –दिव स्ववेदनादर्थ–आ०, ब०, प०, स० । ८ न्यायवि० श्लो० ५६ । ९ –परस्तथा आ०, ब०, प०, स० । १० पर्यन्तज्ञाने विषयनियमः । ११ स्वरूप–आ० प०, ब०, स० । १२ अनवस्थाप्रसङ्गः । १३ कुतश्चित्प्र–आ०, ब०, प०, स० । १४ पर्यन्तज्ञानात् । १५ उपान्त्यज्ञानस्य । १६ उपान्त्यज्ञानात् । १७ अर्थाप्रति–स० । १८ प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्य । तस्यार्थप्र–आ०, ब०, प०, स० ।

अयं सौगतः किं न किञ्चित् 'कुर्वीत'[1] इति शेषः। कया ? कथया वार्त्तिकादिरूपया, अनया प्रसिद्धया। कुतः ? इत्याह–'अतः' इति। अतो व्यवहारादेव [2]कथा यत इति। एतदुक्तं भवति–सति हि प्रतिपाद्यप्रतिपादकादिलक्षणे व्यवहारे सम्भवति कथा तस्यास्तद्विक्षेपत्वात्[3], असति तु तस्मिन्[4] तस्या एवाभावात्। कथं तयाऽपि किमप्यसौ[5] शिष्यव्युत्पादनमन्यद्वा कुर्वीतेति ?

यदि वा, 'निराकारेतरस्य' इत्यादिनैव प्रसङ्गागतं सौगतमतक्षिप्य नैयायिकमेव पुनरप्यभिप्रभाह–'ज्ञानज्ञानम्' इत्यादि। ननु तं[6] प्रति न युक्तमनवस्थाप्रसञ्जनम्, न हि तन्मते ज्ञानज्ञानस्य परिज्ञाननियमः, तदपरिज्ञानेऽपि दोषाभावात्। तत्कथमस्य [7]तदपरापेक्षणं यतस्तत्प्रसङ्ग'[8] ? प्रथमज्ञानस्यापि [9]तन्नियमः कस्मादिति चेत् ? न, तत्रापि तदभावात्। न हि तस्यापि नियमेन परिज्ञानम्, अपरिज्ञातस्यैव [10]तस्यापि विषयप्रकाश[11]कत्वात्, तावतैव व्यवहारस्यापि सम्भवादिति चेत्, क इदानीं परोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकात्तस्य[12] विशेषः स्यात् ? अयमेव यत्तस्य[13] परोक्षमेव ज्ञानम्, नैयायिकस्य तु कदाचित्प्रत्यक्षमपीति चेत्, उच्यते–यदा [14]तत्परोक्षम्, तदा तदस्तीति कुतः ? भवतोऽपि [15]तथाविधं पावकादिकं [16]क्वचिदस्तीति कुत इति चेत् ? मा भूत्, [17]न काचित् क्षतिः। न चैव [18]भवतः 'अपरिज्ञातस्यैव विषयप्रकाशत्वम्' इत्यभ्युपगमक्षतेः। अन्यदा प्रत्यक्षत्वादिति चेत्, न, ततस्तदैव[19] तत्सत्त्वोपपत्तेः। एकदा प्रत्यक्षस्यान्यदापि सत्त्वे नित्यमर्थज्ञानं भवेत्, [20]पूर्वापरकोट्योरपि अप्रतीतस्यैव सत्त्वोपपत्तेः। परोक्षस्यापि[21] तत्कार्याद्व्यवहारादस्तित्वं पावकस्येव[22] धूमादिति चेत्, न, व्यवहारस्यापि धूमवदपरिज्ञातस्यागमकत्वात्। परिज्ञातस्यैव गमकत्वमिति चेत्; न, [23]तत्परिज्ञानस्यापि अर्थपरिज्ञानवदपरिज्ञाने कुतोऽस्तित्वम् ? व्यवहारादेव [24]तदङ्गादिति चेत्, न, तत्रापि 'व्यवहारस्यापि' इत्यनुसन्धानाद्[25] अन्यवस्थापत्तेः। ततो यदुक्तं भासर्वज्ञेन–"सदप्रतीतौ ततोऽमी व्यवहाराः प्रवृत्ता इति कुतोऽयगम इति चेत् ? इति पूर्वपक्षयित्वा तत्प्रतिवचनम्–तद्व्यवहारदर्शनादेव अङ्कुरदुःखादिदर्शनाद् बीजाऽधर्मादिनिश्चयवत्" [ ] इति, तदप्रतिविहितम्, व्यवहारतस्तदवगमस्य अनवस्थादोषोपहतत्वेन दुष्करत्वात्। ततो [26]यथाभ्युपगम्यापि परोक्षत्वमनवस्थानदोषान्न निर्मुक्तिः, अर्थज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वनियमे[27] एवाङ्गी कर्तव्यः। तद्वदग्रज्ञानस्यापि[28] तन्नियमे कथं [29]तदन्तरानपेक्षणं यतो 'ज्ञानज्ञानलता।' इत्या-

---

१ कुर्वीतेति आ०, ब०, प०, स०। २ व्यवहारे देशकथा यतः ता०। ३ कथयत आ०, ब०, प०। ४ व्यवहारविक्षेपत्वात्। ५ व्यवहारे। ६ कथया। ७ सौगतः। ८ नैयायिकम्। ९ ज्ञानज्ञानापरिज्ञानेऽपि। १० तदन्यज्ञानापेक्षणम्। ११ अनवस्थाप्रसङ्गः। १२ परिज्ञाननियम। १३ प्रथमज्ञानस्य। १४ –प्रकाशकत्वात् ता०। १५ नैयायिकस्य। १६ मीमांसकस्य। १७ ज्ञानम्। १८ परोक्षम्। १९ क्वचिदस्ति कुत० आ०, प०, ब०, स०। २० मा भ०–आ०, ब०, प०, स०। २१ भवतोऽपि परि–ता०। नैयायिकस्य। २२ प्रत्यक्षकाल एव। २३ प्रत्यक्षे प्राक्पश्चात् विनाशात् पश्चाद्भेदे। २४ ज्ञानस्य। २५ –स्येव पू–आ० ब०, प०। २६ व्यवहारपरिज्ञानस्यापि। तत्परिज्ञातस्या–आ०, ब०। २७ व्यवहारपरिज्ञानकत्वात्। २८ –द्व्यवस्थाप–ता०। २९ यदभ्यु–आ०, ब०, प०, म०। ३० –मे कार्यो–आ०, ब०, प०, म०। ३१ अर्थज्ञानज्ञानस्यापि। ३२ तदन्तरो–आ०, ब०, प०, म०।

द्यनवसरं भवेत् ? पर्यन्ते कस्यचिज्ज्ञानस्यात्मवेदनत्वादनवसरमेवेदमिति चेत्; न; तद्वत्प्रथमज्ञानस्यापि [1]तत्त्वानुषङ्गात्। तदेवाह–'**अन्यथा तद्वत्प्रथमं किन्न मृग्यते**' इति। ततस्[2]तस्याप्यन्यत एव वेदनादनवस्थानमेव।

नानवस्थानं विषयान्तरसन्निधानात्। सन्निहिते हि विषयान्तरे [3]तत्रैव ज्ञानम्, न ज्ञानज्ञानादाविति चेत्; न; सन्निहितेऽपि तस्मिन् तस्यैवान्तरङ्गत्वेन बलीयस्त्वात्। अन्तरङ्गोऽपि[4] (हि) ज्ञानज्ञानादिः आत्मसमवायात्, न विषयान्तरं विपर्ययात्, प्रत्यासन्नसम्बन्धश्च। प्रत्यासन्नो[5] हि तत्र[6] मनसः सम्बन्धः संयुक्तसमवायलक्षणः [7]त्रयसन्निकर्षत्वात्, विषयान्तरज्ञानहेतोस्[8]तु सम्बन्धो विप्रकृष्टः [9]चतुष्टयादिसन्निकर्षत्वात्। ततो बलवति प्रत्यासन्नसम्बन्धे च ज्ञानज्ञानादौ स्वविषयज्ञानजननसमर्थे सति कथं सन्निहितेऽपि विषयान्तरे ज्ञानं यदनवस्थानं न भवेत्? अव्यापकञ्च [10]तत्सन्निधानम्, व्याप्तिविषये मानसप्रत्यक्षे सकलार्थवेदिनि माहेश्वरे च ज्ञाने तदभावात्। [11]ततो न विषयान्तरसन्निधानमङ्गमवस्थितेः। सत्यपि विषयान्तरसन्निधानाद[12]वस्थाने कथं पर्यन्तज्ञानस्याप्रतिपन्नस्यास्तित्वम्[13]? किं पुनः प्रतिपत्त्या व्याप्तमस्तित्वं येन तदभावे न भवेत्? बाढम्; कथमन्यथा[14] व्योमकुसुमादेस्तन्न[15] भवेत्? सर्वस्य तर्हि सर्वज्ञत्वं[16] सतः सर्वस्य वेदनात्। [17]प्रत्येकं न वेदनं [18]बहुभिरेव वेदनादिति चेत्; न; असर्वज्ञेनैवमपि[19] प्रतिपत्तुमशक्यत्वादिति चेत्; सत्यम्; अस्ति प्रतिपुरुषं सर्वज्ञत्वम्, अन्यथा व्याप्तिपरिज्ञानाभावस्य निवेदनात्। पर्यन्तज्ञानस्यापि तर्हि पावकादिवत् व्याप्तिज्ञानविषयत्वादेवास्तित्वमिति चेत्; कथं तर्हीदमुक्तं भासर्वज्ञेन[20]–"**न पुनरविदितो नास्त्येवोपलम्भः**" [ ] इति।

[21]कथं वा व्याप्तिज्ञानस्यास्तित्वम्? भवतां कथम्? स्वयमुपलम्भात्; ममाप्येवमिति चेत्; न; '**अन्यथा**' इत्यादिदोषात्। उपलम्भान्तरादिति चेत्; अनुपघातमनवस्थानम्, [22]तस्यापि [23]तदन्तरादस्तित्वोपपत्तेः। तत्रापि विषयान्तरसन्निधानादवस्थानमिति[24] चेत्; न; 'सत्यपि' इत्यादेरनुबन्धेन चक्रकप्रसङ्गादनवस्थापत्तेश्च। ततः पर्यन्तज्ञानस्याप्रतिपत्तिकत्वादभाव एव वक्तव्यः।

तदनेन शक्तिपरिक्षयात् ईश्वरनियोगाच्चावस्थानमिति प्रतिविहितम्; पर्यन्तज्ञानस्याप्रतिपत्तिकत्वेनाभावप्रसङ्गात्। तदभावे च [25]तद्विषयस्याप्यभावस्तावदेवं यावत् प्रथमज्ञानस्य तदर्थस्य चाभाव इत्यसिद्ध एव तन्निबन्धनो व्यवहार इति। तदाह–

---

१ आत्मवेदनत्वानुषङ्गात्। २ पर्यन्तस्यापि ज्ञानस्य। ३ विषयान्तर एव। ४ अत्र ताडपत्रं त्रुटितम्। ५ –सन्नो हि तत्र मनः स–आ०,ब०,प०,स०। ६ ज्ञानज्ञानादौ। ७ ज्ञानज्ञानादिः आत्मा मनश्चेति त्रयम्। ८ हेतुस्तत्सम्बन्धो आ०,ब०,प०,स०। ९ विषयान्तरम् इन्द्रियम् आत्मा मनश्चेति चतुष्टयम्। १० विषयान्तरसन्निधानम्। ११ ततो विष–आ०,ब०,प०। १२ –दनवस्थाने आ०,ब०,प०,स०। १३ –पन्नव्याप्तित्वम् आ०,ब०,प०,स०। १४ प्रतिपत्त्या अस्तित्वव्याप्त्यभावे। १५ अस्तित्वम्। १६ स्वतः आ०,ब०,प०,स०। सत्त्वेन रूपेण। १७ सतः तत्तद्व्यक्तिरूपेण। १८ सामान्यरूपतया। १९ बहुव्यक्तिद्वारेण। २० –ज्ञेन पुनर–आ०,ब०,प०,स०। २१ कथं व्या–आ०,ब०,प०,स०। २२ उपलम्भान्तरस्यापि। २३ अन्यस्माद् उपलम्भान्तरात्। २४ –नादनवस्थानमिति आ०, ब०, प०, स०,। २५ तद्विषयत्वस्या–आ०, ब०, प०, स०। उपान्त्यज्ञानस्य।

गत्वा सुदूरमप्येवमसिद्धावन्यचेतसः ।
असिद्धेरितरेषां च तदर्थस्याप्यसिद्धितः ॥२३॥

असिद्धो व्यवहारोऽयम् इति ।

ततः किम् ? इत्याह–

अतः किं कथयाऽनया ? ।

अतः अनन्तरन्यायात् । किम् ? न किञ्चित् 'व्युत्पाद्यम्' इति शेषः ? कया ? कथया सूत्रवार्तिकादिलक्षणया । अनया प्रसिद्धयेति । तत्त्वज्ञानव्युत्पादनमेव हि [1]तस्याः प्रयोजनम्–अनन्तरन्यायेन[2] च तदभावादभिप्रायोजनैव कथेति भाव इति ।

'निराकारेतर' इत्यादयः अन्तरश्लोका[3] वृत्तिमध्यवर्तित्वात्, 'विमुच्य' इत्यादि-वार्तिकव्याख्यानवृत्तिमन्यमध्यवर्तिन[3] स्त्वमी श्लोकाः । [4]वृत्तिचूर्णीनां तु विस्तारभयान्नास्माभिर्व्याख्यानमुपदर्श्यते । संग्रहश्लोकास्तु वृत्त्युपदर्शितस्य[5] वार्तिकार्थस्य संग्रहपरा इति विशेषः ।

तत्रैवमवस्थापितेऽर्थज्ञानस्यात्मवेदने साङ्ख्यः प्राह–सत्यम्, अर्थज्ञानं प्रत्यक्षमिति नात्र विवादः किन्तु तत्परार्थमचेतनञ्च । [6]परार्थं तत् संहतत्वात्, शयनासनाद्यङ्गवत् । शयनासनाद्यङ्गं हि परस्परप्रत्यासत्तिविशिष्टतया संहतं परार्थमेवोपलब्धं तस्य तदुपभोक्तृशरीरार्थत्वेनोपलब्धेः, [7]अतो न साध्यवैकल्यमुदाहरणस्य । नापि हेतोरसिद्धत्वम्, अर्थज्ञानस्यापि गुणत्रयरूपतया संहतत्वोपपत्तेः । सन्निवेशविशेषो हि संहतत्वम्, तच्च [8]भेदसव्यपेक्षम्, भेदश्चाविकलो गुणानामिति संहतमेव तदात्मकमर्थज्ञानम् । तदात्मकत्वञ्च तस्य यथासम्भवं सुखदुःखमोहनिमित्तत्वेनाध्यवसायात्[9] । न ह्यतदात्मकं[10] तन्निमित्तं भवितुमर्हति अतिप्रसङ्गात् । भवति च [11]ततः कस्यचित्कदाचित् सुखम् [12]अन्यदा दुःखं मोहो वा । ततो गुणत्रयात्मकम्, ततश्च परार्थम्, [13]अत एवाचेतनम् । परार्थत्वं हि परानुभवापेक्षत्वं विषयत्वमेवोच्यते । विषयश्च घटादिरचेतन एव प्रतिपन्नः । तत इदमुच्यते–'अर्थज्ञानमचेतनं विषयत्वात् घटादिवत्' इति । तत्रेदमाह–

प्रत्यक्षोऽर्थपरिच्छेदो यत्किञ्चित्करेण किम् ॥२४॥
अथ नार्थपरिच्छेदो यत्किञ्चित्करेण किम् ?

अर्थस्य नीलादेः परिच्छेदो निर्णयः अर्थपरिच्छेदः । प्रत्यक्षः[14] स्वानुभवाध्यवसेयः तथैव व्यवस्थापितत्वात् । अनेन [15]'अर्थज्ञानमचेतनम्' इति प्रत्युक्तम्, अचेतनत्वे

१ कथायाः । २ –न तद्–आ०, ब०, प०, स० । ३ –मध्यवर्तिनः आ० । ४ वृत्तिचूर्णिनां तु आ०, ब०, प०, स० । ५ वृत्तिप्रदर्शितस्य आ०, ब०, प०, स० । ६ "सङ्घातपरार्थत्वात्–सं० श्लोके ये संहताः ते परार्थाः यथा शयनासनाद्यङ्गाः"–सांख्यका० माठर०, गौडपाद०, युक्तिदी०, तत्त्वकौ० का० १९ । ७ शयनाद्यङ्गस्य । ८ तयो आ०, ब०, प०, स० । ९ भेदसव्यपेक्षं आ०, ब०, स० । १० –वसायो न आ०, ब०, प०, स० । ११ सुखदुःखमोहात्मकम् । १२ अर्थज्ञानात् । १३ अन्यथा दु–आ०, ब०, प०, स० । १४ तत आ०, ब०, प०, स० । १५ अर्थज्ञानस्येत–आ०, ब०, प०, स० ।

स्वसंवेद्यत्वायोगात्। तत इदमुच्यते–चेतनस्तत्परिच्छेदः[1], स्वसंवेद्यत्वात्, यस्तु न चेतनो नासौ तथा यथा नीलादिः[2], स्वसंवेद्यश्च तत्परिच्छेदः, तस्माच्चेतन इति।

नायं प्रयोजको हेतुः, स्वयमचेतनत्वेऽपि [3]तस्य चेतनसंसर्गेण स्ववेदनोपपत्तेः। एवं तद्वेदनस्य विभ्रमः स्यादिति चेत्; न; अव्यतिरेकापेक्षया तदभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यत एव चेतनतत्परिच्छेद[4]योरव्यतिरेकवेदनस्य विभ्रमत्वम्, व्यतिरेकस्यैव परमार्थत्वात्। प्रत्यक्षत्वं विभ्रमस्य कथमिति चेत्? न; वस्तुतस्त[5]स्याप्यभावात् केवलमनुत्पन्नविवेकदर्शनप्रतिपन्नभिप्रायानुसन्धानमात्रेण [6]तदभिधानात्। तन्न स्वसंवेद्यत्वं चेतनत्वसाधनायालं तत्परिच्छेदस्य अन्यथानुपपत्तिविकलत्वादिति चेत्; तदिदमपर्यालोचितमेव परस्य [7]वचनम्; विभ्रमविषयत्वे[8]न चेतनतत्परिच्छेदयोरपि तदविवेकवदवस्तुतैव प्राप्नुयात्। इदमप्यभिमतमेवेति चेत्; कथमिदानीं तदवस्तुत्वस्य [9]प्रतिपत्तिः? वस्तुभूतस्य तद्वेदनस्याभावात्, अवस्तुभूताच्च[10] अवस्तुप्रतिपत्तेरपि दुरुपपादत्वात्। वक्ष्यति चैतत्–

"विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति।" [न्यायवि० श्लो० ५४] इति।

ततो वस्तुभूतमेव तद्वेदनमङ्गीकर्त्तव्यमिति कथन्न तत्रायं दोषः–'चेतनज्ञानभागयोरप्यवस्तुत्वं विभ्रमविषयत्वात् तदविवेकवत्' इति? तयोरविभ्रान्तमेव तद्वेदनं निर्बाधत्वात्, तदविवेके तु भ्रान्तमेव [11]बाधवत्त्वात्, तस्मादसिद्धमेव [12]तयोर्विभ्रमविषयत्वमिति चेत्; [13]भवत्येवेदं यदि [14]तद्वेदनमेव लभ्येत। कुतो न लभ्यते? विवेकावेदनादेव। विवेको हि ज्ञानभागाच्चेतनस्य तदविविक्तः[15]। कथं [16]तदवेदने [17]तस्यापि वेदनम्? वेदने वा–

विदिताविदितत्वेन चिदाकारविवेकयोः।
विरुद्धधर्माध्यासेन भेदस्तत्र कथन्न वः? ॥६३५॥
विवेकाद्भिद्यमानश्च [18]तदाकारो जगत्स्वलम्।
ज्ञानभागेन तादात्म्यमभावादन्यथा गतेः ॥६३६॥
तथा च वस्तुतस्तत्र[19] चिद्रूपत्वव्यवस्थितेः।
चिति संसर्गतश्चित्त्वं तस्येत्यनुचितं वचः ॥६३७॥
तस्मादेकान्ततो भेदाश्चित्स्वभावविवेकयोः।
विरुद्धधर्माध्यासेऽपि नैवायं शक्यकल्पनः ॥६३८॥
एकान्ताभेदपक्षे च चिद्रूपस्याप्यवेदनम्।
तद्विवेकवदेव स्यादिति [20]तत्सम्भवः कथम् ॥६३९॥

---

१ –दः संवे–आ०, ब०, प०। २ –दि स्व–आ०, ब०, प०, स०। ३ अर्थज्ञानस्य। ४ –दनयोर–आ०, ब०, प०, स०। ५ प्रत्यक्षत्वस्य। ६ प्रत्यक्षत्वाभिधानात्। ७ वचनं हि वि–आ०, ब०, प०, स०। ८ –त्वे चेतनतत्त–आ०, ब०, स०।–त्वे चेतनत्वात्तस्य–प०। ९ प्रतिपत्तुर्वस्तु–आ०, ब०, प०, स०। १० –ताच्च वस्तु–आ०, ब०, प०, स०। ११ बाधवत्त्वं त–आ०, ब०, प०। बाधकत्वात् स०। १२ चेतनज्ञानभागयोः। १३ भवतीवेदं आ०, ब०, प०। १४ चेतनज्ञानभागयोर्वेदनमेव। १५ चेतनादभिन्नः। १६ विवेकावेदने। १७ चेतनस्यापि। १८ चिदाकारः। १९ ज्ञानभागे। २० चिद्रूपसद्भावः।

अविवेकपरिज्ञानं तेन ज्ञानस्य यद्भवेत् ।
[1]संसारकारणत्वेन कापिलैरभिलप्यताम् ॥६४०॥
चिद्रूपताविवेकस्याप्ययथा नियमाद्गृहे ।
कथञ्चिद्भेदवद्व्याप्तिस्तु ज्ञानदृग्भागयोरपि ॥६४१॥
तद्वदेव भवेद्वेदवेदेरन्यत्र भाषितम् ।
"विशेर्विषयनिर्भासविवेकानुपलम्भतः ।
विज्ञातायाः कथंचित्सिद्धो विरुद्धाकारसम्भवः ॥" [सिद्धिवि०प्र०परि०] इति।

ततो यत् [2]पतञ्जलेः सूत्रम्—"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवा[3]स्मिता" । [योगसू० २।६] इति । यच्च तत्रैव विन्ध्यवासिनो भाष्यम्—"भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्या भोगः प्रकल्प्यते" [योगभा० २।६] इति , तत्प्रतिविहितम् , [4]इवार्थत्वानुपपत्तेः, वस्तुत एवोक्तेन न्यायेन तयोरविभागस्य भावात् । न हि साक्षादेव सतस्तदविभागस्य इवार्थत्वमुपपन्नम् , [5]तच्छक्त्योरपि [6]तदर्थत्वप्रसङ्गात् । तथा च [7]तद्भेदेवार्थवस्तुसत्त्वं [8]तयोरर्पासि स एव पुनरपि मायावादः प्राप्त । निरुपद्रवप्रतिपत्तिविषयत्वेन तच्छक्त्योरे[9]निवार्यत्वपरिकल्पनं[10] तदविभागेऽपि समानम्—कथञ्चित्तस्यापि[11] निरुपद्रवतयैव प्रतिवेदनात् । कुतस्तदायमिवार्थ[12] प्रतिपत्तव्यः ? तत एव दर्शनशब्दवाच्यात् ज्ञानभागादिति[13] चेत् , [14]तेनाप्यात्मानमप्रतियता कथं तत्र [15]दृगेकत्वस्य इवार्थस्य प्रतिपत्तिः '[16]एक इवाहं दृशा' इति ? न हि स्फटिकमप्रतियतः[17] 'प्रवाल इव स्फटिकः' इति [18]प्रतिपत्तिः । आत्मनश्च [19]यदि दृक्छक्त्या सङ्कीर्णतयैव परिज्ञानम् , न भवत्येव तत इवार्थवेदनम् ।

दृक्छक्त्या स्वमसङ्कीर्णं तद्भागः प्रतिपद्यते ।
तत्सङ्कीर्णं इवास्मीति कथं नामावबुध्यताम् ? ॥६४३॥
शुभ्रमेव मणिं कश्चित् करयन्नपि परिपश्यतः ।
न [20]रक्त इवेत्येव तत्र बुद्धिः प्रवर्तते ॥६४४॥
कथं वा तदसङ्कीर्णस्यात्मनः स्यात्तयो[21] गतिः ।
अचेतनत्वात्तस्यैव न धर्मोऽयं घटादिवत् ॥६४५॥
दृक्छक्तिसङ्गतात् सोऽपि[22] चेतनो यदि कल्प्यते ।
तथासङ्कीर्णतद्वित्तौ तस्साङ्कर्यात्यवस्थितेः[23] ॥६४६॥

---

१ —एकार—आ०, ब०, प०, स० । २ पतञ्ज—ता० । ३ –स्मीवास्मि—आ०, ब०, प०, स० । ४ एवार्थ—आ०, ब०, प०, स० । ५ दृग्दर्शनशक्तीरपि । ६ इवार्थेन । ७ अविभागतदेव । ८ —तदनुभं स० । ९ —रनिवारत्व—प०, स० । १० अनिवार्यत्वं वस्तुत्वमिति । ११ अविभागस्यापि । १२ —मयेवार्थः आ०, ब०, प०, स० । १३ –ति चिचेनति स० । १४ ज्ञानभागेनापि । १५ दृगेकत्वस्यार्थ—आ०, ब०, प०, स० । १६ एकैवाहं आ०, ब०, प०, स० । १७ —तः पाटल इव आ०, ब०, प०, स० । १८ —प्रतिपत्तम—आ०,ब०,प०,स० । १९ यदि तच्छक्त्य—आ०,ब०,प० । यदेतच्छक्त्य—स० । २० रक्त आ०, ब०, प०, स० । २१ ज्ञानभागात् । २२ ज्ञानभागोऽपि । २३–सम्भव—आ०, ब०, प०, स० ।

अन्यया यदि [1]सङ्कीर्ण(र्णं) दृक्छक्त्यात्मानमन्यया ।
असङ्कीर्णतया वेत्ति विरोधानवकाशनात् ॥६४७॥
तन्न तत्सङ्करेऽप्ये[2]वेमिवार्थत्वोपकल्पने ।
प्राच्यप्रसङ्गतो यस्माद्व्यवस्थामतिभ्रमः ॥६४८॥

[3]कथं वा ज्ञानभागस्य स्वत एव चिद्रूपासङ्कीर्णतया परिज्ञानं अचेतनत्वात् कलशादिवत् ? चेतनसङ्कीर्णतया चेतन एवायमित्यपि न शोभनम् ; तदसङ्करपरिज्ञानसमय एव तत्सङ्करस्याव्यवस्थितेर्विरोधात् । नास्ति विरोधः, यस्माद् अन्यैव सा दृक्शक्तिर्यदपेक्षमसाङ्कर्यपरिज्ञानं तद्भागस्य, साप्यन्यैव तच्छक्तिर्यत्सङ्करापेक्षं तस्य चेतनायमानत्वमिति चेत् ; न, [4]प्राच्यस्येव तत्सङ्करस्यापि अविद्याविपयतयां[5] इवार्थत्वे तत्रापि 'कुतश्चायमित्रार्थः प्रतिपत्तव्यः' इत्यादिप्रसङ्गस्यानुबन्धाद्व्यवस्थया बुद्धिविभ्रमापत्तेः । प्रतिपित्सानिवृत्त्या तद्विभ्रमनिवृत्तिरवस्थितिभावात् , यावन्तः खल्विवार्थतया तच्छक्तिसङ्कराः प्रतिपित्सिता निष्पन्ने तावतां तत्परिज्ञाने भवत्येव व्यवस्था, तदपरेषाम् इवार्थतया प्रतिपित्सावैकल्यादिति चेत् ; कथमिदानीमप्रतिपन्नास्ते सूत्रभाष्याभ्यां तदर्थत्वेनाभिधियेरन्, प्रतिपन्नवस्तुविषयत्वात् प्रेक्षावतां वचनप्रवृत्तेः ? तस्मादवश्यम्भाविनी साकल्येन तत्प्रतिपत्तिरिति कथमनवस्थाव्यावृत्तिर्यतो मतिविभ्रमो न भवेत् । नापि तच्छक्तेरपरापरत्वम् यतः कयाचित्तस्य सङ्करः कयाचिच्च विपर्ययः परिकल्प्यते, परस्यैवमनभ्युपगमात् । तन्न [6]तत एव तस्य तच्छक्तिसङ्करविकलस्य प्रतिपत्तिः, यत इवार्थस्य तत एवाधिगमः स्यात् ।

नापि परतः; तस्याप्यचेतनत्वे घटादिवदेव प्रतिपत्तिधर्मत्वानुपपत्तेः । 'दृक्शक्तिसाङ्कर्याच्चेतन एव परः' इत्यपि न युक्तम्; तत्रापि तत्साङ्कर्यस्य इवार्थत्वेन स्वतः प्रतिपत्तेरुक्तन्यायेनासम्भवात् , परतः प्रतिपत्तौ अनवस्थापत्तेः । दूरमनुसृत्यापि कस्यचिदनन्याधीनमेव[7] चिद्रूपत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा ततः कस्यचिदिवार्थत्वापरिज्ञानात् । इत्युपपन्नमर्थज्ञानस्य वस्तुभूर्त[8]चेतनत्वनिवेदनार्थं प्रत्यक्षग्रहणम् , अचेतनत्वे कल्पितं[9]चेतनत्वे च प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः ।

भवतु प्रत्यक्षस्तत्परिच्छेद इत्यत्राह–'**यदि**' इत्यादि । यद्ययमभ्युपगम्यते तदा **अकिञ्चित्करेण** न किञ्चित्करोतीत्यकिञ्चित्करः पुरुषः, तस्यैवाकर्तृत्वाभ्युपगमात् , तेन **किम्** ? न किञ्चित्फलम् । निष्फल एवासौ [10]कल्पित इत्यर्थः । सफल एवासौ तत्परिच्छेदस्याधिष्ठानात् , स[11] हि चेतनाधिष्ठित एव प्रवृत्तिमान् , चेतनश्च नापरः पुरुषादिति चेत् ; न; अचेतनत्वस्यासिद्धत्वात्, तत्र[12] स्वत एव चेतनत्वस्योपपादितत्वात् । एतेन भोगस्तत्फलमिति

१ संकीर्ण यच्छक्त्यात्मानमन्यया आ०, ब०, प०, स० । २–रेप्वेवमिवा–आ०, ब०, प०, स० । ३ कथञ्चाज्ञान–आ०, ब०, प०, स० । ४ प्राच्यस्यैव आ०, ब०, प०, स० । ५ –तयैवार्थ–आ०, ब०, प०,स० । ६ स्वत एव आ०, ब०, प०, स० । ७–न्यादीनमेव आ०, ब०, प०, स० । ८ –तमचे–आ०,ब०, प०, स० । ९–तमचे–आ०, ब०, प०, स० । १० कल्पते इ–आ०, ब० । कल्प्यते इ–प० । ११ परिच्छेदः । १२ परिच्छेदे ।

प्रत्युक्तम्, तस्यापि विषयदर्शनस्य सतो एव भावात्। [1]चेतनस्यापि [2]तत्परत्वाभिधानादेव भोक्तृत्वकल्पनायामन्यत्रस्थितेः पुरुषेऽपि प्रसङ्गात्।

अपि च, यदयं भोगः पुरुषार्थतन्त्र एव तद्वदेव नित्य इति व्यर्थ एव भोग्यसन्निधिः अकिञ्चित्करत्वात्। भोगार्थो हि तत्सन्निधिः, भोगनित्यत्वे च किं तेन? तत्सन्निधिनित्यत्वा देव [3]तन्नित्यत्वमिति चेत्, न, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। आत्यन्तिको हि [4]परमोगोपरमो मोक्षः निर्मोक्षः, तस्य च [5]भोग्यसन्निधिनित्यत्वे दुरुपपादत्वात्परिच्युतिरेव संसारस्येति कथमुपजायत तन्निर्वेदस्यापि [6]तापत्रयनिवृत्तये तन्निवर्तनहेतौ जिज्ञासा तपश्चरणं वा सम्भाव्येत? तदुक्तमन्यत्र–

"दृश्यदर्शकयोर्मुक्तिर्नित्यव्यापकयोः कथम्।
यतस्तापाद्विमुच्येत तदर्थश्च तपश्चरेत्?॥" [सिद्धिवि० परि० ८] इति।

तन्न तत्सन्निधेर्नित्यत्वम्। [7]तदनित्यतयैव तर्हि भोगोपरमादपवर्ग इति चेत्, न, तदुपरमे तदात्मनः पुरुषस्याप्युपरमात् [8]पुरुषोच्छेदकैवल्यवादोपनिपातात्। तन्न भोगस्य पुरुषात्मत्वम्।

अन्यत्वमेवास्तु तस्य तत्प्रतिबिम्बरूपत्वात्, पुरुषप्रतिबिम्बं हि बुद्धिविवर्तगत तद् विसरूपं भोगः। न च प्रतिबिम्बतद्वतोरभेदः[9], चन्द्रतोयगतप्रतिबिम्बयोर्भेदस्यैव प्रतिपत्तेरिति चेत्, उच्यते–तत्प्रतिबिम्बं यदि न [10]तत, तदवस्थं तदैकात्म्यम्। तत एवेति चेत्, तस्य यदि नित्यं तत्करणसामर्थ्यं नित्य एव भोग इति कथमपवर्गः? भोग्यसन्निधावेव तत्सामर्थ्यमिति चेत्, न, प्रागसमर्थस्य [11]तदापि तद्योगात्, नित्यतया स्वरूपप्रच्युतेरसम्भवात्। प्राच्यास मर्थस्वरूपपरित्यागेन यदा तत्समर्थरूपोपादाने तु परिणाम्येव परमार्थतः पुरुष इत्ययुक्तमुक्तम्– "चितिशक्तिरपरिणामिनी" [योगभा० १।२] इति।

सत्यपि पूर्वं सामर्थ्ये[12]तत्सन्निधावेव [13]तस्य [14]तत्कर्तृत्वसामर्थीत कार्यभावात् नान्यदेति चेत्, तदापि[15] तस्य यद्गुणपरिणामेव तत्कारित्वं कथमुक्तम्–

"गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः।" [सांख्यका० २०] इति?

तदपरिणामेवेति चेत्, वस्तुतस्तर्हि निष्कल एव पुरुष इति कथं भोगात्तदनुमानम् भाग्याऽसत्कल्पस्यान्? ततो निषिद्धमेवतत् (मेतत्) "पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्" [सांख्यका० १७]

१ विसम्बद्धतद्व्यस्य भोग्यस्य। २ परिच्छेद्यादेव। ३ चेतनत्वापि परिच्छेद्यस्य। ४ तत्पा-पादि–आ०, ब०, प०। ५ भोग्यसन्निधिना। ६ भोगनित्यत्वम्। ७ हि भोगो–आ०, ब०, प०, स०। ८ 'बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः, तदर्थावसायो मोक्षः"–योगभा० २।१८। "तदर्थावसाय विवेक-ख्यात्या पुरुषार्थसमाप्तिः"–योगभा० २।१८। ९ भोगाभिप्य–आ०, ब०, प०, स०। १० "दुःखत्रयाभिघा ताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ"–सांख्यका० १। ११ भोग्यसन्निधिनित्यत्वेऽपि। १२ पुरुषोच्छेद–आ०, ब०, प०, स०। १३ –तत्त्व–आ०, ब०, प०, स०। १४ पुरुषात्। १५ भोग्यसन्निधिनित्यत्वेऽपि। १६ भोग्यसन्निधावेव। १७ पुरुषस्य। १८ प्रतिबिम्ब। १९ भोग्यसन्निधिनित्यत्वेऽपि।

इति सप्ततिकारस्य, "अयमेव च तस्य भोगो यत्तत्र छायासङ्क्रमणसामर्थ्यम्" [ ] इति च तन्निबन्धनकारस्य ।

अपि च, तेन भोगेन भोग्यं भुञ्जानः पुमान्न [1]तावदभुक्तेनैव भोक्तुमर्हति, मुक्तात्मनोऽपि तत्त्व[2]प्रसङ्गात् । त[3]स्य स भोग एव न भवति तेन तस्याननुभवादिति चेत् ; इतरस्यापि न स्यात् तेनापि त[4]दननुभवस्याविशेषात् । भुक्तेनैव भुङ्क्ते इति चेत् ; कुतस्तद्भुक्तिः ? स्वत इति चेत् ; व्यर्थं तद्भोगकल्पनम्, भोगस्यापि स्वत एव तत्प्रसङ्गात् । भोगान्तरेण तत्प्रतिच्छायालक्षणेनेति चेत्; न;तत्रापि तदन्तरकल्पनायामनवस्थानात् । तन्न भोगेन पुरुषस्य साफल्यम् ।

नापि कैवल्यार्थेनोपक्रमेण; भोगाभावे तस्यैव वैफल्यात् । भोगोपरम एव हि [5]कैवल्यम्, भोगस्य च स्वत एवाभावात् किं तदुपरमार्थेनोपक्रमेण ?

भोगाभावे स्वतः सिद्धे किंशुके पाटलत्ववत् ।
कस्तदर्थं प्रवर्त्तेत यदि नोन्मादवान् जनः ॥६४९॥
सत्यं न[6] तस्य भोगस्तन्निवृत्त्यै नापि वर्तनम् ।
सदा शान्तस्वभावत्वात् दृशिमात्रस्य तत्त्वतः ॥६५०॥
केवलं बुद्धिसत्त्वस्थो भोगादिरुपचर्यते ।
तत्र स्वामिनि राज्ञेव सेनाव्यूहगतो जयः ॥६५१॥
इति चेदुपचारस्य निष्फलस्यैव कल्पने ।
ततोऽन्यत्रापि तत्क्लृप्तिरनवस्थानमानयेत् ॥६५२॥
प्रमाणाविषये तस्मिन्नुपचारः क[7]थञ्च वा ।
प्रतीत एव यल्लोके दृश्यते त[8]त्प्रवर्तनम् ॥६५३॥
न पुमान् तादृशः क्वापि प्रत्यक्षेणावलोक्यते ।
यादृशं कापिलाः प्राहुः प्रशान्तब्रह्मवादिनः ॥६५४॥
भोगादेर्लिङ्गतः पूर्वं तस्य ज्ञानं निवारितम्[9] ।
प्रत्यक्षाद्यपरिज्ञातं कथमाप्तोऽपि तं वदेत् ? ॥६५५॥
आप्तत्वस्यैव तज्ज्ञानरहिते सम्भवात्ययात् ।
आप्तान्तरोपदेशेन तज्ज्ञाने चानवस्थिते[10] ॥६५६॥
नापि दृष्टानुमानाप्तवचनेभ्यः प्रमान्तरम् ।
यतस्तत्प्रतिपत्तिः स्यादित्यसन्नेव ते पुमान् ॥६५७॥

---

१ तावद्भुक्ते–आ०, ब०, प०, स० । २ तत्प्रस–आ०, ब०, प०, स० । भोक्तृत्वप्रसङ्गात् । ३ मुक्तस्य । ४ तदनुभ–आ०, ब०, प०, स० । ५ "पुरुषस्य उपचरितभोगाभावः शुद्धिः, एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवति ।"–योगभा० ३।५५ । ६ न सत्यमो–आ०, ब०, प० स० । ७ कथन्न वा आ०, ब०, प०, स० । ८ उपचारप्रवृत्तिः । ९ अतो नानुमानात्तत्प्रतिः । १० –ते आ०, ब०, प०, स० ।

तत्र भाक्तेऽपि भोगादिस्त्वत्रेति सुविवेचयन् ।
इदमाह यतो देवो 'यद्यकिञ्चित्करेण किम्' ॥६५८॥

तेनाभ्यूहत्रयस्योपपन्न एव ताभ्युपचारस्तस्य प्रमाणतः प्रतीतेः । प्रतीतिविषयतया सोपचारस्य[1] लोके प्रवृत्तिदर्शनात् । न चैवं पुरुषे भोगस्य[2] कुतश्चित्तस्यैवानधिगमात् । न हि प्रत्यक्षेण बुद्धिसत्त्वव्यतिरिक्तस्य चिद्रूपस्याधिगतिः, तस्य[3] स्वयमचेतनत्वात् । सांसर्गिकाच्च चैतन्यात्तद्व्यतिरिक्तस्य ग्रहणानुपपत्तेः । नाप्यनुमानात्, भोगादेर्लिङ्गस्य निषिद्धत्वात्, लिङ्गा न्तरस्य च यथास्थानं निराकरणात् । [4]नाप्यागमात्, तस्याप्तवचनात्वात्, आप्तस्य चापरिज्ञाते तस्मिन् [5]कस्यचिदसम्भवात् । आप्तान्तरोपदेशात्तत्परिज्ञाने चानवस्थानदोषात् । न चापरं प्रमाणम्, यतस्तत्प्रतिपत्तिः "त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्" [सांख्यका० ४] इति वचनात् । ततो निःशेषप्रमाणव्यापारदूरपथपरिवर्तित्वेन व्योमारविन्दमकरन्दसौरभसन्निभ एव पुरुष इति कथं तस्योपचारादपि भोगवत्त्वं यतो निष्फलं तत्परिकल्पनं न भवेत् ? इति सर्वमेतच्चेतसि कुर्वतो देवस्येदं वचनमाविर्भूतम्–'अकिञ्चित्करेण किम्' इति ।

विकल्पान्तरमुपक्षिपति–'अथ' इत्यादि । 'अथ' इति वितर्के । परिच्छेदोऽर्थनिर्णयो भोग्यं न प्रत्यक्ष, किन्त्वचेतन एवासाविति यदि मतं परस्याभिप्राय । तत्रोत्तरम्, अकिञ्चित्करेण तत्परिच्छेदेन किम् ? न किञ्चित् । असिद्धं तस्य अकिञ्चित्करत्वं भोगापवर्गार्थत्वात्, "भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" [योगसू० २।१८] इति वचनात् । भोगार्थत्वं तु भोग्यप्रतिबिम्बावहत्वात् । विषयो हि तत्र प्रतिबिम्बित एव पुरुषस्य भोग्यो भवति, "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इति वचनात् । अपवर्गार्थत्वं च रजस्तमोभ्यामनभिभूतस्य सत्त्वभूयिष्ठतया नितान्तनिर्मलस्य स्वरूपतच्छायागतपुरुषविवेकप्रतिपत्तिकरत्वात् । सति तद्विवेकपरिज्ञाने तत्रापि निर्विण्णस्य चेतनस्य वैराग्यबलेन [6]तत्प्रविरोधेन स्वरूपप्रतिष्ठान-स्यापवर्गस्योपपत्तेरिति चेत्, उच्यते–तत्परिच्छेदः पुरुषस्यात्मानमनुपदर्शयन् कथं भोग्यमुपदर्शयेत् [7]दर्पणादावेवमदर्शनात् ? उपदर्शितात्मन एव दर्पणादेस्तं प्रति [8]मुखाद्युपदर्शकत्वप्रसिद्धेः । आत्मानमुपदर्शयन्नपि यदि तदन्तरप्रतिबिम्बितमुपदर्शयति तदा तदन्तरमप्यपरतदन्तरप्रतिबिम्बितमेवोपदर्शयति, तथाप्येवमित्यपरापरतत्परिच्छेदकल्पनायामनवस्थानात् [9]भेद्यभोग्योपदर्शनं सम्भवतीति कथं तस्य भोगार्थत्वं [10]यदकिञ्चित्करत्वं न भवेत् ? अतदन्तरप्रतिबिम्बितस्य तस्योपदर्शने सुतरामकिञ्चित्करत्वं विषयस्येव तथा तदुपदर्शनोपपत्तेः ।

---

१ –चेतचेत् आ०, ब०, प०, स० । २ –स्य इत्येके आ०, ब०, प० स० । ३ तपचारः इति चेत् । ४ अन्यदस्य । ५ माप्युपगमा–आ०, ब०, प०, स० । ६ चविदस–आ०, ब०, प०, स० । ७ –र्हत्नेषे–आ०, ब०, प०, स० । ८ मार्य प्र–आ०, ब०, प०, स० । ९ बुद्धो । तत्प्रति–आ०, ब०, प०, स० । १० तत्प्रतिविरो–आ०, ब०, प०, स० । ११ –दर्पणादावेव दर्श–आ०, ब०, प०, स० । १२ मुखाद्यु–आ०, ब०, प०, स० । १३ भागभो–आ०, ब०, प०, स० । १४ यदि कि–आ०, ब०, प०, स० ।

अकरणा न विषयप्रतिपत्तिः क्रियात्वात् छिदिक्रियादिवत् । करणञ्च मुख्यं तत्परिच्छेद एव व्यवसायस्वभावत्वात्, व्यवसायोपलब्धस्यैव विषयस्य उपलब्धत्वोपपत्तेः, नेन्द्रियादिकं विपर्ययात् । नापि तत्प्रतिपत्तौ करणान्तरकल्पनायामनवस्थानं स्वत एव करणत्वात्, अकरणस्य हि तदन्यतः प्रतिपत्तिः । करणस्य तु तद्रूपतया परत्र ज्ञानमुपनयतो नितरामात्मनि तदुपनयनं प्रदीपवत् । प्रदीपस्य हि प्रकाशरूपतया प्रसिद्धमेव परत्रेवात्मन्यपि परिज्ञानोपनयनम् । नन्न तन्निरपेक्षस्य विषयस्यैव स्वरूपोपदर्शनमिति कथं तस्याकिञ्चित्करत्वमिति चेत् ? इदमप्यकिञ्चित्करमेव वचनम् । तथाहि–यदि विषयोपलम्भस्वभावः पुरुषः किं तत्परिच्छेदेन[1] ? पुरुषवत्तदुपलम्भस्यापि नित्यतया तन्निरपेक्षत्वात्, निष्फलकल्पनायामनवस्थानात् । तस्यातत्स्वभावत्वे[2]ऽपि नितरां तस्य[3] निष्फलत्वम् अन्धं प्रति प्रदीपवत् । तत्सन्निधौ[4] तस्य तदुपलम्भनमिति चेत्; न; स्वयमशक्तस्य तद्योगात् व्योमकुसुमवत् । स्वयमपि शक्तौ सैव तत्र साक्षात् करणम्, तत्र सत्यामसत्यपि प्रदीपादौ नक्तञ्चरेषु सान्धकाररूपदर्शनस्य प्राणिमात्रे अन्धकारदर्शनस्य च भावादिति किं तत्कल्पनेन ? तदुपधानेन[5] व्यवसायस्वभावत्वं तदुपलम्भस्येति चेत्; न; स्वत एव तस्यापि भावात् । तत्परिच्छेदस्यापि तदुपल(?)म्भादेव तत्स्वभावत्वं न स्वतोऽचेतनत्वात् । तन्न तस्य[6] भोगार्थत्वम् ।

अत एवं[7] नापवर्गार्थत्वम्, अपवर्गस्य भोगनिवृत्तिरूपतया भोगाभावेऽनुपपत्तेः । विवेकप्रतिपत्त्यङ्गतया च तस्यापवर्गार्थत्वम् । न च तस्य तदङ्गत्वमिति[8] निवेदितमिवार्थविचारे । ततः[9] सूक्तम् 'अकिञ्चित्करेण किम्' इति ।

अपि च, नीलादिसुखादिविषयोपस्थापनेन हि तस्य भोगार्थत्वम्, तदुपस्थानञ्च तत्प्रतिबिम्बात् । तदपि कुतस्तस्यावगन्तव्यम् ? तत एव [10]तत्परिच्छेदात्, स एव हि 'ममेदं प्रतिबिम्बमस्मादर्थादुपजातम्' इति प्रत्येतीति चेत्; न; तस्य अचेतनत्वेन तद्योगात् । चिच्छायासङ्क्रमाच्चेतन एव स इति चेत्; न; तत्सङ्क्रमस्य पुरुषादनन्यत्वे वक्ष्यमाणोत्तरत्वात् । अन्यत्वे तु न तस्य स्वतश्चेतनत्वं [11]तस्य पुरुषधर्मत्वेन अन्यत्रायोगात् "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [योगभा० १।९] इति वचनात् । चिच्छायान्तरसङ्क्रमकल्पनायामनवस्थानात् । भवन्नपि कथञ्चिच्चेतनो यदि पृथगेवार्थं पश्यति किं प्रतिबिम्बकल्पनेन ? पुरुषस्यापि तथा तद्दर्शनोपपत्तेः । यदि न पश्यति; कथं तत्कार्यतया प्रतिबिम्बं प्रतीयात् ? अप्रतिपन्ने कारणे तत्कार्यत्वस्याशक्यप्रतिपत्तिकत्वात् । इन्द्रियस्याप्रतिपत्तावपि तत्कार्यतया रूपादिज्ञानं कथं प्रतीयत इति चेत् ? न; स्वतस्तदनभ्युपगमात्[12] । न हि तदेवेन्द्रियज्ञानमात्मन इन्द्रियकार्यत्वं प्रत्येति; तद्व्यतिरेकादेव लिङ्गात्तत्प्रतिपत्तेः । वक्ष्यति चैतत्–

"अक्षादेरप्यदृश्यस्य तत्कार्यव्यतिरेकतः" [न्यायवि० श्लो० १७९] इति ।

---

१ अर्थपरिच्छेदेन । २ विषयोपलम्भस्वभावाभावे । ३ विषयपरिच्छेदस्य । ४ शक्तौ सत्याम् । ५ तदुपाधानेन ता० । ६ पुरुषस्य । ७ एवापवर्गा–आ०, ब०, प० । ८ –ति वेदि–आ०, ब०, प० । ९ अतः आ०, ब०, प० । १० विषयपरिच्छेदात् । ११ चेतनत्वस्य । १२ –तदभ्युपगमात्–आ०, ब०, प० ।

अप्राप्त्येवमिति चेत्, आस्तां तावत्। तत्र तत एव तत्कार्यत्वावगमः। प्रत्यक्षादन्यत इति चेत्, न, तस्याप्यर्थाविषयत्वे ततोऽपि तदसम्भवात्। अर्थविषयत्वञ्च यदि प्रतिबिम्बमन्तरेण, प्रथमप्रत्यक्षेऽपि व्यर्थं तत्कल्पनम्। प्रतिबिम्बेनेति चेत्, तदर्थकार्यत्वस्यापि न ततोऽवगमः पूर्ववत्। अन्यत प्रत्यक्षादिति चेत्, न, 'तस्याप्यर्थाविषयत्वे' इत्याद्यनुबन्धादव्यवस्थितेः।

एतदेवाह—

प्रत्यक्षं करणस्यार्थप्रतिबिम्बमसंविदः ॥२५॥ इति।

करणस्य बुद्धिविवर्तस्य स्वस्य परस्य वा प्रत्यक्षं स्फुटसंवेद्यम् अर्थप्रतिबिम्बम् अर्थकार्यं प्रतिबिम्बम् 'अयुक्तम्' इत्युपरिभागस्थेन सम्बन्धः। कुतः ? इत्याह–असंविदः अचेतनत्वात्। न ह्यचेतनेन कस्यचित्प्रत्यक्षत्वमुपपन्नम्, चेतनकल्पनावैफल्यापत्तेः। चेतनत्वेमाप्युक्तन्यायेनार्थसंविदोऽसम्प्रतिपत्तेः। तत्र प्रत्यक्षात्तत्परिज्ञानम्।

नाप्यनुमानात्, प्रत्यक्षाभावे तदप्रवृत्तेर्लिङ्गाभावाच्च। विषयनियमो लिङ्गमिति चेत्; न, तस्य 'एतेन' इत्यादिना[1] निराकरणात्। कार्यव्यतिरेकस्तर्हि लिङ्गम्, कार्यस्य प्रतिबिम्बलक्षणस्य सत्यपि कारणान्तरसाकल्ये कदाचिदनुत्पद्यमानत्वादिदमवगम्यते–अस्ति कारणान्तरमप्यस्य यदभावादिदानीमनुत्पत्तिरिति, स चार्थो व्यपदिश्यत इति चेत्, न, व्यतिरेकस्यासिद्धेः[2], सति पूर्वज्ञानादौ[3] तस्यावश्यम्भावात्। भवतु प्रतिबिम्बसादृश्ये तस्मादेव तस्योत्पत्तिः, तद्वैसादृश्ये तु कथम् ? अतोऽर्थादेव तादृशात्तदुपजननमिति चेत्, तादृशत्वेऽप्यर्थस्य कथं तदुपजनकत्वम् ? शक्तेरिति चेत, सा किमन्यत्र तत्कारणे नास्ति ? तथा चेत्, कथमेकप्रधानात्मकत्व जगत. ? शक्तिभेद एव तदुपपत्तेः, शक्तेरेव प्रधानार्थत्वात्।

शक्तीनां यदि भिन्नत्व[4] तस्मात् प्रतिकारणम् (?)।
भेदान्तरवदेवासामपि कार्यत्वमापतेत् ॥६५९॥
सद्धेतुष्वपि शक्तीनामेवं भेदप्रकल्पने।
शक्तिभेदप्रपञ्चस्यानादितायां कथं भवेत् ॥६६०॥
एकशक्तिनियन्तृत्वं जगद्वैचित्र्यकल्पितम् ?।
यतः प्रधान तत्त्व ते लब्धसञ्जीवनं भवेत् ॥६६१॥
तदेकशक्तिसद्भावे प्रतिबिम्बविधायिनाम्।
असत्यपि क्वचित्कार्यं व्यतिरिच्येत तत्कथम् ॥६६२॥

तत्र कार्यव्यतिरेकस्यापि लिङ्गत्वमिति नानुमानादपि तत्परिज्ञानम्।

भवतु पुरुषादेव तत्परिज्ञानं तस्य साक्षादेवोपलब्धिस्वरूपत्वादिति चेत्, न, तेनापि पृथगर्थतत्प्रतिबिम्बयोरपरिज्ञाने तयोर्हेतुफलभावस्य दुरवबोधत्वात्। तत्परिज्ञानञ्च यदि तत्प्रति

1 प्रतिबिम्बकल्पनम्। 2 - ॰॰॰ १०। 3 पूर्वज्ञानादेव। 4 भिन्नत्वं हि
5 कारणभे–भा॰, ब॰, प॰। 6 ॰॰॰, प॰।

बिम्बवतो विज्ञानात्[2]; तस्यापि कुतस्[1]तत्कार्यत्वमवगन्तव्यं तत्कार्यात्तत्तस्तदवगतेरयोगात्। पुरु-पादेवेति चेत्; न; तत्रापि 'तेनापि' इत्यादेः प्रसङ्गादनवस्थोपनिपाताच्च। स्वत एव[3] तयो[4]स्तेन[5] परिज्ञाने व्यर्थं सार्थप्रतिबिम्बस्यापि ज्ञानस्य कल्पनम्[6] विनापि स्वत एव पुरुषस्यार्थावगमनसद्भावात्। भवत्ये(त्वे)वमिति चेत्; तर्हि न कैवल्यम्, सर्वदाऽर्थस्य भावेन [7]तद्दर्शनस्यानिवृत्तेः। [8]अभावे वा पुरुषविकलमेव कैवल्यं भवेत्, तदा दृश्याभावेन[9] [10]तद्दर्शनस्य कैवल्ये [11]तदेकरूपस्य पुरुषस्यासम्भवात्[12]। आत्मदर्शनरूपस्तदा पुरुष इति चेत्; न; तद्दर्शनस्यापि [13]दृश्यदर्शनादभेदात्, अन्यथा निरंशत्वव्यापत्तेः।

भवतु तर्हि [14]तदा तस्य [15]स्वपरविषयत्वविशेषणरहिता दृशिरेव रूपम्, "द्रष्टा दृशिमात्रः" [योगसू० २।२०] इति वचनादिति चेत; कथमिदानीं प्रागतद्रूपत्वे तदापि [16]तद्रूपत्वं कौटस्थ्यव्यापत्तेः? प्रागपि तद्रूप एव स इति चेत्; कथं दृश्यदर्शित्वम्? इत्ययत्नसिद्धमेव कैवल्यं भवेत्। सत्यम्, न तदापि तस्य तद्दर्शित्वम्, दृश्यसन्निधानादेव केवलं [17]तद्व्यपदेशात्, संसारस्य च परमार्थतोऽसम्भवादिति चेत्; कुतः सन्निधिज्ञानम्? न तावद् दृश्यात्; अचेतनत्वात्, चिच्छायासङ्क्रमाच्च चेतनत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात्। नापि पुरुषात्; तस्य वस्तुतो निर्विषयत्वात्। सन्निधेरपि [18]तदन्तरवशाद्दर्शनकल्पनायाम् अनवस्थानात्। ततो दुर्भाषितमेवेदं विन्ध्यवासिनः–"तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे[19] पुरुषस्यानादिः[20] सम्बन्धो हेतुः" [योगभा० १।४] इति; तस्यैव सम्बन्धस्यापरिज्ञानात्। न चापरिज्ञातविषया प्रेक्षावतां वचनप्रवृत्तिः। सत्यपि सन्निधाने न तावता तस्य[21] तद्दर्शित्वम्[22]; तद्ग्रहणपरिणामे सत्येव तदुपपत्तेः। अन्यथाप्रवृत्तस्यापि[23] तद्दर्शित्वप्रसङ्गात्, सर्वगतत्वेन सर्वदा [24]तत्सन्निधानभावात्। तत्परिणामश्च न तस्याविकारिणः सम्भवतीति न पुरुषस्यापि वस्तु तदुपरक्तं वा चित्तं संवेद्यं सम्भवतीति। तदेवाह–

अप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमयुक्तमविकारिणः । इति ।

पुरुषस्य हि दृश्यमप्रत्यक्षमेव प्रत्यक्षेण तत्प्रतिबिम्बवत्, अतः (अन्तः) करणलक्षणे[25]नापरिज्ञातेन [26]तत्प्रतिपत्तेरयोगात्, [27]तदपरिज्ञानस्य च निवेदितत्वात्। भवतु स्वतस्तस्य तत्संवेद्यं न प्रत्यक्ष इति [28]चेत्; **'स्वसंवेद्यम्'** इत्यप्य**युक्तम्** त(क)स्य ? **अविकारिणः** स्वतस्तद्वेदनाभावस्याभिहितत्वात्। ततो यदि [29]चित्तस्य दृश्यत्वम्[30] स्वसंविदितमेव तदभ्युपगन्तव्यं

१ अर्थकार्यत्वम्। २ विज्ञानात्। ३ एवानयो–आ०, ब०, प०। ४ अर्थतत्प्रतिबिम्बयोः। ५ पुरुषेण। ६ ज्ञानकल्पनां विनापि। ७ अर्थदर्शन। ८ अर्थस्याभावे। ९ –भावे सदर्थदर्श–आ०, ब०, प०। १० दृश्यदर्शनस्य। ११ दृश्यदर्शनात्मकस्य। १२ –स्यासद्भावात् आ०, ब०, प०। १३ दृश्यदर्शनाभे–आ०, ब०, प०। १४ कैवल्यकाले। १५ स्वपरविषयत्वमिति विशे–प० ।–यत्वमितिशे–आ०, ब०। १६ दृशिमात्रस्वरूपम्। १७ दृश्यदर्शित्वव्यपदेशात्। १८ दृश्यसन्निधानान्तर। १९ –चित्रवृत्तिबोधे–आ०, ब०, प०। २० –नादिसम्बद्धो हे–आ०, ब०, प०। "–नादिसम्बन्धो"–योगभा०। २१ पुरुषस्य। तस्य दर्शि–आ०, ब०, प०। २२ दृश्यदर्शित्वम्। २३ –स्यापि दर्शि–आ०, ब०, प०। २४ दृश्यसन्निधान। २५ –परिज्ञानेन आ०, ब०, प०। २६ दृश्यप्रतिपत्तेरयोगात्। २७ तदज्ञानस्य आ०, ब०, प०। २८ चेत् संवे–आ०, ब०, प०। २९ चेत्तस्य प०। चेतस्य आ०, ब०। ३० –त्वमस्त–आ०, ब०, प०।

पुरुषवशेन तदनुपपत्तेः । कथं पुनश्चित्तस्य दृश्यत्वे स्वसंविदितत्वम् ? कथं च न स्यात् ? अन्यत्र चक्षुरादौ रूपादौ वा [1]दृश्ये तद्दर्शनादिति चेत्, मा भूदन्यत्र तद्दर्शनं चित्ते तु विद्यत एव । विद्यमानमपि तद्भ्रान्तमेव, पुरुषसन्निधिनिबन्धनेन भावादिति चेत्, न, [2]तत्परिज्ञाने तद्वचनानुपपत्तेः । तत्परिज्ञानमपि यदि पुरुषात् 'ममेदं सन्निहितम्' इति, यदि वा चित्तात् 'ममायं सन्निहितः' इति, तदा [3]तस्यावश्यम्भावि स्वपरविषयत्वमित्यफल्गु[4]भयपरिकल्पनं चित्त एव सकलसमीहितपरिनिष्पत्तेः । स्वसंवेदने कथं तस्यार्थवेदनम् ? निर्णयरूपं हि वेदनम्, न चैकनिर्णयसमय एव निर्णयान्तरम्, युगपत्तदप्रतिवेदनात् । तथा च सूत्रम्–"एकसमये चोभयानवधारणम् ।" [योगसू० ४।२०] इति । [5]प्रसिद्धश्चार्थवेदनमेव चित्तस्येति न तस्य स्वतो दृश्यत्वम् । नापि चित्तान्तरात्, अनवस्थानात् तस्यापि तदन्तरदृश्यत्वात् । [6]अदृश्यत्वमेवेत्यपि न युक्तम्, [7]तत्प्रचारसंवेदनेन सत्त्वानां प्रवृत्तिदर्शनात्–'क्रुद्धोऽहम्, भीतोऽहम्, अमुत्र मे रागः, अमुत्र मे क्रोधः' इति । ततोऽन्यत्रेव तत्र दर्शनमभ्युपगन्तव्यम् । न चैवं चित्तस्य तत्र दोषः, [8]तस्य स्वतः परतश्चादृश्यत्वात् । विषयोपलम्भमात्रस्यैव [9]तद्रूपतयोपगमादिति चेत्, न, कृतोत्तरत्वात् ।

अपि च, दर्शनापत्त [10]तस्य दृश्यत्वमिति कुत इदमवगन्तव्यम् ? [11]अनन्तरान्न्यायादिति चेत्, न, [12]तेनापि दर्शनदृश्ययोर्व्यवसाये ततोऽपि तदयोगात् । तद्व्यवसाययो[13]र्भेदे कथं यौगपद्येन भावो [14]दृश्यादन्यत्रैव दर्शनमिति "एक समये च" इत्यादिसूत्रविरोधात् । एक एव तदुभयव्यवसायी न्याय इति चेत्, चित्तमप्येकमेव स्वपरव्यवसायि किन्न स्यात् ? यतस्तस्मादन्यत्रैव दर्शनं न भवेत् । अवश्यं [15]चैतदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा घटादिव्यवहारोऽपि न भवेत् व्यवसायबहुत्वे तदनुपपत्तेः । न तत्र व्यवसायबहुत्वम्, एकस्यैव घटतद्रूपादिविषयस्य[16] मेचकस्य व्यवसायस्याभ्युपगमादिति चेत्, न, स्वपरयोरपि तस्यैकस्य प्रसङ्गात् । एकव्यवसायविषयत्वे कथं [17]तयोर्भेद इति चेत् ? न, घटतद्रूपयोरपि समानत्वात् । [18]तत्रापि प्रतिविषयं भिन्ना एव व्यवसाया इति चेत्, कुतस्तेषामवगमः ? अनवगतानामभ्युपगमविरोधात् । कुतश्चिद्व्यवसायादिति चेत्, न, [19]तत्रापि प्रतिव्यवसायं [20]तद्भेदे 'कुतः' इत्यादिप्रसङ्गान्निष्ठानुपपत्तेः[21] । न प्रतिविषयं तद्भेदः "तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्" [योगभा० १।३२] इति भाष्यविरोधात् । ततो यथा बहिः कथञ्चिद् विषयभेदाद्व्यवसायभेदेऽपि विज्ञानमेकमेव

---

१ तस्यैव तद्–आ०, ब०, प० । २ चित्तपरिज्ञाने । ३ चित्तस्य । ४ –गुभयकल्प–आ०, ब०, प० । चित्तपुरुषगुभयम् । ५ प्रतिषिद्ध–आ०, ब० । प्रतिषिद्ध–प० । ६ अदृश्यमेवे–आ०, ब०, प० । ७ तत्प्रचारसत्त्वानां आ०, ब०, प० । चित्तप्रचार । "स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात् सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते क्रुद्धोऽहं भीतोऽहम् अमुत्र मे रागः अमुत्र मे क्रोध इति"–योगभा० २।१९ । ८ दर्शनस्य । ९ दर्शनरूपतया । १० चित्तस्य । ११ अनन्तरान्न्याय–आ०, ब०, प० । अनन्तरोक्तत्वानुमानात् । १२ अनन्तरानुमानेनापि । १३ दर्शनदृश्यव्यवसाययोः । १४ अतः दृश्यादभिन्नमेव दर्शनमिति । १५ उभयव्यवसायि ज्ञानम् । १६–स्य व्यव–आ०, ब०, प० । १७ स्वपरयोः । १८ घटतद्रूपयोरपि । १९ कुतश्चेद्व्य–आ०, ब०, प० । २० व्यवसायविषयव्यवसायभेदे । २१–दनिष्ठापत्तेः आ० ।

तथा स्वपरयोरपि इति नार्थस्तद्दर्शनार्थेन दर्शनकल्पनेनेति। व्याख्यातमनिन्द्रियप्रत्यक्षम्।

सौगतः प्राह–भवतु स्वसंविदितमेव ज्ञानं तस्य तु कथं बहिर्विषयत्वम्? न सत्त्वमात्रेण; अतिप्रसङ्गात्। सकलविषयसाधारणं हि तत्सत्त्वम्, तेन च तस्य बहिर्विषयत्वे सर्वं सर्वविषयमेव संवेदनमिति कथं प्रतिकर्मव्यवस्था–'नीलस्यैवेदं संवेदनं न पीतस्य' इति?

स्यान्मतम्–आलोचनाज्ञानेन्द्रियतद्विषयसन्निकर्षादेरेव तद्व्यवस्थेति; तन्न; तस्यापि साधारणत्वात्। असाधारणस्य हि व्यवस्थापकत्वम्। न चासौ तथा नीलाधिगमवत् पीताद्यधिगमेऽपि भावात्, तदधिगमोत्पादकत्वाच्च। न हि तदुत्पादकर्म्यैव तद्व्यवस्थापकत्वम्; एकक्रियानिमित्तस्य क्रियान्तरं प्रत्यनङ्गत्वात्। अन्यथा यतः कुतश्चिदखिलक्रियानिष्पत्तेर्न कस्यचिदप्यभिमतक्रियावैकल्यं भवेत्। अर्थेनैव तर्हि संसर्गिणा तद्व्यवस्था, संसृष्टस्यैव नीलादेर्वेदनं नापरस्येति चेत्; न; तस्याप्यज्ञातस्य व्यवस्थापकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। न चाव्यवस्थायां तज्ज्ञानम्। तज्ज्ञाना[त्]व्यवस्थायां परस्पराश्रयात्। तस्मात्तदात्मभूतस्यैव कस्यचिद्भेदस्य व्यवस्थापकत्वम्। स चार्थाकार एव, तत एवाधिगमस्यार्थघटनोपपत्तेः। अन्यस्य तु मान्द्यपाटवादेः सर्वोऽपि तद्भेदस्य साधारणतया तदनङ्गत्वात्। तथा च वार्त्तिकं तन्निबन्धनञ्च—

"तस्माद्यतोऽस्यात्मभेदादस्याधिगतिरित्ययम्।
क्रियायाः कर्मनियमः सिद्धा सा तत्प्रसाधना॥ [प्र० वा० २।३०४]

यतः स्वरूपभेदादस्य संवेदनस्य अयमस्य नीलस्य पीतस्य वाधिगतिः इति नियमः साधिगतिस्तत्साधना सिद्धा, तन्मात्रभावादेव नियमस्यास्य भावात्। तथा चोक्तम्–"भावादेवास्य तद्भावे" [प्र०वा० १।६] न चेयमर्थघटना सारूप्यादन्यतः संवेदनस्य। यतः–

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
अन्य[:]स्वभावो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन॥
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता।
साधनेऽन्यत्र तत्कर्मसम्बन्धो न प्रसिध्यति॥ [प्र० वा० २।३०५,६]

तदाकारं हि संवेदनमर्थं व्यवस्थापयति नीलमिदं पीतं वेति। यथा आकारयोगित्वं ज्ञानस्य तथोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः। अन्यत्र तु साधने तेन कर्मणा सम्बन्धो न

---

१ आलोचनज्ञानादेरपि। २ संसर्गिणोऽर्थस्य। ३ अर्थाकारादेव। ४ अर्थघटनानङ्गत्वात्। ५–गतिनियमः आ०, ब०, प०। ६–नासिद्धा आ०, ब०, प०। ७ "एनामधिगतिम् अर्थेनान्यताम् अर्थस्वरूपतां मुक्त्वा न ह्यन्यः कश्चिदिन्द्रियादिः स्वभेदात् कथञ्चन केनापि प्रकारेण ज्ञानस्य भेदकोऽप्यर्थेन नैवेन घटयति योजयति नीलस्येयमधिगतिः पीतस्य चेयमित्यादि।········तस्मात्प्रमेयाधिगतेः फलभूतायाः व्यवस्थाप्यायाः साधनं प्रमाणं मेयरूपता। अर्थेन सारूप्यं तस्य प्रतिविषयं भिन्नस्य स्वलक्षणत्वात्। सारूप्यात् पुनरन्यत्र साधने तस्याः क्रियायाः कर्मसम्बन्धो नीलस्येयमधिगतिः पीतस्य चेत्यादि न सिध्यति। इन्द्रियाधिगतिविशेषस्य सम्भवेऽप्यनुभवमात्रात्मकज्ञानस्य विशेषकत्वायोगात्। ज्ञानगतस्यापरविशेषस्य लक्षणभेदेनानुपलक्षणात्।"–प्र० वा० म० वृ० ३।३०५–३०६। ८ अन्यस्य भावो आ०, ब०,प०। "अन्यः स्वभेदात्"–प्र० वा०म०वृ०। ९ सम्बद्धो आ०,ब०,प०।

प्रसिध्यति । सविचेत्तदाकारता चेत् परित्यज्यते, कथं तस्य संवेदनमिति नियमः ? साक्षात्करणादेव नियमो भविष्यतीति चेत्; किमिदं साक्षात्करणमर्थस्य रूपम्, अथ संवेदनस्य, [1]अथान्यदेव किञ्चित् ?

अर्थस्य साक्षात्करणं यदि रूपं [2]यदिष्यते ।
साक्षात्कारि हि विज्ञानं कथमर्थस्य तद्भवेत् ? ॥
अथ संवेदनस्यैव रूपं साक्षात्क्रिया मता ।
साक्षात्कृतः कथं सोऽर्थो न ह्यन्यस्यान्यरूपता ॥
अन्यत्वेऽप्येष दोषस्तु भवेदेवानिवारितः ।

तथा हि–यदि साक्षात्करणमर्थस्य स्वभाव [3]नीलादिवत्साधारण इति सर्वस्य संविदित सोऽर्थो भवेत् । साक्षात्क्रिया चार्थस्य न युक्ता ज्ञानधर्मत्वात् । अथ ज्ञानधर्मोऽप्यावर्थविषय तेनार्थं संविदित उच्यते; अर्थविषय इति [4]को हि विषयार्थः ? अर्थसंवेदनरूपत्वादिति चेत्; अर्थस्य संवेदनमिति किम्? अर्थरूपत्वात्संवेदनस्येति चेत्, सैवार्थाकारता संवेदनस्य । अथार्थाज्जातत्वादर्थसंवेदनम्; तथा सति चक्षुषोऽपि जातत्वात् चक्षुःसंवेदनमिति प्राप्तम् । अर्थं पश्यति न [5]चक्षुरिति चेत्, अर्थं पश्यतीति कोऽर्थः ? अर्थं पश्यत् दृश्यते तेन पश्यतीत्युच्यते; केन पश्यति ? स्वरूपेण । यथैव तर्हि स्वरूपं संविदनरूपेण पश्यति तथा अर्थमर्थरूपेणेत्यर्थरूपता अर्थस्य साधिका, संविदनरूपता संवेदनस्येति तदाकारतैव सर्वस्य साधिका । नान्यः स्वभावो भेदकोऽपि ज्ञानस्यार्थेन घटयति ।" [प्र० वार्तिकाल० २।२०४] इति । अत्राह–

एतेन चित्तिसत्तायाः साम्यात्सर्वैकवेदनम् ॥२६॥
प्रलपन्तः प्रतिक्षिप्ताः प्रतिबिम्बोदये समम् । इति ।

प्रलपन्तो निरुपपत्तिकमभिजल्पन्तस्ताथागताः प्रतिक्षिप्ताः । किं प्रलपन्त ? सर्वैकवेदनं सर्वस्य नीलधवलादेरेकेनैव ज्ञानेनाधिगमम् । कुत ? चित्तिसत्तायाः साम्यात् निराकारज्ञानसद्भावस्य सकलविषयसाधारणत्वादिति । केन तेषां प्रतिक्षेपः ? एतेन [6]कपिलदूषणेनेति । यथा हि किं तदेकज्ञानम् यस्य निराकारत्वे सर्वविषयत्वमापाद्येत ? नीलादिविषयो निर्णय एवेति चेत्, न, तस्य निराकारत्वयैव नियतविषयस्य स्वानुभवप्रत्यक्षेणानुभवात् । निराकारत्वे कुतो विषयनियम इति चेत् ? स्वहेतुप्रयुक्तादेव शक्तिनियमादिति ब्रूमः । कुतस्तस्यावगम इति चेत् ? विषयनियमादेव । ननु "तन्नियमोऽपि शक्तिनियमादेवावगम्य" इति कथम परस्पराश्रय

१ साक्षात्कार–आ०, ब०, प० । २ यन्नयान्य–आ०, ब०, प० । ३ संविदित–आ०, ब०, प० । संविदित–प्र० वार्तिकाल० । ४ नीलादि–आ०, ब०, प० । ५ चोऽपि वि–आ०, ब०, प० । ६ द्वितीयैकवचनम् । ७ –गमात् आ०, ब०, प० । ८ –न इति कपिल–आ०, ब०, प० । ९ शक्तिनियमस्य । १० विषयनियमोऽपि । ११ –गम्यत इति आ०, ब०, प० ।

इति चेत् ? न ; तन्नियमस्य[1] प्रत्यक्षत एव सिद्धत्वात् । केवलं 'स कुतः' इति प्रश्ने तन्नियमेन[2] प्रत्यवस्थानं तस्यावश्यम्भावेनाभ्युपगम्यत्वात्, अन्यथा सारूप्यासम्भवस्यापि[3] निवेदनात् । ततो यद्यर्थस्य परिच्छेदो व्यवसायोऽभ्युपगम्यते तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् , तर्हि तत्रान्यत एव विषयनियमादकिञ्चित्करमेव सारूप्यकल्पनमिति किं तेन ? तदाह–

प्रत्यक्षोऽर्थपरिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ॥२७॥ इति ।

पक्षान्तरमाह[4]–

अथ नायं परिच्छेदो यदि [अकिञ्चित्करेण किम् ।] इति ।

अथ इति वितर्के । **यदि अयम्** अनन्तर**परिच्छेदो** नीलादिव्यवसायरूपो **न** न विद्यत इति तत्राह–**अकिञ्चित्करेण किम्** सारूप्यकल्पनेन विषयाभावात् ? न हि निर्विषयं तत्कल्पनमुपपन्नम् ; व्योमकुसुमेऽपि तत्प्रसङ्गात् । सारूप्यकल्पितं चैतन्यं तद्विषय इति चेत् ; न ; तस्यासत्त्वात् । कथमन्यथा "संसर्गादविवेकश्च[श्चेत्]" [प्र०वा०२।२७७] इत्यादिना तन्निराकरणम् ? सततस्तद्योगात्[5] । [6]स्वलक्षणवदभ्युपगमसिद्धस्य तस्य तद्विषयत्वमिति चेत् ; न ; तत्सिद्धस्यापरमार्थत्वात् । अपरमार्थत एव संवेदनं तत्सारूप्यं चेति चेत् ; कुतः किं सिध्येदित्यन्धमूकं जगद्भवेत् ? स्वप्रसिद्धमेव तर्हि निर्विकल्पकं दर्शनं तद्विषय इति चेत् ; न ; तस्यापि प्रतिक्षेप्स्यमानत्वात् । ततो निर्विषयत्वादुपपन्नमेव तत्परिकल्पनस्याकिञ्चित्करत्वम् ।

भवतु तर्हि व्यवसायस्यैव तद्विषयत्वमिति चेत्; न; तस्य स्वतः प्रत्यक्षत्वे सारूप्यस्यापि तदात्मनः प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । अस्तु को दोष इति चेत् ; न; निर्विवादत्वेन तत्साधनप्रयासवैफल्यापत्तेः । तत्प्रत्यक्षस्याप्यव्यवसायत्वेन[7][8] विवाद इति चेत् ; कथं पुनर्व्यवसायस्याव्यवसायस्वभावः स्यात् विरुद्धधर्माध्यासेन भेदात् ? इत्यस्वसंवेदनमेव व्यवसायस्याभ्युपगमविरुद्धमापतितमिति कुतस्तत्सिद्धिः अन्यतस्तत्सिद्धेरनभ्युपगमात् ? स्वसंवेदनादेवान्यत इति चेत्; 'न तस्य स्वतः' इत्यादिप्रसङ्गाच्चक्रकापत्तेरनवस्थानाच्च । ततः सव्यवसायमेव तत्स्वसंवेदनं[9] तेन च तत्स्वरूपवत् सारूप्यस्यापि व्यवसायान्न तत्र विवाद इत्यकिञ्चित्कर एव तत्साधनप्रयासः । तदाह–**प्रत्यक्षोऽर्थपरिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण** तत्प्रयासेन **किम्?** न किञ्चिदिति ।

यदि चायं निर्बन्धो व्यवसायस्य स्वसंवेदनमव्यवसायमेवेति ; तदेवाह–'**अथ नायं परिच्छेदो यदि**' इति । '**अथ**' इति पूर्ववत् **यदि अयम्** अनन्तरः **परिच्छेदो** व्यवसायस्य स्वसंवेदनं व्यवसाय एवेति निश्चयो **न** न विद्यते इति । तत्राह–**अकिञ्चित्करेण किम्**– सारूप्येण न किञ्चित्फलमिति यावत् । विषयनियमस्तस्य फलमिति चेत्; न; अव्यवसितात्ततस्तदयोगात् क्षणिकत्वादिवत् । न हि क्षणिकत्वादौ नास्त्येव सारूप्यं नीलादावपि तदव्यतिरिक्ते

---

१ विषयनियमस्य । २ शक्तिनियमेन । ३ –पि वे–आ०, ब०, प० । ४ प्रत्यक्षान्तरमाह आ०, ब०, प० । ५ तदप्रयो–आ०, ब०, प० । ६ सलक्षणवदनभ्युप–आ०, ब०, प० । ७ व्यवसायप्रत्यक्षस्य । ८ –स्याप्यव–आ०, ब०, प० । ९ तत्सवे–आ०, ब०, प० ।

तद्भावप्रसङ्गात्। भवतु तत्रापि संवेदनस्य तत एव तन्नियम इति चेत्, किमिदानीमनुमानेन? व्यवसायं इति चेत्, न, बहिःसाकारस्यैव ज्ञानस्य व्यवसायत्वात्। अव्यवसायत्वेऽपि किं तद्व्यवसायेन? प्रवृत्तिरिति चेत्, न, तस्या दर्शनादेवोपपत्तेः "तत्प्रधानत्वात्" [प्र० वा० १।५] इति वचनात्[1], क्षणिकत्वादेरप्रवृत्तिविषयत्वाच्च।

समारोपव्यवच्छेद इति चेत्, तेनापि किम्? विषयनियम इति चेत्, न, [6]संवेदनादर्थान्तरत्वात्तस्य तदयोगात्, "तस्माद्यतोऽस्यात्मभेदात्" इति वचनव्यापत्तेः। अनर्थान्तरत्वेऽप्यसारूप्यरूपात् [7]ततस्तन्नियमः "तस्मात्प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता" [प्र०वा० २।३०६] इत्यस्योपप्लवात्। सारूप्यरूपत्वे तु तस्य संवेदनकारणादेव भावात् विफलमनुमानम्। तत्र विषयनियमः तद्व्यवच्छेदात्।

संवाद इति चेत्, ननु सोऽपि संवेदनविषयस्येत्यम्भावव्यवसाय एव, स च घटनैव भवति घटनस्य व्यवसायरूपत्वात्। 'क्षणभङ्गादेरिदं संवेदनं नान्यस्य' इति नियमनं हि घटनम्, तच्च व्यवसायात्मकमेव तल्लेखरूपत्वात् अतद्रूपस्य व्यवसायान्तरस्याप्यभावात्। घटनमपि [9]तद्व्यवच्छेदादेवेति चेत्, न, तस्य विषयसारूप्यादेव भावात्। तद्व्यवच्छेदसहायमेव [10]"तदपि तन्निबन्धनं" न केवलं समारोपे तदप्रतिवेदनादिति चेत्, न तर्हि सति [12]"तस्मिन्नवश्यम्भावी तन्नियम इति दुर्भाषितमेवेदम्–"भावादेवास्य तद्भावे" [प्र०वा० १।६] इति। तद्व्यवच्छेदस्य तस्य[13] विशेषे सत एव तन्नियमो न सारूप्यात्। अविशेषे तु न [14]तदपेक्षणम् अविशेषकारिण्यपेक्षाया अनभ्युपगमात्। तत्सहायत्वमेव विशेष इति चेत्, न,

पृथक् तस्य समर्थत्वे सहायेनेह किं फलम्?।
पृथक् तस्यासमर्थत्वे सहायेनेह किं फलम्॥ ६६३॥
[15]सामर्थ्यं तादृशं तस्य सारूप्यस्य मतं यदि।
सहायं यदपेक्ष्यैव कुर्वीत घटनक्रियाम्॥ ६६४॥
सहायनियमेनैव स्वहेतुबलभाविना।
चैतन्यं नियमत्येवं किन्न स्यान्नियतार्थदृक्॥ ६६५॥
सारूप्यमन्तरेणापि [16]तत्रार्थनियमस्थितेः।
तत्साधनप्रयासोऽयं धर्मकीर्तेरहो वृथा॥ ६६६॥
"तत्रानुभवमात्रेण ज्ञानस्य सदृशात्मनः।
भाव्यं तेनात्मना येन प्रतिकर्म विभज्यते॥" [प्र० वा० २।३०२] इति।

---

१ क्षणिकत्वादावपि। २ सारूप्यादेव। ३ एव नियम आ०, ब०, प०। विषयप्रतिनियमः। ४ व्यवसायः सारूप्यस्य फलमिति चेत्। ५ "प्रतीत्यप्रधानत्वात्"–प्र० वा०। ६ संवेदनात् भिन्नस्य समारोपव्यवच्छेदात्। ७ समारोपव्यवच्छेदात् विषयनियमः। ८ अतुल्लेखात्मकत्व। ९ समारोपव्यवच्छेदादेव। १० विषय सारूप्यम्। ११–र्न केवलं आ०, ब०, प०। १२ सारूप्ये। १३ सारूप्यस्य। १४ समारोपव्यवच्छेदापेक्षणम्। १५ सामर्थ्योत्तर–आ०, ब०, प०। १६ चैतन्ये।

सहायसन्निधानेऽपि[1] तदसन्निधिवत्स[2] चेत् ॥ ६६८ ॥
कथमर्थविदित्येष सारूप्येऽपि समो नयः ।

तत इदमप्यलङ्कारवचनं प्रत्युक्तम्—

"यथा तद्बोधकं वस्तु तथैव तदबोधकम् ।
[3]यदा तद्बोधकं वस्तु केन नेष्टमबोधकम् ॥" [प्र० वार्तिकाल० २।३०२] इति।

सारूप्येऽपि समानत्वात् । तत्र तत्सहायत्वमपि तस्य विशेष इति निष्फलं तदपेक्षणम् । अतः क्षणक्षयादौ[4] सारूप्यस्यैव विषयनियमनिबन्धनत्वात् कथन्न वैयर्थ्यमनुमानस्य ? तदनिच्छता च न तत्र[5] तस्य तन्निबन्धनत्वमभ्यनुज्ञातव्यम्[6] । तथा च कथं नीलादावपि तस्य तत्त्वमविशेषादिति सूक्तम्–'**अथ नायम्**' इत्यादि । तत्र व्यवसाये सारूप्यस्य कल्पनं प्रत्यक्षविरोधात् । स्वतस्तन्निश्चये च तत्प्रयासवैफल्यात् । अनिश्चये च तस्याकिञ्चित्करत्वात् ।

भवतु साङ्ख्यस्यैव चैतन्ये तत्कल्पनम्, इदमेवाह–'**अथ**' इत्यादिना । कापिलीयः पुरुषः **अयं** सारूप्यविषय इति **परिच्छेदो** निश्चयः सौगतस्य **यदि** इति ; तत्राह–**अकिञ्चित्करेण** पुरुषेण **किम्** ? न किञ्चित् । विषयाधिगमस्य तत्फलत्वात् कथं तस्याकिञ्चित्करत्वमिति [7]चेत् ? न ; आकारवादे पृथक्तदधिगमाभावात् । आकारद्वारा तदधिगम इति चेत् ; आकारस्यैव कुतोऽधिगमः ? स्वत इति चेत् ; न; कापिलैस्तदनभ्युपगमात् । विषयाधिगमादेव स्वाधिगमो व्यवस्थाप्यते तदभावे तदनुपपत्तेरिति चेत् ; न ; पृथक् तदधिगमाभावस्य उक्तत्वात् । पृथगेव तदधिगमः कापिलैरभ्युपगम्यत इति चेत् ; न ; तदभ्युपगमस्य प्रमाणत्वे कथमाकारकल्पनम् ? तदभाव एव तदुपपत्तेः[8] । अप्रमाणत्वे तु न पृथक् तदधिगमः, यतः स्वाधिगमसम्पादनम् ? आकारद्वारादेव तदधिगमात्तत्सम्पादनमिति[9] चेत् ; न; [10]तदसम्पादने तस्यैवासिद्धेः [11]तत्सम्पादनात्तत्सिद्धौ च परस्पराश्रयात् । तन्न विषयाधिगमादपि तत्सम्पादनमुपपन्नम् । तत इदं साङ्ख्यसिद्धान्तानभिज्ञतयैव परेणोक्तम्–"[12]यथैव तर्हि **स्वरूपं संवेदनरूपेण पश्यति तथार्थमर्थरूपेण**" [प्र० वार्तिकाल० २।३०६] इति । ततो विषयाधिगमस्याकारवतस्तच्चैतन्यादभावादुपपन्नम्–'**अकिञ्चित्करेण किम्**' इति ।

नापि निरंशे दर्शने तत्कल्पनमुपपन्नमित्यावेदयति–'**प्रत्यक्षम्**' इत्यादिना । **करणस्य** इन्द्रियस्य कार्यं प्रत्यक्षं साक्षात्कारिज्ञानम् । उपलक्षणमेतत् प्रत्यक्षान्तरस्यापि । तत् **अर्थप्रतिबिम्बम्** अर्थाकारमिति **अयुक्तं** युक्तिवर्जितम् । विषयनियम एव संवेदनस्य तत्र युक्तिः तदभावे तदनुपपत्तेरिति चेत् ; न; निरंशस्य[13] एतस्यैवाननुभवात् । न हि निरंशं

१–धानोऽपि–आ०, ब०, प० । २ समारोपव्यवच्छेदासन्निधानतुल्यं स विशेषः । ३ सदा आ०, ब०, प० । ४ क्षणिकत्वादौ । ५ सारूप्यस्य । ६ विषयनियमनिबन्धनत्वम् । ७ चेत् आकार–आ०, ब०, प० । ८ –त्तेः प्रमा–आ०, ब० । ९ तदधिगमात्तत्सम्पादने आ०, ब०, प० । विषयाधिगमात् स्वाधिगमसम्पादनम् । १० स्वाधिगमासम्पादने । ११ स्वाधिगमसम्पादनात् । १२ यदैव आ०,ब०,प० । १३–स्य त–आ०,ब०,प० ।

किञ्चित्संवेदनं कथञ्चिन्नियमवदुपलभ्यं यतस्तस्य तदन्यथानुपपन्नत्वमवसीयेत । "अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिध्यति" [न्यायवि० श्लो० ११] इति वचनात् । एतदेवाह– असंविदः असम्प्रतिपत्तेः निरंशस्य प्रत्यक्षस्येति । तत्र व्यवसायादन्यत्र सारूप्यकल्पनमनुपपन्नम् । नापि व्यवसाये तस्य निराकारस्यैवानुभवात् । न चैवता सर्वस्य विषयत्वम्, तस्य तथानुभवाभावात् । तर्हि न किञ्चिदपि तस्य प्रत्यक्षमाकारस्येति चेत्, अत्राह–'अप्रत्यक्षम्' इत्यादि । अविकारिणः आकारविकारविकलस्य व्यवसायस्य यत् स्वम् आत्मीयं संवेद्यं नीलादि तत् अप्रत्यक्षमित्ययुक्तम् अत्र 'अनुभवबाधनात्' इति भावगतो हेतुः प्रतिपत्तव्यः ।

यदि च, निराकारत्वे ज्ञानस्य प्रत्यासत्तिनियमाभावात्सर्ववेदनत्वम्, तत एव सर्वाकारत्वमपि भवेत् । सर्वस्य तत्कारणत्वाभावान्नेति चेत्, न, तत्रापि समानत्वात् प्रश्नस्य– 'सर्वमपि किन्न तस्य कारणम्' इति ? अतोऽत्रापि तदेव सर्वविषयत्वम् । एतदेव कारिकाक्षेपेण दर्शयति–प्रतिबिम्बोदये आकारवत्त्वे ज्ञानस्य तत्र सदा सर्वैकवेदनम् ।

स्यान्मतम्–न वस्तुस्वस्येव सर्वं सर्वस्य कारणं शक्तिप्रतिनियमात् । प्रतिनियतशक्तयो हि भावाः प्रतिनियतमेव कार्यं कुर्वीरन् न सर्वम् । न च कारणमित्येव चक्षुरादिकमपि तत्र स्वाकारसमर्पणक्षमम्, तच्छक्तिविशेषस्य नीलादावेव स्वहेतुबलभाविनो भावात् । ततो न सर्वाकारत्वेन सर्वविषयत्वम् । नापि चक्षुरादिविषयत्वमिति, तन्न, शक्तेरेव नियतविषयत्वोपपत्तेः आकारवादवैयर्थ्यापत्तेः । कल्पयताऽपि ह्याकारं शक्तिरभ्युपगन्तव्या, तदभावे तस्यैव नियतस्यासम्भवात् । तथा च तदवस्य एव अर्थः स्वशक्तितो वेदनस्य विषयनियममवकल्पयतीति व्यर्थमर्थाकारकल्पनं संवेदनस्य । युक्तञ्चैतत् अर्थस्यैवमेव सिद्धेः । आकारवादे हि न तस्य सिद्धिः पृथगदर्शनात् । आकारदर्शनमेव तस्यापि दर्शनं सादृश्यादिति चेत्, न, पृथगदृष्टे तस्मिन् तत्सादृश्यस्यैव दुरवगमत्वात् । न चानवगतं सादृश्यमुपचारकल्पनाङ्गमिति निवेदितं पूर्वम् । तस्मान्नेदमत्र निदर्शनमुपपन्नम्–"यथा पितुः सदृशः पुत्र उत्पत्तिमान् 'पितू रूपं गृह्णातीति व्यपदिश्यते लोके विनापि ग्रहणव्यापारेण तथा विज्ञानेऽपि व्यपदिश्यते" [प्र० वार्तिकाल० २।३०५] इति, वैषम्यात् । उपपन्नं ह्यत्रेदम्–पुत्रः पितृरूपं गृह्णातीति पृथगेव पितापुत्रयोस्तत्सादृश्यस्य चोपलम्भात् । न चैवमत्र, पृथग् अर्थतदाकारयोस्तत्साधर्म्यस्य चाप्रतिवेदनात् । तस्मादर्थशक्तिरेव विषयनियमो युक्तः । "वस्तुतस्तु ज्ञानस्यैव "तत्र शक्तिः, अर्थस्य ज्ञानं प्रत्यकारणत्वात् । न च ज्ञानमशक्तमेव, तत्र तदाकारस्याप्यभावप्रसङ्गात् व्योमकुसुमवत् । शक्तस्याप्याकारद्वारेणैव बहिर्विषयत्वमिति चेत्, न, पारम्पर्यदोषात् । भवति ह्येवं पारम्पर्यम्–'शक्तिः आकारः, ततोऽर्थवेदनम्' इति ।

१ निराकारत्वेन । २ दृश्यगतं । भगवती आ०, ब०, प० । ३ पतेः ब–ता० । ४ आकारस्यैव । ५ पृथग्–आ०, ब०, प० । ६ अर्थस्यापि । ७ पृथग्–आ०, ब०, प० । ८ अर्थे । ९ पितृरूपम् आ०, ब०, प० । १० वस्तुतस्तु ग्रा–आ०, ब०, प० । ११ विषयनियमो ।

निराकारज्ञानमेव नास्ति अप्रतिवेदनात् तत्कथं तच्छक्तितस्तन्नियम इति चेत् ? न; तस्यैव 'नीलमहं वेद्मि' इत्यनुभवात् । एवमपि कथं तस्य बहिर्विषयत्वमिति चेत् ? कस्यायं प्रश्नः–प्रयोजकस्य, प्रकारस्य, ज्ञापकस्य वा ? प्रयोजकस्तु [1]प्रतिपादित एव । प्रकारः शक्तिलक्षणः । ज्ञापकश्च स्वसंवेदनरूपः, स्वत एव तत्र बहिर्विषयत्वस्यानुभवात् । त[2]देव कीदृशमिति [3]चेत् ? नीलमपि कीदृशम् ? यादृशमनुभवेन दृश्यते तादृशमेवेति चेत् ; न; प्रस्तुतेऽपि समानत्वात्–बहिर्विषयत्वमपि ज्ञानस्य यादृशमनुभवोपारूढं तादृशमेव तदिति । ततो निराकृत्वमेतत्[4]–"नीलादिसुखादिकमन्तरेणापरस्य ज्ञानाकारस्यानुपलक्षणात्" [ ] इति; अपरस्यैव स्वपरपरिच्छेदरूपस्य [5]तदाकारस्य दर्शितत्वात् । साक्षात्करणञ्च तस्यैव धर्मो नार्थस्य । कथमेवमर्थः साक्षात्कृत इति व्यपदेश इति चेत् ? न; साक्षात्करणविषयत्वादेव तदुपपत्तेः । स्वयं तस्य [6]तद्धर्मत्वे तु 'साक्षात्कर्त्ता सः' इति स्यान्न 'साक्षात्कृतः' इति । न हि भवति छेदनधर्मैव खड्गः छिन्न इति, 'छेत्ता' इति तत्र व्यपदेशदर्शनात् । तत इदमपि शब्दन्यायापरिज्ञानादेव परस्य वचनम्–"अथ संवेदनस्यैव" इत्यादिकिं[7] (दिकम् ।) ततो यदि निराकारत्वे सर्वविषयत्वं संवेदनस्य आकारवत्त्वेऽपि भवेत्, शक्तेरनियामकत्वे तदाकारनियमस्याप्यसम्भवात् । इति सूक्तम्–'**प्रतिबिम्बोदये समम्** ।' इति ।

पुनरपि साकारवादं दूषयन्नाह—

सारूप्येऽपि समन्वेति प्रायः सामान्यदूषणम् ॥२८॥ इति ।

सारूप्येऽपि न केवलं सामान्ये **समन्वेति** सङ्गतं भवति । किम्[8] ? **सामान्यस्य दूषणं प्रायो** बाहुल्येन नित्यत्वादिदूषणस्य तत्राऽभावात् । तथा हि–यथा सामान्यस्य क्वचित् दृश्यत्वे सर्वत्र दृश्यत्वमेवं, दृश्यत्वाददृ(त्वादृ)श्यत्वे[10] निरवयवत्वविरोधात्, तथा संवेदनस्य यदि नीलविषयत्वं तदाकारतया जडविषयत्वमपि तदाकारतयैव, अन्यथा विषयस्यानुकृतेतरत्वेन[11] विषयिणश्च सरूपेतरत्वेन विरुद्धधर्माध्यासे निरंशत्वविरोधात्, अविरोधे वा सामान्येऽपि [12]तदविरोधादसम्बद्धमेतत्–"जातिः सर्वत्र दृश्येत" [प्र० वा० स्व० ३।१५८] इति । तथा च जडमेव संवेदनमिति कथं ततः कस्यचिदधिगमो ज्ञानकल्पनावैफल्यापत्तेः ? तदनेन अधिगमनियमस्य सारूप्यसाधने विरुद्धत्वमुक्तम् ।

अथ नीलं जाड्यादन्यदेव तत्कथं तत्र[13] सारूप्ये जाड्येऽपि तन्नियम इति चेत् ? उच्यते—

---

१ प्रतिवादिन एव । २ बहिर्विषयत्वमेव । ३ चेन्न नी–आ०, ब०, प० । ४ "तस्मात्सुखादिनीलादिव्यतिरिक्तमपरमिह जगति संवेदनं नास्तीति"–प्र० वार्तिकाल० ३।५०६ । ५ ज्ञानाकारस्य । ६ तद्धर्म प्रत्येतुं सा–आ०, ब० । ७ पृ० २४१ पं० ६ । ८ किं भवति सा–आ०, ब०, प० । ९–व सादृश्यत्वाद् दृश्य–आ०, ब०, प० । १० क्वचित् अदृश्यत्वे क्वचिच्च दृश्यत्वे । ११–त्वे वि–आ०, ब०, प० । १२ क्वचिद् दृश्यत्वस्य क्वचिच्चादृश्यत्वस्याविरोधात् । १३ नीले ।

जडत्वान्नीलमभ्यच्चेज्जडं नीलं कथं भवेत् ? ।
सम्बन्धाच्चेज्जडत्वेन सोऽपि कः परिकल्प्यताम् ? ॥६६९॥
न तादात्म्यं विभिन्नत्वात्तदुत्पत्तेस्तु[1] सम्भवे ।
जडत्वान्नीलमुत्पन्नं जडमेव पुनर्भवेत् ॥६७०॥
प्रागुक्तस्तत्र दोषश्च तज्ज्ञाने जडतेत्ययम् ।
पुनस्तद्धेतुकक्लृप्तौ स्यादनवस्थानदूषणम् ॥६७१॥
जडत्वेतरनिर्मुक्तं नीलं चेदुपकल्प्यते ।
स्कन्धान्तरं तदापन्नं तच्च नानभ्युपागमात् ॥६७२॥
तन्निर्मुक्तेऽपि ज्ञानं तदाकारसंयोग्[2]भवत् ।
तन्निर्मुक्तं[3] भवेन्नीलमभवोत्तरनीलवत् ॥६७३॥
[4]नीलादिवा(दिव) कथं [5]तस्मान्नीलस्याधिगमस्तदा ।
चेतनस्यैव धर्मोऽयं यतो लोके प्रसिद्धिमान् ॥६७४॥
तस्मादधिगमोऽन्यस्मात्तादृशादेव वेदनात् ।
इत्यवस्थानवैधुर्याद्वैवृत्तिः क्षयं गता ॥६७५॥
तत्र आद्यात्पृथङ्नीलकल्पनेयं फलावहा ।
तथापि नीलसंविरोधात्[6]नीलाऽनवापनात् ॥६७६॥
अतदाकारया वित्त्या आद्यस्य यदि वेदनम् ।
नीलस्यापि तथैवेति व्यर्थमाकारकल्पनम् ॥६७७॥
अविज्ञाते तु आद्यस्य कथं तत्र प्रवर्तनम् ? ।
नीलमात्रावबोधाच्चेत्कथं नातिप्रसज्यते ॥६७८॥
सम्बन्धो ग्राह्य एवेति यदि तत्रैव वर्तनम् ।
कथं तस्मिन्नविज्ञाते सम्बन्धोऽप्यवगम्यताम् ॥६७९॥
साधनज्ञानतोऽप्येवं साध्ये वर्तनसम्भवात् ।
अनुमानप्रमाणस्य कैमर्थ्यक्येन पोषणम् ॥६८०॥
[7]अप्रवृत्ति[:]कुतो ग्राह्ये?[8] स्नानादेः प्रापणं कथम्[9] ? ।
नीलमात्रप्रवृत्त्या चेत्ग्राह्यमभ्यवृत्त्या भवेत् ॥६८१॥
तथा च नीलमेव स्याद्विना ग्राह्येन चेतनम् ।
चेतन्येतरनिर्मुक्तेस्तत्र पूर्वं [11]निषेधनात् ॥६८२॥

---

१ –नीरसंभवात् प० ।–तैसुरसंभवेत् भा०, ब० । २ तयोर्भवेत् भा०, ब०, प० । ३ जडत्वेतर निर्मुक्तम् । ४ नीलस्यैवाद्यं भा०, ब०, प० । ५ जडत्वेतरनिर्मुक्तप्रसङ्गात् । ६ –नलीसत्वापना– भा०, ब०, प० । ७ ग्राह्ये एव । ८ ग्राह्ये । ९ प्रकृतो दोषापादनात् ग्राह्ये अप्रवृत्तिरेवास्तु इत्युक्ते आह । अप्रवृत्ति- स्तोयाभ्ये भा०, ब०, ब० । १० ग्रतः । ११ निवेदनात् भा०, ब०, प० ।

दूषणं चेतनत्वेपि पुरस्तादभिधास्यते ।
तदलं त्वरितत्वेन प्रस्तुते दीयतां मतिः ॥६८३॥

ततो न सारूप्यवादे बहिरर्थवेदनम्, [३]इत्यसरूपमेव ज्ञानमभ्यनुज्ञातव्यम् ।

कथं पुनरतद्रूपेण तद्वेदनमिति चेत् ? कथमसामान्यस्वभावैः खण्डादिभिः समानप्रत्ययजननम् ? स्वहेतुनियतात् कुतश्चित्प्रत्यासत्तिविशेषादिति चेत्; अनुकूलमाचरसि, निराकारादपि वेदनात्तत एव विषयाधिगमोपपत्तेः । सकलविषयाधिगमः कस्मान्न भवतीत्यपि न युक्तम्; खण्डादीनामेवं सकलसमानप्रत्ययहेतुत्वापत्तेर्व्यवहारसाङ्कर्योपनिपातात् । प्रतिनियतसमानप्रत्ययहेतुरेव तत्र[३] तद्विशेषो[४] न सर्वतत्प्रत्ययनिबन्धनमित्यपि समानमन्यत्र, निराकारेऽपि वेदने प्रतिनियतार्थाधिगमनिबन्धनस्यैव तद्विशेषस्य [५]भावात् । सारूप्यमेव तत्र तद्विशेष इति चेत्; खण्डादिष्वपि सामान्यमेव तद्विशेषः कस्मान्न भवति तदभावेऽप्येकप्रयोजनजननस्योपलम्भात् ? [६]उपलभ्यन्ते हि चक्षुरालोकादयस्तदेकसामान्यानधिष्ठिता अपि रूपज्ञानमेकमुपजनयन्तो ज्वरोपशमनादिकं वा गुडूच्यादयः, तथा खण्डादयोऽपि [७]तादृशा एव समानप्रत्ययमेकमुपजनयन्तीति किं तत्र सामान्यकल्पनयेति चेत् ? न; नाश्यवन्नीलादेरपि निराकारादेव वेदनादधिगमप्रसङ्गात् पूर्वोपादेयत्ववद्वा । न हि नीलस्य पूर्वक्षणोपादेयत्वमसंवेद्यमेव नीलस्यापि [८]तत्त्वापत्तेः, निरंशवादे [९]भागशस्तद्वेदनविरोधात् । न च [१०]तदाकारत्वं [११]तद्वेदनस्य; [१२]तस्यापि [१३]तदुपादेयत्वप्रसङ्गात् । न चेदमुचितम्; चेतनस्याचेतनोपादेयत्वानभ्युपगमात्, अचेतनमेव तदपि प्राप्तम्, तथा च कथं [१४]ततस्तद्वेदनम्[१५] ? अन्यतस्तद्वेदनमिति चेत्; न; तस्यापि तदाकारत्वे पूर्ववत्प्रसङ्गात्, पुनरन्यतस्तद्वेदनपरिकल्पनायामनवस्थापत्तेः न किञ्चिदर्थवेदनमिति सुव्यवस्थितः सारूप्यवादः तद्विषयाभावात् । ततो दूरमनुसृत्यापि निराकारमेव तद्वेदनमभ्युपगन्तव्यं नियतविषयञ्च, तद्वन्नीलवेदनमपीति नार्थः सारूप्येण यतः स एव तत्र [१६]तद्विशेषः स्यात् ।

कस्तर्हि तद्विशेष इति चेत् ? अतदर्थपरावृत्तत्वमेव । तदेवाह–

अतदर्थपरावृत्तमतद्रूपं तदर्थदृक् । इति ।

अतद्रूपम् अनीलादिरूपम् अपिशब्दो द्रष्टव्यः, तादृशमपि वेदनं तन्नीलादिक-

---

१ –नत्वे तु पु–प० । २ नत्वे पु–आ०, ब० । ७ इत्यसद्रूप–आ०, ब०, प० । ३ खण्डादौ । ४ प्रत्यासत्तिविशेषः । ५ भावनात् आ०, ब०, प० । ६ "यथेन्द्रियालोकमनस्कारा आत्मेन्द्रियमनस्कारा रूपविज्ञानमेकं जनयन्ति आत्मेन्द्रियमनोर्थतत्सन्निकर्षाद्वा असत्यपि तद्भावनियते सामान्ये । शिंशपादयो भिन्नाश्च परस्परानन्वयेऽपि प्रकृत्या एकाकारं प्रत्यभिज्ञानं जनयन्ति अन्यां वा दहनगृहादिकां काष्ठसाध्यामर्थक्रियां यथाप्रत्ययम् । न तु भेदाविशेषेऽपि जलादयः । श्रोत्रादिवद् रूपादिविज्ञाने ।……यथा वा गुडूची व्यक्यादीनां सह प्रत्येकं वा ज्वरादिशमनादिलक्षणानाम् एककार्यक्रियावत् । न तत्र सामान्यमपेक्ष्यते । भेदेऽपि तत्प्रकृतित्वात् । न तदविशेषेऽपि दधित्रपुसादयः ।" –प्र० वा० स्ववृ० ३।७५, ७६ । ७ एकसामान्यानधिष्ठिता एव । ८ असंवेद्यत्वापत्तेः । ९ भागतस्तद्वे–आ०, ब०, प० । १० पूर्वक्षणोपादेयत्वाकारत्वम् । ११ नीलवेदनस्य । १२ नीलवेदनस्य । १३ पूर्वनीलक्षणोपादेयत्व । १४ नीलवेदनात् । १५ नीलस्य ज्ञानम् । १६ प्रत्यासत्तिविशेषः ।

मेवार्थं पश्यतीति तदर्थदृग् अवधारणगर्भत्वात्समासस्य। कुत एतत्? अतदर्थपरावृत्तं यत इति। नीलादेरर्थादन्यः पीतादिरतदर्थः तस्मात्परावृत्तं तद्ग्रहणपराङ्मुखत्वात्, तत्कथं तेन तद्दर्शनम्? न हि तत्परावृत्तमेव तद्दर्शनं भवति। ननु अतद्रूपत्वे तत्परावृत्तत्वमेव कथमिति प्रश्नविषय, तत्कथं तस्यैवोत्तरत्वम्? प्रश्नविषयस्यैवोत्तरत्वे न कश्चित्साधनसाफल्यम्, विवादविषयादेव तत्सिद्धेरिति चेत्, न, शक्तिगतस्य तत्परावृत्तत्वस्य हेतुत्वात्, अधिगमगतस्य च साध्यत्वात्। तेनायमर्थः –शक्तिनियमात् संवेदनस्याधिगमनियम इति। एतदेवोत्तरार्थं विवृण्वन्नाह–

अथेदमसरूपं किमतदर्थनिवृत्तितः ॥२९॥
तदर्थवेदनं न स्यादसमानामपोहवत्। इति।

अथेति प्रश्ने। इदं स्वसंवेदनमेव ज्ञानम्। कीदृशम्? असरूपम् अविषयाकारम्। अनेन तत्सारूप्यसाधने प्रत्यक्षबाधनमुक्तम्। तदर्थवेदनं तस्य नीलादेरर्थस्य वेदनं तत्परिच्छेदीति किन्न स्यात्? स्यादेव। कुत एतत्? अतदर्थनिवृत्तितः। व्याख्यातमेतत्। सैव कथमसरूपस्येति चेत्? *खण्डादीनामिवेति* ब्रूमः। तदाह–'असमानामपोहवत्' इति। यथा कर्कापोहः खण्डादीनामसरूपाणामेव तथा तद्वेदनस्यापीत्यर्थः। अतन्निवृत्तेर्नीरूपत्वात्कथं ततो व्योमकुसुमादिव नियतमर्थवेदनमिति चेत्? न, सर्वथा तन्नीरूपत्वस्यासिद्धत्वात्, कथञ्चिद्भावतादात्म्येनैव तत्प्रतिपत्तेः।

"नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात्" [बृहत्स्व० श्लो० ४२] इति वचनाच्च। परस्य तु भवत्येवायं पर्यनुयोगः किं तेषु तदपोहस्य फलमिति? समानप्रत्यय इति चेत्, न, नीरूपात्तदयोगात्। प्रसिद्धञ्च तस्य तन्नीरूपत्वं "रूपं तस्य न किञ्चन" [प्र०वा० २।२०] इति वचनात्। 'वासनाप्रबोधादेव तत्प्रत्यय, तत्र केवलं तदपोहस्य सहकारिभाव एव' इत्यपि वासनामात्रविजृम्भितमेव, कारणस्यैव सहकारित्वोपपत्तेः। न च नीरूपस्य कारणत्वम्, वस्तुत्वानुषङ्गात्, तस्य तल्लक्षणत्वात्, अन्यथा स्वलक्षणस्यापि तद्भावोपनिपाताच्च किञ्चिद्वयेत्।

यत्पुनरेतत्–"समानप्रत्ययः समानतामन्तरेण सर्वस्य विलक्षणत्वात्कथमुदयी?" [प्र०वार्तिकाल० ४।१२] इति पूर्वपक्षयित्वा प्रतिपादितम्–"तदन्यव्यावृत्तिमात्रादेव नियामकात्कश्चिदेव तदुदयः" [ ] इति, तत्प्रतिविहितम्, तन्मात्रस्य नीरूपत्वेन व्योमकुसुमवत्तत्प्रत्ययनियामकत्वायोगात्।

यदप्यन्यदुक्तम्—

"आरोपितो य आकारो वासनाबीजबोधतः।
तावन्मात्रेण पर्याप्त जातिरन्या वृथा न किम्॥" [प्र०वार्तिकाल० ४।१२] इति,

---

१ तदयमर्थ इति। २ प्रत्यक्षप्रस्ताव–आ०, ब०, प०। ३ वाग्वस्तु। ४ कर्कापपोहस्य। ५ वाद्दः। ६ कारणत्वप्रसङ्गात्। ७ "यावत् तदन्यव्यावृत्तिमात्रमेवास्तु सामान्यमिति न क्षतिः।"–प्र० वार्तिकाल० ४।१२।

तदपि न किञ्चित्; [1]तदाकारस्य नीरूपत्वे ततोऽपि तदन्यापोहवत्समानप्रत्ययायोगात्। वस्तुरूपत्वे तु स एव वस्तुभूतः समानाकार इत्यसङ्गतमेतत्–"जातिरन्या वृथा न किम्" इति। ततो न कुतश्चिदपि नीरूपत्वात् समानप्रत्ययः।

भवत्वेवम्; [2]तस्यैवाभावात्। विशेषान्तरव्यापिरूपत्वे हि समानत्वम्। न च प्रत्ययस्य रूपं [3]तदन्तरव्यापि, [4]तन्मात्रपर्यवसायिन एव तस्य प्रतिभासनात्। ततः स्वलक्षणमेव तत्, न सामान्यम्। तथा च परस्य वचनम्–"स च बुद्ध्याकार[5]: स्वलक्षणमेव न तत्सामान्यं बुद्ध्यन्तरस्य तदानीमभावात् अर्थगतत्वाभावाच्च" [प्र०वार्तिकाल०४।१२] इति। ततो न समानप्रत्ययाभावो दोषायेति चेत्; न;

"प्रत्ययो यदि नामायं कश्चिदेव प्रवर्त्तते।
नियमो हेतुमात्रे स्यात् सामान्ये तु गतिः कथम्?॥"[प्र०वार्तिकाल०४।१२]

इत्यस्य विरोधात्। अने[6]न सामान्यप्रत्ययमभ्युपगम्य तन्नियामकत्वेन सामान्यादन्य[7]स्य अन्यापोहस्य प्रतिपादनात्। असत एव तस्याभ्युपगम इति चेत्; न, प्रयोजनाभावात्। व्यवहारः प्रयोजनमिति चेत्; न; तस्याप्यसतस्ततोऽसम्भवात् अप्रतिवेदनाच्च। कुतो हि व्यवहारस्य प्रतिवेदनम्? दर्शनादिति चेत्; न; ततः स्वलक्षणस्यैव प्रतिवेदनात्। न च तस्यैव व्यवहारत्वम्; निरंशक्षणक्षीणत्वात्, व्यवहारस्य च पूर्वापरभावाधिष्ठानप्रवृत्त्यादिरूपतया तद्विपरीतत्वात्, तत्र च दर्शनस्याप्रवृ[8]त्तेः। विकल्पादिति चेत्; न; समानप्रत्ययापलापे तस्यैवासम्भवात् तस्य [9]तद्रूपत्वात्। अङ्गीकारादस्त्येव तत्प्रत्यय इति चेत्; न; तदर्थापरिज्ञानात्। दर्शनमङ्गीकार इति चेत्; न, तत्र समानाकारस्याप्रतिभासनात्। प्रतिभासनेऽपि स्वलक्षणवदसत्त्वानुपपत्तेः। विकल्प इति चेत्; न; समानप्रत्ययाभावे तदभावस्योक्तत्वात्। अङ्गीकारादस्त्येव तत्प्रत्यय इति चेत्; न; 'तदर्थापरिज्ञानात्' इत्याद्यनुबन्धादनवस्थापत्तेः। न दर्शनमङ्गीकारो नापि विकल्पः किन्तु तदभिनिवेशमात्रमिति चेत्; न; तस्यापि चिद्रूपत्वे दर्शनविकल्पान्यतरकोटिव्यतिक्रमानुपपत्तेः। अचिद्रूपत्वे तु न ततस्तत्प्रत्ययप्रतिपत्तिः, ज्ञानकल्पनावैफल्यदोषात्। इति न विकल्पाद्व्यवहारप्रतिवेदनम्। नापि व्यवहारान्तरात्; अनवस्थानात्। ततो न कुतश्चिदपि तत्परिज्ञानम्। अतः प्रतिषिद्धमेतत्–

"व्यवहारमात्रमविचारिततत्त्वयापि जात्या सम्पाद्यते?" [प्र०वार्तिकाल० ४।१२]इति;

अपरिज्ञातस्य[10] [11]तया सम्पादनमिति दुरवबोधत्वात्।

अपि च, किमिदमविचारिततत्त्वया[12] इति? विचारभीरुस्वभावया[13] इति चेत्; ननु–

---

१ आरोपिताकारस्य। २ समानप्रत्ययस्यैवाभावात्। ३ विशेषान्तरव्यापि। ४ स्वमात्र। ५ –कारस्व– आ०, ब०, प०। ६ श्लोकेन। ७ –न्यस्यापोहस्य आ०, ब०, प०। ८ –वृत्तिर्वि–आ०, ब०, प०। ९ तद्रूपत्वात्–आ०, ब०, प०। १० व्यवहारस्य। ११ जात्या। १२ –तत्त्व इति आ०, ब०, प०। १३ –भीरु स्वभाव इति आ०, ब०, प०।

विचारो हि विकल्पात्मा तदभावे कथं भवेत् ? ।
यतस्तद्गीरुता जातिवस्त्वस्येयं प्रकल्प्यते ॥६८४॥
अङ्गीकारात्तदस्तित्व पूर्वमेव निवारितम् ।
स एव नास्ति तस्माच्च तद्गीतिरिति दुर्घटम् ॥६८५॥
नित्यादिरूपं तद्भासं सामान्य निरुपद्रवम् ।
क्षणभङ्गिजगदद्वैतव्यावेदनभ्रमम् ॥६८६॥
तस्माद्विचारसद्भावे विकल्पो निरुपद्रव ।
न च सामान्यनिर्भासस्तन्निषेधस्ततः कथम् ? ॥६८७॥

तस्माद्वस्तुसदेव समानप्रत्ययः । न च तस्य नीरूपादन्यापोहादुत्पत्तिरिति दुरतिक्रमोऽयं दोषोपातः सौगतस्य । शास्त्रकारेण तु तदभ्युपगममात्रेण इदमभिहितम्-'**असमानामपोहयत्**' इति । ततः स्थितम्-यथा समानपरिणामविकल्पानामेवान्यापोहस्ततश्च नियत एव समानप्रत्ययः तथा सारूप्यविकल्पस्यैव संवेदनस्यातद्रूपनिवृत्तिः, अतश्च नियतमेवार्थवेदनमिति ।

ननु यावदतद्रूपव्यावृत्त्या नियतार्थत्वं ज्ञानस्य तावत्तदाकारव्यावृत्त्यैव कस्मान्न भवति ? अतदाकारव्यावृत्तिर्नाम तदाकारत्वमेव, तच्च न कथञ्चिदप्युपलभ्यते, तत्कथं तेन नियतार्थत्वं तद्गुण्येण(णे)वेति चेत्, न, अन्यथापि तुल्यत्वात् । अतद्रूपव्यावर्त्तनमपि तदाभिमुख्यमेव तेनापि कथं नियतार्थत्वं तस्यैवादर्शनात् । अथाप्यदर्शनमपि अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या परिकल्प्यत इति चेत्, न, प्रतिकर्मनियमान्यथानुपपत्त्या तदाकारत्वस्यापि परिकल्पनात् । 'कुतस्तस्यापि नियमः नियमविकल्पात् प्रतिकर्मनियमायोगात् ?' इत्यपि न युक्तः प्रश्नः, तत्राभिमुख्येऽप्येवं प्रश्नापत्तेः । शक्तिरस्तु (शक्तिस्तु) न तत्रैव पक्षपातमुद्वहति । ततो यथाकारवतो नार्थवेदनं तदन्यतोऽपि न भवेत् । तुल्यदोषत्वपरिहारत्वात् इति उत्साद एव बहिरर्थस्य । स चाभिमत एव पथाद्वैतवादिनः । न हि संवेदनस्यान्यत् वेद्यम् तदभावात् । तत एव न चेत् अन्यस्य वेद्यमिति स्वप्रकाशमेव तदवशिष्येत । तदुक्तम्-

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥" [प्र०वा० २।३२७]

इति चेत्, अत्राह-

अत्राक्षेपसमाधीनामभेदे नूनमाकुलम् ॥३०॥
स्वचित्तमात्रगर्तावतारसोपानपोषणम् । इति ।

अत्र अनयोः निराकारेतरज्ञानयोः **आक्षेपसमाधीनां** चोद्यपरिहाराणाम् उक्तप्रकारेण **अभेदे** विशेषाभावे सति । नु इति वितर्के । **स्वचित्तमात्रं** संविदद्वैतं स एव गर्तवत् दुःखापा-

---

१ प्रकल्पते प० । २ विचार एव । ३ दोषोपनिपात आ०,ब०,प० । ४ -तुपगममात्रेण आ०, ब०, प० । ५ धीरत्वम् ।

दहेतुत्वात् **गतः** तस्याव**तारसोपान**मवतरणमार्गः **"नान्योऽनुभाव्यः"** इत्यादिस्तस्य **पोषणं** समर्थनं **तदाकुलं** न भवति । कुतः ? **ऊनं** यतः । अवनमवगमनम् ऊः अवतेरवगमनार्थत्वात् क्विपि ज्वरत्वर (ज्वरत्वर) [पा०व्या० ६।४।२०] इत्यादिना सोचो वकारस्य ऊजा (ऊठा) देशे सत्येवंरूपात् ऊवा अवगत्या ऊनं हीनम् अवगमरहितं यस्मादित्यर्थः ।

तथा हि-ग्राह्यादिनिषेधः कुतोऽवगन्तव्यः "यतो नान्यः" इत्यादि शोभेत ? ग्राह्याद्यपरिज्ञानादिति चेत् ; न; अपरिज्ञानात् कस्यचिदप्रतिपत्तेः, अतिप्रसङ्गात् । तदपरिज्ञानमेव तन्निषेधापेक्षया परिज्ञानम् । न चेदं व्याहृतम् ; विषयभेदात् , परिज्ञानस्यैवापरिज्ञानत्ववत् अपरिज्ञानस्यापि परिज्ञानत्वोपपत्तेः । प्रसिद्धं हि रूपपरिज्ञानस्यापि रसादावपरिज्ञानत्वमिति चेत् ; उच्यते-यदि तत्परिज्ञानान्निषेधस्यान्यत्वम्-"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्या" इति व्याहन्येत, तन्निषेधस्य तत्परिज्ञानादन्यस्यैव तेनानुभवात् । अनन्य एव ततस्तन्निषेधो ग्राह्यादिपर्युदासस्य तत्परिज्ञानरूपत्वादिति चेत् ; अप्रतिपन्ने ग्राह्यादौ कथं तस्य तत्पर्युदासरूपत्वमपि शक्यमवगन्तुम् ? अप्रतिपन्ने कलशादौ भूतलादेस्तत्पर्युदासरूपतया प्रतिपत्तेरप्रतिवेदनात् । एकान्तापरिज्ञाने जात्यन्तरस्य कथं तत्पर्युदासरूपत्वमवगम्यत इति चेत् ? क एवमाह-नैकान्तपरिज्ञानमिति ? सम्यगेकान्तस्य नैगमादिना नयविभागेन मिथ्यैकान्तस्य च परपरिकल्पनया प्रतिवेदनात् । ग्राह्यादेरपि कल्पनयैव वेदनमिति चेत् ; न; तत्पर्युदासरूपादेव ज्ञानात्तत्कल्पनानुपपत्तेः, ततस्तत्पर्युदासस्यैव प्रतिवेदनात् । अन्यतस्तत्कल्पनायामद्वैतव्यापत्तिः ।

अपि च, अन्यस्यापि [12]तत्कल्पकत्वं तन्निर्भासित्वमेव । तच्चानुपपन्नम् "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३५४] इत्यस्य व्याघातात् । सत्यम् ; न [13]तस्यापि वस्तुतस्तन्निर्भासित्वम् , अन्यत एव तत्र तत्कल्पनादिति चेत् ; न; तस्यातन्निर्भासत्वे ततस्तत्र तत्कल्पनानुपपत्तेः । न ह्यरूपनिर्भासमेव ज्ञानमन्यत्र तन्निर्भासित्वं कल्पयितुमलम् । भवतु तस्य तन्निर्भासित्वमिति चेत् ; न; अविभागबुद्धिप्रतिघातस्योक्तत्वात् । तत्रापि तदन्यतस्तत्कल्पनायाम् अनवस्थापत्तेः । तन्न कुतश्चिदपि ग्राह्यादिप्रतिवेदनम् । तत्कथमेतत्-

"ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ।" [प्र० वा० २।३५४] इति ।

[14]तल्लक्षणस्य स्वतः परतश्चासम्भवात् । [15]"विचारावरुद्धं विशीर्यत एव तल्लक्षणम् , अकृत्वा तु [16]तदवरोधं तदभ्युपगम्यत इति चेत् ; न; विचारस्यैव परामर्शभेदावभिज्ञानस्य वस्तुवृत्तेनाभावात् । अवस्तुभूतात्तु तत्त्वतो न ततः क्वचित्तदभावप्रतिवेदनम् ।

[17]स्वसंवेदनादेव तत्प्रतिवेदनं सर्वज्ञानानां ग्राह्यादिभेदनिर्भासविकलतया स्वतः प्रतिवे-

---

१ "ज्वरत्वरश्रिव्यविमवामुपधायाश्च"-पा०सू० । २ अच्सहितस्य वकारस्य 'अव' इत्यस्य । ३ ग्राह्यादिनिषेधपरिज्ञानात् । ४ ग्राह्यादिनिषेधस्य । ५ ग्राह्यादिनिषेधपरिज्ञान । ६ ग्राह्यादिनिषेधस्य । ७ ग्राह्यादिपर्युदास । ८ अनेकान्तस्य । ९ एकान्तपर्युदास । १० -ह्यनेकान्त-आ०,ब०,प० । ११ -स्य कल्प-आ०,ब० । १२ ग्राह्यादिकल्पकत्वम् । १३ अन्यज्ञानस्य । १४ ग्राह्यादिभेदवानिव प्रतिभासस्य । १५ विचारागूढं वि-आ०, ब०, प० । १६ विचारविषयत्वम् । १७ संवे-आ०, ब०, प० ।

दनादिति चेत् , न, तन्निर्भासावेदने तद्वैकल्यस्य ततोऽपि [1]दुरवगमत्वात् । सत्यपि क्वचित्तद्वेदने[2] कुत. क्वचित्तद्वैकल्यवेदनम् ? न तावत्तन्निर्भासादेव, तेन [3]तद्वैकल्याधिकरणस्य ज्ञानस्याप्रतिवेदनात् । तदप्रतिवेदने तदाधेयस्य तद्वैकल्यस्य दुरवबोधत्वात् । न च तदधिकरणस्य तेन प्रतिपत्तिः, "तस्या नानुभवोऽपरः" [प्र० वा० २।३२७] इत्यस्य[4] व्याघातात् । नापि तदधिकरणेनैव ज्ञानेन तद्वैकल्यवेदनम् , तेनापि तन्निर्भासस्यानवबोधात् । न च निषेध्यानवगमे तन्निषेधपरिज्ञानम् । न चोभयविषयमेकं संवेदनमस्ति यतस्तद्वैकल्यस्य क्वचिदवगमः, तत्रापि "तस्या" इत्यादेरुपद्रवात् ।

कथमेवमेकान्तप्रतिषेधस्य जात्यन्तरे परिज्ञानम् ? जात्यन्तरविषयं हि प्रमाणम् । न च तेन प्रतिषेध्यस्यैकान्तस्य प्रतिपत्तिः, येन च तस्य प्रतिपत्तिर्नयेन न तेन तन्निषेधाधिकरणस्य जात्यन्तरस्य प्रतिवेदनम् । न चोभयविषयमन्यत् , तस्यापि प्रमाणत्वे एकान्तविषयत्वस्य नयत्वे जात्यन्तरविषयत्वस्य चायोगात् । प्रमाणनयाभावविकल्पेन तु [न] तत्परिज्ञानम् , प्रमाणादिपरिकल्पनावैफल्यापत्तेः । न च कुतश्चिन्निषेध्यतन्निषेधाधिकरणपरिज्ञानमन्तरेण तन्निषेधप्रतिपत्तिरुपपत्तिमतीति चेत् , न, आत्मनस्तदुभयविषयस्य भावात् । आत्मा हि[5] नयपर्यायात्प्रमाण[6]-पर्यायमुपयान् सर्वथा तच्छक्तिं परित्यजति यतस्तद्विषयपरिज्ञानाभावात्तद्विविक्ततया जात्यन्तरस्य परिज्ञानं न भवेत् । तत्परित्यागे हि [7]निरन्वयवादाद्वात्मैव न स्यात् । न चैवम् , तस्य व्यवस्थापनात् । प्रमाणपर्याय एव नयशक्तिभावे कथं प्रमाणत्वमेव तस्य न नयत्वमपीति चेत् , न; एकान्ततः[8] प्रमाणत्वानभ्युपगमात् । अत एव 'स्यात्प्रमाणम् , स्यादप्रमाणम्' इत्यादि सप्तभङ्गीप्रवर्तनम् । न चैव परस्यापि ग्राह्यादितन्निषेधाधिष्ठानविषयं किञ्चित्सम्भवति यतस्तद्विवेकपरिज्ञानं[9] क्वचिद्भवेत् । तदिदमप्रतिपन्नविषयमेव परस्य वचनम्–"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र०वा०२।३२७] इति । ततः सूक्तम्–ग्राह्यादिनिराकरणस्याद्वैतगतौव-सारसोपानस्य परिपोषणमाकुलम् अवगमरहितत्वात् इति । एतौ अन्तरश्लोकौ ।

स्यान्मतम्–'सारूप्येऽपि' इत्यादिना सारूप्य-सामान्ययोः साधारणो [10]दोषसमन्वयः प्रतिपादितः, ततश्च कथं सारूप्यवत्सामान्यस्यापि वस्तुत्वम् ? मा भूदिति चेत् , न, तस्य 'सामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्' [11]इत्यनेन प्रत्यक्षविषयत्वनिवेदनात् , अवस्तुनः प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेरिति , तत्राह–

सामान्यमन्यथा सिद्धम् [न हि ज्ञानार्थयोस्तथा ॥११॥
अदृष्टेरर्थरूपस्य प्रमाणान्तरतो गतेः ।] इति ।

१ ग्राह्यादिप्रतिभासावेदने । २ तद्वैकल्यमादपि । ३ ग्राह्यादिवेदने । ४ तद्वैकल्याधिकार–आ०, ब०, प० । ५ आत्मत्व । ६ –ण्या ग्रा–ब० । ७ एकान्तस्य । ८ –न तत्रि–आ०, ब०, प० । ९ हि नैव प–आ०, ब० । हि नैवं प–प० । १० –मनय–आ०, ब०, प० । ११ क्षणिकत्वप्रसङ्गात् । १२ प्रमाणा–आ०, ब० । १३ प्रत्यादिविवेकपरिज्ञानम् । १४ दोषमन्वयः आ०, ब०, प० । १५ न्यायवि० श्लो० ३ ।

येन हि प्रकारेण सामान्यं दुष्यति 'व्यक्तिभ्यो व्यतिरेकेण–व्यतिरेके हि 'तासां तत्' इति व्यपदेशो न स्यात् , असम्बन्धात् । न चानुपकारे सम्बन्धोऽपि अतिप्रसङ्गात् । व्यक्तिभिस्तदभिव्यक्तिरुपकार इति चेत् ; अभिव्यक्तिरपि नियताभिरेव कुतः ? कुतश्चित्प्रत्यासत्तेरिति [1]चेत् ; तया ताः[2] समानप्रत्ययमेव कुर्वन्तु किं सामान्येन ? सत्यपि तस्मिन् तत्कल्पनस्यावश्यम्भावात् । एवं हि पारम्पर्यपरिश्रमः परिहृतो भवति, अन्यथा नियमेन तस्योपनिपातात्–प्रत्यासत्तेरभिव्यक्तिः सामान्यस्य ततश्च समानप्रत्यय इति । नित्यत्वेन च–नित्यत्वे हि तस्य नित्योपलम्भनं त[3]च्छक्तेर्नित्यत्वात् । न तस्याः कुतश्चित्प्रतिबन्धो नित्यत्वहानेः । अतच्छक्तिकत्वे तु न कदाचिदपि दर्शनं व्योमारविन्दवत् । न च तस्य कुतश्चिच्छक्त्या[4]धानम् अनित्यत्वोपनिपातात् । एतेन व्यापित्वमपि चिन्तितम् । व्यापित्वे हि तस्य सर्वत्र प्रतिपत्तिः तच्छक्तौ । अतच्छक्तौ तु न क्वचिदपि स्यात् । शक्तिप्रतिबन्धतदाधानयोः पूर्ववदयोगात्' इति । न त[5]था स्याद्वादिनां **सामान्यं सिद्धं** किन्तु **अन्यथा** अन्येन कथञ्चिदव्यतिरेकादिप्रकारेण । स[6]दृशपर्यायरूपं हि सामान्यं न[7] व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तमेव तदव्यतिरेकस्यापि दर्शनात् । न च तस्य[8] नित्यत्वमेव, द्रव्यतो नित्यत्वेऽपि पर्यायतो विपर्ययात् । नापि व्यापित्वमेव, एकत्वोपचारतो व्यापित्वेऽपि वस्तुतः प्रतिव्यक्ति पर्यवसानात् । प्रसिद्धञ्च सामान्यमीदृशं सौगतस्यापि प्रत्यक्षविषयतया तस्याभ्यनुज्ञानात्–"दृष्टेश्च यमलादिषु" [प्र० वा० २।३८४] इति वचनात् ।

ननु एवमर्थज्ञानयोरपि न दुष्यत्येव सारूप्यं दूषणनिबन्धनस्य नित्यत्वादेस्त[9]त्राप्यभावादिति चेत् ; अत्राह–'न[10] हि **ज्ञानार्थयोस्तथा**' इति । तात्पर्यमत्र–मा भूत्सारूप्ये नित्यत्वादेः सामान्यधर्मस्याभावात् तत्प्रयुक्त उपप्लवो निरंशत्वस्य तु स्वलक्षणेष्ववश्यम्भावात् , [11]तत्प्रयुक्तस्य तु तस्य नास्त्येव परिहारः, तत एव प्रायशः सामान्यदूषणमित्युक्तम् । तत्र सर्वात्मना सारूप्ये अर्थवत् ज्ञानस्यापि जडत्वादर्थस्यैव जीवनं [12]न ज्ञानस्येति कस्य सारूप्यम् ? ज्ञानवदर्थस्यापि वा चेतनत्वाज्ज्ञानस्यैवावस्थानं नार्थस्येति केन सारूप्यमिति ? ततो **न तथा** जैनकल्पितेन प्रकारेण **ज्ञानार्थयोः सामान्यं** सारूप्यं सिद्धम् ।

अपि च, सारूप्यं नाम द्विष्ठो[13] धर्मः, तदधिकरणप्रतिपत्तावेव शक्यते प्रतिपत्तुं नान्यतरप्रतिपत्तिमात्रादिति ज्ञानवदर्थोऽपि प्रतिपत्तव्यः । भवत्वेवमिति चेत्; कुतस्तत्प्रतिपत्तिः ? तत एव प्रत्यक्षात् यस्य सारूप्यं परिजिज्ञास्यत इति चेत् ; ततोऽपि यद्यसारूप्योपायमेव तद्ग्रहणं व्यर्थमेव सारूप्यकल्पनम् । सारूप्योपायमेवेति चेत् ; न; परस्पराश्रयप्रसङ्गात्–'प्रतिपत्तावर्थस्य तत्सारूप्यपरिज्ञानम्, परिज्ञाते च तस्मिंस्तदुपायमर्थप्रतिवेदनम्' इति । तन्न ततोऽर्थदर्शनम् । तदेवाह–'**अदृष्टेरर्थरूपस्य**' इति । साधनमिदम्, '**न हि**' इत्यादि साध्यम् ।

---

१ चेन्न तयोः स–आ०, ब०, प० । २ व्यक्तयः । ३ तच्छक्तिनि–आ०, ब०, प० । ४ –त्त्यादान–आ०, ब०, प० । ५ ननु तथा आ० ब०, प० । ६ सादृश्यपर्याय–आ०, ब०, प० । ७ न तद्व्यक्ति–आ०, ब०, प० । ८ तस्य द्रव्यत्व–आ०, ब०, प० । ९ तत्राभावा–आ०, ब०, प० । १० न विज्ञा–आ०, ब०, प० । ११ निरंशत्वप्रयुक्तस्य । १२ नार्थज्ञानस्येति तस्य आ०, ब०, प० । १३ तद्द्विष्ठो आ०, ब०, प० ।

भवतस्तन्यत एव तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्, तदपि यदि प्रत्यक्षम्, स एव दोषः—सारूप्यानपेक्षे तत्तत्त्वपरिज्ञाने सारूप्यकल्पनावैफल्यस्य, तदपेक्षे तत्तत्त्वप्रतिवेदने परस्पराश्रयस्य चाविशेषात्। पुनरपि प्रत्यक्षान्तरात्तत्प्रतिपत्तिकल्पनायामनवस्थानात्। ततो नान्यतोऽपि प्रत्यक्षादर्थवेदनं सम्भवति। तदेवाह—'**प्रमाणान्तरतोऽगतेः**' इति। प्रत्यक्षादन्यत्प्रत्यक्षं प्रमाणं तदन्तरं तस्माद् अगतेरप्रतिपत्तेः '**अर्थरूपस्य**' इति।

अनुमानात्तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्, न, लिङ्गाभावात्। नीलाद्याकार एव लिङ्गं तस्यार्थकृतत्वादिति चेत्, अत्र विश्वरूपस्य प्रत्यवस्थानम्—"क्व तन्निबन्धनं ज्ञानस्याकारवत्त्वं दृष्टं येनैवमुच्यते? आकारद्वयदर्शनाभावात्। न हि ज्ञानाकारादन्योऽर्थाकार उपलभ्यते यतस्तत्कृतत्वं ज्ञानाकारस्योपलभ्यते। उपलम्भे वा तस्यापि प्रतिभासमानत्वात् ज्ञानाकारत्वमेवेति तन्निबन्धनमन्य एवार्थाकार उपलब्धव्यः। तत्राप्येवं कल्पनायामनवस्थैव। ततोऽर्थस्य वाङ्मात्रेण सत्ताभ्युपगमो न प्रमाणनिबन्धनः" [   ] इति, तदयुक्तम्, अन्वयबलात् तदनुमानानभ्युपगमात्। न हि बौद्धस्य संवेदनाकाराद्विषयाकारानुमानम् अन्वयबलात् येनैवंप्रसङ्गः स्यात्, अपि तु व्यतिरेकसामर्थ्यादेव। तथा च तस्य वचनम्—"चक्षुरालोकमनस्कारेषु सत्स्वपि न भवति स्तम्भशून्याभिमते स्तम्भाकारमक्षविज्ञानम्, अन्यत्र झटिति एव भवति ततो ज्ञायते—अन्येन केनचिदत्र वस्तुना भवितव्यम्, यदभावादन्यत्राभावः स तथाभूतोऽर्थः प्रमेयो बाह्यः" [प्र०वार्तिकाल० ३।३९०] इति। व्यतिरेकबलादपि गमनमनुमानमिति प्रसिद्धमेव। नैयायिकस्यापि अन्तःकरणादेस्तत एव प्रतिपत्तेः।

भवतु तर्हि व्यतिरेकबलादेव ज्ञानाकारस्य लिङ्गत्वमिति चेत्, न, असिद्धत्वात्। असिद्धो हि तदाकारो निराकारस्यैव ज्ञानस्यानुभवात्, तत्कथं तस्य व्यतिरेकः? सिद्धस्यैव क्वचित्तदुपपत्तेः। सिद्धेऽपि तदाकारे ततोऽर्थस्य नान्यादृशस्यानुमानम्, सारूप्याभावप्रसङ्गात्। 'अन्यादृशश्चार्थः, तत्स्वरूपञ्च संवेदनम्' इति व्याघातात्। अथ यादृशं संवेदनं नीलरूपं तादृशस्यैव ततोऽनुमानम्, कुत एतत्? तादृशादेव तादृशस्य सम्भवादिति चेत्, न, अन्यादृशादपि तादृशस्य [3]सम्भवदर्शनात् यथा निर्विकल्पाद्विकल्पस्य। [4]तत्रापि विकल्पवासनासहायादेव विकल्पत्वमिति चेत्, आकारान्तरमप्याकारवासनासाहाय्यादेव किन्न स्यात् यतस्ततोऽर्थस्य तादृशस्यानुमानम्? वासनाप्रभवत्वे [5]विकल्प एव दर्शनं भवेदिति चेत्; किमिदं [6]विकल्पत्वं नाम? साधारणाकारत्वमिति चेत्, तद्वासनाप्रभवत्वे तत् किं नास्ति? तथा चेत्, मनोऽपि कथम् तदाकारं तदाकारज्ञानं जनयेत्? तदाकारमेव मन इति चेत्, तद्वेदनं तर्हि सविकल्पकं प्राप्तम्, नानावयवसाधारणस्य स्थूलरूपस्य तेन प्रतिवेदनात्। भवत्विति चेत्, न, [8]तद्वदेव बहिरर्थवेदनस्यापि सविकल्पकत्वोपपत्तेः। अन्तरिव बहिरपि स्थूलरूपस्य परमार्थसत्त्वाऽविरोधात्। तदुक्तम्—

१ –वस्था स्यात् आ०, ब०, प० । २ व्यतिरेकबलादेव । ३ सम्भवति दर्शनात् आ०, ब०, प० । ४ विकल्पेऽपि । ५ विकल्पमेव द–ता० । ६ विकल्पकत्वं ता० । ७ –वस्येतरिक आ०, ब०, प० । ८ तादृशेव बहिरर्थवदेव बहि–आ०, ब० ।

"चित्रार्थज्ञानवच्चित्रं वस्तुरूपं न किं बहिः ।" [ ] इति ।

विचारासहत्वान्न बहिः स्थूलरूपं परमार्थः[1] इति चेत्; न; अन्तरपि तदसहत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। मा भूदुभयत्रापि तदिति चेत्; असतः कथं तस्यावभासनम्? मरीचिकातोयवदिति चेत्; न, स्वतोऽवभासने[2] तदसत्त्वविरोधात्, स्वसंवेदनस्य मिथ्यात्वानभ्युपगमात्। अन्यतोऽपि न निराकारात् तदवभासनम्; साकारवादवैफल्यापत्तेः। आकारवत्त्वे तु तदप्यसदेव भवेत् असदाकारत्वात्। तस्याप्यन्यतस्तथाविधादवभासनमिति चेत्; न; अनवस्थानात्। मा भूदवभासनमपि तस्येति चेत्; न, दृष्टत्वात्। दृष्टं हि तस्यावभासनम्, तदपह्नवे नीलादौ निरंशे कः समाश्वासो यत्र दर्शनगन्धोऽपि नास्ति? भवतु सर्वाभावः तस्यापि कैश्चित्प्रतीक्षणादिति चेत्; ननु इदमत्यद्भुतमवभाति यत् 'सर्वं नास्ति, तत्प्रतीक्षणं[3] च विद्यते' इति। तदप्युक्तम्–

"चित्रमेकमनिच्छद्भिश्चित्रं शून्यं प्रतीक्ष्यते" [ ] इति ।

तन्न स्थूलाकारस्य प्रतिक्षेपो न्याय्यः।

नाप्यसत एव तस्य प्रतिभासनम्। न च मरीचिकातोयमत्र निदर्शनम्[4]; तस्याप्यसतः साकारवादे प्रतिभासायोगात्, पूर्वोक्तन्यायात्। ततः स्थूलाकारमेवं दर्शनम्, तस्य च साधारणाकारतया विकल्पत्वमवासनाप्रभवत्वेऽपि समानम्। न समानम् अननुसन्धायित्वात्, अनुसन्धायित्वं हि विकल्पकत्वम्, तदभावात्साधारणाकारमपि दर्शनं निर्विकल्पकमेवेति चेत्; न; वासनाप्रभवत्वेऽपि समानत्वात्। तत्प्रभवस्यापि[5] स्थूलप्रतिभासस्याननुसन्धायित्वाविशेषात्। तथापि तस्य न वासना कारणमिति चेत्; विकल्पस्यापि न स्यात्। ततो निर्विकल्पाद्विकल्पस्येव निराकारादेवार्थाद्[6] आकारवतोऽपि ज्ञानस्योत्पत्तिसम्भवात् न तदाकारादर्थस्य तादृशस्यानुमानमुपपन्नम्। एतदेवाह–**प्रमाणान्तरतोऽगतेः**। प्रत्यक्षादन्यत्प्रमाणं तदन्तरम् अनुमानं तस्माद् **अगतेर**प्रतिपत्तेः **'अर्थरूपस्य'** इति। तथा च निषिद्धमेतत्–"**नृभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानः**" [ ] इति, प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरस्याप्यर्थस्याप्रतिवेदनात्। ततः स्थितम्–

सामान्यमन्यथासिद्धं न हि ज्ञानार्थयोस्तथा ॥
अदृष्टेरर्थरूपस्य प्रमाणान्तरतोऽगतेः । इति ।

स्यान्मतम्–निराकारत्वे ज्ञानस्य कस्तस्य विषयः स्यात्? समकालो नीलादिरिति चेत्; न; तत्र प्रतिबन्धाभावात्। अप्रतिबन्धस्यापि[7] तद्विषयत्वे सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्राप्तेः। हेतुत्वेन प्रतिबद्ध एव सोऽपीति चेत्; न तर्हि तत्समकालत्वम्। न हि हेतोः फलेन समकालत्वम्। तत्त्वे हि प्रागसत्त्वम्[8], असतश्चासामर्थ्यं प्राक्। पश्चात्कार्यकाले सामर्थ्यमिति

---

१ परमार्थमिति आ०, ब०, प०। २ –भासमाने आ०, ब०, प०। ३ तत्प्रत्यर्च वि–आ०, ब०, प०। ४ –व निदर्श–आ०, ब०, प०। ५ तत्प्रतिभासस्यापि। वासनाप्रभवस्यापि। ६ –रादेवासाधारणाकारवतोऽपि आ०, ब०, प०। ७ प्रतिबन्धरहितस्यापि। ८ तुलना–प्र० वार्तिकाल० २।२४७।

चेत्, कार्यकाले कार्यस्य विद्यमानत्वाद् व्यर्थं सामर्थ्यम्। एवं हि कार्यस्य कालो यदि तदा कार्यस्य सत्त्वम्। तस्मात् प्रागेव सत्त्वं सर्वहेतूनाम्। अतोऽर्थोऽपि हेतुर्न फलभूतग्राहक-विज्ञानसमानकालभावी। तदुक्तम्–

"असतः प्रागसामर्थ्यात्पश्चाचानुपयोगतः।
प्राग्भावः सर्वहेतूनां नातोऽर्थः स्वधिया सह॥" [प्र०वा०२।२४६] इति।

भवतु तर्हि प्राग्भाविन एव विषयत्वं तस्य हेतुत्वेन ज्ञाने प्रतिबिम्बादिति चेत्, न, ज्ञानकाले तस्याभावात्। न ह्यसतस्तत्काले सद्विषयत्वम्, एवं हि निर्विषयत्वमेव ज्ञानस्य स्यात्। साकारवादिनां तु नायं दोषः, स्वाकारज्ञानहेतुतयैव तस्य सद्विषयत्वोपपत्तेः। तदप्युक्तम्–

"भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद्ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥" [प्र०वा०२।२४७] इति,

तत्राह–

अतीतस्यानभिव्यक्तौ कथमात्मसमर्पणम्॥२३॥
असतोऽज्ञानहेतुत्वे व्यक्तिरव्यभिचारिणी। इति

यदि ज्ञानकाले अतीतस्य तद्धेतोरभावात् **अनभिव्यक्तिः** अप्रतिपत्तिः तर्हि तस्याभ्युपगम्यमानायां **कथमात्मसमर्पणं** संवेदने स्वाकारोपनिधानम्? **'अतीतस्य'** इति सम्बन्धः। कुतैतदिति चेत्? **असतो** ज्ञानकाले अविद्यमानस्यातीतस्य **अज्ञानहेतुत्वे** ज्ञानहेतुत्वाभावे तद्धेतोरेव हि तत्रात्मसमर्पणं परस्याभिप्रेतम् "हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः" इत्यादिवचनात्। असतश्च ज्ञानकाले यदि तद्धेतुत्वं तद्वेद्यत्वमपि स्यात्, निर्विषयत्वमेव संवेदनस्य स्यात्। 'असतस्य वेद्यम' इति 'सत्त्व वेद्यम्' इत्यर्थादिति चेत्, निर्हेतुकत्वमप्येवं स्यात् 'असतस्य हेतु' इत्यत्रापि 'सत्त्व हेतुः' इत्यर्थात्। स्वकाले सत एव हेतुत्वान्न निर्हेतुकत्व-मिति चेत्, निर्विषयत्वमपि न भवेत्, स्वकाले सत एव तस्य वेद्यत्वात्। अन्यकालस्यापि वेद्यत्वे तदविशेषात् चिरातीतमपि वेद्यं भवेदिति न तत्र प्रमाणान्तरकल्पनं फलवत्, प्रत्यक्षत एव सिद्धेरिति चेत्, न, हेतुत्वेऽप्येवं प्रसङ्गात्। अन्यकालस्याविशेषेण चिरातीतस्यापि हेतुत्वे स्वात्मसमर्पणे च प्रत्यक्षसिद्धेः प्रमाणान्तरवैफल्यस्य चाविशेषात्। शक्तस्यैव हेतुत्वम्, न च चिरातीतस्य शक्तत्वम् अनन्तरस्यैव संवेदनोपजनने सामर्थ्यात्, ततो नायं प्रसङ्ग इति चेत्, न, प्रसङ्गान्तरस्याप्येवमनुपपत्तेः। शक्यस्यैव हि वेद्यत्वम्, न चिरातीतस्य शक्यत्वम्, अल्प कालातीतस्यैव तद्वित्तं (तद्वित्ति) प्रति शक्यत्वात्। तदेवाह–**व्यक्तिरव्यभिचारिणी।** **व्यक्तिः** अतीतस्य प्रतिपत्तिर्न व्यभिचारिणी अनन्तरचिरप्रवृत्त्यप्रवृत्तेः।

यत्पुनरेतत्–अतीतादेरपि प्रत्यक्षविषयत्वे वर्तमानत्वमेव अभिमतवर्तमानवदिति,

१ कायन प्राक्काले। तदाधारस्य–आ०, ब०, प०। २ प्रत्यग्धा–आ०, ब०, प०। ३ कथञ्चि दात्मसमर्पणं संवेदनस्य–आ०, ब०, प०। ४ तदपतस्य आ०, ब०, प०। ५ –कारेऽस्मादि आ०, ब०, प०। ६ –स्यादिति–आ०, ब०, प०। ७ प्रसङ्गान्तरस्याप्येव–आ०, ब०, प०, स०।

तत्रापि किमिदं वर्त्तमानत्वमेव नाम ? प्रत्यक्षविषयत्वमेवेति चेत्; न; साध्यस्यैव हेतुत्वायोगात्, तद्विषयत्वमेव हेतुस्तदेव साध्यमिति कथमिव न्यायवेदिनः प्रतिपद्येरन् ? 'अनित्यम् अनित्यत्वात्' इत्यादिवत् साध्यत्वानुपपत्तेश्च सिद्धत्वात्। सिद्धं हि तद्विषयत्वमतीतादेः। न च सिद्धमेव साध्यम्; असिद्धस्य तत्त्वेन प्रसिद्धत्वात्। वर्त्तमानत्वं वर्त्तमानव्यवहारविषयत्वम्, तदेवातीतादौ प्रत्यक्षविषयत्वेनोपपद्यते, न हि विषयत्वादन्यत् तद्व्यवहारनिबन्धनं तस्यैव तन्निबन्धनत्वेन प्रसिद्धेऽपि वर्त्तमाने प्रतिपत्तेरिति चेत्; किमेवं नीले पीतव्यवहारविषयत्वन्न प्रकल्प्यते ? प्रसिद्धे पीते तद्विषयस्यैव तद्व्यवहारनिबन्धनत्वेन प्रसिद्धेः, तस्य च नीलेऽपि भावात्। एवं लोको न क्षमते तस्य तथा प्रकल्पनाभावादिति चेत्; न; अन्यत्रापि तुल्यत्वात्–लोकस्यातीतादावपि वर्त्तमानव्यवहारकल्पनस्याभावात्। वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वं वर्त्तमानत्वमिति चेत्; न; कालस्य तत्र प्रमाण(णा)भावोपन्यासेन स्वयं प्रतिक्षेपात्। अप्रतिक्षेपेऽपि यथा कस्यचित्प्रत्यक्षविषयस्य वर्त्तमानकालसम्बन्धाद् वर्तमानत्वम्, एवम् अतीतादिकालसम्बन्धादतीतादित्वमपि भवेदिति कथं सर्वस्य प्रत्यक्षविषयस्य वर्त्तमानत्वोपपादनमुपपद्येत ?

यदि चायं निर्बन्धः प्रत्यक्षवेद्यं वर्त्तमानमेव नातीतादिकमिति ; तर्हि प्रत्यासन्नमेव तन्न दूरादिकमित्यपि भवेत्। शक्यं हि वक्तुम् 'पर्वतादयोऽपि दूरादितयाभिमताः प्रत्यासन्नाः प्रत्यक्षवेद्यत्वात् वापीकूपादिवत्' इति। प्रत्यक्षबाधनान्नैवमिति, प्रत्यक्षेणैव पर्वतादौ दूरादित्वस्य प्रतिपत्तेरिति चेत्; न; अन्यत्रापि समानत्वात्, अतीतादावपि वर्त्तमानकल्पने प्रत्यक्षबाधनस्याविशेषात्, अतीतादेरतीतादितयैव प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तेः। अतीतादौ प्रत्यक्षमेव न वर्तते तत्काले तस्याभावात्, परप्रसिद्धेन तु तस्य विषयत्वेन वर्त्तमानत्वापादनमिति चेत्; दूरे पर्वतादावपि न तत्प्रवर्त्तते तद्देशेऽपि तस्याभावात्, अतद्देशेऽपि तत्प्रवृत्तौ अतत्कालेऽपि स्यात्। अवश्यं चैतदेवमभ्युपगन्तव्यम्, कथमन्यथा योगिप्रत्यक्षस्यातीतादौ प्रवृत्तिः ? वर्तमानमात्रविषयत्वे तस्याशेषज्ञत्वविरोधात्। तदपेक्षया सर्वं वर्त्तमानमेवेति चेत्, कथमेवमतीतादित्वेन भावानामुपदेशो वर्त्तमानतयैव तदुपपत्तेः, वर्त्तमानतया प्रतिपन्नस्यातीतादित्वेनोपदेशे तस्य वञ्चकत्वेन प्रामाण्याभावानुषङ्गात्। अस्मदाद्यपेक्षयाऽतीतादित्वमप्यस्त्येव तेषामिति चेत्; अस्मदादेरेव तर्हि तथा तदुपदेशो युक्तो न योगिनः, तदपेक्षया [10]तेषु [11]तदभावात्।

[12]किं वेदम्–अस्मदाद्यपेक्षयापि तेषामतीतादित्वम् ? अदर्शनविषयत्वमेव। "तस्मादतीतादि पश्यतीति कोऽर्थः ? अन्येनादृश्यमानं पश्यति" [प्र० वार्तिकाल० १।१३८] इत्यलङ्कारवचनादिति चेत्; न; तात्कालिकस्यापि व्यवहितविप्रकृष्टादेरन्येनादर्शनसम्भवात्। अदृश्यमानं कथमस्ति उपलम्भलक्षणत्वात्सत्ताया इति चेत् ? किमिदानीं यावदेव दृश्यमस्मदादेस्तावदेवास्ति ? तथा चेत्; योगिनापि तावदेव दृश्यमिति न योगीतरयोः कश्चिद्विशेषः स्यात्।

१ –मानत्वं नाम आ०, ब०, प०। २ विषयत्वस्यैव। ३ व्यवहारनिबन्धनत्वेन। ४ "न प्रमाणेनैकेनापि गतिः कालस्य विद्यते।"–प्र० वार्तिकाल० १।१३८। ५ प्रत्यक्षवेद्यम्। ६ अतीतकाले। ७ योग्यपेक्षया। ८ –दिमत्त्वेन आ०,ब०,प०। ९ योगिनः। १० अर्थेषु। ११ अतीतादित्वाभावात्। १२ किञ्चेदम् प०।

अस्मदादीनां दृष्टमतीतम्, द्रक्ष्यमाणमनागतमिति चेत्, तर्हि कथं योगिदर्शनापेक्षयापि वर्तमानं भवेत् उपरतत्वादनुत्पन्नत्वाच्च । अस्मदादिदर्शनस्यैव तद्विषयस्योपरमानुत्पत्ती न वस्तुन इति चेत्, तस्य तर्हि स्यादक्षणिकत्वं पूर्वापरकालव्यापित्वात् । तत्र अस्मदाद्यपेक्षया भावानामतीतादित्वात्तथात्वेनोपदेशः । तेषामुपदेशोऽपि वर्तमानतयैव तथैव स्वयं परिज्ञानादिति चेत्, न तर्हि तदुपदेशादुपायोपेयभावपरिज्ञानम्, वर्तमानतयोपदिष्टानां तद्भावाभावात् । नहि वर्तमाना एव भावाः केचित्केषांचित्तदुपायत्वमुपेयत्वं वा प्रतिपद्यन्ते "प्रागभावः सर्वहेतूनाम्" [प्र० वा० २।२४६] इत्यस्य व्याघातात् । अतो व्यर्थमेव तदन्वेषणम्, सोपायहेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानस्य तदन्वेषणादिष्टत्वात्, तस्य च ततोऽसम्भवात् । ततो न सुभाषितमेतत्–

"ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।" [प्र० वा० १।३२] इति ।

तस्मादतीतादितया प्रतिपन्नत्वादेव भावानां योगिना तथोपदेश इत्यङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा योगिन एवाभावापत्तेः–यदसौ वर्तमानतयैव सर्वं पश्यति, स्वसन्तानभाविनः पूर्वोत्तरसमयभाविनिरवशेषक्षणानपि तथैव पश्यतीति नासौ कस्यचित्कार्यं पूर्वाभावात्, नापि कस्यचित्कारणमुत्तराभावादित्यसत्त्वमेव खरविषाणवत् । ततस्तदभावमनभ्युपगच्छता यथास्वकालभाविन एव तान् स पश्यतीति वक्तव्यम् । तथा च तैरेव व्यभिचारवदुक्तमेतत्–'अतीतादिकमपि वर्तमानं प्रत्यक्षविषयत्वात् प्रसिद्धवर्तमानवत्' इति । तस्मात्तत्तत्कालभावितयैव अतीतादेरस्मदादिप्रत्यक्षव्यक्तयापि प्रतिपत्तिः, न तस्याः कालव्यत्ययलक्षणो व्यभिचारोऽस्ति । तदेवाह–

व्यक्तिरव्यभिचारिणी ।

साकारमेव तु विज्ञानं व्यभिचारि द्विचन्द्रादेर्बहिरभावेऽपि तदाकारस्य ज्ञानस्योपलम्भात् । न "चन्द्रमात्रात्तद्वस्तुप्रतिपत्तिर्विशिष्टादेव" बहिर्भावोपनीताकारस्तत्परिज्ञानोपगमात्, तस्य चाव्यभिचारादिति चेत्, स्यादेतदेवं यदि बहिर्भावस्य पृथग्दर्शनं भवेत्–'इदं बहिर्भावोपनीताकारवद्विज्ञानम् इदमन्यथा' इति । न चैवम्, सर्वदा ज्ञानाकारादेव तत्प्रतिपत्तेः, तस्य च सत्यसति चार्थे विशेषाभावात् ।

ननु एवं निराकारापि व्यक्तिर्व्यभिचारिण्येव द्विचन्द्रादौ बहिरसत्यपि तद्दर्शनात् । निर्बाधात् तद्व्यक्तिरव्यभिचारिण्येव, द्विचन्द्रादिव्यक्तिस्तु बाधावतीति चेत्, न, बाधकस्यासम्भवात् । तथा हि–

"बाधकः किं तदुच्छेदी किं वा ग्राह्यस्य हानिकृत् ।
ग्राह्याभावज्ञापको वा त्रयः पक्षाः परः कुतः ? ॥

यदि बाधको बाध्यप्रत्ययस्याभावं करोति तदालम्बनस्य वा; तदा तत् ज्ञातम्, अज्ञातं वा ?

१ वस्तुनः । २ अतीतादीनाम् । ३ कार्यकारणभाव । ४ सोऽप्यन्वेषणम् । ५ –यत्परि– आ०, प०, ब० । ६ तत्त्वपरिज्ञानस्य । ७ योगिता । ततो न सम– आ०, ब०, प० । ८ इत्यतो आ०, ब०, प० । ९ सोऽप्यसावम् । १० अतीतादिभिरेव । ११ तदाकारज्ञानमात्रोपलम्भात् । १२ –तिर्विशेषादेव आ०, ब०, प० । १३ –न तर्हि चन्द्रा– आ०, ब० ।–न तर्हि चन्द्रा– प० । १४ बाध्यम् ।

अजातस्य कथं तेन[1] तस्याभावो[2] विधीयताम् ।
न[3] जातु खरशृङ्गस्य ध्वंसः केनचिदर्पितः ॥
जातस्यापि न भावस्य ततोऽभावो विधीयते ।
[4]तदस्ति [5]हेतोस्तन्नास्ति बाधकादिति साहसम् ॥

यद्यजातोऽसौ भावः केन तस्याभावः क्रियते ? दैवरक्ताः किंशुकाः कस्तान् पुना रञ्जयति ? अथ जातः कारणात्; तथा सति यथा जातस्तथास्ति, कथं तत्र विनाशावेशः ? तथा सति तदेव नष्टं तदेव सदिति महदसमञ्जसम् । अथ यथा न जातस्तथा विनाश्यते; तथा सति–

अन्यरूपेण जातस्य यद्यन्येन विनाश्यता ।
नीलादेरन्यपीतादिरूपेणास्तु विनाश्यता ॥

न च तस्य तद्रूपमिति[6] सैव दैवरक्तता । तेन च रूपेणासौ पश्चाद्विनाश्यते । अथ सर्वदा[7];

यदि पश्चाद्विनाश्येत पूर्वं तद्रूपता भवेत् ।
तेन रूपेण जातस्य कथं पश्चाद्विनाशनम् ? ॥
तदैव तेन रूपेण जातः पश्चाद्विनाश्यते ।
[8]पश्चात्तद्रूपता नास्ति दैवरक्तः स किंशुकः ॥
पूर्वमेवास्य नाशश्चेत्कारणादेव[9] तत्तथा ।
नाशकेन परं कार्यं किमस्येति निरूप्यताम् ? ॥

एतदालम्बनविनाशेऽपि समानम् । तथा हि–

यथा स जातस्तेनास्य[10] रूपेण न विनाशनम् ।
यथा न जातस्तेनापि न रूपेण विनाशनम् ॥
व्यर्थकत्वादशक्यत्वात् प्रमाणेनाप्रतीतः ।
अर्थस्यास्य [11]कथं नु स्यात्कल्पनापि सचेतसाम् ॥

[12]अथ आलम्बनाभावं ज्ञापयति बाधकः; तदप्यसत्–

यदा स दृश्यते भावस्तदाऽभावो न बोध्यते ।
[13]यदा न दृश्यते भावो [ऽ] दर्शनं तस्य बोधकम् ॥
[14]तदा भावप्रसिद्धौ च नाभावः [15]सविशेषणः ।

१ बाधकेन । २ बाध्यप्रत्ययस्य तदालम्बनस्य वा । ३ न जातखर–आ०, ब०, प० । ४ बाध्यम् । ५ स्वकारणात् । ६ अन्यरूपम् । ७ सर्वथा आ,० ब० । सर्वथा प० । ८ पश्चात्तद्रूपनास्तित्वे दै–आ०, ब०, प०, प्र०वार्तिकाल० । ९ उत्पादकहेतोरेव । १० तेनाश्यरूपेण आ०, ब०, । ११ कथं तु स्यात् ब० । कथन्न स्यात्–प्र० वार्तिकाल० । १२ अथनालम्ब-आ०, ब०, प० । १३ यथा न आ०, ब०, प० । १४ तदभावप्र– प० । भावादर्शनकाले । १५ यस्य अर्थस्य अभावः क्रियते तेन विशेषणीभूतेन अर्थेन भवितव्यम्, तदभावे च कथमभावः सविशेषणः ।

विशेषणाप्रसिद्धौ च बोधशक्तिः कथं ह्यय ? ॥
विशेषणमथान्यत्र सिद्धमत्रानुवादवत् ।
भावरूपं हि तच्चात्र नाभावस्य विशेषणम् ॥
'तदेवान्यत्र नास्तीति' यथैव प्रतिपद्यते ।
तथैव प्रतिपन्नस्य निषेधोऽयं किमर्थकः ? ॥
अन्यथा प्रतिपन्नस्य तथापि न निषेधनम् ।
प्रागुक्तमेतदेवेति न पुनः पुनरुच्यते ।
न दृश्यते यदा भावस्तदा न स्यान्निषेधनम् ॥
स्मृत्याध्याहृत्य तत्रास्य क्रियते चेन्निषेधनम् ।
स्मृत्या स्वरूपग्रहणे न कथञ्चिन्निषेधनम् ।
स्मृत्या स्वरूपग्रहणे नाभावस्य विशेषणम् ॥" [प्र०वार्तिकाल० ३।१३०]

इति चेत्, किमस्य विचारस्य प्रयोजनम् ? न किञ्चिदिति चेत्, न, निष्प्रयोजनवचनस्य असाधनाङ्गवचनत्वेन निग्रहावाप्तेः । बाधकसद्भावपरिज्ञानस्य नाशः प्रयोजनमिति चेत्, न, तस्याजातस्य तदयोगात्, तत्र 'यद्यजातोऽसौ भावः' इत्यादेर्दोषात् । नापि जातस्य, तत्रापि 'अथ जातः कारणात्तथा सति' इत्यादेः प्रसङ्गस्यापि विशेषात् । अथ येन रूपेण न जातस्तेनास्य नाशः क्रियते, तन्न; तत्रापि 'अन्यरूपेण जातस्य' इत्यादेरविकल्पस्याविशेषात् । तन्न तत्परिज्ञानस्य विचारात्पार्थः तद्विषयस्य बाधकस्येति चेत्, न, तत्राप्यस्य प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । तस्यापि 'यथा स जातः तेनास्य रूपेण न विनाशनम्' इत्यादिनैव प्रतिपादनात् । तन्न तद्विषयस्यापि ततो नाशः । तर्हि तत्परिज्ञानस्य निर्विषयत्वं तेन ज्ञाप्यते इति चेत्, किमिदं निर्विषयत्वनाम ? तद्विषयस्य बाधकस्यासत्त्वमेवेति चेत्, न, तत्रापि 'यदा स दृश्यते भाव' इत्यादेरुपसर्पणात् ।

अपि च, नाप्रसिद्धे बाधके तद्विशिष्टत्वमभावस्य, न च तथा प्रतिपत्तिः 'तदा भावाप्रसिद्धौ च' इत्यादेर्न्यायात् । प्रसिद्धे च तस्मिन् भाव एव नाभावः, भावाभावयोर्निष्पर्यायमेकत्र विरोधात् । अन्यत्र प्रसिद्धमन्यत्रानुवादोपनीतं निषिध्यत इति चेत्, न, तत्रापि 'भावरूपं हि तच्चात्र' इत्यादेर्दूषणस्यानुषङ्गात् । न चापरिज्ञातस्यानुवादोऽपि । परिज्ञानञ्च न दर्शनमेव, निषेधसमये तदभावात् । स्मरणमिति चेत्, तेनापि यदि तत्स्वरूपग्रहणं सम्भवत्यनुवादो न निषेधः, स्वरूपतः प्रतीयमानस्य तदयोगात् । अथ न स्वरूपग्रहणम्, न तर्हि तुच्छाभावविशेषणत्वम्, 'स्मृत्या स्वरूपग्रहणे' इत्यादिना स्वयमप्येवमभिधानात् ।

ततो न विषयाभावस्यापि परिज्ञानं तत्कथमुक्तो बाधकाभावनिर्णयः ? यतो निर्बाधैव

---

१ ततः आ०, ब०, प० । २ तत्रास्य—आ०, ब०, प० । विशेषणीभूतं वस्तु । ३ नास्तीति रूपेण । ४ प्रतिपाद्यते आ०, ब०, प०, प्र० वार्तिकाल० । ५ नाभावस्य आ०, ब०, प० । ६ —मस्य प्रयो—आ०, ब०, प०, । ७ बाधकसद्भावपरिज्ञानस्य । ८ —नाशः प्रयोजनमिति चेत्र तन्नाप्यस्य आ०, ब०, प० । ९ —कल्पस्याद—आ०, ब०, प० । १० तुल्यत्व ।

द्विचन्द्रादिव्यर्थे (दिव्य) क्तिर्भवेत्। ततो विचाराद्बाधकं निषेधता तस्य[1] तदभावज्ञापकत्वमनुमन्तव्यम्। तथा च द्विचन्द्रादेरपि किञ्चिद्[2]भावमवबोधयत् किन्न बाधकं भवेत्? तस्य प्रतिभासे कथमभावबोधनमिति चेत्; कथं बाधकस्य? तदपि मदीयमेव चोद्यमिति चेत्; उच्यते–भवेदिदं[3] चोद्यम्, यदि प्रतिभासनादेव सत्त्वम्, सति तस्मिन् कथमभावबोधनं विरोधादिति? न चैवम्, अर्थक्रियासामर्थ्यादेव सत्त्वोपपत्तेः। प्रतिभासनमात्रादेव तु सत्त्वे नित्यादेरप्रतिषेधप्रसङ्गात्, तस्यापि[4] स्वग्राहिणि विज्ञाने प्रत्यवभासनात्। नास्त्येव तादृशं ज्ञानं लोक इति चेत; कीदृशमस्ति? सौगतकल्पितमनित्यादिविषयमेवेति चेत्; न; विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। तथा च व्यर्थमेव प्रमाणशास्त्रप्रणयनं तस्य प्रमाणविषयविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थत्वात्। स्वत एव च त[5]दभावे किं तदर्थेन तत्प्रणयनप्रयासेन किंशुके पाटलिमापादनप्रयासवत्। सोऽपि नास्त्येवेति चेत्; न; दृष्टत्वात्। भ्रम एवायं तवेति चेत्; किमिदं भ्रम इति? असत्यपि [7]तत्प्रयासे तत्परिज्ञानमिति चेत्; अस्ति तर्हि प्रतिभासनमसतोऽपि इति कथमुपलभ्यमानस्याभावज्ञापनमनुपपन्नम्? यतः किञ्चित्कस्यचित्[8] बाधकं न भवेत्। ततो बाधकत्वादुपपन्नं द्विचन्द्रादिव्यक्तेर्व्यभिचारित्वं नार्थव्यक्तेर्विपर्ययात्। विपर्ययप्रतिपत्तिश्चाभ्यासे स्वतः, अनभ्यासे च परतः। न चैवमनवस्थानम्; पर्यन्ते कस्यचिदभ्यासवतो ज्ञानस्यावश्यम्भावात्। तदाह–**व्यक्तिः** निराकारबुद्धिः **अव्यभिचारिणी** व्यभिचारशीला न भवति, ततो बहिरर्थप्रतिपत्तिस्तत एवेति भावः।

निराकारव्यक्तिरेव नास्ति नीलादिसुखादिव्यतिरेकेण तदसम्प्रतिपत्तेस्तत्कथं क्वचिदव्यभिचारित्वं तस्या इति चेत्? न; स्वसंवेदनतस्तत्प्रतिपत्तेर्निवेदितत्वात्।

अपि च, निराकारैव बहिरर्थव्यक्तिः, "**भिन्नकालम्**" [प्र० वा० २।२४७] इत्यादिप्रश्नस्यान्यथानुपपत्तेः। न ह्यपरिज्ञातविषयः प्रेक्षावतां प्रश्नः। परिज्ञानञ्च भिन्नकालस्यार्थस्य न प्रत्यक्षात्; तेन [10]पृथक् तस्याप्रतिवेदनात्। पृथक् प्रतिवेदने हि तस्य भिन्नकालत्वमन्यद्वा [11]तत्त्वं शक्यमवगन्तुम्। न चैवम्, तदाकारस्यैव तेन प्रतिपत्तेः, तस्य च तदनुप्रविष्टस्य तात्कालिकत्वात्। नापि तत्कादाचित्कत्वलिङ्गोपजनितादनुमानात्तत्परिज्ञानम्; [12]तस्यापि प्रत्यक्षवन्निराकारस्याभावात्। आकारवत्त्वे तु तेनापि स्वरूपस्यैव परिज्ञानं न पृथगर्थस्येति न ततोऽपि तत्परिज्ञानम्। पुनरपि तदाकारकादाचित्कत्वलिङ्गोपजनितादनुमानात्तत्परिज्ञानपरिकल्पनायाम् अनवस्थानमसमञ्जसमासज्येत। न चापरं तत्परिज्ञानकारणमिति कथमयं प्रश्नः "**भिन्नकालं कथं ग्राह्यम्**" इति? प्रश्नोपनिबन्धनस्य भिन्नकालवस्तुपरिज्ञानस्याभावे तदनुपपत्तेः। कथं वा तत्रेदमुत्तरम्–"**हेतुत्वमेव**" इत्यादि। तस्यापि भिन्नकालवस्तुविषयत्वेन तज्ज्ञानाभावेऽनुपपत्तेः। तदेवाह–

अतीतस्यानभिव्यक्तौ कथमात्मसमर्पणम्। इति।

---

१ विचारस्य। २ –भावमेवबो–आ०, ब०, प०। ३ भवदिदं आ०, ब०, प०। ४ नित्यादेरपि। ५ विवादाभावे। ६ शास्त्रप्रणयनप्रयासः। ७ शास्त्रप्रणयनप्रयासे। ८ –त् सा बाध–आ०, ब०, प०। ९ –रा व्य–आ०, ब०, प०। १० प्रसक्तस्या–आ०, ब०, प०। ११ –तत्कथमश–आ०, ब०, प०। १२ भिन्नकालस्य अर्थस्य।

अभि[1]मुखी विषयं प्रति न पुनस्तदाकारा व्यक्तिः बुद्धिः **अभिव्यक्तिः** तदन्या **अनभिव्यक्तिः** साकारवती व्यक्तिः तस्याम्, **आत्मसमर्पणं** स्वाकारनिवेशनम् **अतीतस्य** तद्ज्ञानासाध्यविषयस्य । **कथम्** न कथञ्चित् अवगम्यत इति शेषः । ततो भिन्नकालविषयं प्रत्यक्षमुत्तरञ्च प्रतिपीदयता तत्परिज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । तच्च निराकारयैव व्यक्त्या उपपद्यत इति उपपन्नं तदन्यथानुपपत्त्या तद्व्यक्तिव्यवस्थापनम् । तदेवाह–

असतो ज्ञानहेतुत्वे व्यक्तिरव्यभिचारिणी । इति

असतः अतीतस्य[2] तस्य ज्ञानकाले व्यतिक्रमात् **ज्ञानहेतुत्वे** स्वाकारज्ञानजनकत्वे **व्यक्तिः** निराकारा वित्तिः, अन्यतस्तत्परिज्ञानयोगात् **अव्यभिचारिणी** प्रमाणमिति यावत् ।

यदि निराकारैव व्यक्तिः कथं ततः प्रकाशननियम –'नीलस्यैवायं प्रकाशो न पीतादेः' इत्येवं रूप इति चेत् ? अत्राह—

प्रकाशनियमो हेतोर्बुद्धेर्न प्रतिबिम्बयत[3] ॥३४॥
अन्तरेणापि ताद्रूप्यं ग्राह्यग्राहकयोः सतोः । इति

प्रकाशोऽधिगमः तस्य **नियमो**ऽवधारणमुक्तरूपम्, स कस्याः सम्बन्धी ? **बुद्धेः** प्रत्यक्षलक्षणायाः तदवस्य भावात् । स कुतः ? इत्याह–**हेतोः** बुद्धेर्यो हेतुरिन्द्रियादिलक्षणः प्रकाशावरणक्षयोपशमादिसव्यपेक्षस्तत इति । एतदुक्तं भवति–स्वहेतोरेव बुद्धिः नियतप्रकाशशक्तिकत्वेनोत्पन्ना अतो नियत एव ततो विषयप्रकाश इति । अवश्याभ्युपगमनीयश्चायं स्वहेतुनिबन्धनः शक्तिनियमो भावानाम्, अन्यथा 'नीलज्ञानस्य नीलवत्पीतादयोऽपि किम न सर्वे हेतवः तज्ज्ञानं वा नीलवत्किन्न सर्वेषां कार्यम् ? कारणत्वेन च नीलस्य आकारयितृत्वे तदविशेषात् चक्षुरादयोऽपि ज्ञानस्य कुतो नाकारयितारः ? कुतो वा स्वलक्षणदर्शनं नीलवत्क्षणभङ्गादावपि न निश्चयमुपजनयति यतस्तत्र समारोपः तद्व्यवच्छेदार्थमनुमानञ्च परिकल्प्येत' इत्याद्यतिप्रसङ्गपर्यनुयोगे कः परः परिहारः ? ततो यथा शक्तिनियमादेव अत्र कारणत्वादिनियमः तथा प्रकाशनियमोऽपि बुद्धेरिति व्यर्थं तदर्थमाकारपरिकल्पनम् । न चातीतपरिज्ञानार्थम्, तस्यापि शक्तित एवोपपत्तेः । ततो यदत्र वार्तिकम्–

"ज्ञानशब्दप्रदीपानां प्रत्यक्षस्येतरस्य च ।
जनकत्वेन पूर्वेषां क्षणिकानां विनाशतः ॥
शक्तिः[6] कुतोऽसतां ज्ञानात्" [प्र०वा०२।४१७] इति,

तत्प्रतिविहितम्, अभिधानं यदि ग्रहणनिबन्धनं भवेत्तदतीतस्य शब्दादेरग्रहणम् असन्निधानात् । न चैवम् । शक्तेस्तन्निबन्धनत्वात्[7], तस्याश्च भिन्नकालभावापेक्षयापि भावात्, अन्यथा तत्परिज्ञानमेवेति निवेदितत्वात् । यदपि समानकाले परिज्ञानेऽविभ्रमरूपरं वार्तिकम्–

---

१ अभिमुखिर्वि–आ०, ब०। २–स्यमि ब– आ०, ब०, प०। ३–त्य ज्ञान–आ०, ब०, प०। ४ नैतच्च वा। ५ धारणतादिविशेषात्। ६ 'शक्तिः कुतोऽसताम्'–प्र० वा०। ७ महे निबन्धनत्वात्।

"अन्यस्यानुपकारिणः ॥
व्यक्तौ व्यज्येत सर्वोऽर्थः" [प्र०वा०२।४१८] इति ।

यच्चात्र निबन्धनम्–"न समानकालस्य हेतुता; तथाऽप्रतीतेः । [1]असम्बन्ध(द्ध)ग्रहणे च सर्वमेव गृह्येत" [प्र०वार्तिकाल०] इति ; तदपि प्रत्याख्यातम् ; न हि कालसाम्याद्विषयपरिज्ञानं यदयमतिप्रसङ्गः, किन्तु शक्तेः, तस्याश्च स्वहेतुबलभाविनो नियमात् नियतस्यैव समसमयस्यान्यस्य वा परिज्ञानमिति किमेतावता न पर्याप्तम् ? यत इदं बालविप्रलम्भनमाकारपरिकल्पनया कल्प्यते । कथञ्चायम् "[3]स्पर्शस्य रूपहेतुत्वात्" [प्र०वा०१।१८४] इत्यादिव्याख्याने "परस्परवियोगेन समानकालयोरपि हेतुत्वात्" [प्र०वार्तिकाल०] इत्यनेन समसमयस्यापि स्पर्शस्य रूपहेतुत्वं प्रतिपादयन्नेव निबन्धनकारः तादृशस्यैवार्थस्य ज्ञानहेतुतां प्रत्याचक्षीत ? यत इदम् "न समानकालस्य" इत्यादि सूक्तं भवेत् ? तदयं [2]प्रज्ञाकरोऽपि विस्मरणशील इति सविस्मयमस्मच्चित्तमावर्तते ।

यदपि हेतोः प्रकाश्यप्रकाशनियम एव "तद्धेतोर्नियमो यदि" [प्र०वा०२।४१८]इत्यनेन पूर्वपक्षयित्वा समाधानमुक्तम्–"नैषापि कल्पना ज्ञाने" [प्र०वा०२।४१९] इति । निबन्धनमत्र–"[न] प्रतिनियतग्रहणमनया कल्पनया । हेतुनियमो हि पदार्थानां स्वरूपे, [4]कार्यकरणे वा ? न तावत्स्वरूपे ; स्वरूपप्रतिनियमं हि कारणतः स्वरूपमेव तयोस्तथाभूतं यदवभासते ततः स्वरूपावभासनमेव प्रसक्तं तत्पूर्वकारणाधीनं न परस्पराधीनमिति न परस्परं ग्राह्यग्राहकभावः समानकालतयोदयात् । यदधीना हि तयोर्ग्राह्यग्राहकता [5]तस्य हि तौ ग्राह्यग्राहकाविति युक्तम् । न च [6]संविदितान् स्वरूपादपरा ग्राह्यग्राहकता । कथं तर्हि 'ग्राहकोऽहं ग्राह्यं ममेदम्' इति प्रतीतिः ? नः तदपरस्य सम्बन्धस्याप्रतिभासनात् । कल्पनामात्रमेव अनादिवासनाधीनमेतत् । तथा चोक्तम्–"सव्यापारमिवाभाति" [प्र०वा०२।३०८] इति । तस्मात्[7]स्वरूपे स्वहेतुनियमान्न ग्राह्यग्राहकभावः । अथ कार्यकरणे हेतुनियमः; तदापि यदि ताभ्यां प्रतिनियतस्य कार्यात्मनो जननम्; कथमिव ग्राह्यग्राहकभावः सहकारिभाव एव भवेत् ? न च तावता ग्राह्यग्राहकभावः, तस्मान्न हेतुतो ग्राह्यग्राहकभावः" [प्र०वार्तिकाल०] इति । तत्र स्वरूप एव हेतुनियमः, न तावता स्वरूपप्रतिभासनमेव नीलतद्वेदनयोः । नीलस्य हि स्वहेतुनियतं ग्राह्यत्वं नियतवेदनापेक्षमेव न तु निरपेक्षं तत्कथं तस्य स्वतोऽवभासनम् ? तद्वेदनस्यापि [8]तन्नियतग्राहकत्वं नियतनीलापेक्षं स्वापेक्षञ्च, तत्कथं तस्य स्वावभासनमेव । न चैवं सति 'कारणमेव नीलस्य ग्राहकं ग्राह्यञ्च तद्वेदनस्य' इति चोद्यम् ; नीलतद्वेदनयोः परस्परापेक्षस्यैव ग्राह्यग्राहकभावस्य कारणेन

१ 'असम्बद्धग्रहणे'–प्र० वार्तिकाल० । २ प्रज्ञाकरगुप्तः । ३ स्पर्शस्यापि रूप–आ०, ब०, प० । ४ कार्ये कारणे वा आ०, ब० । कार्यकारणे वा प० । ५ तस्य हेतौ आ०, ब०, प० । ६ संविदितस्वरू– आ०, ब०, प० । 'संविदितस्वस्वरूप'–प्र० वार्तिकाल० । ७ –रूपस्यस्वहे– आ०, ब०, प० । ८ स्वहेतुनियतग्राहकत्वम् ।

नियमात् न सापेक्षस्य । अवश्यञ्चैतदेवमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा नीलतद्वेदनयोर्हेतुफलभावेऽपि तत्प्रसङ्गात् । तद्वेदनं हि कारणमेव कस्यचित्, अन्यथा तदवस्तुत्वापत्तेः । कारणत्वञ्च तस्य कार्योपजननशक्तिलक्षणं स्वकारणादेवेति तदेव तस्य नीलं कार्यं न पुनस्तत्तस्येति भावम् । तथा च न तत्तस्य ग्राह्यमेव अहेतोस्तदनभ्युपगमात् । ततो मिथ्यैवमेतत्–

"ज्ञाने सर्यावभासतः ।
तं व्यनक्तीति कथ्येत तदभावेऽपि तत्कृतम् ॥" [प्र०वा०२।४२०] इति ।

नीलज्ञाने नीलरूपत्वस्य तदवभासस्य च तदाकारत्वलक्षणस्यानन्तरनीत्या निषेधात् । तस्मादत्र कारणेन कार्यान्तरापेक्षमेव तस्य कारणत्वमापाद्येत भावमपेक्षमित्येतदेवोत्तरम् । एतच्च ग्राह्यग्राहकभावेऽपि समानम्–नीलतद्वेदनयोः परस्परसव्यपेक्षत्वेन तद्भावस्य तत्कारणेनोपसर्पणात् । ततो दुर्व्याहृतमेतत्–"यदधीना हि तयोः" इत्यादि । नीलतज्ज्ञानस्वरूपव्यतिरिक्तः तद्भावः एव नास्ति तत्कथं तदपेक्षेति चेत् ? न, कार्यकारणभावस्यापि तद्व्यतिरिक्तस्याभावात् तदपेक्षणस्याभावापत्तेः । कार्यं ज्ञानं तस्य कारणञ्च नीलमिति प्रतीतेः अस्त्येव तद्भाव इति चेत्, न, ग्राह्यं नीलं तस्य ग्राहकं च ज्ञानमित्यपि प्रतीतेः ।

'कल्पनामात्रमेवैतदनादिवासनाधीनम्' इत्यपि न युक्तम्, कार्यकारणभावप्रतीतावप्येवंप्रसङ्गात् । कल्पितं एव तद्भावोऽपि परमार्थतो बहिरर्थस्याप्रतिवेदनात् । न हि प्रत्यक्षेण तत्प्रतिवेदनम्, आकारवतो ज्ञानस्यैव ततः प्रतिवेदनात् । नाप्यनुमानेन; तस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन तदभावेऽनवतरणात् ।

"प्रत्यक्षपूर्वकं सर्वमनुमानं प्रवर्तते ।
प्रत्यक्षस्यानुमापेक्षा यद्यन्योन्यसमाश्रयः ॥

न यावदनुमानं प्रमाणं तावन्न प्रत्यक्षं प्रमाणीभवति बाह्येऽर्थे । न च प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यासम्भवेऽनुमानम्, तत्पूर्वकत्वात्, अन्यथा अन्धपरम्परा भवेत् । तस्मात्परमार्थतः स्वरूपमेव संविदनस्य संविदितं नार्थः ।" [प्र०वार्तिकाल० २।४२०] इति नास्त्येव वस्तुतस्तस्य कारणत्वं तत्कार्यत्वञ्च ज्ञानस्य, कल्पनैव केवलं तद्भावमुपदर्शयतीति चेत्, न, बहिरर्थवेदनस्य सविकल्पकत्वेन प्रत्यक्षत्वाभावप्रसङ्गात् । न हि कल्पनारोपितगोचरस्य निर्विकल्पकत्वमुपपन्नम् । सत्यम्, मिथ्याभिनिवेशरूपेण विकल्पेन सविकल्पकत्वम् अपरामर्शरूपकत्वात्तन्निर्विकल्पकत्वमुच्यत इति चेत्, कथं तथापि प्रत्यक्षत्वं भ्रान्तत्वात् ? न हि मिथ्याविषयमभ्रान्तमुपपन्नम्, अतिप्रसङ्गात् । इदमपि सत्यमेव वस्तुवृत्त्या सर्वस्याज्ञाने भ्रान्तत्वात्, अभिनिवेशकभावाभावाभ्यां तु सम्यङ्मिथ्याज्ञानविभागः, यत्र हि व्यवहर्तुरर्थाभिनिवेशः

---

१ नीलस्यैतस्य । २ न पुनः नीलोदयं नीलस्य कार्यं नीलाभावादिति भावः । ३ तद्धरत्वस्य । ४ फलप्रदत्वमात्रस्य । ५ तद्ग्राहकत्वमात्र । ६–मेव तदना– आ०, ब०, प० । ७–वेदनम् आ०, ब०, प० ।

[तत्] सम्यग्ज्ञानं "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र०वा०१।७] इति वचनात्। यत्र तु तदभावः तैमिरिककेशादौ मिथ्यैव ज्ञानम् "केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः" [प्र०वा०२।१] इति वचनादिति चेत्; अनाकारमेव तर्हि विज्ञानमभ्यनुज्ञातव्यम्, व्यवहारस्य तथैव भावात्। न हि व्यवहारी नीलमेव विज्ञानमनुमन्यते 'नीलमहं वेद्मि' इति नीलादन्यत्रैव तज्ज्ञाने तदभिनिवेशदर्शनात्। न चासौ क्वचिदनुगम्यते क्वचिन्नेति निर्निमित्तमुपपन्नम्। सत्यपि तथा व्यवहारे प्रकाशनियमाय साकारवाद इति चेत्; न; हेतुबलादेव तन्नियमान्न विषयाकारात्। एतदेवाह–**न प्रतिबिम्बतः**। **प्रतिबिम्बं** विषयसारूप्यं **न** ततः **प्रकाशनियम** इति। कुतैतत्? इत्याह–**अन्तरेणापि** विनापि। किम्? **ताद्रूप्यं** विषयाकारत्वं **ग्राह्यग्राहकयो**र्नीलतद्वेदनयोः **सतो**र्व्यवहारतो विद्यमानयोरिति। विद्यत एव व्यवहारतो नीलतद्वेदनयोरन्यत्वम्। न चैवमनुभव इति चेत्; न; अन्वयव्यतिरेकानुभवस्यैव भेदानुभवत्वात्, अन्वयवद्विज्ञानमनुभूयते व्यतिरेकवच्च नीलादिकम्। तथा हि–

पीते प्रवृत्तं प्रत्यक्षं यदान्यत्र प्रवर्त्तते।
तदा तदन्वितं पीतं व्यतिरेकि च दृश्यते ॥६८८॥
पीताद्व्यतिरेके तु तद्वृत्तस्यान्वयः कथम्?।
अन्वितस्य च तस्यास्ति दर्शनं सार्वलौकिकम् ॥६८९॥
पीतं मया पुरा दृष्टमधुना दृश्यते परम्।
इत्यन्वितस्य बोधस्य स्वतोऽनुभवनिर्णयात् ॥६९०॥
अभेदे त्वन्वितज्ञानात्पीतमप्यन्वितं भवेत्।
न ह्यन्वितादभिन्नं तदुपपन्नमनन्वितम् ॥६९१॥
विषयान्तरसञ्चारः प्रत्यक्षस्य तदा कथम्।
पीतस्यैव सदा वित्तेस्तज्ज्ञानाव्यतिरेकिणः? ॥६९२॥
अन्वयव्यतिरेकेऽपि यद्यभेदप्रकल्पनम्।
पीततज्ज्ञानयोर्लोके न किञ्चिद्भिन्नतो व्रजेत् ॥६९३॥
विरुद्धधर्माध्यासाद्धि भेदोऽन्यत्रापि नापरः।
अभेदश्चेदसावत्र कथमन्यत्र भिद्भवेत् ॥६९४॥

नन्विदं बालोपलालनमेव यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां भेदप्रकल्पनम्, प्रमाणाभावात्। न हि किञ्चित्क्वचिदन्वितं कुतश्चिद्व्यावृत्तमित्यपि प्रमाणमस्ति, प्रत्यक्षस्य तत्राप्रवृत्तेः। प्रत्यक्षेण हि तात्कालिकत्वमेव भावानां प्रतिपत्तव्यं तथा तद्धेतोर्नियमान्न पौर्वापर्यम्, अतिप्रसङ्गात्। न च तदप्रतिपत्तौ ततस्तदन्वयव्यतिरेकपरिज्ञानम्; तस्य तदविनाभावात्। असति च

१ अत्र आ०, ब०, प०। २ अर्थबुद्ध्यभावात्। ३ ज्ञानाभिप्राय। ४ प्रत्यक्षम् अन्वितम्। ५ पीतवद् ज्ञानस्य। ६ ज्ञानस्य। ७ पौर्वापर्याप्रतिपत्तौ।

प्रत्यक्षे नानुमानम् ; तत्पूर्वकत्वात् । प्रमाणान्तरं तु नास्त्येव यतस्तत्प्रतिपत्तिः । अतोऽनादितद्वासनाविकासोल्लासिता विकल्पिकैव बुद्धिरन्वयव्यतिरेकावुपदर्शयति । तदभिप्रायेण च पीततज्ज्ञानयोर्भेदकल्पनमनुमन्यत एव, परमार्थत एव तदनभ्युपगमात् , "परमार्थवस्तु सदसदाकारं परापरं विज्ञानमेव" [प्र० वार्तिकाल० २।३०७] इति वचनादिति चेत् ; कुतः पुनरिदमपरापरत्वं विज्ञानानामवगन्तव्यम् ? तेषामेव कुतश्चिदन्यतमादिति चेत् , न; तस्य स्वाकारमात्रपर्यवसायित्वेनान्यत्राप्रवृत्तेः । न हि तदन्यत्राप्रवर्तमानं तद्गतमपरापरत्वं प्रत्येतुमर्हति, धर्मपरिज्ञानस्य तदधिकरणपरिज्ञानाविनाभावनियमात् । तन्नैकस्मात्तत्परिज्ञानम् । भवतु बहुभिरेव तत्परिज्ञानम् , तानि हि परस्परमनुप्रवेशरहितमात्मानमात्मानुभवस्वभावतया प्रतिपद्यन्ते, तदेव च तेषामपरापरत्वपरिज्ञानमिति चेत् , नन्विदमेव दुरवबोधं यदेकं तद्गोचरं [1]विज्ञानं न भवेत् । भवतु तदिति चेत् , न; वक्ष्यमाणोत्तरत्वात् । तन्न प्रत्यक्षात्तदपरापरत्वपरिज्ञानम् । नाप्यनुमानात् , प्रत्यक्षाभावे तदनुत्पत्तेस्तत्पूर्वकत्वात् । प्रमाणान्तरस्य चानभ्युपगमात् ।

तदपरापरत्वमपि तद्वासनोपनीतेन विकल्पेनैव कल्प्यत इति चेत् , न, "परमार्थतः" इत्यस्य विरोधात् , कल्पितस्यापरमार्थत्वात् । अस्ति वस्तुतस्तदपरमार्थत्वम् , तत्परमार्थत्वकथनं तत्र लोकाभिप्रायानुरोधादिति चेत् , न, अन्वित एव ज्ञाने तत्कथनप्रसङ्गात् । [2]तत्रैव (तत्रैव) लोकस्य परमार्थत्वाभिप्रायात् ।

कस्य वा वस्तुनः परमार्थत्वम् ? पीतवेदनाकारमात्रस्याद्वैतवेदनस्येति चेत् , पीतमपि कीदृशम् ? स्थूलमिति चेत् , न; तस्यानभ्युपगमात् । "तस्मान्नार्थेषु न ज्ञाने स्थूलावभा(लाभा)सः" [प्र० वा० २।२११] इति वचनात् । परापरपरमाणुरूपमिति चेत् , तत्परमाणुषु तर्हि वेदनमेकं प्रवर्तमानमात्मानमपरापरतदाकारानुगतं [3]तदाकारान् (कारान्) परस्परव्यतिरेकिणः प्रतिपद्यत इति कथं प्रत्यक्षसिद्धावेवान्वयव्यतिरेकौ न भवेतां यतः पीततद्वेदनयोः पारमार्थिक एव भेदो न भवेत् ? प्रतिपरमाणु भिन्नम् एव तद्वेदनं तदयमदोष इति चेत् , कथमद्वैतं कथं वा तद्वेदनानां बहुत्वस्य परिज्ञानं स्वरूपवेदननियमेन परस्परमविषयीकरणात् ? अन्यस्य चैकस्य तत्परिज्ञातुरभावात् । भवत्वेकपरमाणुरूपमेव पीतमिति चेत् , न, तस्यानवभासनात् । न हि निर्भेदस्य संवेदनस्यावभासनं ग्राह्यग्राहकादिभेदप्रतिभासनत एव तस्य प्रतिवेदनात् । स्वतो निर्भेदमेव तत् , तद्भेदप्रतिभासस्तु तस्योपप्लव एव "ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासो ह्युपप्लवः" [प्र० वा० २।२१२] इति वचनादिति चेत् , तदुपप्लवो यदि तस्य स्वत एव, कथं निर्भेदत्वम् ? न हि स्वत एव भेदेन प्रत्यवभासमानं निर्भेदमित्युपपन्नम् , पीततयाऽवभासमानस्याप्यपीतत्वप्रसङ्गात् । अन्यत एव तस्य तदुपप्लवः स्वतस्तु तन्निर्भेदमेवावभासत इति चेत् , कथं तर्हि तस्यासत्त्वोपपादनम् , यथावस्थं प्रतिभासमानस्य तद-

१-ज्ञानं तद्-आ०,ब०,प० । २ त एव प० । अत्र ताडपत्रं त्रुटितम् । ३-स्याकारमा-आ०,ब०,प० । ४ अत्र ताडपत्रं त्रुटितम् ।

योगात्? तदपि नेति चेत्; किं पुनरिदमुन्मत्तभाषितम्–"ज्ञानमपि स्वरूपेणा[1]प्रतिपन्नमसदेवेति शून्यतैवावशिष्यते" [प्र० वार्तिकाल० २।२१२] इति? शून्यवादिन एवेदं वचनं न ज्ञानवादिनः, [2]तेन निर्भेदतयैव तन्निर्भासस्य तत्सत्त्वस्य चाभ्युपगमात्। तथा च तस्य वचनम्–"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र०वा०२।३४५] इति, "स्वसंवेदनप्रसिद्धमेतत्[3]" [प्र०वार्तिकाल० २।३५४] इति च। इति चेत्; उच्यते–

निर्भेद एव बुद्ध्यात्मा स्वतश्चेदवभासते।
ग्राह्यादिभेदनिर्भासस्तत्र कस्मादुपप्लवः? ॥६९५॥

अन्यतस्तस्य भावस्तु नैवाद्वैतनिपीडनात्।
न स्वतो नान्यतश्चैप यदि निर्भासते कथम्? ॥६९६॥

[5]मायामरीचिप्रभृतिरिव चेन्नेदमुत्तरम्।
न हि तस्यापि निर्भासः स्वपरापेक्षया विना ॥६९७॥

तथापि तस्य निर्भासे तद्वद्बुद्ध्यात्मनो न किम्।
स्ववेदनप्रसिद्धत्वं यतस्तत्रोपवर्ण्यते? ॥६९८॥

नास्त्येव तस्य निर्भास इत्यप्यश्लीलभाषितम्।
[6]ग्राह्यग्राहकसंवित्तीत्यादेः स्वोक्तस्य बाधनात् ॥६९९॥

[7]दृष्टश्चायं न दृष्टस्य लोपो बुद्धौ प्रसङ्गतः।
शून्यतैव भवेत्तत्त्वं बुद्धेरुक्तञ्च कैश्चन ॥७००॥

"[8]तत्रैकस्याप्यभावेन द्वयमप्यवहीयते।
तस्मात्तदेव तस्यापि तत्त्वं या द्वयशून्यता॥" [प्र०वा०२।२१३] इति।

शून्यता परमार्थश्चेत्क्वेदमाकारकल्पनम्।
यतः प्रयासः सर्वोऽयं तत्र साफल्यमुद्वहेत्? ॥७०२॥

प्रमाणविरहाच्चायं परमार्थः कथं भवेत्?।
अशून्यमेव तत्त्वं स्यादन्यथा सकलं जगत् ॥७०३॥

प्रमाणं चेन्न शून्यत्वं प्रमाणस्यैव भावतः।
शून्यत्वं चेदप्रमाणं नेत्येतत्पूर्वं निवेदितम् ॥७०४॥

१–णप्रति–आ०, ब०, प०। २ ज्ञानवादिना। ३–मेतदिति चेत् आ०, ब०, प०। ४–तं नि–आ०, ब०,प०। ५ "मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽपि न दोषः।"–प्र०वार्तिकाल०२।२१०। ६ "ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते"–प्र० वा० २।३५४। ७ दृष्टेश्चायं न दृष्टस्य लोपे बु–आ०, ब०, प०। ८ "तत्र एकज्ञानात्मनि विरुद्धं द्वयं न युक्तमित्येकस्य ग्राह्यत्वस्य ग्राहकत्वस्य वावश्याभ्युपगन्तव्यत्वेनाभावेन द्वयमप्यवहीयते। अन्योन्यसापेक्षयोरेकाभावेऽपराभावस्य न्यायप्राप्तत्वात्। तस्मात्तस्य ज्ञानस्यापि तत्त्वं तदेव या द्वयेन ग्राह्यग्राहकाकारेण शून्यता नाम।"–प्र० वा० म०वृ० २।२१३। ९ यद्द्वयशू–ता०।

ततो नाद्वैतज्ञानं तच्छून्यत्वं वा परमार्थतः, तद्व्यवस्थापनोपायाभावात् ।

भवतु बुद्ध्यात्मैवाऽविभागः परमार्थः, तस्य स्वसंवेदनप्रसिद्धत्वात् । न चैवं ग्राह्यादिभेदनिर्भासस्योपप्लवस्याभावात्–"ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते" [प्र० वा० २।३५४] इति वचनव्यापत्तिः, तदुपप्लवस्य बुद्ध्यन्तरेणोपकल्पनात्, बुद्धिभेदस्यानिराकरणात्, बहिरर्थस्यैव प्रमाणाभावेन प्रतिक्षेपादिति चेत्, न, बुद्ध्यन्तरस्याप्यविभागितयैव स्वतः प्रसिद्धेः ततोऽपि तदुपकल्पनानुपपत्तेः । तत्रापि तदन्तरात्तदुपकल्पनपरिकल्पनायामनवस्थापत्तेः । अपरापरश्च बुद्धिभावो न तद्विषयमेकज्ञानमन्तरेण शक्यः प्रतिपत्तुम्, तदभ्युपगमे च पीतादेरेवापरापरस्य तदभ्युपगन्तव्यम् अविशेषात् । तथा च तदेव पीतादौ क्रमेणानुबुद्धिमात्मनः पीतादेश्च परस्परतो व्यावृत्तिं प्रतिपद्यत इति प्रत्यक्षसिद्धावेव संवेदनतद्वेद्ययोरन्वयव्यतिरेकौ न कल्पनामात्रविरचितौ । ततः प्रतिषिद्धमेतत्–

"अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भेदव्यापारकल्पना ।
अनादिवासनासङ्गाश्च तावध्यक्षपूर्वकौ ॥
सजातिपूर्वविज्ञानाऽनुभवादिव वासना ।
व्यतिरेककल्पनाबीजं केवलान्धपरम्परा ॥"[प्र०वार्तिकाल० २।३०८]इति ।

प्रत्यक्षतश्चान्वयव्यतिरेकयोः प्रतिपत्तौ प्रतिपन्न एव पीततद्वेदनयोर्भेदः, तस्य तद्रूपत्वात् । तद्रूपत्वेऽप्यभेदे नीलपीतयोरपि न भवेत् । न हि विरुद्धधर्माध्यासादपरस्तत्रापि भेदः । स चेत् पीततद्वेदनयोर्भवन्नपि न भेदः परत्रापि न भवेत् । तस्मादनुभवोपारूढमेव ज्ञानतद्विषययोर्नानात्वं न व्यवहारमात्रप्रसिद्धम् । तदेवाह–'अन्तरेणापि' इत्यादि । सतोऽपलम्भविषययोस्तद्विपर्ययतयैव परेण सत्त्वोपगमात् "उपलम्भः सत्ता" [प्र० वार्तिकाल० ४।२६३] इति वचनात् । शेषं पूर्ववत् । ततो यदेतद्वार्तिकं तभिदन्धनञ्च–

"नार्थोऽसंवेदनः कश्चिदनर्थं वापि वेदनम् ।
दृष्टं संवेद्यमानं तत्तयोर्नास्ति विवेकिता ॥" [प्र० वा० २।३८८]

"अनन्वयव्यतिरेकित्वात् एकमेव नीलसंवेदनमन्योन्यव्यतिरेकेणादर्शनात् । तथाहि–

नार्थोऽसंविदनो दृष्टोऽनर्थकश्च न वेदनम् ।
सदापि योगादेकं तदर्थसंविदनं ततः ॥
भेदेन विनियोगार्थं भेदसिद्धेरपीच्छति ।
स चेन्नास्ति ततो भेदाभेदयोः केव भिन्नता ॥

तस्मादत्र भेद इति नाममात्रमेव परेण विधातव्यम् न परस्य काचित् क्षतिः । हेयो-

१ ना भासते–आ०,ब०,प० । २– मार्थतस्तस्य आ०, ब०, प० । ३ भेदस्य । ४ अन्वयव्यतिरेकस-विरचनीयं व्याप्तस्वरूप । ५ विरुद्धधर्माध्यासमपरेऽपि । ६ विरुद्धधर्माध्यासः । ७ उपलम्भविषयतयैव ।

पादेयविभागश्चेत्तत्र नास्ति किमीदृशा[1] भेदेन" [प्र०वार्तिकाल० २।३८८] इति; तत्प्रतिविहितम्; 'अनन्वयव्यतिरेकित्वात्' इत्यस्यासिद्धेः; वस्तुतस्तद्भावस्य प्रतिपादनात्। अन्योन्यव्यतिरेणार्थवद्वेदनयोर्दर्शनस्योपपत्तेः, अन्वितानन्वितरूपत्वेन ज्ञानार्थयोर्दर्शनस्यैव तद्व्यतिरेक[2]दर्शनत्वात्। न च तद्व्यतिरेकस्य निष्फलत्वम्; व्यतिरेकेणैव विनियोगात्। नीलमेव हि वस्त्रादिकमाच्छादनादौ विनियुज्यते न तज्ज्ञानम्, तेन कस्यचिदाच्छादनाभावात्, तदेव च तज्ज्ञानं विषयान्तरपरिच्छित्ताबुपयुज्यते न नीलं तेन कस्यचित्परिच्छेदायोगात्। यथा च तज्ज्ञानस्य विषयान्तरपरिच्छित्तौ विनियोगस्तथा प्रतिपादितमेव। ततो 'भेदेन' इत्यादि प्रज्ञाबलविकलत्वमेव प्रज्ञाकरेण प्रतिपादितम्। यत्पुनरुक्तम्—

"दधानं तच्च तामात्मन्यर्थाधिगमनात्मना।
सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि॥
तद्वशात्तद्व्यवस्थानादकारकमपि स्वयम्॥" [प्र०वा० २।३०७-८] इति;

तदपि महतस्तमसो विलसितमेव; "संवेदनमात्मनि विषयाकारतां धत्ते" [ ] इत्यस्य प्रतिक्षेपात्, तद्वशाद[3]धिगमव्यवस्थानस्यासम्भवात्। तदसम्भवे तन्निबन्धनस्य 'सव्यापारमिवाभाति' इत्यस्यानुपपत्तेः, वस्तुत एव तस्य सव्यापारत्वाच्च। न हि तस्मिन्नेव तदिवेति व्यपदेशो नील एव नीलमिवेति तत्प्रसङ्गात्। वस्तुतः सव्यापारत्वञ्च तस्य परापरविषयाभिमुख्यलक्षणस्याधिगमव्यापारस्य तत्र प्रतीतेः। नापि तस्या[4]कारकत्वम्; वस्तुसति व्यापारे तदपेक्षया कारकत्वस्यैवोपपत्तेः। ततो हेतोरेव प्रकाशनियमो बुद्धेर्नाकारनियमादिति सूक्तम्—'**प्रकाशनियमः**' इत्यादि।

भवतु नाम सत्यर्थे हेतोरेव तत्प्रकाशनियमो न ताद्रूप्यात्, यत्र तु तैमिरिकज्ञानादावर्थ एव नास्ति तत्र कथम्[5]? न हि तत्र प्रकाश एव सम्भवति तस्य[6] प्रकाश्यनिष्ठत्वेन तदभावेऽनुपपत्तेः। सम्भवतश्च कुतश्चिन्नियमो नान्यस्य। तत्रापि विद्यत एव केशादिः प्रकाश्य इति चेत्; न; तस्यानर्थत्वात्। न ह्यसावर्थः; अर्थक्रियाविरहात्। अर्थ एवायं अलौकिकः, लौकिकस्यैवायं नियमो यदर्थक्रियया भवितव्यमिति चेत्; न; तस्य "अभिन्नदेशकालानाम्" इत्यादौ[7] स्वयमेव निराकरणात्। तस्मादसौ तज्ज्ञानस्यैवाकारो न बाह्यस्य प्रकाशविपर्ययस्य सतो गत्यन्तराभावात्। प्रकाशविषयेण ह्यर्थेन वा भवितव्यं ज्ञानेन वा। तत्रार्थत्वाभावे अवश्यम्भावि ज्ञानत्वम्, अर्थ[8]ज्ञानाभ्यां राश्यन्तरस्याभावादिति सिद्धं तत्केशादेस्ताद्रूप्यादेव प्रतिवेदनम्, ततस्तत्र विपर्ययस्यत्येव भवदुक्तो न्यायः। तदेवाह—

अनर्थाकारशङ्केषु त्रुट्यत्येष नयो यदि ॥३५॥ इति।

अर्थस्य बाह्यस्याकारः स्वरूपं तस्य शङ्का 'किमयमर्थाकारो भवति न वा' इति

१ किमीदृशेनेति आ०, ब०, प०। २ ज्ञानार्थव्यतिरेक। ३ विषयाकारतावशात्। ४ संवेदनस्य। ५ कथं तर्हि प्र- आ०, ब०, प०। ६ प्रकाशस्य। ७ न्यायवि० श्लो० ४६। ८ -र्थो ज्ञान- आ०, ब०, प०।

प्रत्यक्षदर्शनम् अर्थाकारशङ्का, न विद्यते सा येषु तैमिरादिज्ञानविपर्ययेषु ते अनर्थाकारशङ्काः शङ्काभावनिवेदनेन तत्र निर्णयस्यात्यन्ताभावमावेदयति। तेषु शुद्ध्यति शिथिलीभवति एषः अनन्तरोक्तः 'प्रकाशनियमो हेतोः' इत्ययं नयो न्यायः तादृप्यादेव तत्प्रकाशनियमात्। सिद्धे क्वचित्तत्तन्नियमे अन्यत्रापि तदेव नियामकम्। तथा हि–'विवादापन्नस्तत्प्रकाशनियमो विषयाकारतयैव, तत्प्रकाशनियमत्वात्, तैमिरकेशादिप्रकाशनियमवत्' इति परस्याकूतम्। यदि इति तदाकूतद्योतने। तत्रोत्तरमाह–

- - - सर्वं समानमर्थात्मासम्भाव्याकारडम्बरम्। इति।

अर्थश्च आत्मा च ज्ञानस्वभावस्तद्भ्यस्य तस्याभावात्, तयोः असम्भाव्यतद्रूपत्वेनाभावात् तस्याकारस्य केशादिलक्षणस्य डम्बरं तज्ज्ञाने प्रतिभासनम्। तदयमर्थः–नायमर्थरूपः केशादिर्नापि ज्ञानरूपः [2]किन्त्वविद्यमान एव तज्ज्ञाने प्रतिभासते तत्कथं [3]तत्रानन्तरनयस्य त्रोटनम्? कथं वा तन्निदर्शनबलाद्विवादापन्नेऽपि विषयाकारसाधनम्? तस्यैव तस्य ज्ञानरूपत्वे तदुपपत्तेः। असतः प्रतिभासमानमेव न सम्भवति प्रतिभास्याभावादिति चेत्, न, [4]तस्यैव प्रतिभास्यत्वात्। कथं तस्य प्रतिभास्यत्वमिति चेत्? कस्मिन् प्रकारे प्रश्नः? विषयगत इति चेत्, 'केशादिरूपेण' इति ब्रूमः। कथमसतस्तद्रूपत्वमिति चेत्? सतोऽपि कथम्? [5]तथा दर्शनात् समानमन्यत्र–असतोऽपि केशादिरूपस्योपलम्भात्। असतोऽसत्त्वेनैवोपलम्भनमनुपपन्नं न [6]तद्रूपतयेति चेत्, न, सतोऽपि सत्त्वेनैव तदुपपन्नं न तद्रूपतयेत्यपि प्रसङ्गात्। तद्रूपतैव तस्य सत्त्वमिति चेत्, असत्त्वमपि तद्रूपतयैवेति किन्नानुमन्यते? सदसतोरविशेषापत्तेरिति चेत्, न, शक्तिभावाभावाभ्यां तत्परिहारात्–यस्य हि तदर्थक्रियायां शक्तिः स साक्षात्केशादिः अन्यस्तु तदाभास इति। तथायं विषयगते प्रकारे प्रश्नः। तज्ज्ञानगत इति चेत्, न, तत्रापि शक्तिरूपेणोत्तरवचनात्। [7]असदपि केशादिकं ज्ञानेन प्रतिभास्यते तच्छक्तिमत्त्वादिति। तदेव कथमशक्तिविषयमिति चेत्? आह–

'सर्वं समानम्' इति। चोद्यं तत्समाधानं च सर्वं समानं सदृशम् तद्ग्रहणे तदनुकरणे च। [8]तथा हि यथासतो न ग्रहणम् अनुकरणमपि कथं यतो ज्ञानं तदाकारम्? न तदनुकरणात् तस्य तदाकारत्वमपि तु पूर्वज्ञानादिति चेत्, न, तस्यापि तदाकारत्वं यदि पूर्वज्ञानात्तस्यापि तत्पूर्वज्ञानादित्यनादेः केशनिर्भासस्य प्रसङ्गात्। न चैवम्, विषयान्तरनिर्भासेऽप्यवधानस्य दर्शनात्। व्यवहितस्यैवाकारार्पकत्वमिति चेत्, साक्षात्तस्यैवार्थस्य प्रतिभासनं किन्न यतः केशादिज्ञानमर्थवन्न भवेत्? भवत्येवमतिप्रसङ्गो जन्मान्तरापगतस्यापि प्रतिभासोपपत्तेरिति चेत्, न, आकारार्पणेऽपि तत्प्रसङ्गात्। शक्तिनियमतस्तत्परिहारस्यान्यत्रापि प्रत्यवायाभावात्। वर्तमानतया प्रतिभासमानस्य कथं व्यवहितस्य केशादेरिति चेत्? यदि भावेन

1 स्याद्वतत्त्व– आ०, ब०, प०। 2 किन्त्व वि–आ० ब०, प०। 3 तत्रानन्तरस्य त्रो–प०। तत्रानन्तरनयस्य आ०, ब०। 4 असत एव। 5 तथा तद्दर्श–आ०, ब०, प०। 6 केशादिरूपतया। 7 अपि तैमि–आ०, ब०, प०। 8 तर्हि यथासतोऽनुग्र–आ०, ब०, प०। 9–ज्ञानमर्थज्ञानं आ०, ब०, प०।

प्रतिभासमानस्य कथं तस्य ज्ञानान्तर्गतत्वम् ? तद्भावस्य मिथ्यात्वादिति चेत्; न; वर्त्तमानत्वस्यापि तत्त्वाविशेषात् । मिथ्याकारस्य कथमर्थत्वमिति चेत् ? ज्ञानत्वमपि कथम् ? न वहिर्भावेन ज्ञानत्वं केशादितयैव तत्त्वादिति चेत्; अर्थत्वमपि तयैव किन्न स्यादविशेषात् ? ततो न पूर्वज्ञानेनापि तदाकारेण तदर्पणम् । अतदाकारेण तु तद्ग्रहणवन्न तदर्पणमप्युपपन्नम् अतिप्रसङ्गाद् दोषादिति सूक्तम्-**सर्वं समानम्** इति ।

शक्तिनियमान्नियतस्यैव तदाकारस्यार्पणे तत एव ग्रहणमपि नियतस्यैव भवेत् । तन्नियमश्च[3] वस्तुसत्केशादिविपर्यदर्शनाहिततद्वासनापरिपाकवशात्, भवन्मतेन वस्तुसत्तदाकारदर्शनार्पिततद्वासनापरिपाकवशात्तन्नियमवत् । एतदेवाह-

तद्भ्रान्तेराधिपत्येन [सान्तरप्रतिभासवत् ॥३६॥]

तत् अनन्तरोक्तम् अर्थात्मासम्भाव्याकारडम्बरं **भ्रान्तेः** मिथ्याज्ञानस्य **आधिपत्येन** सामर्थ्येन । दृष्टान्तमाह-**सान्तरप्रतिभासवत्** इति । अन्तरं व्यवधानं तेन सह वर्त्तमानं **सान्तरं** केशादि तस्य ज्ञानात् वहिर्व्यवधानवत्त्वेनैव प्रतिभासनात् तत्**प्रतिभासः** स इव तद्वदिति । तात्पर्यमत्र-केशादिप्रतिभासोऽयम् अवस्तुविषयः वाध्यमानत्वात् सान्तरप्रतिभासवदिति । साध्यविकलं निदर्शनम्, तत्प्रतिभासस्यापि वस्तुविषयत्वात् । अन्तरस्यापि ज्ञानाकारत्वेन वस्तुत्वादिति चेत्; न तर्हि केशादेस्तदाकारत्वम् अन्तरितस्य तदयोगात्, सर्वस्यापि तदाकारत्वापत्तेः । अतोऽवस्त्वेव केशादिकम् अज्ञानत्वे गत्यन्तराभावात्, अर्थत्वस्य स्वयमनभ्युपगमात् । तदयं शमनप्रयोगादेव प्रकोपो दोषस्य केशादिप्रतिभासस्यावस्तुविषयत्वमुपशमयितुमुद्भावितादेव निदर्शनस्य साध्यवैकल्यात्[10] तत्प्रतिभासस्य तद्विपयत्वोपनिपातात् । तदिदं दोषमपसिसारयिषता नान्तरस्य ज्ञानाकारत्वमुररीकर्तव्यमिति[11] सिद्धं तस्यावस्तुत्वेन तत्प्रतिभासस्यावस्तुप्रतिभासित्वमिति न साध्यवैकल्यं निदर्शनस्य ।

संवृतिरेवायमन्तरप्रतिभासो नाम । दर्शनं हि केशादेस्तद्रूपमेव नापरमसम्प्रतिपत्तेः । न च तदेव स्वतः स्वस्य व्यवधानमुपदर्शयति विरोधात् । संवृतिस्तु व्यवधानवासनापरिपाकादुत्पद्यमाना व्यवधानस्य तद्गतत्वेनोपदर्शनात् अन्तरप्रतिभास इत्युच्यते । न च तस्यावस्तुविषयत्वेनान्यथा वा विचारसहत्वम्, [12]तदसहत्वस्यैव[13] तद्रूपत्वात्, ततः सन्दिग्धसाध्यमेव निदर्शनम्; अवस्तुविषयत्वस्य साध्यस्य तत्रानिश्चयनादिति चेत्; न; केशादिप्रतिभासस्यापि संवृतित्वप्रसङ्गात् तस्यापि तद्वासनापरिपाकाभावेऽनुत्पत्तेः । अतस्तस्यापि तद्विपयादन्यत्वानन्यत्वाभ्यां विचार(रा)क्षमत्वात् कथं निश्चितं तस्य तदाकारत्वं यतस्तदवष्टम्भेनान्यस्यापि वेदनस्य

१ तदभावस्य मि-आ०, ब०, प० । वहिर्भावस्य । २-भमतिप्रसङ्गादिदोषा इति आ०, ब०, प० । ३-यमनिश्चयव-आ०, ब०, प० । ४-यहेतुत्वाद्वास-आ०, ब०, प० । ५-धानत्वेनैव आ०, ब०, प० । ६ केशादिप्रतिभासस्यापि । ७ ज्ञानाकारत्वाभावे । ८-त्वमुपदर्शयितु-आ०, ब०, प० । ९ सान्तरप्रतिभासस्य । १० केशादिप्रतिभासस्य । ११ सिद्धान्तस्य आ०, ब०, प० । १२ विचारासहत्वस्यैव । १३ संवृतिस्वरूपत्वात् ।

विषयाकारानुमानमुपपन्नं भवेत् ? स्पष्टप्रतिभासत्वान्न केशादिप्रतिभासस्य संवृतित्वम् । न हि संवृतेः स्पष्टत्वम् । "न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता ।" [प्र० वा० २।२८३] इति वचनादिति चेत् , न, अन्तःप्रतिभासस्यापि स्पष्टस्यैवोपलम्भात् तस्य चावस्तुविषयतया निश्चयान्न सन्दिग्धसाध्यत्वं निदर्शनस्य ।

नापि बाध्यमानत्वस्य हेतोरसिद्धत्वम् , 'नायमित्थमेव केशादिः' इति बाधकप्रत्ययस्य तत्रोपनिपातात् । बाध्यबाधकभावस्य च तात्त्विकस्यैव व्यवस्थापनात् । यदि तज्ज्ञानादन्य एव केशादिस्तेनापि कस्मान्नोपलभ्यते नानाप्रतिपत्तृसाधारणत्वाद्बहिर्विषयस्य सत्यकेशादिवत् ? तिमिरादेस्तदुपलब्धिनिबन्धनस्याभावादित्यपि न युक्तम् , परस्यापि तिमिरादिसम्भवात् । तत्सम्भवे भवत्येव तस्यापि तदुपलम्भ इति चेत् , न, अन्यस्यैव केशादेस्तेनोपलम्भात् । कथं तर्हि तैमिरिकयोरेकवाक्यत्वम् 'आकाशे केशस्तबकोऽयमास्ते' इति ? न, सादृश्यनिबन्धनत्वादेकवाक्यत्वस्य, एकस्यैवोपलम्भे तयोरन्यतरस्यान्यत्रोपलम्भो न भवेत्तस्यैवान्यत्र सम्भवात् । भवति च भिन्नदिग्देशतया तदुपलम्भनं तैमिरिकस्य, तस्मात्तज्ज्ञानानुप्रविष्ट एवायम् अनन्योपलभ्यत्वात् तज्ज्ञानस्वरूपवदिति चेत् , न, पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् , तदननुप्रविष्टस्यैव तस्य प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तेः, बहिस्तस्य अन्तस्तज्ज्ञानस्य च प्रतिभासनात् ।

न च 'तज्ज्ञानस्वरूपे तदनुप्रविष्टत्वे सति अनन्योपलभ्यत्वमुपलब्धम्' इत्येव तस्य गमकत्वं यावद्विपक्षे विरोधो न गम्यते । गम्यत एव सहानवस्थानं तद्विरोध इति चेत् , न, सहावस्थानस्यैव प्रतिपत्तेः तदननुप्रवेशसहितस्यैवानन्योपलभ्यत्वस्य प्रतिवेदनात् । परस्परपरिहारस्थितिविरोध इति चेत् , न, अन्योपलभ्यत्वापेक्षयैव तस्य भावात्, हेतुविरुद्धेन अन्योपलभ्यत्वेन साध्यविपक्षस्य व्याप्तत्वात् । अस्त्येव तेनापि तस्य विरोध इति चेत् , क्व पुनस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तिः ? सत्यकेशादाविति चेत् , न, तत्राप्यनुपलभ्यत्वस्य वस्तुतः स्वयमनभ्युपगमात् । पठति च भवादृशः–"परेण तदभावेऽपि दृश्यते इति विपर्यासमारोप्य तथा व्यवहारः" [   ] इति । न च वैपर्यासिको धर्मस्तात्त्विकस्य बाधको माणवके सिंहत्ववन्मनुष्यत्वस्य । ततो व्यभिचारी हेतुः, सत्यकेशादावतज्ज्ञानानुप्रविष्टेऽपि भावात् । नायं दोषः, तत्रापि तदनुप्रवेशस्यैव भावादिति चेत् , क्व पुनरिदानीं हेतुविरोधिना साध्यविपक्षस्य व्याप्तिपरिज्ञानं यतो विपक्षव्यावृत्त्या हेतोर्गमकत्वम् ? क्वचित्साहचर्यदर्शनमात्रेण गमकत्वे तत्पुत्रत्वेऽपि प्रसङ्गः श्यामेऽपि क्वचित्तस्य दर्शनात् । नैवमिति चेत् , न; प्रकृतेऽपि समानत्वात् अनन्योपलभ्यत्वस्यापि साध्यविपर्यये दर्शनात् । तथा–छान्दसत्वेन हि

---

१ पुरुषेण । २ पुरुषस्य । ३–न्यत्र तदुप–आ०, ब०, प० । ४ केशादेः । ५ व्यभिचारस्यैव । ६ केशादेः । ७ केशादेः । ८ केशादिज्ञानस्य । ९ एकस्मयमात्रेण । १० तस्यागमत्वं ब० । तस्य गमकत्वं आ० । ११ विपक्षविरोधः । १२ सहानवस्था–आ०, ब०, प० । १३ तदनुप्रवेश–आ०, ब०, प० । १४ विरोधस्य । १५ तदनुप्रवेशेनापि । १६ सत्यकेशादावपि ।

[1]तदपि स्वयमुपलभ्यमानमन्येन शक्यमुपलब्धुं केशादिवत् । न च तस्य तज्ज्ञानानुप्रवेश इति प्रतिपादितमनन्तरमेव । ततो नात्रस्तैमिरकेशादेस्तज्ज्ञानानुप्रवेशः सिद्ध्यति यतस्तत्र प्रकाशनियमस्य ताद्रूप्यनिबन्धनत्वनिर्णयात् अन्यत्रापि[2] तस्यैव तन्निबन्धनत्वसाधनमुपपद्येत । ततो बोधशक्तेरेव तत्केशादावपि तन्नियमस्य भावादन्यत्रापि तत एव तन्नियमः प्रतिपत्तव्य इत्यलमभिनिवेशेन ।

स्यान्मतम्-यदि संविदनुप्रवेशो नार्थस्य कथमवभासनम् ? स्वरूपेणैव पुरोवर्तिनेति [3]चेत्; कथं दूरेऽपि न तथैव दर्शनम् ? कथं व्यामलितत्वेन ग्रहणम् ? न ह्यन्यरूपेण तद्ग्रहणम् । अ[4]थ तद्रूपमेव मन्दालोकसम्पर्कान्मन्दतया प्रकाशते; तदनुपपन्नम् ; यतः-

अ[5]र्थस्य प्रतिभासः स्याद्यदि भासा समन्वितः ।
अ[6]न्येन सहिताभासे न[7] स्यान्मन्दावभासिता ॥७०५॥

परस्परव्यावृत्तालोकरूपप्रतिभासे हि तयोरेव तथावभासनमिति[8] नाऽस्पष्टरूपप्रतिभासः । न खल्वन्यस्मिन् स्वरूपावभासवति तदपरस्तथा भवति । भवत्येव कुसुम्भरागवस्त्रान्तरितवस्तुप्रतिभासवदिति चेत् ; न; तत्रापि समानत्वात् । स्वरूपेण[9] प्रतिभासने [10]नेरताव(न रक्ताव)भासः । तदेव तस्य रूपमिति तथावभासनाभ्युपगमे प्रकृतस्याप्यालोकमन्दतया तदेव रूपमिति सकलस्य तथावभासनात् कुतो बुद्धिभेदः ? तस्मादालोकभेदेऽपि न भेदावभासः । [11]तस्माद्बुद्धेरेवायमाकारो मन्दरूपः तथा व्यक्तरूपश्चेति; तन्न समीचीनम् ; मन्दरूपस्यापि बाह्यत्वात् । ननु अर्थस्यातद्रूपत्वात्कथं तथा प्रतिभासनम् , मन्दालोकबलात्तत्प्रतिभासनस्य प्रतिविहितत्वादिति चेत् ? न ; यस्मात्-

मन्दालोकान्वयादर्थो मन्दश्चेन्नावभासते ।
[12]बुद्ध्यात्मारोपसम्पर्कात्तद्रूपो भासते कथम् ? ॥७०६॥
मिथोऽव्यावृत्तयोर्बोधभेदोपप्लवयोस्ततः ।
प्रतिभासे कथं बोधरूपे स्यात्तदुपप्लवः ॥७०७॥
निरुपप्लवताभावे तत्रेदं कथमुच्यते ? ।
"ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासो ह्युपप्लवः ॥" [प्र० वा० २।२१२]
मोहाभावे कथं च स्यात् "शास्त्रं मोहनिवर्त्तनम् ।" [प्र० वा० १।७]
असतः खरशृङ्गस्य किं किञ्चित्स्यान्निवर्त्तनम् ॥७०९॥

---

१ केशादि । २ सत्यवेशादावपि । ३ चेत्यं दू-आ०, ब०, प० । ४ अतद्रूप-आ०, ब०, प० । ५ तुलना-प्र० वार्तिकाल० २।४१६ । ६ अनेन स-आ०, ब०, प० । ७ न सन्मन्दा-आ०, ब०, प० । ८ -ति स्प-आ०,ब०,प० । ९ रूपेण आ०,ब०,प० । १० -नेन न रताव-आ०,ब० । -ने न रक्तावभासः-प्र० वार्तिकाल० । ११ कस्मा-आ०, ब०, प० । १२ बुद्ध्यात्मालोकस-आ०, ब०, प० ।

विवेकविकल्पस्यायमस्त्येवोपप्लवो यदि ।
तस्यैवार्थोऽपि मन्दावभासः किन्नोपपत्तिमान् ? ॥७१०॥

सत्यपि युवृद्धात्मनो मान्द्यादिविकल्पस्य चान्योन्यव्यामृततया प्रतिभासने तद्विवेकस्य विविकल्पस्य भवत्येव युवृद्धात्मनि मान्द्यादिभेदप्रतिभासोपप्लव इति चेत् , नैवम् , मन्दावभासस्याप्युपप्लवस्य सम्भवात् । [1]मन्दालोकरूपयोरपि विविक्ततया प्रत्यवभासनस्य तद्विवेकैकत्वस्य च कचित्प्रतिपत्तिरिति सम्भवानिवारणात् । तस्मात्–"मन्दालोकमाहित्येन रूपेऽपि मन्दप्रतिभासोपपत्तेरर्थस्य प्रतिभासः स्यात् ।" [ ] इत्यादिकमपर्यालोचितवचनमेव निबन्धनकारस्य । धर्मकीर्तिस्तु "मनसो युगपद्वृत्तेः" [प्र० वा० २।१३३] इत्यादिना दर्शनविकल्पयोरन्यतरधर्मस्यान्यत्र प्रत्यासत्तिवशाद्ध्यारोपं ब्रुवाण एव आलोकमान्द्यस्य तत्पाटवस्य वा रूपेऽपि कथमध्यारोपमपाकुर्वीत ? यतस्तदध्यारोपवशादेकाकारस्यापि रूपस्य स्पष्टेतरात्मना भेदेन प्रतिभासो न भवेत् । ततस्तस्यापीदमपर्यालोचितमेवाभिधानम्–

"मान्द्यपाटवभेदेन भासो बुद्धिभिदा यदि ।
भिन्नेऽन्यस्मिन्नभिन्नस्य कथं भेदेन भासनम् ? ॥"[प्र०वा०२।४११]इति ।

न च तमसालोकमान्द्यनिबन्धनत्वं मन्दावभासस्य भूमः सत्यपि तस्मिन्[2] बालके परिस्फुटस्यैव रूपदर्शनस्य भावात्, असत्यपि तस्मिन् परिणतवयसि[3] मन्दस्यैव रूपप्रतिभासस्योपलम्भात् , अपि तु तज्ज्ञानाच्छक्तिनियन्धनत्वमेव । यदुक्तम्- 'तद्भ्रान्तेराधिपत्येन' इति ।

ननु यावच्चक्षुराधिपत्येन बहिरसत एव मन्दाकारस्य प्रतिभासनं तावत् ज्ञानाकारस्यैव कस्मान्न भवति ? प्रतीतिश्चैवमनुगृहीता भवति । तथा हि 'प्रतीतिरेषा[4] मम व्यामलितरूपोदिता' इति ज्ञानः प्रतिपत्तिमानिति चेत् , न, तद्बहिर्भावेन प्रतिभासमानस्य तदाकारत्वानुपपत्तेः । 'प्रतीतिरेवं मम व्यामलितरूपोदिता' इति तु प्रतिपत्तिर्बहि:स्थस्यान्तरुपचारात् । ननु कार्यधर्मस्य कारणे भवत्युपचारो यथा चक्षुषि दर्शनमान्द्यस्याध्यासात्'मन्दं चक्षुः' इति । दर्शनस्य[5] तु न विषयः कार्यं मान्द्यम् यतस्तन्मान्द्यस्य तत्राध्यासात् 'मन्दं दर्शनम्' इत्युच्यते । विषयत्वादेव तद्धर्मस्य विषयिण्युपचार इति चेत् , न, मान्द्यवत् धर्मान्तरस्यापि तद्गतस्य तत्राध्यासप्रसङ्गात् । तथा च कृष्णादित्वेनापि दर्शनस्य व्यपदेशः स्यात् । न चैवमनुमति[6] भवतः । तस्मादस्पष्टत्वं नाम दृष्टेरेव रूपं सर्वजनप्रसिद्धत्वात् । न च सार्वजनिकस्य निश्चयस्य निर्निबन्धनमेव विभ्रमत्वव्यवस्थापनत्वमुपपन्नम् । तदुक्तम्–

"मम व्यामलितं चक्षुस्तावद्दर्शनसङ्क्रमात् ।
तत्कार्यदर्शनादेव व्यपदेशस्तथास्तु स[7] ॥

---

1 मन्दावलोक-आ०, ब०, प० । 2 -रिक्तम-आ०,ब० प० । 3 आलोकमान्द्ये । 4 इदं । 5 -रेव मन्दा-आ०, ब०, प० । 6 -स्य तु विषयिः स-आ०, ब०, प० । 7 दर्शने । 8 -मनुमतिर्भ- आ०, ब०, प० ।

दृष्टेस्तु कार्यं नास्त्यन्यन्नार्थः[1] कार्यतया स्थितः ।
तथा समागमादेव यदि नीलापि [2]सोच्यताम् ॥
कुड्यं ममेयं दृष्टिर्हि न कदाचित्त्वयेष्यते ।
तस्मादस्पष्टता दृष्टेः सर्वलोकप्रतीतितः ॥
निश्चयो न हि सर्वेषामकस्माद्भ्रान्त उच्यते ॥" [प्र० वार्तिकाल० २।४१०]

इति चेत्; न; तन्निश्चयस्योपचारेण भावात्, उपचारस्य विषयभावेनोपपत्तेः । न चैवं धर्मान्तरस्याप्युपचारः; वा (वा) हीके गोत्ववत्तिष्ठन्मूत्रत्वस्यापि तत्प्रसङ्गात् । कदाचिदस्त्येवायमपीति चेत्[3]; न; दर्शनेऽपि कदाचिद्विषयव्यपदेशस्य भावात्, 'पावकोऽत्र धूमात्' इत्यत्र धूमदर्शनस्यैव धूमत्वेन व्यपदेशात् । ततः 'कुड्यं ममेयम्' इत्यादि पराभिप्रायानभिज्ञतयैव प्रतिपादितम्, कादाचित्कस्य विषयव्यपदेशस्य विषयिणि परेणाभिप्रेतत्वात् । न च तन्निश्चयस्याकस्मादेव भ्रान्तत्वमुच्यते, बाधकादेव तदभिधानात् । तच्च[6] बहिर्भावेन प्रतिभासनमेव ।

ननु न संवेदनात्तस्य[7] बहिर्भावः, तस्यैव[8] तद्व्यतिरिक्तस्याभावादनुपलम्भात्, अस-[9]तश्चानपादानत्वात् । न च तदात्मने[10] एव तस्य बहिर्भावो विरोधात् । 'ममायं बहिरेव ध्यामलाकारः' इति व्यवहारस्तु शरीरापेक्षयैव, ममत्वेन शरीरस्य व्यपदेशात् । स्वरूपप्रतिभासे[11] हि न तटस्थातटस्थते "व्यवहारमात्रमिदम्[12], आश्रयापेक्षया परम्" [ ] इति वचनादिति चेत्; न; शरीरस्यापरिज्ञाने ममत्वेन निर्देशानुपपत्तेः सुप्तशरीरवत् । न च तस्य परतः परिज्ञानम् अनभ्युपगमात् । स्वतस्तु परिज्ञाने भवतु 'मम' इति न पुनर्ध्यामलाकार इति तस्य तेनापरिज्ञानात् । "न हि स्वसंवेदने परसंवेदनम्" [ ] इति वचनात् । मा भूच्छरीरापेक्षयापि [13]तस्य [14]तटस्थत्वमिति चेत्; कथं तद्व्यवहारः ? संवृतिमात्रादिति चेत्; [15]कुतस्तयोर्हेतुफलभावप्रतिपत्तिः ? न कुतश्चिदिति चेत्; कथमभ्युपगमस्तद्विपर्ययवत् ? न च संवृतिमात्रात्तद्भावप्रतिपत्तिः तेन व्यवहारस्यापरिज्ञानात् । नापि व्यवहारात्; तेनापि तन्मात्रस्याप्रतिवेदनात् । न च [16]तयोरेकेन परिज्ञानाभावे तद्धेतुफलभावस्य परिज्ञानम् । भवतु तदुभयविषयमेकमेव किञ्चिद्विज्ञानमिति चेत्; न; यतस्तत्रापि[17] तयोरनुप्रवेशे न हेतुफलभावः तस्य भेदनिष्ठत्वेनैकत्रासम्भवात् । अननुप्रवेशे सिद्ध [18]तयोस्तदपेक्षया[19]तटस्थत्वम् । संवृत्या तद्व्यव-

---

१ -र्यका-आ०, ब०, प० । २ दृष्टिः । ३ चेत् दर्श-आ०, ब०, प० । ४ -नभिज्ञातयैप्र-आ०, ब०, प० । ५ भ्रान्तत्वकथनात् । ६ बाधकञ्च । ७ ध्यामलाकारस्य । ८ यतः ध्यामलाकारसंवेदनयोरभेदः अतः तस्यैव संवेदनस्वरूपस्यैव ध्यामलाकारस्य कथं तस्माद् व्यतिरिक्तत्वमिति भावः । ९ पृथगनुपलब्धस्य संवेदनस्य 'संवेदनात्तस्य बहिर्भावः' इत्यत्र न अपादानत्वं युज्यते । तश्चानुपादान-प० । -तश्चानुपाधान-आ०, ब० । १० तत्स्वरूपादेव संवेदनात् तस्य ध्यामलाकारस्य । ११ -सेन तटस्था तटस्थवत्वे प० । -सेन तटस्थातटस्थते आ०, ब० । १२ -मात्रापेक्ष-आ०, ब० । -मात्रापेक्ष-प० । १३ ध्यामलाकारस्य । १४ तदवस्थत्वमिति आ०, ब०, प० । १५ संवृति-व्यवहारयोः । १६ -रेकापरि-आ०, ब०, प० । १७ उभयविषयकज्ञानेऽपि । १८ संवृतिव्यवहारयोः । १९ उभयविषयकज्ञानापेक्षया ।

द्वार इत्यपि संवृत्यैव न वस्तुतः । ततो यदि तस्य विचार्यमाणस्यायोगो न कश्चिद्दोषो विचाराक्षमत्वस्यैव [1]तद्रूपत्वादिति चेत्, न, वास्तवस्यैव तद्व्यवहारस्य प्रसङ्गात् । तन्मिथ्यात्वस्य[2] मिथ्यात्वे गत्यन्तराभावात् ।

अपि च, द्वितीयस्यामपि संवृतौ पूर्ववत्प्रसङ्गः तस्यास्तत्स्वरूपस्य चापरिज्ञाने न [3]तद्भाव स्याभ्युपगमः । परिज्ञानञ्च यदि क्वचिदनमुपविष्टतयैव किन्न [4]वस्तुतः तटस्थतयैव प्रतिभासनम्? तयोरपि संवृत्यैव सद्भावः परिकल्प्यते तस्य च विचारपरिशिथिलत्वं न दोषायेति [5]चेत्, तन्न, अव्यवस्थापत्तेः । ततो दूरमनुसृत्यापि कयोश्चित्संवृतितत्कल्पयोः पारमार्थिक एव तद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः । स च तयोः क्वचिद्बहिर्भूतयोरेव प्रतिभासते(ने) सम्भवति नान्यथा । तथा च व्यामकाकारस्यापि तज्ज्ञानबहिर्भूतस्यैव प्रतिभासनमिति सिद्धं सवेदकत्वनियमस्य तेन बाधनाद्भ्रमत्वम् ।

यदि पुन (पुन) रसत एव तदाकारस्य भ्रान्तिसामर्थ्येन बहिरवभासनं कथं तज्ज्ञानस्यास्पष्टत्वं यतः परोक्षतया प्रमाणत्वम्? कथं वा बहिरभिव्यक्तेन रूपेण तज्ज्ञानस्य स्पष्टत्वं यतः प्रत्यक्षतया प्रमाणत्वमिति चेत्? न, अभिप्रायापरिज्ञानात्[6] । न ह्यालोकालिङ्गितवस्तुविषयतया स्पष्टस्य प्रत्यक्षस्य श्रोत्रादिप्रत्यक्षस्य तद्भावा (तदभावा)पत्ते[7], अपि तु क्षयोपशमादिनिमित्तो ज्ञानस्य विशुद्धिविशेष एव । अस्पष्टत्वमप्यपकृष्टस्वविक्षेप एव न व्यामकाकारकवलितवस्तुप्रतिभासित्वमेव, स्मरणादौ तदभावापत्तेः । प्रतिपादितं चैतत्पूर्वम् । ततो नानर्थाकारग्राह्येऽपि तैमिरिकविषयादौ प्रकाशनियमस्य हेतुनिबन्धनत्वं युज्यते यतोऽन्यत्रापि तद्दर्शनेन तदनुत्पत्ता व्यवस्थाप्येतेति स्थितम् ।

इदानीं 'प्रकाशनियमो हेतोः' इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुरवसरप्राप्तं चोद्यमुत्थापयति–

यथैवात्मायमाकारममूतमवलम्ब्यते ।
तथैवात्मानमात्मा चेदमूतमवलम्ब्यते ॥३७॥ इति ।

यथैव येनैव भ्रान्तेराधिपत्येन प्रकारेण नापरेण आत्मा स्वभावो ज्ञानस्य तस्यैवात्म्यकल्पोपपत्तेः अयं प्रत्यात्मवेदनीय आकारं तैमिरिककेशादिकम् अमूतम् अविद्यमानम् अवलम्ब्यते जानाति तथैव तेनैव प्रकारेण आत्मानं स्वरूपम् आत्मा अमूतम् असन्तम् अवलम्ब्यते चेत् यदि । तथा हि, यद् मोहाधिपत्येनावलम्ब्यते तदमूतम् यथा तैमिरिककेशादि, मोहाधिपत्येनावलम्ब्यते च मोहात्मेति । तत्रोत्तरमाह–

न स्वसंवेदनात् [तुल्यं भ्रान्तेरन्यत्र चेन्मतम् ।] इति ।

---

१ संवृतैस्तत्स्वरूप । द्रष्टव्यम्–पृ० १४ टि० ७ । २ 'संवृत्या व्यवहारः' इत्यस्य मिथ्यात्वस्य । ३ हेतुफलभावस्य । तद्भावस्याभ्युपग–आ०, ब०, प० । ४ वस्तुतस्त–आ०, ब०, प० । ५ चेदाव्यव–आ०, ब०, प० । ६ चमत्कृत प० । तात्पर्यं त्रुटितम् । ७ –ज्ञानं न–आ०, ब०, प० । ८ तद्भावोपपत्ते प० । तद्भावोपपत्तेः आ०, ब० । ९–शमनादि–आ०, ब०, प० ।

आत्मानमात्मा अभूतमवलम्बते इत्येतत् न । कुतः ? **स्वेन** आत्मना **संवेदनात्** प्रतिपत्तेस्तदात्मनः । तात्पर्यमत्र–यद्याधिपत्यं तस्याभूतमेव कुतस्तेनात्मनस्तत्केशादेर्वावलम्बनम् ? इत्यसिद्धं साधनं तद्विकलता च दृष्टान्तस्य । भूतमेवेति चेत् ; कुत एतत् ? तथैव स्वसंवेदनात्प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तेरिति चेत् ; प्रत्यक्षबाधितस्तर्हि भवदीयः पक्षस्तस्य कथं हेतुबलेन व्यवस्थापनम् ? "न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः" [ ] इति न्यायात् । न भूतं नाप्यभूतं तत्, तस्य तदुभयविकल्पातीतत्वादिति चेत् ; तन्न; यस्मात्–

तद्विकल्पव्यतीतत्वं यद्यभूतमुदीर्यते ।
तयोरन्यतरः कल्पो भवेदुक्तप्रतिक्रियः ॥७११॥
भूतं चेदाधिपत्यञ्च तद्वद् भूतं न किं मतम् ? ।
भूताभूतविकल्पाभ्यां निर्मुक्तं तदपीति चेत् ॥७१२॥
अनवस्थानदोषेण तदेतत्पीडितं वचः ।
वक्तुश्चित्तपरिक्लेशमावहत्यतिदुःसहम् ॥७१३॥
तस्माद्दूरमुपेत्यापि तद्भूतमभिवाञ्छता ।
बोधात्मा भूत एवायमभ्युपेतो भवत्यलम् ॥७१४॥
तस्मादालम्बनं तस्य नाभूतस्योपपद्यते ।
[3]इति सूक्तमिदं देवैः '**न स्वसंवेदनात्**' इति ॥७१५॥

पर आह–**तुल्यं** सदृशम् आत्मनीवाकारेऽपि तत्केशादौ स्वसंवेदनं तस्यापि तदनर्थान्तरत्वेनैव प्रतिवेदनात् । न हि तत्रापरं तद्वेदनमुपलभ्यते । इदमेव च स्वसंवेदनं यदन्यनिरपेक्षमुपलम्भनमिति भावः परस्य ।

ननु इदं प्रागेव प्रतिविहितम् अन्योपलम्भस्य व्यवस्थापनात्, तत्किं पुनरुपक्षेपेणेति चेत् ? न; अन्यथा दूषणप्रतिपादनार्थत्वात् । तदेवाह–**भ्रान्ते**रिति । 'न' इत्यनुवृत्तम् । यदुक्तं '**तुल्यम्**' इति । तन्न; कुतः ? **भ्रान्ते**र्विभ्रमात् मिथ्यात्वात्तदाकारस्य । न हि ज्ञानाकारस्य मिथ्यात्वमुपपन्नं ज्ञानस्यैव तत्प्रसङ्गात् । प्रसिद्धश्च भ्रान्तितया तदाकारः । ततो न स्वतस्तस्य संवेदनम् । अभ्रान्तिरेवासौ ज्ञानरूपतया भ्रान्तिस्तु बहीरूपत्वेनैवासतेति चेत् ; न; तस्य तथाऽनवभासनात्, अन्तारूपतयैव प्रतिपत्तेः, अप्रतिभासने च न भ्रान्तिः, अतिप्रसङ्गात् । प्रतिभासत एव ज्ञानान्तरे तद्रूपतया । तदाह '**अन्यत्र चेत्**' इति । **अन्यत्र** ज्ञानान्तरे तत्प्रतिभासँ इति भ्रान्तिः तदाकारः **चेत्** यदि इति । तत्रोत्तरमाह–'**मतम्**' इति । 'न' इत्यधिकृतम् । इदमभिमतं न सम्भवतीत्यर्थः । न हि ज्ञानाकारस्य ज्ञानान्तरे प्रतिभासनम् अनन्यवेद्यतया

१ –क्प्रतीतितः आ०, ब०, प० । २ –तमपि वा–आ०, ब०, प० । ३ ततः सूक्त–आ०, ब०, प० । ४ तदर्था–आ०, ब०, प० । ५ "एतदेव स्वसम्वेदनं यदन्यागोचरत्वे सति प्रकाशनं नाम ।"–प्र० वार्तिकाल० ३।४६६ । ६ युक्त आ०, ब०, प० । ७ –सवति आ०, ब०, प० ।

तदभ्युपगमात् । अन्यस्यैव तत्र प्रतिभासनमिति चेत्; कथं तत्केशादेर्भ्रान्तत्वम् ? अन्यस्यैव तदुपपत्तेः । तस्मादहमादिति चेत्, तस्यापि कथं तत्त्वं येनैवमुच्येत । तत्र बहिरसतः केशादेः प्रतिभासनादिति चेत्, न, प्राच्येऽपि तज्ज्ञाने तथैव तत्प्रसङ्गात् । इति सिद्धं मुख्यतयैव तस्य भ्रान्तित्वं तदभावाऽस्वसंवेदनमिति [2]द्वितीयेऽपि ज्ञाने तदनुप्रविष्टस्यैव तस्य प्रतिभासनम् । बहीरूपत्वं तु ज्ञानान्तरोपदर्शितमेवेति चेत, न, तत्रापि 'न हि' इत्यादेर्दोषस्य परिभ्रमादव्यवस्थापत्तेः ।

[3]एतेनैव तदपि प्रत्युक्तं यदुक्तमलङ्कारे—"विकल्पो ग्राह्यग्राहकोल्लेखेनोत्पद्यमान् सोऽपि स्वरूपे ग्राह्यग्राहकरूपरहित एव परेण तथा व्यवस्थाप्यते न तस्यापि स्वतो व्यवस्था" [प्र० वार्तिकाल० ३।३३०] इति । कथम् ?

'विकल्प एव नैव स्यादनवस्थानदोषतः ।
तदभावे कथं नाम वचोऽप्येतत्प्रवर्तताम् ॥७१६॥
"वाच्यवाचकसम्बन्धज्ञाने हि वचनं भवेत् ।
नापरं तच्च विज्ञानमन्यत्र सविकल्पकात् ॥" [ ]
तत्संस्कारात्प्रबोधवृत्तिरित्यप्येतेन दूषितम् ।
विकल्पमादिसंस्कारस्तदभावे न यद्भवेत् ॥७१८॥
तद्वचोऽपि न चेन्नास्य [5]निबद्धस्यावलोकनात् ।
भ्रान्तिरेव तथेयं चेत्केयं भ्रान्तिर्निगद्यताम् ॥७१९॥
[6]वचस्यविद्यमानेऽपि तत्सत्त्वारोपणं यदि ।
विकल्पादेवं नन्वेतत्तदभावात्ततः कथम् ? ॥७२०॥
मिथ्याज्ञानं ततः किञ्चिद्वस्तुरूपैव कथ्यताम् ।
भाष्यमेव च तद्ग्राह तन्मिथ्यारूपमित्यपि ॥७२१॥
तज्ज्ञानस्य स्वरूपञ्च तद्वन्मिथ्या भवेद्यदि ।
तद्वदेव न तस्य स्यात्स्वसंवेदनमाञ्जसम् ॥७२२॥
अस्ति चेत्तत्सत्याभासत्वं सूक्ष्मिव ततः ।
'न स्वसंवेदनात्तुल्यं भ्रान्तेरन्यत्र चेन्मतम्' ॥७२३॥ इति ।

कथं पुनर्ग्राह्यस्य ग्रहणम् ? कथञ्च न स्यात् ? स्वाभिमुखेन रूपेण तदयोगात् । स्वरूपस्यैव हि तेन ग्रहणमुपपन्नं न बाह्यस्य, तदभिमुखेनैव रूपेण ग्रहणं न स्वाभिमुखेनेति चेत्; किमेवं द्वे रूपे स्तः ? तथा चेत्, कुतस्तयोः प्रतिपत्तिः ? परस्पराभ्यामिति चेत्, तथा

1 तदप स्व–आ०, ब०, प० । 2 द्वितीये वि–आ०, ब०, प० । 3 एतेनैतदपि आ०, ब०, प० । 4 विकल्पे एव आ०, ब०, प० । 5 निबन्धस्या–आ०, ब० प० । 6 वाच्यस्य वि–आ०, ब०, प० । 7–न तथेत–आ०, ब०, प० ।

सति देवदत्तयज्ञदत्तपरिच्छिन्नमिव न द्वयमिति वेद्येत, 'मया विदितमेतत्' इति च न स्यात् कर्तुरसंवेदनत्वेनानवभासनात्। ततश्च ते एव स्वसंवेदने स्याताम्। तथा च सन्तानान्तरप्रतिपन्नवदप्रतिपत्तिर्द्वयोः। अत एवात्मा द्वयोः प्रतिपत्तेष्यते, अन्यथायं प्रसङ्ग इति परः; अत्रोच्यते—

स्ववेदनेतरत्वेन पूर्वन्यायानतिक्रमात्।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवानेन विमुच्यते ॥७२४॥

यदि स्वसंवेदनरूप आत्मा तस्य स्वात्मनि निमग्नत्वात् न परवेदनम्। परस्यापि वेदने को विरोध इति चेत्? 'तेन रूपेण परं वेत्ति परेण वा' इति विकल्पयोरेकत्र स्यातव्यम्। 'स्वरूपेण वेत्ति' इति न युक्तम्, [1]स्वरूपस्य स्वात्मनि व्यवस्थानात्। स्वरूपे [2]निविष्टं यद्रूपं स्वाभिमुखमेव, तत्कथं परं वेत्ति? अन्यमुखञ्चेत्; तेन तर्हि स्वात्मा न प्रतीयते। ततः सन्तानान्तरवेदनवन्न द्वयप्रतीतिः। यस्य तदाभिमुख्यद्वयं स एक एवेति चेत्; 'द्वयमेतत्' इति कः प्रतिपत्तिमान्? स एव इति चेत्; पुनराभिमुख्यद्वयेन प्रयोजनमित्यनवस्थानं स्यात्। ततः स्वसंवेदनरूपत्रयम्, तवत्तद्वेदने पर आत्मोपगन्तव्यः पुनरपर इति महत्यनर्थपरम्परा। ततः स्वविषयमेव ज्ञानं न वहिर्विषयमिति चेत्; कथमेवं क्वचित्कस्यचिद्विभ्रमः स्यात्? असदवभासित्वं हि विभ्रमः, तच्च वहिर्विषयस्यैव सम्भवति न स्वरूपविषयस्य, स्वरूपस्य विद्यमानत्वात्। विभ्रम एव मा भूदिति चेत्; न; तस्य[3] प्रसिद्धत्वात्। विचारासहैव तत्प्रसिद्धिरिति[4] चेत्; कोऽसौ विचारो यदसहत्वं तत्प्रसिद्धेः? 'कथं पुनः वाह्यस्य ग्रहणम्' इत्यादिरेवेति चेत्; न; तस्य जडत्वे स्वयमेवासम्भवादप्रतिपत्तेः। न हि तस्य स्वतः प्रतिपत्तिर्जाड्यात्। परतः इति चेत्; न; ततोऽपि स्वरूपमात्राभिमुखात्तदयोगात् 'स्वरूपस्य स्वात्मनि' इत्यादिवचनात्। विचारेऽप्यभिमुखमेव तदिति चेत्; न; तत्रापि 'किमेवं द्वे रूपे स्तः' इत्यादेर्निरवशेषस्य प्रसङ्गस्योपनिपातात्। तन्न जडो विचारः। चेतन एवेति चेत्, तस्याप्येकाकारत्वे कथं तत्र परापरस्य पूर्वपक्षोल्लेखस्य तदुत्तरोल्लेखस्य चोपदर्शनं विरोधात्? अनेकाकारत्वेऽपि यदि प्रत्युल्लेखं तद्भेदस्तदा कुत 'इदमत्रोत्तरम्' इति पूर्वपक्षतदुत्तरयोर्विषयविषयिभावज्ञानम्? पूर्वपक्षोल्लेखस्य तदुत्तरे तदुल्लेखस्य च पूर्वपक्षे प्रतीत्यभावात्। न च [6]तद्भावापरिज्ञाने विचारः, तस्य तादूप्यात्। सन्तानरूपेण भेदो विद्यत इति चेत्; न; तस्यावस्तुसत्त्वे विचारस्यापि तत्त्वापत्तेः तादूप्यात्। तत्र च दोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्। वस्तुसदेव तद्रूपमिति चेत्; न; [7]आत्मसिद्धिप्रसङ्गात्, परापरज्ञानपर्यायाविष्वग्भावस्यैवात्मत्वात्, सति तस्मिन् निर्बाधमेव बाह्यग्रहणं [8]स्वपररूपगोचरत्याभिमुख्यद्वयस्य तत्र भावात्। तद्द्वयप्रतिपत्तावप्यपरे-

१ स्वरूपं स्वा-आ०, ब०। स्वरूपस्वा-प०। २ विशिष्टं प०। ३ तस्याविद्धत्वात् आ०, ब०। ४ विभ्रमप्रसिद्धिः। ५ जातो वि-आ०, ब०, प०। ६ विषयविषयिभावापरिज्ञाने। ७ नासिद्धि-आ०, ब०, प०। ८ स्वरूपगो-आ०, ब०, प०।

प्याभिमुख्यद्वयेन प्रयोजनं तत्प्रतिपत्तावपि तदन्येनेत्यनवस्थानमिति चेत्, न, विचारोल्लेखभेद-प्रतिपत्तावपि एवप्रसङ्गात् तत्रापि तदाभिमुख्यभेदेन प्रयोजनं तत्प्रतिपत्तावपि तदन्येन तत्प्रति-भेदेनेत्यनवस्थानस्याविशेषात्। नास्त्यनवस्थानम्, परतस्तदुल्लेखानामपरिज्ञानात्। [1]परतो हि तत्परिज्ञाने तत्राभिमुख्यभेदापेक्षणात्तद्वदनवस्थानं तत्परिज्ञानेऽपि तदपराभिमुख्यभेदस्यावश्यापे-क्षणीयत्वात्, न चैवम्, स्वत एव तेषां परिज्ञानात्। स्वतः परिज्ञाने परस्परस्वरूपापरिज्ञानात् कथं समानात्वपरिज्ञानम्? इत्यपि न मन्तव्यम्, तत्परिज्ञानस्य तदविष्वग्भावात्मना विचारे-णैव भावात्, तस्य निरवशेषतदुल्लेखविषयत्वादिति चेत्, सिद्धं नः समीहितम्, आत्मरूपयोरपि स्वपराभिमुखयोरेकात्मनैव तद्भेदिना प्रतिपत्तेरनवस्थानदोषानवतारात्। पराभिमुख्यस्यापि स्वतः परिज्ञाने तदपि स्वाभिमुख्यमेव भवेत्, अन्यथा ततस्तत्परिज्ञानायोगादित्यन्यदेव पराभि मुख्यं तदभ्युपगन्तव्यम्, तस्यापि स्वतः परिज्ञानेऽपि ततोऽपि परं पराभिमुख्यमभ्युपगन्तव्य-मिति कथं तद्दोषानवतार इति चेत्? न, परापरस्य स्वाभिमुख्यस्याभावात्। कुतस्तर्हि परा-भिमुख्यस्य परिज्ञानमिति चेत्? प्रथमादेव स्वाभिमुख्यतः, तस्मात्तस्य कथञ्चिदव्यतिरेकात्, आत्मन स्त्रिविधदर्शनस्वपराभिमुख्ययोरप्येकमेव स्वसंवेदनमिति न स्वसंवेदनरूपत्रयं सम्भवति। व्यतिरेकनयार्पणया सम्भवत्येवेति चेत्, न, तथापि तत्परिज्ञानार्थमात्मान्तरपरिकल्पनं नैय-तोऽप्येकान्ततस्तद्व्यतिरेकस्याभावात्, अन्यथा विचारात्तदुल्लेखानामपि ततस्तया व्यतिरेके तत्प्रतिपत्त्यर्थं विचारान्तरपरिकल्पनस्यापि प्रसङ्गात्। तत इदमेव विचारकतयैव प्रतिपादितम्- 'ततः स्वसंवेदनरूपत्रयम्' इत्यादि।

कथं पुनः स्वपराभिमुख्ययो रूपयोरात्मनश्चान्वभिव्यतिरेकितया विरुद्धधर्माध्यासे सति परस्परमविष्वग्भाव इति चेत्? न, [2]विचारतदुल्लेखानामपि तत एव तदभावापत्तेः। विचा रोऽपि मा भूदिति चेत्, क्व पुनरिदानीं भवत[3]ः श्रित[4]ः (ता) प्रज्ञता? संवेदनाद्वैत इति चेत्, भेदे जीवति कथं तदद्वैतम्? निराकृते तस्मिन् तदिति चेत्, न, विचारादेव तन्निराकरणात्, तस्य चाभावात्। अविद्योपप्लुतानामस्त्येव विचारः, तत्परिशुद्ध्यापेक्ष तदभावादिति चेत्, कुतः पुनस्तदुपप्लवापेक्षणं विचारस्य? स्वयमप्युपप्लुतत्वादिति चेत्, कथं ततस्तात्त्विकं भेदनिराकरणं तद्विषयम्? कथं वा सति तस्मिन्ननुपप्लवं [5]तदद्वैतम्? तस्याप्यन्यतो विचा-राभिराकरणादिति चेत्; न, अनवस्थाप्रसङ्गात्। नायं दोषः प्रदीपकल्पत्वाद्विचारस्य। प्रदीपो हि तैलवर्त्यादि[6] निर्दह्य स्वत एवोपशाम्यति न तत्र निमित्तान्तरमपेक्षते तद्वद्विचा-रोऽपि भेदवादं निराकृत्य स्वत एव निवर्त्यते न तत्र विचारान्तरमपेक्षते इति चेत्, ततस्त-न्निराकरणं [7]नाम तदभाववेदनमेव। तच्च न स्वयम्, तद्रूपत्वेन विरोधात्-'अभावश्चेद वेदनम्, वेदनं नाभावः' इति। अविरोधे वा तदद्वैतस्याप्यभावस्यैव वेदनत्वमिति नोपप्लवात्तस्य विशेषः।

---

१ परतोऽपि तत्र-आ०, ब०, प०। २ -रूपायस्यामि-आ०, ब०, प०। ३ भेदविचारायां। ४ भेद-प्रतिभेदेनापि सर्वदा भेदस्य सिद्धमाभावात्। ५ -अभिवादिनदेव आ०, ब०, प०। ६ विचाराततुल्लेखानामपि प०। विचारानुल्लेखनमपि। आ०, ब०। ७ श्रितः प्रज्ञा सं-आ०, ब०, प०। ८ तदद्वैततत्त्व-आ०, ब०, प०। ९ -र्तवर्तिर-आ०, ब०, प०। १० नाम निरे-प०। नाम तस्मात् निरे-आ०, ब०।

नापि तद्धेतुत्वेन ; अभावस्य [1]तदयोगात् । ततो नोपप्लवरूपाद्विचारात् भेदनिराकरणम् । अनुपप्लवरूपत्वे तु तस्य तदेकयोगक्षेमत्वेन आत्माप्यनुपप्लव एव स्वपरपरिच्छेदस्वभावावपि तस्येति कथन्न बाह्यग्रहणम् ? तदेवाह–

सत्यं तमाहुराचार्या विद्यया विभ्रमैश्च यः ॥३८॥
यथार्थमयथार्थं वा प्रभुरेषोऽवलोकते । इति ।

सत्यम् अवितथम् । **तम्** आत्मानम् । आत्मन एव विचारविषयतया प्रस्तुतत्वात् । **आहुः** आवेदयन्ति । के ? **आचार्या** विचारज्ञानप्रवर्त्तका इति । अनेन सत्यात्मवादित्वाभावे तेषां तत्प्रवर्त्तकत्वाभावं पूर्वोक्तन्यायमावेदयन् अनुमानसिद्धं तत्सत्यत्वमावेदयति–कीदृशं तम् ? इत्याह–**योऽवलोकते** पश्यति । कया ? **विद्यया** यथावस्थितवस्तुरूपावलोकनशक्त्या । तदनेन 'सारूप्यमवलोकननिमित्तम्' इति[2] प्रत्युक्तम् ; शक्तेरेव तन्निमित्तत्वोपपत्तेर्निवेदितत्वात् । कमवलोकते ? **यथार्थं** यो येन स्वभावेन स्थितोऽर्थः स यथार्थस्तमिति, [3]सुप्सुपेति समासः । तदनेन 'सर्वमुपप्लव एव' इत्येकान्तः प्रतिविहितः । तथा हि – तदेकान्तस्य नाप्रतिपन्नस्यैवाभ्युपगमः अनुपप्लववत् । नापि कुतश्चिदुपप्लवादेव तत्प्रतिपत्तिः तद्वदेव, अनुपप्लवात्तु [4]तत्प्रतिपत्तौ कथं तदेकान्त इति[5] ? न विधिमुखेन कुतश्चित्तत्प्रतिपत्तिर्यदयं प्रसङ्गः स्यात्, अपि त्वनुपप्लव एव प्रतिक्षिप्यते [6]तत्प्रमाणस्य प्रत्यक्षादेरसम्भवादिति, तल्लक्षणदोषोद्भावनेन प्रतिक्षे[7]पात् । प्रतिक्षिप्ते चानुपप्लवे पारिशेष्यादुपप्लवस्यैवावस्थानं गत्यन्तराभावादिति चेत् ; न; तत्रापि प्राच्यादेव दोषात् पारिशेष्यस्याप्युपप्लवत्वे ततोऽप्युपप्लवस्य [8]तद्विपर्ययवदव्यवस्थितेः । [9]अनुपप्लवत्वे तदेकान्तपरिहाणेः । उपप्लवस्यापि[10] यदि स्वरूपं व्यभिचरति कथमुपप्लवत्वम् ? न व्यभिचरति[11] चेत् ; तथापि कथं तत्त्वम् ? अव्यभिचारिस्वरूपस्यैवानुपप्लवत्वात् , [12]तदवलोकनस्य यथार्थावलोकनत्वादिति सूक्तं **यथार्थमवलोकते** इति ।

पुनरपि तत्स्वरूपमाह–**विभ्रमैश्च** मिथ्याकारग्रहणशक्तिविशेषैश्च । चशब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः **'अयथार्थं मिथ्याकारं योऽवलोकते'** इत्यनेनापि मिथ्याज्ञानसद्भावमावेदयता ज्ञानानां स्वत एव प्रामाण्यमिति प्रतिविहितम् , तत्र मिथ्याज्ञानाभावप्रसङ्गात् । तथा हि–स्वशब्देन[13] ज्ञानस्वरूपमेवोच्यते । तद्यदि प्रामाण्यस्य प्रयोजकं मिथ्याज्ञानेष्वपि भवेदविशेषात् इत्यभाव एव तेषां भवेत्, सति प्रामाण्ये मिथ्यात्वविरोधात् । अभावे च मिथ्याज्ञानानां चोदनावत् प्रत्यागमस्यापि धर्मे तज्ज्ञानजननद्वारेण प्रामाण्यात् "[14]धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इत्यपर्यालोचितमेव वचनं भवेत् , [15]अन्ययोगव्यवच्छेदाभावेनावधारणानुपपत्तेः ।

---

१ हेतुत्वायोगात् । २ बौद्धमतम् । "साधनं मेयरूपता"–प्र० वार्तिकाल० २।३०६ । ३ सुबन्तं सुबन्तेन सह समस्यते । ४ उपप्लवैकान्तप्रतिपत्तौ । ५ इति कथन्न वि–आ०, ब०, प० । ६ अनुपप्लवत्वग्राहकप्रमाणस्य । ७ –पात्तत्प्रति–आ०, ब०, प० । ८ अनुपप्लववत् । ९ पारिशेष्यस्य अनुपप्लवरूपत्वे । १० –पि तयादि–आ०, ब०, प० । ११ –चरतीति आ०, ब०, प० । १२ तदवलोकस्य आ०, ब०, प० । १३ –न स्व–आ०, ब०, प० । १४ "चोदनैव प्रमाणन्तु लोकतद्धर्मेऽवधारितम्"–मी० श्लो० चो० सू० श्लो० ४ । १५ –द्रष्टव्यम्–पृ० २५ टि० १४ ।

मिथ्याज्ञानेषु प्राप्तमपि प्रामाण्यं [1]बाधकप्रत्ययेनापोद्यत इति चेत् ;[2] तद्यदि तेषामेव स्वरूपमविशिष्टं कथमपवादः ? तेषामेव तत्प्रसङ्गात् । न चैवम् , सत्यपि बाधकप्रत्ययोपनिपाते तैमिरिकस्य द्विचन्द्रप्रतिभासानिवृत्तेः । तत्स्वरूपादन्यदेव [3]अप्रामाण्यमिति चेत् , तत्रापि यदि ज्ञानस्वरूपस्य निरपेक्षं प्रयोजकत्वं स एव दोषो मिथ्याज्ञानेष्वपि तत्प्रसङ्ग इति । बाधकप्रत्ययविरहव्यपेक्षस्यैव तस्य तत्र प्रयोजकत्वमिति चेत् , न तर्हि स्वतः प्रामाण्यम् , परसव्यपेक्षत्वे परत एव तदुपपत्तेः । [4]ज्ञानरूपमेव[5] तद्विरहः भावान्तरस्वरूपत्वादभावस्य, तस्मादयमप्रसङ्ग इति चेत् , न, मिथ्याज्ञानेष्वपि तद्रूपसद्भावेन तद्विरहप्रसङ्गात् । भवतोऽपि भूतलमेव घटाभावं ब्रुवतः सघटमपि भूतलं तदभावः[6] कस्मान्न भवतीति चेत् ? न भूतलस्य तदभावत्वम् अपि तु तत्कैवल्यस्यैव "एकस्य कैवल्यमेव परस्य वैकल्यम्" [हेतुबि० पृ० १८८] इति वचनात् । न च कैवल्यं भूतलमेव, [7]तद्भेदस्यापि तत्र प्रतिभासनात् । बाधाविरहस्यापि [8]ज्ञानात् कथञ्चिदर्थान्तरत्वे नैकान्ततः स्वतः प्रामाण्यम्, निरपेक्षतया ज्ञानमात्रादेव भावे तदेकान्तोपपत्तेः । न हि तद्विरहापेक्षया भवतो निरपेक्षत्वम् । [9]तद्विरहोऽपि ज्ञानमेव, कथञ्चित् [10]तदव्यतिरेकात्, अज्ञानस्यैवतदनुपपत्तेः । न ह्यज्ञानस्य ज्ञानात् [11]कथञ्चिदप्यव्यतिरेकः । ततस्तदपेक्षत्वेऽपि तत्प्रामाण्यस्य न स्वतस्तद्भावविरोधः, स्वतःशब्देन[12] अज्ञानस्यैवापेक्ष्यतया प्रत्याख्यानादिति चेत् ; न, सत्यपि ज्ञानत्वे तेन[13] [14]तद्व्यतिरेकानपह्नवात् । तदनपह्नवे च कथं तदपेक्षस्य स्वतो भावः ? परत एव भावोपपत्तेः, परनिरपेक्षस्यैव भावस्य स्वतो भावत्वात् ।

परिच्छेदकत्वमेव प्रामाण्यम् , तच्च स्वत एव ज्ञानानाम् , तत्किं तत्र बाधाविरहस्य व्यपेक्षयेति चेत् ? न, [15]तन्मात्रस्य मिथ्याज्ञानेष्वपि भावात् । न तन्मात्रं प्रामाण्यम् , अपि तु यथार्थप्रतिभासरूपस्तद्विशेष इति [16]चेत् , [17]तस्य तर्हि किमन्यत्प्रयोजकम् अन्यत्र बाधाविरहात् ? तद्विशेषोऽपि स्वतः एव[18], बाधाविरहात् तस्य ज्ञप्तिरेवेति चेत् , न, स्वतस्तद्भावे अतिप्रसङ्गस्याभिहितत्वात् । स्वतोऽपि शक्तिविशेषाधिष्ठानादेव [19]तद्विशेषो न [20]तन्मात्रादिति चेत् , न, शक्तिविशेषस्यैव प्रयोजकत्वे परतः प्रामाण्यापत्तेः । एतदर्थमेव शक्तिविशेषबाधिनो विधापरस्मात्रोपादानम्[21] । ततो यदि निर्बन्धः स्वतः प्रामाण्ये निर्विशेषमेव ज्ञानं [22]तत्र प्रयोजकमभ्युपगन्तव्यम् । तत्र च न मिथ्याज्ञानसम्भवः, ज्ञानमात्रस्य तत्प्रयोजकस्य [23]तत्रापि भावेन प्रामाण्यस्यैव प्राप्तेः । न च मिथ्याज्ञानाभावः, तथोचरत्वात् । तस्मादुपपन्नं मिथ्याज्ञानसद्भावेन [24]स्वतः प्रामाण्यप्रत्याख्यानम् ।

---

१ बोधकप्र–आ०,ब०,प० । २ अप्रामाणमि–आ०,प० प० । ३ प्रामाण्यप्रसङ्ग । ४ ज्ञानस्वरूपस्य । ५ अप्रमाणं । ६ ज्ञानस्वरूप–ब० । ७ बाधकविरहः । ८ बाधविरह । ९ घटाभावः । १० कैवल्यभूतलयोर्भेदस्य । ११ –र्थान्तर–आ०, ब०, प० । १२ बाधाविरहोऽपि । १३ –तद्व्यति–आ०, ब०, प० । १४ कथञ्चिदप्य–आ०, ब०, प० । १५ –न ज्ञा–आ०, ब०, प० । १६ बाधाविरहेण । १७ ज्ञानभेदविशेषात् । १८ परिच्छेदमात्रस्य । १९ चेन्न न तस्य आ०, ब०, प० । २० परिच्छेदविशेषस्य । २१ परतएव इति चेत् । २२ परिच्छेदविशेष । २३ च ज्ञानसामान्यसमर्पेता । २४ स्वत इ–तीयवचनात् आ०, ब०, प० । २५ प्रामाण्ये । २६ मिथ्याज्ञानेऽपि । २७ –त्ते परतः प्रामाण्येन प्र–आ०, ब०, प० ।

कः पुनरसौ यो विद्यया यथार्थं विभ्रमैश्चायथार्थमवलोकते ? इत्याह-**एषः** प्रत्यात्मवेदनीयः इति। अनेन प्रत्यक्षवेद्यत्वमात्मनः प्रतिपादयता तन्निषेधवादिनः प्रत्यक्षबाधनं प्रतिपादितम्। कीदृशः पुनरेषोऽपि ? इत्याह-'**प्रभुः**' इति। प्रभुत्वं पुनस्तस्य यथार्थाद्यवलोकने विषयाकारस्य व्यतिरिक्तविज्ञानस्य चानपेक्षणात्। एतदपि कुत इति चेत् ? तथैव तस्य स्वतोऽनुभवात्। निरूपितञ्चैतत्। कुतः [1]पुनर्यथार्थत्वमवलोकनस्य परिज्ञायत इति चेत् ? कुतश्च न परिज्ञायते ? तदुपायस्याभावादिति चेत्; कथं तदपरिज्ञाने तद्वचनम् ? परिज्ञानपूर्वकत्वात्प्रेक्षावतां वचनप्रवृत्तेः। अस्त्येव तस्य परिज्ञानमिति चेत्; तस्य तर्हि यथार्थत्वं कुतश्चित्परिज्ञातव्यम् अन्यथा तदुपायाभावस्य ततः परिज्ञानायोगात्। न तस्य यथार्थत्वं नापि तद्विपर्ययः [2]तदुभयविकल्पनिर्मुक्तत्वादिति चेत्; न; तस्याप्यपरिज्ञाने वचनायोगात्। परिज्ञाने च यथार्थत्वं तस्य कुतश्चिदवगन्तव्यम्, अन्यथा ततस्तन्निर्मुक्तत्वाप्रसिद्धेः। तत्परिज्ञानस्यापि तदुभयविकल्पनिर्मुक्तिरेवेति चेत्; न; प्राच्यादेव प्रसङ्गात्, अव्यवस्थापत्तेश्च। ततो दूरमनुसृत्यापि यथार्थादेव कुतश्चिद्वेदनात्कचित्तन्निर्मुक्तत्वपरिज्ञानम्। तस्य[3] च यथा यथार्थत्वपरिज्ञाने कश्चिदुपायस्तथा विषयावलोकनस्यापीति नोपायाभावात्तत्परिज्ञानप्रतिक्षेपः। तदनेन अयथार्थत्वपरिज्ञानस्याप्यप्रतिक्षेपो निरूपितः। [4]तत्रापि बाधकस्योपायस्याभावात् तस्यापि प्रतिक्षेप इति चेत्; [5]अस्ति तर्हि बाधकः बाधकादेवास्यापि[6] [7]तदुपपत्तेः। न मया कुतश्चित्तत्परिज्ञानं प्रतिक्षिप्यते यतोऽयं प्रसङ्गः[8], अपि तु परप्रतिपादितस्य तत्परिज्ञानोपायस्य बाधावैधुर्यादेरनुपायत्वमेवापाद्यत इति चेत्; न; अनुपायस्य तदापादनस्याप्ययोगात्। व्यभिचारादिदोषोद्भावनं तत्रोपाय इति चेत्; न; ततोऽप्ययथार्थात् तदयोगात्। यथार्थमेव तदिति चेत्; सिद्धं तर्हि यथार्थत्वमवलोकनस्यापि तद्दोषोद्भावनवत्तस्यापि कुतश्चित् तत्त्वपरिज्ञानोपपत्तेः। ततः सूक्तम्-'**सत्यम्**' इत्यादि।

यदि पुनर्नीलज्ञानं न[9] नीलाकारम् अपि तु बोधरूपमेव कथं नीलस्यैवेदमिति विशेषो बोधरूपतया विषयान्तरं प्रत्यपि तस्याविशेषात् ? नील एव व्यापारात्तस्यैव तत्र पीतादेरिति [10]चेत्; न; निराकारत्वे व्यापारस्यैव तादृशस्याप्रतिवेदनात्। अस्ति चायं विशेषो विषयान्तरव्यावृत्तिलक्षणः, ततो नीलबोधरूपतया द्विरूपमेव नीलज्ञानम्, तथैवानुस्मरणाच्च। अनुस्मरणं हि तस्य द्विरूपतयैव 'नीलज्ञानमासीत्' इति नीलबोधरूपद्वयोल्लेखेन तदुत्पत्तेः प्रतिवेदनात्। न हि स्वयमनुभयरूपस्य उभयरूपतया स्मरणे अधिरोहणमा[11]त्मसमर्पणमुपपन्नम्। अवश्यं चेदमुपगन्तव्यम्, अन्यथा [12]ततस्तत्स्मरणस्य[13], [14]ततोऽपि [15]तत्स्मरणादेरेकाकारादिकत्वा-

१ पुनरप्ययथार्त्वं आ०, ब०, प०। २ तदुपायवि-प०। ३ तस्य यथार्थत्वं प-आ०, ब०, प०। ४ अयथार्थत्वपरिज्ञाने। ५ यतः अप्रसिद्धप्रतियोगिकोऽभावो नास्ति अतः बाधकाभावस्य प्रतियोगिभूतो बाधकोऽप्यस्त्येव। ६ अयथार्थत्वपरिज्ञानस्यापि। ७ अप्रतिक्षेपोपपत्तेः। ८ प्रसङ्गादपि तु आ०, ब०,प०। ९ न तन्नीला-आ०, ब०, प०। १० चेन्निरा-आ०, ब०, प०। ११ -त्मसर्पणमु-आ०, ब०। १२ प्रथमज्ञानात्। १३ विषयस्मरणस्य। १४ द्वितीयज्ञानात्। १५ प्रथमज्ञानस्मरणादेः।

नुपपत्तेः । एकाकारानुभवस्य ततस्तत्स्मरणम् , ततोऽपि तत्स्मरणादिकमुपलभ्यते । तथा च धर्मकीर्तेः तन्नियमनमप्यत्र–

"अन्यथा ह्यतदाकारं कथं ज्ञानेऽधिरोहति ।" [प्र०वा० २।३८०] इति ।

"यदि तत्तदाकारमात्मानं स्वसंवेदनेन नानुभवेत् कथं तदाकारस्तथा ज्ञाने स्मरणे अधिरोहेत् । अधिरोहणं तदाकारजननम्, तदधिरोहतीति कुतः ? तथैव प्रतिपत्तेः ।

एकाकारोत्तरं ज्ञानं तथा ह्युत्तरमुत्तरम् ।

अवश्यमेतदुपगन्तव्यम् । तथा हि–उत्तरमेकैकेनाकारेणाधिकमधिकं भवति नान्यथा । तथा हि–पूर्वेण नीलं गृहीतं तदुत्तरेण नीलज्ञानम् , तदुत्तरेण नीलज्ञानज्ञानम् , तदुत्तरेणापि तदधिकमिति निश्चिनोति । तदेतदन्यथा न स्यात् , एतदेवोदाहरणेन प्रतिपादयति–

तस्यार्थरूपेणाकारावात्माकारश्च कश्चन ।
द्वितीयस्य तृतीयेन ज्ञानेन हि विभाव्यते ।

द्वितीयज्ञानं पूर्वज्ञानस्याकारं स्वाकारञ्च विभाव्यते तृतीयेन, चतुर्थेन तदेव त्रयमेकाकाराधिकमिति यावद् गणयितुं स्मर्तुं वा शक्नोति ।" [प्र० वार्तिकाल०] इति । ततो विषयज्ञानस्य विषयान्तरव्यावृत्तिलक्षणात् [1]तज्ज्ञानस्य चाकाराधिक्यलक्षणाद्विशेषादाकारवत्त्वमेव अर्थज्ञानस्योपपन्नम् । तत्कथं विषयाकारनिरपेक्षत्वं तद्बोधने प्रभुत्वमुच्यत इति चेत् ? अत्र पूर्वोक्तमेवोत्तरं विस्मरणशीलानुग्रहाय प्रतिनिर्दिशन्नाह–

विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽनेन चर्चितः ॥२९॥ इति ।

विषयज्ञानं नीलादिज्ञानं तज्ज्ञानं तद्विषयमनुस्मरणम्, तयोर्विशेषो व्याख्यातः । अनेन 'प्रकाशनियमः' इत्यादिना । चर्चितो निरूपितः । तथा हि–[2]यद्यन्यथानुपपन्नत्वं तद्विशेषस्य भवत्येव ततो विषयाकारव्यवस्थापनम् । न चैवम् , तस्यासम्भवात् । तथा हि–स्वहेतु[3]प्रतिनियमादेव शक्तिविशेषाद्विषयान्तरव्यावृत्तिनियमे किं तदर्थेन तदाकारनियमकल्पनेन ? कल्पयतोऽपि तन्नियमं तच्छक्तिविशेषस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वात् , अन्यथा तन्नियमस्यैवासम्भवादिति प्रतिपादितत्वात् । सति च [4]तद्विशेषे किमनेन परिश्रमहेतुना पारम्पर्येण–'तद्विशेषात् ज्ञानाकारस्याकारविशेषः, [5]ततोऽपि विषयनियमः' इति ? [6]तद्विशेषादेव तन्नियमोपपत्तेः । ततो न तन्नियमलक्षणात् विषयज्ञानविशेषात् आकारवत्त्वव्यवस्थापनमुपपन्नम्, अन्यथैव तस्योपपत्तेः । नापि तदनुस्मरणगतात्ताकारत्रयलक्षणाद्विशेषात् , तस्यैवा[7]सिद्धेः । सिद्धः खल्वसौ विषयज्ञानोपसमर्पिताभ्यां नीलबोधाकाराभ्यां [8]स्वाकारेण च, तत्र तल्लक्षणस्य विशेषस्य विभावनादिति

१–क्षमप्रभु–आ०, ब०, प । २ यदन्यथा–आ०, ब०, प० । ३–प्रतिबन्धादेव आ०, ब०, प० । ४ सतिविशेषे । ५ ततो वि–आ०, ब०, प० । ६ शक्तिविशेषादेव । ७–सिद्धि आ०, ब०, प० । ८ स्वाकारे च आ०, ब०, प० ।

चेत्; न; विषयज्ञाने विषयाकारस्यानन्तरन्यायेनाभावात्, तेन तत्समर्पणानुपपत्तेः। कथमेवं तस्य तदाकारत्वेन स्मरणम्–'नीलज्ञानमासीत्' इत्युल्लेखरूपमिति चेत्? भवेदेवेदं यदि 'नीलमेव ज्ञानं नीलज्ञानम्' इति तदुल्लेखार्थः स्यात्। न चैवम्, 'नीलस्य[1]ज्ञानं नीलज्ञानम्' इति तदर्थत्वात् देवदत्तकम्बलवत्। एवमपि कथं नीलस्य स्मरणमिति चेत्? [2]तज्ज्ञानस्य कथम्? तदाकारस्यानुकरणादिति चेत्; न; [3]तस्यैव स्मरणापत्तेः। तत्र च 'आसीत्' इत्युल्लेखानुपपत्तिः,तदाकारस्य स्मरणगतस्यातीतत्वाभावात्। तात्कालिकस्यापि अतीततज्ज्ञानरूपतयाऽध्यारोपात्तदुपपत्तिरिति चेत्; कोऽसौ तदध्यारोपः? तदेव स्मरणमिति चेत्; कुतस्तर्हि तत्र तदाकारस्य परिज्ञानम्? न स्वतः; तेन तस्य बहिर्भू[4]तस्यैव परिज्ञानात्। अन्यतस्तत्स्मरणादिति चेत्; न; अनुभवाभावे तदनुपपत्तेः। न च स्वसंवेदनादपरस्तत्रानुभव इत्यपरिज्ञानमेव तस्य प्राप्तम्। तन्न तदेवाध्यारोपः। नापि परः; 'तत्रैवासीत्' इत्युल्लेखप्रसङ्गात्। न चैवम्; 'नीलज्ञानमासीत्' इति विषयज्ञानस्मरण एव तदुपलम्भात्। तदपरव्यापारस्य तत्रारोपात्तथा तदुपलम्भ इति चेत्; कस्तर्हि तस्य तात्त्विको व्यापारः? निर्व्यापारस्य व्योमकुसुमाविशेषेणाभावापत्तेः। आत्मन्येव विषयज्ञानाकारस्य स्मरणमिति चेत्; न तर्हि तत्रातीतत्वारोपः, तत्कालतया स्मरणेन निश्चयात्, निश्चिते च विपर्ययानुत्पत्तेः। अनिश्चयात्मना तत्रैव तज्ज्ञानं तद्व्यापार इति चेत्; न, विरोधात् 'स्मरणं च, अनिश्चयात्मकं च' इति 'माता च वन्ध्या च' इतिवत्। ततो नापरस्तद्व्यापार इत्यतीतपरामर्श एव तद्व्यापारोऽनुमन्तव्यः। स च तदनुप्रविष्टत्वे तद्विषयाकारस्य न सम्भवतीत्य[5]ननुप्रवेश एव तत्र तस्य वक्तव्य इत्यसिद्ध एवाकारत्रयात्मा विशेषः, स्मरणस्य स्वाकारस्यैकस्यैव[6] भावात्। न च तस्यान्यथानुपपन्नत्वम्।

"अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति।" [न्यायवि० श्लो० ११]

इति न्यायात्। तत्कथं ततो विषयज्ञानस्याकारवत्त्वमनुमानपदवीमुपनीयते? कथं पुनस्तदाकारेण स्मरणेन नीलस्य तज्ज्ञानस्य वा परिज्ञानमिति चेत्? न; 'स्वहेतूपनिबद्धादेव शक्तिविशेषात्' इति दत्तोत्तरत्वात्। अयमेव विषयज्ञानतज्ज्ञानयोर्विशेषो यद्विषयज्ञानस्य नीले स्वात्मनि शक्तिः स्मरणस्य तु [7]नीले तज्ज्ञाने स्वात्मनि चेति। तस्मादप्रातीतिकमेवेदम्–'तस्यार्थरूपेणाकारौ' इत्यादि।

कस्मात्पुनः शक्तिविशेषाद्विषयज्ञानतज्ज्ञानयोर्विशेष उच्यते, न ग्राह्यभेदादेव तद्भेदो वक्तव्यः? ग्राह्यभेदस्य नीलपीतादिलक्षणस्य परिस्फुटप्रतिभासविषयतया फलभेदात्, अनुमेयशक्तिविशेषापेक्षया चातिप्रसिद्धत्वात्। अत एव च भट्टेन प्रतिपादितम्–

---

१ ज्ञानमिति त–आ०, ब०, प०। २ तस्य ज्ञानस्य आ०, ब०, प०। ३ आकारस्यैव। ४ –नाद्यतः आ०, ब०, प०। ५ –त्यनु–आ०, ब०, प०। ६ –व वा भा–आ०, ब०, प०। ७ नीलतज्ज्ञानस्वात्मनि च आ०, ब०, प०।

"विपर्ययव्यपदेशाच्च[1] नर्ते ज्ञाननिरूपणम् ।
तज्ज्ञानारम्भेऽप्यनेकत्वे[2] ग्राह्यभेदनिबन्धनः ॥
संवित्तिभेदः सिद्धोऽत्र किमाकारान्तरेण नः ।" [ ]

इति चेत्, उच्यते—ग्राह्यभेदः संवित्तिं भिन्दन् यदि तदनुप्रवेशेन भिनत्ति, कथमाकारवत्त्वं यत[3] इदं शोभेत—'किमाकारान्तरेण नः' इति । नास्त्येव तस्य तदनुप्रवेश इति चेत्, कथं ततः संवित्ति-भेदो गगनस्यापि तत एव तद्भेदप्रसङ्गात् । तस्य तेनानवष्टम्भादिति चेत्; संवित्तेः कस्तेनावष्टम्भः ? विषयत्वमेवेति चेत्, तदपि नीलसंवित्तौ नीलवत् पीतादेरपि कस्मान्न भवति ? अशक्तेरिति चेत्, कस्याशक्तिः ? विषयस्यैव पीतादेरिति चेत्, न, तदशक्तावपि संवित्तिसामर्थ्ये तद्विषयभावस्यावश्यम्भावात्, अन्यथा शुक्तिरूप्यादेरविषयत्वापत्तेरिति निवेदनात् । संवित्तेरेवाशक्तिः, नीलादौ नियत एव विषये तस्याः शक्तिभावात् विषयान्तरे विपर्ययादिति चेत्, सिद्धस्तर्हि शक्तिभेदादेव संवित्तिभेदो न ग्राह्यभेदात्, तद्भेदस्यापि संवित्तिभेदादेवोपपत्तेः । स्वहेतोरेव तद्भेदो न संवित्तिभेदादिति चेत्, न, ततो नीलधवलादिरूपस्यैव भेदात् । ग्राह्यरूपमपि तद्देवेति चेत्, भवत्वेवम्, तथापि कुतस्तदवगमो यतस्तन्निबन्धनं संवित्तिभेदं ब्रूयात् ? संवित्तिभेदादेव, न चैवं परस्पराश्रयः, संवित्तिभेदस्य तद्भेदादनवगमात् । तद्भेदोऽपि हि संवित्तिं भिनत्त्येव, न पुनस्तद्भेदमवगमयति तस्यान्यत एवावगमादिति चेत्, कुतस्तर्हि विभ्रमसंवित्तीनां भेदः ? तद्विषयात् केशोण्डुकादेरेव भेदादिति चेत्, न, तस्यासत्त्वात् । न चासतो भेदकत्वम् तस्य वस्तुधर्मत्वेन तत्रासम्भवात् । विषयत्वमसतः कथमिति चेत् ? न, तस्यापि तद्बलेनाभावात्, संवित्तिबलादेव तदुपपत्तेः । ततो न ग्राह्यभेदस्य भेदकत्वम् अव्यापकत्वात् । शक्ति-भेदस्य तु भेदकत्वे नायं दोषः, सर्वसंवित्तिषु तद्भावात् । तद्भेदस्यापि कुतोऽवगमो यत तन्निबन्धनः संवित्तिभेदस्तथापि निरूप्यत इति चेत्, 'संवित्तिभेदादेव तन्निबन्धनात्' इति ब्रूमः । ततो न ग्राह्यभेदान्नाप्याकारभेदात् संवित्तिभेदः शक्तिभेदादेव तदुपपत्तेरित्युपपन्नमुक्तम्—'विषय' इत्यादि ।

यदि ज्ञानमर्थाकारं न भवति कथं तत्स्मरणे अर्थस्यापि नियमेन स्मरणम् 'नीलज्ञानमासीत्' इति ? सति भेदे घटस्मरणे पटस्येव तदयोगात्, तदाकारत्वे तु तस्य भवत्येव तथा स्मरणं तद्व्यतिरेकेण ज्ञानस्यैव स्मर्तुमशक्यत्वात् । सत्यप्यर्थात्तज्ज्ञानस्य व्यतिरेके तत्सङ्कलितस्यैव स्मरणं विभ्रमात् । विभ्रमस्य च निमित्तं तस्य तत्र तद्व्यापारः, तत्कार्यत्वं वा । ततो विषयसङ्कलितज्ञानस्मरणस्य अन्यथैव भावात् न ततो विषयाकारव्यवस्थापनं विज्ञानस्योपपन्नमिति चेत्, उच्यते—

---

१ विपर्ययोपदेशाच्चामर्थे प० । विपर्ययव्यपदेशात्पनर्थे आ०,ब० । २ –प्यनेकत्वे आ०,ब०,प० । ३ इतीदं आ०,ब०,प० । ४ ग्राह्यभेदस्य । ५ संवित्त्यनुप्रवेशः । ६ ग्राह्यभेदादेव । ७ भेदप्रसङ्गात् । ८ विषयत्वमपि । ९ शुक्तिरूप्यादेः आ०,ब०,प० । एतत्त्व । १० ग्राह्यभेदस्यापि । ११ ग्राह्यभेदः । १२ ग्राह्यरूपमेव तद्देवेति आ०,ब०,प० । १३ ग्राह्यभेदोऽपि । १४ भेदकत्वम् । १५ शक्तिभेदस्यापि । १६ पटस्येव प० । १७ तथास्त्यारा– आ०,ब०,प० ।

"अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृतावर्थस्मृतेर्यदि ।
भ्रान्त्या सङ्कलनं ज्योतिर्मनस्कारेऽपि सा भवेत् ॥

भ्रान्तिरिति सम्बन्धः । यद्यर्थस्य कार्यं विज्ञानम् अथाप्यर्थे कार्यं व्यापारो यस्येति ज्ञानस्मृतौ नियमेनार्थस्मरणम् अतस्तदवमूढमतिसन्तानस्य तथा भवति प्रतिपत्तिः, एवं तर्हि ज्योतिर्मनस्कारेऽपि तथा प्रतीतिः स्यात् । यथा विषयकार्यता विज्ञानस्य तथा आलोककार्यता मनस्कारकार्यतापि तेन द्वयसङ्कलनेनापि प्रतीयेत । न हि कार्यत्वे कश्चिद्विशेषः । अथ विषये व्यापृतत्वात्तत्सङ्कलनम्, मनस्कारे तत्राव्यापृतत्वात् तदा तस्यालोकेऽपि समान एव व्यापारः । न ह्यालोकमपहाय रूपे व्याप्रियते । तदसदेतत्–तस्माद्यथा आलोकप्रतिभासमिति न भवति तथा रूपप्रतिभासमिति न स्यात् । अथालोकोऽपि विषय एवान्तर्गतत्वात् 'रूपप्रतिभासम्' इति निश्चयेनैव गतः; न; आलोकस्य प्रकाशकत्वेन विषयत्वाभावात् कथं तत्र व्यापारः ? अथ प्रकाशकोऽप्यालोको रूपनिपतितत्वाद्रूपमेव सम्पद्यत इति विषयः; तथा सति ज्ञानमपि प्रकाशकं रूपनिपतितत्वाद्रूपमेवेति साकारालोकवत् विज्ञानमपि साकारम् । यथा न रूपेण विनाऽऽलोको न ग्रहीतुं[1] (-को ग्रहीतुं) शक्यस्तथा विज्ञानमपि, न हि रूपादिकं प्रकाश्यं विना[2] विज्ञानं ममास्तीति कश्चिद्विजानाति । तस्माद्रूपाद्याकारमेव विज्ञानम् एवमन्यथा तदनुस्मृतौ रूपादिस्मरणायोगादतिप्रसङ्गात्" [प्र० वार्तिकाल० २।३८०] इति चेत्; नायमपि दुष्परिहरो[3] दोषो यस्मान्न विषय इत्येव सर्वत्र स्मरणम्, यत्र शक्तिस्तत्रैव तद्भावात् । न च शक्तिरपि विषयनिबन्धना यतो नीलवदालोकेऽपि भवेत्, अपि तु तत्कारणादेव संस्कारात् । [4]तस्याप्यनुभवाद् भावे नीलवदालोके किन्न भावस्तस्यापि तद्वत्तद्विषयत्वात्, न ह्यसौ विषयेऽपि क्वचिदेव संस्कारकारी नान्यत्रेत्युपपन्नम्, एकरूपत्वादिति चेत्; न; एकरूपत्वस्यासिद्धत्वात्, स्वहेतूपनिबन्धस्य प्रतिविषयं शक्तिविशेषस्य भावात् । अवश्यं चैतदेवमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा विषयाकारेऽपि ज्ञाने दोषोपपत्तेः । तथा हि–

यदि नीलस्य तज्ज्ञानाकारत्वात्तत्स्मृतौ स्मृतिः ।
आलोकोऽपि तदाकारस्तस्याप्येषा न किं भवेत् ॥७२५॥
नीलज्ञानमनालोकाकारं चेत्तद्दृशिः कथम् ?
तथापि तद्दृशौ व्यर्थं नीलेऽ[5]न्याकारकल्पनम् ॥७२६॥
आलोकादर्शने नीलमात्रस्यैव दृशिः कथम् ?
अन्यथा हि वचो न ह्यालोकमित्यादि दुष्यति ॥७२७॥
रूपे निपतनात्तस्य[6] तद्दृष्ट्यैव दृशिर्यदि ।
नीलस्यापि भवेदेषा तन्निपाताविशेषतः ॥७२८॥

1 "विनालोको ग्रहीतुम्"–प्र० वार्तिकाल० । 2 –ना ज्ञानं ता० । 3 दुष्परिहारो आ०, ब०, प० । 4 संस्कारस्यापि । 5 –ले व्यापा–आ०, ब०, प० । 6 आलोकस्य ।

रूपमात्रावभासं तद्यर्थज्ञानं ततो भवेत् ।
न स्यालोकावभासं तत्र च नीलावभासनम् ॥७२९॥
विज्ञानं नीलनिर्भासमभूदीति ततः स्मृतिः ।
कथं यतोऽर्थज्ञानस्य नीलाकारस्य कल्पनम् ॥७३०॥
विशेषापेक्षया नीले रूपदृष्ट्या न चेद्गतिः ।
आलोकेऽपि विशेषः किन्नैव यन्नैवमुच्यते ॥७३१॥
यद्यर्थज्ञानमालोकाकारं प्राप्य विशेषतः ।
ततः सङ्कलितालोकं तज्ज्ञानस्मरणं भवेत् ॥७३२॥
विषयाकारवादेऽपि तद्विपर्ययभावतः ।
स्मरणातिप्रसङ्गस्य हन्त हन्ता कथं भवान् ? ॥७३३॥
एतेन क्षणभङ्गाद्याकारस्यार्थसंविदः ।
तत्सङ्कलनतस्तत्र स्मृतिः स्यादिति दर्शितम् ॥७३४॥
स्मृत्या च क्षणभङ्गादौ नीलतायामिव निश्चिते ।
प्रयासमात्रं तत्र स्यादनुमानोपकल्पनम् ॥७३५॥

तस्माद्विषयाकारेऽपि विज्ञाने 'नीलसङ्कलितस्यैव तस्य स्मरणं नालोकादिसङ्कलितस्य' इत्यत्र नापरमस्ति निबन्धनमन्यत्र तादृशाच्छक्तिविशेषादित्ययुक्तं तद्दर्शनाद्विषयाकारविज्ञानकल्पनं शक्तिविशेषादेव तस्य भावात् । न चाप्यर्थैव भवतस्तत्तत्कल्पनं धूमादेर्ज्वलनादिकल्पनस्यापि प्रसङ्गात् ।

यत्पुनर्विषयकार्यतया विज्ञानस्य विषयसङ्कलितत्वेन स्मरणेऽतिप्रसङ्गाय प्रतिपादितं 'यथा' इत्यादि, यच्चेदमपरम्—

"सर्वेषामपि कार्याणां कारणैः[1] स्यात्तथा ग्रहः ।
कुलालादिविवेकेन न स्मर्येत घटस्ततः ॥" [प्र० वा० २।३८१] इति ,

तदपि न शोभनम् , शक्तिकल्पनयैव तस्यापि परिहारात् , अन्यथा इदमपि शोभनं भवेत्— 'यदि विषयकार्यत्वात्तदाकारं तज्ज्ञानं मनस्कारकार्यत्वात्तदाकारमपि भवेत् , न हि कार्यत्वे कश्चिद्विशेषः' इति । तथेदमपि[2]—

सर्वेषामपि कार्याणां कारणैः स्यात्समाकृतिः ।
कुम्भकारादिरूपस्य न घटस्योद्भवस्ततः ॥७३६॥ इति

तदिदमतिप्रसङ्गापादनं चपलकपिशावकस्य मुमुक्षोरुत्थापनमिव परस्यैव विपत्तिमापादयति न नियताकारज्ञानवादिनः, शक्तिप्रतिनियमादेव तेन तत्परिहारस्याभिधानात् । तदेवाह—

---

1 यथार्थेश–आ०, ब०, प० । 2 एतमङ्गविदो । 3 –कारकल्पनं आ०, ब०, प० । 4 शोभनं भवेदिति पैक ।

अर्थज्ञानस्मृतावर्थस्मृतौ नातिप्रसज्यते । इति ।

अर्थो नीलादिस्तस्य **ज्ञानं** तस्य **स्मृतौ** येयमर्थस्यापि तज्ज्ञानसंसर्गित्वेन स्मृतिस्तस्यां निराकारज्ञानवादिसम्मतायां **नातिप्रसज्यते** सैवार्थस्मृतिः 'ज्योतिर्मनस्कारादिभिः' इति[1] शेषः।

कथं पुनर्नातिप्रसज्यते यावता निराकारज्ञानस्य साधारणतया सर्वविषयत्वं तत्स्मरणस्यैव च सर्वत्रैवानुभवविषये प्रवर्त्तनमापद्यत एवेति चेत् ; अत्र पूर्वोक्तमेव शक्तिनियममुत्तरीकुर्वन्नाह–

सरूपमसरूपं वा यत्परिच्छेदशक्तिमत् ॥४०॥
तद्व्यनक्ति ततो नान्यत् व्यक्तिश्चेदसतः कथम् ? इति ।

यस्य नीलादेः परिच्छेदो व्यवसायो यत्परिच्छेदस्तस्य शक्तिः सा विद्यतेऽस्येति **यत्परिच्छेदशक्तिमत्** [3]अर्थज्ञानं तज्ज्ञानं च तद्यदित्युक्तं **व्यनक्ति** प्रकाशयति **ततोऽन्यत्** क्षणपरिणामादिकमालोकादिकं च न **व्यनक्ति** तत्परिच्छेदशक्तिमत्त्वाभावात् । कीदृशं **तत्** यत्तच्छब्देन निर्दिश्यत इत्याह[4]–**सरूपं** सस्वभावं रूपशब्दस्य स्वभाववाचित्वात् नीरूपः प्रध्वंस इतिवत्। कुतः पुनरिदमवगतं यद्विज्ञानशक्तित एव विषयव्यक्तिनियमो न पुनस्तदुत्पत्तिसारूप्याभ्यामन्यतो वेति चेत् ? तदिदं निदर्शनेन प्रत्यादिशन्नाह–**असरूपम्** अविद्यमानं तदिव **वा**शब्दस्येवार्थत्वात् । तात्पर्यमत्र–यदि तदुत्पत्त्यादेरेव [5]तन्नियमः तैमिरिककेशादौ न भवेत् तस्य नीरूपत्वेनाकारार्पणक्षमस्य हेतुत्वस्य योग्यत्वादेश्चाभावात् । ज्ञानस्वरूपतया सरूप एव तत्केशादिरपीति चेत्; न; तस्य ज्ञानाद् [7]बहिष्ट्वेनैव प्रतिभासनात् । भ्रान्तमेव बहिष्ट्वमिति चेत् ; किमिदं भ्रान्तमिति ? अविद्यमानमिति चेत् ; तस्य तर्हि कथं व्यक्तिः तदाकारार्पणक्षमस्य हेतुत्वस्य तत्राप्यभावात् ? तदपि ज्ञानरूपतया सरूपमेवेति चेत् ; न; तस्यापि तत्केशाद्यधिष्ठानतयैव [8]प्रतिभासनात् । भ्रान्तमेव तदधिष्ठानत्वमिति[9] चेत् ; न; तत्रापि 'किमिदं भ्रान्तम्' इत्याद्यनुबन्धादव्यवस्थापत्तेश्च । कुतो वा ज्ञानस्य तदाकारत्वम् ? अहेतुकत्वे नित्यत्वादिदोषात् । अनन्तरज्ञानादिति चेत्; न; तस्मिन्नतादृशेऽपि तद्दर्शनात् । अतादृशादपि तद्भावे सन्मात्रमेव तत्त्वं भवेत् । तत एव सकलस्यापि विज्ञानवैश्वरूप्यस्य सम्भवात् । तादृशादेव व्यवहितादिति चेत् ; न; पूर्वं तिमिरादिरहितस्य तदभावात् । प्राग्जन्मभाविन इति चेत् ; प्रागपि तदभावे कथमिदानीं तिमिरादिभावेऽपि तस्य तदाकारत्वम् ? अत एव तद्भावस्यानुमानमिति चेत् ; कथमेवं विधवागर्भादपि चिरव्यवहितस्य पतिसम्पर्कस्यैव नानुमानं यतो जारसम्पर्कदोषेण विधवा दूष्येत । सन्निहितादेव तत्सम्पर्कादन्यत्र गर्भाधानदर्शनादिति चेत् ; न; कथं तर्हि चिरव्यवहितस्य केशादिज्ञानस्यापि तदाकारार्पकत्वम् ? सन्निहित एव नीलादौ

---

१ इति विशेषः आ०, ब०, प० । २ –वानुभव–प० । ३ अर्थज्ञानञ्च तद्यदित्यु–आ०, ब०, प० । ४ –ह स्वस्वभा–आ०, ब०, प० । ५ विषयनियमः । ६ स्वरूप आ०, ब०, प० । ७ बहिः सत्त्वेनैव प० । ८ प्रतिभासनात् आ०, ब० । ९ –नमिति आ०, ब०, प० ।

तस्यापि दर्शनात् । विप्रकृष्टत्वादपि ज्ञानाभेदत्वात् कार्यमपश्यतो व्यवदर्शनादिति चेत्, न, प्रतिबिम्बागमस्यापि सादृश्यात्पतिबिम्बसंदेव प्रसङ्गात् । न च कार्यासत्त्वस्यापि व्यपदेशादेव कर्मव्यापारभावः, तदुपरिवार्द्वाविशिष्टमनन्यादेव सन्निधिमत्त्वतद्भावात् । अथतु येनाकारमपि ज्ञानं सन्निहितमादेव तज्ज्ञानात्विप्रकृष्टत्वादिति चेत्, तत्रापि यदि तदाकारः कथम भेदन्यसन्दर्शनम् ? अतदाकारत्वे तु कथं तदर्थमिति ज्ञानस्य तदाकारत्वम् ? तदुत्पन्नस्य तत्कारणस्वभावत्वादिति चेत्, तदतिव्यभावस्यमेव कस्मान्न भवति ? अमतो व्यक्तिनिरपेक्षत्वायोगादिति चेत्, कारणविरहस्य कथम् ? दृश्यत इति चेत्, व्यक्तिरपि दृश्यत एव । ज्ञानाकारस्तेन मत एव सादृश्यदर्शनमत इति चेत्, न, तज्ज्ञानरूपस्यपरिज्ञानाभावस्य पूर्वं निवेदितत्वात् । तस्मादुत्पन्न एव तदाकारस्यापि ज्ञानशक्तिनो व्यक्तिः । अत इदमुक्तम्–सम्प्रदेशादिव्यवहितेऽपि विज्ञानजनिन एव व्यक्तिस्त्वाप समरूपतयाऽध्यवसितिः ।

अस्तु नाम वर्तमानस्य सन्निहितो व्यक्तिः सति तत्र शक्तिसम्भवात्, अतीतादेस्तु कथम् ? असति तत्र तदसम्भवादिति मन्यमानस्योदयति–

'व्यक्तिभेदस्त' कथम्' ? इति ।

ननु वर्तमानस्य असतः अतीतादि तस्य, कथम् ? न कथञ्चिदुपपत्तिः । येयमन्यः पराभिप्रायं लक्षयति ।

तदिदमपि निदर्शनवचनेन तत्रापि शक्तिसद्भावमेव परिहरति–

आरादपि यथा चक्षुरर्थिनस्त्वा भासमानतः ॥४१॥ इति ।

आरादपि दूरादपि न केवलमासन्न एवेत्यपिशब्दः । यथा येन शक्तिमात्रप्रकारेण चक्षुः सन्निहितं तत्र कार्ये कारणोपचारात्, तथैव अतीतादेरसतोऽपि व्यक्तिरिति । अयमत्र भावः–यदि ज्ञानसमये अतीतादेरभावात् तत्र शक्तिरित्यंशित्वं दूरदन्तारादपि न भवेत् तस्यापि ज्ञानदेशे[ऽ]भावात्, अन्यथा नयनगोलक एव तत्प्रतिभासप्रसङ्गात्, तत्रैव सद्देशत्वात् । न चैवम्, दर्शनमपि गगनगत एव चन्द्रादिकस्य । तदाकारसंवेदन सद्देशत्वाभावादपि सदेशपक्षोऽयम इति चेत्, न, तिमिरे विनष्टं पुरस्तादपि गोलकस्य विप्रकृष्टतोपलम्भप्रसङ्गात् । अन्यथापि स एव देशो यत्र चक्षुरादीति चेत्, तथापि कथं तत्र दूरप्रतिभासनं न(ष्ट)देशस्य तदेव सामान्यप्रतिभासनप्रसङ्गात् । न चैवम्, सर्वत्र सर्वदा दूरप्रतिभासन नैव स्यात् । तथाप्यसति ज्ञानाज्ज्ञानविषये न सद्देशादपि दूरप्रतिभासनम्, इन्द्रियान्तरव्यापारोपलम्भे सादृश्यात् । सन्निधाने सत्यपि प्रत्यक्षान्तरव्यादिदेशमेवेति कथं तदन्यादपि

[illegible] प्र—आ०, ब०, प० । [illegible]—आ०, ब०, प० । [illegible]—आ०, ब०, प० । [illegible] आ० ब० प० । [illegible] आ०, ब०, प० । [illegible]—आ०, ब०, प० । [illegible]—आ० ब०, प० । [illegible] आ०, ब०, प० । [illegible] आ०, ब० प० । १०—[illegible]—आ०, ब०, प० ।

दूरप्रतिभासनम् ? पुनरपि शरीरस्यापर[1]ज्ञानापेक्षया तत्परिकल्पनायाम् अनवस्थापत्तिः । विषयदेशज्ञानकल्पनायाञ्च योगिज्ञानस्य प्रतिविषयदेशं[2] भेदापत्तेर्न योगी नाम कश्चिदेको भवेत् । सत्यपि भेदे तदेकमेव मेचकज्ञानस्याभ्युपगमादिति चेत् ; न; व्यापकात्मवादस्य व्यवस्थाप्रसङ्गात् । नापि तात्त्विके तद्भेदे तदेकमुपपन्नम् ; भेदेतरात्मवाद[3]स्यानभ्युपगमात् , नीलबोधरूपतया तात्त्विक एव भेदे तदुपपत्तिप्रसङ्गाच्च । तथा च यत्तस्य कल्पितत्वप्रतिपादक[4]मलङ्कारवचनम्–

"नीलान्न व्यतिरेकेण विषयिज्ञानमीक्ष्यते ।
[5]ज्ञानपृष्ठेन भेदस्तु कल्पनाशिल्पिनिर्मितः ॥" [प्र०वार्तिकाल० ३।३७७] इति ।

[6]तदश्लीलभाषितं भवेत् । अतात्त्विके तु तद्भेदे कथं तस्य विषयग्रहणम् ? आकारबलाभावात् । स्वशक्तित एवेति चेत् ; उपपत्तिमदेतत् , अन्यथा [7]कालदेशविप्रकृष्टतया भावोपदेशस्याभावप्रसङ्गात् , किन्तु नयनज्ञानादपि स्वविषये भिन्नदेशेऽपि व्यक्तिः स्वशक्तित एव भवेत् तथैव निरवद्यानुभवात् । तथा च कथं भिन्नदेशवत् भिन्नकालस्यापि स्मरणादेर्न व्यक्तिः ? तत्रैवं [8]तत्रापि ज्ञानशक्तेरनिवारणात् । भिन्नकालवस्तुज्ञानं निर्विषयमेव तत्काले तद्विषयस्याभावादिति चेत् ; भिन्नदेशवस्तुज्ञानमपि कथं सविषयं तद्देशे[10] तद्विषयस्याप्यभावात ? तस्य देशान्तरे विद्यमानत्वादिति चेत् ; इतरस्यापि कालान्तरे विद्यमानत्वादिति समः समाधिः । सर्वस्यापि कालान्तरवर्तिनः किन्न व्यक्तिरिति चेत् ? देशान्तरवर्तिनोऽपि किन्न स्यात् ? स्वहेतुनिबद्धाच्छक्तिनियमादिति चेत्[11]; न; अन्यत्राप्यस्यैव परिहारत्वात् । कथं पुनः शक्तयोऽपि देशकालविप्रकृष्टभावापेक्षप्रादुर्भावा[12] इति चेत् ; न; तथा तासामचिन्त्यत्वात् । न हि शक्तयः 'कथमित्थमेवोत्पन्ना नान्यथापि' इति विचारयितुं प्रार्यन्ते । प्रमाणबलोपनीतास्तु परमभ्यनुज्ञायन्त एव, अन्यथा न किञ्चिद्भवेत् अपहस्तिततद्बलावलम्बनस्यान्यत्रापि वस्तुव्यवस्थापनस्यासम्भवात् । तदेवाह–'**अचिन्त्या भावशक्तयः**' इति । स्वपदव्याख्यातमेतत्[13] । चोद्यमाविष्कुर्वन्नाह–

विषमोऽयमुपन्यासस्तयोश्चेत्सदसत्त्वतः । इति ।

अयमनन्तरः आरादित्यादिः **उपन्यासो** दृष्टान्तो **विषमो** दार्ष्टान्तिकसदृशो न भवति । सदृशेन च दृष्टान्तेन भवितव्यम् । तद्वैषम्यञ्च तयोर्देशकालविप्रकृष्टयोः **सदसत्त्वतः** देशव्यवहितस्य[14] हि तज्ज्ञानदेशे असत्त्वेऽपि व्यक्तिरुपपन्नैव तज्ज्ञानकाले भावात् , न कालव्यव-

१ –परविज्ञा–आ०, ब०, प० । २ प्रतिविषयं देशभेदा–आ०, ब०, प० । ३ –वादप्रसङ्गात् ह्युप– आ०, ब०, प० । ४–प्रतिपादितम–आ०, ब०, प० । ५ विज्ञानत्वेन भेद–प० । ६ तदकश्मलभा–आ०, ब०, प० । ७ कालदेशे पि प्रकृ–आ०, ब० । कालदेशेऽपि विप्रकृ– प० । ८ तत्रैव आ०, ब०, प० । भिन्नदेश वत् । ९ भिन्नकालेऽपि । १० ज्ञानदेशे । ११ चेदन्य–आ०, ब०, प० । १२–वादिति आ०, ब०, प० । १३ –स्यानमेतत् आ०, ब०, प० । १४ –हि तस्य हितस्य ज्ञानप्रदेशे प० ।–हितस्य ज्ञानदेशे आ०, ब० ।

हितस्य, तद्देशतत्कालेऽप्यभावात् । चेत् शब्दः पराकूतमवद्योतयति । तदिदं परिहरमाह–

यदा यत्र यथा वस्तु तदा तत्र तथा नयेत् ॥४२॥
अतत्कालादिरप्यात्मा न चेन्न व्यवतिष्ठते । इति ।

यदा यस्मिन् काले यत्र यस्मिन् देशे यथा येन प्रकारेण वस्तु नीलधवलादि 'स्थितम्' इति शेषः । तद्वस्तु तदा तस्मिन् काले तत्र तस्मिन् देशे तथा तेन प्रकारेण नयेत् प्रापयेत् व्यक्तिम् 'व्यक्तिः' इत्यनुवर्तमानस्य विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धात् । क इत्याह–आत्मा जीवः । अतत्कालादि न विद्यन्ते तस्य वस्तुनः कालादयः कालदेशप्रकारा यस्यासावतत्कालादिः । अपिशब्दात् तत्कालादिरपि । यद्येवं तत्प्रकारत्वाद्विषयाकारत्वं तस्यापद्यत इति चेत्, सत्यम्, सत्त्वप्रमेयत्वादिना तदभ्यनुज्ञानात्, अन्यथा नीरूपत्वापत्तेः । अतत्प्रकारत्वं तु नीलाद्याकाराभावादिति निरवद्यम् ।

विपक्षे दोषमाह–न चेत् एवमात्मा व्यक्तिं न नयति चेत्, न व्यवतिष्ठते न वस्तुव्यवस्थां प्रतिलभते । तस्मात्तु व्यवस्थां प्रतिलभमानं कालदेशाकारभेदेनैव प्रतिलभते । तथा तत्प्रतिलम्भश्च कथं भवेत् आत्मा चेदतत्कालादिरपि तत्कालादिकं वस्तु न व्यञ्ज्यात् ? तदाकारज्ञानादेवेति चेत्, न, ततः स्वरूपमात्रपर्यवसायिनो भिन्नदेशादितया तस्य तत्प्रतिलम्भानुपपत्तेः । न हि तात्कालिकनिरंशज्ञानानुप्रविष्टस्यैव विषयाकारस्य भिन्नदेशादित्वम् । तदाकारजनकस्य भिन्नदेशादित्वात्तस्यापि भिन्नदेशादित्वमिति चेत्, कुतस्तदाकारजनकस्य भिन्नदेशादित्वमवगतम् ? अन्यतस्तदाकारज्ञानादिति चेत्, न, तत्रापि 'ततः' इत्यादेरनवस्थानदुस्तरदौस्थ्यपतितबन्धनिबन्धनस्य प्रसङ्गस्योपनिपातात् । तदर्पितस्याकारस्य भिन्नदेशादित्वादिति चेत्, तदपि कुतोऽवगतम् ? तज्जनकस्य भिन्नदेशादित्वादिति चेत्, न, परस्पराश्रयदोषस्य परिस्फुटत्वात् । स्वत एव संविदनन्यत्वादिति चेत्, न, तस्यापेक्षिकत्वात् । आपेक्षिकं हि भिन्नदेशत्वादिकम्, किञ्चिदपेक्ष्यैव तस्य भावात् । तच्चापेक्ष्यं नास्त्येव, तत्र तस्यापातात् । नाप्यन्यत्, तस्य स्वाकारमात्रपर्यवसितेनाऽपरिज्ञानात् । न चापरिज्ञाते तस्मिंस्तदपेक्षं भिन्नदेशत्वादिकं सुपरिज्ञानम्, परिज्ञात एव ग्रामादौ तदपेक्षया पर्वतादौ भिन्नदेशत्वादिपरिज्ञानस्योपलम्भात् । तन्न किञ्चिदेतत् ।

भवतु तर्हि सर्वं संविदद्वैतमेव, देशादिभेदस्तु कल्पनारोपित एवेति चेत्, तदपि कल्पनं कस्मात् ? अहेतुकत्वायोगात् । प्राच्यादेव तत्कल्पनादिति चेत्, तत्र भिन्नदेशत्वादिकं तत्परिज्ञानञ्च यदि परमार्थत एव किमन्यत्रापि न भवेत् ? कल्पनारोपितमेवेति चेत्, न, 'तदपि' इत्याद्यनुगमनाद्यत(नाद)नवस्थोपनिपातात् । तदाह–यदा यत्र यथा वस्तु देशादि-

१ स्वनेदृशत् शमनातेऽपि । २ तदिदं प–आ०, ब०, प० । ३ व्यक्तिमि–ता० । ४ तदेवं आ०, ब०, प० । ५ तस्य वि–आ०, ब०, प० । ६ –तैव परि–आ०, ब०, प० ।

भेदकल्पनं कार्यकारणरूपेण स्थितं तद्वस्तु **तदा तत्र तथा नयेत्** व्यक्तिम् । **अतत्कालादिरप्यात्मा** सम्यग्बोधस्वभावो **न चेन्न व्यवतिष्ठते** तद्वस्तु व्यवस्थाविकलं भवतीत्यर्थः ।

विकल्पनमपि मा भूत् निर्विकल्पस्याद्वैतस्यैव भावादिति चेत्; तदपि कुतः अनवगतस्याव्यवस्थितेः? "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [प्र० वा० १।६] इति चेन्[1]; तत्कथमद्वैतम्, वेद्यवेदकावगमभेदस्यैवमभिधानात्? तद्भेदेऽपि तदेकमेवेति चेत्; न; क्रमेणावग्रहादिभेदेऽपि तदेकत्वप्रसङ्गात् । तथा च निर्व्याकुलं देशादिभेदेन[3] वस्तुव्यक्तिनयनम्, तन्नयनविघातुरात्मनो निर्व्याकुलत्वात् । व्याकुल एवासौ भेदे सत्येकत्वस्य व्याघातादिति चेत्; अत्राह–**न चेदात्मा न व्यवतिष्ठते** वेद्यादिभेदाक्रान्ताद्वैतेवास्तवव्याघातस्याविशेषादिति भावः । कल्पित एव तत्र वेद्यादिभेदो वस्तुतो निर्भेदत्वादद्वैतस्येति चेत्; न; कल्पने **यदा यत्र** इत्यादेर्निर्व्याकुलत्वस्याभिहितत्वात् । पुनरपि विपक्षे दोषमाह–

व्यवहारविलोपो वा [मोहाच्चेदयथार्थता] ॥४३॥ इति ।

'न चेत्' इति, एवं न चेत् **'यदा'** इत्यादिप्रकारेण वस्तु व्यक्तिं नयत्यात्मा; तदा **व्यवहारः** प्रवृत्त्यादिलक्षणस्तस्य **विलोपो** विलयः स्यात् । तथा हि–व्यवहारः क्वचिद्विषये तदनुभवार्थिनो भवन् भिन्न एव भवति नात्मनि, तस्यानुभूयमानत्वेन तद्विषयत्वानुपपत्तेः । भिन्नेऽपि[6] नाऽप्रतिपन्ने सर्वत्र तत्प्रसङ्गात् । न चाकारवादिनो भिन्नप्रतिपत्तिरस्तीति निवेदितम् । अतो विलुप्यत एव व्यवहारः । **वा**शब्दः पूर्वदोषसमुच्चये ।

नास्त्येव देशादिभेदः प्रवृत्त्यादिरूपो व्यवहारो वा क्वचित्तदाश्रयस्य बहिर्भावस्यैवाभावात् । तत्प्रतिभासस्तु विपर्यासोपनीत एव **"प्रतिभासः समस्तोऽपि वासनाबलनिर्मितः ।"** [प्र० वार्तिकाल० ३।३६५] इति वचनात् । तस्मादयमयथार्थ एव । तदेवाह–**'मोहाच्चेदयथार्थता'** इति । देशादिभेदव्यवहारयोर**यथार्थत्वम**विद्यमानत्वम् । कुतः? **मोहात्** तत्प्रत्ययस्य विपर्यासरूपत्वात् **चेत्** शब्दः पराकूतद्योतने । तत्रोत्तरमाह–

अत्यन्तमसदात्मानं सन्तं पश्यन् स किं पुनः ।
प्रस्फुटं विपरीतं वा न्यूनाधिकतयापि वा ॥४४॥
प्रदेशादिर्व्यपायेऽपि प्रतियन् प्रतिरुध्यते । इति ।

न तावदयमारोपितोऽपि देशादिभेदो व्यवहारो वा तद्विकल्पमनुप्रविशति तावन्मात्रस्यैव प्रसङ्गात् । न च तावन्मात्रं तद्भेदो व्यवहारो वा लोकस्यैवमनभिनिवेशादप्रतिपत्तेश्च । बहिर्ग-

१ चेत्कथ–आ०, ब०, प० । २ तदभेदे–आ०, ब०, प० । ३ –न च वस्तु–आ०, ब०, प० । ४ –तवस्तुव्या–आ०, ब०, प० । ५ एव न चेत् आ०, ब०, प० । ६ भिन्नेन विना प्र–आ०, ब०, प० । ७ "भावनाभावनिर्मितः"–प्र०वार्तिकाल० । ८ –व्यवाये–आ०, ब०, प० । ९ बहिर्यतस्य तस्यैव ते–आ०, ब०, प० ।

तस्यैव तस्य तेनोपदर्शने पुनः अत्यन्त परस्परवत् [1]स्वरूपेणापि **असदात्मानम्** अविद्यमानस्वभावं विषयविषयिणोर्देशादिभेदं प्रवृत्तिप्राप्त्यादिरूपं व्यवहारञ्च **पश्यन्** अवलोकयन्। कथम्? **सन्तं** विद्यमानमिव, असति सच्छब्दप्रयोगात् इवार्थप्रतिपत्तिः 'अग्निर्माणवकः' इतिवत्। सः अनन्तरोक्त आत्मा [2]तस्यैव तथादर्शित्वोपपत्तेः। **किम्?** कस्मात्। पुनरिति शिरःकम्पे **प्रतिरुध्यते** निषिध्यते, नैव निषिध्यते इति यावत्। किं कुर्वन्? **प्रतियन्** प्रतिपद्यमानः। किम्? **सन्तं** विद्यमानमपि सन्तमित्यस्यावृत्त्या सम्बन्धात् वक्ष्यमाणस्य अपिशब्दस्य च भिन्नप्रक्रमेण योजनात्। कस्मिन् सति प्रतियन्? **प्रदेशादिव्यपायेऽपि**। प्रदेशव्यपाये चन्द्रादिकम्, कालव्यपाये अतीतादिकम्, द्रव्यव्यपाये काचादिव्यवहितमिति। एतदुक्तं भवति–यथाऽयम् असत्कालादिरेव आरोपिताकारं पश्यन् प्रतिरुध्यते तथा अनारोपितमपि। इत्यारोपितवदनारोपितस्यापि आत्मशक्तित एव परिज्ञानोपपत्तेः। कथं सः प्रतियन्? **प्रस्फुटं** प्रकर्षेण स्पष्टम् अनेन प्रत्यक्षपर्यायरूपतया **सन्तं** प्रत्येतीति प्रतिपादयति। यथा चेदमुपपन्नं [7]तथा प्रतिपादितं प्रागिति न पुनरुच्यते। पुनरपि कथं प्रतियन् **विपरीतं वा** [8]स्पष्टविकलं वा तदनेनापि स्मरणादिपरोक्षपर्यायरूपेण सन्तं प्रत्येतीति निवेदयति।

ननु यदि प्रत्यक्षवत्स्मरणादावपि वस्तुनः स्वरूपेण प्रतिभासनम्, कथमस्पष्टत्वम्? तत्स्वरूपप्रतिभासे स्पष्टत्वस्यैवोपपत्तेः। न हि तत्स्वरूपप्रतिभासादपरमन्यत्रेऽपि स्पष्टत्वम्। ततो यदि स्वरूपतस्तेन [9]वस्तु प्रतिपन्नं स्पष्टरूपमेव तत्। यदि स्वरूपतो न प्रतिपन्नम्; अप्रतिपन्नमेव सर्वथा तद्भवेत्। स्वरूपप्रतिपत्तावपि तदस्पष्टमेवेति चेत्, तर्हि नीलादेस्तद्वेदनात् कथं भेदः? कथञ्च न स्यात्? अविवेचनात्। यदि हि नीलादिस्ततो वेदनान्तरेऽपि प्रतिभासेत भवेद्विवेचनं ततश्च भेदः। न चैवम्, प्रत्यक्षप्रतिभासिन[10] स्पष्टात्मनस्तस्य[11] स्मरणादावन्य[12]प्रतिभासनात्, तत्रास्पष्टात्मनस्तदपरस्यैव प्रतिभासोपलब्धेः। नीलादिरुभयत्रैकरूप एव न तस्य स्पष्टत्वमस्पष्टत्वं वा, तयोर्विज्ञानधर्मत्वादिति चेत्, कथं तर्हि 'स्पष्टो नीलादिरस्पष्टो वा' इति तत्र व्यपदेशः अन्यधर्मेणान्यत्र [13]तदनुपपत्तेः? स्पष्टादिज्ञानसंसर्गादिति चेत्; ननु संसर्गस्तदभेद एव 'स्पष्टो नीलादिः' इत्यभेदेनैव प्रत्यवभासनात्, तथा च ज्ञानान्तर्गत एवासौ इति कथं तदपरतया व्यवस्थाप्येत? तदेकतो ज्ञानस्यैव तस्माद्भेदानुपपत्तेः। तथा च परस्य वचनम्–

"स्वरूपेण प्रतीतं चेत्साक्षात्करणमेव तत्।
स्वरूपेणाप्रतीतं चेत्सर्वथास्याप्रतीतता॥

१ एव–आ०,ब०,प०। २–नादेशार्थे–आ०,ब०,प०। ३ निषिध्यते आ०, ब०, प०। ४–दिव्यपाये–आ०, ब०,प०। ५–तत्वाप्रतीति तत्त्वात्मशक्ति–आ०, ब०, प०। ६–न स्फुटम् आ०, ब०, प०। ७ तथा प्र–आ०, ब०, प०। ८ स्पष्टविकलं तदनेनापि स्मरणेनापि परोक्षप्रत्यक्ष–आ०, ब०, प०। ९–एतम स्पष्ट–आ०, ब०, प०। १० प्रतिभासिन स्प–आ०,ब०,प०। ११ नीलादेः। १२–न्य प्र–आ०,ब०,प०। १३ व्यपदेशानुपपत्ते।

स्वरूपेण प्रतीतेऽपि तदसाक्षात्कृतं यदि ।
नीलरूपस्य संवित्तेर्भेदस्तर्हि कथं भवेत् ?॥
प्रतीतिभेदाद्भेदो हि नीलादेरेकरूपता ।
भिन्नेऽन्यस्मिन्कथं भेदस्तदन्यस्य प्रमान्वितः ॥
तत्संसर्गात्तथात्वं चेदपरोऽर्थः कुतो भवेत् ?
तदेकतां प्रपन्नस्य ततो भेदः कुतो मतः ? ।" [प्र०वार्तिकाल० २।३२९]

ततो न ज्ञानसंसर्गान्नीलादेः स्पष्टात्मत्वम्, तस्यैव[1] बहिर्भूतस्याभावप्रसङ्गात्, अपि तु स्वत एव तस्य च प्रत्यक्षवत्स्मरणादावपि प्रतिभासनं तदपि स्पष्टमेवेति न युक्तमुक्तम्–"**विपरीतं वा प्रतियन्**" इति चेत्; [2]तदिदमपि प्रज्ञापरिपाकवैकल्यमेव प्रज्ञाकरस्य ज्ञापयति–स्वरूपप्रतीत्या वैशद्यानुपपत्तेः, उपप्लुतज्ञाने तदभावप्रसङ्गात्। अस्ति च कामिन्यादिविपर्यस्योपप्लुतज्ञानस्यापि[3] वैशद्यम्। न च तत्र स्वरूपपरिज्ञानं कामिन्यादीनामभावात्। ज्ञानाकारतया विद्यन्त एव त इति चेत्, न; "अभूतानपि पश्यन्ति"[4] इत्यस्य विरोधात् विद्यमानानामेवाऽभूतत्वायोगात्। "पुरतोऽवस्थितानिव" इत्यपि न युक्तम्; ज्ञानापेक्षया तदाकाराणामेव पुरतो भावानुपपत्तेः, एकत्र निर्प्पर्यायं[5] भिन्नदेशत्वासम्भवात्। कल्पितस्तद्भाव[6] इति चेत्; न, "पश्यन्ति" इत्यस्यायोगात् कल्पनस्य दर्शनरूपत्वासम्भवात्। दर्शनसाहचर्यात्तदपि दर्शनमेवेति चेत्; न; तत्रापि दर्शनवद् अन्तःप्रविष्टतयैव तत्प्रतिभासप्रसङ्गात्। पुनरपि कल्पितस्य पुरतोभावस्यावस्थापने व्यवस्थावैकल्यापत्तेः। अतो दूरं गत्वापि वस्तुत एव तेषां क्वचित्पुरतो भावो वक्तव्य इति कथं ज्ञानाकारत्वम्? तद्भिन्नदेशानां तदाकारत्वानुपपत्तेः अतिप्रसङ्गादित्यसतामेव तेषां दर्शनमिति कथं तत्र वैशद्यम्? असतां स्वरूपेण ग्रहणायोगात्। नीलादिना[7] स्वरूपेणैव तेषामपि ग्रहणमिति चेत्; कथमिदानीं [8]नीरूपत्वमिति सति स्वरूपे तदनुपपत्तेः? बाध्यमानत्वादिति चेत्; न; तन्नीरूपत्वे तत्प्रयुक्तस्य वैशद्यस्यापि तत्त्वप्रसङ्गात्। [9]नीरूपमेव तदपीति चेत्; न; दर्शनस्यापि तदनर्थान्तरत्वेन नीरूपत्वापत्तेः। तस्मादर्थान्तरमेव दर्शनमिति चेत्; कुतस्तर्हि तस्य वेदनम्? स्वत एवेति चेत्; न; व्याघातात्। व्याहतं खल्विदं यत्–'नीरूपम्, स्वतश्च वेद्यते' इति व्योमकुसुमादिवत्। तत एव दर्शनादिति चेत्; न; तस्याविशदत्वे दर्शनत्वायोगात्। विशदमेव तदिति चेत्; न; विषयविषयितया वैशद्यस्य तत्रानवभासनात्। सदपि तद्वैशद्यं नीरूपमेव, तत्प्रयोजकस्य विषयवैशद्यस्य नीरूपत्वात्। भवतु नीरूपमेव तदपीति चेत्; न; तत्रापि 'दर्शनस्यापि' इत्यादेरनुगमादनवस्थानदोषोपनिपातात्। ततो न विषयस्वरूपग्रहणप्रयुक्तं वैशद्यम्, निर्विपर्यकामिन्यादिदर्शने तदभावानुपङ्गात्। भावनापरिपाकप्रयुक्तं तत्र[10] वैशद्यमिति चेत्;

---

१ –स्यावहिर्भू–आ० ब० प०। २ तदेवमपि आ०, ब०, प०। ३ –यस्योपरतज्ञा–आ०, ब०, प०। ४ "कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः। अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव।"–प्र० वार्तिकाल० २।३८२। ५ युगपत्। ६ पुरतो भावः। ७ –लादीनां स्व–आ०, ब०, प०। ८ नीलरूप–आ०, ब०, प०। ९ नीलरूप–आ०,ब०,प०। १० कामिन्यादौ।

न, सत्यपि विषये [1]तदप्रयुक्तस्यैव [2]तस्य प्रसङ्गात्। भवत्विति चेत्[3], यत्र तर्हि तत्परिपाको नास्ति तत्र सत्यपि विषयग्रहणे न वैशद्यम्। नायं दोषः, सत्येव[4] तत्परिपाके विषयग्रहणस्यापि भावादिति चेत्, न, भावितस्यापि विषयस्य ग्रहणप्रतीतेः। अन्यथा अनभ्यासदशायां जलादेरदर्शने जिज्ञासायाम् कथमर्थक्रियानुमानं यतः स्नानपानाद्यर्थिनः प्रवृत्तिर्भवेदिति न विषयस्वरूपवेदनादेव वैशद्यम्, सत्यपि तस्मिन्नन्तरङ्गमलविशेषमलीमसत्वेनावैशद्यस्यापि सम्भवात्। ततो न सूक्तमिदम्–'स्वरूपेण प्रतीत चेत्' इत्यादि।

नन्वेवम् अन्तरङ्गमलविगमाविगमप्रयुक्तत्वे वैशद्येतरयोर्ज्ञानधर्मत्वमेवेति कथमन्यस्ताभ्यां व्यपदिश्यते 'स्पष्टो नीलादिः अस्पष्टो वा' इति? [6]इति चेत्, न, तथाविधज्ञानविषयतयैव तथा व्यपदेशोपपत्तेर्न तादात्म्यरूपात्तत्संसर्गात्। तत इदमपि न सुभाषितम्–'तत्संसर्गात्तथात्वं चेत्' इत्यादि, तद्व्यपदेशस्य[7] तत्संसर्गाभावेऽप्युपपत्तेः।

पुनरपि कथं प्रतियन्नित्यत्राह–न्यूनाधिकतयापि वा। न्यूनतया[8] पूर्वं गृहीतस्यान्यस्यैव स्मरणात् अधिकतया तस्यैव कालाधिक्यस्यानुस्मरणात्। अथवा पर्वताद्[9] गण्डशैलस्य न्यूनतया ततः पर्वतस्याधिकतया प्रतिवेदनात्।

स्यान्मतम्–विषयाकारवैकल्यमेवात्र व्यवस्थापयितुमभिप्रेतम्, तच्च 'प्रदेशादि' इत्यादिनैव प्रतिपादितम्, तत्किमनेन 'प्रस्फुटम्' इत्यादिना 'न्यून' इत्यादिना च प्रयोजनाभावादिति? तन्न, आत्मव्यवस्थापनस्य तत्प्रयोजनत्वात्। किं पुनरात्मा [10]प्रतिरुध्यत इति? अत्र परो ब्रूयात्–'प्रमाणाभावात्' इति, यत्रेदमुत्तरम्–'प्रस्फुटम्' इत्यादि। व्यवस्थापित एव पूर्वमात्मेति चेत्, न, प्रकारान्तरेणेदानीं तद्व्यवस्थापनात्। तथा हि यद्यात्मा नाम न भवेत् कुतस्तदा प्रस्फुटेतररूपतया विज्ञानेषु न्यूनाधिकस्वभावतया च विषयेषु राशिद्वयप्रतिपत्तिः? [11]एकराशिविषयस्य ज्ञानस्य राश्यन्तरं प्रत्यनुपक्रमे तत्प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः, प्रतियोगिपरिज्ञानमन्तरेणैकराशिपरिज्ञानमात्रादेव [12]तत्प्रतिपत्तेरनुपलम्भात्। तत्र तदुपक्रमे च न सम्भवत्येवात्मप्रतिषेधः परापरविषयग्रहणोपक्रमाधिष्ठानस्य ज्ञानस्यैव आत्मत्वेन आत्मतत्त्ववेदिभिरभ्यनुज्ञानात्। न च राशिद्वयपरिज्ञानमसिद्धम्, प्रसिद्धत्वात्। प्रसिद्धिरप्येकराशिपरिज्ञानस्यैवेति चेत्, कुत एतत्? तथानुभवादिति चेत्, न, राश्यन्तरज्ञानेऽपि तदविशेषात्। तथापि तस्य प्रसिद्ध्यपह्नवे तदपरस्यापि भवेदित्यभाव एव बहिरन्तश्च भावानामापद्येत। न चासौ शक्यव्यवस्थापनः प्रमाणवैकल्यात्। ततोऽनुमतमेतदेकराशिपरिज्ञानमभ्यनुजानतो[13] राश्यन्तरपरिज्ञानमभ्युपगमविषय एव। एतदर्थमेवेदमुक्तम्–'प्रतियन्' इति। तस्मादुपपन्नं राशिद्वयपरिज्ञानादात्मव्यवस्थापनं तत्प्रतिपादनार्थं 'प्रस्फुटम्' इत्यादिकं 'न्यून' इत्यादिकञ्च वचनम्।

---

१ भावनातिशयप्रयुक्तस्यैव। २ वैशद्यस्य। ३ चेदन्यत्र आ०, ब०, प०। ४ –व परि–आ०, ब०, प०। ५ –तद्भूतदशा–आ०, ब०, प०। ६ इति तत्र आ०, ब०, प०। ७ –स्य तत्र–आ०, प०, ब०। ८ –या गृ–आ०, ब०, प०। ९ –तादय मारम न्यून–आ०, ब०, प०। १० प्रतिरिष्यते आ०, ब०, प०। ११ एकवि–आ०, ब०, प०। १२ तत्प्रतिपत्तेरप–आ०, ब०, प०। १३ –नुजानतो आ०, ब०, प०।

साम्प्रतं **'विपरीतं वा प्रतियन्'** इत्येतत् स्मरणपर्यायेणेव[1] प्रत्यभिज्ञानादिना पर्यायेणापि [2]दमयन्नाह–

एतेन प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिर्गता ॥४५॥ इति ।

प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं तादृशमिदमिति वा ज्ञानम्, तदादिर्येषां तर्कानुमानश्रुतानां तानि **प्रत्यभिज्ञानादीनि** तैः **अतीतस्य** उपलक्षणमिदं वर्तमानस्यानागतस्य च **अनु** पश्चात् पूर्वपूर्वस्मादूर्ध्वमुत्तरोत्तरैः **मितिः** परिज्ञानं **गता** निश्चिता । केनेति चेत् ? **एतेन 'यदा यत्र'** इत्यादिना ।

[3]तथा हि स्मरणं यद्वदतत्कालाद्यपि स्वयम् ।
नियतग्राहि तद्वत्स्यात् प्रत्यभिज्ञाद्यपि स्फुटम् ॥७३७॥
सामर्थ्यात्तादृशात्तस्य तत्क्रियातो[4]विनिश्चयात् ।
जडचेष्टितमेवातस्तत्कालादित्वकल्पनम् ॥७३८॥

प्रतिपन्नविषयमेव प्रत्यभिज्ञानम् 'अनु' इति वचनात् । न च पूर्वापरयोरेकत्वं[5] सादृश्यं वा कुतश्चित्प्रतिपन्नं तत्कथं तस्य प्रत्यभिज्ञानेन प्रमितिरिति चेत् ? न; प्रत्यक्षतोऽपि तत्प्रतिपत्तेः । सन्निहितस्यैव पर्यायस्य तेन[6] प्रतिपत्तिर्न पूर्वस्य तत्कथं तदेकत्वस्य तत्सादृश्यस्य वा तेन परिज्ञानमिति चेत् ? किमपेक्ष्य तस्य सन्निधानम् ? प्रत्यक्षमेवेति चेत्; न; विषयस्य तज्ज्ञानापेक्षया समकालत्वानभ्युपगमात् "नातोऽर्थः स्वधिया सह" [प्र० वा० २।२४६] इति वचनात् । तदर्थजातस्याकारस्य [7]तत्समकालत्वमेव [8]तस्यापि तत्समकालत्वम्, [9]तत्परिज्ञानस्यैव विषयपरिज्ञानतयाऽभ्यनुज्ञानादिति चेत्; अनुपकारे तदाकारस्यापि परिज्ञानं कथम् ? "नाकारणं विषयः" [ ] [10]इत्यस्य विरोधात् । व्यतिरिक्त एवायं विषये न्यायः, न चाकारस्य ज्ञानाद्व्यतिरेक इति चेत्; कस्तर्हि तत्र न्यायो यतस्तत्परिज्ञानम् ? स्वहेतोस्तत्स्वभावतयोत्पत्तिरेवेति चेत्; व्यतिरिक्तेऽप्ययमेव कस्मान्न भवति यतस्तत्र निष्प्रयोजनमेव हेतुभावपरिकल्पनं न भवेत् ? अहेतोरपि परिज्ञाने किन्न सर्वस्य परिज्ञानम् अहेतुत्वाविशेषादिति चेत् ? न; आकारस्याप्यहेतोरेव वेदनात्, तत्राप्येवमतिप्रसङ्गस्योपनिपातात् । स्वहेतुनिबद्धेन[11] शक्तिनियमेनाहेतुत्वेऽपि तस्यैव ततः परिज्ञानं न सर्वस्येति चेत्; न; व्यतिरिक्तपरिज्ञानेऽप्येवमेव समाधानोपपत्तेः, व्यतिरिक्तस्यापि तादृशादेव तन्नियमात् नियतस्यैव परिज्ञानं न सर्वस्येति । शक्तितश्च विषयपरिज्ञाने कथं सन्निहितस्यैव प्रत्यक्षेण दर्शनं नातीतादेरपि तत्रापि तस्य शक्तिसम्भवात् ।

भवतु पूर्वापरयोस्तस्य[12] प्रवृत्तिस्तथापि न ततस्तत्रैकत्वं प्रतीयते, भेदस्यैवैकान्ततः

---

१ –णेव आ०, ब०, प० । २ "निवेदयन्नाह इति पाठेन भाव्यम्"–ता० टि० । प्रत्याचक्षाण आह इत्यर्थः । ३ "श्लोकार्धेनोक्तार्थं श्लोकद्वयेन विवृणोति"–ता० टि० । ४ –तोपि नि–आ०,ब०,प० । ५ पूर्वपरयो– आ०, ब०, प० । ६ प्रत्यक्षेण । ७ ज्ञानसमकालत्वमेव । ८ अर्थस्यापि । ९ आकारपरिज्ञानस्यैव । १० "नाऽहेतुर्विषयः"–प्र०वार्तिकाल०३।४०४ । ११ –तुनियमेन श–आ०,ब०।–तु नियमेनाहेतु–प० । १२ प्रत्यभिज्ञानस्य ।

प्रतिपत्तेरिति चेत्, एकसमवायात्, अनेकसमवायाद्वा ? न तावदेकसमवायात्, तत एकस्वभावावरेकस्यैव[1] पर्यायस्य परिज्ञानप्रसङ्गात्[2]। पर्यायान्तरस्यापि तत एव परिज्ञानमिति चेत्, न, परस्याभावापत्तेः। न हि तत्पर्यायामिमुख्यैकस्वभावसंवेदनत्वेऽस्य तद्पर्यान्तरत्वं तत्स्वरूपवदुपपन्नम्, एकस्वभावनिरूपनिबन्धनत्वेऽपि कार्याणामपरापरत्वस्यानिवारणप्रसङ्गात्। भवतु तत्स्वस्यैकस्यैव परिज्ञानं न परस्येति चेत्, कथं तस्य [3]ततो भेदपरिज्ञानम् ? अपरिज्ञाते तस्मिन् तदनुपपत्तेः। तस्य [4]तत्स्वभावस्यापरिज्ञातेऽपि तस्मिन् भवत्येव परिज्ञानम् अन्यथा [5]तत्स्वभावत्वस्यैवाभावप्रसङ्गादिति चेत्, न, तत्स्वभावत्वस्यासिद्धत्वात्। भेदो हि पूर्वस्योत्तरस्मात्, [6]तत्राभाव एव, स[7] च [8]तदधिकरणतया पश्चादेव भवन् कथं पूर्वस्य स्वभावः स्यात् ? पूर्वस्यैव [9]तद्रूपतयाऽवस्थितिमत्त्वेनाक्षणिकत्वापत्तेः। [10]"पूर्वमेवायमभावो" न पश्चादिति चेत्, भावस्तर्हि [11]"पश्चादिति कार्यासमकालस्य कारणस्य पूर्वमेव [12]गतं सन्तानव्यवस्थां कथम् विधुरीकुर्यात् ? कथञ्चेदमपि सुभाषितम्–

"न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम्" [प्र० वा० ३।२७७] इति ? सति [13]"पश्चाद्भावे "न भवत्येव" इति वचनानुपपत्तेः। भावोऽपि तस्य[14] पश्चादापतितः प्रागेव [15]"तत इति चेत्, पश्चात्तर्हि किं[16] स्यात् ? न किञ्चिदिति चेत्, नन्वेवमभाव एवोक्तः स्यात्, तदपरस्य न [17]किञ्चिदर्थस्याभावात्। [18]भवत्येवमिति चेत्, न, 'स च तदधिकरणतया' इत्यादेर्दोषस्याभिहितत्वात्। पुनरपि[19] प्राग्भावपरिकल्पने प्रसङ्गः 'भावस्तर्हि' इत्यादिः[20] अनवस्थादोषमन्वाकर्षन्नापद्येत। 'न [21]तस्य पश्चाद्भावो नाप्यभावः इत्यपि न युक्तम्, उभयाभावस्य न किञ्चिदर्थत्वापत्तेः [22]तस्य च पश्चाद्भावपूर्वभावयोः प्राच्यदोषानतिक्रमात्। तत्रापि 'न तस्य' इत्यादिवचने परस्यानवस्थादोषस्योपनिपातात् ततः [23]"पश्चाद्भाव्येवाभाव[24]" इति नासौ पूर्वस्य स्वभावः। यद्येवम्, अतत्स्वभावात्ततोऽपि[25] तस्य[26] भेदो वक्तव्यः तद्स्वभावत्वस्यान्यथानुपपत्तेः। [27]तस्य च यदि [28]तत्स्वभावत्वं [29]पूर्वस्यापि स्यादविशेषात्। [30]तस्यापि पश्चाद्भाव्यभावत्वेन नास्त्येव [31]तत्स्वभावत्वमिति चेत्, न, तत्रापि 'यद्येवम्' इत्यादेरनुबन्धादनवस्थानमुग्रहतप्रकृतस्यानुपङ्गादिति चेत्; न, [32]तस्मात्तद्भेदस्याभावान्तरनिबन्धनत्वानभ्युपगमात्, तत एवाभावाद्यनुपपत्ते[33]। स एव ह्यभावः प्राच्यस्य [34]स्वतो [35]भेदनिबन्धनम्, न तदन्तरं तद्प्रतिपत्तेः तत्कथमयं प्रसङ्गः ?

१ –यतिरि–आ०, ब०, प०। २ –भावैक–आ०, ब०, प०। ३ तत्वभेद–आ०, ब०, प०। ४ परभेदस्वभावत्वात्। ५ तत्स्वभावाभावप्र–आ०, ब०, प०। ६ उत्तरे। ७ अभावः। ८ उत्तराधिकरणतया। ९ उत्तरक्षणतया। १० पूर्व एव आ०, ब०, प०। ११ उत्तराधिकरणकः पूर्वाभावः। १२ यदि उत्तरक्षणे पूर्वाभावः भावि किन्तु पूर्वमेव तर्हि पूर्वस्य क्षणस्य एव प्राप्त। १३ नष्टम्। तथा च कार्यकारणयोरेककालत्वे कथं सन्तानव्यवस्था स्यादिति भावः। १४ पूर्वक्षणस्य। १५ पूर्वक्षणस्य। १६ उत्तरक्षणतः। १७ किम स्यात् आ०, ब०, प०। १८ कश्चिदर्थ–आ०, ब०, प०। १९ भवत्येव–आ०, ब०, प०। २० पूर्वभावस्य पूर्वपक्षापतितकल्पने। २१ इत्यादेरन–आ०, ब०, प०। २२ पूर्वस्य। २३ तस्य च–आ०, ब०, प०। २४ पश्चादभाव एवा–आ०, ब०, प०। २५ पूर्वाभावः। २६ पूर्वाभावादपि। २७ पूर्वस्य। २८ पूर्वाभावात् पूर्वभेदस्य। २९ पूर्वक्षणस्वभावत्वम्। ३० पूर्वक्षणस्य पूर्वाभावस्यापि। ३१ पूर्वभेदस्यापि। ३२ पूर्वक्षणस्वभावत्वम्। ३३ पूर्वाभावात् पूर्वभेदस्य। ३४ भेदोपपत्तेः। ३५ स्वस्मात्। ३६ भेदे निब–आ०।

पश्चाद्भावी [1]भाव एव [2]किन्न तन्निबन्धनं ततोऽपि[3] [4]परस्याभावस्यापरिज्ञानादिति चेत् ? उच्यते–

सर्वथाऽर्थान्तरं भावादभावश्चेन्निषिध्यते[5] ।
[6]निषिध्यतां न किञ्चिन्न क्षणं स्याद्वादवेदिनाम् ॥७३९॥
कथञ्चिद्यस्तु तद्भेदो नासौ शक्यनिपीडनः ।
प्रतीतिदयिताश्लेषलब्धस्वारस्यसुखो ह्ययम् ॥७४०॥
पश्यन्तः कलशं यस्माज्जायमानं स्वहेतुतः ।
नष्टो मृत्पिण्ड इत्येवं निश्चिन्वन्ति विपश्चितः ॥७४१॥
एकान्तभावरूपे तु कलशे नाशनिर्णयः ।
कथं तत्रोपजायेत तन्मिथ्यात्वप्रसञ्जनात् ॥७४२॥
निश्चयो न च मिथ्यासौ निर्भागस्य समुद्भवात् ।
तस्माद्भावाति[7]रिक्तोऽयमभावोऽस्ति कथञ्चन[8] ॥७४३॥
स एव नाशः प्राच्यस्य [9]प्रतीत्या सुद्दढोच्यते ।
कथञ्चित्तदभेदेन नाशोक्तिरसू[10](न्नू) त्तरोदये[11] ॥७४४॥
[12]तन्नोत्तरस्यासंवित्तौ तद्भावाभाववेदनम् ।
एकस्वभावमध्यक्षं न च तद्वेदनक्षमम् ॥७४५॥
यद्यनेकस्वभावं [13]तदक्रमेणोपगम्यते ।
एकानेकस्वभावं तत्क्रमेणापि न किं मतम् ? ॥७४६॥
अनेकसमयं तच्चेन्न्यायादागतमुच्यते ।
तेन पूर्वापराभेदः सुबोधो भेदवन्न किम् ?॥७४७॥
तदन्तर्बहिरप्येवमेकत्वेऽध्यक्षतो गते ।
निरवग्रहमेवात्र प्रत्यभिज्ञाप्रवर्त्तनम् ॥७४८॥
सादृश्ये प्रत्यभिज्ञानमेतेन प्रतिवर्णितम् ।
प्रत्यक्षादेव तस्यापि[14] ग्रहणस्योपदर्शनात् ॥७४९॥

एतदेवाह–

प्रायशोऽन्यव्यवच्छेदे प्रत्यग्रानवबोधतः । इति ।

प्रत्यग्रं च तद्वर्तमानत्वात् प्रतिनवम् **अनवं** च तदतीतत्वाच्चिरतनं तस्य **बोधः** [15]परिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानादेः स **प्रत्यग्रानवबोधः** तस्मात्तव इति । उपलक्षणमेतत्–'सदृशबोधतः'

१ उत्तरक्षण एव । २ कि तन्निय–आ०, ब०, प० । ३ उत्तरक्षणात् । ४ भिन्नस्य । ५ निषेध्यते आ०, ब०, प० । ६ निषेध्यताम् आ०, ब०, प० । ७ –तिरेकोऽयम–आ०, ब०, प० । ८ नः आ०, ब०, प० । ९ प्रतीच्या आ०,ब०,प० । १० –सूत्तरोध–आ०, ब०, प० । ११ –चिरसू'''त्रु०'''ता० । १२ तन्नोत्तर–प० । १३ अध्यक्षम् । १४ –पि प्रत्यग्रस्योप–आ० , ब०, प० । १५ परिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभि–आ०, ब० ।

इत्यपि द्रष्टव्यम्। इदमभिहितं भवति-भवत्कल्पनादित एव प्रत्यभिज्ञादेर्यत एकत्वसादृश्यपरिज्ञानं भावेषु प्रतीयते तत 'एतेन' इत्याद्युपपन्नमिति।

कथमेवं प्रत्यभिज्ञादेः प्रामाण्यं[1] प्रत्यक्षप्रतिपन्नविषयत्वेनापूर्वार्थत्वाभावात्, अपूर्वार्थस्य भवतां प्रमाणम् "प्रमाणमनधिगतार्थाधिगमज्ञानम्" [ ] इति [2]वचनादिति चेत्? अत्राह-अन्यव्यवच्छेदे इति। अन्यस् एकत्वादैकान्तिक नानात्वं सादृश्यात्च वैलक्षण्यमध्यारोपितं तस्य व्यवच्छेदो निरासस्तस्मिन्, तन्निमित्त यः प्रत्ययमानवबोधस्तत इति। एतदुक्तं भवति-प्रत्यक्षप्रतिपन्नस्यापि समारोपव्यवच्छेदविशिष्टतया प्रत्यभिज्ञानादिना प्रतिपत्तेः कथञ्चिदपूर्वार्थमेव तत् ततश्च प्रमाणमनुमानवदिति। यथा च सूक्तं पूर्णो देवस्य वचनम्-

"समारोपव्यवच्छेदात् प्रमाणमनुमानवत्।
स्मृत्यादितर्कपर्यन्तं लिङ्गिज्ञाननिबन्धनम्॥" [ ] इति।

कथमेवं प्रत्यभिविषये सर्वत्रापि न प्रत्यभिज्ञादिकं यतः [3]प्रपञ्चकादेरप्रत्यभिज्ञानात्कस्यचिदनुवादभङ्गो भवेदिति चेत्? न, स्मर्यमाण एव तत्र [4]तदुपपत्तेः। न च स्मरणस्यापि तत्र सर्वत्रापि भाव, संस्कारगोचर एव तस्य भावात् तथैव प्रतिपत्तेः। एतदेवाह-'प्रायशः' इति। प्रायशो बाहुल्येन यः प्रत्यभिज्ञादेः प्रत्ययप्रामाण्यबोधस्तत इति। यावत् नित्येतरात्मकं वस्तु सादृश्येतरात्मकं चाभ्युपेयते तावत्तद्विपरीतमेव कुतो नाभ्युपेयत इति चेत्? अत्राह-

अविज्ञाततथाभावस्याभ्युपायविरोधतः ॥४३॥ इति।

अविज्ञातः अपरिज्ञातः **तथा** तेन परोक्तैकान्तक्षणक्षयादिप्रकारेण **भावः** सत्ता यस्य चेतनस्येतरस्य वा तस्य योऽभ्युपाय अङ्गीकारः तस्य **विरोधतो** बाधनादतिप्रसङ्गेनेति भावः। तथा हि-

एकान्तक्षणभङ्गादि यद्यज्ञातमुपेयते।
तद्वदेकान्तनित्यत्वाद्युपेयं किम् ते मतम्॥७५०॥
सर्वप्रवादिनामेवमभिप्रेतव्यवस्थितेः।
पराजयः क सम्भाव्यस्तदभावे जयोऽपि वा॥७५१॥
तस्याभ्युपगमस्तस्माज्ज्ञातस्यैवोपपत्तिमान्।
न च तस्य परिज्ञानमिति पूर्वं निवेदितम्॥७५२॥

१. त इमे 'यथैवास्मायम्' इत्यादयोऽन्तरश्लोकाः। 'प्रकाशनियमः' इत्यादेर्व्याख्यानात्।

स्या मतम्-[5]एतदुक्तम् असत्सपि केशादिः तैमिरिकस्य प्रतिभासते भ्रान्तेरपिपत्येन इति,

1 -र्थं प्रमाणमत-आ०, ब०, प०। 2 "प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्"-अष्टश०, अष्टसह० पृ० १०५। 3 प्रपञ्चकादे-आ०,ब०,प०। 4 तदनुपपत्तेः। 5 तदु-आ०,ब०,प०।

तदयुक्तम्; असतः प्रतिभासेऽतिप्रसङ्गात्, व्योमकुसुमादेरपि तदापत्तेः। [1]अतो वस्तुसन्नेव [2]तत्केशादि [:] स्वप्नविषयश्चेति ; तन्न ; शक्तिवैकल्यात्। यदि वस्तुसन्नेव स्वप्नादिविषयः, कथं तस्य शक्तिवैकल्यम्? वस्तुसति तदयोगात्। न चायं शक्तिमानेव तत्कार्यादर्शनात्। [3]न हि स्वप्नोपलब्धाद्दहनादेर्दाहादिकार्यम्। तदपि कदाचिदुपलभ्यत एवेति चेत्; न ; तस्याप्यसत एव भ्रान्तिसामर्थ्येनोपलम्भात्, कथमन्यथा तदादग्धतया दृष्टस्यैव पश्चादन्यथोपलम्भनम्? न चेदमन्यदेव, दृढप्रत्यभिज्ञानविषयत्वात्। असत्यपि कार्ये शक्तिमानेवायम्, अलौकिकत्वात्। लौकिकस्यैवायं धर्मो यच्छक्तिमत्त्वेऽवश्यम्भाविकार्यदर्शनमिति चेत्; तन्न ; असति कार्ये शक्तिमत्त्वस्यैव दुरुपपादत्वात्, तदुपपादनस्य [4]कार्योपाध्यायत्वात्। तज्ज्ञानमेव तस्य कार्यम्, अकारणस्याविषयत्वात् ततस्तत एव तदुपपादनमिति चेत्; न; स्वर्गचैत्यवन्दनाधिष्ठानस्य साध्यसाधनभावस्यापि तत एव तदुपपादनापत्तेः। भवतु को दोष इति चेत्? चैत्यवन्दनादेरपि धर्मत्वमेवेति ब्रूमः। तथा च न युक्तमेतत्-"धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इति प्रत्यागमस्यापि तत्र प्रामाण्यात्। अथ तज्ज्ञानं[10] [11]तदागमादेव केवलान्न [12]तद्विषयात् कथमिदानीं तस्य[13] शक्तिमत्त्वम्? [14]कार्यलेशमप्यनुपजनयतस्तदनुपपत्तेः। तदपि मा भूदिति चेत्; सिद्धं तर्हि [15]तस्यावस्तुसत एव प्रतिभासनम्, सकलशक्तिविरहस्यैव तद्रूपत्वात्, तथा स्वप्नादिविषयस्यापि स्यादविशेषात्।

यदि चायं विप्लवविषयो भावो [16]भाविक एव कथं तस्येच्छानुवर्तनम् अन्यत्र [17]तादृशे तददर्शनात्। अस्ति चेच्छानुवर्तनं विप्लवविषयस्य कामिन्यादेरिच्छया पुरतः पार्श्वतश्चोपलम्भात्। अनियतदेशगतत्वात् तथा [18]तस्योपलम्भो नेच्छात इति चेत्; न; [19]अन्यस्यापि तदुपलम्भप्रसङ्गात्। सामग्रीवैकल्यान्नैवमिति[20] चेत्; सति चक्षुरादौ कथं [21]तद्वैकल्यम्? विप्लवापेक्षमेव [22]तदपि सामग्री न केवलमिति चेत्; न ; वस्तुसति [23]विषये विप्लवस्यानुपयोगात्[24], अन्यथा अन्यत्रापि तदपेक्षणप्रसङ्गात्। वस्तुसत्यपि अलौकिक एव [25]तदपेक्षणं नान्यत्रेति चेत; कथमेवं तस्य विप्लवत्वं वस्तुसद्विषयोपलब्धिनिबन्धनस्य [26]तत्त्वायोगात् अतिप्रसङ्गात्। अनिष्टत्वात् [27]तद्विषयस्येति चेत्; न; विषादिविषयस्य चक्षुरादेरपि [28]तत्त्वापत्तेः। न चानिष्ट एव [29]तस्य विषयः कामिन्यादेरिष्टस्यापि तद्विषयत्वात्। अर्थक्रियाविरहादनिष्ट एवायमपीति[30] चेत्; न; तद्दर्शनस्यैवार्थिनस्तदर्थक्रियात्वात्, [31]गेयस्य श्रवणवत्। न हि गेयस्य श्रवणादन्यदेव फलम्,

---

१ ततो आ०, ब०, प०। २ तैमिरिककेशादिः। ३ -दा तद्गतयाद-आ०, ब०, प०। स्वप्ने। ४ कार्यम् उपाध्यायः ज्ञापको यस्य। ५ शक्तिमत्त्वस्य। ६ शक्तिमत्त्वज्ञानादेव। ७-नस्य साधन-आ०, ब०, प०। ८ चैत्यवन्दनज्ञानादेव चैत्यवन्दननिष्ठस्वर्गप्रापणशक्तिमत्त्वस्य उपपादनापत्तेः। ९ "तस्मात् चोदनैव प्रमाणं धर्मस्य इति स्थितः प्रतिज्ञार्थः।"-बृह० १।१।७। १० चैत्यवन्दननिष्ठस्वर्गप्रापणशक्तिज्ञानम्। ११ बौद्धागमादेव। १२ चैत्यवन्दनाख्यविषयात्। १३ चैत्यवन्दनस्य। १४ कार्ये लेश-आ०, ब०, प०। १५ चैत्यवन्दनस्य। १६ भावि कथं आ०, ब०, प०। परमार्थसन्नेव। १७ परमार्थसद्वस्तुनि। १८ विप्लवविषयस्य। १९ "प्रतिपत्तुः" ता० टि०। २० -कल्यान्नैवमिति आ०, ब०, प०। २१ सामग्रीवैकल्यम्। २२ चक्षुराद्यपि। २३ विषयविद्ध-आ०, ब० प०। २४ -गादन्यत्रापि-आ०, ब०, प०। २५ विप्लवापेक्षणम्। २६ विप्लवत्वायोगात्। २७ विप्लवविषयस्य २८ विप्लवत्वापत्तेः। २९ विप्लवस्य। ३० कामिन्यादिरपि। ३१ गेयश्रवण-आ०, ब०,। गेयस्य श्रवण प०।

तस्यैव प्रीतिरूपस्य तत्फलत्वेन प्रसिद्धत्वात्, तद्वत्कामिन्यादेरपि तद्दर्शनस्यैव [1]प्रीतिरूपस्य फलस्योपपत्तेः नार्थक्रियाविरहादनिष्टत्वमुपपन्नम्। तथा च कस्यचिद्वचनम्–

"[2]ज्ञेयस्वरूपसंवित्तिरेव तत्र क्रिया मता।
चित्रेऽपि [3]दृष्टिमात्रेण फलं परिसमाप्तिवत्॥ [प्र० वार्तिकाल० १।१] इति।

तदपि [3]दर्शनं न कामिन्यादेः अपि त्विन्द्रियादेरेवेति चेत्, कथमतत्कार्यस्य[4] [5]तद्विषयत्वम्? स्वशक्तित इति चेत्, न, असद्विषयत्वस्यापि प्रसङ्गात्, तत्कथं कामिन्यादेरलौकिकत्वेन सत्त्वम्? तन्निर्बन्धे वा तत्कार्यमेव तद्दर्शनमिति कथमर्थक्रियाविरहात्तस्यानिष्टत्वम्, यतस्तदुपलब्धिहेतोः [7]काचोन्मादादेर्विप्लवत्वम्? अविप्लवत्वे च कथं [8]तदपनयने लोकस्य प्रयासः प्रत्युपायपनयनवत्? ततो न वस्तुदर्शने विप्लवापेक्षणं विप्लवस्यैव तत्रानुपपत्तेः। अतत्प्रत्युपायविरेव तत्र सामग्रीति तत्सामग्रीतः परस्यापि समानदेशकालस्य तद्विपरीतस्य च तद्दर्शनं भवेत्, अनियतदेशादेरर्थस्य नियतप्रतिपत्तृवेद्यत्वाप्रतिवेदनात्। ततो न स्वत एव तस्यानियतदेशादित्वम्, अपि त्विच्छानुवर्तनादेव, इच्छयैव तद्भावनालक्षणया परिप्तः कामिन्यादेरुपलम्भात्। अतो न तस्य[9] पारमार्थिकं बहिरर्थत्वम्।

एतदेवाह–

अभिन्नदेशकालानामन्येषामप्यगोचराः।
विप्लुताक्षमनस्कारविषयाः किं बहिः स्थिताः॥४७॥ इति।

किं नैव बहिः स्थिताः? के? विप्लुताक्षमनस्कारविषयाः। विप्लुताक्षविषयाः केशादयः विप्लुतमनस्कारविषयाः कामिन्यादयः। कीदृशास्ते न बहिः स्थिताः? अभिन्नदेशकालानाम् विप्लुतेन सहाभिन्नौ समानौ देशकालौ येषां तेषाम्, इदं कामिन्यादीनां नियतदेशादित्वापेक्षयोक्तम्, अन्येषामपि भिन्नदेशकालानामपि, एतदनियतदेशत्वाद्यपेक्षया प्रतिपादितम्। तेषामगोचरा अविषयाः इति। तात्पर्यमत्र–यदि परमार्थसन्तोऽपि नियतदेशादयस्तदा तेन विप्लुतेन अभिन्नदेशकालानां विषया एव भवेयुः। अनियतदेशादयः पुनरन्येषामपि, तथैव परत्र परमार्थसति दर्शनात्। न चैवम्, अतो न ते बहिर्विषया इति।

तदनेन '[10]स्वप्नान्तिकशरीरं वस्तुसत्' इति प्रत्युक्तम्, वस्तुत्वे तस्य यथा तेनान्येषां दर्शनं तथाऽन्यैरप्यभिन्नदेशकालैस्तस्य दर्शनं भवेत्, अस्वप्नान्तिकशरीरवत्, अन्यथा [11]तस्यापि परैरग्रहणापत्तेः कथं सन्तानान्तरव्यवस्थापनं यत इदं सूक्तं भवेत्–

"बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात्।" [सन्ताना० श्लो० १]

---

१ प्रतीतिफलत्वस्य आ०,ब०। २ दृष्टमा–आ०,ब०,प०। ३ दर्शनं तु च–आ०,ब०,प०। ४ कामिन्याद्यप्रसंस्य। ५ कामिन्यादिविषयत्वम्। ६ –विरहार्थस्य आ०,ब०,प०। ७ काचोमान्द्यादे–आ०,ब०,प०। ८ काचाद्यपनयने। ९ कामिन्यादेः। १० स्वाप्नान्तिकश–आ०,ब०,प०। "यथा स्वप्नान्तिकः कायः त्रासलङ्घनधावनैः। जाग्रद्देहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि"–प्र०वार्तिकाल० १।११। ११ स्वप्नान्तिकशरीरस्य। १२ जाग्रच्छरीरस्यापि।

इत्यादि[1] ।

न तत्रापि परमार्थतः परस्परतो दर्शनम्, व्यवहारमात्रेण तु तदभ्यनुज्ञानमिति चेत्; तस्य स्वप्नान्तिकेऽपि भावात् । अस्ति हि तत्राप्येवं व्यवहारः 'परमहं पश्यामि परोऽपि माम्' इति । तथा च सुप्तोत्थितो यथा परं कथयति 'मया त्वं स्वप्ने दृष्टः' इति तथा परोऽपि ब्रूयात् 'मयापि त्वं दृष्टः' इति । व्यवहारप्रसिद्धमपि तत्र[3] परस्परदर्शनं मिथ्यैवेति चेत्; तच्छरीरदर्शनमपि तथा स्यादविशेषात् ।

किञ्च तच्छरीरस्योपादानम्? अनुपादानस्य वस्तुसत्तानुपपत्तेः, अन्यथा[4] आदिजन्मनोऽपि[5] तथैव[6] तदापत्तेर्न परलोकसिद्धिर्भवेत् । भवतु स्वप्नान्तिकमेव परं तस्योपादानमिति चेत्; तर्हि सन्तानान्तरमेव तदिति कथं तस्य ताडनादौ सुप्तशरीरस्योत्त्रासनादिकम्? न ह्यन्यस्य [7]वटकभक्षणे परस्य पिपासया मरणमुपलब्धम् । सुप्तशरीरमेव तस्योपादानमिति चेत्[8]; [9]तत्तर्हि निःसन्तानं भवेत्, एकस्य सन्तानद्वयोपादानत्वानुपपत्तेः । तदुपपत्तौ वा यथा ततः[10] स्वप्नान्तिके बुद्धीन्द्रियादेः सन्तननं तथोत्तरसुप्तशरीरेऽपीति कथं तस्य सुप्तत्वम् [11]बुद्धयमानत्वात् स्वप्नान्तिकवत् । कथञ्चैवं मात्रादिशरीरमेवापत्यसन्तानस्य स्वसन्तानस्य[12] चोपादानं न भवेद्यतः परलोकसिद्धिरिति दुस्तरोऽयं दोषापातः । तन्न तस्य[13] परमार्थसत्त्वम्, अर्थरूपतया च तत्सत्त्वे कथं निश्छिद्रपिहितेऽपि गर्भगृहादौ तस्य प्रवेशः तदन्यत्र [14]तददर्शनात् । [15]अप्रतिघत्वेनान्यविलक्षणत्वात्तस्येति चेत्; न; अलौकिकार्थवादप्रत्युज्जीवनापत्तेः, अलौकिकस्यैव अप्रतिघ इति नामान्तरप्रतिपादनात्, ततो विजयी मीमांसकः स्यान्न ताथागतः । बोधरूपतया तु तस्य परमार्थत्वमाकारवादप्रतिक्षेपादेव प्रतिक्षिप्तमिति न पुनः प्रतिक्षिप्यते । ततो न वहिरर्थतया स्वप्नान्तिकस्य कामिन्यादेर्वा सत्त्वं वहिरवस्थितस्य नानाप्रतिपत्तृसाधारणत्वप्रसङ्गात् ।

नायं दोषः, [16]तस्यान्तर्देहवृत्तित्वादिति चेत्; इदमेवोल्लिख्य [17]परिहरन्नाह–

अन्तःशरीरवृत्तेश्चेददोषोऽयं न तादृशः ।
तत्रैव ग्रहणात्किं वा रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥४८॥ इति ।

शरीरस्यान्तः **अन्तःशरीरम्**, अन्तःशब्दस्य "पारे मध्येऽन्तः" [शाकटा० २।१।९] इति सूक्तत्वात् पूर्वनिपातः । तत्र वृत्तिर्वर्त्तनं कामिन्यादेस्तस्याः **चेत्** यदि **अदोषो** दोषो न भवति **अयम्** 'अभिन्नदेशकालानाम्' इत्यादिः । तत्रोत्तरमाह–**न** इति । नास्त्यन्तःशरीरवृत्तिः । अत्रोपपत्तिमाह–**तादृशः** कामिन्यादिप्रकारस्य **तत्रैव** वहिरेव, वहिरित्यस्य प्रस्तुतत्वात्, **ग्रहणात्** परिज्ञानात् । न ह्यन्तःशरीरवृत्तौ वहिर्ग्रहणमुपपन्नमिति

---

१ "मन्यते बुद्धिसद्भावं सा न येषु न तेषु धाः ।" इत्युत्तरार्धम् ।–सिद्धिवि० द्वि० परि० । उद्धृतमिदम्–राजवा० पृ० १९ । २ जाग्रच्छरीरे । ३ स्वप्नान्तिके । ४ –थाद्विजन्म–आ०, ब०, प० । ५ मनुपादानतयैव । ६ वस्तुसत्तापरोः । ७ 'दहीवड़ा' इति भाषायाम् । ८ –त्कर्त्तर्हि आ०, ब०, प० । ९ सुप्तशरीरम् । १० सुप्तस्य कामिन्यादेर्वा शरीरात् । ११ बुध्यायमानत्वात् आ०, ब०, प० । १२ ससन्तानस्य आ०, ब०, प० । १३ स्वप्नान्तिकशरीरस्य । १४ तद्दर्श–आ० ब० प० । १५ प्रतिघातरहितत्वेन । १६ स्वप्नान्तिकस्य कामिन्यादेर्वा । १७ परिहारयन्नाह आ० ब० प० ।

भावः । विभ्रमवशादन्तःशरीरवर्तिनोऽपि बहिर्भावेन ग्रहणमविरुद्धमिति चेदत्राह–किं वा किमिव, रचितो निर्मितः अयं परेणोच्यमानः शिलाप्लवः अश्रद्धेयतया शिलाप्लवसमानत्वाच्छिलाप्लव इति । शरीरान्तर्वर्तिनो बहिः प्रतिभास उच्यते । एतदुक्तं भवति–यथा शिलायां निमज्जनमेव श्रद्धेयं गुरुत्वान्न प्लवनं लघुत्वाभावात् तथा कामिन्यादेरन्तरेव प्रतिभासनं श्रद्धेयम् अन्तर्भवनस्य तत्र भावात्, न बहिः बहिर्भवनस्याभावात् । असदपि बहिर्भवनं भ्रान्तिबलात्प्रतिभासत इति चेत्, कथमेवं कामिन्यादिरेव असन् प्रतिभासेत भ्रान्तिबलस्य सम्भवात् ? बाध्यमानतया बहिर्भावस्येव तदसत्त्वस्यापि परिज्ञानात् । तस्मादसन्नेव कामिन्यादिर्नालौकिकोऽर्थो नापि ज्ञानाकार इति ।

स्यान्मतम्–भ्रान्तमपि ज्ञानं न कामिन्यादेर्व्यतिरिक्तमस्ति तदप्रतिवेदनात्, तत्कथं तद्वशादसत एव तस्य परिज्ञानमिति ? बहिर्भावस्य कथम् ? मा भूदिति चेत्, न; दृष्टत्वात् । दृष्टं हि बहिर्भावस्य परिज्ञानम्, 'बहिरयं कामिन्यादिः' इति । न च दृष्टस्यापह्नवः कामिन्यादिज्ञानेऽपि प्रसङ्गात् ।

ननु न ज्ञानादेव तस्य बहिर्भावो न च तस्य तस्माद्व्यतिरेकः तदप्रतिवेदनात् । न चाव्यतिरिक्तस्यैव बहिर्भावो विरोधादिति चेत्, न, कामिन्यादेर्ज्ञानमिति व्यतिरेकस्यापि परिज्ञानात् । मिथ्यैव तत्परिज्ञानं 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इत्यादिवदिति चेत्, कुतस्तस्य मिथ्यात्वम् ? तद्विषयस्य व्यतिरेकस्यासत्त्वादिति चेत्, किं पुनरसतोऽपि प्रतिभासनम् ? तथा चेत् किन्न कामिन्यादेरेवासतः प्रतिभासनं येनास्य ज्ञानाकारत्वकल्पनम् । ततो वस्तुसन्नेव कामिन्यादेर्ज्ञानाद्व्यतिरेक इति बहिरेवासौ न तदाकारः । बहिरपि न सन्नेव बाधकत्वात् । ततो यदुक्तम्–

"आत्मा स तस्यानुभवः स च नान्यस्य कस्यचित् ।
प्रत्यक्षप्रतिवेद्यत्वमपि तस्य तदात्मना ।।" [प्र०वा० २।३२६] इति,

तत्प्रतिविहितम्, तदनुभवस्य तदर्थान्तरत्वेन 'आत्मा' इत्यादेरयोगात्, अर्थान्तरस्यैवानुभवस्यासौ वेद्यतया सम्बन्धी इति 'स च' इत्यादेरसम्भवात् । प्रत्यक्षप्रतिवेद्यत्वमपि तस्यार्थान्तरवेदनानुभवान्न पुनः स्वयमनुभवात्मत्वादिति 'प्रत्यक्ष' इत्यादेरप्यनुपपत्तेः । यदप्युक्तम्–

"नीलादिरूपस्तस्यासौ स्वभावोऽनुभवश्च सः ।
नीलाद्यनुभवः ख्यातः स्वभावानुभवोऽपि सन् ।।"[प्र०वा० २।३२८] इति,

तदपि न सुभाषितम्, नीलादेरपि कामिन्यादिवदतदाकारेणैव ज्ञानेन परिज्ञानात्, तस्य

१ कामिन्यादिरेव आ०, ब०, प० । २ कामिन्याद्यपरत्वस्यापि । ३ भ्रान्तिवशात् । ४ कामिन्यादेः । ५ दृष्टं बहि–आ०, ब०, प० । ६ कामिन्यादेः । ७ भेदस्यापि । ८ यतस्य आ०, ब०, प० । ९ ज्ञानाकारः । १० –न्तरस्यैवास्यानुभ–आ०, ब०, प० । ११ सम्बन्धीति सचेदित्या–आ०, ब०, प० ।

तत्स्वभावत्वानुपपत्तेः । कथमतदाकारेण तद्ग्रहणम् ? प्रतिबन्धाभावेन सर्वग्रहणप्रसङ्गादिति चेत् ; न; प्रतिबन्धस्य शक्तिनियमलक्षणस्य प्रतिपादितत्वात् , कथमन्यथा विप्लुताकारग्रहणम् ? न हि तत्र तादात्म्यम् , विप्लुतेनाऽविप्लुतस्य तदयोगात् । नापि तस्मादुत्पत्तिः, तस्याशक्तत्वात् समकालत्वाच्च । ततः शक्तिनियमादेव तत्परिज्ञानम्[1], तद्वन्नीलादेरपि इति । न च विप्लुताकारज्ञानं नास्त्येव; स्वयमेव तदभ्युपगमात् । अत एवोक्तम्–

"अवेद्यवेदकाकारा यथा भ्रान्तिर्निरीक्ष्यते ।
विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ॥" [प्र०वा० २।३३०] इति ।

यतोऽपि ग्राह्यादिभेदैर्विफलवन्ति[2] (विप्लववन्ति) रीक्षणं ततोऽपि न वस्तुतस्तन्निरीक्षणम् ; स्वरूपमात्रविषयत्वात् । अन्येन तु तद्विषयत्वं तत्रोपकल्प्यत इति चेत् ; सिद्धं तर्हि तदन्यस्य तद्विषयत्वम् अतद्विषयेण तदुपकल्पनायोगात् । तत्राप्यन्यतस्तदुपकल्पनायामनवस्थानदोषात् । ततो दूरं प्रपलायितेनापि स्वत एव कुतश्चित् तद्विप्लवस्य परिज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् , तद्बहिर्भूतस्यैव तच्छक्तिनियमादिति च ।

ततो यदुक्तम्—

"संवेदनेन वाह्यत्वमतोऽर्थस्य न सिद्ध्यति ।
संवेदनाद्बहिर्भावे स एव तु न सिद्ध्यति ॥
यदि संवेद्यते नीलं कथं वाह्यं तदुच्यते ? ।
न चेत्संवेद्यते नीलं कथं वाह्यं तदुच्यते ? ॥"[प्र० वार्तिकाल० ३।३३१] इति;

तत्प्रतिक्षिप्तम् ; विप्लवेऽपि समानत्वात् । तथा हि–

संवेदनेन वाह्यत्वं विप्लवस्य न सिद्ध्यति ।
संवेदनाद्बहिर्भावे स एव तु न सिद्ध्यति ॥ ७५३ ॥
विप्लवो यदि वेद्येत कथं वाह्यः स उच्यते ।
विप्लवश्चेन्न वेद्येत कथं वाह्यः स उच्यते ॥ ७५४ ॥ इति ।

ततो यदि सत्यपि वेदने विप्लवस्य वाह्यत्वमविरुद्धं नीलादेरपि स्यादविशेषात् । यद्येवं नीलादिज्ञानमपि वितथावभासं ज्ञानत्वात् कामिन्यादिज्ञानवदिति चेत्; कथं पुनः साधर्म्यमात्रस्य गमकत्वम् , तत्पुत्रत्वादावपि प्रसङ्गात् । विपक्षेऽपि भावान्नैवं चेत् ; ज्ञानत्वस्य विपक्षव्यावृत्तिः कुतोऽवगता ? अनुपलम्भादिति चेत् ; न ; ततस्तदवगमायोगात्[3][4] , वक्तृत्वादावपि तत एव तदवगमप्रसङ्गात्[5] । न हि तस्यापि[6] विपक्षे सर्वज्ञादावुपलम्भोऽस्ति । तथा च 'सुगतो न सर्वज्ञो वीतरागो वा वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्; इत्यस्यापि गमकत्वं भवेत् । अनुपलम्भेऽपि विरोधाभावात्[7] सन्दिग्धैव तस्य[8] विपक्षव्यावृत्तिरिति[9] चेत्; किं पुनर्ज्ञानत्वस्य विपक्षेण विरोधः ? तथा चेत् ; कोऽसौ

१ विप्लुतपरिज्ञानम् । २ –भेदफल–आ०,ब०,प० । ३ अनुपलम्भात् । ४–तदपगमा–ता० । विपक्षव्यावृत्तिज्ञानाभावात् । ५ तदपगमप्र–ता० । ६ वक्तृत्वस्य । ७ विपक्षविरोधाभावात् । ८ वक्तृत्वस्य । ९ –क्षाव्यावृ–ता० ।

विपक्षः ? वितथावभासनिवृत्तिमात्रमिति चेत्, न, तस्य तुच्छस्याप्रतिपत्तेः[1]। अवितथावभासित्वमिति चेत्, तदपि यदि वस्तुसदेव कथं तेन[2] तस्य[3] विरोधः ? न ह्यज्ञानस्य तदवभासित्वमुपपन्नम्, [ज्ञान] कल्पनावैफल्यापत्तेः[4]। असदेव कल्पनारोपितत्वादिति चेत्, तेनापि कस्तस्य विरोधः ? सहानवस्थानमिति चेत्, न, सहैव तदवस्थानात्। सत्येव संज्ञाने[5] तत्कल्पनस्योपपत्तेः, निरधिष्ठानस्य तस्यायोगात्। परस्परपरिहार इति चेत्, न, ज्ञानत्वस्याज्ञानत्वेनैव तद्भावात्[6] न सम्यगवभासित्वेन। तद्विरुद्धव्याप्तत्वात्तेनापि[7] तस्य तद्भावः[8], सम्यगवभासित्वविरुद्धं हि मिथ्यावभासित्वं तस्य परिहारेणावस्थानात्, तेन च व्याप्तं ज्ञानत्वम्, अतस्तस्यापि नैतद्भाव इति चेत्, कुतस्तस्य[9] तद्व्याप्तत्वम्[10] ? तद्विपर्ययविरोधादिति चेत्, न, परस्पराश्रयात्—तद्विपर्ययविरोधात्तस्य तद्व्याप्तत्वम्, ततश्च तद्विपर्ययविरोध इति। कामिन्यादिविज्ञानेषु सत्येव तस्मिन्[11] तस्य[12] दर्शनात्तद्व्याप्तत्वनिश्चय इति चेत्, न रथ्यापुरुषादौ सत्येव किञ्चिज्ज्ञत्वादौ वक्तृत्वादेरपि दर्शनात् तस्यापि[13] तद्व्याप्तत्वनिश्चयापत्तेः। अतस्तस्यापि[14] विरोधबलादेव विपक्षव्यावृत्तिसम्भवात्कथं सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं यत्र गमकत्वं भवेत्। तथा चासङ्गतमेतद्—

"उक्त्यादेर्दोषसङ्क्षयः।
नेत्युक्ते व्यतिरेकोऽस्य सन्दिग्धो व्यभिचार्यतः॥" [प्र० वा १।१४४] इति।

विरोधबलादेव विपक्षव्यावृत्तिनिर्णये तत्र सन्देहानुपपत्तेरव्यभिचारित्वस्यैव सम्भवात्। ज्ञानप्रकर्षतारतम्येऽपि वक्तृत्वादेरपकर्षतारतम्यानवलोकनात्। अत्यन्तप्रकर्षप्राप्तेऽपि[15] ज्ञाने तत्सम्भावनादविरोध एव तेन[16] तस्य[17] तदवगमोप इति चेत्; न तर्हि सत्येव तस्मिन् तद्दर्शनाद्व्याप्तत्वनिर्णयः, सत्येव किञ्चिज्ज्ञत्वादौ दृष्टस्यापि वक्तृत्वादेस्तद्विपक्षेऽपि सम्भावनात्। तथा च कथं ज्ञानत्वस्यापि वितथावभासित्वेन व्याप्तिर्यतस्तद्व्याप्तत्वद्विपर्ययेण[18] तस्य[19] विरोधः स्यादिति तद्वत्तस्यापि सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनागमकत्वम्।

नन्वत्र सम्यगवभासित्वमेव विपक्षः, तच न ज्ञायते किमिदमवभासस्य सम्यक्त्वमिति ? वस्तुतद्विषयत्वमिति चेत्, विषयस्यापि कुतो वस्तुसत्त्वम् ? न प्रतिभासनात्, तस्यावस्तुसत्यपि कामिन्यादौ भावात्। बाधविरहविशिष्टादिति चेत्, तद्वैशिष्ट्यस्यैव कुतोऽवगमः ? बाधानुपजननादिति चेत्, न, तदनुपजननस्योत्पत्तिसमये कामिन्यादिज्ञानेऽपि भावात्। पश्चादपि भाविनः ततस्तदवगमः[20] इति चेत्, न, कामिन्यादिज्ञानेऽपि पश्चादपि तत्सम्भवात्। न सर्वदा पश्चात्तत्र तत्सम्भव इति चेत्, न, नीलादिज्ञानेऽपि समानत्वात्। न हि तत्रापि सर्वथा पश्चात्तत्सम्भवः, चिरकालानुपजातबाधस्यापि पुनः क्वचिद्बाधोपदर्शनात् शास्त्रार्थविपर्ययज्ञानवत्।

1–स्याप्रतिपत्तिरिति वि–आ०, ब०, प०। 2 अवितथावभासित्वेन। 3 ज्ञानत्वस्य। 4 यदि अवितथावभासित्वमसदेव। 5 –न ज्ञाने आ०, ब०, प०। 6 –तदभाव– आ०, ब०, प०। 7 परस्परपरिहारलक्षणाभावात्। 8 सम्यगवभासित्वेनापि। 9 ज्ञानत्वस्य। 10 परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः। 11 ज्ञानत्वस्य। 12 मिथ्यावभासव्याप्तत्वम्। 13 मिथ्यावभासित्वे। 14 ज्ञानत्वस्य। 15 असर्वज्ञत्वव्याप्तत्व। 16 वक्तृत्वादेरपि। 17 –ति विशे–आ०, ब०, प०। 18 सर्वज्ञरूपविपक्षेण। 19 वक्तृत्वादेः। 20 अवितथावभासित्वेन। 21 ज्ञानत्वस्य। 22 बाधानुपजननात् वैशिष्ट्यावगमः। 23 बाधानुपजननसम्भवः।

स्य सामान्यन्तप्रतिरूपकस्य प्रथमान्तस्य भावात् । किञ्च वितथप्रतिभासिनी भवत्येव इति एवं जडाः व्यभिचारदोषपरिज्ञानविकलास्तथागताः सम्प्रतिपेदिरे सम्भूय प्रतिपन्ना इति ।

यत्पुनरेतन्मण्डनस्य–

“प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा मतः ।
भेदो जलतरङ्गाणां भेदाद्भेदः कलावतः ॥” [ब्रह्मसि० का० ३१]

“अभेदानुविद्धत्वात्प्रत्येकं विश्वस्य भेदो मृषा यथा जलतरङ्गेषु चन्द्रमसः, तत्र हि प्रत्येकं चन्द्रमा इत्यन्वयः । तथा विश्वस्य भेदेऽपि प्रत्येकमिदं ‘सत् अर्थो वस्तु’ इत्यभेदान्वयः, तदभेदस्तु यद्यपि न मृषा वनमित्यभेदाऽनुगत[म]श्च न तु प्रत्येकम् । न हि प्रत्येकं तरुषु वनमिति बुद्धिरतो न तेन व्यभिचारः । एतदर्थमेव प्रत्येकमित्युक्तम्” [ब्रह्मसि० व्या०] इति, तदपि तस्य जडतमसो विलसितमेव, तथा हि– किमिदं भेदस्याभेदानुविद्धत्वम् ? एकस्वभावान्वय इति चेत्, न, जलतरङ्गचन्द्रेष्वपि तदभावात्, तत्प्रतिपत्तिवैकल्यात् । न हि तत्राप्येकतरङ्गचन्द्र एव परापरप्रतिपत्तिरस्ति युगपन्नानारूपतयैव तेषां प्रत्यवभासनात् । ‘चन्द्रश्चन्द्रः’ इत्यनुगमव्यवहारस्तु तत्र सादृश्यनिबन्धन एव नैकत्वायत्तः, तेषां परस्परं सदृशतयैव प्रतिपत्तेः । भवतु सादृश्यमेव तत्राभेदानुगम इति चेत्, न तस्यापि गमकत्वम्, धर्मिदेशादिविज्ञानैर्व्यभिचारात् । न हि तेषु ‘इदं ज्ञानमिदं ज्ञानम्’ इति प्रत्येकमनुगमो नास्ति, सुप्रसिद्धत्वात् । न च तेषां मृषात्वम्, तत्कथमयं व्यभिचारी हेतुः ? तान्यपि मृषेति चेत्, कथं तेभ्यस्तात्त्विकं भेदमृषात्वानुमानम् ? अमृषात्वेन कल्पनादिति चेत्, न, माणवकादप्यमृषापावककल्पया कल्पितात्तात्त्विकस्यैव दाहादेः प्रसङ्गात् ।

ननु कल्पितोऽपि च अहिदंशो मरणकार्याय कल्पते प्रतिसूर्यकश्च प्रकाशकार्याय, तद्वत्कल्पितरूपेभ्य एव तेभ्यो ज्ञानेभ्यः किन्न तात्त्विकं तदनुमानमिति चेत् ? तैस्तर्हि मरणादिभिर्व्यभिचारः साधनस्य । तेषाम् ‘इदं मरणकार्यम्, इदं प्रकाशकार्यम्’ इति प्रत्येकमभेदानुगमे सत्यपि मृषात्वाभावात् । मृषैव तान्यपीति चेत्, न, यस्मात्–

अमृषाकार्यनिष्पत्तौ मृषारूपाभिमिस्तवः ।
दृष्टान्तत्वं कथं तेषां मृषैव यदि तान्यपि ॥ ७५५ ॥
प्रत्येकप्रसिद्धितस्तेषाममृषात्वेन संमति ।
तेनैव व्यभिचारित्वमपि कस्मान्न गृह्यते ॥ ७५६ ॥
वस्तुतो व्यभिचारित्वं तदभावे प्रसिद्ध्यति ।
दृष्टान्तत्वं कथं तस्माद्वस्तुभूतं प्रसिध्यति ॥ ७५७ ॥

१ तत्र तर्हि जा०, ब०, प० । २ तदर्थोऽनसित्वमे–जा०, ब०, प० । ३ –त्वभेदोऽनुग–जा०, ब०, प० । "वनमित्यभेदानुगमश्च"–ब्रह्मसि० व्या० । ४ तेषां तत्प्रत्यय–जा०, ब०, प० । ५ धर्मिदेशादिविज्ञानानि । ६–सूर्यकश्च जा०, ब०, प० । ७ धर्मिदेशादिविज्ञानेभ्यः । ८ मरणादीन्यपि । ९ दृष्टान्तत्वम् ।

वस्तुवृत्त्या तदप्येतदवस्तु यदि वर्ण्यते ।
अनुमानं कथं वस्तु तद्बलेनोपकल्पितम् ॥ ७५८ ॥
विश्वभेदमृषात्वस्य यतस्तस्मात्र्यवस्थितिः ।
न ह्यवस्तुवशात्किञ्चिन्मेयं शक्यनिरूपणम् ॥ ७५९ ॥
तत एवान्यथा विश्वभेदयाथात्म्यनिर्णयात् ।
कुतश्चित्तन्मृषावादः क्वास्पदं प्रतिपद्यताम् ? ॥७६०॥
अवस्तु न हि नामेह त्वयैव सुलभं भुवि ।
तत्कृता तत्त्वनिर्णीतिर्यत्त्वयैवेति कल्प्यताम् ॥ ७६१ ॥

तस्माद्वस्त्वेवानुमानम् अन्यथा ततोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन साध्यव्यवस्थापनानुपपत्तेः । अतस्तत्सत्यत्वनिदर्शनं मरणादिकमपि वस्त्वेवेत्युपपन्नस्तेन व्यभिचारः साधनस्य ।

विद्याऽविद्याभेदेन च । न हि विद्याविद्ययोरभेदः । न च विद्याविद्ययोरियमियञ्चेत्यादिः प्रत्येकमनुगमो नास्ति मृषात्वाभावेऽपि इति । तद्भेदस्यापि मृषात्वमेवेति चेत् ; कुत इदानीं संसारः ? तन्निबन्धनस्य पृथगविद्यारूपस्याभावात् ? कल्पितादिति चेत् ; कुतस्तत्कल्पनम् ? प्राच्यादेव तद्रूपादिति चेत् ; न; तस्यापि वस्तुनो विद्यापृथग्भूतस्याभावात् । तदपि कल्पितमेवेति चेत् ; न; 'कुतः' इत्यादेः प्रसङ्गादनवस्थानात् । नायं दोषः, अनादित्वात्तत्प्रबन्धस्येति चेत् ; तस्य तर्हि वस्तुन एव विद्यापृथग्भावे तद्वस्त्वं व्यभिचारित्वम् । अपृथग्भावे तु स एव प्रसङ्गः 'कुत इदानीं संसारः' इत्यादि । पुनरपि 'कल्पितात्' इत्यादिवचने 'कुतस्तत्कल्पनम्' इत्यादिप्रसङ्ग आवर्त्तमानो महान्तमनवस्थादोषमुपनिपातयेत् । तस्मादतिदूरमभिगत्यापि तस्य तत्पृथग्भावस्तात्त्विक एव वक्तव्यः । कथमन्यथा अयमाम्नायः–

"विद्यां चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह" ॥ [ईशा० श्लो० ११] इति ।

"विद्याविद्ये त्ये (द्वे) अप्युपायोपेयभावात् सहिते" [ब्रह्मसि० व्या० पृ० १३] इति च तद्विवरणं मण्डनं (नस्य); निरवकाशत्वात् । तथा हि–

यदि विद्यापृथग्भावो वस्तुनः कल्पितस्य वा ।
तत्प्रयत्नस्य नास्त्येव क्व प्रतिष्ठा सह श्रुतेः ॥ ७६२ ॥
सत्येव यत्पृथग्भावे तत्प्रयोगस्य दर्शनम् ।
सह चैत्रेण मैत्रोऽयं स्थूल इत्यादिषु स्फुटम् ॥ ७६३ ॥

---

१ अतस्तत्त्वेनि–आ०, ब०, प० । २ विद्याऽविद्याभेदस्यापि । ३ अविद्याद्यकल्पनम् । ४ अविद्यारूपात् । ५ अविद्याप्रन्थानस्य । ६ अविद्यारूपस्य । ७ विद्यापृथग्भावः । ८ मैत्रा० ७।९ । मयसन्त० ३।१ । ९ विद्याविद्येत्ये प० । विद्याविद्येत्वे आ०, ब० । १० मण्डनस्तुनि–आ०, ब०, प० । 'मण्डनम्' इति पाठे 'मण्डनकृतम्' इत्यर्थो ग्राह्यः । ११ अविद्याप्रयत्नस्य । १२ 'यस्तद्वेदोभयं सह' इत्यत्रोक्तस्य सहशब्दस्य । १३ सहशब्दप्रयोगस्य । १४ समार्थे–सु० ।

उपायोपेयभावश्च (श्चाऽ) पृथग्भावे कथं भवेत् ? ।
सद्विद्याविद्ययोर्येन [२]सुमण्डं मण्डनोदितम् ॥ ७६४ ॥

स्यान्मतम्—न तस्यै विद्यादेः पृथक्त्वं नाप्यपृथक्त्वम्, अवस्तुत्वात् । वस्तुन एव हि कस्यचित्कुतश्चित्पृथक्त्वापृथक्त्वाभ्यां व्यपदेशो नावस्तुनः । तदयं ताभ्यामनिर्वचनीयैवेति, तदपि न सङ्गतम्, यस्मात्—

अयमेव च विद्यायाः स्वभावो यदि कल्प्यते ।
साप्यविद्यैव विद्याया वार्तापि क्वोपलभ्यताम् ? ॥ ७६५ ॥
विद्यायाश्चेत्स्वभावोऽन्यो वास्तवः [५]परिपठ्यते ।
अविद्यातः पृथग्भावः कथमेवं निषिध्यताम् ? ॥ ७६६ ॥
स्वभावभेद एवाय पृथग्भावः प्रसिद्धिमान् ।
भावेषु यस्मात्तन्नेयं चर्चितार्था वचोगतिः ॥ ७६७ ॥
कथं चैवं पृथग्भावस्तस्याविद्यान्तरादपि ।
[६]तद्रूपेऽस्यापि यत्तस्या वस्तुत्वं तदवस्थितम् ॥ ७६८ ॥

मा भूदिति चेत्, कथमिदानीं तस्याम्नायोपजनितात्मैकत्वविज्ञानलक्षणस्य प्रपञ्चरूपमृत्युं प्रति प्रत्यनीकतया तदभिसरणत्वम् ? यतो [७]इदं स्वाम्नातं भवेत्—

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" [ईशा० श्लो० ११] इति ।

तस्येव मिथः पृथग्भावे विद्यादेर्विद्यान्तरोपशमनादेरुपलम्भात् । अवस्तुत्वतोऽपि अविद्यान्तरपृथग्भावे तद्वदेव विद्यातोऽपि भवेत् अविशेषादित्युपपन्नो व्यभिचारः साधनस्य, विद्याविद्ययोरस्याभूतत्वेऽपि तद्भावात् । ततो मण्डनादिभिरपि व्यभिचारदोषमजानानैरेव प्रकृतमनुमानमुपदर्शितमित्यावेदयति 'विप्लुताक्षा' इत्यादिना ।

विविधं प्लुतं प्लवनं तरङ्गादिषु यस्य स विप्लुतो जलचन्द्रादिः, तमक्ष्णोति विषयत्वेन व्याप्नोतीति **विप्लुताक्षा बुद्धिः** यथा येन तद्विषयस्याभेदानुविद्धत्वादिना प्रकारेण **वितथप्रतिभासिनी** मृषाचन्द्रादिभेदोपदर्शिनी, तथा तेनैव प्रकारेण **सर्वत्र बुद्धिः किन्नेति जडाः** मन्दधियः **सम्प्रतिपेदिरे** । अत्र तु तेषां व्यभिचारदोषापरिज्ञानात् अविद्यापरिकल्पितात्मवादा प्रतिपत्तव्यम् ।

यत्पुनरेतत् कामिन्यादिबुद्धिवत् तरङ्गचन्द्रादिवच्चेति निदर्शनम्—तत्रापि वितथप्रति-

१ –चारेण पृ–स० । २ सुष्ठु मण्डनं समर्थनं यस्य तत् सुमण्डम् । ३ अविद्याप्रपञ्चस्य । ४ "नाविद्या ब्रह्मणः स्वभावः, नार्थान्तरम्, नात्यन्तमसती, नापि सती, एवमेवेयमविद्या माया मिथ्या प्रतिभास इत्युच्यते । स्वभावश्चेत् कस्यचित्, अन्योऽनन्यो वा परमार्थ एवेति नाविद्या, अत्यन्तासत्त्वे खपुष्पसदृशी, न व्यवहाराङ्गं स्यात्, तस्मादनिर्वचनीया"—ब्रह्मसि० पृ० ९ । ५ परिपठ्यते ता० । ६ तद्रूपसमतास्य प० । तदपेक्षापि यतस्य ता०, प० । ७ इदं चाम्नातं ता०, प०, प० ।

भासित्वस्य मृषात्वस्य च यतः प्रतिपत्तिः, तस्य चेत् अवितथप्रतिभासित्वं कथन्न व्यभिचारः ? सत्यपि ज्ञानत्वे वितथप्रतिभासित्वस्य, तद्विषये च मृषात्वे सत्यपि इदमिदमित्यभेदानुगमे मृषात्वस्याभावात् । वितथप्रतिभासित्वे तु ततः कथं तत्सिद्धिः तद्विपर्ययवत् । अतो निदर्शनस्य साध्यवैकल्यमित्यावेदयन्नाह–

प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीतिमतिलङ्घयेत् ।
वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥५०॥ इति ।

प्रमाणम् अवितथनिर्भासं ज्ञानम् **आत्मसात्कुर्वन् प्रतीतिं** यथार्थपरिच्छित्तिम् **अतिलङ्घयेत्** प्रत्याचक्षीत । सौगतो ब्रह्मवादी वा । क्व तामतिलङ्घयेत् ? **वितथा** मिथ्याभिमता ये **ज्ञानानां सन्तानविशेषाः** कामिन्यादिविषयाः तच्च चन्द्रादिविषयाश्च प्रवाहभेदाः तेषु, **न केवलं** न प्रमाणमन्तरेण, तदनतिलङ्घनस्यापि तथा प्राप्तेः । न च तदात्मसात्करणं परस्योपपन्नम्, व्यभिचारदोषस्य तत्रोपदर्शितत्वात् । ततो निदर्शनस्य साध्यवैकल्यादपि न प्रकृतानुमानयोर्गमकत्वमित्यभिप्रायो देवस्य ।

अपि च, यदि मिथ्यावभासनमेव ज्ञानम्, कुतः सन्तानान्तराणां प्रतिपत्तिर्यतस्तेषामनित्यत्वादिर्धर्मोऽवबुध्येत ? कुतो वा जीवान्तराणां यतस्तेषामप्यात्मा विभिन्नत्वादिस्वभावो विभाव्येत, धर्मपरिज्ञानस्य धर्मिपरिज्ञाननान्तरीयकत्वात् । मिथ्याज्ञानाच्च न यथावत्तत्प्रतिपत्तिः, बहिरर्थतत्प्रपञ्चयोरपि तत एव तथा तत्प्राप्तेः अयथावदेव तत्प्रतिपत्तिः, तेषामपि बाह्यभेदवदपरमार्थत्वात्, शालादिसन्तानान्तरजीवान्तरभेदप्रतिभासस्तु विपरीतवासनाबलादविद्याबलाद्वा परिकल्पित[6] एव । तदुक्तम्,—

"अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥
मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः ।
अन्यथैवावभासन्ते तद्रूपरहिता अपि ॥" [प्र० वा० २।३५४, ५५] इति ।
"यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरपि पश्यति ॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रतीयते ॥" [बृहदा० भा० वा० ३।५।४३, ४४] इति च ।

तदेवाह—

अद्वयं द्वयनिर्भासं सदा चेदवभासते । इति ।

---

१ ज्ञानात् । २ ज्ञानत्वेन बि–आ०, ब०, प० । ३ वितथप्रतिभासित्वसिद्धिः । ४ मिथ्याज्ञानादेव । ५ अयथावधृततत्प्र–आ०, ब०, प० । अयथावदेतत्प्र–स० । ६ –त एतदु–आ०, ब०, प० ।

अद्वयं संवेदनतत्त्वम् आत्मतत्त्वञ्च द्वयनिर्भासं मायादिभेदनिर्भासम् । इव शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । तदनिर्भासे तन्निर्भासवचनादग्निर्माणवक इत्यादिवत् । कदा तद्द्वयम् ? सदा सर्वकाले भेदप्रतिभासदशायां तदुपसंहारदशायाञ्चेति चेत् शब्दः पराकूतद्योतने । तत्रोत्तरमाह–

न स्वतो नापि परतो भेदपर्यनुयोगतः ॥५१॥ इति ।

तस्य खलु संविदद्वैतस्य स्वतो वाऽवभासनं परतो वा गत्यन्तराभावात् ? स्वत एव "स्वयं सैव प्रकाशते" [प्र०वा०२।३२७] इति वचनादिति[1] चेत्, कथमेवमात्मतत्त्वस्यापि स्वतोऽनवभासनम् ? "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति" [बृहदा० ४।३।९,१४] इत्यादेर्वचनात् ।

ननु आत्मा नाम नित्यः । नित्यत्वञ्च कालत्रयानुपातात् । तत्र मध्यकालानुपातिनो रूपात् कालान्तरानुपातिनो रूपस्य यदभेदः, तावन्मात्रमेव तदिति कथं नित्यत्वम् ? भेदे स्वपरापरं संवेदनमेव तदिति नासावात्मा नाम । न चात्मन्यद्वैते कालसम्भवो यतस्तत्त्रयानुपातान्नित्यत्वम् । तन्न तस्य स्वतोऽवभासनम् । अवभासनाच्च[2] तदस्तित्वे भेदस्यापि स्यात्[3] तदविशेषादिति चेत्; न, संविदद्वैतेऽपि समानत्वात् । न हि[4] तस्यापि क्षणमात्रमग्नस्य निरंशस्यावभासनम् । न च वेदाद्वैते कालसम्भवो यतस्तत्क्रमानुपाताभावादनित्यत्वं भवेत् ? अवभासनाच्च तदस्तित्वे ग्राह्यादेरपि स्यात्तदविशेषात् । बाधकाभावाभावाभ्यां विशेष इति चेत्, न, आत्मप्रपञ्चप्रतिभासयोरपि तत एव तदुपपत्तेः । कथं पुनः प्रपञ्चप्रतिभासस्य बाधनम् ? कथं च न स्यात् ? तत्प्रतिभासस्यात्मप्रतिभासाद्भिन्नत्वात् "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" [ ] इत्याम्नायादिति चेत्, ग्राह्यादिभेदप्रतिभासस्यापि कथम् ? तत्प्रतिभासस्यापि संवित्प्रतिभासादन्यत्वस्यानभ्युपगमात् । वस्तुतो नास्त्येव तत्प्रतिभासो विचारासहत्वात् केवलं कल्पनामात्रतस्तदभ्युपगमः तत एव तस्य बाधोपपत्तिरपीति चेत्; न, प्रपञ्चप्रतिभासेऽपि समानत्वात् । न हि प्रपञ्चस्यापि वस्तुतः प्रतिभासनम्, प्रमाणविरहात् । केवलं मायानिबन्धन एव तदभ्युपगमः, "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" [बृहदा० २।५।१९] इत्यादिवचनात् । तत एव तस्यापि बाधोपपत्तिरिति[9] । तन्न संविदद्वैतस्य स्वतोऽवभासनं पुरुषाद्वैतेऽपि[10] तदसदनुपपत्तेः । न चेदमुचितम्, उभयप्रतिभासनसद्भावे वस्तुमति[11] अद्वैतस्यापत्तेरिदमेवाह–

न स्वतः इति । न स्वतोऽद्वयस्यावभासनम् । कुतः ? भेदेन "तदुभयाद्वयरूपेण पर्यनुयोगतः अद्वयस्य प्रतिविधानात् इति ।

परतस्तदवभासनेऽप्याह–'नापि परतः' इति । कुतः ? भेदपर्यनुयोगतः सति परस्मिन् भेदस्यापद्यमभावात्[12] तेन चाद्वैतप्रतिविधानादिति ।

---

१ भेदपक्षः । २ आत्मनिरपवादित्वे । ३ भवभासमानविशेषात् । ४ तस्यापि क्षण–आ०, ब०, प० ५ संविदद्वैते । ६ "आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्"–बृहदा० ४।५।६ । ७ ... बृ० ४।५।८ । ८ ग्राह्यादिभेदप्रतिभासः । ९ ...भ्युपगमः । १० –नि चेत् आ०, ब०, प०, ... प्रतिभासमानत्वात् । ११ इति ... ब०, प०, म० । १२ तदुभयाद्वय–आ०, ...–आ०, ब०, प०,

स्यान्मतम्–न [1]भेदेन तस्य प्रतिविधानं [2]तस्यावस्तुत्वात्। न ह्यवस्तु वस्तुरूपप्रतिविधानाय समर्थं तरङ्गचन्द्राद्विचन्द्रादेरिति ; तदसङ्गतम् ; आत्माद्वैतस्याप्येवं परतः प्रतिभासप्रसङ्गात्, परस्याप्युक्तन्यायेन[3] [4]तद्व्यापत्तिनिबन्धनत्वाभावात्। कथं पुनः परतस्तस्य[5] प्रतिभासः ? कथं च न स्यात् ? परस्याविद्यामयत्वात्, अविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानत्वात्–"अविद्या माया मिथ्याप्रतिभासः" [ब्रह्मसि० पृ० ९] इति मण्डनेन तदर्थाभिधानात्। न च मिथ्याज्ञाने तत्त्वप्रतिभासनं [6]तज्ज्ञानत्वविरोधात्। तत्त्वं च तदद्वैतं तस्यैव परमनिःश्रेयसत्वेन परैरभ्युपगमात्। "तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात्" [बृहदा० १।४।८] इत्याम्नायादिति चेत् ; न ; संविदद्वैतस्यापि तद्वद्वस्तुतोऽनवभासनापत्तेः परस्य विकल्पत्वेनावस्तुप्रतिभासित्वात् "विकल्पोऽवस्तुनिर्भासः" [ ] इति वचनात्। न चावस्तुवेदने वस्तुप्रतिभासनं [7]तद्वेदनत्वविरोधात्। वस्तु [8]च तदद्वैतं तस्यैव काष्ठागतनिःश्रेयसत्वेन भवद्भिः प्रतिष्ठापनात्, "यद्यद्वैते न तोषोऽस्मि मुक्त एवास्मि सर्वथा" [प्र० वार्तिकाल० १।३६] इति वचनात्। सत्यम् ; न परतस्तत्प्रतिभासनं रागादिभेदसमारोपव्यवच्छेदस्यैव ततो भावात्। सति हि तद्व्यवच्छेदे निर्व्याकुलं स्वत एव तदवभासनं तद्व्याकुलत्वहेतोस्तदारोपस्याभावादिति चेत् ; न ; आत्मन्यपि समानत्वात्। न हि तस्यापि परतः प्रतिभासनम्। तत्रापि परस्याम्नायादेः प्रपञ्चारोपनिवारण एव व्यापारात्, तन्निवारणे च स्वत एव तस्य निर्व्याकुलमवभासनं तद्व्याकुलत्वनिबन्धनस्य तदारोपस्याभावात्। तदुक्तम्–

"आम्नायतः प्रसिद्धिश्च कवयोऽस्य प्रचक्षते ।
भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण च निरूपणम् ॥" [ब्रह्मसि० १।२] इति ।

[10]कः पुनस्तत्प्रपञ्चस्य विलयो नाम ? नीरूपं निवृत्तिमात्रमिति चेत् ; न, [11]तस्यानिरूपितरूपस्य कार्यत्वानुपपत्तेः कारणत्ववत्, अन्यथा तस्यैव सकलप्रपञ्चकारणत्वेन ब्रह्मभावोपपत्तेः तद्रूपस्य निरतिशयानन्दादिरूपस्य ब्रह्मणः परिकल्पनमप्रयोजनमेव, तत्प्रयोजनस्यान्यत्रैव परिसमाप्तत्वात्। तत्र तन्निवृत्तिमात्रं तद्विलयः।

नापि भेदप्रतिभासकालुष्यपरिशुद्धो[12] जीवस्वभावः, तस्य ब्रह्मणो भेदे [13]तस्यैव तद्द्वारेण निरूपणापत्तेर्न ब्रह्मणः। ब्रह्मणश्च तथा निरूपणमभिप्रेतम् "नमस्यामः प्रजापतिरित्य[14]नन्तमाम्नायते" [ ] इत्यादिवचनात्। नास्त्येव [15]तस्य [16]तस्माद्भेदः "अनेन जीवेनात्मना" [छान्दो० ६।३।२] इति जीवब्रह्मणोरभेदस्याम्नायादिति चेत् ; न ; ब्रह्मवत्तस्यापि[17] नित्यपरिशुद्धिप्रसङ्गात्, अभेदस्यैवंलक्षणत्वात्। अभेदेऽपि मुक्तवदति-

१ भेदेन । २ भेदस्य । ३ परो यतोऽवस्तु अतः न तेन अद्वैतबाधेत्यादिन्यायेन । ४ अद्वैतव्याघात । ५ अद्वैतस्य । ६ मिथ्याज्ञानत्व । ७ अवस्तुवेदनत्व । ८ च द्वैतं आ०,ब०,प०,स० । ९ –भेदा इति चेन्न परतः स० –र्थया इति चेन्न परतः आ०,ब०,प० । १० सौगतः प्राह । ११ निवृत्तिमात्रस्य । १२ –परिविशुद्धो आ०,ब०,प०,स० । १३ जीवस्वभावस्यैव । १४ –त्यनन्तरमाम्ना– आ०,ब०,प०,स० । १५ जीवस्य । १६ ब्रह्मणः । १७ जीवस्यापि ।

बिम्बयोर्मुखस्यैव परिशुद्धिर्न तत्प्रतिबिम्बस्य तस्यं मणिकृपाणादेः रागादिना कालुष्य-स्योपलम्भात्। तद्वद्भेदेऽपि ब्रह्मण एव नित्या परिशुद्धिर्न जीवस्य तत्राविद्याकालुष्यस्योप-लम्भादिति चेत्, न, प्रतिबिम्बस्य भ्रान्त्युपदर्शितत्वेनावस्तुसतोऽपि मुखात्भेदेनानुपपत्तेः, तद्वन्मु-खस्याप्यवस्तुसत्त्वप्रसङ्गात्। 'ममेद मुखम्' इत्यभेदपरामर्शोऽपि तत्र सादृश्यविशयादेव [1]चित्रार्पिताकारमाकारवत्, नाभेदात्। अभेदे तु वस्तुनस्तत्रापि[2] मुखप्रयोजनेन भवितव्यम्, न चैवम्, आस्यपकवलप्रसनादेस्तत्रानुपलम्भात्। [3]अवस्तुसतः कथं प्रतिभासनमिति चेत्? 'मुख-सम्प्रतिरेकवत्' इति ब्रूमः। जीवोऽपि भ्रान्त्युपदर्शितत्वादवस्तुसन्नेवेति चेत्, व्याहतमेतत्–'अवस्तुर्जश्च ब्रह्मणश्च न भिद्यते' इति, ब्रह्मणोऽप्यवस्तुसत्त्वापत्तेः। ब्रह्म [4]तस्माद्भिन्न एव स एव तु ब्रह्मणो न भिद्यते तस्मादयमदोष इति चेत्, न, जीवस्य तद्भेदमन्तरेण ब्रह्मणोऽपि [5]तद्भेदानुपपत्तेः भेदस्योभयनिष्ठत्वात्। तस्मादभ्यन्देयमेवेदं [6]मौग्धोपाख्यानवत्। तद्यथा–कूपो मा-मन्य समीपो ग्रामस्तत्कूपस्य[7] नितरां दूर इति। तस्माज्जीवस्य ब्रह्माभेदे ब्रह्मणोऽपि [8]तदभेदस्याव-श्यम्भावात्। यदविद्याकालुष्यं जीवस्य या च तत्परिशुद्धिरागन्तुकी [9]तदुभय ममापि (ब्रह्मापि) [10]परिशुद्धस्य (त्यो)येति न शुभापितमेतत्–"तद्धि सदा विशुद्ध नित्यप्रकाशमना-गन्तुकार्यम्[11]" [ब्रह्मसि० पृ० १२] इति। [12]यथेदमपि–"तस्मादविद्यया जीवाः संसारिणो विद्यया विमुच्यन्ते" [ब्रह्मसि० पृ० १२] इति। ब्रह्माधिष्ठानस्य सदाविशुद्धत्वादेरभेदे सति जीवेऽप्यनुपातात्। भिद्यत एव जीवो ब्रह्मणः कल्पनारोपितत्वात्, ब्रह्मणश्च तद्विपर्ययादिति चेत्, का तर्हि तस्य[13] परिशुद्धिः [14]स्यात् यदन्वितो जीवस्वभाव प्रपञ्चविलयत्वेन व्यपदि-श्येत? अविद्याकालुष्यनिर्मुक्तिरेवेति चेत्, न, स्वतोऽपि निर्मुक्तिप्रसङ्गात्, स्वरूपस्याप्या-रोपितत्वाविद्यामयत्वात्। भवत्विति चेत्, न, नीरूपस्य तन्निर्मुक्तिमात्रस्याप्यसम्भवादिति प्रतिपादनात्। तन्न परिशुद्धो जीवस्वभाव एव तत्प्रपञ्चविलयः तत्परिशुद्धेरेवापरिज्ञानात्।

भवतु नित्यपरिशुद्धं [15]ब्रह्मैव [16]तद्विलय इति चेत्, न, नित्यस्य विलयस्य प्रसङ्गात्। तथा च किं तत्र परापेक्षया नित्यस्य निरपेक्षत्वात्, नित्ये तद्विलये [17]परस्याभावाच्च। ततो यदुक्तम्–"अविद्यया श्रवणादिलक्षणया अविद्यैव निवर्त्यते मृत्युरित्यविद्योच्यते" [ब्रह्मसि०पृ० १३] इति; तदप्रतिविहितम्, नित्ये भेदप्रपञ्चविलये निवर्त्यनिवर्तकयोरवि-द्ययोरेवासम्भवे तद्वचनस्यासम्भवद्विषयत्वात्। तन्न तत्प्रपञ्चविलयः कश्चिदपि शक्यनिरूपणो यद्द्वारेण परतः प्रजापतेर्निरूपणमिति चेत्,

---

१ प्रतिबिम्बस्य। २ चित्रार्पिताप्रत्यवत् आ०, ब०, प०, स०। चित्रार्पितमसमाकारवत् ता०(?) ३ प्रतिबिम्बेऽपि। ४ प्रतिबिम्बस्य। ५ अवस्तुसतो जीवात्। ६ तद्भेद-आ०, ब०, प०, स०। ब्रह्मभेद। ७ जीवभेदानुपपत्तेः। ८ मौग्ध्य-आ०, ब०, प०, स०। ९ तस्य कूपस्य आ०, ब०, प०, स०। १० तद्भे-दस्य आ०, ब०, प०, स०। ११ तदुभयं ता०। १२ परस्परासम्भवे-ता०। १३-कार्यकम् आ०, ब०, प०,स०। १४ तथापि आ०, ब०, प०, स०। १५ जीवस्य। १६ स्यात् भेदप्रतीतेपक्षुभितस्य-आ०, ब०, प०, स०। १७ ब्रह्म इव आ०, ब०, प०, स०। १८ प्रपञ्चविलयः। १९ आम्नायादेः।

[1]भवन्मतेऽपि कोऽयमारोपस्य[2] व्यवच्छेदो नाम ? नाश एवेति चेत् ; न ; [3]तस्य निर्हेतुकत्वेन परतोऽनुपपत्तेः । तस्यैवाशक्तिकरणमिति चेत ; न ; तस्य निषेत्स्यमानत्वात् । तदेव संविदद्वैतमिति चेत् ; न ; तस्यापि कार्यत्वापत्तेः । न चेदमुचितम्–"न कारणं न कार्यं च तत्" [ ] इति स्वयमभ्युपगमात् । कीदृशं च तत् ? निरंशं परमाणुमात्रमिति चेत् ; न; तस्याप्रतिवेदनात् नीरूपाभाववत् । [4]चित्रमेव तत् "चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः" [प्र०वार्तिकाल० २।२१९] इति वचनादिति चेत् ; किमिदं चित्रमिति ? नानानीलाद्याकारमिति चेत् ; न ; तथा नानाशक्तिकत्वस्यापि प्रसङ्गात् । को दोष इति चेत् ? न; एकया शक्त्या आत्मनः तदन्यया च तदपरस्य परिज्ञानापत्तेः, तथा च परमार्थत एव ग्राह्यग्राहकभावस्य[5] भावात्कथं तस्यारोपितत्वं यतस्तद्व्यवच्छेदद्वारेण [6]तदद्वैतनिरूपणम् ? यदि परमार्थत एव तद्भावः; कथं तद्विकलतया संवेदनस्य विकल्पप्रतिसंहारवेलायामनुभवो नारोपितस्य[7] ? वैकल्यानुपपत्तेरिति चेत् ; न ; निष्प्रपञ्चस्यात्मन एव तदानीमनुभवात् । प्रपञ्चज्ञानस्यैवारोपितविषयत्वोपपत्तेः । तदुक्तं कैश्चित्–

"सत्यमाकृतिसंहारे स्वयं तद्व्यवतिष्ठते ॥" [वाक्यप० ३।२।११] इति ।

तथा परैः–

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ॥" [सर्ववेदान्त० २५] इति ।

वचनमात्रमेवैतत् , निष्प्रपञ्चस्यात्मनः क्वचिदप्यननुभवादिति चेत् ; न ; ग्राह्यादिभेदविकलस्य संवेदनस्याप्यननुभवात् । [9]अननुभवमपि तद्विचारादवगम्यते विचारेणैव तदभेदारोपं व्यवच्छिन्दता तदस्तित्वस्यापि प्रत्यायनादिति चेत् ; न ; एवम् [10]आम्नायादेवात्मनोऽप्यवगमप्रसङ्गात् । तेनैव[11] [12]प्रपञ्चारोपं प्रत्याचक्षाणेनात्मनोऽपि [13]बुद्धावुपस्थापनात् । तत्प्रपञ्चप्रत्याख्याने किमवशिष्यते यस्यात्मत्वेन बुद्धावुपस्थापनम्[14] ? ग्राह्यादिभेदप्रत्याख्याने कस्यावशेषो यस्य संवेदनत्वेन बुद्धौ समर्पणम् ? [15]तद्भेदसाधारणस्य प्रतिभासमात्रस्येति चेत् ; अन्यत्रापि तस्यैव किन्न स्यात् ? कथमेवमात्मसंवेदनयोर्भेद इति चेत् ? आत्मनो नित्यत्वाद् अन्यस्य तद्विपर्ययात् ।

कथं पुनरात्मनः शब्दज्ञाने प्रकाशनं [16]तस्याविद्याभेदत्वेन मिथ्याज्ञानत्वात् ? न हि मिथ्याज्ञाने तत्त्वप्रकाशनम् ; तन्मिथ्यात्वस्यैवाभावापत्तेः । एवं हि प्रत्युत्पन्नशब्दज्ञानमात्रस्यैव सकलभेदप्रपञ्चप्रलयोपनिपातेन प्रवृत्त्यादिः सर्वोऽपि संसारव्यापारो न भवेत्, आत्ममननध्यानाद्युपदेशश्चापार्थकतां प्राप्नुयात् तस्यापि तत्प्रपञ्चप्रलयार्थत्वात् , तत्प्रलयस्य च शब्दज्ञानमात्रादेव

१ सौगतमते । २ ग्राह्यादिभेदसमारोपस्य । ३ नाशस्य । ४ चित्रमात्रमेव आ०, ब०, प०, स० । ५ –स्याभा–आ०, ब०, प०, स० । ६ संवेदनाद्वैत । ७ ग्राह्यग्राहकाकाराक्रान्तस्य । ८ –वानिरूपितवि–आ०, ब०, प०, स० । ९ अनुभवागम्यमपि संवेदनम् । १० आम्नायादेवाप्यात्म–आ०, ब०, प० । ११आम्नायेनैव । १२ प्रचारोपं प्र–आ०, ब०, प०, स० । १३ बुद्धा उप–आ०, ब०, प०, स० । १४–नस्य ग्राह्यादि–आ०,ब०, प०, स० । १५ ग्राह्यग्राहकादिभेद । १६ शब्दज्ञानस्य ।

भावात्। न [1]तन्मात्रादेव तद्ग्रहः किन्तु तन्मननाद्युपसंस्कृतत्वादेव, तदुपसंस्कृतं हि [3]तज्ज्ञानम्, इतरनिरवशेषाविद्याविलासानुपरमयत् आत्मानमप्युपरमयति [4]यथा पयः पयो जरयति स्वयमपि जीर्यति, विषञ्च विषान्तरमुपशमयति स्वयमपि उपशाम्यति, उपरतसकलविभ्रम-वेलायाञ्च स्वत एव निष्प्रपञ्चमात्मतत्त्वं प्रकाशत इत्येवम्प्रकारं तज्ज्ञानस्य तत्प्रकाशनिबन्धनत्वमिति चेत्, ननु अयमप्यर्थः कुतश्चिदागमाद्यज्ञानादेव ज्ञातव्यः। [6]तस्यैव मिथ्यात्वे तज्ज्ञानात्कथं तत्प्रतिपत्तिः? न चापरमुपायान्तरं यतस्तत्परिज्ञानमित्यप्रातीतिकमेवेदम्–

“संहृताखिलभेदोऽतः सामान्यात्मा स वर्णितः।
हेमेव [7]परिहार्यादिभेदसंहारसूचितम्॥” [महार्थसि० १।३] इति।

तर्हि भेदप्रपञ्चसंहारवती वेला नाम काचिच्छक्यनिरूपणा यस्यामात्मतत्त्वस्य निष्प्रपञ्चस्य प्रकाशनमिति चेत्, संविदूढे[8] तस्यापि कथं विचारज्ञाने प्रकाशनम्? तस्यापि[9] विकल्पत्वेनावस्तुगोचरत्वाद् अन्यथा तस्य तद्गोचरत्वविरोधात्। एवञ्च प्रत्युत्पन्नविचारज्ञानस्यैव सकलप्राग्भेदारोपप्रलयोपनिपातेन तदूढैवप्रकाशनात् निष्फलमेव तदभ्यासोपकल्पनं भवेत्, [10]तस्यापि तत्प्रकाशनादन्यस्य फलस्याभावात्, तस्य च प्राथमिकादेव विचारज्ञानादुपपत्तेः। अभ्यासपरिपाकाधिष्ठितमेव [11]तत् प्रकाशनिबन्धनं न केवलम्, [12]तत्खलु निखिलमप्यपरमप्यारोपमपाकुर्वन् आत्मानमप्यपाकरोति यावदारोपभावित्वात्तस्य[13], यथा प्रदीपस्तैलवर्त्यादिकं प्रतिसंहरन्नात्मानमपि प्रतिसंहरति। तद्वत्सकलभेदारोपवेलायां तु[13] तदूढैवस्य स्वत प्रकाशनमिति चेत्, न, अस्याप्यर्थस्य कुतश्चिद्विकल्पादेवावगमात्। [14]तस्य च मिथ्याज्ञानत्वेन तदवगमानुपायत्वात्, उपायान्तरस्य चाभावात्। तस्मादिदमप्यप्रातीतिकमेव–

“[15]ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।” [प्र०वा० २।३२७] इति।

तथाऽपि विकल्पप्रतिसंहारवती वेला नाम काचिच्छक्यनिरूपणा[16] यस्यां तदूढैवस्य स्वतः प्रकाशनमुपकल्प्येत। तदेवाह–

प्रतिसंहारवेलायां न संवेदनमन्यथा। इति।

व्यक्तमेतत्।

इदमपरं व्याख्यानम्–यदुक्तम्–‘अद्वय द्वयनिर्भासम्’ इति। कुतस्तस्य[17] तन्निर्भासत्वम्? स्वत चेति चेत्; अत्राह–‘न स्वतः’ इति। उपपत्तिमत्राह–‘भेदपर्यनुयोगतः’ इति। भेदः संवेदनस्याविभागलक्षणो विशेषस्तस्य पर्यनुयोगः ‘स कथं

---

१ तन्मात्रादेव। २ –दुपसंस्कृतादेव। ३ तज्ज्ञानम्। ४ “यथा पयः पयो जरयति स्वयं च जीर्यति यथा च विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति”–महार्थसि० पृ० १२। ५ आम्नायस्यैव। ६–स्मप्रतीतिक–भा०, ब०, प०, स०। ७ परिहार्यं कटकम्। ८ सन्नभेदे प्रपञ्चसंहारवति वेला भा०, ब०, प०, स०। ९–रिदमित्तेन भा०, ब०, प०, स०। १० मत्पाद्यपादि। ११ विचारज्ञानम्। १२ विचारज्ञानवत्। १३–भौ तद्–भा०, ब०, प०, स०। १४ तिष्णम्। १५ “तस्यापि तुद्धस्वीयत्वात् स्वयं नैव प्रकाशते”–प्र०वा०। १६–च्छक्यते–भा० ब०, प०, स०। १७–स्य नि–भा०, ब०, प०, स०।

सम्भवति' इति प्रश्नः, तस्मात्तत इति । कथं खलु स्वत एव विभागरूपतया प्रतिभासमानमविभागमुपपन्नम् ? विभागस्यासत एव प्रतिभासनादिति चेत्; कथमिदानीमसदवभासिनस्तस्य सम्यग्ज्ञानत्वम् ? यतस्तस्मात् दुःखहेतुप्रहाणं प्रकल्प्येत, मिथ्याज्ञानात्तदयोगात् नित्यादिज्ञानवत् । अभिमतञ्च ततस्तत्प्रहाणं परस्य, "नैरात्म्यदृष्टेस्तद्युक्तितोऽपि वा" [प्र०वा० १।१३९] इत्यत्र युक्तिशब्देनाद्वैतवेदनस्यापि तत्प्रहाणकारणतया प्रज्ञाकरेण [3]व्याख्यानात् । तदेवाह–**भेदपर्यनुयोगतः** । भेदस्तत्प्रहाणकारणत्वविशेषः तत्पर्यनुयोगः 'स कथम्' इति प्रश्नः तत इति । तन्न स्वतस्तस्य[4] द्वयनिर्भासत्त्वम् ।

परतोऽपि नेत्याह–'**नापि**' इत्यादि । उपपत्तिमाह–'**भेद**' इत्यादि । परमेव **भेद**स्तस्य **पर्यनुयोगः** 'तत्कथम्' इति प्रश्नः, तत इति । अद्वैते परस्यैवासत्त्वादिति मन्यते । कल्पितं तत्सत्त्वमिति चेत् ; न; तत एव तत्कल्पनायोगादसत्त्वात् । कल्पनया सत्त्वञ्चेत् ; न; परस्पराश्रयात्–'कल्पनया सत्त्वम्, ततश्च कल्पना' इति । अन्यत इति चेत् ; न; तत्राप्येवं प्रसङ्गात् । [5]तस्याप्यन्यतः कल्पनायामनवस्थानात् । नानवस्थानम्, अनादित्वात्तत्प्रबन्धस्येति चेत्; कुतस्तत्सिद्धिः ? स्वत इति चेत् ; न; स्ववेदनस्य [7]वस्तुसत्संवेदनधर्मत्वेन तत्रायोगात् । [8]तदपि विकल्पितमेवेति चेत्; कथं ततः कचिदित्थम्भावस्य सिद्धिः अनित्थम्भाववत् ? कुतो वा परमार्थसन्नेव तत्प्रबन्धो न भवेत् ? प्रतिसंहृततत्प्रबन्धस्यैव संवेदनस्य सत्यभ्यासपाटवे प्रतिवेदनादिति चेत्; न; कदाचिदपि तदनुभवाभावात् । तदाह–'**प्रतिसंहार**' इत्यादि । सुबोधम् ।

एतेन पुरुषाद्वैतस्यापि द्वयनिर्भासत्वं प्रत्युक्तम् । न हि तस्यापि स्वतस्तन्निर्भासत्वं **भेदपर्यनुयोगतः** । भेदस्य 'एकमेवेदमद्वितीयम्' इति विशेषस्य पर्यनुयोगात् 'स कथम्' इति प्रश्नात् । न हि स्वत एव भेदेनावभासमानस्य तद्विशेषसम्भवः । भेदस्यासत एव प्रतिभासनात्तत्सम्भव इति चेत् ; कथमसदवभासिनस्तस्य[10] सत्यज्ञानत्वम् । यतः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्ति० २।१।१] इत्याम्नायेत । मिथ्याज्ञानत्वे तु कथं तद्दर्शनात्सकलदुःखनिवर्हणम् ? यत इदं स्वाम्नातं भवति–

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" ॥" [मुण्डको० २।२।८] इति ।

तन्न तस्य **स्वतो** द्वयनिर्भासत्वम् ।**नापि परतो भेदपर्यनुयोगतः** तदद्वैते परमेव **भेदस्तस्य पर्यनुयोगतः** 'तत्संभवप्रश्नः कथमसावद्वैतव्यापत्तेः' इति ततस्तस्मादिति । परस्य

१–प्रमाणं आ०, ब०, प०, स० । २–तशब्दवेद–आ०, ब०, प०, स० । ३ "अथवा युक्तिर्योगः परस्परसङ्गताद्वैतम्, अद्वै तद्दृष्टितोऽपि ।" –प्र० वार्तिकाल० २।१३९ । ४ –स्य स्वयंनि आ०, ब०, प०, स० । ५ तत्राप्यन्यतः आ०, ब०, प०, स० । ६–स्थानम् ना–आ०, ब०, प०, स० । ७ वस्तुसत्त्वं संवे आ०, ब०, प०, स० । ८ वेदनमपि । ९ संवेदनानुभवाभावात् । १० एकमेवाद्वितीयमिति विशेषस्य । ११ परापरे आ०, ब०, प०, स०, ।

कल्पनया सत्त्वान्न दोष इति चेत्, न, 'तत त्वम्' इत्यादेः 'अनित्यम्भावयत्' इति पर्यन्तस्यापि समानत्वात्।

यदि वा, भेदः "तमेव भा(भा)न्तमनुभाति सर्वम्, तस्यैव भासा भाति" [कठोप० ५।१५] [1]इत्याम्नातः पुरुषार्थिनो भेदप्रतिभासस्तत्पर्यनुयोगः 'कथमयम्' इति प्रश्नः, तस्मादिति। परतो भेदप्रतिभासे पुरुषार्थतया तदाम्नायो विरुद्धयेतेति मन्यते।

परतो द्वयनिर्भासं ब्रुवाणः प्रतिपीडयेत्।
पुरुषार्थतयाम्नायमामनन्तं निजागमम् ॥७६९॥
[3]विवेकाभ्यक्षमुद्दिश्य प्रतिपत्तारमागमः।
पुरुषार्थेऽद्वनिर्भासमन्वाहेति मतं यदि ॥७७०॥
परतो भेदनिर्भासः कस्येदानीं विवेकिन[4]।
न विवेकेऽनुपायत्वात्परस्यैवानवस्थितेः ॥७७१॥
कल्पनातः परं स्याच्चेत्सैव कस्माद्विवेकिनः।
विभ्रमाद् यदि तस्तर्हि विवेकी सुमहानयम् ॥७७२॥
विभ्रमप्रतिरोधी हि विवेकः सार्वलौकिकः।
स चास्ति विभ्रमश्चेति न श्रद्धेयमिदं वचः ॥७७३॥
सत्येव पाटवे तस्यै तद्विरोधोपकल्पने।
पाटवं किमिदं पुंसः स्वरूपमहणं[6] यदि ॥७७४॥
तदिकमुत्पन्नमात्रस्य विवेकस्य न विद्यते।
यथा चेतस्य चेयं स्यादविद्याकल्पितं परम् ॥७७५॥
न विवेकस्तथा चासौ मिथ्यार्थत्वात्तदन्यवत्।
न विवेकाश्रयं तस्मात्परतो भेदभासनम् ॥७७६॥

ततः सूक्तम्—'भेदपर्यनुयोगतः' इति।

कुतश्च भेदप्रपञ्चः परमार्थसन्नेव न भवेत्तत्तस्य कुतश्चिदारोपितत्वं परिकल्प्येत? प्रतिसंहृतसत्प्रपञ्चस्यैव परमात्मनः कदाचित्प्रतिवेदनादिति चेत्, न, तादृशस्य कदाचिदप्यनुभवाभावात्। तदाह—'प्रतिसंहार' इत्यादि। तन्नाद्वैतवादः श्रेयान्।

विभ्रमवाद एवास्त्विति चेत्, न, तस्य 'विप्लुत' इत्यादिना प्रतिक्षेपात्। तदेव व्याचक्षाणस्तत्प्रतिक्षेपमेव दर्शयति—

इन्द्रजालादिषु भ्रान्तमीरयन्ति न चापरम् ॥५२॥
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः। इति।

---

१ श्वेता० ६।१४। मुण्डको० २।२।१०। २ -तदभावात्तदा- आ०, ब०, प०, स०,। ३ विवेकाभ्यक्षमु- आ०, ब०, प०, स०। ४ विवेकस्य। ५ विभ्रमविरोधकल्पनायाम्। ६ -र्थं विदः आ०, ब०, प०। ७ -परिमं आ०, ब०, प०, स०।

व्यक्तः शब्दार्थः। तात्पर्यार्थस्तू[1]च्यते–यदिन्द्रजालस्वप्नादिविपयेपु विप्लवव्याप्तं प्रत्ययत्वमन्यद्वा न तज्जाग्रदर्थविपयेऽवस्ति, स्वयमेव प्राणिनां तत्र विप्लवप्रतिपत्तिप्रसङ्गेन अनुमानस्य वैफल्यापत्तेः। अनुमानान्तरेऽप्येवं प्रसङ्गः, कृतकत्वादेरपि घटादावनित्यत्वव्याप्ततया प्रतिपन्नस्य शब्दे[2] धर्मिण्यभावात्। भावे स्वत एव पुंसां तत्राप्यनित्यत्वप्रतिपत्तेः, अनुमानवैफल्याविशेषादिति चेत्; सत्यम्; तत्र[5] बालाबलागोपालादीनां स्वत एवानित्यत्वप्रतिपत्तिः। न चैतावता तदनुमानवैफल्यम्; आगमा[3]हितसंस्कारस्य तत्र नित्यत्वाध्यारोपे तस्य[4] तद्व्यवच्छेदार्थत्वात्। जाग्रत्प्रत्ययेपु त्वागमवतामेवं विप्लवप्रतिपत्तिर्न बालादीनां "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्र०वा० १।७] इत्यस्य विरोधात्, बालादिपरिज्ञानादन्यस्य व्यवहारस्याभावात्। [6]तस्य च विप्लवगोचरत्वे [7]कथं ततः प्रामाण्यव्यवस्थापनं विप्लवव्यवस्थापनस्यैवोपपत्तेः? तस्मादविप्लवज्ञानमेव [8]तत्र [9]तेषाम्। न च विप्लवात्मन एव [10]प्रत्ययत्वस्य तत्र भावे तदुपपन्नम्। सत्यपि [11]तस्मिन्नविप्लवसंस्काराढुपपन्नमेनेति चेत्; न; तेषामिदानीं तत्संस्कारहेतोरनुपलम्भात्। न चाहेतुकस्तत्संस्कारो नित्यत्वापत्तेः। प्राक्तनात्तत्संस्कारादिति चेत्; न; [12]स्वरूपसत्यत्वेऽपि प्रसङ्गात्, तस्यापि संस्कारबलादेव सत्यतया परिज्ञानसम्भवात् वस्तुतो विप्लवस्यैवोपपत्तेः। कथं पुनः स्वरूपविप्लवे बहिर्विप्लवपरिज्ञानं सत्येव [13]तदविप्लवे [14]तदुपपत्तेस्तस्य तदपेक्षत्वादिति चेत्? कथमिदानीमेकचन्द्रादिविप्लवे द्विचन्द्रादिविप्लवपरिज्ञानम्? सत्येवैकचन्द्रादेरविप्लवत्वे द्विचन्द्रादिविप्लवस्यापि परिज्ञानसम्भवात्। परिकल्पितेन [15]तदविप्लवेन [16]तदपरविप्लवपरिज्ञानमिति चेत्; स्वरूपाविप्लवेनापि [17]तादृशेनैव बहिर्विप्लवपरिज्ञानं भवतु विशेपाभावात्। ततः स्वरूपवदसंस्कारबलोपनीतमेव बहिरर्थसत्यत्वमिति न विप्लवात्मकं [18]तत्प्रत्ययेपु प्रत्ययत्वम्, बालादीनामपि तत्र विप्लवप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। न चैवम्, अविप्लवपरिज्ञानस्य तत्र तेपां भावादित्यसिद्धो हेतुः, अतश्च तद्वादिनां जडत्वमिति। तथा च [19]यज्ञातश्च दमं (यज्ञातमाश्चर्यं) तदाह–

तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी ॥५३॥
बभूवेति वयं तावत् बहुविस्मयमास्महे। इति

तत्र जाग्रत्प्रत्ययाविप्लवे **शौद्धोदनेरेव** सकलज्ञानधन्यम्मन्यस्य[20] बुद्धस्यैव न चाण्डालादीनामल्पप्रज्ञानां **कथं प्रज्ञा** बुद्धिः **अपराधिनी** स्खलनवती "सर्वमालम्बने भ्रान्तम्" [प्र०वार्तिकाल० २।१९६] इत्युपदेशात् **बभूव इति** एवं **वयं** परीक्षाचक्षुपः **तावत्** क्रमेण

१ –र्थः सूच्य–आ०,ब०,प०,स०। २ शब्दे। ३ मीमांसकागम। ४ –रोपितस्य –आ०,ब०,प०, स०। अनुमानस्य। ५ बौद्धानाम्। ६ बालादिव्यवहारस्य। ७ कथन्न ततः आ०, ब०, प०, स०। ८ जाग्रत्प्रत्यये। ९ बालाबलादीनाम्। १० प्रत्ययस्य आ०, ब०, प०, स०। ११ विप्लवात्मनि। १२ संवेदनस्वरूपसत्यत्वेऽपि। १३ स्वरूपाविप्लवे। १४ बहिर्विप्लवोपपत्तेः। १५ एकचन्द्राविप्लवेन। १६ द्विचन्द्र। १७ परिकल्पितेनैव। १८ जाग्रत्प्रत्ययेपु। १९ यज्ञाश्चतदर्मं तदाह आ०। यज्ञश्चदर्मं तदाह स०। तथाश्च तदर्मं तदाह ब०। यज्ञाश्च तदर्यं तदाह प०। २०–ज्ञानदन्यम्मन्य आ०, ब०, स०।

बहुविस्मयम् अनल्पाश्चर्यम् आस्महे । भवति हि प्रेक्षावतामाश्चर्यबहुलमासनं मनोऽवस्थानं यदि मन्दबुद्धिगोचरे महामतेरेव परिस्खलनम् । अस्ति चेदं शौद्धोदनेः । अधिक्षेपेऽपि स्वल्पार्थज्ञानानाम् अर्थज्ञानेष्वेव विप्लवोपगमात् । परमपि तत्राह–

तत्राद्यापि जनाः सक्ताः [तमसो नापरं परम् ।] इति ।

तत्र तस्मिन् प्राकृतजनप्रज्ञाविषयेऽपि परिस्खलनवति शौद्धोदनौ अद्यापि स्खलनव तया परिज्ञानसमयेऽपि जना दिग्नागादयः सक्ताः तत्प्रामाण्ये कृतामहाः "प्रमाणभूताय" [प्रमा०स० श्लो० १] इति वचनादिति च वयं बहुविस्मयमास्महे । भवति हि विचारचतुरचेतसां साश्चर्यमवस्थानं यदि प्रज्ञायत्नोपपन्नोऽपि लोकः परिज्ञान(त)लोपेऽपि[1] आप्तबुद्धिमक्त(बुद्धि कु)[2] र्वीत । तद्व्लोपपन्नाश्च दिग्नागादयः "स श्रीमानकलङ्कधीः" [ ] इत्यादेः "न्यायमार्गतुलारूढम्" [हेतुबि० टी० पृ० १] इत्यादेश्च श्रवणात् । भवदपि कदाचित्प्रज्ञावतम् अध्यारोपेण तमसा प्रतिरुध्यते तदयमदोष इति चेत्, न, तमस एव तेन प्रतिरोधसम्भवात् तस्य वस्तुबलप्रवृत्तत्वात्, तमसश्च विपर्ययात् । कदाचिदेवमपि स्यादिति चेत्,

अत्राह– तमसो नापरं परम् ॥५४॥ इति

तमसः अध्यारोपाद् अपरं प्रज्ञाफलं परम् किन्तु तम एव परम्, तस्यैव तद्बलप्रतिरोधित्वेन प्रकृष्टत्वादिति च वयं बहुविस्मयमास्महे । भवति ह्येतत् बहुविस्मयापादानं यदन्धकारेणापि प्रदीप प्रतिरुध्यते इति । भवतु बहिरिवान्तरपि विप्लवो बुद्धवेदनेऽपि तदभ्युपगमात् । "मितवोऽहमपि मायोपमः स्वप्नोपमः" [ ] इत्यादिवचनादिति चेत्, न, अत्रापि 'तत्र' इत्यादेर्दोषस्याविशेषात् ।

अपि च, यथापरिज्ञानं तद्विप्रवरस्य कथमर्थस्थापनम् अविप्लववत् ? परिज्ञानञ्च यथाविप्लवम्, कथं तेरैकान्तः ? सविप्लवं चेत्, कथं तदसत्त्वेऽहितद्विपर्ययवत ? तत्राह–

विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति । इति ।

विभ्रमे बहिरन्तः सकलज्ञानविप्लवविषये यत्तद्विपर्ययं ज्ञानस्य विभ्रमो विप्लव तस्मिन् तेषां ज्ञानानां विभ्रमोऽपि न केवलमविभ्रम इत्यपि शब्दार्थः, न सिद्ध्यति ।

अविभ्रमो यथा सर्ववेदनेषु न सिद्ध्यति ।
विभ्रमाविभ्रमोऽप्येवं विभ्रमाश्च प्रसिद्ध्यति ॥७७॥

ततः सूक्तमिदम्–

तत्राद्यापि जना सक्तास्तमसो नापरं परम् ।
विभ्रमे-विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ॥ इति ।

---

१ –पै व्याप्त आ०, ब०, प०, म० । २ प्रज्ञावतेन । ३ –मवस्थ-आ०, ब०, प०, म० । ४ त्रिरे काम्प । ५ 'सर्व विरसम्' इति विन्दुः । ६ विभ्रमविपयास ।

तदसिद्धौ दूषणान्तरमप्याह–

कथमेवार्थ आकाङ्क्षानिवृत्तेरपि कस्यचित् ॥५५॥
व्यवहारो भवेज्जातिमूकलोहितपीतवत् । इति ।

अर्थे जलादौ **व्यवहारः**स्तदभिदानादिः स च **आकाङ्क्षायाः** विभ्रमाभिप्रायाय[1] **निवृत्तिः** अर्थ इत्य[3]धिमुक्तिरेव तस्यास्तद्रूपत्वात् । तस्या एव एवकारस्यात्र दर्शनात् न वस्तुतोऽर्थस्य भावात् । विभ्रमैकान्ते[4] तदसम्भवात् । तन्निवृत्तिश्च कस्यचिदेव दृढवासनावतो नापरस्य तस्य तत्र तदाकाङ्क्षया अनर्थव्यवहारस्यैव भावात् । **अपि**[5]**शब्दः** 'च' इति शब्दार्थः, **'व्यवहारः'** इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः इति । परमतं **कथं** नैव भवेत् ? दृष्टान्तमाह–**'जाति'** इत्यादि । **जातिमूकेन** जातिबधिरमुपलक्षयति नान्तरीयकत्वात्, लोहितादिशब्देनापि तद्विषयं व्यवहारम् । तदयमर्थः–यथा जातिबधिरः शब्दार्थसम्बन्धमजानानः तन्निबन्धनं **'लोहितं पीतम्'** इति च शब्दविकल्पात्मकं व्यवहारं न प्रतिपद्यते तथा विभ्रमैकान्तमप्रतिपद्यमानोऽपि तत्रैवार्थाधिमुक्तिभावाभावाभ्याम् अर्थानर्थव्यवहार इत्यपि न प्रतिपत्तुमर्हतीति ।

परस्य मतम्–न ग्राह्याकारेऽपि संवेदनानां [6]विभ्रमः, तत्र तेषामप्रवृत्तेः **"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति"** [प्र० वा० २।३२७] इति वचनात् । न चाविषये विभ्रमः ; नीलज्ञानस्य पीते तत्प्रसङ्गात् । तत्र तद्वत् स्वरूपे तत्कल्पनम्, स्वरूपस्यानुभवाविभ्रितत्वेन परमार्थसत एवोपपत्तेः, अन्यथा सकलव्यवस्थावैकल्योपपत्तेरिति । तत्राह–

अनर्थानेकसन्तानानस्थिरानविसंविदः ॥५६॥
अन्यानपि स्वयं प्राहुः प्रतीतेरपलापकाः । इति ।

अनर्थान् अविद्यमानविषयान् प्रत्ययान् **प्राहुः** प्रतिपादयन्ति 'प्रत्ययान्' इत्यध्याहारात् । कीदृशान् ? **एकसन्तानान्** अभिन्नसन्तानान् । पुनस्तद्विशेषणम् **अस्थिरान्** क्षणिकान् **अन्यानपि** भिन्नसन्तानानपि तादृशान् **प्राहुः स्वयं** बौद्धाः । तद्विशेषणम् **अविसंविद** इति । न विद्यते स्वपरविषयतया विविधा संवित् सम्यग्ज्ञानं येषां ते तथोक्ताः । कुतस्ते तथेति चेत् ? आह–**प्रतीतेरपलापका** यत इति । प्रतीतेः स्वपरविषयतया लोकप्रसिद्धाया अपलपनादेव तेषाम् अविसंवित्त्वं न पुनर्वस्तुतस्तदभावादेव, अन्यथा सन्तानसन्तानान्तरतद्गतानेकत्वक्षणभङ्गादीनामप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । तदनेन प्रतीत्यपलापादनवधेयवचनत्वं तेषामुपदर्शयति ।

भवतु तत्त्वं संविदद्वैतमेवेति चेत्; दत्तमत्रोत्तरम्–**'अद्वयं द्वयनिर्भासम्'** इत्यादिना । तदेव [8]विस्तारयन्नाह–

---

१ विभ्रमाभिप्रायौ । २ –या चावि–आ०, ब०, प०, स० । ३ इत्यादिषु–आ०, ब०, प०, स० । ४ –कान्तेन तत्स–आ०, ब०, प०, स० । ५ शब्दश्चेदिति, आ०, ब०, प०, स० । ६ विभ्रमप्रवृ–आ०, ब०, प०, स० । ७–प्रयत्नाम्र–आ०, ब०, प०, स० । ८ विस्तरयन्ना–आ०, ब०, प०, स० ।

स्वतस्तत्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ॥५७॥
मिथस्तत्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः । इति ।

स्वतः स्वस्मात् तत्त्वम् अद्वयरूपं 'कुतो' नैव 'सिद्ध्येत्' इत्यध्याहारः । हेतुमाह–'वितथ' इत्यादि । वितथो माद्यादिनीलादिरूपो भेदस्तस्य प्रतिभासनं वितथप्रतिभासः तस्मात् इति । एतदुक्तं भवति–सकलभेदप्रतिभासविकले हि संविन्मात्रे परस्याद्वैतं न विप्रतिपत्तिः, सति तस्मिन् बहिरर्थसन्तानान्तरप्रत्युज्जीवनापत्तेः । तस्यैव च न स्वतः सिद्धिः, स्वतोऽपि भेदाधिष्ठानस्यैव संवेदनस्य प्रतिभासनात्, तस्य च मिथ्यात्वादिति । परतस्तत्सिद्धिं प्रत्याचक्षाण आह–'मिथ' इत्यादि मिथ इति 'अन्यतः' इत्यर्थो निपातत्वात्, निपातानामनेकार्थत्वात् । 'मिथः' परतश्च तत्त्वम् अद्वयं कुतो नैव सिध्यति । कुत एतत् ?, वितथप्रतिभासतः न हि परतोऽपि निरंशस्य प्रतिभासनं भेदवत एव तत्रापि तद्विषयस्य प्रतिभासनात् । तत्रास्य च मिथ्यात्वादिति भावः ।

ननु च स्वतः प्रतिभासने निरस्ते निरस्तमेवाद्वयम्, परतस्तु तत्प्रतिभासनं परस्याप्यनभिप्रेतमेव "तस्या नानुभवोऽपरः" [प्र०वा० २।३२७] इति वचनात् तत्कथं तस्योपक्षेपः परप्रसिद्धस्यैवोपक्षेपोपपत्तेरिति चेत् ? किमिदानीम्–"आत्मा स तस्यानुभवः" [प्र०वा० २।३२६] इत्यादेर्विचारस्य फलम् ? न किञ्चिदिति चेत्, न, असाधनाङ्गवचनत्वेन तद्वादिनो निग्रहप्राप्तेः । तस्मादद्वैतपरिज्ञानमेव तत्फलं भेदसमारोपव्यवच्छेदस्यापि तत्परिज्ञानरूपत्वात्, अन्यथा वैफल्यापत्तेः । अतो विदित एव परस्यापि परतस्तत्प्रतिभासनमित्युपपन्न एव तदुपक्षेपः । तदेवाह–

यतस्तत्त्वं पृथक् तत्र मतः कश्चिद्बुधः परः ॥५८॥ इति ।

बुधः प्रतिपत्ता कश्चित् विचारात्मा परः प्रकृष्टः पृथग् भिन्नः तत्र अद्वैते मतः अभिप्रेतः परस्य । कीदृशोऽसौ ? यतो यस्माद् बुधात् तत्त्वम् अद्वयं प्रतिभातीति शेषः । तत एव तर्हि विचारात्मनो बुधात्तत्त्वं प्रतीयतामिति चेत्, आह–

ततस्तस्य गतं केन [कुतस्तत्त्वमतत्त्वतः] इति ।

ततो बुधात् तत्त्वमद्वयं गतं प्रतिपन्नम् । केन ? न केनचित् । तथाहि–विचारो नाम विकल्पज्ञानविशेष एव ।

विकल्पकञ्च विज्ञानमभिलाप्येतरात्मकम् ।
तत्त्वेन सम्भवत्येव निरंशज्ञानवादिनः ॥७७८॥
कल्पितं सम्भवत्येव तच्चेत्तत्कल्पनं कुतः ?
परसंवेदिकत्वाच्च तस्याप्यन्येन कल्पनात् ॥७७९॥

---

१ सिद्धान्तीव–आ०, ब०, प०, स० । २ विभाधरे । ३ अद्वैतस्य । ४ –ने निरस्तमे–आ०, ब०, प०, स० । ५ अद्वैतपरिज्ञान । ६ अन्यथं आ०, ब०, प०, स० । ७ विकल्पश्च–आ०, ब०, प०, स० ।

अनवस्थानदोषोऽयमनिवार्यः प्रसज्यते ।
तस्मान्न सम्भवत्येव विज्ञानं ते विकल्पकम् ॥७८०॥
न चासम्भवतस्तस्मात्तत्त्वस्य प्रतिवेदनम् ।
व्योमाम्भोरुहसौरभ्यादपि तस्य[1] प्रसञ्जनात् ॥७८१॥

तदेवाह–'**कुतस्तत्त्वमतत्त्वतः**' इति । **कुतो** नैव **तत्त्वम्** अद्वयम् **अतत्त्वतः** अविद्यमानसद्भावाद्विचारात् गतमिति ।

एतेनानुमानं विचार[2] इति प्रत्युक्तम् । अपि च,

अनुमानं भवेद्व्याप्तौ साध्यवित्त्या च तद्गतिः[3] ।
तद्वित्तिर्यदि[4] चाध्यक्षात् प्राप्तं निःश्रेयसं भवेत् ॥७८२॥
न च निःश्रेयसप्राप्तस्यानुमानं प्रकल्प्यते ।
विधूतकल्पनाजालं यत्ते[5] निःश्रेयसं मतम् ॥७८३॥
विकल्पः साध्यधीश्चेन्न तस्य स्वांशे व्यवस्थितेः ।
साध्यैकत्वावसायाच्चेत्तदंशस्यैवमुच्यते ॥७८४॥
वस्तुनो न तथाप्यस्ति साध्यवित्तिस्ततः कथम् ।
व्याप्तिधीनुरमानं यद्वद्वैतविषयं भवेत् ॥७८५॥
यादृशं व्याप्तिविज्ञानमयथार्थं भवेत्ततः ।
तादृगेवानुमानं चेत्ततस्तत्त्वगतिः कथम् ? ॥७८६॥

तदाह–'**कुतस्तत्त्वमतत्त्वतः**' इति । न विद्यते तत्त्वम्[6] अद्वयं विषयत्वेन यस्मिन् तद् अतत्त्वम् अनुमानं तस्मात् **कुतस्तत्त्वं** गतमिति यदि निरंशस्य स्वतः परतश्च न प्रतिभासनम् ।

तदपि मा भूत्; सर्वाभावस्यापि बौद्धैः सिद्धान्तीकरणादिति कश्चित् । निरंशेतरनित्येतरादिविकल्पैर्निर्विकल्पस्यैव तत्त्वस्य परिकल्पनादिति परः । तत्राह–

यथा सत्त्वं सतत्त्वं वा प्रमासत्त्वसतत्त्वतः ॥६०॥
तथाऽसत्त्वमतत्त्वं वा प्रमासत्त्वसतत्त्वतः । इति ।

यथा येन गत्यन्तराभावप्रकारेण **सत्त्वं** ज्ञानज्ञेयरूपस्यार्थस्य विद्यमानत्वं **प्रमासत्त्वतः** प्रमाणभावात् । **तथा** तेन प्रकारेण तस्य[7] **असत्त्वमपि** प्रमासत्त्वतः प्रमाणभावादेव । तात्पर्यम्–

प्रमाणनिरपेक्षस्य सर्वाभावस्य कल्पनम् ।
न युक्तम्, तद्विपक्षस्य तथा[8]क्लृप्तिप्रसञ्जनात् ॥७८७॥

---

१ तत्त्वप्रतिवेदनस्य । २ –वा विचा–ता० । ३ व्याप्तिज्ञानम् । ४ साध्यज्ञानम् । ५ बौद्धस्य । ६ तत्त्वमन्वयं–आ०, ब०, प०, स० । ७ अर्थस्य । ८ प्रमाणनिरपेक्षतया ।

प्रमाणात्तत्प्रक्लृप्तिस्तु न भवत्येव सर्वथा ।
प्रमाणस्यैव सद्भावात्तत्प्रक्लृप्तिविधायिनः ॥७८८॥ इति ।

ततः शून्यवादः श्रेयान् ।

निर्विकल्पकवस्तुवादिनोऽपि सतत्त्व विकल्पत्वम्, 'सह तैर्निरंशादिभिर्विकल्पैर्वर्तत इति सतत् तस्य भावः सतत्त्वम्' इति व्युत्पादनात् । तत्[1] यथा **प्रमासतत्त्वतो** भावस्य तथा **अतत्त्वम्** अविकल्पत्वम् न विद्यन्ते ते विकल्पा यस्य तदतत् तस्य भावोऽतत्त्वमिति व्युत्पादनात् । तदपि **प्रमासतत्त्वतः** प्रमाणस्य सविकल्पत्वात् । वाशब्द उभयत्रापि पक्षान्तरद्योतने । तात्पर्यमत्रापि—

सर्वविकल्पातीतं तत्त्वं न विना प्रमाणतः सिद्ध्येत् ।
तद्विपरीतस्यापि च तत्त्वस्यैवं प्रसिद्धिभयात् ॥७८९॥
तत्र तदपि प्रमाणं सर्वविकल्पव्यतीतमेव मतम् ।
यदि तस्य न प्रसिद्धिः स्वतोऽस्ति तन्निश्चयाभावात् ॥७९०॥
अविनिश्चितमपि तच्चेत्, स्वतः प्रसिद्धं प्रमाणमविकल्पम् ।
सविकल्पमेव न तथा किमित्यवस्था कुतस्तत्त्वे ॥७९१॥
परतस्तत्प्रतिपत्तौ तदपि परं निर्विकल्पमेव यदि ।
तत्राप्ययं प्रसङ्गो भवन्नशक्यो निवारयितुम् ॥७९२॥
पुनरपरनिर्विकल्पप्रकल्पनायामवस्थितिर्न स्यात् ।
तस्मात्प्रमाणमन्ते सविकल्पकमेव वक्तव्यम् ॥७९३॥
तस्य स्वतोऽनुभवनात् युगपत्स्वपरार्थनिर्णयप्रकृतेः ।
एकान्तनिर्विकल्पं प्रभवति तस्मिन् कथं तत्त्वम् ॥७९४॥ इति ।

भवतु प्रमाणादेव सविकल्पकादेव च भावेष्वसत्त्वमतत्त्वञ्च, तत्तु न परमार्थतः, विचाराक्षमत्वात्, अपि तु व्यवहारेणैव संवृतिरूपेणेति चेत्, न, सतोऽसत्त्वातत्त्वयोरिव सत्त्वसतत्त्वयोरपि भावेषु कल्पनापत्तेः व्यवहारस्य तत्राप्यविशेषात् । न चेदमुचितम्, विरोधात् । यदि तेषु सत्त्वसतत्त्वे तदा कथमसत्त्वासतत्त्वे । ते चेत्, कथं सत्त्वसतत्त्वे इति ? तदेवाह—

तदसत्त्वमतत्त्वं वा परसत्त्वसतत्त्वयोः ॥९०॥
न हि सत्त्वं सतत्त्वं वा तदसत्त्वासतत्त्वयोः । इति ।

तत् अनन्तरोक्तम् **असत्त्वमतत्त्वं** च **वा**शब्देन समुच्चयात् । **न हि** नैव सम्भवति । कदा ? **परयो**स्तद्विरोधिनोः **सत्त्वसतत्त्वयोः** सतो यथाऽसत्त्वं सतत्त्वं च । वाशब्देना-

---

१–अतत्र प्रसिद्धि–आ०, ब०, प०, स० । २ यथाभावस्वरूपप्रतिपत्तिभूतस्य । ३ सविकल्पत्वम् ।

त्रापि समुच्चयात्। तत् अनन्तरोक्तम् 'न हि' इति सम्बन्धः। कदा? [1]**असत्त्वासतत्त्वयोः** सत्त्वसतत्त्वप्रत्यनीकयोरसत्त्वासतत्त्वयोः सतोरिति।

स्यान्मतम्-सांवृतमपि विज्ञानमसत्त्वादिविषयमेव तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं न [2]सत्त्वादिविषयमिति; [3]तन्न; मिथ्यात्वाविशेषात्। मिथ्याज्ञानमपि मणिप्रभामणिज्ञानमेव [4]तन्निबन्धनं तत्र मणिप्राप्त्या परितोषदर्शनात् न प्रदीपप्रभामणिज्ञानं विपर्ययात्, तद्वदत्रापीति चेत्; न; तत्रापि विभ्रमे तदनुपपत्तेः। तथा हि–न मणिप्रभामणिज्ञानं तन्निबन्धनं भ्रान्तत्वात् प्रदीपप्रभामणिज्ञानवत्। कथमेवं ततः प्रवृत्तस्य मणिप्राप्तिरिति चेत्? न; सन्निहितस्यान्यत एव सत्यज्ञानात्तत्प्राप्तेः। तदेवाह–

परितुष्यति नामैकः प्रभयोः परिधावतोः ॥६१॥
मणिभ्रान्तेरपि भ्रान्तौ मणिरत्र दुरन्वयः ॥ इति।

परिधावतोः प्रवर्त्तमानयोर्मध्ये **एकः परितुष्यति** मणिप्राप्त्या नापरो विपर्ययात्। कुतः परिधावतोः? **मणिभ्रान्तेरपि** न केवलं तद्भ्रान्तेः। क्व तद्भ्रान्तेः? **प्रभयोः** द्विवचनान्मणिप्रदीपप्रभयोरिति। **नाम**शब्देनात्रारुचिमावेदयन् तत्रोपपत्तिमाह–**भ्रान्तौ** अत्र मणिज्ञाने **मणिर्दुरन्वयो** दुरनुगमो दुरवायो वेति। तदनेन साध्यसमत्वं दृष्टान्तस्य दर्शितम्। परो दृष्टान्तसमर्थनमाह–

सति भ्रान्तेरदोषश्चेत् [तत्कुतो यदि वस्तु न] ॥६२॥ इति।

सति हि मणौ तत्प्रभामणिज्ञानात्मा **भ्रान्तिर्नासति**, तस्माद**दोषः** मणिरत्र दुरन्वयः इति दोषो नास्ति, [5]सत्येव मणौ [6]भवन्त्यास्ततस्तदन्वयस्यावश्यम्भावादिति भावः। तदुक्तम्–

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥" [प्र० वा० २।५७] इति।

चेच्छब्दः पराभिप्राये। तत्रोत्तरमाह–'**तत्कुतो यदि वस्तु न**' इति। वस्तु मणिरूपं **यदि न** विद्यते **तत्** 'सति' इत्यादि **कुतो** न कुतश्चिदपि। तथा हि–कीदृशं तद्वस्तु? शून्यमिति चेत्; सुस्थितं [7]तस्यास्तत्प्रापकत्वम्। सकलविकल्पविकलमिति चेत्; न; तस्याप्यननुभवात्। निरंशपरमाणुरूपमित्यपि श्रद्धानमात्रम्; अनुभवप्रत्यनीकत्वात्। नानावयवसाधारणं स्थूलमिति चेत्; अत्राह–

कामं सति तदाकारे तद्भ्रान्तं साधु गम्यते।

---

१ असतत्त्वयोः–आ०, ब०, प०, स०। २ सतत्त्वादिवि–आ०, ब०, प०, स०। ३ तन्नि–आ०, ब०, प०, स०। ४ तत्त्वसिद्धिनिबन्धनम्। ५ सत्ये मणौ आ०, ब०, प०, स०। ६ भ्रान्तेः। भवन्त्यास्तदन्व–आ०, ब०, प०, स०। ७ मणिप्राप्तेः। ८ मणिभ्रान्तेः। ९ मणिप्रापकत्वम्।

प्रसिद्धः साधारणस्थूल आकारो यस्य तस्मिन् वस्तुनि सति भ्रान्तं मणिभ्रमणं परि-त्यपिकृत्य सम्बन्ध्य, वेदा कामम् अतीव सङ्क्रान्तं साधु शोभनं मणिमाप्त्याऽवगम्यते । न चैवम्, अनेकान्तविद्वेषिणस्तदाकारस्य वस्तुनोऽसम्भवादिति भावः । [3]संवृत्या तथाकारमेव वस्तु परस्यापि प्रसिद्धमिति चेत्, न, दृष्टान्तवदार्ष्टान्तिकेऽपि सांवृतस्यैव वस्तुनो मिथ्याज्ञानतः प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । [4]भवत्येवमिति चेत्, न, परमतानतिशायनात् ।

[5]सत्त्वादिवदसत्त्वादि संवृत्यैव यदीष्यते ।
परपक्षाद्विशेषस्ते कस्तदा वस्तुतो भवेत् ? ॥७९५॥
संवृत्या च यदं तत्त्वं सत्त्वादेवोपकल्पितम् ।
तत्र स्वर्गापवर्गादिसुखसम्प्राप्तिसम्भवात् ॥७९६॥
न सर्ववस्तुनैरात्म्यनिर्विकल्पादि तत्त्वम् ।
न ह्यलौकिकमन्यद्धि किञ्चिदिष्टमवाप्यते ॥७९७॥
प्रयोजनमनुन्मुच्य निष्प्रयोजनमाश्रयम् ।
प्रेक्षावतां कथं नाम कक्षीकर्तुं क्षमो भवान् ॥७९८॥

तन्न सांवृत तत्त्वमित्युपपन्नम् ।

भवतु वास्तवमेवेति चेत्, न, तस्य मिथ्याज्ञानादसिद्धेः । सर्वेषामपि तर्हि यथाभि-मतसिद्धिप्रसङ्गात् । यदाह–

अयमेव न चेत्येवमविचारितगोचराः ॥९३॥
जायेरन् संविदात्मानः सर्वेषामविशेषतः ॥
तावता यदि किञ्चित्स्यात् सर्वेऽमी तत्त्वदर्शिनः ॥९४॥ इति ।

अयं बहिरन्तश्च प्रतीयमानो भावः एवं शून्यतादिरूपेण न वा नैव एवं सत्त्वादि-रूपेण एवमित्यस्य इति शब्दस्यावृत्तस्यात्र सम्बन्धात् । इत्येवमविचारितगोचरा अनाप्रातविषया जायेरन् उत्पद्येरन् संविदात्मानो विज्ञानस्वभावाः सर्वेषां प्रवादिनाम् अविशेषतो विशेषमन्तरेण । ततः किम् ? इत्याह–तावता तज्जननमात्रेण यदि चेत् किञ्चित् शून्यादिकं स्यात् भवेत् सर्वे निरवशेषा अमी वैशेषिकादयस्तत्त्वदर्शिनः स्वाभिमतद्रव्यादिपदार्थतत्त्वदर्शनशीलाः स्युरिति वचनपरिणामेन सम्बन्धः ।

द्रव्यादीनां विचारासहत्वादयथार्थत्वमेवेति चेत्; न, शून्यतादावपि तदसहत्वाविशे-षात् । कथं वा द्रव्यादेर्विचारासहत्वम् ? कथञ्च न स्यात् ? शून्यनिर्विकल्पवादिनोर्विचार-स्यैवासम्भवात्, सतोऽपि तस्य स्वांशमात्रपर्यवसानात् । तदाह—

१ तथाकारमतीव तत्क्रान्त–आ०, ब०, प०, स० । तच्छब्देन । २ भवैकान्त–आ०, ब०, प०, स० । ३ संवित्त्या च भवत्वेवमि–आ०, ब०, प०, स० । ५ सत्त्वादि–आ०, ब०, प०, स० । ६ मिथ्याज्ञानादेव । ७–नयवा आ–आ०, ब०, प०, स० ।

पर्वतादिविभागेषु स्वांशमात्रावलम्बिभिः ॥६६॥
विकल्पैरुत्तरैर्वेत्ति तत्त्वमित्यतियुक्तिमत् । इति ।

पर्वतग्रहणं सर्वद्रव्योपलक्षणं पर्वतस्य द्रव्यत्वेन ततः तज्जातीयोपलक्षणोपपत्तेः । आदिशब्देन गुणादिपरिग्रहः । पर्वत आदिर्येषां ते **पर्वतादयः**, त एव परस्परतो विभज्यमानतया **विभागाः** विशेषास्तेषु । **तत्त्वम्** अयथार्थत्वम्, 'तेषामयथार्थानां भावस्तत्त्वम्' इति व्युत्पादनात् । तत् **वेत्ति** तज्जानाति सौगत **इत्यतियुक्तिमत्** अतिशयेन सयुक्तिकम्, उपहसनमेतत् अयुक्तिमत्येवमभिधानात । कैः ? **विकल्पैः** विचारज्ञानैः । कीदृशैः ? **उत्तरैः** उत्तरन्ति व्यवस्थावैकल्यादुत्प्लवन्त इत्युत्तरास्तैः, उत्प्लवनेनोपहासे कारणमुक्तम् । तदाह–

शून्याविकल्पवादेषु विकल्पानामसम्भवात् ।
तैः क्वचित्तत्त्वविज्ञानमुपहासास्पदं न किम् ? ॥ ७९९॥
अनुपायं हि किञ्चिन्न कस्यचित्सिद्धिमृच्छति ।
अनुपायेष्टसिद्धौ हि कस्य केन दरिद्रता ॥८००॥

भवन्तु वा विकल्पाः, तथापि तैः स्वांशमात्रे वापनारोपिताभिलाप्याकारलक्षणे पर्यवसितैः क्वचिदन्यत्र तत्त्वपरिज्ञानमतियुक्तिमद्वेत्यावेदयन्नाह–**स्वांशमात्रावलम्बिभिः** इति । तथा हि–

स्वरूपमात्रनिर्मग्नैर्विकल्पैस्तत्त्ववेदनम् ।
कथमन्यत्र यद्द्रव्याद्ययथार्थं प्रकल्प्यते ॥८०१॥
अनुमानादिवान्यत्र तदाभासादपि स्वयम् ।
तत्त्वज्ञानं कुतो न स्यादविशेषाद्वियोस्तयोः ॥८०२॥
अनुमानस्य साध्येन सम्बन्धाच्चेद्विशिष्टता ।
सम्बन्धोऽपि विकल्पात्र परतः शक्यवेदनः ॥८०३॥
ततोऽपि स्वात्मनिर्मग्नात्सम्बन्धप्रतिपत्कथम् ।
सम्बन्धे तस्य सम्बन्धादेवं सत्यनवस्थितिः ॥८०४॥
विकल्पजननान्मानं येन प्रत्यक्षमुच्यते ।
अनयैव च पद्धत्या निषिद्धः सोऽपि बुध्यते ॥८०५॥
शुक्लस्य दर्शनं यद्वन्मानं शुक्लविकल्पतः ।
स्यात्पीतादिविकल्पादप्यविशेषात् पुरोदितात् ॥८०६॥

१–मात्रविलम्बि–ता० । २ सर्वत्रप्र–आ०, ब०, प०, स० । ३ ततः स्वजाती–आ०, ब०, प०, स० । ४–नां न संभ–आ०, ब०, प०, स० । ५–गर्य–ब० । ६–मात्रविलम्बि–ता० । ७–चेद्विशिष्यता आ०, ब०, प०, स० । ८ विकल्पादपि ।

शुक्ले शुक्लविकल्पस्य सम्बन्धाच्चेद्विशिष्टता[1] ।
न तस्यापि प्रमाणत्वप्रसङ्गादनुमानवत् ॥८०७॥
गृहीतविषयत्वं तु स्वांशमात्रावलम्बिनः ।
न तस्य शक्यते वक्तुं यत स्यादप्रमाणता ॥८०८॥
[2]एकत्वाध्यवसायेन स्वयं दृश्यविकल्प्ययोः ।
गृहीतग्रहणं तत्र कल्प्यते यदि सौगतैः ॥८०९॥
एकस्य व्यवसायस्यैवांशो दृश्यविकल्प्ययोः ।
कथं यतो विकल्पस्य गृहीतग्रहणं भवेत् ॥८१०॥
एकत्वाध्यवसायेनेत्यादेः पुनरुदीरणे ।
तदेवोत्तरमेवं स्यादनवस्था महीयसी ॥८११॥
गृहीतार्थत्वमीदृक्षमनुमानेऽपि विद्यते ।
तत्कथं स्यात्प्रमाणं यत्प्रमाणद्वयमाश्रमम् ॥८१२॥
प्रयोजनविशेषाश्चेत्[3]मानं कः स[4] कथ्यताम् ? ।
निश्चयश्चेन्न शुक्लादिविकल्पेष्वपि [5]तद्गतेः ॥८१३॥
प्रवृत्तिरिति चेन्नास्या अपि तत्रोपलम्भनात् ।
निश्चयादेव नीलादौ यतो लोकः प्रवर्तते ॥८१४॥
समारोपनिषेधश्चेत्सोऽपि [6]तेष्वस्ति येन तैः ।
अप्रामाण्यसमारोपो [7]दर्शनेषु निषिध्यते ॥८१५॥
न चैत्र तत्समारोपो यस्य तैः स्यान्निषेधनम् ।
इति चेत्किमिदानीं तद्विकल्पानामपेक्षया ॥८१६॥
अपेक्ष्येव परः कार्यं यदि विदधीत किञ्चन ।
यत्किञ्चित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते ? ॥८१७॥
[8]ततस्तेषु तदारोपो गम्यतां तदपेक्षया ।
तन्निषेधात्प्रमाणत्वं तद्विकल्पेष्वपि स्फुटम् ॥८१८॥
तस्माद्भासो[9] विशेषः स, वस्तुलेशग्रहो यदि ।
विकल्पेषु स किं नास्ति [10]शुक्लादेरुपग्रहात् ॥८१९॥
स्वांशमात्रावलम्बित्वाद्वस्तुलेशग्रहणं कथम् ।
तेषु[11] चेदनुमानं किं स्वांशादन्यत्र वृत्तिमत् ॥८२०॥

१ सम्बन्धाच्चेद्विशिष्टता। आ०, ब०, प०, स० । २ एकत्वाध्यवसा–आ०, ब०, प०, स० । ३ प्रयोजन-विशेषः । ४ तद्गती–आ०, –ब०, प०, स० । ५ चैतस्या अपि आ०, ब०, प०, स० । ६ विकल्पेषु । ७ दर्शने । ८ अप्रामाण्यसमारोपः । ९ प्र० वा० ३।२७१ । १० समारोपनिषेधः । ११ शुक्लादे–आ०, ब०, प०, स० । १२ विकल्पेषु ।

अभिन्नयोगक्षेमत्वे सत्येवमनुमानवत् ।
मानत्वं चेद्विकल्पानां मानद्वित्वं विलुप्यते ॥८२१॥
अमानत्वेऽप्यमानत्वादनुमानस्य किं च तैः ।
कथं प्रत्यक्षमानत्वं स्वांशमग्नैः प्रदीयताम् ॥८२२॥ इति ।

तदाह–'पर्वतादि' इत्यादि । पर्वत आदिर्येषां समुद्रादीनां ते पर्वतादयः । विभज्यन्ते विशेषेण परिच्छिद्यन्ते यैस्ते विभागाः पर्वतादीनां विभागा पर्वतादिविभागास्तेषु संविदात्मसु । 'संविदात्मनः' [1]इत्यस्येह विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धात् । तत्त्वं प्रमाणत्वम्, तच्छब्देन 'प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्' इत्यत्र [2]इहोपस्थितस्य प्रमाणस्य परामर्शः । वेत्ति जानाति । कः ? सौगतः । कैः ? विकल्पैः व्यवसायैः । कीदृशैः ? उत्तरैः प्रत्यक्षोत्तरकालभाविभिः इत्यतियुक्तिमत् । अत्रोपपत्तिमाह–'स्वांश' इत्यादि । सुगमम् ।

यत्पुनरेतत्–"आवरणं तर्हि परमाणूनामसंसर्गात्कथम् ? इति न युक्तम्; न [3]ह्यवयविप्रतिबद्धमावरणं क्वाप्युपलब्धं येन तदभावे परमाणुषु न स्यात्, [4]तथा प्रतिघातादयः । अथैवमुच्यते–

छिद्रत्वात्परमाणूनां संहतेः [5]स्यात्पटादिकम् ।
कथमावरणं वातस्यातपस्य जलस्य च ॥

अवयविसंयोगमन्तरेण परमाणव एव केवलाः अव्याहतपरस्परान्त[6]रानुप्रवेशाः कथमावरणभाजः ? अत्रोच्यते–असंसृष्टाः कथमवयविनं जनयन्ति ? संसर्गश्च नैकदेशेन; तदभावात् । न सर्वात्मना; अणुमात्रपिण्डप्रसङ्गात् । संयोगस्य पदार्थान्तरस्य जननेनेति चेत्; तमेव संयोगं सान्तराः कथं जनयन्तीति समानः प्रसङ्गः । संसर्गे परमाणुमात्रपिण्डप्रसङ्गः । संसर्गश्चेत्; किं संयोगेनापरेण तथा अवयविना ? अथ सान्तरा एव संयोगमवयविनञ्च जनयन्ति तथा सत्यावरणादिकार्यमपि किन्न जनयन्ति ?" [प्र० वार्तिकाल० १।९१] इति ।

तत्राह–'पर्वत' इत्यादि । विभज्यन्त इति विभागा विशेषाः स्वलक्षणपरमाणवः तेषु तत्त्वम् । किं वत् ? इत्याह–पर्वतादि । पर्वणो भावः पर्वता सा च आवेष्टकत्वमेव वंशादिपर्ववत् । अनेनावरणमुक्तम् । पर्वता आदिर्यस्य प्रतिघातादेः क्रियान्तरस्य तत् पर्वतादि । तत्किम् ? वेत्ति जानाति प्रज्ञाकरः । कैः ? विकल्पैः अनन्तरविचारैः । कीदृशैः ? उत्तरैः । नैयायिकादिं प्रति उत्तरीकृतैः इति अतियुक्तिमत् । अत्रोपपत्तिमाह–'स्वांशमात्र' इत्यादि ।

---

१ श्लो० ६१ । २ इह० ५० । ३ संसर्गाभावप्रयुक्त-अवयवित्वाभावे । ४ तथा हि प्रति–आ०, ब०, प०, स० । ५ स्यादद्य–आ०, ब०, प०, स० । ६ –रान्तरानुप्र–आ०, ब०, प०, स० ।

स्वविचित्तिनियतैर्वेत्ति विचारैः परमाणुषु ।
कार्यमावरणादीति नोपहास्यमिदं कथम् ? ॥८२३॥
अन्यथा नीलविज्ञानात्सर्वं त्रैलोक्यगोचरम् ।
जनः सर्वोऽपि जानीयात् सर्वज्ञोऽपि स्फुटं भवेत् ॥८२४॥
तेषामणुषु सम्बन्धात्स्वांशमात्रविदामपि ।
तेभ्यस्तत्त्वसंवित्तिरित्यप्यज्ञानकल्पितम् ॥८२५॥
तत्तत्त्वं न हि तेषां यत्तत्सम्बन्धेऽपि विद्यते ।
अन्यथा साध्यसम्बन्धाल्लिङ्गं साध्यतां व्रजेत् ॥८२६॥
लिङ्गाल्लिङ्गिनि विज्ञानमनुमानं यदुच्यते ।
तस्तुत्यतां क्वचिज्जीत्या ततो निष्फलकल्पनम् ॥८२७॥
तेभ्योऽप्यन्ये विकल्पास्तत्त्वेऽणुतत्त्वमक्षमाः ।
तत्राप्ययं प्रसङ्गः स्यात्स्वांशमात्रावलम्बनात् ॥८२८॥
तेभ्योऽप्यन्यविकल्पानां प्रक्लृप्तावनवस्थितेः ।
अणुतत्त्वपरिज्ञानं न युगेनापि सिद्ध्यति ॥८२९॥
अवञ्चकत्वान्मानत्वं विचाराणां यदीष्यते ।
अवञ्चकत्वमेवेदमतस्तासु कथं भवेत् ॥८३०॥
सम्बन्धाच्चेन्न लिङ्गेष्वप्येवमेव प्रसञ्जनात् ।
लिङ्गानामेव मानत्वे व्यर्थिकैवानुमा भवेत् ॥८३१॥
तथार्थानवभासित्वे युक्तमर्थेऽप्यवञ्चनम् ।
विकल्पानामतश्चेदं कोर्त्तेर्व्याख्यानेकीर्तितम् ॥८३२॥
"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।
प्रतिबन्धात्तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥" [प्र०वा० २।८२] इति ।

कथं वा सम्बन्धादपरिज्ञानादेव क्वचिदवञ्चनम्, सर्वस्य प्रसङ्गात् । परिज्ञानादेवेति चेत्, न, परमाणूनामदर्शने तत्परिज्ञानानुपपत्तेः । भवतु तद्दर्शनमपीति चेत्; न, अस्मदादौ तेषामभावात् । भावे तदेव 'तेष्ववयव्यादिकल्पनस्य बाधकं स्यात् । तथा च यदुक्तम्– "अत्राप्यतीन्द्रियदर्शियोगिप्रत्ययो भवति बाधकः, यदि योगी भवेत्" [प्र०वार्तिकाल० १।९१] इति, तदप्यर्थैकल्गुमल्पितम्, सन्निहितादस्मदादिदर्शनादेव तद्बाधने विप्रकृष्टपुरुषप्रत्ययात् तत्कल्पनानुपपत्तेः । योगिशब्देनास्मदादिरेवोच्यते तस्यापि देशतोऽतीन्द्रियार्थदर्शित्वादिति चेत्, न, 'यदि' इत्यादिविरोधात् । प्रत्यात्मवेदनीयस्यास्मदादिभावस्य अनाश-

१ विचारात्मम् । २ परमाणुसम्बन्धेऽपि । ३ अविसंवादित्वात् । ४ कीर्तनम् आ०, ब०, प०, स० । ५ परमाणुदर्शनस्य । ६ परमाणुषु । ७ –त्यापजल्पि–आ०, ब०, प०, स० । ८ –दिविभ्रमात् आ०, ब०, प०, स० ।

ङ्कास्पदत्वात् । आशङ्क्यते चानेन[1] योगिभावो यदिशब्दोपादानात् । भवतु योगिनैव तेषां[2] दर्शनमिति चेत् ; इदमपि कस्मात् ? [3]तेषामेव विचारक्षमत्वान्नावयव्यादीनां विपर्ययादिति चेत् ; किमिदं तेषां [4]तत्क्षमत्वम् ? न तावत्तद्विषयत्वम् ; अनभ्युपगमात् । [5]तत्प्रतिबद्धविषयत्वमिति चेत् ; तदपि कुतः ? तेषामेव तेन[6] दर्शनादिति चेत् ; न ; परस्पराश्रयात्– 'तेषाम्' इत्यादिना 'तत्प्रतिबद्ध'[7] इत्यादेस्तेन च 'तेषाम्' इत्यादेर्व्यवस्थापनात् । भवतु वा सति योगिनि तेन तेषामेव दर्शनम् , असति तु कथम् ? न चैकान्तेन सन्नेवासौ[8] यदीत्याशङ्कावचनानुपपत्तेः तस्य पाक्षिकाभावसव्यपेक्षत्वात् । तन्न किञ्चिदेतत् । ततो विचारसाफल्यमभ्युपगच्छता[9] वक्तव्यं बहिरर्थविषयत्वं विकल्पानाम् , अन्यथोपहासास्पदत्वेन तस्साफल्यानुपपत्तेः ।

प्रकारान्तरेणापि [10]तेषां तद्विषयत्वं दर्शयन्नाह–

सन्तानान्तरसद्भूतेश्चान्यथानुपपत्तितः ॥६७॥
विकल्पोऽर्थक्रियाकारविषयत्वेन तत्परैः ।
ज्ञायते न पुनश्चित्तमात्रेऽप्येष नयः समः ॥६८॥ इति ।

धर्मकीर्तेः[11] सन्तानादन्यस्तच्छिष्यादिसन्तानः **सन्तानान्तरं** तस्य **सद्भूतिः** सद्भावः । सैव कस्मादिति चेत् ? शास्त्रकरणात् । न हि [12]तत् स्वार्थम् ; निश्चिततदर्थत्वात् , अन्यथा करणायोगात् । कालान्तरतन्निश्चयार्थत्वात्स्वार्थमेवेति चेत् ; न ; तन्निश्चयस्यापि पूर्वतन्निश्चयादेव भावात् । कदाचिद्विच्छिद्येतापि [13]तत्प्रबन्ध इति चेत् ; तर्हि पर एव विच्छिन्नतत्प्रबन्धप्रतिपत्ता तद्विपरीतत्वादिति परार्थमेव [14]तत्करणम् , तच्च पराभावे न सम्भवति । मा भूदिति चेत् ; न ; उपलम्भात् । सोऽपि स्वप्नादिवत् भ्रम एवेति चेत् ; किमस्य[15] वचनस्य फलम् ? तद्भ्रमज्ञानमिति चेत् ; अस्ति परः, तदभावे तज्ज्ञापनानुपपत्तेः । इदमपि नास्त्येव वचनमिति चेत् ; न ; 'उपलम्भात्' इत्यादेरनुबन्धादव्यवस्थापत्तेश्च । ततः पर्यन्ते किञ्चिद्वचनं पारमार्थिकं परार्थञ्च वक्तव्यम् , तद्वच्छास्त्रं चेति सिद्धा सन्तानान्तरसद्भूतिः, तस्या **अन्यथानुपपत्तितः, ज्ञायते** प्रतीयते । कः ? **विकल्पो** व्यवसायः । केनात्मना ? **अर्थक्रियाकारविषयत्वेन** अर्थक्रिया स्नानपानादिः तां करोतीत्यर्थक्रियाकारो जलादिः स विषयो गोचरो यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तेन । कैर्ज्ञायते ? **तत्परैः** सः अर्थक्रियाकारः परः प्रधानो येषां तैर्जनैः ।

कथं पुनर्विकल्पैर्जलादेर्ग्रहणम् ? कथं च न स्यात् ? स्वग्रहणस्वभावेन [16]तदयोगात् । परग्रहणस्वभावेनेति चेत् ; न ; स्वभावभेदे विकल्पस्यापि भेदात्मनो भेदापत्तेः । भवत्वन्य

---

१ प्रज्ञाकरेण । २ परमाणूनाम् । ३ परमाणूनामेव । ४ विचारक्षमत्वम् । ५ तत्प्रतिबन्धवि–आ०, ब०, प०, स० । ६ योगिना । ७ –बन्ध–आ०, ब०, प०, स० । ८ योगी । ९ –ता वद वक्त–आ०, ब०, प० । १० विकल्पानां बहिरर्थविषयत्वम् । ११ धर्मकीर्तिम्–आ०, ब०, प०, स० । १२ शास्त्रकरणम् । १३ शास्त्रार्थनिश्चयप्रबन्धः । १४ शास्त्रकरणम् । १५ भ्रमस्य । १६ जलादिग्रहणायोगात् ।

पदार्थविकल्प इति चेत्, न, तस्याप्यस्वसंवेदिनोऽर्थविषयत्वासम्भवात् पटादिवत्। स्वसंवेदने तु ततोऽप्यन्य पदार्थविकल्पः स्यात्। न चेदमुचितम्। तत्राप्येवं विचारे अनवस्थापत्तेरिति चेत्, न; स्वपरविषयत्वस्वभावभेदाभिधानस्यैकस्यैव विकल्पस्य भावात्। कथमेकस्यानेकस्वभावत्वं विरोधादिति चेत्? कथमन्तर्विचारस्य[1] अनेकपरामर्शाभिधानत्वम्? प्रति परामर्शं भिन्न एव विचारोऽपीति चेत्; किं तत्रैकस्यैकतया बहिरर्थवेदनस्यैकेनैव प्रतिक्षेपसम्भवात्। बहुभिरेव तत्प्रतिक्षेप इति चेत्, न, बहूनां युगपदसम्भवात् विकल्पानां तदनभ्युपगमात्। क्रमेण सम्भव इति चेत्, न, क्रमवतामेकत्र कार्ये व्यापारानुपपत्तेः[2], अन्यथा कन्यामातृपितृभ्यामपि गर्भनिष्पत्तेर्न कन्या गर्भवती दृश्या भवेत्। तस्मादेक एव परामर्शभेदेऽपि विचारो वक्तव्यः, तथा स्वपरग्रहणस्वभावभेदेऽपि विकल्प इत्युपपन्नं तस्यार्थक्रियाकारविषयत्वम्। अवश्यं चैतदेवमङ्गीकर्तव्यम्, कथमन्यथा सन्तानान्तरस्य परिज्ञानम्? तत्राप्यस्य विचारस्याप्रतिरोधात्। न चापरिज्ञातस्यैव तस्य तत्त्व नित्यादिवत्। न च तन्नास्त्येव, विचारकरणात्। परार्थं हि[3] तत्करणं कथं परामावे भवेत्। संशयितेऽपि परे भवत्येव तत्करणम्—'यदि स्यात्परस्तदर्थमिदम्, न चेत् न' इति युक्तमिति चेत्, न, अनेकान्तविद्वेषे संशयस्यैवासम्भवात्, तस्य[4] 'इदमित्थमन्यथा वा' इति परामर्शद्वयात्मकत्वे सत्येवोपपत्तेः। तद्द्वयात्मनस्तस्य सम्भवे वा विकल्पेन कोऽपराधः कृतो येन स एव स्वपरवेदनस्वभावद्वयात्मा न भवेदित्युपपन्नं तेन[5] बहिरर्थस्य वेदनम्, अन्यथा[6] तद्दृष्टेन सन्तानान्तरस्याप्यव्यवस्थितेः।

ननु यावदर्थान्तरस्यैव अक्षादेर्विकल्पवेद्यत्वमनुमानादुच्यते तावदनर्थान्तरस्य कस्मान्न कथ्यते तदनुमानस्यापि भावात्? तथा हि—अक्षादिस्तद्विकल्पादनर्थान्तरम्, तद्वेद्यत्वात्, तत्स्वरूपवदिति चेत्, न, सन्तानान्तरेण व्यभिचारात्, तस्य तद्वेद्यत्वेऽपि तदर्थान्तरत्वात्। न च व्यभिचारिणो गमकत्वम् अन्यथानुपपत्तिवैकल्यात्। इदमेवाह—न पुनः नैव तद्विकल्पानर्थान्तरतया विकल्पमेव न अक्षमिति चित्तमात्रं ज्ञानादि तस्मिन् साध्ये, न केवलं तदरूप इत्यपिशब्दः, यतोऽनन्तरोक्तो नयः न्यायोऽन्यथानुपपत्तिरूपः समः सदृशः तत्र तदभावात्।

ननु सन्तानान्तरस्य विकल्पो न तावत्प्रत्यक्षम्, परचेतसा साक्षादप्रतिभासनात्। अनुमानमिति चेत्, न, लिङ्गाभावात्। व्याहारादेस्तु[12] न लिङ्गत्वम्, गाढमूर्च्छादौ तदभावेऽपि भावात्। तद्विशेषस्य[13] [14]तत्त्वमित्यपि न युक्तम्, असिद्धे साध्ये तस्यैव दुरवबोधत्वात्। सिद्धे तस्मिन्[15] तद्बुद्धिरिति चेत्, न, परस्पराश्रयात्—साध्यसिद्ध्या तद्विशेषस्य तत्सिद्ध्या च साध्यस्य व्यवस्थापनात्। तदेवाह—

---

१ –प्यस्वसंवे–आ०, ब०, प०, स०। २ –र्मिदमे–आ०, ब०, प०, स०। ३ –पत्तेरिति आ०, ब०, प०, स०। ४ न पर–आ०, ब०, प०, स०। ५ "कथं पुनर्विकल्पैर्बहिरर्थग्रहणमित्यादिकस्य"–ता० टि०। ६ सन्तानान्तरस्य। ७ विचारकरणम्। ८ इदमित्यर्थमन्य–आ०, ब०, प०, स०। ९ संशयस्य। १० विकल्पेन। ११ विकल्पवेद्यत्वेन। १२ व्यवहारे ब०। १३ सन्तानान्तराविनाभाविनो व्याहारादिविशेषस्य। १४ लिङ्गत्वम्। १५ सन्तानान्तरे साध्ये।

अन्योन्यसंश्रयान्नो चेत् [तत्किमज्ञानमेव तत् ।] इति ।

उक्तरूपात् परस्पराश्रयात् **नो चेत्** न यदि **सन्तानान्तरसङ्गतिरि**ति सम्बन्धः । ननु अयमन्यत्रापि प्रसङ्गः—पावकादौ धूमादेरपि न लिङ्गत्वम् गोपालकलशादौ तदभावेऽपि[1] भावात् । तद्विशेषस्य[2] तत्त्वमित्यपि न सुन्दरम् ; पावकाद्यसिद्धौ तस्यैवापरिज्ञानात् । तत्सिद्धौ[3] तत्परिज्ञाने पूर्ववत्परस्पराश्रयात् । तद्विशेषस्य स्वसाध्यनियमलक्षणस्य धूमादिस्वरूपत्वात्, अपरिज्ञातेऽपि पावकादौ भवत्येव परिज्ञानमित्यपि न शोभनम् ; व्याहारादिविशेषस्याप्येवं परिज्ञानप्रसङ्गादिति चेत् ; सत्यम् ; अस्तीदं समाधानं सुबोधत्वात्, तत्र गजनिमीलनं कृत्वा समाधानान्तराभिधित्सया परं पृच्छन्नाह–'**तत्किम्**' इति । **तत्** तस्मात् सन्तानान्तरं नो चेदित्यस्मात्, किं तव सिद्धम् ? पर आह '**अज्ञानमेव तत्** ' इति । तद्विकल्पस्यार्थक्रियाकारविषयत्वम् **अज्ञानम्** अप्रतिपत्तिकं सन्तानान्तरसद्भावलिङ्गस्य तज्ज्ञानस्य तल्लिङ्गाभावेऽसम्भवादिति भावः परस्य । तत्रोत्तरमाह—

अद्वयं परचित्ताधिपतिप्रत्ययमेव वा ॥६९॥
वीक्षते किं तमेवायं विपमज्ञ इवान्यथा । इति ।

न तावद्व्याहारादिरप्रतिपन्न एव व्यभिचारोद्भावनस्य तत्रासम्भवात् । प्रतिपत्तिरपि न निर्विकल्पात्; ततस्तस्यानिश्चयात्, अनिश्चिते च व्यभिचारोद्भावनस्यासम्भवात् । नापि विकल्पात्; तस्याप्यनुभयस्वभावत्वे तदसम्भवात् । तथा हि–**तमेव** प्रसिद्धमेव । कमेव ? **परचित्ताधिपतिप्रत्ययं** परचित्तं सन्तानान्तरज्ञानम् अधिपतिप्रत्ययो निमित्तकारणं यस्य सः परचित्ताधिपतिप्रत्ययो व्याहारादिः तमेव, 'असहायं न तद्व्यभिचारादिकम्' इत्येवकारार्थः, किम् ? इत्याह–**वीक्षते** प्रतिपद्यते किं नैव । कः ? **अयम्** अनन्तरोक्तो विकल्पः । कुत इत्याह–'**अद्वयम्**' इति । एवकारः प्रथमोऽत्र सम्बध्यते । द्वौ अवयवौ यस्य तद्द्वयं द्विरूपं वस्तु तस्मादन्यद् अद्वयं तदेव यत इति, विकल्पविशेषणमपि **अद्वय**मिति नपुंसकमेव, परवल्लिङ्गत्वात्तत्पुरुषस्य । तदिदमभिहितं भवति–

स्वग्रहैकस्वभावोऽयं विकल्पस्त्वन्मते स्थितः ।
व्याहारादेः कथं तेन[4] बहिरर्थस्य वीक्षणम् ?॥ ८३३॥
अवीक्षणे कथं तस्य[5] व्यभिचारः प्रकल्प्यताम् ।
सन्तानान्तरसद्भावज्ञानं तस्मान्न यद्भवेत् ॥८३४॥
तस्माद्धेतोरनेकान्ते विकल्पो दर्शयन्नयम् ।
युक्तस्तद्विषयो न स्यादन्यथा तद्गतिस्ततः[6] ॥८३५॥

१ पावकाभावेऽपि । २ पावकाविनाभाविनो धूमस्य । ३ पावकसिद्धौ । ४ विकल्पेन । ५ व्याहारादेः । ६ व्याहारादिव्यभिचारपरिज्ञानम् ।

सन्तानान्तरविज्ञस्यासम्भवेऽपि ततः स्थितम् ।
विकल्पो वहिरर्थस्य वेदितेत्युदिताभयात् ॥८३६॥

तत्समर्थने दृष्टान्तमाह—**विषमं** स्थपुटितप्रदेशं जानातीति **विषमज्ञः स**[1] **इव** यद्वत् **अयम्** **अन्यथा** अन्येन समप्रकारेण । किम् ? वीक्षते । तद्वत्स्वरूपमात्रविषयोऽपि विकल्पो व्याहारादिकमपरम् । किम् ? वीक्षत इति । वाशब्दो वितर्के । 'किम्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । प्रयोगश्चात्र—यदसदन्यविषयं न ततस्तस्य वीक्षणं यथा विषमज्ञानात् समभावस्य [2]व्याहारादेरन्यविषयश्च विकल्पः स्वरूपमात्रगोचरत्वात् तस्मात्तस्य व्याहारादेर्विभिन्नत्वात् । ततो न तैवस्तस्य[3] व्यभिचारोद्भावनमुपपन्नम् तदुद्भावने वा तस्य[4] बहिर्विषयत्वमङ्गीकर्तव्य मिति भावः ।

व्याहारादेर्व्यभिचाराच्च तत सन्तानान्तरप्रतिपत्ति, तदभावाच्च न तद्बलेनार्थक्रियाकार-विषयत्वपरिज्ञानम् । विकल्पस्य किमिदानीं[5] तत्त्वं भवेत् यत्र भवतः स्थिरप्रज्ञत्वम् । सर्वव-स्तुनैरात्म्यं सर्वविकल्पातीत संवन्मात्रं चेति चेत्, कुत एतत् ? तस्यैव विचारसहत्वादिति चेत्; अत्राह—'**अद्वयम्**' इत्यादि । '**नो**' इत्यनुवर्तमानं[6] वाशब्दवत् किमः[7] परं द्रष्टव्यम् । **किं वा नो वीक्षते** ? किन्तु वीक्षत एव । कः ? **अयम्** अद्वैतादिविचारः । कम् ? **समेव** प्रसिद्धमेव । कीदृशम् ? **अन्यथैव** इति । प्रथमस्यैवकारस्यात्र सम्बन्धः । '**भूतम्**' इत्यध्याहारश्च कर्तव्यः । तदयमर्थ.—**अन्यथैव** परपरिकल्पिताद्द्वैतादिप्रकारादन्येनैव प्रकारेण भूतमिति । स किरूप वीक्षते ? **अद्वयम्** वपक्षणमित्रम्, तेन शून्यमपीति । दृष्टान्तमाह—'**विषमज्ञ इव**' इति । यद्वदन्यथाभूतमेवाज्ञो जनो विषं वीक्षत इति । कुतः पुनरेवम्—द्वैतमेवाद्वैतम् अशून्यमेव शून्यं तद्विचारो वीक्षते[8] द्वैतादेरेवाविद्यमानत्वात् अविद्यमानस्य चान्यथा वीक्षणायोगादिति चेत्, न, तस्य प्रमाणविषयतया विद्यमानत्वात् । तदाह—'**परचित्ताधिपतिप्रत्ययम्**' इति । परं प्रकृष्टमविसंवादित्वेन चित्तं ज्ञानं यस्य सः **परचित्तः** निर्दोषप्रतिपत्तिक इत्यर्थः । अधिपत्यतेऽधिगम्यतेऽनयेत्यधिपतिः अधिगतिस्तस्याः प्रत्ययो विश्वासः संवादो यस्मिन्नसौ **अधिपतिप्रत्ययः** संवादिज्ञानविषय इत्यर्थः । परचित्तश्चासावधिपतिप्रत्ययश्चेति **परचित्ताधिपतिप्रत्यय**. तमिति । परचित्तपदेन [9]स्वप्रसिद्ध्या अधिपतिप्रत्ययपदेन [10]परप्रसिद्ध्या द्वैतादेर्विद्यमानत्वमावेदयति । तथा हि—

मस्यत्यप्रतिभासं यत् ज्ञानं संवादवत्तया ।
द्वैतादि तस्य संवेद्य विद्यमानं कथं न तत् ? ॥८३७॥

ततो नाद्वैतादेर्विचारादवस्थापनम्, [11]"आत्मादिविचारवत्तद्विचारस्यापि" विपर्यासरूप

१ स इव इयम्—आ०, ब०, प०, । २ व्यवहारादे–आ०, ब०, प०, स० । ३ व्याहारादेः । ४ विकल्पस्य । ५ विकल्पस्य । ६ —नी तत्त्वं भवतः स्थिरप्र–आ०, ब०, प० । ७ ६९ श्लोकतः । ८ किंशब्दात् । ९ तै तद्द्वैत–आ०, ब०, प० । १० चैत । ११ नोभयत । १२ आत्मवादमेवात्र वैशाम्बिमिरभ्युपगतं प्रत्र प्रत्यक्षम् ता० टि० । १३ अद्वैतविचारस्यापि ।

त्वेन विशेषाभावादिति निरूपितत्वात्। विशेषे वा तद्वत्[1] ग्राह्यविकल्पस्यापि स्वप्नविकल्पा-त्तदुपपत्तौ नार्थक्रियाकारविषयत्वं[2] तस्य न[3] स्यात्। न विचारविकल्पैरप्यद्वैतादेर्ग्रहणं येनायं दोषः। न चैतावता वैफल्यमेव [4]तेषाम्; समारोपव्यवच्छेदेन फलेन फलवत्त्वात्। तदेवाह–

समारोपव्यवच्छेदः साध्यश्चेत्सविकल्पकैः ॥७०॥ इति।

सुबोधमेतत्। अत्रोत्तरमाह–

नैषापि[5] कल्पना साम्याद्दोषाणामनिवृत्तितः। इति।

एषापि अनन्तरापि **कल्पना न**। कुत एतत्? **साम्यात्** पूर्वन्यायस्यात्रापि सदृशत्वात्। तथा हि–यथा तैः [7]स्वांशमात्रावलम्बिभिर्न[8] द्वैतादेः परिच्छेदस्तथा तद्व्यवच्छेदोऽपि। न ह्यपरि-ज्ञाते तस्मिन् तद्गतविपरीतारोपनिवर्तनम्। परिज्ञात एव मरीचिकादौ तद्गतजलाद्यारोपनिवर्तन-स्योपलम्भात्। हेत्वन्तरमाह–**दोषाणाम्** अनुक्तानामपि उक्तानां **साम्यात्** इत्यनेन गतत्वात्[9] **अनिवृत्तितो** निवर्तनाभावात्। तथा हि–

कोऽयं समारोपस्य व्यवच्छेदो नाम? [10]तत्त्वज्ञापनमिति चेत्; किं [11]तस्य तत्त्वम्? अतस्मिन् [12]तद्ग्रहत्वमिति चेत्[13]; न; तस्य तत्स्वसंवेदनादेव परिज्ञानात्। तस्य[14] निर्विक-ल्पत्वात्तदपरिज्ञातमेवेति चेत्; न; अज्ञातार्थविषयतया विकल्पानां प्रमाण्यप्रसङ्गात्। तेऽपि तत्र समारोपमेव व्यवच्छिन्दन्ति न [15]तत्त्वं प्रतिपद्यन्त इति चेत्; न; तत्रापि 'कोऽयम्' इत्याद्यनुबन्धादव्यवस्थापत्तेश्च। तन्न तत्त्वज्ञापनं तद्व्यवच्छेदः।

तन्नाशं[16] इति चेत्; कस्तदनाशे दोषः? तत्त्वज्ञानप्रतिबन्ध इति चेत्; कुत [17]एतत्? तस्य विभ्रमत्वादिति चेत्; न; स्वतस्तत्परिज्ञाने तदनुपपत्तेः। न हि गुडे विषज्ञानं विभ्रमरूपतया प्रतिपन्नमेव गुडतत्त्वपरिज्ञानं [18]प्रतिबन्धुम (मर्ह) ति। स्वतस्तत्परिज्ञानमपरि-ज्ञानमेव निर्विकल्पत्वादिति चेत्; कथमिदानीं तस्य तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धित्वम् अनुपदर्शित [19]स्वरूपस्य तदसम्भवादतिप्रसङ्गात्। कथं वा तन्नाशाय विकल्पान्वेषणम्? अज्ञाते तस्मिन्[20] तदनुपपत्तेः। न च [21]विकल्पात्तन्नाशः [22]तस्याऽहेतुकत्वेनाभ्युपगमात्। [23]तन्नाशोऽपि [24]न तद्व्यवच्छेदः।

तदुत्पत्तिप्रतिबन्ध इति चेत्; कस्तदप्रतिबन्धे दोषः? तत्त्वज्ञानप्रतिबन्ध इति चेत्; न; उक्तोत्तरत्वात्। कथं वा सति समर्थकारणे [25]तत्प्रतिबन्धः कुतश्चित्? असमर्थे तु न

१ तद्ग्राह्यवि–आ०, ब०, प०,। २ –त्वं तस्यान्यान्यविचा–आ०, ब०, प०। ३ 'न' इति निरर्थकं भाति। ४ विकल्पानाम्। ५ नैषा विक–आ०, ब०, प०। ६ –राविकल्प आ०, ब०, प०। ७ स्वांशमात्रावल-म्बिभिर्नद्वै–आ०, ब०, प०। ८ –मात्रविल–ता०। ९ –त्वादित्यनुवृत्ति–आ० ब०, प०। १० "समारोपस्य"–ता० टि०। ११ समारोपस्य। १२ तद्ग्रहणमि–आ०, ब०, प०। १३ चेत्तस्य आ०, ब०, प०। १४ स्वसंवेद-नस्य। १५ समारोपत्वम्। १६ समारोपनाशः। १७ एव तत्तस्य-आ०,ब०,प०। १८ प्रतिबन्धमर्ह–आ०,ब०, प०। १९ स्वभावस्य आ०, ब०, प०। २० समारोपे। २१ विकल्पस्यास्तमा–आ०,ब०,प०। २२ नाशस्य। २३ तत् तस्मात् कारणात् नाशोऽपि। २४ –पि तद्य–आ०, ब०, प०। २५ तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धः।

किञ्चिद्विकल्पैरेवासिद्धत्वात् [1]तत्प्रतिबन्धस्य। कारणस्यैव सामर्थ्यं तैः[2] प्रतिरुध्यत इति चेत्, न, असतः प्रतिरोधासम्भवात्। स्वहेतुपक्षोपनीतत्वेन सत एवेति चेत्, न, तस्याप्युत्पत्त्यवस्थायां [3]तदयोगात्, अन्यथा तदुत्पत्तेरेव प्रतिरोधप्रसङ्गात्। न चेदमुचितम्, सति [4]समर्थे कारणे तत्प्रतिरोधस्याप्यनुपपत्तेः। तत्रापि कारणस्यैव सामर्थ्यं तैः प्रतिरुध्यत इति चेत्, न, 'असतः' इत्याद्युपलम्भाद्व्यवस्थानुपपत्तेश्च। पश्चात्तत्प्रतिरोध इति चेत्, न, तदा तस्य स्वयमेव नाशात्, विकल्पानां मृतमारणस्यापत्तेः। समर्थमपि कारणं विकल्पाभावे सत्येव समारोपमुत्पादयति न पुनस्तद्भावे तादृशस्यात्तत्सामर्थ्यस्येति चेत्, नैवम्, नित्यस्याप्यनिषेधप्रसङ्गात्। तदपि हि सत्येव सहकारिणि कार्यकारि न तदभावे तच्छक्तेरपि तादृशत्वात्, सहकारिणा तदनुपकारस्यान्यत्रापि समानत्वात्। ततो नैवं [5]तैस्तदुत्पत्तिप्रतिबन्धः।

स्यान्मतिरेषा भवतः—विकल्पसहायः [6]समारोपक्षणस्तदुत्तरक्षणमसमर्थं जनयति सोऽप्यसमर्थतरमसमर्थतमं च सोऽपि, ततश्च कार्यानुत्पत्तिरित्येवं प्रकारः, [7]तैस्तदुत्पत्तिप्रतिबन्ध इति, साऽपि न ज्यायसी, यस्मात्तत्क्षणस्य समर्थस्यैवोत्तरक्षणस्य जनने यदि शक्तिः कथं [8]विकल्पसाहाय्येऽपि [9]अन्यथा तज्जननम्? [10]अथासमर्थस्यैव, तथापि किं विकल्पैस्तत[11] एव तदुत्पत्तेः? कथं वा तदन्यक्षणस्य वस्तुत्वम्, सजातीयजनकत्वतदयोगात्? विजातीयजननादिति[12] चेत्, न, अशक्तौ तस्याप्ययोगात्। शक्ताविति चेत्, न, सजातीयस्यापि तत्प्रसङ्गात्। अशक्तिरेव [13]तत्रेति चेत्, न, शक्त्यशक्त्योरेकत्र [14]विरोधापत्तेः। विजातीयजनने [15]शक्तिरेवेतरत्राशक्तिरिति चेत्, न, [16]इतरस्यापि विपर्ययः सम्प्रसङ्गात् (इतरस्यापि जननप्रसङ्गात्) अशक्तिरिति [17]शक्तेरेवाभिधानात्। भवत्यपि शक्तिश्च जनोतीति चेत्, विजातीयमपि न जनयात् अविशेषात् इत्यवस्तुत्वमेव [18]तस्य। भवत्विति चेत्, कथं तस्य कुतश्चिदुत्पत्तिः अवस्तुनस्तदयोगात् व्योमारविन्दवदिति? तद्धेतोरप्यवस्तुत्वमजनकत्वात्, एवं तद्धेतोरपीति सर्वस्यापि तत्सम्बन्धस्यावस्तुत्वमापतितम्। ततः समारोपस्यैवाभावाच्च तद्व्यवच्छेदेनापि विकल्पानां साफल्यमतो वस्तुविषयत्वेनैव तदुपपत्तिः।

एवं विकल्पानामर्थक्रियाकारविषयत्वव्यवस्थापनेन बहिरर्थमवस्थाप्य प्रकारान्तरेणापि तमवस्थापयन्नाह—

न हि जातु विषज्ञानं मरणं प्रति धावति ॥७१॥
असंभवद्बहिरर्थोऽस्मा प्रसिद्धोऽप्रतिषेधकः। इति।

---

१ तत्क्षणप्रतिबन्धस्य। २ विकल्पैः। ३ प्रतिरोधायोगात्। ४ समर्थका–भा०,ब०,प०। ५ नैव ते–भा०। ५ विकल्पैः। ६ समारोपक्षण–भा०,ब०,प०। ७ विकल्पैः। ८ समारोपक्षणस्य। ९ विकल्पसाहाय्यसामर्थ्य–भा०, ब०,प०। १० असमर्थतमजननम्। ११ अथासमर्थ्येऽपि–भा०,ब०,प०। १२ तत एव तद्–भा०,ब०,प०। अस मर्थसमारोपक्षणादेव। १३ –प्रतापना–भा०, ब०, प०। १४ समारोपोत्पत्तौ। १५ समारोपक्षणे भेदः स्यात्। १६ सजातीयेऽशक्तिः। १७ सजातीयस्यापि। १८ शक्तिरेवा–भा०,ब०,प०। १९ समारोपक्षणस्य।

न हि नैव **जातु** कदा[1]चिदपि **विषज्ञानं** विषाकारं वेदनं **मरणं प्रति धावति** कारणत्वेनोपसर्पति सर्वस्यापि तज्ज्ञानवतो मरणप्रसङ्गात्। न चैवम्, नियतस्यैव तद्दर्शनात्। न रूपमात्रविषज्ञानं येनायं प्रसङ्गः किन्तु रसविशेषज्ञानमेव। न चेदं[2] सर्वस्यास्ति; [3]यस्य त्वस्ति तस्य भवत्येव मरणमिति चेत्; कुतोऽस्यास्तित्वम्? तद्वासनात इति चेत्; न; तस्या अपि सर्वत्र भावात्। तत्प्रबोधादिति चेत्; न; [4]तस्यापि स्वरसतो भावे नियमायोगात्। अन्यतः प्रबोधकादिति चेत्; तदपि यदि वासनान्तरम्; स एव प्रसङ्गः, तस्यापि सर्वत्र भावात्। तत्प्रबोधस्यापि [5]तदन्तरापेक्षायाम् अनवस्थादोषात्। ततो न [6]विषज्ञानान्मरणमिति सूक्तम्–'**न हि**' इत्यादि।

कदैतत्? इत्याह–**असन्** अविद्यमानः **चेत्** यदि **बहिरर्थात्मा** बहिरर्थस्वभावो विषाख्य [7]इति शेषः। सति तु बहिरर्थात्मनि[8] विषतदास्वादनादेर्भवति मरणमिति यावत्। तदयं प्रयोगः–बहिरर्थरूपमेव विषं ततो मरणस्यान्यथानुपपत्तेः।

[9]कुतः पुनर्विषान्मरणमिति परिज्ञानम्[10]? न तावद्विषज्ञानात्; तस्य [11]मरणे भाविन्यप्रवृत्तेः। न हि तदानीमविद्यमानं तत्र प्रवृत्तिमदुपपन्नम्। नापि मरणज्ञानात्; तस्यापि प्रागसतो विषविषयत्वानुपपत्तेः। न चोभयसमयव्यापकमेकज्ञानं[12] सम्भवति; तस्यापि स्वतः पूर्वसमयव्यापिना रूपेणोत्तरसमयव्यापिनः तेन[13] च पूर्वसमयव्यापिनः परिज्ञानाभावे रूपद्वयाधिष्ठानतया दुरवगमत्वात्। [14]अन्यतस्तदवगम इति चेत्; न; तत्राप्येकसमये समयद्वयवर्ति च पूर्ववद्दोषात्। पुनस्तदन्यपरिकल्पनायाम् अनवस्थानात्। न च विषमरणयोरपरिज्ञाने [15]सुपरिबोधस्तद्गतो हेतुफलभावः, इत्यसिद्धमेतत्–'विषान्मरणम्' इति यदन्यथानुपपत्त्या बहिरर्थविषसाधनमिति चेत्; अत्राह–**प्रसिद्धः** प्रमाणनिश्चितो **बहिरर्थात्मा**। 'कीदृशः' इत्यपेक्षायां '**मरणं प्रति धावन्**' इति प्रत्ययपरिणामेन सम्बन्धः। तत्र हेतुः–**अप्रतिषेधकः** न विद्यते प्रतिषेधको यस्येत्यप्रतिषेधको यतस्ततः प्रसिद्ध इति। यदप्रतिषेधकं तत्प्रसिद्धं यथा परस्य संविदद्वैतम्, अप्रतिषेधकश्च बहिरर्थात्मा उक्तविशेषण इति।

ननु यथा तस्य न प्रतिषेधकं तथा न साधकमपि ततः साधक-बाधकप्रमाणाभावात्सन्देह एव। न च सन्दिग्धस्य प्रसिद्धत्वमिति चेत्; अत्राह–

सन्देहलक्षणाभावान्मोहश्चेद्व्यवसायकृत् ॥७२॥
[16]बाधकासिद्धेः [17]स्पष्टाभात्कथमेष विनिश्चयः। इति।

---

१ –चिद्वि–आ०,ब०,प०। २ विषरसज्ञानम्। ३ यस्यास्ति आ०, ब०, प०। ४ वासनाप्रबोधस्य। ५ वासनान्तरापेक्षायाम्। ६ विज्ञाना–आ०, ब०, प०। ७ इति तु शेषः आ०, ब०, प०। ८ –नि विशेष–आ०, ब०,प०। ९ सौगतः प्राह। १० –ज्ञानाच्च आ०, ब०, प०। ११ मरणभा–आ०,ब०,प०। १२ –मेवं ज्ञानम् आ०, ब०, प०। १३ उत्तरसमयव्यापिना रूपेण। १४ अन्यज्ञानात् 'विषान्मरणम्' इति ज्ञानम्। १५ "उपहासवचनमेतत्"–ता० टि०। १६ "पञ्चमं लघु सर्वत्र' इति नियमस्याभावादेवम्प्रयोगः। स्वामिभिरपि देवागमस्तोत्रे तथा प्रयुक्तम्। अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिरिति।"–ता० टि०। १७ स्पष्टाभावात् आ०, ब०, प०।

सन्देहेन लक्षणं सन्देहलक्षणं यथोक्तस्य बहिरर्थात्मनः तस्याभावात्, निश्चये नैव तल्लक्षणस्य भावात् प्रसिद्ध इति ।

विषरूपे हि [1]बाधार्थे मरणं प्रति बाधति ।
सन्देहो नास्ति लोकस्य निश्चयस्यैव दर्शनात् ॥८३८॥
अस्त्ययं निश्चयः किन्तु प्रमाणान्नैव साधकात् ।
उक्तनीत्या प्रमाणस्य तत्राभावनिरूपणात् ॥८३९॥
अनादिवासनोल्लासरूपाद्व्यामोहत परम् ।
ईदृशो निश्चयः पुंसां न्यायाघातक्रियाक्षमः ॥८४०॥

तदाह[2]–'मोहश्चेद्व्यवसायकृत्' इति । तत्रोत्तरम् 'बाधकासिद्धेः' इति । वक्ष्यमाणमत्र 'कथम्' इति सम्बन्धनीयम् । बाधकम् उक्तविषयस्य प्रमाणस्य निषेधकम्, तस्यासिद्धेः कारणात् । कथम्? न कथञ्चित्, मोहो व्यवसायकृत् इति ।

प्रमाणस्य निषेधश्चेद्विषवत्कार्यवेदिनः ।
कुतश्चिन्निश्चयस्तादृक् व्यामोहादिति युक्तिमत् ॥८४१॥
न चैष बाधकस्यैवाप्रसिद्धेर्ननु चोदितः ।
विचारो बाधकश्चेत् प्राक् कुतस्तस्यापि सम्भवः ॥८४२॥
व्यामोहाच्चेत् कथं तेन तन्निषेधस्य साधनम् ।
निश्चयादपि तादृक्षादुक्तसिद्धिप्रसञ्जनात् ॥८४३॥
प्रत्यक्षाच्चेन्न तत्रैवं परामृष्टेरसम्भवात् ।
विकल्पात्मा परामृष्टिर्नाविकल्पे[3] हि युज्यते ॥८४४॥

तदाह–स्पष्टाभात् प्रत्यक्षात् । कथम्? न कथञ्चित् । एष पूर्वोक्तो विचारात्मा निश्चय इति ।

यदि च विषप्रत्यक्षमेवात्मनो मरणे [4]तत्प्रत्यक्षमेव वा विषे प्रवृत्त्यभावं परामृशति तैक्ष्ण्यमेव किन्न परामृशति विशेषाभावात् । एतदेवाह–

'विपर्यासोऽपि किन्नेष्टः' [आत्मनि भ्रान्त्यसिद्धितः] ॥७२॥ इति ।

कथं पुनरतद्विषयस्य तत्परामर्शित्वमिति चेत्? कथमतद्विषयत्वम्? अतत्कालत्वादिति चेत्, न, तत्कालेऽपि तस्य कथञ्चिदन्वयात् अन्यस्यापि प्रतिपत्तेः । वक्ष्यति चैतत्–'भेदज्ञानात्' इत्यादिना ।

भ्रान्तिरेव तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्, न, बाधकाभावात् । न भेदज्ञानं बाधकम्, तस्यैवात्यन्तभेदविषयस्याप्रतिभासनात् । कथञ्चिद्भेदविषयस्य तु न बाधकत्वम्, अविरोधात् ।

---

१ बाधोऽर्थे आ०, ब०, प० । २ तथाह आ०, ब०, प० । ३ –ष्टो हि आ०, ब०, प० । ४ मरणप्रत्यक्षमेव । ५ "तर्हि"–ता० टि० ।

तदेवाह–'**आत्मनि भ्रान्त्यसिद्धितः**' इति । ज्ञानानामन्वय **आत्मा** तत्र **भ्रान्तेरसिद्धितो** निर्बाधप्रतिपत्तेरेव सिद्धितो **विपर्यासोऽपि किन्नेष्ट** इति । अवश्यञ्चैतदेवमभ्युपगन्तव्यम् , अन्यथा तत्र प्रवृत्तेरिव तदभावस्याप्यपरामर्शप्रसङ्गात् । न ह्यतद्विषयं तत्रात्मनः प्रवृत्त्यभावं परामृष्टुमर्हति । मा भूदुभयथापि परामर्शः तदुपायस्यान्वयस्यैव दुरवबोधत्वादिति चेत् ; कस्येदानीं सुखावबोधत्वम् ?, अद्वयवेदनस्यैव, "**स्वरूपस्य स्वतो गतेः**" [प्र०वा० १।६] इति चेत् ; न ; तस्यापि यथाकल्पनमप्रतिभासनात् । न हि यथा तत् परैः परिकल्प्यते व्यपगलितसकलकल्पनाजालकल्माषं तथा तस्य प्रतिभासनमस्ति, ग्राह्यादिभेदकल्पनाकलुषीकृतवपुष एव प्रत्यवलोकनात् । अन्यैव तत्कल्पनेति चेत् ; न ; अद्वैतक्षतेः, अन्यत्वस्यानवलोकनाच्च । विभ्रमात्तदनवलोकनमिति चेत् ; कस्य विभ्रमः ? तत्कल्पनाया एवेति चेत् ; यदि नाम तस्या विभ्रमः किमद्वैतस्यागतं यतस्तत् यथापरिकल्पनमेव आत्मानं नोपदर्शयति ?

उन्मत्तो यदि नामैको लोष्टं पश्यति हेमवत् ।
अनुन्मत्तोऽपि लोकः किं तथा तत्प्रतिवीक्षते ? ॥८४५॥
यथाकल्पनमस्त्येव स्वतस्तस्योपदर्शनम् ।
बलिना तद्विकल्पेन छादान्निश्चीयते न चेत् ; ॥८४६॥
दर्शनान्निर्विवादं चेत् का दोषो निश्चयादृते ।
निर्विवादं ततश्चेन्न तद्दृष्टं वः स्वतः कथम् ? ॥८४७॥
तदेव तेन दृष्टं यत् विवादाद्येनमुच्यते ।
सविवादं च दृष्टं चेत्येतन्नातिप्रसञ्जनात् ॥८४८॥
तत्कल्पनायां न भ्रान्तिरद्वैतस्यैव तद्यतः ।
निर्भेदं भेदवत्त्वेन स्वरूपं पश्यतीति चेत् ॥८४९॥
तन्नैवं तत्स्वरूपस्य स्वतो दृष्टेर्विलोपनात् ।
विभ्रमस्तत्त्ववित्तिश्च तत इत्यतिसाहसम् ॥८५०॥
भेद एव भ्रमस्तस्य चिदादौ नात्मनीति चेत् ।
विभ्रमेतररूपं तदेकं संवेदनं कथम् ॥८५१॥
तथैव प्रतिभासाच्चेदेतदेवाह सौगतः–

अद्वयं द्वयनिर्भासमात्मन्यप्यवभासते । इति ।

संवेदनं खलु **अद्वयम्** अभिन्नम् । कीदृशमपि ? **द्वयनिर्भासमपि** विभ्रमेतरोभयाकारमपि । अपिशब्दस्य भिन्नप्रक्रमत्वात् । तस्य तादृशत्वं कस्मिन् ? **आत्मनि**

१–यं हि प–आ०, ब०, प० । २ दुर्बोध–आ० ब० प० । ३ अद्वयवेदनम् । ४–कलकल्मा–आ०, ब०, प० । ५ कल्पनायाः । ६ न चित् आ०, ब०, प० । ७ दर्शनात् । ८ विवादोऽनेन मु–प० । विवादा-येनमु–आ०, ब० । ९ स्वत्वन्वयं आ०, ब०, प० ।

स्तल्पे । तादृशमपि तद्द्वयं कुत इति चेत् ? अवभासने एव इति । न हि प्रतिभासमान-मन्यथाकल्पनमर्हति, अतिप्रसङ्गादित्येवमक्रमानेकान्ते परेण निरूपिते सत्याह–

इतरत्र विरोधः क एक एव स्वहेतुतः ॥७४॥
तथा चेत्स्वपरात्मानौ सदसन्तौ समश्नुते । इति ।

इतरत्र क्रमानेकान्ते, कः न कश्चिद् विरोधः । कदाचिद्यदि समश्नुते सम्यक् युगपत्परिहारेणाश्नुते व्याप्नोति । कः ? एक एव बोधात्मा न द्वौ । कौ ? सदसन्तौ सन् वर्तमानो विषयग्राही पर्यायः, असन् अनागतो मरणग्राही तौ । कीदृशौ ? स्वपरात्मानौ स्वात्मानौ स्वस्वभावौ कथञ्चित्तयोस्तस्मादव्यतिरेकात् , परात्मानौ च कथञ्चिद्विपर्ययात् । कुतः पुनरित्थम्भाव इत्याह– स्वहेतुतः स्वकारणादिति ।

अपरापरपर्यायव्यापी बोधः स्वहेतुतः ।
तादृशादुपजातो यत्र विरोधेन दुष्यति ॥८५२॥

तत्रोपपत्तिमाह– 'तथा' इति । तेन प्रतिभासनप्रकारेणेति । तथा हि–

यथैक एव बोधात्मा विभ्रमाविभ्रमात्मकः ।
निर्बाधप्रतिभासत्वाद्युगपत्परिकल्प्यते ॥८५३॥
क्रमेणापि तथा किन्न परापरविवर्तभृत् ।
बोधात्मैकः प्रकल्प्येत निर्भासाद्यनुपप्लवात् ॥८५४॥

न विभ्रमः संवेदनस्य स्वभावः तद्विवेकस्यैव तत्स्वभावत्वात् । न चैवावता तत्र निर्विकारं तद्विवेकस्य सतोऽप्याबोधिमार्गमनवभासनात् , सचेतनादिस्वभावतयैव तस्य प्रत्यवलोकनात् । तत्र विभ्रमेतराकारयोरुभयाकारं संवेदनं यदवष्टम्भेन क्रमानेकान्तव्यवस्थापनमिति चेत् ? अत्राह–

तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्षक्षममात्मसमात्मनोः ॥७५॥
तथा हेतुसमुद्भूतमेकं किन्नोपगम्यते । इति ।

तत् संवेदनम् उपगम्यते सौगतैः । कीदृशम् ? प्रत्यक्षः सदापि परोक्षो विभ्रमविवेकस्तयोः अक्षणं व्यापनम् अक्षः तं क्षमत इति क्षमं तदात्मकम् । पुनरपि तद्वि-शेषणम् आत्मानम् सजातीयाद्विजातीयाच्च स्यति व्यावर्तयति इति आत्मसम् , निरंशम् निष्कलरूपमिति । तस्योपगमने किम् ? इत्याह– 'एकम्' इत्यादि । 'तत्' इत्यनुवर्तनीयम् । तत् संवेदनं किन्नोपगम्यते उपगम्यत एव । कीदृशम् ? एकमभिन्नम् । कयोः ? आत्मनोः क्रमस्वभावयोः । अक्रमस्वभावयोः एकस्य परेणैवोपगमात् । कुतस्तादृशम् ?

१ –च प्राक्–आ०, ब०, प० । २ तेन प्र–आ०, ब०, प० । ३ यत्रैक आ०, ब०, प० । ४ विभ्रम-विवेकस्यैव । ५ सतोऽप्यवधि–आ०, ब०, प० । ६ –ते सौ–आ०, ब०, प० । ७ –नीतकस्य परे–आ०, ब०, प० ।

इत्याह-**तथा** तेन तादृशात्मना **हेतोः** स्वकारणात् **समुद्भूतं** समुत्पन्नं यत इति । इदमत्र तात्पर्यम्-

अनेकान्तभयाज्ज्ञानं विभ्रमाविभ्रमात्मकम् ।
मुञ्चतोऽप्यपरित्याज्यं तत्प्रत्यक्षेतरात्मकम्[1] ॥८५५॥
विरुद्धधर्माध्यासेऽपि कथञ्चित्तद्यथा मतम् ।
एकं तद्वत्क्रमेणापि किमेकं नोपगम्यते ? ॥८५६॥
दृष्टान्तः प्राच्य एवान्यो नेति नास्माकमाग्रहः ।
फलं हि केनाप्यस्माकमुपायेनाभिवाञ्छितम् ॥८५७॥
यदि प्राच्यः प्रसिद्धस्ते तेन नः साध्यनिश्चयः ।
परश्चेद्भवतः सिद्धस्तेन नः साध्यनिश्चयः ॥८५८॥
न च तद्द्वितयत्यागे निर्विवादं मतान्तरम् ।
यत्र ते भवति प्रज्ञाऽनेकान्तभय[2]वर्जिता ॥८५९॥ इति ।

वर्त्तमानपर्यायादभेदे पूर्वापरयोः ; तयोरपि वर्त्तमानत्वमेव [3]तदभेदात् तत्स्वरूपवदिति [4]तन्मात्रमेवावशिष्यते, तस्य चानभ्युपगमात् कथन्न नैरात्म्यवादः ? कथं वा [5]तत्प्रत्यक्षत्वे [6]तयोरपि न प्रत्यक्षत्वं यतस्तत्र प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः फलवती भवेत् ? [7]तथापि तत्परोक्षत्वे न सन्तानभेदः सन्तानान्तराणामपि [8]तदनर्थान्तराणामेव [9]तद्वत् परोक्षत्वोपपत्तेरिति कथन्नैकात्मवाद इति चेत् ? अत्राह-

सर्वैकत्वप्रसङ्गादिदोषोऽप्येष समो न किम् ॥७६॥ इति ।

सर्वेषां पूर्वापरपर्यायाणाम् **एकत्वं** वर्त्तमानादभेदस्तस्य **प्रसङ्गः** स **आदि**र्यस्य नैरात्म्यवादसन्तानभेदाभावादेः स चासौ **दोषश्च** न केवलमन्य **एष** त्वयोच्यमानः **समः** सदृशो **न किं** सम एव भवेत् । 'संवेदनेऽपि' इति शेषः ।

तथा हि-

अभ्रमाच्चेदभिन्नः स्यात् भ्रमः सोऽप्यभ्रमो भवेत् ।
भ्रमाभावे कथं सूक्तं 'शास्त्रं मोहनिवर्त्तनम्'[10] ॥८६०॥
भ्रमादप्यभ्रमाभेदे भ्रम एवावशिष्यते ।
अविभ्रमव्यपोहे च कुतः किमवगम्यताम् ? ॥८६१॥
अध्यक्षादपि सत्त्वादेर्ग्राह्याकारच्यवो यदि ।
अभिन्नोऽध्यक्ष एवायमपि तत्त्वात्तदात्मवत् ॥८६२॥

---

१ एकं प्रत्यक्षेतरात्मकमिति । २ -कान्ते भय-आ०, ब०, प० । ३ वर्तमानाऽभेदात् वर्तमानस्वरूपवत् । ४ वर्तमानमात्रमेव । ५ वर्तमानप्रत्यक्षत्वे । ६ पूर्वापरयोः । ७ प्रत्यक्षत्वेऽपि । ८ तदर्था-भा०, ब०, प० । ९ पूर्वापरवत् । १० प्र० वा० १।७ ।

अभ्यस्ते तद्विवेके च माह्याकारगतिः कथम् ? ।
अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मेत्यादि[1] सूक्तं यतो भवेत् ॥८६३॥
परोक्षाद्यद्विवेकाच्च सत्त्वादेरप्यभेदिनः[2] ।
परोक्षभाव एव स्यात्तत्स्वरूपवदञ्जसा ॥८६४॥
तैलस्यैतस्य गन्धस्याप्यभावस्तस्य चाश्रये ।
स्वमपूर्वोऽसि चार्वाकभिन्मात्रस्यापि लोपनात् ॥८६५॥
नायं प्रसङ्ग एकान्ताभेदस्याभावतो यदि ।
अयमेव परत्रापि समाधिः किम नुच्यते ? ॥८६६॥
कथञ्चिन्नैवाभेदोऽयं पूर्वापरविवर्त्तयोः ।
वर्त्तमानाद्यतो लोकस्तथैव परिपश्यति ॥८६७॥
लोकदृष्टिमनादृत्य मद्रूपान्तरकल्पनम् ।
तद्वन्ध्यासुतसौन्दर्यकल्पनेवोपरोधकम् ॥८६८॥
अभासासुभवास्थार्थं स्वबुद्धिपरिकल्पितम् ।
मान चेत्स्वमिदिष्टेऽर्थे किम कस्येह सिद्ध्यति ? ॥८६९॥
तस्माल्लोकदृशा मान यथा च स्वपरं जगत् ।
सर्वं भेदेतरात्मैवासाङ्कर्येण प्रतीयते ॥८७०॥

तदेवाह–

भेदाभेदरूपवस्त्वैवं प्रतीता लोकचक्षुषः । इति ।

सुबोधम् । ततो यदुक्तम्–'कुतो विषान्मरणमिति परिज्ञानम् ? न तावद्विपक्षाभावात्' इत्यादि, तदप्रतिविहितम्, विषज्ञानस्यैव कथञ्चिन्मरणभावितया परिवर्त्तनात्, तेनैव विषमरणयोर्हेतुफलभावस्यापि सुबोधत्वात् । ततः सूक्तम्–'ज्ञानमेव विषं ततो मरणान्यथानुपपत्तेः' इति ।

ननु[3] किञ्चिच्चेतनात्मकं वस्तु यतः [4]'सम्भवक्रमाभ्यामनेकान्तात्मनो बहिर्भावहेतुफलभावादेः परिज्ञानम्, तत्परिज्ञानोपायाभावात् । [5]विज्ञप्तिः स्वसंवेदनात्मिका तदुपाय इति चेत्, न; तस्या बहिरिवान्तरपि विभ्रमत्वात् । न हि विभ्रमाद्वस्तुपरिज्ञानम् अतिप्रसङ्गादिति चेत्, एतदेवाशङ्क्य परिहरन्नाह–

विज्ञप्तिर्वितथाकारा यदि वस्तु न किञ्चन ॥७७॥
भासते केवलं नो चेत्सिद्धान्तविषमग्रहः । इति ।

---

१ प्र० वा० २।३५७ । २ भेदिनः आ०, ब०, प० । ३ तत्स्यैतस्य गन्ध–आ०, ब०, प० । ४ –मस्य भाव–आ०, ब०, प० । ५ "सर्वविभ्रमवादी प्राह"–ता० टि० । ६ मोक्षपथ । ७ विप्तिः त–आ०, ब०, प० ।

विज्ञप्तिर्बुद्धिः वितथोऽसत्य आकारः प्रतिभासो यस्यां सा **वितथाकारा**। ततः किम् ? **वस्तु** कार्यक्षमं **किञ्चन** चेतनमचेतनं वा **न भासते** न प्रतिभासते न सम्यगवगतिमुपसर्पति, तस्या एवाभावात् **यदि** चेत् ; अत्रोत्तरम्–**केवलं** प्रमाणसहायरहितं विज्ञप्तिर्वितथाकारेति, ततश्चासिद्धम्।

न हि प्रमाणसम्बन्धशून्यस्यारितत्त्वनिर्णयः।
बुद्धेरविभ्रमस्यैव विभ्रमस्योपपद्यते ॥८७१॥

क्वैतत्[1] ? **केवलं नो चेत्** न यदि सिद्धान्त एव विपमो दुष्परिहरो[2] ग्रहः **सिद्धान्तविषमग्रहः**, तदा तत्केवलम्, यदा तु स विद्यते न तदा तद्ग्रहस्यैव[3] "**भिक्षवोऽहमपि मायोपमः**" [ ] इत्यादेस्तत्र प्रमाणत्वात्। भवतु तत एव निर्णय इति चेत् ; न ; ततोऽपि विभ्रमरूपात्तदयोगात् अन्यथा तादृशादेव प्रतिसिद्धान्तादपि तद्विपयस्य तत्प्रसङ्गात्[4]। तदेवाह–

अनादिनिधनं तत्त्वमलमेकमलं परैः ॥७८॥
सम्प्रीतिपरितापादिभेदात्तत्किं द्वयात्मकम्। इति।

तत्त्वं ब्रह्मरूपम्, **अलं** समर्थं पुरुषार्थाय "तरति शोकमात्मवित्" [छान्दो० ७।१।३] इत्यादिना तद्वेदनस्य शोकनिरस्तर(निस्तर)णकारणतया श्रवणात्। कीदृशम् ? **अनादिनिधनम्** अविद्यमानपूर्वापरपर्यवसानम्। "तदेतत् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" [बृहदा० २।५।१९] इति वचनात्। **एकम्** असहायम् "एक एवायमद्वितीयः" [म०ब्रा० २।४] इति श्रुतेः **अलं** पर्याप्तं **परैः** वहिरन्तश्च भेदैः। अयत एव केवलं तादृशं तत्त्वं न कदाचिदपि प्रत्यवभासत इति चेत् ; न ; विभ्रममात्रेऽपि समानत्वात्, तत्प्रतिभासनस्यापि निरूपितत्वात्। प्रत्युत प्रतिभासत एव ब्रह्मतत्त्वं सकलभेदानुयायिनः प्रतिभासमात्रस्योपलम्भात्, तस्यैव च ब्रह्मत्वेन तद्वादिभिर्व्यावर्णनात्। कथं तदद्वितीयं भेदस्यापि प्रतिभासनात्। सति तस्मिन् द्वयरूपताया एवोपपत्तेः ? तदाह–**तत्** अद्वयं **किम्** ? नैवं[5], किं तर्हि स्यात् ? **द्वयात्मकम्** उभयरूपं तत्त्वं भवेत्। कुतः ? इत्याह सम्प्रीतिः सुखं परितापो दुःखं तावादी येषां भयशोकनीलधवलादीनां तेषां **सम्प्रीतिपरितापादीनां भेदात्** नानात्वात्, तस्य अद्वयतत्त्वे[6] अत्यन्तमसम्भवादिति भावः।

एवं पातनिकायां प्रतिविधानमाह–

ग्राह्यग्राहकवद्भ्रान्तिस्तत्र किन्नानुषज्यते ॥७९॥ इति।

तत्र तेषु सम्प्रीत्यादिषु **भ्रान्तिर्**मिथ्यावभासनं **किं** कस्मात् **नानुषज्यते** न प्रसज्यते

---

१ तदेतत् आ०, ब०, प०। २ दुष्परिहारो आ०, ब०, प०। ३ तद्ग्रहणस्यैव आ०, ब०, प०। ४ निर्णयप्रसङ्गात्। ५ नैवं आ०, ब०, प०, स०। ६ अद्वयत्वे आ०, ब०, प०।

प्रसज्यत एवेति । निदर्शनमाह–ग्राह्यग्राहकयोः नीलतद्वेदनयोः इव तद्वदिति । हेतुरत्र 'भेदत्वात्' इत्यवगम्यते दृष्टान्ते तस्यैव भ्रान्त्यनुपपत्त्यनेन व्याप्तिपरिज्ञानात् । तस्य प्रयोगः– सम्प्रीत्यादिः भ्रान्त्यनुपपत्ती भेदत्वात् मायादिवदिति । भ्रान्त्यनुपपत्तिकथनेन सम्प्रीत्यादेर्भेदस्य वस्तुतोऽसत्त्वं कथयन् तस्या[1]तत्प्रत्यनीकत्वं प्रतिषेधति । न हि भ्रान्त्यनुपपन्नं द्विस्व चन्द्रस्यै-कत्वप्रत्यनीकमुपलब्धमिति ।

तदेवमङ्गीकृत्य सम्प्रीत्यादिभेदं[2] तस्य [3]तत्प्रत्यनीकत्वमपाकृतम् । इदानीं स[4] एवो-पायान्तरमस्तीति निवेदयन्नाह–

भेदो वा सम्मतः केन [हेतुसाम्येऽपि भेदतः] । इति ।

भेदः सम्प्रीत्यादेर्नानात्वम् । 'वा' इति पक्षान्तरद्योतने, सम्मतः सम्यक् प्रतिपन्नः । केन ? न केनचित्प्रमाणेन ततो न तस्यै[5] तत्प्रत्यनीकत्वम् अज्ञातस्य व्योमकुसुमवत् तद्योगा-दिति भावः ।

कथं पुनः केनेति ? यावता प्रत्यक्षत एव स[6] परिज्ञायते सम्प्रीत्यादेर्भेदाधिष्ठानस्यैव [7]तत्र परिस्फुटमवभासनात् । ततो नागमा[8]दप्यभेदप्रतिपत्तिः, भेदप्रत्यक्षे[9]ण विरोधात् । भ्रान्ति-प्रतिपत्तिस्तु ततो भवत्येव, तदविरोधिन्या एव तस्यास्ततः परिज्ञानादिति चेत् , न , प्रत्यक्षस्य विधिमात्रविषयत्वेन भेदगोचरत्वानुपपत्तेः । [10]"व्यवच्छेदनिष्ठो हि भेदः, व्यवच्छेदश्च न विधि-परस्य प्रत्यक्षस्य विषयः , तत्कथं तेन" भेदग्रहणम् ? व्यवच्छेदपरत्वमप्यस्त्येव प्रत्यक्षस्य तदयमदोष इति चेत् , न, युगपत्तद[11]सम्भवात् । न हि किञ्चित्कथञ्चिद् विदधदेव प्रत्यक्षं[12] तदेव तत्र तद्व्यवच्छेत्तुमर्हति, [13]"निष्पर्यायकमेकत्र विधिव्यवच्छेदयोरप्रतिपत्तेः । पर्यायेण तस्य[14] तस्य-त्वमिति चेत् , विधिपूर्वस्तर्हि व्यवच्छेदो वक्तव्यो विहितस्यैव 'अयमत्र नास्ति नासावयम्' इति व्यवच्छेदप्रतिपत्तेः[15]" । तदुक्तम्–

"लब्धरूपे क्वचित्किञ्चित्तादृगेव निषिध्यते ।
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः ॥" [प्रमाणसि० २२] इति ।

भवत्येवमिति चेत् , [16]"न , एकव्यापारत्वेन क्रमवत्त्वानुपपत्तेः । प्रत्यक्षं हि ज्ञानं क्षणिकम्, तद्व्यापारौ विधिव्यवच्छेदौ क्रमवन्तौ भवेताम् , क्रमवतोर्हि व्यापारयोः पश्चात्तनो न तद्व्यापारः स्यात् । अपि च, अन्यैव बुद्धेर्व्यापारोऽर्थावग्रहरूपायाः, सा चेदर्थविधानरूपोदया विधिरेवास्या व्यापारः, न व्यवच्छेदो यौगपद्यनिषेधात् , उत्पन्नायाश्चानुत्पत्तेः ।

१ एवेति वर्त्ते–आ०, ब०, प०। २ भेदस्य । ३ भेदतत्प्रत्यनीकत्वम् । ४ भेद एव । ५ भेदस्य । ६ भेदप्रत्यनीकत्वम् । ७ भेदः । ८ प्रत्यक्षे । ९ आगमात् । १० व्यवच्छेद एवो हि । ११ प्रत्यक्षेण । १२ युगपत् । १३ प्रत्यक्षस्य । १४–चति: आ०, ब०, प० । १४ "न चानेकक्षणमात्रज्ञानव्यापारौ क्रमौ विधिव्यवच्छेदौ क्रमवन्तौ युज्येते, क्षणिकत्वात्; क्रमवतोर्हि व्यापारयोः पश्चात्तनो न तद्व्यापारः स्यात्, व्यवधानात् । अपि च अन्यैव बुद्धेर्व्यापारो अर्थावग्रहरूपायाः ; सा चेदर्थविधानरूपोदया, विधिरेवास्या व्यापारः यौगपद्यस्य निषेधात् , उत्पन्नायाश्च पुनरनुत्पत्तेः ।"–प्रमाणसि० पृ० ४५ ।

[1]अपि च, सन्निहितावलम्बनं प्रत्यक्षं नासन्निहितमर्थमवभासयितुमर्हति । न चानवभासमानं व्यवच्छेत्तुं पर्याप्नोति । अनवभासे हि तत्र व्यवच्छेद्ये व्यवच्छेदमात्रं स्यात्, न व्यवच्छेदः कस्यचित् । [2]तस्मान्नावभा(न्नानवभा)समाने विषये अन्यव्यवच्छेदः, अन्यस्य घटादेरसन्निहितत्वेन तज्ज्ञानेऽनवभासनात् । ज्ञानान्तरेऽवभासनाद्व्यवच्छेद इति चेत्; न; स्वयं व्यवच्छेदकृता तद्रूपासंस्पर्शे 'अस्यायं व्यवच्छेदः' इति प्रतिपत्त्यसम्भवात् । इदमप्युक्तम्–

"क्रमः सङ्गच्छते युक्त्या नैकविज्ञानकर्मणोः[3] ।
[न][4] सन्निहितजं तच्च तदन्यासङ्गि जायते ॥" [ब्रह्मसि० २।३] इति ।

ननु इदमेव दर्शनस्यान्यव्यवच्छेदकारित्वं यन्नियतविषयत्वम् । तद्धि यथा नीलं तदाकारनियमाद् विधत्ते तथा तदन्यत्र भवतीति व्यवच्छिनत्त्यपि, अन्यथा नियतनीलविधानानुपपत्तेः । तद्विधानादन्यस्य च अन्यव्यवच्छेदस्याभावात् । 'इदमस्ति, इदमत्र नास्ति' इति तु विधिव्यवच्छेदव्यवहारः दर्शनबलभाविकल्पविकल्पित एवेति चेत्; न; नीलदर्शनात् पीतादिवत् रसादेरपि व्यवच्छेदप्रसङ्गात् तत्प्रतिनियमस्याविशेषात् । भवत्येव तद्रूपतया[5] तस्यापि[6][7] व्यवच्छेदः, तद्देशादितयैव[8] अनभ्युपगमादिति चेत्; न; पीतादावप्येवं प्रसङ्गात्, पीतादेस्तद्देशादित्वे भवत्युपलम्भो नीलवत्तुल्योपलम्भयोग्यत्वात् । न चोपलब्धिः, ततस्तद्देशादितया पीतस्य व्यवच्छेदः, रसादेस्तु न तद्योग्यत्वम्[9] अतो न[10] तथा[11] तद्व्यवच्छेद इति चेत्; ताद्रूप्येणापि न भवेत्, तद्देशादित्ववदनुपलभ्यस्यैव तस्य तद्रूपतोपपत्तेः । उपलभ्यस्यानुपलभ्यत्वं कथं विरोधादिति चेत्? अन्यतस्तर्हि विरोधाद् व्यवच्छेदो न दर्शननियमात्? असति च व्यवच्छेदे कुतो विरोधः? इतरेतराश्रयो वा–विरोधात् व्यवच्छेदस्य, ततोऽपि विरोधस्य व्यवस्थितेः । तस्मान्नैकविधिरन्यव्यवच्छेदः ।

[12]अपि च, एकनियमादन्यव्यवच्छेदे चित्रादिषु नीलादीनामेकदर्शनभाजां भेदो न सिद्ध्येत्, एकज्ञानसंसर्गात् एकत्र च ज्ञानस्यानियमात् । इदमप्युक्तम्–

"विधानमेव नैकस्य व्यवच्छेदोऽन्यगोचरः ।
मा स भूदविशेषेण[13] मा न भूदेकधीजुषाम् ॥" [ब्रह्मसि० २।४] इति ।

तन्न व्यवच्छेदव्यापारं प्रत्यक्षमिति न भेदविषयम्, ततो न तेनैकत्वाम्नायस्य विरोधः । तदप्यभिहितम्–

---

१ "अपि च सन्निहितार्थालम्बनं प्रत्यक्षं नासन्निहितमर्थमवभासयितुमर्हति; न चानवभासमानरूपं व्यवच्छेत्तुं पर्याप्नोति; अनवभासमाने हि तत्र व्यवच्छेद्ये व्यवच्छेदमात्रं स्यात्, न व्यवच्छेदः कस्यचित्; सर्वस्य वा स्यात् । तस्मान्नानवभासमाने व्यवच्छेद्ये व्यवच्छेदः । न च सन्निहितार्थावलम्बने प्रत्यक्षेऽसन्निहितावभासो युक्तः ।" –ब्रह्मसि० पृ०४५ । २ तस्मान्नावभासने आ०, ब०, प० । ३ –णोःसन्नि–आ०, ब०, प० । ४ "न सन्निहितजं तच्च तदन्यामर्शि जायते ।"–ब्रह्मसि० । ५ नीलं पीतादिकं न भवति । ६ –तयास्या–आ०, ब०, प० । नीलरूपतया । ७ रसादेरपि । ८ नीलदेशतयैव रसादिव्यवच्छेदानभ्युपगमात् । ९ तुल्योपलम्भयोग्यत्वम् । १० नीलदेशादितया । ११ रसादिव्यवच्छेदः । १२ तुलना–ब्रह्मसि० पृ० ४७ । १३ मा भूदेकधियामिति आ०,ब०,प० ।

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेधृ विपश्चितः ।
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते ॥" [ब्रह्मसि० २।१] इति ।

ततः स्थितम् 'भेदो वा' इत्यादि ।

कदैतत् ? इत्याह–'हेतुसाम्येऽपि' इति । हेतूनां प्रत्यक्षादिन्यायानां साम्यं विधिमात्रविषयत्वेनागमसादृश्यं तस्मिन् । 'अपि' इति सोपपत्ते, कुतश्चायं नियमः सुखादिः सुखादिरेव न दुःखादिः, सोऽपि स एव न सुखादिरिति यतस्तस्याद्वैतप्रत्यनीकत्वं भवेत् ? एतेनैव स्वहेतुसामर्थ्यादुत्पत्तेरिति चेत्, अत्राह–

भेदतः ।
तेषामेव सुखादीनां नियमश्च निरन्वयः ॥८०॥ इति ।

भेदतः भेदमाश्रित्य योऽपि नियमः परस्परामिश्रणात्मा । केषाम् ? तेषाम् अनन्वयैकाना सुखादीनाम् । स किम् ? निरन्वय एव असम्यक्साधन एव, भिन्नप्रक्रमतया एवकारस्यात्र सम्बन्धात् । तथा हि–भेदो[1] नाम व्यावृत्तिः, सा चानेकाधिष्ठाना प्रतिज्ञायते[2] प्रतीयते च । तथा च तस्या[3] एकस्याः अनेकवृत्तेर्वस्तुस्वभावत्वेन वस्तूनामपि सुखादीना भेदो न स्यात् । नैकस्यावभिन्नमभिन्नस्वभावं भिन्नं युज्यते तद्वदेव । [4]अपि च, भेदो नाम परस्परानात्मा स्वभावविशेषः । स चेद्वस्तुनः स्वभावः; वस्तूनामभावप्रसङ्गः अभावात्मप्रतिष्ठानात् । [5]प्रकारान्तरम् भेदश्चेद्वस्तुनः स्वभावो नैकं किञ्चन वस्तु स्यात्, भेदेन एकत्वस्य विरोधात् परमाणुरपि भेदादनेकात्मक इति नैकः । तथा च तत्समुच्चयरूपो नैकोऽप्यस्यात्मा [6]नावकल्प्येत तत्रैकत्वानेकत्वयोरनुपपत्तेः, तृतीयप्रकारासम्भवाच्च वस्तुनो निःस्वभावताप्रसङ्गः । [7]अथ मा भूदेष दोष इत्यर्थान्तरमेव व्यावृत्तिराभीयते तथापि व्यावृत्तेरन्यरूपत्वात् स्वरूपेण भावा न व्यावृत्ताः स्युः ।

[8]स्यान्मतम्– वस्तुन्ययं विकल्पः तत्त्वमन्यत्वं वेति नावस्तुनि । अवस्तु चायं भेदो विकल्पोपनीतत्वात् मायाशोयवत् तत्कथमत्रायं विचार इति ? तन्न; एवमपि निःस्वभावेन वस्तूनां वस्तुतो भेदाभावापत्तेः । कल्पितस्तु तद्भेदो न वार्यत एव ब्रह्मवादिनाप्यनाद्यविद्याविलसितस्य तद्भेदस्याभ्यनुज्ञानात् । तन्न सुखादीनां भेदतो नियमः, तस्यैव विचारासमर्थत्वेनासम्भवात् । तदुक्तम्–

"न भेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसङ्गतः ।
अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्प्यते ॥" [ब्रह्मसि० २।५] इति ।

---

१ तुलना–ब्रह्मसि० पृ० ४७ । २ –ते प्र–आ०, ब०, प० । ३ व्यावृत्तेः । ४ तुलना–"भेदः परस्परानात्मस्वभाव ..."–ब्रह्मसि० पृ० ४७ । ५ "अपरः प्रकारः भेदश्चेद्वस्तुनः स्वभाव"–ब्रह्मसि० पृ० ४८ । ६ नावकल्प्यते आ०, ब० । नावकल्पते प० । ७ ब्रह्मसि० पृ० ४७ । ८ ब्रह्मसि० पृ० ४८ । ९ वस्तुभेदा–आ०, ब०, प० ।

तत्र विभ्रमैकान्तवादः, तद्वदाम्नायात् ब्रह्मवादस्याप्यवस्थितेः ।

भवतु तर्हि विज्ञानवाद एव, तस्य प्रत्यक्षबलादेवोपपत्तेः, न ब्रह्मवादो विपर्ययादिति चेत् ; अत्राह–

प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानं मूर्च्छितादौ कथं ततः ॥ इति ।

प्रत्यक्षं निर्विकल्पमनुभवनं तल्लक्षणं प्रमाणं यस्मिन् तत् **प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानम्** । **कथम्** ? न कथञ्चित् । कुत एतत् ? **मूर्च्छितो** मोहाक्रान्त **आदि**र्यस्य [1]सुषुप्तादेः तत्र ततस्तल्लक्षणज्ञानप्रसङ्गात् । ननु तत्र तल्लक्षणं प्रत्यक्षमेव नास्ति कथं तत्प्रसङ्ग इति चेत् ? कुतस्तन्नास्ति ? अनुपलम्भादिति चेत् ; न ; अन्यत्रापि समानत्वात् , अखण्डवेदनस्य जाग्रदादावप्यप्रतिपत्तेः ।

अपि च, मूर्च्छितादौ ज्ञानाभावे प्रबोधस्य कदाचित्कत्वेनाहेतुत्वायोगात् शरीरोपादानत्वप्रसङ्गः । तदाह–

अज्ञानरूपहेतुस्तदहेतुत्वप्रसङ्गतः ॥८२॥
प्रवाह [एकः किन्नेष्टस्तदभावाविभावनात्] । इति।

प्रवाहः प्रबन्धो ज्ञानस्य, '**ज्ञानम्**' इत्यस्य विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धात् । कदा भवतः ? मूर्च्छितादेरूर्ध्वम् । '**मूर्च्छितादौ**' इत्यस्यापि पञ्चमीपरिणामेन योजनात् । किम् , अज्ञानम् अचेतनं रूपं स्वभावो यस्य शरीरस्य स एव हेतुः कारणं यस्य सः **अज्ञानरूपहेतुस्तत्प्रवाहः** 'भवति' इति शेषः । कुत एतत् ? **तस्य** तत्प्रवाहस्य **अहेतुत्वम्** अकारणकत्वं तस्य **प्रसङ्गतः** प्रसञ्जनात् । तात्पर्यम्–

गाढामूर्च्छाद्यवस्थायां ज्ञानस्याभावकल्पने ।
तस्य प्रबोधहेतुत्वमसतो न भवेत्ततः ॥८७२॥

शरीरमेव तस्येदं कारणं परिकल्प्यताम् ।
अन्यथाऽहेतुतैव स्याद् गत्यन्तरपरिक्षयात् ॥८७३॥

अनित्यत्वमहेतोश्च कथं नामोपपत्तिमत् ?
"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा" इत्यादेः स्वोक्तस्य[2] पीडनात् ॥८७४॥

[3]जाग्रज्ज्ञानस्य हेतुत्वाद् दोषो नैष भवेद्यदि ।
चिरनष्टस्य हेतुत्वं कथं तस्योपकल्प्यताम् ॥८७५॥

स्वकाले तस्य भावाच्चेदात्मनः किन्न कल्प्यते ?
नित्यैकव्यापिनस्तस्याप्यभावाप्रतिवेदनात् ॥८७६॥

---

१ सुप्तादे–आ०, ब०, प० । २ प्र० वा० ३।३४ । ३ "गाढसुप्तस्य विज्ञानं प्रबोधे पूर्ववेदनात् । जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम् ।"–प्र० वार्तिकाल० १।४९ ।

यदेनाह–

एकः किन्नेष्टस्तदभावाविभावनात् । इति ।

एकः द्वितीयरहित आत्मा इति यावत् । किम् ? कस्मात् । नेष्टः ? इष्ट एव प्रबोधहेतुः । कुत एतत् ? तदभावस्य एकाभावस्य अविभावनाद् अनिश्चयात् ।

ननु यथासौ ग्रामारामादेरन्य एव, कथमस्ति ? अप्रतिभासनात् । अस्तित्वेऽपि ग्रामारामादिः किं भवति ? असन्नेवेति चेत् , न, प्रतिभासनात् । प्रतिभासतोऽप्यसत्त्वे तदा-त्मन्यपि प्रसङ्गात् । सन्नेवेति चेत्, न, अद्वैतशास्त्रवाक्यव्याघातनात् । भवतु ग्रामारामादि-रेवायमिति चेत् , न, चित्राकारैकज्ञानाभ्युपगमेन बौद्धदर्शनस्यैवैवं प्रतिष्ठानात् न ब्रह्मवादस्य, तत्र निराकारस्यैवात्मनः प्रसिद्धेः । "अस्थूलमनर्वै(मनणु)अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्ने-हमच्छायमतदो(मो)वायुमनाकाशम्" [बृहदा० ३।८।८] इत्यादि वचनात् । तत्कथं तदभावाविभावनं तदभावस्यैव विभावनादिति चेत्, न, जाग्रज्ज्ञानेऽप्येवं प्रसङ्गात् । तदपि च यदेतत् 'नीलमहं वेद्मि' इति स्वपरव्यवसायात्मकं ज्ञानं न ततो भिन्नमस्ति अप्रति-वेदनात् । अस्तित्वेऽपि प्रकृतं किं भविष्यति ? असदेवेति चेत्, न, प्रसिद्धस्यासत्त्वे अन्यत्रा-प्यनाश्वासात् । सदेवेति चेत् , न, उभयाप्रतिवेदनात् । "मनसोर्युगपद्वृत्तेः" [प्र० वा० २।१३३] इत्यादेर्निषिद्धत्वात् । भवतु तदेवं तदिति चेत् , न, अप्रतिवेदने तदेवेत्ययोगात् । अस्त्येव स्वतस्तस्य प्रतिवेदनमिति चेत्, तत्किन्नाम प्रमाणम् ? अप्रमाणात्तत्प्रतिवेदनायोगात् । प्रत्यक्षमिति चेत्, न, तस्य निर्विकल्पकत्वात् । निर्विकल्पं हि प्रत्यक्षं तत्कथं तत्स्वभाव शून्यस्य व्यवसायस्य स्यात् ? अस्त्येव तस्यापि तत्स्वभाव इति चेत् , न, 'व्यवसायश्च निर्विकल्पश्च' इति व्याघातात् । नायं दोषः ऐकान्तिकस्य व्यवसायस्यानभ्युपगमादिति चेत्, एवमपि स्वतो निर्विकल्पकस्वभावस्यैव प्रतिवेदनं प्रत्यक्षं न व्यवसायात्मनः । पुनरत-स्यापि निर्विकल्पस्वभावकल्पनायामनवस्थानम् , 'व्यवसायश्च निर्विकल्पश्च' इत्यादेरनु-वन्धात् । तन्न तत्प्रत्यक्षम् । नाप्यनुमानम् अलिङ्गत्वात् । नापि प्रमाणान्तरम् अनभ्युपगमात् । ततो न स्वतस्तत्प्रतिवेदनम् । नापि परतः "तस्या नानुभवोऽपरः" [प्र० वा० २। ३२७] इति व्याघातात् ,तदर्थस्यापि प्रतिवेदनप्रसङ्गाच्च । ततो न जाग्रज्ज्ञानं नाम किञ्चित्प्रति-विदितमस्ति यस्य प्रबोधहेतुत्वकल्पनम् । अप्रतिविदितस्यापि तत्कल्पने परमब्रह्म एव तदस्तु । ततः सूक्तम् 'एक' इत्यादि ।

यद्येक आत्मा कथं प्रतिशरीरं जीवभेदः 'देवदत्तजीवो यज्ञदत्तजीवः' इति ? अभिन्ना एव तस्मात्परमात्मनो जीवाः । तदेकत्वे च तेषामप्येकत्वमेव स्यान्न नानात्वम् , न चैवम् , नाना-त्वस्यैव तेषु दर्शनादिति चेत् ; न , सम्यगेतत् , उपाधिकल्पितेभ्यस्तेभ्य: परमात्मनोऽन्य त्वात् । तद्यथा–घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नात् अन्योऽनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाश इति । तद-

१ –स्पर्शेत–भा०, ब०, प० । २ 'नीलमहं वेद्मि' इति ज्ञानम् । ३ जाग्रज्ज्ञानेऽपि । ४ जाग्रज्ज्ञानमेव । ५ निर्विकल्पकस्वभाव । ६ हेतुत्वकल्पने । ७ ममत्वः । ८ –न्न तथाहि–भा०, ब०, प० । ९ भेदेभ्यः ।

भेदवचनं तु तेषामुपाध्युपरमे पृथगवस्थानाप्रतिवेदनात् , तद्विकारत्वाच्च । तस्यैव परमात्मनः खल्वेते विकारा य इमे जीवा अन्ये च भेदाः । तदुक्तम्–"यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेव एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यः लोकः (काः) ।" [कौषीत० ३।३] इति । [1]तदेवाह–

अविप्रकृष्टदेशादिरनपेक्षितसाधनः ॥८३॥
दीपयेत् किन्न सन्तानः सन्तानान्तरमञ्जसा । इति ।

दीपयेत् दीप्यमानं प्रकाशमानं कुर्यात् , **किन्न** कुर्यादेव । किम् ? **सन्तानान्तरं** जीवादिलक्षणं सन्तानभेदम् । को दीपयेत् ? **सन्तानः सम्**[2] मोहन्यूनाधिकभावरहित**स्तानो** विस्तारो यस्य सः परमात्मा, तस्यैव वृद्धिपरिक्षयरहितविस्तारमूर्त्तिकतया ब्रह्मविद्भिरभ्यनुज्ञानात्[3] । कथं दीपयेत् ? **अञ्जसा** परमार्थेन । परमार्थत्वं बलवदविद्याभिप्रायवशात् वस्तुतः सन्तानान्तरस्यापरमार्थत्वात् । सः कीदृशः ? **अविप्रकृष्टः** सन्तानान्तरेण सह प्रत्यासन्नो देशादिर्यस्य स तथोक्तः[4] । तदनेन देशकालाभ्यां प्रत्यासन्नत्वात्प्रबोधादौ तस्यैव हेतुत्वं न जाग्रज्ज्ञानादेः विपर्ययादित्यावेदयति । पुनस्तद्विशेषणम्–**अनपेक्षितं** स्वोत्पत्तिं प्रति **साधनं** निमित्तं येन स तथोक्तः । तदनेनापि तस्य नित्यत्वमावेदयति । अनित्यत्वे अनपेक्षितसाधनत्वानुपपत्तेः । प्रसिद्धं चैतत् ब्रह्मविदाम्–"न तस्य कश्चिज्जनको न चाधिपः" [श्वेता० ६।९] इत्यागमात् । तदेतदसहमानः सौगत आह–

अन्यवेद्यविरोधात् [किमचिन्त्या योगिनां गतिः]॥८४॥ इति ।

अन्ये भिन्नाः परस्परतः परमात्मनश्च जीवादयस्ते च ते **वेद्याश्च** वेदनविषयाः तेषां **विरोधात् । 'न दीपयेत्'** इति योजनम् । इदमनेनावेदयति–प्रतिविदितानामेव तेषां[5] स दीपकः परिकल्पयितव्यो नान्येषां व्योमकुसुमादिवत् , वेद्यता च तेषामनुपायत्वाद्विरुद्धेति । न विरुद्धा, तेषां[5] स्वत एव वेद्यत्वादिति चेत् ; न; वेदनस्य [6]परमात्मधर्मत्वेन तेष्वसम्भवात् । "नान्यदस्ति द्रष्टृ नान्यदस्ति श्रोतृ नान्यदस्ति मन्तृ नान्यदस्ति विज्ञातृ" [बृहदा० ३।८।११] इति वचनात् । नायं दोषः, तेषामपि[7] [8]तद्व्यतिरेकात्तद्धर्मत्वोपपत्तेरिति चेत् ;न ; [9]तेभ्यस्तस्य [10]व्यतिरेके तेषामपि[11] ततो[12] व्यतिरेकस्यैव न्याय(य्य)त्वात् , [13]तस्योभयनिष्ठतयैव प्रत्यवलोकनात् । प्रसिद्धश्च [14]तेभ्यस्तस्य[15] व्यतिरेको ब्रह्मविदाम् , "परमेश्वरस्तु अविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्त्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः, यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात् सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः" [ब्र० भा० १।१।१७] इत्यादिभाष्यश्रवणात् ।

---

१ तथैवाह आ०, ब०, प० । २ समो न्यूना–आ०, ब०, प० । ३ "अस्थूलमनण्वह्रस्व..."–बृहदा० ३।८।८ । ४–क्तः स्यादनेन आ०, ब, प० । ५ जीवानाम् । ६ परमार्थध–आ०, ब०, प० । ७ जीवानामपि । ८ परमात्माऽव्यतिरेकात् । ९ जीवेभ्यः । १० परमात्मनः । ११ जीवानामपि । १२ ब्रह्मणः । १३ व्यतिरेकस्य । १४ जीवेभ्यः । १५ परमात्मनः । तेभ्यस्तद्व्यति–आ०, ब०, प० ।

सुवर्णस्य रुचकादिव्यतिरेकेऽपि रुचकादयस्तदव्यतिरिक्ता एव तद्वत्परमात्मनो जीवादिव्यतिरेकेऽपि जीवादयस्तदव्यतिरिक्ताः किन्न भवन्तीति चेत् ? कुतः पुनः सुवर्णस्य रुचकादिव्यतिरेकः ? [1]तदभावेऽप्यवस्थान्तरे भावादिति चेत्, रुचकादीनामपि तर्हि [2]तद्व्यतिरेकः, तदभावेऽपि [3]द्रव्यान्तरे भावात्। अन्य एव ते रुचकादय इति चेत्, सुवर्णमप्यवस्थान्तरगतमन्यदेव किन्न स्यात् ? प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्, न, 'अमी च रुचकादय अमी च रुचकादयः' इति तत्रापि [4]तत्प्रसूतेरवलोकनात्। तादृश्यात्तत्प्रवर्तनं नैकत्वादित्यपि समानं स्वर्णेऽपि। ननु अस्ति तावद् द्रव्याद्व्यतिरेकः रुचकादीनाम्, तत्तु द्रव्यं स्वर्णमन्यद्वेति किमनेन ? तदव्यतिरेकमात्रादेव निदर्शनात् परमात्माव्यतिरेकस्य जीवादिषूपकल्पनादिति चेत्, न, अस्ति तावत्पर्यायतादात्म्यं सुवर्णस्य, ते च पर्याया रुचकादयोऽन्ये चेति किमनेन, तत्तादात्म्यादेव निदर्शनाज्जीवाद्यव्यतिरेकस्य च परमात्मन्युपपादनात्। एकैकपर्यायपरिहारेणेव सकलपर्यायोपसंहारेणापि सम्भवति सुवर्णं तत्कथं तस्य तन्मात्रेणापि तादात्म्यं यदेवमुच्यत इति चेत्, न, एकैकद्रव्यपरित्यागेनेव सकलद्रव्यपरित्यागेनापि रुचकादीनां सम्भवाद्, अन्यथा अविचलनानुपपत्तेः, कल्पनामात्रस्योभयत्रापि समानत्वात्। तन्न व्यतिरिक्तादेव सुवर्णात् स्वस्तिकादीनामव्यतिरेको यतस्तदव्यतिरेकेण एवात्मनो जीवादीनामव्यतिरेकात् तद्वच्चेतनधर्मत्वं तेषूपपाद्येत। तन्न [10]तेषां तात्त्विकं ज्ञानधर्मत्वम्।

कल्पितमेव भवत्विति चेत्, केन तत्कल्पनम् ? अविद्याविलसितेनेति चेत्, न, जीवादिभेदव्यतिरेकिणस्तस्यैव[11] भावात्। प्रागभावीयखण्डे[12] एव तद्विलास इति चेत्, न, तस्यापि वस्तुतो ज्ञानरूपस्याभावात्। कल्पितमेव तत्रापि [13]तद्रूपत्वं प्रागभावीयेन तद्भेदेन। न चैवमनवस्थान दोषः, अनादित्वात् प्रबन्धस्येति चेत्, तद्वत्तज्ज्ञानरूपत्वस्याप्यनादित्वात्। न चातद्रूपादेव क्वचित्तद्रूपकल्पनम्, अचेतने घटादिप्रबन्धेऽपि प्रसङ्गात्। तन्नाविद्याविलासेन तत्कल्पनम्।

अस्तु, परमात्मनैव तत्कल्पनम्, तस्य [14]स्वत एव ज्ञानरूपत्वात् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्ति० २।१।१] इति वचनादिति चेत्, भवत्वेवम्, तथापि कथं कल्पितस्य तद्रूपस्य क्वचिदधिपत्यप्रसङ्गम् ? कल्पितस्य[15] पावकस्य पावकाङ्गत्वादर्शनात्। कल्पितोऽप्य हिंसो भवत्येव मरणाङ्गमिति चेत्, न, वस्तुसतस्तद्दंशकल्पिनो[16] ज्ञानस्यैव [17]तदङ्गत्वात्। तद्दंशस्य तदङ्गत्वे अतिप्रसङ्गात्। भवत्वत्रापि वस्तुसतः परमात्मन एव [18]तत्कल्पनात्मतस्तत्प्रतिपत्त्यङ्गत्वम्, "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" [कठो० ५।१५] इति वचनादिति चेत्, किमिदानीं जीवेषु चेतनत्वकल्पनेन कल्पितेऽपि तस्मिन् [19]पुरुषादेव

1 रुचकाद्यभावेऽपि। 2 सुवर्णव्यतिरेकः। 3 लोहादौ। 4 प्रत्यभिज्ञानप्रवृत्तेः। 5 सादृश्यात्। 6 –द्रव्यादिव्यति–आ०, ब०, प०। 7 –न दर्शा–आ०, ब०, प०। 8 पर्यायमात्रेणापि। 9 –नैनैव स–आ०, ब०। –नैनापि स–प०। 10 जीवानाम्। 11 अविद्याविलासधर्मेण। 12 प्रागभावीय–आ०, ब०, प०। जीवादिभेद। 13 तद्रूपं प्रागभावी–आ०, ब०, प०। 14 स्वत एव आ०, ब०, प०। 15 –स्यैव पावकस्य पावकत्व–आ०, ब०, प०। 16 –तद्दंश–आ०, ब० प०। 17 मरणाङ्गत्वात्। 18 –नात्मत्व–आ०, ब०, प०। 19 पुरुषा–आ०, ब०, प०।

तत्प्रतिपत्तेः [1]ततस्तत्प्रतिपत्तिरेव तेषु तत्कल्पनमिति चेत्; न; घटादावपि प्रसङ्गात्। एवञ्च चेतन एव सर्वभेदो नाचेतन इति [2]प्रतीतिविरुद्धमापद्येत। पुरुषोऽपि तान् प्रतिपद्यमानः प्रतिपन्नः, तद्विपरीतो वा प्रतिपद्येत ? तद्विपरीत एव, "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ" [बृहदा० ३।८।११] इति वचनादिति चेत्; कथमिदानीं तस्य सर्वज्ञत्वम्, आत्मापरिज्ञाने तदनुपपत्तेः। न चासर्वज्ञ एवासौ "सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणम्" [ब्र० भा० १।१।१०] इति भाष्यात्। "स वेत्ति विश्वम्" [श्वेता० ३।१९] [3]इत्याम्नायाच्च।

भवतु प्रतिपन्न एवेति चेत्; स भूमा, अल्पो वा भवेत् ? भूमा चेत्; तथापि कथं तस्य सर्वज्ञत्वं स्वरूपादन्यस्याप्रतिवेदनात् ? "यत्र [4]नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" [छान्दो० ७।२४।१] इति वचनात्। तदवस्थायां[5]मन्यदेव नास्ति सर्वस्य भूमन्यनुप्रवेशात्। न चासतोऽपरिज्ञानादसर्वज्ञत्वम्, अपि तु सत एव सविशेषात्परिज्ञानात्। न चेदं भूमन्यस्ति, सतो भूम्नः सर्वात्मना परिज्ञानात्। ततः स्वपरिज्ञानमेव तस्य सर्वज्ञत्वमिति चेत्; कथं तर्हि तस्य[6] जगत्कारणत्वं तदन्यस्य जगत एवाभावात्। स एव जगदिति चेत्; न; तस्य तत एवानुत्पत्तेः। यद्यसौ सन् किमुत्पत्त्या ? यद्यसन्; कुत उत्पत्तिरिति ? कथं वा ततो जीवादेर्भेदस्य प्रतिपत्तिः तदानीमसतस्ततो[7]ऽपि तदनुपपत्तेः। तन्न भूमा जगत उत्पत्तेः प्रतिपत्तेर्वा निमित्तमुपपन्नम्।

भवत्वल्प एव स इति चेत्; तेनापि यदि भूम्नोऽपरिज्ञानं कथं सर्वज्ञत्वम् ? परिज्ञाने स एव भूमा "ब्रह्मवद् ब्रह्मैव भवति" [मुण्ड० ३।२।९] इति कथमल्पत्वम् ? उपाधिपरिच्छिन्नतया परिज्ञानादिति चेत्; न; तत्परिच्छेदस्या[8]तद्रूपत्वात्। न च अतद्रूपपरिज्ञानं तत्परिज्ञानम् अन्यत्र विभ्रमात्। विभ्रमे च कथं तस्य ब्रह्मत्वं यतो द्विविधं [9]ब्रह्मकल्पनं शोभेत ? [10]अपहतपाप्मत्वादिभिर्ब्रह्मधर्मैरिति चेत्; न; विभ्रमस्यैव पाप्मत्वात्। नायं[11] पाप्मा अदुःखहेतुत्वादिति चेत्; न; अस्मदादिविभ्रमस्याप्यतद्धेतुत्वापत्तेः। तथा चासङ्गतमेतत्–"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" [कठो० ४।१०] इति। [12]ब्रह्मज्ञानिभ्रमस्यैवापाप्मत्वं ब्रह्मज्ञानज्वलनोपहतशक्तिकत्वान्नेतरविभ्रमस्य विपर्ययादिति चेत्; न; ब्रह्मज्ञानी च विभ्रमी चेति व्याघातात्। [13]अथ तस्यापि इच्छया भवत्येव विभ्रम इति [14]चेत्, न; इच्छाविषयस्य विभ्रमात्प्रागदर्शनात्, अदृष्टतद्विषयस्य चेच्छानुपपत्तेः। प्राक्तद्दर्शनभावे च नेच्छातो विभ्रमः विभ्रमादेव तद्भावात्। तथा च अनादिविभ्रममलोपहतस्य कथं तस्यापहतपाप्मत्वादिकं[15] यतो

---

१ पुरुषात्। २ प्रतीतिरुद्ध–आ०, ब०, प०। ३ "अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥"–ता० टि०। "सवेत्ति वेद्यम्"–श्वेता०। ४ यत्तु ता०। ५ भूमावस्थायाम्। ६ ब्रह्मणः। ७ ब्रह्मश्च आ०, ब०, प०। ८ ब्रह्मस्वरूपत्वाभावात्। ९ "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत्।"–मैत्रा० ६।२२। १० "अहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः।"–छान्दो० ८।४।१। ११ विभ्रम.। १२ विभ्रमस्यैवा–आ०, ब०, प०। १३ अर्थस्यापि छाया–आ०, ब०, प०। १४ चेच्छा–आ०, ब०, प०। १५ –कं न यतो–आ०, ब०, प०।

ग्राह्यत्वमस्यस्य । सत्त्वेऽपि न तस्य स्ववेदने परवेदनम्, विभ्रमाभावात् "अविज्ञातं विज्ञातृ" [बृहदा० ३।८।११] इति वचनाच्च । परतत्त्वस्याविज्ञानादविज्ञातत्वं [1]तेनोच्यते स्वतस्तु विज्ञात एवात्मोऽपीति चेत्, न तर्हि परविज्ञानम् " [2]विज्ञातु द्वैतं विज्ञेयं न विजानाति" [ ] इत्यादिना आत्मज्ञस्य [3]परविज्ञानप्रतिषेधात् । भ्रान्त्यैव तेनापि तत्प्रतिषेधो नास्ये तत्रात्मज्ञानवत् परज्ञानस्यापि भावादिति चेत्; न, [4]तस्यापि भ्रामभेदात्, तत्रापि [5]तत्प्रतिषेधात् । उपाधिमत्तया भेद एव [6]तत्त्वस्येति चेत्, कथं तर्हि तस्य तात्त्विकस्य ज्ञानान्तरस्यानभ्युपगमात्, कल्पितेन च तत्त्वेन ग्रहस्यानुपपत्तेः ? तत्त्वस्याप्यात्मज्ञत्वे न परवेदनमिति न सन्त्येवं जीवाः स्वतः, परतश्चाप्रतिपत्तेः । तत्र तेषामेकेन दीपनमिति सूक्तम्–'अन्यथैव विरोधात्र दीपयेत्' इति ।

तत्रोत्तरमाह–'किमचिन्त्या योगिनां गतिः' इति । किमचिन्त्या ? चिन्त्यैव गतिः प्रवृत्तिः योगिनां सम्बन्धवताम् । तथा हि–पूर्वोत्तरज्ञानानां कार्यकारणभावः सम्बन्धस्तेषां सत्येव भेदे भवति, भेदश्च न तेषां कुतश्चित्स्वरूपपरिज्ञानः, सर्वज्ञानानां स्वरूपमात्रनिमग्नत्वेन प्रतियोगिन्यप्रवृत्तेः । अप्रतिपन्ने च प्रतियोगिनि 'अहं कारणमस्य अहं कार्यमस्य' इति व्यवस्थापयितुमशक्यम् । तत्कथं प्रबोधज्ञानस्यापि कथित्कारणत्वम् ? मा भूदिति चेत्, तत्राह–

'आयातम्' [अन्यथाऽद्वैतमपि चेत्यमयुक्तिमत्]। इति ।

जाग्रज्ज्ञाने प्रबोधस्यानुपलब्धमपि कारणं प्रमाणस्यैकं दूषणमुक्तम् 'एकः किन्नेष्टः' इत्यादिना । दूषणान्तरमिदानीं वक्तव्यम् । तथा [हि] जाग्रज्ज्ञानं प्रबोधादुत्पन्नं यदि तस्य जनकम्[7], परस्पराश्रयः–'तत्सम्भवे तस्य जननम्, जनिताच्चोत्पत्तिः' इति । अनुत्पन्नं चेत्; न, सर्वजननप्रसङ्गात् । तथा हि–

अनर्थं च चेद्विज्ञानमर्थवित् [8]सर्ववित्भवेत् ।
ज्ञानान्तरं वृथा प्राप्तमिति यच्चाभिगद्यते ॥८७७॥
तथेदमपि वक्तव्यं जाग्रज्ज्ञानं प्रबोधतः ।
अजातं[9] तस्य हेतुश्चेत्सर्वहेतुः प्रसज्यते ॥८७८॥
हेत्वन्तरं ततः प्राप्तं त्वन्मतेऽपि वृथेरितम् ।
एकहेतुप्रसादश्च प्रत्ययार्थं प्रकल्पयेत् ॥८७९॥
प्रत्यासत्त्या स तस्यैव हेतुर्नान्यस्य चेन्मतः ।
तस्या[10] एवार्थनियमो ज्ञानस्याप्यनुमन्यताम् ॥८८०॥

1–तमर्थं–भा०, ब०, प० । 2 अविज्ञातमिति वचनेन । 3 विज्ञातृद्वैत–भा०, ब०, प० । 4 परे त्रि–भा०, ब०, प० । 5 भ्रान्त्यादि । 6 भ्रान्तेऽपि । 7 भूम्नः भ्रान्त्या । 8 प्रबोधस्य । 9 "अजातं तर्हि"–ता० टि० । 10 वाचकत्वेन । 11 प्रबोधस्य । 12 "अपरिवृत् तर्हि"–ता० टि० । 13 "भवेत् तथा च"–ता० टि० । 14 भदर्न भा०, ब०, प० । 15 प्रत्यासत्तेः ।

तदेवाह–'**अविप्रकृष्ट**' इत्यादिना । **सन्तानः** ज्ञानात्मा **सन्तानान्तरम्** अर्थाख्यं **किं न दीपयेत्** किं न प्रकाशयेत् ? कथम् ? **अञ्जसा** । कीदृशः ? **अनपेक्षितसाधनः** । अनपेक्षितम् अनाकाङ्क्षितं साधनं विषयकृतमुपकारलक्षणं येन स तथोक्तः । तदनपेक्षस्य[1] तत्प्रदीपनेऽतिप्रसङ्गं परिहरति— अविप्रकृष्टः प्रत्यासन्नो देश आदिर्यस्य कालादेः स यस्य सः **अविप्रकृष्टदेशादिः** अविप्रकृष्टत्वं च देशादेर्योग्यतयैव न संसर्गितया व्यवहितदेशादेरपि प्रदीपकत्वात्[2] । उक्तं चैतत्पूर्वं '**यदा यत्र**' इत्यादिना । ततो निराकुलतया वहिरर्थसिद्धेः कथं विज्ञानवाद इति भावः ।

ननु च योग्यतावगमः कार्यदर्शनादेव, तच्च कार्यं व्यतिरिक्तविषयदर्शनमेव, तच्च न, स्वरूपादन्यत्र ज्ञानप्रवृत्तेरनवलोकनात्, नीलादेरपि ज्ञानानुप्रविष्टस्यैव प्रत्यवभासनात्, न वहिर्भूतस्येति चेत्; तदेवाह–'**अन्यवेद्यविरोधात्**' इति । अन्यच्च तज्ज्ञानात् व्यतिरेकात् वेद्यञ्च तद्विषयत्वात् तस्य विरोधात्। तथा हि–यदि नीलादिः संवेदनमननुप्रविष्टः कथं तत्समानाधिकरणतया परिज्ञानम् 'नीलादिः संवेद्यते' इति, तदनुप्रविष्टस्यैव तथा तद्दर्शनात् नीलमुत्पलमितिवत् । अनुप्रविष्टश्चेत् कथं तद्ग्राह्यत्वम् अनुप्रवेशविरोधात् ? तदुक्तम्–

"यदि संवेद्यते नीलं कथं ग्राह्यं तदुच्यते ?
न चेत्संवेद्यते नीलं कथं ग्राह्यं तदुच्यते ?" [प्र०वार्त्तिकाल० ३।३३१]इति ।

ततो '**अन्यवेद्यविरोधान्न सन्तानः सन्तानान्तरं दीपयेत्**' इति । तत्रोत्तरमाह–'**किमचिन्त्या योगिनां गतिः**' इति । किं कुतो **योगिनां** परिशुद्धज्ञानसम्पन्नानां बुद्धानां **गतिः** बुद्धिः **अचिन्त्या** अविचारयितव्या ? साप्येवं विचारयितव्यैव। तथा हि–यदि सा स्वरूपादन्यत्र न प्रवर्त्तते कथं तया तेषां योगित्वम् अतिप्रसङ्गात् । प्रवर्त्तते चेत्; कथमन्यत्रापि अन्यवेद्यविरोधो यतः सन्तानः सन्तानान्तरं न दीपयेत् ? दीपयेत्, तत्कृतमुपकारमपेक्षमाण एव उपकारित्वस्यैव ग्राह्यलक्षणत्वादिति चेत्; न; योगिज्ञानापेक्षयापि तस्यैव तल्लक्षणत्वापत्तेः । तथा च यदुक्तम्–

"रूपादेश्चेतसश्चैवमविशुद्धधियां प्रति ।
ग्राह्यलक्षणचिन्तेयमचिन्त्या योगिनां गतिः ॥" [प्र०वा० २।५३२] इति ।

तदपर्यालोचितवचनं भवेत् । तदपेक्षयाऽन्यदेव ग्राह्यलक्षणं तत्तु नास्मदादिभिरित्यन्तया शक्यनिरूपणमतो नोच्यते । अस्मदादिज्ञानापेक्षमेव तु तल्लक्षणं शक्यनिरूपणत्वादुच्यते इति चेत्; न; अनिरूपितेन तल्लक्षणेन[3] तेषां तज्ज्ञत्वे कणादादीनामपि तत एव तत्प्रसङ्गात् । तथा च कथं तत्परिहारेण[4] तथागतानामेव प्रामाण्यपरिकल्पनमुपपद्येत[5] । तदुपपादयता

१ तदपेक्षस्य आ०, ब०, प० । २ –त्वादित्युक्त–आ०, ब० ।–त्वादित्ययुक्त–प० । ३ ग्राह्यलक्षणेन । ४ कणादादिपरिहारेण । ५ "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने । (प्रमाणसमु० श्लोक १)"–ता० टि० ।

तदन्यनिरूपणमेव तदपेक्षमपि तल्लक्षणमभ्युपगन्तव्यम् । तदाह—'अन्य' इत्यादि । अन्ये च ते कणादादयो वेदिनश्च विदस्य तेषाम् 'अविरोधात्' अविरोधप्रसङ्गात् । किमचिन्त्या ? शक्यचिन्त्यैव योगिनां मुक्तानां गतिर्बुद्धिरित्यं विषयवतीति । तच्च तदपेक्षया तल्लक्षणं निरूप्यमाणं न योग्यताया अपरम् अतस्तदेवास्मदादिज्ञानापेक्षयापि भवतीति तदर्थं तदुपस्थापिकल्पनम् । अतदुपप्रादिना तस्यप्रकाशनेऽतिप्रसङ्ग इति चेत्, न, योग्यतानियमेन प्रकाशनिषमस्याभिहितत्वात् । ततः सूक्तम्-'अविप्रकृष्ट' इत्यादि ।

योगिन एव मा भूवन न कश्चिल्लक्षतिः सद्युक्तिमात्रेण तदभ्युपगमादिति चेत्, अत्राह-

आयातमन्यथाऽद्वैतम् [अपि चेत्थमयुक्तिमत् ।] इति ।

अन्यथा अन्येन 'ज्ञानमपि ज्ञानान्तरस्य न हेतु ,नापि योगिनो विपन्वे' इति प्रकारेण आयातम् उपनतम् अद्वैतं निरशसंवेदनैकरूपत्वसत्त्वम् । तदपि सौगतस्याभिमतमेवेति चेत्, आह-'अपि चेत्थमयुक्तिमत्' इति । 'इत्थम्' इत्यनन्तरम् 'अपि च' इति द्रष्टव्यम् । इत्यमनेनाद्वैतप्रकारेण । अपि च न केवलम् अन्यथैव अयुक्तिमत् तत्त्वं संविदद्वैतस्य प्रज्ञाद्वैतवदनुपपत्तिमत्तया प्रतिपादितत्वात् । ततः क्वचित् प्रज्ञास्थैर्यमन्विच्छता न बहिरर्थः प्रतिक्षेप्तव्यः तत्प्रतिक्षेपे तदनुपपत्तेः ।

कथं पुनर्बहिरर्थस्य वस्तुसतः परिज्ञानम् ? न प्रतिभासात्, तस्यासत्यपि तस्मिन् विप्लवावस्थायां भावात् । तद्विशेषादित्यपि न युक्तम्, अबाधितत्वादेः तद्विशेषस्य निरूपणादिति चेत्, न, तद्वत्सन्तानान्तरस्यापरिज्ञानापत्तेः । प्रत्यक्षतस्तदप्रतिवेदनात्, तल्लिङ्गस्य च व्याहारादेरसत्यपि तस्मिन् विप्लवदशायां भावात् । तदाह-

व्याहारादिविनिर्भासो विप्लुताक्षेऽपि भावतः ॥८५॥ इति ।

व्याहारो वाग्व्यापार आदिर्यस्य गमनादेः कायपरिस्पन्दस्य तस्य विनिर्भासनं व्याहारादिविनिर्भासः सन्तानान्तरं किन्न दीपयेत् इति नकारपर्यन्तमधिकृत्य सम्बन्धनीयम् । अत्र हेतुमाह-विप्लुताक्षेऽपि स्वापाद्युपहतेन्द्रियेऽपि प्रतिपत्तरि तद्विनिर्भासस्य भावतो विद्यमानत्वात्, न व्यभिचारिणो गमकत्वमिति भावः । पर. परिहारमाह-

अनाधिपत्यशून्यं तत्पारम्पर्येण चेत् [असत्] । इति ।

अधिपतिः निमित्तं सन्तानान्तरं व्याहारादेः स एवाधिपत्यं तेन शून्यं आधिपत्यशून्यम्, न आधिपत्यशून्यम् अनाधिपत्यशून्यम् आधिपत्यसहितमिति यावत् । किं तदिति चेत् ? आह-तत् व्याहारादिकम् । कथं तथाविधम् ? इत्याह-पारम्पर्येण परम्परतया विप्लुताभमपि व्याहारादिकं यद्यपि साक्षादाधिपत्यसहितं न भवति, परम्परया तु भवत्येव ।

---

१ अविरोधात् प्रस-ता० । २ प्रज्ञास्थैर्यानुपपत्तेः । ३ अर्थे । ४ प्रतिभासाविशेषात् । ५ -तन्मेद्-आ०, ब०, प० । ६ सन्तानान्तरे । ७ माहार-आ०, ब०, प० । ८ -स्य मन्निदित-आ०, ब०, प० ।

आधिपत्यसहिताद्व्याहारादित एव तद्व्याहारादेरुत्पन्नत्वात् ततस्तस्यापि परम्परया गमकत्वान्न व्यभिचार इति परस्य भावः । चेत्शब्दस्तमेव द्योतयति ।

तत्रोत्तरम्–'**असत्**' इति । असत् अप्रशस्तम् अनाधिपत्येत्यादि । हेतुमाह–

'अर्थेष्वपि प्रसङ्गश्च' [इत्यहेतुमपरे विदुः] ॥८६॥ इति ।

च शब्दो यस्मादर्थे । यस्मात् **अर्थेष्वपि** अर्थप्रतिभासेष्वपि विषयशब्देन विषयिप्रतिवेदनात्, न केवलं व्याहारादिषु इत्यपिशब्दः । **प्रसङ्गः** पारम्पर्येणार्थसाहित्यस्य । तथा चार्थप्रतिभासानामपि विप्लुताक्षभाविनाम् अर्थप्रत्यायनोपपत्तेर्न व्यभिचार इति शास्त्रकारस्याभिप्रायः । ततश्च यदुक्तम्–"ग्राह्यप्रतिभासः परमार्थसद्विषयो न भवति तत्प्रतिभासत्वात् विप्लुताक्षतत्प्रतिभासवत्" [ ] इति ; तत्प्रतिविहितम् ; निदर्शनस्य साध्यवैकल्यात् । तदेवाह–'**इत्यहेतुमपरे विदुः**' इति । **इति** एवम् अनन्तरहेतुम् **अहेतुम्** अगमकम् **अपरे** अर्थवादिनो **विदुः**र्विजानन्ति ।

त इमे '**इन्द्रजाल**' इत्यादयो '**विप्लुताक्ष**' इत्यादेरेव व्याख्यानश्लोकाः ।

कुतः पुनः सतोऽपि ग्राह्याकारस्य बहिरर्थत्वम् ? कुतश्च न स्यात् ? अर्थज्ञानादव्यतिरेकात्, तस्याप्यनुमानादवगमात् । तच्चेदम्–'यत्र [1]सहोपलम्भनियमः तत्र भेदः यथा चन्द्रद्वये' सहोपलम्भनियमश्च नीलतज्ज्ञानयोः, इति । [2]नीलस्यैव केवलस्यानुभवो न [3]तज्ज्ञानस्य तस्य [4]परोक्षत्वात्, तत्कथं तत्र तन्नियम इति चेत् ; न ; अननुभवविषयात्ततः[5] सन्तानान्तरज्ञानादिवाऽर्थपरिच्छेदानुपपत्तेः । [6]ज्ञानान्तरानुभूतात्तु ततः तत्परिच्छित्तौ अनवस्थानस्याभिधानात् । तन्नासिद्धो हेतुः । नापि रूपालोकाभ्यां व्यभिचारी ; तत्र [7]तदभावात्–निरालोकस्यापि रूपस्याञ्जनादिसंस्कृतलोचनेनोपलम्भात्, नीरूपस्याप्यालोकस्य गगनतले विलोकनात् । तस्मान्न [8]तन्नियमो भेदे सति गवाश्ववदुपपत्तिमान् । ततो भवत्येव नीलतज्ज्ञानयोस्तस्मादभेदप्रतिपत्तिरिति चेत् ; अत्राह–

सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्धियोः । इति ।

तस्य धीस्तद्धीः, नीलं च तद्धीश्च **नीलतद्धियौ** । तस्येत्यत्र [9]नीलस्येत्यपेक्षायामप्रवृत्तिः

---

१ "सकृत्संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह । विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिद्ध्यति ॥ विषयस्य हि नीलादेर्धिया सह सकृदेव संवेदनम् । धिया सह न पृथक् । ततः संवेदनादपरो विषय इति कथम् ?"–प्र०वार्तिकाल० पृ० ९१ । "यद् यस्मादपृथक् संवेदनमेव तत्तस्मादभिन्नं यथा नीलधीः स्वस्वभावात् । यथा वा तैमिरिकज्ञानप्रतिभासी द्वितीय उडुपः–चन्द्रमाः । नीलधीवेदनञ्चेदम् इति पक्षधर्मोपसंहारः । धर्म्यत्र नीलाकारतद्धियौ, तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः, यथोक्तः सहोपलम्भनियमो हेतुः । ईदृश एवाचार्यीये प्रयोगे हेत्वर्थोऽभिप्रेतः ।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ५६७ । २ मीमांसकः"–ता०टि० । ३ नीलज्ञानस्य । ४ "उक्तञ्च परःचं जैमिनेर्ज्ञानमिति, ज्ञाते त्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति च ।"–ता० टि० । ५ परोक्षज्ञानात् । ६ "योगाभ्युपगतात्"–ता० टि० । ७ सहोपलम्भनियमाभावात् । ८ सहोपलम्भनियमात् । ९ "सापेक्षमसमर्थं भवतीति" (पा० महा० २।१।१) न्यायात् समासाभावः ।"–ता० टि० ।

गमकत्वात्, अनपेक्षाया तु न नीलधिय एव प्रतिपत्तिः, अन्यधियोऽपि ततः सम्भवात्। तथा च न सहोपलम्भनियमः अन्यधीन्यपेक्षया नीलस्य [1]तदप्रतिवेदनादिति चेत्, न, प्रकरणाद्विवशात् तच्छब्दस्य नीलार्थनिर्णये पहिरपेक्षाविरहात्गमकत्वोपपत्तेः वृत्तिविधानस्याविरोधात्। तयोरभेदः तादात्म्यं [2]भेदाभावो वा। कुत एतत्? सहोपलम्भनियमात्। अस्यार्थः पश्चाद्विवरिष्यते। द्विचन्द्रादिवदिति निदर्शनमत्र द्रष्टव्यम्, शास्त्रे [3]परेणाभिधानात्।

तदिदं [4]निषेधमाह–'न' इति। कुत एतदिति चेत्? पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनात्। प्रत्यक्षं हि नीलं तज्ज्ञानात् नीलाच्च तज्ज्ञानम् अर्थान्तरतया जडेतररूपतया भिन्नजातीयत्वेन सकलप्रेक्षावत्साक्षिकतया प्रतिपद्यमानं तदभेदपक्षं प्रतिक्षिपत्येव, पावकानुष्णपक्षमिव दहनोष्णप्रत्यक्षम्। तत्र [5]तस्य हेतुपक्षत्परिपालनम्।

"न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हतः।" [ ] इति न्यायात्। तद्भेदप्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वान्न तेन तस्य प्रतिक्षेपः चन्द्रार्कादिस्थिरप्रत्यक्षेणेव तद्गतिपक्षस्येति चेत्, न, बाधकाभावात्। अन्यतस्तद्बाधने तत एव तदभेदपरिज्ञानान्नर्थक्यं तन्नियमस्य स्यात्। तन्नियमादेव तद्बाधनं देशान्तरप्राप्तेरिव स्थिरप्रत्यक्षस्येति चेत्, भवेदेवं यदि [6]तत्प्राप्तेरिव [7]तन्नियमस्याप्यविनाभावनिश्चयः सुलभः स्यात्। न चैवम्, तदभावस्य वक्ष्यमाणत्वात्। ततो न नीलतद्धियोरभेदः, तत्पक्षस्य प्रत्यक्षेण बाधनात्।

कथमिदं कारिकायामनुक्तमभिधीयत इति चेत्? न, सामर्थ्यप्रापितस्याभिधाने दोषाभावात्। परेणैव हि नीलतद्धियोरिति[8] भेदं निर्दिशता, तत्प्रत्यक्षमुपस्थापितं [9]तन्निर्देशस्य [10]तन्मूलत्वात्। [11]तच्चोपस्थाप्यमानमभेदप्रतिक्षेपकमेव [12]तत्प्रत्यनीकविषयत्वादिति न किञ्चिद्सामञ्जस्यम्, अतश्च न तयोरभेदः। इत्याह–

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकान्वयत्वतः ॥८७॥ इति।

व्यतिरेकश्चान्वयश्च व्यतिरेकान्वयौ। अन्वयशब्दस्य अजाद्यदन्ततया[13] पूर्वनिपातेन भवितव्यं तत्कथमयं निर्देश इति चेत्? न, धर्मार्थादिषु दर्शनात् व्यतिरेकशब्दस्यापि पूर्वनिपातोपपत्तेः। सन्दिग्धौ संशयितौ व्यतिरेकान्वयौ[14] यस्य सन्दिग्धव्यतिरेकान्वयः। पुनर्विरुद्धादीनां द्वन्द्वं कृत्वा भावप्रत्ययः, तस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धश्च कर्तव्य इति। इदमुच्यते– न नीलतद्धियोरभेदस्तादात्म्यं सहोपलम्भनियमात्। कुतः? तस्य विपक्ष एव[15] भावेन विरुद्धत्वात्।

1 सहोपलम्भनियमात्प्रतिवेदनात्। 2 "वक्ष्यमाणप्रकारेणैकमतोऽपि चेतनत्वेनाविशिष्टत्वम्"–ता॰ टि॰। 3 बौद्धेन। "भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।"–प्र॰ वा॰ २।३८९। 4 निषेधमन्या–भा॰, ब॰, प॰। 5 परस्य। 6 देशान्तरप्राप्तेरिव। 7 सहोपलम्भनियमस्यापि। 8 परोक्तवचनप्रयोगेण। 9 तन्निर्दर्शनस्य भा॰, ब॰, प॰। षष्ठीविभक्त्या भेदनिर्देशस्य। 10 भेदप्रत्यक्षमूलत्वात्। 11 भेदप्रत्यक्षम्। 12 अभेद। 13 "लघ्वक्षराद्यदन्तमभ्यर्हितम् (शा॰ २।१।११९) इतिसूत्रीयव्यवहारेण"–ता॰ टि॰। 14–यौ च यस्य भा॰, ब॰, प॰। 15 "भेद एव"–ता॰ टि॰।

[1]तथा हि–

[2]तादात्म्ये यौगपद्यं न सहार्थो नीलतद्धियोः ।
यौगपद्यं यतो लोके भेदाधारं प्रतीतिमत् ॥८८१॥
यौगपद्ये च सत्यस्मिन् वालिकाकुचयोरिव ।
तयोः परस्परैकत्वं कविभिः कल्प्यतां कथम् ? ॥८८२॥
[3]तद्भेदनियतो हेतुनिषेधत्येव ते मतम् ।
तत्कथं विषमश्नासि सञ्जीवनधिया स्थितः ॥८८३॥
भेदे गवाश्ववन्नो चेत् सहदृङ्नियमस्तयोः[4] ।
अभेदेऽपि कथं चन्द्रतद्दृष्ट्यविवेकवत् ॥८८४॥
[5]चन्द्रदृष्ट्यैव दृश्यश्चेत्तद्विवेकोऽपि ते मतः ।
तद्विवेकानुमानस्य कैमर्थ्येक्येन कल्पनम् ॥८८५॥
तस्यैव निश्चयार्थं चेत्तत्कल्पनमुदीर्यते ।
चन्द्रेऽपि निश्चयायैवं मानमन्यत्प्रकल्प्यताम् ॥८८६॥
प्रत्यक्षादेव निश्चेयश्चन्द्रश्चेत्तदभेदतः ।
तद्विवेकोऽपि[6] तत्प्राप्तमनुमानं पुनर्वृथा ॥८८७॥
अभेदेऽपि न चेच्चन्द्रनिश्चये तद्विनिश्चयः ।
तद्दृष्टावपि तद्दृष्टिर्नेति [7]सिद्धं निदर्शनम् ॥८८८॥
स्वसामग्र्यास्तथोत्पत्तेः सहदृङ्नियमो यदि ।
नीलतज्ज्ञानयोरेव नाभेदेऽपि त्वदुक्तयोः ॥८८९॥
भेदेऽप्येष नयः कस्माद् भवता भद्र नेष्यते ।
सहदृङ्नियमस्तत्र यत्तयोर्न गवाश्ववत् ॥८९०॥
व्यवसायोऽपि लोकस्य नीलतज्ज्ञानयोरयम् ।
भेद एवास्ति भेदेत्यनज (एवास्ति नाभेदे त्यज) निर्वन्धवैशसम् ॥८९१॥

ततः स्थितं सहोपलम्भनियमस्य विरुद्धत्वान्न ततो नीलतज्ज्ञानयोरभेद इति ।

अपि च, एवं विकल्पाविकल्पयोरपि मनसोरेकत्वप्रसङ्गः सहोपलम्भनियमात् । अस्ति हि तत्रापि तन्नियमः "मनसो युगपद्वृत्तेः" [प्र० वा० २।१३३] इति वचनात् । अनियथैव तत्र

१ तुलना–"तत्र भदन्तशुभगुप्तस्त्वाह–विरुद्धोऽयं हेतुः, यस्मात्–सहशब्दश्च लोके स्यान्नैवान्येन विना क्वचित् । विरुद्धोऽयं ततो हेतुर्यद्यस्ति सहवेदनम् ॥"–तत्त्वसं०पं० पृ० ५६७ । अक० टि० पृ० १४३ पं०२७ । २ 'नीलतद्धियोः तादात्म्ये सहार्थः यौगपद्यं न' इत्यन्वयः । ३ तत् तस्मात् । ४ नीलतद्धियोः । ५ चन्द्रं दृष्ट्वैव आ०, ब०, प०, । ६ "प्रत्यक्षादेव निश्चेय इति सम्बन्धनीयम्"—ता० टि० । ७ सिद्धिर्निद–आ०, ब०, प० । ८ निर्विकल्पकसविकल्पकयोः ।

तद्वृत्तिः केवलस्यैव निर्विकल्पस्य प्रतिसंहारे[1] विकल्पस्यैवेन्द्रियव्यापारोपरमे[2] दर्शनादिति चेत्, न, तर्हि नीलतज्ज्ञानयोरपि तन्नियमः[3] [4]यतस्तस्यैव तज्ज्ञानस्य विषयान्तरे नीलस्यापि ज्ञानान्तरे दर्शनात्। तदन्यदेव ज्ञानं नीलं च, पूर्वापरैकत्वे प्रमाणाभावस्य निवेदनात्। ततो यन्नीलसहितं ज्ञानं ज्ञानसहितञ्च नीलं तदन्यदेवैतयोस्तस्यैव तत्र तन्नियमे इति चेत्, कथमेव विकल्पेतरयोरप्यसहभाविनोरन्यस्मात् सहभाविनयोस्तन्नियमो[5] न भवेत्?

तथा च वस्तुवृत्त्यैव तद्भेदव्यवस्थितेः।
कथमुक्तमिदम् "मूढः तयोरैक्यं व्यवस्यति" ॥ [प्र० वा० २।१३३]
दर्शनाभेदतः साम्यं विकल्पे तत्त्वतो भवेत्।
"न [6]विकल्पानुविद्धस्य" इत्यादि [7]तच्चप्रकल्पितम् ॥८९३॥
[8]तद्वेद्यमपि सामान्यं वस्तु सत्त्यास्त्यतत्त्वम्वत्।
"[9][10]तद्वस्त्वभिधेयत्वात्" इति तन्मुग्धभाषितम् ॥८९४॥
विकल्पधर्मयोरेवमभिलाप्येतरात्मनोः।
सहोपलम्भादेकत्वे विकल्पो नावकल्पते ॥८९५॥

तथा हि–न [11]तस्याभिलाप्यैकस्वभावस्य स्वतो वेदनम्, [12]तस्यानभिलाप्यस्य तत्रासम्भवात्, अभिलाप्यस्यानभिलाप्यरूपानुपपत्तेः[13]। अभिलाप्यमेव [14]तदपीति चेत्; न तर्हि प्रत्यक्षम्, [15]तस्यानभिलाप्यस्यैवाभ्यनुज्ञानात्। तृतीयं तु प्रमाणं भवेत् अलिङ्गजत्वेनानुमानेऽप्यनन्तर्भावात्। ततश्च 'प्रमेयद्वैविध्यात्[16]' इति व्यभिचारी हेतुर्भवेत्, प्रमाणद्वैविध्यादि क्रमेणापि भावात्। [17]नाप्ययमनभिलाप्यस्वभाव एव, "[18][19]अभिलापसंसर्ग" [न्यायबि० पृ० १३] इत्यादेर्निर्विषयत्वापत्तेः। अभिलाप्याकारविषयं तत्त्वेतत् कथं तदभावे निर्विषयं न भवेत्? [20]आरोपिततदाकारविषयत्वान्न दोष इति चेत्, न, आरोपकस्याभावात्। विकल्प [21]एव हि आरोपकारी, तस्य चोक्तन्यायादसम्भवे कुतः क्वचित्कस्यचिदारोपणमिति विकल्पविकलं सकलं जगद्भवेदिति कथमनुमानं यत सहोपलम्भनियमादित्यसाधनाङ्गस्य निग्रहाधिकरणं न भवेत्? यदि पुनर्विकल्पाविकल्पयोर्विकल्पधर्मयोः अभिलाप्येतराकारयोर्वा सत्यपि सहोपलम्भनियमे नाभेदः, कथं तदा तस्य गमकत्वं व्यभिचारात्? तदेवाह–'विरुद्धत्वात्' इति। विरुद्धत्वं विपरीतीकृतत्व तस्मादिति।

---

१ पुनरदृशि। २ "तदन्यविकल्पसंहारे पुनस्तावत्यापादितरूपः"–ता० टि०। ३ "केवलस्येति तत्रापि सामान्यनीयम्"–ता० टि०। ४ "सिद्धेः कारणात्"–ता० टि०। ५ सहोपलम्भनियम। ६ केवलस्य वि–आ०, ब०, प०। ७ सहोपलम्भनियमः। ८ तदभेदे व्यवस्थिते आ०, ब०, प०। निर्विकल्पसविकल्पयोरभेदव्यवस्थितेः। ९ प्र० वा० ३।१८६। १० "सविकल्पकस्य विकल्पानामस्येत्यर्थः"–ता० टि०। ११ तज्जज्ञप्ति–आ०, ब०, प०। १२ विकल्पकल्पितम्। १३ तत् सामान्यमवस्तु। प्र० वा० २।११। १४ विकल्पस्य। १५ तत्प्रतिदेशस्य। १६ –रूपानुपपत्तेः–आ०, ब०, प०। १७ तस्मै वैदनमपि। १८ प्रत्यक्षस्य। १९ 'प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यम्'–ता० टि०। २० विकल्प। २१ "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना"–न्यायबि०। २२ अनिर्दिष्टाभिलाप्यत्वात्। २३ एव आरोपेण–आ०, ब०, प०।

एतेन यत्परस्य मतम्–"न नीलतज्ज्ञानयोरेकत्वं तन्नियमेन साध्यते अपि तु उभयोरपि चेतनत्वेनाविशिष्टत्वम्" [　　　] इति ; तदपि प्रत्याख्यातम् । तथा हि–

यथैव तन्नियामेऽपि[2] मनसोरविकल्पता ।
एकस्यैव विकल्पत्वं [3]परस्यैव न तूभयोः ॥८९६॥
नीलतज्ज्ञानयोरेवं तज्ज्ञानं चेन्न नीलकम् ।
तदभिन्नं तु तज्ज्ञानमिति भेदो दुरुत्तरः ॥८९७॥
अचेतनत्वात्संवित्तेर्नीलं चेतनमेव चेत् ।
अन्यतस्तर्हि [4]तच्चित्त्वं साध्यं [5]तन्नियमो वृथा ॥८९८॥
यथा चाचेतनस्यापि वित्तिः सम्भवति स्फुटम् ।
तथा निवेदितं पूर्वं तत्किमत्र [6]प्रयस्यते ॥८९९॥

किञ्चेदं [7]नीलं तज्ज्ञानञ्च, ययोस्तन्नियमादभेदसाधनम् ? निरंशपरमाणुरूपमिति चेत् ; न ; वक्ष्यमाणोत्तरत्वात् । यदेव [9]प्रसिद्धमिति चेत् ; न ; तस्य नानावयवसाधारणस्यावयविसिद्धिभयेनानभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि न सिद्धो हेतु ; नर्त्तकीं पश्यतस्तद्विषयस्य[10] परेण परिज्ञानेऽपि तज्ज्ञानस्यापरिज्ञानात् । तद्विषयस्यापि परेण कथं परिज्ञानमवगतम् ? रोमहर्षादेस्तत्कार्यस्य दर्शनादिति चेत् ; न ; तस्य[11] तदेकविषयकार्यत्वस्यानुपायत्वेनासिद्धेः, अनुमानाच्च तत्समानस्यैव परेण परिज्ञानं शक्यपरिकल्पनं न तस्यैव, तस्य[12] सामान्यविषयत्वात् ।

अपि च, रोमहर्षादिकार्यदर्शनात् स्वपरयोरेकविषयत्ववदेकसुखादित्वमपि भवेत्, भिन्नसुखादित्वे भिन्नविषयत्वस्याप्यनिवारणात् । देशभेदात् कथं सुखादेरेकत्वमिति चेत् ? न; [15]एकत्वे तद्देशभेदस्यैवासम्भवात् । [16]ततः कथं भिन्नदेशो रोमहर्षादिरिति चेत् ? न ; अविरोधात् । अन्यथा एकस्माद्विषयादपि [17]तदभावप्रसङ्गात् । रोमहर्षादिभेदाच्च सुखादेर्भेदे ग्राह्यस्यापि स[18] किन्न स्यादविशेषात् ? ततो यथा भिन्नादेव सुखादेः स्वपरयोः रोमहर्षादिः तथा ग्राह्यादपीति न तद्दर्शनाद् स्वविषयस्य परवेद्यत्वं शक्यविधानं यतो हेतोरसिद्धत्वमिति[19] । तदुक्तम्–

"अन्येन वेदनं चैतत्कुतोऽवसितमात्मना ।
तत्कार्यदर्शनान्नैतत्कार्यत्वस्याप्रसिद्धितः ॥
अनुमानस्य सामान्यविषयत्वस्य वर्णनात् ।
स एव दृश्यतेऽन्येनेत्येतदेव न सिद्ध्यति ॥

---

१ सहोपलम्भनियमेन । २ सहोपलम्भनियमेऽपि । ३ परस्य न तूभ–आ०, ब०, प० । ४ नीले चेतनत्वम् । ५ सहोपलम्भनियमः । ६ प्रसजयते आ०, ब०, प० । ७ नीलञ्च ज्ञानञ्च आ०, ब०, प० । ८ सहोपलम्भनियमात् । ९ व्यवहारप्रसिद्धम् । १० नर्तकीक्षणस्य । ११ रोमहर्षादेः । १२ अनुमानस्य । १३ प्रतिपत्त्रोः । १४ स्व-परप्रतिपत्त्रोर्भिन्नदेशवर्तित्वात् । १५ एकत्रैतद्देश–आ०, ब०, प० । १६ अभिन्नदेशात् सुखादेः । १७ भिन्नदेशीयरोमहर्षाद्यभाव । १८ भेदः । १९ –त्वमुक्तमिति आ०, ब०, प० ।

यथा च रोमहर्षादिकार्यदृष्टेस्तदेकता[1] ।
तथा सुखादेरेकत्वं तत एव प्रसिद्ध्यति ॥
अन्यदेव सुखं तस्य ग्राह्यमप्यन्यदस्तु तत् ।
देशभेदात्सुखादीनामन्यत्वमिति चेन्मतिः[2] ॥
एकत्वे देशभेदोऽपि कथं सिद्ध्यति तत्त्वतः ? ।
तत एव सुखादन्ये रोमहर्षादयो न किम् ? ॥
अन्यत्वाद्रोमहर्षादेः सुखस्य यदि भिन्नता ।
अन्यत्वे ग्राह्यमप्यन्यदिति कस्मान्न गृह्यते ? ॥" [प्र०वार्तिकाल० २।३२१]

इति चेत्, असारमेतत्, एवं परार्थानुमानस्य व्यापत्तेः । तत्खलु [3]स्वदृष्टार्थप्रकाशनम् । स्वदृष्टस्य वादिप्रतिपन्नस्य त्रिरूपलिङ्गस्य परेणापरिज्ञाने कथं स प्रति तत्प्रकाशनमर्थवत्, जात्यन्धं प्रति रूपप्रकाशनवत् ? तद्वयमन्यतरासिद्धः सहोपलम्भनियमः प्रकाशितस्यापि परेणापरिज्ञानात् । तत्समानस्य परिज्ञानाददोष इति चेत्, न, स्वतस्तत्परिज्ञाने तत्प्रकाशनवैफल्यात् । ततस्तत्परिज्ञानमिति चेत्, न, अपरिज्ञातस्य प्रकाशनासम्भवात् । परिज्ञानेऽपि तद्वत्स्य तद्वैफल्यम् । वादिपरिज्ञातस्येति चेत्, न, दत्तोत्तरत्वात्, तत्रापि परेणापरिज्ञानात् । पुनरपि तत्समानस्य तेन परिज्ञानमिति चेत्, न; 'स्वतः' इत्यादेरनुवृत्तेरनवस्थापत्तेश्च । न च तत्रैव धर्मिण्यपरस्तन्नियमोऽस्ति [4]तद्प्रतिवेदनात्, अप्रतिवेदितस्य च ज्ञानस्वभावस्यानुपपत्तेः । धर्म्यन्तरे विदित एवेति चेत्, तस्याप्यप्रतिपन्नस्य कथं प्रकाशनम् ? स्वयं दृष्टार्थग्रहणविरोधात् । प्रतिपन्नस्येति चेत्, न, दत्तोत्तरत्वात् । तत्रापि तदपरस्य तत्समानस्य तेन परिज्ञानमिति चेत्, न, 'स्वतः' इत्यादेर्दोषात् । एकत्र च धर्मिणि तन्नियमभेदाभावात्[5] । पुनरपि धर्म्यन्तरे तद्भेदकल्पनायां स एव प्रसङ्गः तस्यापीत्यादिरनवस्था च । तद्धर्मिगतस्तन्नियमो व्यवहारादेक एव ततस्तस्यैकत्र प्रकाशनमेव अन्यत्रापि प्रकाशनमिति चेत्, न, एकत्र परिज्ञानस्यैवान्यत्रापि परिज्ञानत्वप्रसङ्गात् । ततः किम् ? अन्यतोऽपि किम् ? साध्यप्रतिपत्तिरिति चेत् ? ततोऽप्येकार्थपरिज्ञानमेव । ततस्तत्परिज्ञानमपरिज्ञानमेवेति चेत्, न, ततः साध्यप्रतिपत्तेरपि तद्प्रतिपत्तित्वापत्तेः । भवत्वेवं परस्यैव [6]तत्प्रतिपत्तिमतोऽभावादिति चेत्, न, तद्भावेऽस्यापि वचनस्य वैयर्थ्यात् । इदमपि मा भूदिति चेत्, न अत्राप्येव प्रसङ्गात् । पुनरेवमभिधाने अनवस्थादोषात् । ततो दूरप्रसारितस्यापि शब्दस्य परार्थत्वनियमात् कथं तद्भावः ? सतोऽपि परस्य प्रत्यक्षादेव [7]तत्प्रतिपत्तिः न प्रकाशितादिति चेत्, कुत [8]एतत् ? परस्य प्रत्यक्षं नीलतज्ज्ञानाभेदविषयं प्रत्यक्षत्वात् अस्मत्प्रत्यक्ष

[1] विपक्षस्य एकता । [2] अभिप्रायेणान् । [3] "तत्र परार्थानुमानं स्वदृष्टार्थप्रकाशनमित्याचार्यीयलक्षणम्"– प्र० वा० म० ३।१ । [4] त्रिरूपलिङ्गप्रकाशनम् । [5] अपरस्य सहोपलम्भनियमस्यानुपलम्भात् । [6] –रितमवस्था च आ०, ब०, प० । [7] –प्रतिपत्तिरतो न भा–आ०, ब०, प० । [8] –स्थानदो–आ०,ब० प० । [9] नीलतज्ज्ञानाभेदप्रतिपत्तिः । [10] एव

वदिति चेत् ; कथमिदं द्विष्टकामित्वं स्वपरयोरेकविषयत्वमयान्न परार्थानुमानमिष्यते, तदेव च पोच्यते इति । ततो दुरतिक्रममेव परविषयस्य परेण परिज्ञानं [1]तद्दर्शनस्य च । दृश्यते हि सामग्रीवशात् परदर्शनस्य प्रतिपत्तिर्न तद्विषयस्य 'पश्यन्नयमास्ते स तु न ज्ञायते यं पश्यति' इति व्यवहारदर्शनात् । कथं पुनर्दर्शनस्यैव परिज्ञानं न तद्विषयस्येति चेत् ? न ; तत्रैव[2] तत्सामग्र्याः प्रतिबन्धात् । सामग्रीतस्तदपरिज्ञानेऽपि [3]तदनुमितादर्शनात्तत्परिज्ञानं[4] [5]तस्य दृश्यशून्यस्यासम्भवात्, भ्रान्तस्यापि[6] केशोण्डुकादौ सत्येव दृश्ये भावात् केवलं [7]स तत्र मिथ्या, सत्यज्ञाने तु तथ्य इति विभाग इति चेत् ; भवतु नामैवम्, तथापि कस्तव परितोषः ? तथापि सहोपलम्भनियमस्याप्रसिद्धेः । न हि सामग्रीतो दर्शनस्यैव ततोऽपि विषयस्यैव प्रतिपत्तौ तन्नियमः[8] । ततो दुरालाप एवायम् अन्येन वेदनं चैतत् इत्यादिः । असाधारणत्वे विषयस्य वचनप्रबन्धस्याप्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, प्रकाशितस्यापि परेणापरिज्ञानात्, अपरिज्ञातस्य च पारार्थ्यानुपपत्तेः । [9]लिङ्गवत्तत्समानपरिज्ञानाददोष इति चेत् ; न ; तस्यातद्वचनत्वेन[10] सत्यपि तद्दोषे तन्निग्रहाभावप्रसङ्गात् । तद्वचनमेवेति चेत् ; न ; [11]तदपरिज्ञाने तत्प्रभवत्वापरिज्ञानात् । तत्परिज्ञाने तु कथमसाधारणत्वं विषयस्य स्वपरप्रतिपत्तिविषयस्य [12]तत्त्वानुपपत्तेः । तदयं साधारणतां वचनस्य प्रतिपद्यमानो नीलादेरेव किन्न प्रतिपद्येत ?

यत्पुनरत्र चोद्यम्–"यदि च साधारणत्वं प्रतिभाति त्वया दृष्टं न वेति किमिति प्रश्नः ? प्रमाणान्तरसंवादार्थः ! यदि प्रत्यक्षान्न प्रत्येति वचनादपि नैव प्रत्येष्यति । [13]तदपि स्वप्रतिभासमेव सूचयति त्वं प्रति (त्वत्प्रति) भासितं मम प्रतिभाति इति । [14]तेनापि पृष्टैव ज्ञातव्यं तत इतरेतराश्रयदोषः । यच्च प्रत्यक्षेण न प्रतिपन्नं तत्कथं वचनात्प्रत्येतव्यम् ? न हि प्रत्यक्षेऽर्थे परोपदेशो गरीयान्" [प्र० वार्तिकाल० ३।३३१] इति ; तदपि व्याकुलचित्ततामलङ्कारकर्त्तुरावेदयति ; वचनसाधारणत्वेऽपि प्रसङ्गात् । तस्यापि प्रत्यक्षतः प्रतिभासे किमित्ययं प्रश्नः त्वयापि [15]श्रुतं न वेति ? कदाचिद्दर्शनस्यापि भावात् । तददर्शने कथं तत्साधारणत्वं दर्शनापेक्षत्वात्तस्येति[16] चेत् ; कथं वचनस्याप्यश्रवणे [17]तत्त्वं तस्यापि श्रवणापेक्षत्वात् । श्रवणयोग्यतयेति चेत् ; न; परत्रापि दर्शनयोग्यतया भवेत् । दर्शनाभावे सैव कथं कार्यानुमेयत्वात्तस्या[18] इति चेत् ; न; कदाचिद्दर्शनस्यापि भावात्, इत्थमेव वचनेऽपि तद्व्यवस्थापनोपपत्तेः । ततो न प्रत्यक्षप्रतिपन्न एव साधारणाकारे प्रमाणान्तरसंवादार्थः[19] प्रश्नः, किन्तु तस्यैव परदर्शनविशिष्टस्य प्रतिपत्तये । ततो न युक्तमुक्तम्–'यदि प्रत्यक्षात्' इत्यादि तथा 'तेनापि' इत्याद्यपि । परस्परप्रश्नमात्रात्तत्प्रतिपत्तेरनभ्युपगमात् । न च प्रत्यक्षादप्रतिपन्नस्यैव

---

१ परदर्शनस्य । २ परदर्शन एव । ३ सामग्र्यनुमितात् । ४ दर्शनविषयपरिज्ञानम् । ५ दर्शनस्य । ६ दर्शनस्य । ७ विषयः । ८ सहोपलम्भनियमः । ९ लिङ्गवत्समानेन परि–आ०, ब०, प० । १० वचनस्य विषयप्रतिपादकत्वाभावेन । ११ विषयापरिज्ञाने । १२ असाधारणत्वानुपपत्तेः । १३ वचनमपि । १४ तथैव पृ– आ०, ब०, प० । १५ श्रुतं तदेवेति आ०, ब०, प० । १६ साधारणत्वस्य । १७ तत्त्वस्यापि आ०, ब०, प० । साधारणत्वम् । १८ योग्यतायाः । १९ –रसंभवादर्थः आ०, ब०, प० ।

वचनात्प्रतिपत्तिः, न च तत्र वचनस्यागृहीतत्वं विशिष्टरूपप्रतिपत्त्यर्थतया तस्योपपत्तेः । अत इदमप्यसङ्गतम्, 'यत्र' इत्यादि । यच्चेदमन्यत्–

"प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वे वचनस्य प्रमाणत्वं (ता) ।
वचनस्य प्रमाणत्वे प्रत्यक्षस्येत्यसाध्वदः ॥" [प्र०वार्तिकाल० ३।३३१]इति,

तत्र युक्तं 'प्रत्यक्षस्य' इत्यादि, सति प्रत्यक्षसंवादे[1] वचनप्रामाण्यस्य लीलागम्यत्वात्; 'वचनस्य' इत्यादिकं तु अयुक्तम्, तत्संवादनिरपेक्षस्यैव प्रत्यक्षस्य सा(असा)धारणाकारे प्रामाण्यात्, तस्य च भवतोऽपि प्रसिद्धत्वात्, अन्यथा वाग्व्यापारवैयर्थ्यापत्तेरिति निवेदनात्। ततः स्थितं विषयविषयिणोरेकस्य अन्यतरस्यापरिज्ञानेऽपि परिज्ञानादसिद्धः सहोपलम्भनियमः, ततश्च न नीलतद्धियोरभेद इति ।

स्यादाकूतम्–भवत्यय प्रसङ्गो यदि यौगपद्यं सहशब्दस्यार्थः[2], न चैवम्, तस्यैकार्थत्वात्। इदयते च तस्य[3] तदर्थत्वम्, यथा सहोदर इति । तदयमर्थः–सह एकस्य उपलम्भः, तस्य नियमः 'ज्ञानस्यैव नार्थस्य' इत्यवधारणं तस्मादिति, तन्न, ज्ञानवन्नीलादेरप्युपलम्भात्। तदेव[4] ज्ञानमिति चेत्, न, तदन्यस्यैव[5] तस्य 'अहम्' इति प्रतिवेदनात्। अहमित्यपि नीला-द्येव प्रतिवेद्यत इति चेत्, न, तस्य[6] पीतादावभावप्रसङ्गात्। नीलवदन्यैव[7] तत्र तदिति[8] चेत्, कुत एतत्? 'पौर्वापर्ये प्रमाणाभावादिति चेत्, न, अन्यत्वस्याप्यपरिज्ञानप्रसङ्गात्। न हि पूर्वापरयोरेकेनाऽग्रहणे 'पूर्वस्मादिदमन्यत्' इति सुपरिज्ञानम्। कुतश्चित्परिज्ञाने वा तदेकत्वपरिज्ञानमपि स्यादविशेषात्। ततो न नीलाद्येव ज्ञानमित्यसिद्ध[9] एकोपलम्भनियमः।

सिद्धस्यापि किं तस्य साध्यम्? नीलतद्धियोरेकत्वमिति चेत्, न, तद्दर्शनस्यैव[10] हेतुत्वात्। तदेकत्वव्यवहार इति चेत्, कस्तर्हि[11] तद्व्यवहारो नाम? तन्निश्चयस्तदभिधानञ्चेति चेत्, न, निश्चयाभिधानविषयस्यैव हेतुत्वात्[12] नैकोपलम्भनियमो हेतुः।

पृथगुपलम्भाभाव इति चेत्, कुतस्तत्प्रतिपत्तिः? प्रत्यक्षादिति चेत्, न, प्रति-बन्धाभावात्। तादात्म्यं प्रतिबन्ध इति चेत्, न, प्रत्यक्षस्य [13]तदभावत्वापत्तेः, हेतोर्वा प्रत्यक्षवत् भावरूपस्योपनिपातात्। तदुत्पत्तिरिति चेत्, न, अभावस्य सकलशक्तिविकल-तया कारणत्वानुपपत्तेः। न चाकारणस्य प्रतिपत्तिः, "नाकारणं विषयः" [ ] [14]इत्यस्य विरोधात्।

नाप्यनुमानात्तत्परिज्ञानम्, प्रत्यक्षाभावे तदनवतारात्, लिङ्गाभावाच्च। तद्धि लिङ्गं न भावरूपम्, तस्य प्रत्यक्षवत् तत्राप्रतिबन्धात्। न चाप्रतिबन्धस्य लिङ्गत्वम्, तादात्म्यादिलिङ्गप्रतिबन्धकल्पनावैफल्यापत्तेः। नाप्यभावरूपम्, तत्रापि 'कुतस्तत्प्रतिपत्तिः'

1 'प्रत्यक्षसंवादे' "–प्र० वार्तिकाल०। 2 सहशब्दस्य। 3 एकार्थत्वम्। 4 नीलमपि। 5) ज्ञानस्य। 6 अहमिति प्रतिवेदनस्य। 7 अहमिति प्रतिवेदनम्। 8 एकस्यैव प्रतिवेदनस्य क्रमशः नीलवत् पीतादौ सम्भवे। 9 "पुनः स (भदन्तशुभगुप्तः) एवाह–यदि सहशब्द एकार्थस्तदा हेतुरसिद्धः –" –तत्त्वसं०पं०पृ०५६८। अष्ट०टि०पृ०१५९। 10 एकस्योपलम्भस्यैव हेतुत्वे असिद्धत्वमिति भावः। 11 व्यवहा-आ०,ब०,प०। 12–स्यात् तर्हीति–आ०,ब०,प०। 13 पृथगुपलम्भाभाववत्। 14 द्रष्टव्यम्–पृ०२९८टि०१०।

इत्यादेः तादात्म्यादिपर्यन्तस्योपनिपातात्। पुनरभावरूपतल्लिङ्गपरिकल्पनायां चक्रकदोषाद-नवस्थापत्तेश्च। तन्नानुमानादपि [1]तत्परिज्ञानमित्यज्ञातासिद्धत्वादहेतुरयानम्।

कथं वास्यानर्थस्य हेतुत्वम्, "अर्थो ह्यर्थं गमयति" [ ] इत्यस्य विरोधात्। संवृत्यार्थ एवायं परमार्थतः कृतकत्वादेरप्यर्थाभावात्। न हि निरंशे परमार्थतः कृतकत्वम-नित्यत्वमित्यादिसाध्यसाधनभूतमर्थद्वयं सम्भवतीति चेत्; आस्तां तावदेतत्। तन्नायमपि हेतुरसिद्धत्वात्[3]।

युगपदुपलम्भ एवास्तु हेतुरिति चेत्; न; तस्यापि विपक्षेणाविरोधात्। अविरोधे गवाश्वादौ किन्न [5]तदुपलम्भ इति चेत्? अभेदेऽप्येकाणुमात्रे किन्न स्यात्? स्वहेतुतस्तथानु-त्पत्तेरिति चेत्; न; इतरत्रापि समानत्वात्, गवाश्वादेरपि ततस्तथानुत्पत्तेः। ततो यत्र स्वहेतु-सामर्थ्यं तत्र भवत्येव भेदेऽपि तदुपलम्भ इति सिद्धं सन्दिग्धव्यतिरेकत्वम्। ततः सूक्तम्—**सन्दिग्धव्यतिरेकत्वत** इति, तथा **सन्दिग्धान्वयत्वत** इति च, व्यतिरेकसन्देहे अन्वयसन्देहस्याप्यावश्यकात् (कत्वात्)।

यत्पुनर्द्विचन्द्रादिवदिति निदर्शनम्; तदपि न शोभनम्; साध्यविकलत्वात्। न हि द्विचन्द्रादेस्तज्ज्ञानादभेदः, साकारवादप्रतिविधानात्। परस्परं तदाकारद्वयस्याभेद इति चेत्, न; तत्रापि यथाप्रतिभासं भेदस्यैव भावात्। यथातत्त्वमभेद एव एकस्यैव चन्द्रमसो द्विरूप-तयोपलम्भादिति चेत्; न; अन्यथाख्यातेरपि प्रतिविधानात्। तत इदं कारणदोषवशादाकार-द्वयम[6]सदेवावभासमानं यथाप्रतिभासं भिन्नमेवेति सिद्धं साध्यवैकल्यम्, अतदचानुदाहरणमिति।

[यत्] पुनरेतत् परमाणुमात्रमेव [7]नीलतज्ज्ञानादिकं तत्र च कल्पित एव साध्यसाधनभेदः परमार्थतो नित्यत्वाद्यनुमानेऽपि तद[8]भावात् इति; तदपि न साधीयः; परिकल्पिताद्धेतोस्तत्त्वतः साध्यसिद्धेरसम्भवात्, अन्यथा तत एव भेदस्यापि ताद[9]शस्य सिद्धिप्रसङ्गात्। तथा हि—ययोः सहोपलम्भनियमस्तयोर्भेदो यथा सुगतेतरयोः तन्नियमश्च नीलतज्ज्ञानयोरिति। सुगतोपलम्भसमये हि तदन्यस्यानुपलब्धावभाव एव स्यात् सुगतस्यात्यन्तिकत्वात्। "तिष्ठ-न्त्येव पराधीनाः" [प्र०वा० १।२०१] [10]इत्यादिवचनात्। न च तदन्याभावे [11]तस्यापि सम्भवः, तस्य जगद्धितैषिणो जगदभावेऽनुपपत्तेः, अन्योपलम्भे च सुगतस्यानुपलब्धौ [12]तद्वि-कलं जगद्भवेत्, संसारिप्रवाहस्याप्यपर्यन्तत्वात्। न चेदं पथ्यं भवताम् अनुमानमुद्राभेदापत्तेः, व्याप्तिपरिज्ञानस्य तदायत्तत्वात्, "न च सम्बन्धो व्याप्यसर्वविदा ग्रहीतुं शक्यः" [प्र० वार्तिकाल० १।२] इत्यलङ्कारवचनात्। सर्वविदस्तज्ज्ञाने कथमितरस्यानुमानमिति चेत्? इदमपि भवानेव प्रष्टव्यो य एवं ब्रूते। तदस्ति [13]तयोस्तन्नियम इति न साधनवैकल्य-

---

१ तत्प्रतिज्ञा–आ०, ब०, प०। २ पृथगुपलम्भाभावः। ३ –त्वाद् युगपदुपलम्भवदुपलम्भ–प०। –त्वाद् युगपदुपलम्भवत् युगपदु–आ०, ब०। ४ भेदेन। ५ युगपदुपलम्भः। ६ –मसदिवावभा–आ०,ब०,प०। ७ नीलपीतज्ञाना–आ०,ब०,प०। ८ साध्यसाधनभेदाभावात्। ९ तात्त्विकस्य। १० "अकलङ्कल्याणकल्पेयभावना-परिवर्द्धिताः। तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा॥"–अभिस० पृ० १३१। ११ सुगतस्यापि। १२ सुगत-शून्यम्। १३ सुगतेतरयोः सहोलम्भनियमः।

मुदाहरणस्य । नापि साध्यवैकल्यम् अभेदे संसारिणि सुगतत्वस्य सुगते च संसारित्वस्यानभिमतस्य प्रसङ्गात् । समारोपेतरविभाग एव नास्ति संविदद्वैतस्यैव तत्त्वतो भावात् तत्कथं तयोरुदाहरणत्वमिति चेत् ? कथमिदानीं भेदमेदानुमानं तदद्वैते धर्मिहेतूदाहरणविभागाभावात्, अनुमानस्य च तन्मूलत्वात् । तदपि मा भूदिति चेत्, न तर्हि भवानस्माकं प्रतिवादी तदनुमानवादिन एव वैरत्वात्, तेन चास्यातिप्रसङ्गस्य दुष्परिहरत्वादिति कथमतो न भेदसिद्धिः ?

तदेवं प्रतिपक्षमनपाकुर्वन् एव कश्चिदग्रहेतोः साध्यसिद्धिं तात्त्विकीमभिवाञ्छन् कथमिव प्रज्ञावन्तमात्मानं प्रेक्षावत्सु प्रकटीकुर्यात्[1], यदि केनापि निष्ठुरहृदयेन विप्रलब्धो न भवेत् । तदेवाह–

साध्यसाधनसङ्कल्पस्तत्त्वतो न निरूपितः ।
परमार्थावताराय कुतश्चित्परिकल्पितः ॥८८॥
अनपायीति विद्वत्तामात्मन्याशंसमानकः ।
केनापि विप्रलब्धोऽयं हा ! कष्टमकृपालुना ॥८९॥ इति ।

साध्यं नीलतज्ज्ञानयोरभेदः साधनं सहोपलम्भनियमः, तयोः सङ्कल्पः समर्थनं स तत्त्वतः निरंशवस्तु समाश्रित्य न निरूपितः न स्थापितः, निरंशत्वे साध्यादिधर्मभेदस्य, तस्मिंश्च निश्चयत्वस्यासम्भवादिति भावः । कीदृशस्तर्हि स इत्याह–परिकल्पितः अध्यारोपितः । कुतः परिकल्पितः ? कुतश्चिद्विकल्पबुद्धिबलात् । किमर्थम् ? परमार्थावताराय परमार्थस्य नीलतज्ज्ञानाभेदस्यावतारः प्रतिपाद्यचेतसि प्रवेशनं तस्मै इति । कुतः पुनः परिकल्पितस्य तदवतारार्थत्व(त्वम् ?) इति चेत् ? अनपायी अव्यभिचारी यत इति । न ह्यपरिकल्पितस्यापि तदर्थत्वम् अव्यभिचारादन्यतः तस्य । परिकल्पितेऽपि भावे कथं तस्यापि न तदर्थत्वमिति मन्यते । अत्र दूषणम्–इति एवं विद्वत्तां प्रज्ञावत्शालित्वाम् आत्मनि स्वरूपे आशंसमानकः "न्यायमार्गतुलारूढ जगदेकत्र मन्मतिः" [ ] इत्यादिना कुत्सितमाशंसमानः अयं प्रसिद्धो धर्मकीर्तिः केनापि दिङ्नागादिना विप्रलब्धो वञ्चितः । कीदृशेन ? अकृपालुना निष्कृपेण । सकृपस्य परवञ्चकत्वासम्भवात् । वञ्चकत्वञ्च तस्यातत एव तत्सङ्कल्पस्योपदेशात् । कल्पनया सन्नेवासाविति चेत्, न, तस्या एव साध्यसाधनोभयधर्मपरामर्शद्वयात्मनो निरंशवस्तुवादेऽनुपपत्तेः । तस्या अपि कल्पनयोपपत्तावनवस्थापत्तेः । ततो न तात्त्विकस्तत्सङ्कल्पो नापि सांवृत इति कथं तदुपदेशी न वञ्चको

---

१ नीलतद्धियोरभेदानुमानम् । २ प्रतिवादिरूपत्वात् । ३ दुष्परिहार–आ०, ब०, प० । ४ –शेऽपि च तदि–आ०, ब०, प० । ५ निरंशं वस्तु आ०, ब०, प० । ६ परमार्थावतारार्थत्वम् । ७ अव्यभिचारस्य । ८ "न्यायमार्गतुलारूढं जगदेकत्र मन्मतिः । (हेतु० बि० पृ० १) इत्यनेन वार्तिकेन धर्मकीर्तिवचनं कृतम् । अनेन ज्ञायते यत् धर्मकीर्तिनापि कस्मिंश्चिद् ग्रन्थे 'न्यायमार्गतुलारूढम्' इत्यादिभिरेव स्वप्रशंसनं कृतम् । ९ सङ्कल्पः । १० कल्पनाया एव ।

दिङ्नागादिः[1] ? कथं वा तत्प्रामाण्यादसन्तमेव तमनपायिनं प्रतिपद्यमानो न विप्रलब्धो धर्मकीर्त्तिः ? काल्पनिकस्य च तत्सत्त्वस्य[2] प्रतिक्षेपात् । अप्रतिक्षेपेऽपि कुतस्तस्य तदनपायित्वं[3] प्रतिबन्धस्य तात्त्विकस्याभावात् , कल्पितस्य विपक्षेऽप्यविशेषात् । तस्मादसन्तमसाध्यप्रतिबन्धञ्च तमनपायिनं प्रतिपद्यमानो वञ्चित एवायम् , अतश्च यदस्य विद्वत्ताशंसनं तदपि कुत्सितमिति ।

साध्यसाधनसङ्कल्पवस्तुतत्त्वं न वेत्त्ययम् ।
वर्णयत्यपि तद्वित्त्वं मूढत्वं किमतः परम् ॥९००॥

शास्त्रकारः पुनरत्र विषादमावेदयन्नात्मनि कारुणिकत्वं प्रदर्शयति–'**हा कष्टम्**' इति–

अविद्योल्लासमुत्पश्यन् दिङ्नागादौ सुदुःखदम् ।
हा कष्टमिति देवोऽयं कृपालुत्वाद्विषीदति ॥९०१॥

तस्मान्न कल्पितस्य तन्नियमस्य[4] सम्यग्हेतुत्वं यतो नीलतज्ज्ञानयोरभेदः सिद्ध्येत् ।

कः पुनरयं नीलादिर्नाम यस्य तज्ज्ञानभेदिनो बहिरर्थत्वं परिकल्प्येत ? परमाणुसन्दोह इति चेत् ; न; तत्र छायावरणादेरर्थप्रयोजनस्यासम्भवात् । न हि परमाणवः छायाविधायिनो विरलपरिमण्डलात्मनां छत्रादिरूपतानुपपत्तेः । अत एव न पततो जलादेराधारकारिणः । कथं वा तत्रैकाकर्षणे नियममेनान्याकर्षणं भेदे तदनुपलम्भात् । नायं दोषो योग्यताविशेषात् । दृश्यते हि भेदेऽपि तद्विशेषाद[5]यस्कान्ताकर्षणे लोहाकर्षणं तद्वत्परमाणुष्वपि भवेत् । नापि तत्र छायावरणादेरप्यसम्भवः; योग्यताबलादेव तस्याप्युपपत्तेः, दृश्यते हि तद्बलाद् बहुच्छिद्राणामपि चषकादीनां पतदम्भःप्रतिबन्धित्वमिति चेत् ; स्यादेतदेवम् ; यदि परमाणवः प्रतीयेरन् , न चैवम् , एकैकशः समुदायेन वा तत्प्रतिपत्तेरप्रतिवेदनात् । न चाप्रतिपन्नेषु दृष्टान्तमात्राद् इदन्त्वम् अनिदन्त्वं वा शक्यव्यवस्थापनम् अतिप्रसङ्गात् । तत्र तत्सन्दोहो[6] नीलादिः । तदारब्धोऽवयवीति चेत् ; न; परमाणूनां निरपेक्षतया तदारम्भकत्वे पृथग्दशायामपि प्रसङ्गात् । संयोगसव्यपेक्षाणां तत्त्वे [7]संयोगो यद्येकदेशेन, अव्यवस्थापत्तिः । तदाह–

तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः । इति ।

तत्र तस्मिन् संयोगे दिश एव भागा **दिग्भागाः** तैर्भेदस्तेन **षडंशाः** षडवयवाः **परमाणवो** भवेयुरिति शेषः । तथा हि–पार्श्वदिग्भागेषु चतुर्षु उपर्यधस्ताच्च व्यवस्थितैः परमाणुभिरभिसम्बद्ध्यमानस्य मध्यपरमाणोरवश्यम्भाविनः षडेकदेशाः तदभावे प्रत्येकं तत्सम्बन्धानुपपत्तेः । तथा च सुव्यवस्थितं नित्यत्वम्, सावयवत्वे विनाशस्यावश्यम्भावात् । कथं वा परमाणुत्वम्, सावयवस्य कार्यद्रव्यवत् स्थूलत्वात् ? तदवयवानां तद्व्यतिरेकादिति चेत्;

१–दिकः क–आ०, ब०, प० । २ –स्य च प्र–आ०,ब०,प० । ३ तदनुगायत्वं आ०, ब०; प० । ४ सहोपलम्भनियमस्य । ५ योग्यताविशेषात् । ६ परमाणुसमुदायः । ७ "षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता । षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥"–विंशति० वि० पृ० ७ । चतुःश० पृ० ४८ । तत्त्वसं० पृ० २०३ ।

कथमेवं [1]तैस्तस्य सावयवत्वम् ? सम्बन्धादिति चेत्, न, [2]तैरपि दिग्भागभेदिभिरभिसम्बध्यमानस्य तस्य पुनः षडंशतापत्तेः । पुनः षडंशानां तद्व्यतिरेकपरिकल्पनायामनवस्थानं प्राच्यदोषानतिवृत्तेः । न चापर्यवसायिनस्तदंशाः प्रतीतिविषयाः । तस्मैकदेशेन तेषां संयोगः । सर्वात्मनेति चेत्, आह–

नो चेत्पिण्डोऽणुमात्रः स्यात् [न च ते बुद्धिगोचराः] ॥९०॥ इति ।

नो चेत् न यदि षडंशाः परमाणव एकदेशेन संयोगस्याभावात् सर्वात्मनैव तदभ्युपगमात्, तथा च पिण्डः परमाणुप्रचयः अणुरेव अणुमात्रः स्यात् भवेत्। दिग्भागभेदिनां हि परमाणूनां सर्वात्मना मध्यपरमाणुना सम्बन्धे[3] तदनुप्रवेशस्यावश्यम्भावात् । स [4]एवैकोऽवशिष्यत इति मन्यसे । तथा च न कार्यं तस्यैकद्रव्यस्यासम्भवात्, "[अ] द्रव्यमनेकद्रव्यं च द्रव्यम्" [ ] इत्यभ्युपगमात् ।

भवतु वा कथमपि संयोगः, स तु कथमप्रतिपन्नानाम्, अतिप्रसङ्गात्, अप्रतिपन्नाश्च परमाणवः प्रत्यक्षतस्तदप्रतिभासनात् । तदाह–न च ते बुद्धिगोचराः इति । न च नैव ते परमाणवो बुद्धेः अध्यक्षसंविदो गोचरा विषयाः स्थूलस्यैव स्तम्भादेस्तत्र प्रतिभासनात् । तथापि तत्कल्पनायाम् अव्यवस्थापत्तेः । अनुमानात्तर्हि तत्प्रतिपत्तिः, तथेदम्–विवादापन्नं[5] द्व्यणुकं स्वतोऽल्पपरिमाणावयवैरारब्धं कार्यत्वात् पटादिवत् । ये च ततोऽल्पपरिमाणाः ते परमाणव इति चेत्, न पटादेरेव [6]परकल्पितस्याभावात्, निदर्शनत्वानुपपत्तेः । अभावश्च तस्य परिस्फुटमनवभासनात् । तदाह–

न चैकम् [एकरागादौ समरागादिदोषतः ।] इति ।

न च नैव एकम् अखण्डम् अवयवनिष्पन्नं [11]पटादि इति । 'कुतः' इति प्रश्ने 'न च ते' इत्यादि । न च तद्बुद्धिगोचर इति वचनपरिणामेन हेतुपदमभिधातव्यम् ।

हेत्वन्तरमाह–एकरागादौ समरागादिदोषतः इति । राग आदिर्यस्य चलनावरणादेः स तथोक्तः एकस्य प्रदेशस्य रागादिरेकरागादिस्तस्मिन् समः साधारणः प्रदेशान्तरस्य रागादिः स एव दोषस्तस्मात्तत इति । एकत्वे हि शरीरादेः क्वचिद्रागादौ सर्वत्र तेन भवितव्यं रागादिमतः प्रदेशात्तदपरस्यानर्थान्तरत्वात् । न हि

१ पूर्वापरमध्यभागवर्तिभिः परमाणुभिः । २ स्तावयवैः । ३ मध्यमः । ४ एवैकदेशतास्तनो–आ०, ब०, प० । ५ –विदोषतः इति आ०, ब०, प० । ६ कार्यस्य । ७ "तथा अद्रव्यं द्रव्यमनेकद्रव्यं च द्रव्यमिति वचनव्याघातः । तथा हि न विद्यते द्रव्यं कारणं यस्य तद् अद्रव्यमिति । परमाणूनां कारणं महदादयो ... नास्ति ... इति अनेकद्रव्यम् , नित्यद्रव्यमिति यावत् । अनेकद्रव्यं तदेकद्रव्यं कारणमस्यैतस्मात् ... द्विविधमेव द्रव्यमद्रव्यं नित्यमनेकद्रव्यं कार्यमिति । एकद्रव्यस्य च कार्यद्रव्यस्याभ्युपगमे व्याहतमेतद् भवतीति ।"–प्रश० व्यो० पृ० २२१ । ८ –न्नं द्व–आ०, ब०, प० । "तथा कार्यद्रव्यस्याल्पपरिमाणं समवायिकारणम् । तस्याप्यल्पतरपरिमाणमित्यादि कार्यमिति तदनुमीयमानैरारभ्यमिति भवति ।"–प्रश० व्यो० पृ० २२३ । "अल्पपरिमाणापेक्षया तदवयवपरिमाणस्य ... यत्र तदवयवः स परमाणुर्भविष्यति ।"–प्रश० कन्द० पृ० ३१ । ९ –नवयवमाकारम् आ०, ब०, प० । १० तत्परिक–आ०, ब०, प० । ११ पटादिरिति आ०, ब०, प० ।

[1]निष्पर्यायं तत्रैव रागादिस्तदभावश्चोपपन्नो विरोधात् । ततः पाण्यादौ रागे चलने चावरणे च प्रदेशान्तरेऽपि तत्प्रतिपत्तिः स्यात्, न चैवम्, तत्र तदभावस्यैव परिज्ञानात् । प्रदेशान्तरवद्वा पाण्यादावपि न [2]तत्प्रतीतिः स्यात् ततः तस्यैकान्तेनाभेदात् । न चैवम्, पाण्यादौ तद्भावस्य प्रदेशान्तरे च तदभावस्य निर्विवादं प्रतिपत्तेः । भिन्न एव परस्परं प्रदेशाः प्रदेश्येव तु तद्गतो न भिद्यते तदयमप्रसङ्ग इति चेत् ; एवमपि प्रदेशगतश्चलनादिः प्रदेशिनं यदि नोपसर्पति तत्रैव चलतः प्रदेशादचलतस्तस्य[3] [4]पृथक्सिद्धिः स्यात् । एवं रागादावपि । उपसर्पतीति चेत्; न; तत्रैव इतरेष्वपि चलत एव तस्य परिज्ञानापत्तेः । एवं रागादावपि । न चैवम् । तन्न [5]चलाचलादिः कश्चिदेकोऽवयवीति । [6]तदुक्तम्–

"पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः ।
एकत्र कर्मणो[ऽ]योगात्स्यात्पृथक्सिद्धिरन्यथा ॥
एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृतिः स्यादनावृतौ ।
दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागो[ऽ]रक्तस्य वा[ऽ]गतिः ॥
नास्त्येकः समुदायोऽस्मात्" [प्र० वा० १।८६–८८] इति ।

अत्र यद्वाऽसर्वज्ञस्य प्रत्यवस्थानम्–"यत्तावन्नास्त्येकोऽवयवी तस्य पाण्यादिकम्पे सर्वकम्पप्राप्तेरिति ; तदयुक्तम् ; व्याप्तेरप्रसिद्धत्वात् । न हि यस्य पाण्यादिकम्पे सर्वकम्पप्राप्तिः तस्याभावः इत्येवं व्याप्तिः क्वचिद्गृहीता । नापि यस्य सत्त्वं तस्य न पाण्यादिकम्पे सर्वकम्पप्राप्तिः इत्येवं व्याप्तिः परेण दृष्टा । न च दृष्टान्ताभावे स्वपक्षसिद्धौ परपक्षनिराकरणे[7] वा क्वचिद्धेतोः सामर्थ्यं दृष्टम्" [ ] इति ; तन्न युक्तम् ; बौद्धमतानभिज्ञानात् । न ह्यत्र [8]बौद्धेन विशेष्यस्यैवावयविनो निषेधः साध्यत्वेनाभिप्रेतः, स्वयमपि व्यवहारप्रसिद्ध्या तस्याभ्युपगमात्, अपि तु तद्विशेषणस्यैकत्वस्यैव तत्रैव विप्रतिपत्तेः । अत एव 'नास्त्येकः समुदायः' इत्युक्तम्, अन्यथा 'नास्ति समुदायः' इत्येवोच्येत[9] । हेतुरत्र चलाचलादिरूपो विरुद्धधर्माध्यास एव, तस्यैव साध्यविपक्षे [10]तद्विरुद्धधर्मप्रसङ्गापादन-

१ युगपत् । २ चलनादिप्रतीतिः । ३ प्रदेशिन· । ४ "न चेदमिष्टापादनं यौगानाम् तैरयुतसिद्धयोः पृथक्सिद्ध्यनङ्गीकारात्"–ता० टि० । ५ चलादिः आ०,ब०,प० । ६ "पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेः । यदि पाण्यादयोऽवयवा एवावयव्येकरूपस्तदा पाण्यादेः कम्पे सति सर्वस्य पादादेरपि कम्पः प्राप्नोति । एकस्मिंस्तस्मिन् कर्मणः कम्पस्य विरोधिनोऽकम्पस्यायोगात् ।········ अथावयवेभ्यो भिन्नोऽवयवी । अत एवैकस्मिन्नवयवे कम्पमाने नावयवान्तरस्य कम्पः तदापि स्यात्पृथक्सिद्धिरन्यथा अवयवावयविनोर्भेदे पृथक्कम्पमानादवयवादकम्पमानस्यावयविनः समवेतस्य भेदेन तत्रैवावयवे सिद्धिः स्यात् वस्त्रोदकवत् ।····· अथाभेदपक्षे एकस्यावयवस्यावृतौ सर्वस्यावृतिश्च स्यादिति प्रसङ्गः । भेदपक्षमाश्रित्यानावृतौ चावयविन· स्वीक्रियमाणायामावृत एवावयवेऽनावृतोऽसौ दृश्येतेति प्रसङ्गः । अथाभेदपक्षे रक्ते चैकस्मिन्नवयवे सर्वत्रावयवे रागो दृश्येतेति प्रसङ्गः । भेदपक्षे तु रक्त एवावयवेऽरक्तस्य चावयविनो वाऽगतिः स्यादिति प्रसङ्ग· ।"–प्र० वा० म० वृत्ति १।८६–८७ । अवयविनि० पृ० ८५ । ७–क्षनिवारणे–आ०,ब०,प० । ८ बौद्धस्य वि–आ०,ब,प० । ९–च्यते आ०,ब०,प० । १० तद्विरुद्धधर्मप्रस–आ०, ब०, प० ।

व्याजेन कथनात्। तत्र चास्त्येव व्याप्तिप्रसिद्धिः—यस्मिन् चलत्यपि यन्न चलति न तत्तेनैकं यथा पर्णेन पाषाणः, चलत्यपि पाणिशरीरे न चलति प्रदेशान्तरशरीरमिति। तत्कथमत्र दृष्टान्तो "न च" इत्यादि सूक्तं भवेत् ? सूक्तमेवेदम्, अवयविनमनभ्युपगच्छतः पर्णपाषाणयोरप्यभावादिति चेत्, न, व्यवहारप्रसिद्ध्या तदभ्युपगमस्योक्तत्वात्।

यदप्येतदपरं [1]तस्यैव—"न ह्येवं कश्चिदनुन्मत्तः प्रत्यवतिष्ठते नास्त्येको वन्ध्यापुत्रः तस्य पाण्यादिकम्पे सर्वकम्पप्राप्तेः, अकम्पने वा चलाचलयोः पृथक्सिद्धिप्रसङ्गः खपुष्पसरशृङ्गवत्" [ ] इति, तदपि न सुभाषितम्, वन्ध्यासुतविलक्षणस्यावयविनः खपुष्पादिविलक्षणयोश्च पर्णपाषाणयोर्बौद्धमतेऽपि प्रसिद्धत्वात्। तदवष्टम्भेन प्रत्यवतिष्ठमानस्योन्मत्तत्वानुपपत्तेः। तन्नागृहीतव्यापको हेतुः।

नाप्रसिद्धः, तत्प्रतीतिभावात्। [2]ननु चलप्रतीतिरचलत्यपि रूपादिमच्चलावयवसमवायात्, तथा चलत्यपि अचलप्रतीतिः अचलावयवसमवायाभिमिषात् सम्भवति तत्कथं [3]तन्मात्रात् क्वचिदचलत्वं तत्त्वतः सिध्यति ? विभ्रमस्य असत्यपि तस्मिन् सम्भवात्, ततः सन्दिग्धासिद्धो हेतुरिति चेत्, कथं तत' शरीरस्यापि सिद्धिः, विभ्रमस्य तद्योगात् ? चलादिरूप एव तद्विभ्रमो न शरीर इति चेत्, न, विभ्रमेतररूपतया प्रत्ययभेदप्रसङ्गात्। न च भिन्न एव तत्प्रत्ययः, 'चलति शरीरम्' इति, विशेषणविशेष्यविषयस्यैकस्यैव तस्यानुभवात्। भ्रान्तस्तदनुभव इति चेत्, कथं [4]ततः प्रत्ययस्यापि सिद्धिः विभ्रमात्तद्योगात् ? तदेकत्व एव स विभ्रमो न प्रत्यये इति चेत्, न, विभ्रमेतररूपतया तद्भेदप्रसङ्गात्। न च भिन्न [5]एवानुभव 'एक एवायम्' इति विशेष्यविशेषणविषयस्यैकस्यैव तस्यानुभवात्। भ्रान्तस्तदनुभव इति चेत्, न, भ्राम्यप्रसङ्गानुबन्धादनवस्थानोपनिपातात्। ततः शरीरवच्चलाचलत्वादावप्यभ्रान्त एव प्रत्यय इति वस्तुत एव तत्सिद्धेः कथं सन्दिग्धासिद्धत्वं साधनस्य ?

मा भूत्सन्दिग्धासिद्धत्वं सन्दिग्धव्यतिरेकत्वं तु स्यात्, संयोगवच्चलनस्यापि [6][7]प्रदेशवृत्तित्वेनैकस्यापि चलाचलप्रत्ययविषयस्याविरोधादिति चेत्, न, प्रदेशाभावे प्रदेशवृत्तित्वानुपपत्तेः। [8]अव्यापकत्वमेव तस्य तद्वृत्तित्वमिति चेत्, न, प्रदेशाभावे [9]तस्यैवानुपपत्तेः। [10]तदधिष्ठितेतरप्रदेशसम्भव हि 'तत्र तस्याव्यापकत्वं नान्यथा। संयोगस्य कथमित्यपि न युक्तम्, तत्रापि समानत्वात् पर्यनुयोगस्य, तस्याप्येकावयविनि अव्यापकत्वानुपपत्तेरिति। व्याप्यत्वं [11][12]प्रदेशवत्त्वाच्च संयोगस्याव्यापकत्वम्, अपि तु [13]तद्धर्मत्वात्। तथा च परस्य वचनम्—"संयोगस्यैव ह्येष धर्मो येन यत्र यत्रावयवे सम्बद्धोऽवयवी दृश्यते तत्र तत्र रूपादिव

१ अत्र 'ततः' इत्याध्याहार्यम्। २ मानवंतत्त्वैव। ३ न चल–आ०, ब०, प०। ४ प्रतीतिभावात्। ५ मनुभवात्। ६ एवानुभव–आ०, ब०, प०। ७ अव्याप्यवृत्तित्वेन। ८ अव्यापकत्वस्यानुपपत्तेः। ९ तदधिष्ठित-प्रदेशाद् भिन्नप्रदेशसद्भावे। १० इतरप्रदेशे। ११ अवयविन.। १२ प्रदेशाश्रा–आ०, ब०, प०। १३ अव्यापकत्वं हि संयोगस्यैव धर्म इति भाव।

त्तदुपलम्भकारणावैगुण्येऽपि संयोगो नोपलभ्यते" [ ] इति । तस्मादेवं-धर्मत्वादेव संयोगादेः प्रदेशवृत्तित्वं न [1]व्याप्यस्य प्रदेशवत्त्वात् । तद्वच्चलनस्यापीति चेत् ; न; तद्धर्मणः संयोगस्यैव बौद्धं प्रत्यसिद्धत्वेन दृष्टान्तत्वानुपपत्तेः । अप्रसिद्धोऽपि परप्रसिद्धेन दृष्टान्तेन समर्थ्यते । तथा च वचनं परस्य–"यथा त्वन्मते [2]निर्विकल्पकेन ज्ञानेन तदेव सविकल्पकं ज्ञानमात्मसदृशं कथञ्चिदुत्पादितं कथञ्चिन्नेत्यभिन्नस्यैवांशः परिकल्प्यते तथा संयोगाद्याधारस्यापीत्यदुष्टं संयोगादेः प्रदेशवृत्तित्वम्" [ ] इति चेत् ; न ; वैषम्यादुपन्यासस्य । न हि विकल्पज्ञानम् एकान्तेनाभिन्नमेव, सदृशेतरस्वभावयोः तदर्थान्तरत्वाभावा[3]नभ्युपगमात् । तदनर्थान्तरत्वे तु कथं ताभ्यामन्योन्यभेदिभ्यामभिन्नस्य[4] एकान्ताभेदित्वम् ? येनोच्यते–'अभिन्नस्यैव' इति । न चावयविन्यपि कथञ्चिद् भेदवत्येव संयोगादेः प्रदेशवृत्तित्वम्, 'संयोगस्यैव'इत्यादिविरोधाद्, अनेकान्तवादोपाश्रयप्रसङ्गाच्च । बौद्ध[5]स्यापि कस्मान्न तत्प्रसङ्ग इति चेत् ? क एवमाह–'न' इति ? "चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः" [प्र० वार्तिकाल० २।२१९] इति वचनात् । क इदानीं जैनात्तस्य विशेष इति चेत् ? न ; पर्यन्ते तस्यापि[6] तेन निराकरणात् "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३५४] इत्यादिवचनात् । तन्न संयोगदृष्टान्तेन स्वभाव्यादेव प्र[7]देशवृत्तित्वं चलनस्य, अपि तु[8] व्याप्यभेदादेव इति न सन्दिग्धो व्यतिरेकः, तन्निश्चयस्यैव भावात् । तस्मादुपपन्नमेतत्–[9]नैकोऽवयवी चलाचलत्वात्, अन्यथा तदयोगादिति ।

[10]तथा, 'आवृताऽनावृतत्वात्' इति च । नन्विदम् अवयवेष्वेव भिन्नेषु नावयविनीति तस्मादसिद्धमिति चेत् ; अवयविनि तर्हि किम् ? आवरणमेवेति चेत् ; न ; मनागप्यदर्शनप्रसङ्गात् । 'अनावरणमेव' इत्यपि न युक्तम् ; अविकलस्य दर्शनापत्तेः । अविकल एव स दृश्यत इति चेत् ; न; तथानुभवाभावात्, सन्देहानुपपत्तेश्च । न हि अविकलदृष्ट एव सन्देहः । भवति चायम् अर्धावृतं पश्यतः 'किमयं देवदत्तः किं वा तदपरः' इति च । अवयवाग्रहणात् सन्देह इति चेत् ; तदग्रहणेन तद्दर्शनस्य प्रतिबन्धे कथमविकलदर्शनकल्पनम् ? अप्रतिबन्धे तु कथं तत्र सन्देहो निश्चिते [11]तदनुपपत्तेः, निश्चयस्य तद्विरोधित्वात् । निश्चयरूपं च दर्शनम्, "व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" [ ] इति वचनात् । कथं [12]चायमवयवग्रहणमन्तरेण दृश्येत ? [13]तद्ग्रहणस्य तद्दर्शनं प्रत्यनङ्गत्वादिति चेत् ; न; कतिपयावयवग्रहणाभावेऽपि [14]तत्प्रसङ्गात् । सकलावयवग्रहणमेव [15]तदनङ्गमिति चेत् ; कथमिदानीं सकलावयवनिष्ठतया तस्य

---

१ अवयविनः । २ [निर्विकल्पकज्ञानेन । ३ –भावादनभ्यु–ता० । विकल्पज्ञानात् तत्स्वभावयोर्भिन्नत्वाभ्युपगमात् । ४ विकल्पज्ञानस्य । ५ बौद्धस्य । ६ चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिरिति वचनस्यापि । ७ प्रतिदेश–आ०, ब० । ८ तु द्रव्यव्याप्य–आ०, ब०, प० । ९ नैकावयवी आ०, ब०, प० । १० तथा वृथा नात्र–आ०, ब०, प० । "अथवा अन्यथाऽयं विरुद्धधर्मसंसर्गः । तथा हि–आवृते एकस्मिन् पाण्यादौ स्थूलस्यार्थस्य आवृतानावृतरूपे युगपद्भवन्तौ विरुद्धधर्मद्वयसंयोगमस्य आवेदयतः ।"–अवयविनिरा० पृ० ८५ । ११ सन्देहानुपपत्तेः । १२ अवयवी । १३ अवयवग्रहणस्य । १४ अवयविदर्शनप्रसङ्गात् । १५ अवयविदर्शनानङ्गम् ।

दर्शनम्, सत्येव तद्ग्रहणे तदुपपत्तेः। मा भूदिति चेत्, कथमविकलदर्शनं [1]तन्निष्ठस्वभावविकलस्यैव दर्शनात्। तन्निष्ठत्वं नाम तत्समवायः, तस्य[2] च [3]ततो भेदात् न तस्यादर्शनेऽप्यवयविदर्शनस्य वैकल्यमिति चेत्, कथमर्थान्तरत्वे तस्य तेन[4] तन्निष्ठोऽवयवीति व्यपदेशः? सम्बन्धादिति चेत्, तर्हि [5]तत्समवाय कथ [6]तददर्शने दृश्येत? तत्स्वभावतया [7]मादर्शीति चेत्, न, दर्शनवैकल्यस्योक्तत्वात्। तस्यापि ततो भेदादयमदोष इति चेत्, कथं तेन [9]संम्बन्धोऽवयवीति व्यपदेशः? सम्बन्धादिति चेत्, न, 'तर्हि' इत्यादेरावृत्त्या चक्रकापत्तेरनवस्थानाच्च। ततो दूरमनुसृत्यापि कस्यचित्सम्बन्धस्य तत्स्वभावत्वं चेदभ्युपगम्येत प्राक्तस्य तन्निष्ठस्वरूपैव तदभ्युपगन्तव्यम्। न च तस्य सकलावयवग्रहणमन्तरेण दर्शनम्, आधेयदर्शनस्याधारग्रहणसव्यपेक्षत्वात्। दृश्यावयवनिष्ठतयैव तु दर्शनेऽपि सिद्धं विकलदर्शनम्[10]। न च [11]तत् अनावृतस्योपपन्नमित्यवयविन्येव आवरणभावात्सिद्धत्वं साधनस्य। सन्दिग्धव्यतिरेकत्वं तु पूर्ववदुद्ग्राह्य समाधातव्यम्। ततो भवत्येवाराभादपि हेतोर्नैकोऽवयवीति।

तथा [12]"रक्तारक्तत्वादियतोऽपि। रक्तारक्तैर्हि तन्तुभिरारब्धे पटे अवयव्यभवत्येव रक्तारक्तता तथा रूपभेदो न भवत्येव तदैकस्यैव रूपस्य चित्रस्य भावात्। तथा च प्रतिपत्तिः चित्रमिदं रूपमिति चेत्, न, 'चित्रं चैकं च' इति व्याघातात्–भेदस्य चित्रार्थत्वात् अभेदस्य चैकार्थत्वात्, भेदाभेदयोश्च परस्परपरिहारस्वरूपाधिकरणतया विरोधस्य सुप्रसिद्धत्वात्। उक्तञ्च–

"चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः।" [प्र० वा० २।२००]

भवतु तदेकमेव न चित्रं नीलपीतादिविशेषैरनिर्देश्यत्वादिति चेत्, न, तादृशस्याप्रतिभासनात्। अप्रतिभासितस्यापि द्रव्यग्रहणादनुगमः, नीरूपस्य द्रव्यस्य दर्शनायोगादिति चेत्, कथमनुपलब्धस्य द्रव्यप्रतिपत्त्यङ्गत्वम् अन्यत्रैवमदर्शनात्। तथापि तत्कल्पने किमरूपस्यैव द्रव्यस्य न दर्शनकल्पनम्, अविशेषात्? भवत्वेकं तद्रूपं प्रतिभासत्वं, तथापि कथं तत्र चित्रप्रतिभासः? चित्ररूपावयवसम्बन्धादिति चेत्, न; उपाधिकृतत्वेन विभ्रमत्वापत्तेः। न चासौ विभ्रम एव, चित्राकारस्तद्रूपस्यापि ततोऽसिद्धिप्रसङ्गात्। चित्रत्व एवासौ विभ्रमो न [13]तद्रूप इति चेत्, न, विभ्रमेतरात्मना [14]तस्यैव चित्रत्वापत्तेः, तस्य च वस्तुत्वे [15]तद्रूपस्यैव किन्न स्यात्? तदप्युपाधिनिबन्धनमेव न वास्तवमिति चेत्, न, तत्प्रतिभासस्यापि विभ्रमत्वापत्तेः। न चासौ विभ्रम एव। तच्चित्रस्यवरनान्यप्रतिभासस्यापि असिद्धिप्रसङ्गात्। चित्राकार एवासौ विभ्रमो

---

1 –विकलस्य–आ०, ब०, प०। 2 आधारनिष्ठ। 3 समवायस्य। 4 अवयवात्। 5 तत्समवायेन। 6 अवयविस्वभावः। 7 तद्दर्शने आ०, ब०, प०। सम्बन्धस्यादर्शने। 8 मा न दर्शि–आ०, ब०, प०। 9 तत्सम्बन्धोऽव–आ०, ब०, प०। 10 विकलदर्शनम्। 11 "स्थूलस्यैकस्वभावस्य मक्षिकापदमात्रतः। चित्रेऽपि रिक्ते सर्वस्य ज्ञप्यैतदविभागतः॥ रक्ते च पाणी एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत्। विरुद्धधर्मभावे वा नानात्वमनुषज्यते॥"–तत्त्वसं० श्लो० ५८३, ५८४। "तथा पाण्याद्यावरणे विरोधः सम्भवतीति।"–न्यायवि० २।८५। 12 रक्तारक्तेतरभाव इति आ०, ब०, प०। 13 अवयवस्यैव विभ्रमाविभ्रमविषयत्वात् चित्रत्वं स्यादिति भावः। 14 अवयवस्य वस्तुनीषित्वे। 15 अवयवरूपस्यैव।

[1]न तत्प्रतिभास इति चेत् ; न; तत्रापि 'विभ्रमेतरात्मना' इत्यादेः पौनःपुन्यादनवस्थापत्तेश्च । ततो दूरं गत्वापि पर्यन्ते तत्प्रतिभासचित्रत्वं तात्त्विकमेव वक्तव्यम् , तद्वत्तद्रूपचित्रत्वमप्यविशेषात् । ततो यदुक्तं भासर्वज्ञेन–"तस्माद्विशेषतोऽनिर्देश्यरूपमात्रमेव तत्रोत्पन्नम् , चित्रप्रतिभासस्तु तत्र चित्रावयवसम्बन्धात् स्फटिके नीलादिप्रतिभासवत्" [ ] इति; तत्प्रतिविहितम् ; [2]तत्त्वत एव तत्र चित्रत्वस्य भावात् ।

भवतु तत्त्वत एव [3]तत्र चित्रत्वम् , तत्तु न रूपस्य स्वरूपभेदात् , अपि तु नीलत्वपीतत्वादिनानाजातिसम्बन्धादेव । न चैकत्र नानाजातिसम्बन्धानुपपत्तिः, कुसुमत्वोत्पलत्वादिनानाजातिसम्बन्धस्यैकत्रापि द्रव्ये दर्शनादिति चेत् ; जातयस्तर्हि व्याप्त्या वर्त्तेरन् , अव्याप्त्या वा ? व्याप्त्या चेत् ; न; तथाननुभवात् । न हि नीलत्वव्याप्तमेव तद्रूपं प्रतीयते पीतत्वादेस्तत्राप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् ।

न हि नीलत्वमात्रेण व्याप्ते वस्तुनि युक्तिमत् ।
पीतत्वादिपरिज्ञानमन्यत्रैवमदर्शनात् ॥९०२॥
न च नीलत्वमात्रेण तच्चित्रमुपपत्तिमत् ।
अभावासञ्जनादेवमचित्रस्यैव कस्यचित् ॥९०३॥
अव्याप्त्या तु न जातीनां जातिमत्स्विति वर्त्तनम् ।
गोत्वाश्वत्वगोत्वादिजातिष्वेवमदर्शनात् ॥९०४॥
नृत्वसिंहत्वयोरेकप्राणिन्यव्याप्य वर्त्तनम् ।
दृश्यते चेन्न तत्रापि जातिद्वित्वानपेक्षणात् ॥९०५॥
एकं हि तन्नृसिंहत्वं स्वाश्रयव्यापि दृश्यते ।
न नरत्वं ततश्चान्यत् सिंहत्वं चैकदेशिकम् ॥९०६॥
एवं चित्रत्वमप्येकं सामान्यमिति चेदसत् ।
नानासामान्यसम्बन्धाच्चित्रमित्यस्य दूषणात् ॥९०७॥

यथैव नरसिंहत्वपुरुषमृगत्वादिकं नरत्वादेर्जात्यन्तरमेकमेव स्वाश्रयव्यापि च, तद्वच्चित्रत्वमपि नीलत्वादेरर्थान्तरमेकमेव स्वाश्रयव्यापीति चेत् ; न; "एकस्याप्यनेकनीलादिधर्माधिकरणत्वेन चित्रप्रतिभासविषयत्वसम्भवात्" [ ] इत्यस्योपद्रवात् , एकस्यानेकत्वायोगात् , नीलत्वादिव्यपदेशानुपपत्तेश्च । कुतश्च तज्जातिमतो रूपस्योत्पत्तिः ? पटादेवेति चेत् ; न; सर्वस्मादपि ततस्तत्प्रसङ्गान्न कश्चिदप्यचित्रः पटः स्यात् । प्राक्तनाच्चित्ररूपादेवेति चेत् ; न; प्रथमनिष्पन्ने पटे तद्रूपाभावापत्तेः पूर्वं तदभावात् । पटावयवरूपादिति चेत् ; न [4]ततोऽपि चित्रात् ; अवयवेषु तदभावात् । अचित्रादेवेति चेत् ; न; तस्य जात्यन्तरत्वेन

१ न तद्रूप इति आ०, ब०, प० । २ तत एव आ०, ब०, प० । ३ रूपे । ४ पटावयवरूपादपि ।

ततस्तदुत्पत्तेरयोगात् नीलादेः पीतादिवत् । रूपत्वमात्रेणैकजातित्वमेव न जात्यन्तरत्वमित्यपि न युक्तम् , नीलादेरपि पीतादिजन्मापत्तेः । ततोऽवयवरूपादुत्पत्तौ तस्यापि तज्जातित्वमेव, तच्च न रूपत्वेनैव, तत्र चित्ररूपस्यासमानजातीयत्वात् । नाप्येकेन चित्रत्वेन , तत्र तदभावस्याभिधानात् । नाप्यनेकनीलत्वादिना, तस्य स्वाश्रयव्याप्त्यभावात् । न च तेषां व्याप्ति सामान्यम् , सर्वगतस्यैव तस्योपगमात्, तदव्यापिनश्च सर्वगतत्वानुपपत्तेः । ततो न नानाजातिसम्बन्धा रूपस्य चित्रप्रतीतिगोचरत्वम् , अपि तु स्वरूपभेदादेव । न च तस्यैकत्रावयविनि सम्भव इत्युपपन्नं तदन्यथानुपपत्त्या तदभावसाधनम् ।

भवन्तु चित्रावयवी कुत उत्पन्नाम ? समवाय्यादेः कारणादिति चेत् , किं पुनर्द्व्यणुकस्य समवायिकारणम् ? अणुद्वयमिति चेत् , न, परमाणूनामनुपलम्भेनासत्त्वात्, तत्र समवायिकारणत्वस्य तत्प्रयोगे चासमवायिकारणत्वस्यासम्भवात् । निमित्तमात्राच्च न तदुत्पत्तिः अनभ्युपगमात् , इत्यसत्त्वमेव द्व्यणुकस्य प्राप्तम् । तदभावे च न तदुत्तरं द्रव्यम् , ततोऽपि न तदुत्तरमित्यन्त्यावयविपर्यन्तस्याभाव एव तद्द्रव्यस्य स्यात् । नायं दोष , तस्याहेतुकस्यैव भावादिति चेत् , अत्राह–

स्वत' सिद्धेरयोगाच्च [तद्वृत्तेः सर्वथेति चेत् ,] ॥९१॥ इति

स्वतो हेत्वन्तरेण सिद्धेर्निष्पत्तेः अयोगात् अघटनात् । 'न चैकम्' इति सम्बन्धः । च शब्दः पूर्वहेतुसमुच्चये । परमप्यत्र हेतुमाह–'तद्वृत्तेः सर्वथा' इति । तस्य अवयविनः अवयवेषु वृत्तिर्वर्तनं तस्याऽयोगाच्च । 'न चैकम्' इति । कथं तदयोगः ? सर्वथा सर्वेण प्रकारेण सर्वात्मना वा इति प्रकारेण । तथा हि–सर्वात्मना तस्य तत्र वृत्तौ, बहुत्वम् अवयवपर्यवसानम् , एकावयववर्त्तनं वा । देशतो वृत्तौ; देशा यदन्यत्वं प्राप्त्यावयव-वत् , तत्कथं ते तस्य ? तेष्वपि वृत्तेरिति चेत् , न, सर्वात्मना वृत्तिवेषात् । देशतश्चेत् ; न , पूर्वदोषादनवस्थानाच्च ।

ननु "बहुष्वन्यतमो देशः, तस्मात्सर्वं च सर्वम् , न चावयविनो निरंशस्य बहुत्वम् , अतो न सर्वात्मना देशतो वा तस्य वृत्ति प्रकारान्तरेणैव तद्भावात् तस्य च विरोधप्रतिषेधा-देवाप्यनुमानाम् , यथैव हि चाक्षुषेण चक्षुषा दर्शननिषेधो भक्षिणेन दर्शनमप्यनुज्ञापयति,

१ चित्रप्रतीतेः । २ आद्यन्तावि–आ०, ब०, ब० । ३ अवयवान्तरत्वाच्चे । ४ –व्यामा–आ०, ब०, ब० । ५ व्यापकत्वाति । ६ तत्स्वरूपमेदनुपपत्त्या । ७ तद् तदूत्तरम् आ०, ब०, प० । ८ मतम् इति । ९ तदहेतु । १० प्रयत्न । ११ "एकस्मिन् भेदाभावाद्भेदशब्दप्रत्ययानुपपत्तेरप्रश्न –कि प्रत्यवयवं कार्त्स्न्येनावयवी वर्तते उत एकदेशेनेति नैतत् प्रश्नः । कस्मात् ? एकस्मिन् भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः । 'कृत्स्नम्' इत्यनेकस्याशेषाभिधानम् , 'एकदेशः' इति नानात्वे कस्यचिदभिधानम् , ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दौ भेदविषयौ नैकस्मिन्नवयविन्युपपद्येते भेदाभावादिति ।"–न्याय सू०, भा० ४ । २ । ११ । "तथा हि चक्षुषा सम्प्रतिपत्त्यर्थमेव देशः । निरंशेन च दर्शनमस्त्येव । तथा विजिगीषोरेव प्रत्यक्षानुपलम्भात् प्रत्यक्षेण दृष्टिः ... । अवयवा हि न दृश्य इति वचनम् ।"–प्रश० व्यो० पृ० ५६ ।

अन्यथा तदनुपपत्तेः, तथा सर्वात्मैकदेशाभ्यां वृत्तिनिषेधोऽपि प्रकारान्तरेण वृत्तिमभ्यनुज्ञापयत्येव, अन्यथा 'न वर्त्तते' इति अविशेषेणैव वचनप्रसङ्गादिति चेत ; तत्प्रकारान्तरं तस्य स्वरूपम् , अन्यद्वा गत्यन्तराभावात् ?

स्वरूपं तस्य वृत्तिश्चेत्पटो वर्त्तत इत्ययम् ।
विशिष्टप्रत्ययस्तत्र कथं नामोपपत्तिमान् ? ॥१०८॥
भेदे सत्येव यल्लोके विशेषणविशेष्ययोः ।
दण्डी मनुष्य इत्येवं स प्रतीतिपथं गतः ॥१०९॥
भेदकल्पनयाऽसौ चेत्तत्कृता तात्त्विकी कथम् ? ।
तद्वृत्तिर्भागवान् येन तात्त्विकः परिकल्प्यताम् ॥११०॥
अतात्त्विकं तु तत्सत्त्वं न बौद्धोद्वेगकारणम् ।
व्यवहारदृशां तस्य तेनापि स्थितिसाधनात् ॥१११॥
अन्यैव तस्य वृत्तिश्चेत् समवायात्मिका मता ।
तयापि तस्यासम्बन्धे विशिष्टः प्रत्ययः कथम् ? ॥११२॥
सम्बन्धादेव दण्डादेर्यतोऽयं[3] [4]दृश्यते नरे ।
कथं वा तस्य सा वृत्तिः पटस्तन्तुषु यद्भवेत् ॥११३॥
गर्दभोऽपि तया तेषु न भवत्यन्यथा कथम् ? ।
लोकः कथं ततो वस्तां पटमेव न गर्दभम् ॥११४॥
सम्बन्धोऽपि तया तस्य स्वतश्चेत् किन्न तन्तुभिः ।
इति व्यर्थैव सैवं चेन्नास्य पूर्वं निषेधनात् ॥११५॥
अन्यतश्चेन्न तेनापि तस्याः सम्बन्धकल्पने ।
कथं तेन विशिष्टत्वं तस्य यत्तन्मतिर्भवेत् ॥११६॥
कथं वा स्यात्प्रतिक्षिप्तं गर्दभातिप्रसञ्जनम् ।
तेनापि तस्य सम्बन्धे स्वतोऽन्यत इति द्वयोः ॥११७॥
पक्षयोरनवस्थानं प्राच्यदोषानिर्वर्त्तनात् ।
तत्रान्याप्यस्ति तद्वृत्तिरित्यवृत्तिक एव सः ॥११८॥

ततो यदुक्तं व्योमवता–"वृत्त्यनुपपत्तिरिति हेतुः स्वरूपासिद्धश्च वृत्तेः समवायस्य सिद्धत्वात्" [प्रश० व्यो० पृ० ४६] इति ; तत्प्रतिविहितम् ; उक्तेन न्यायेन समवायस्यापि वृत्तित्वासिद्धेः ।

मा भूद्वृत्तिः, तथापि कथमसत्त्वम् ? कथञ्च न स्यात् ? वृत्त्या सत्त्वस्याव्याप्तेः ।

---

१ प्रतीतिकथं गतः आ०, ब०, प० । २ कल्पनाकृता । ३ विशिष्टप्रत्ययः । ४ –ते तराम् आ०, ब०, प० । ५ धारयेत् । ६वर्तनम् आ०, ब०, प० ।

न हि दूषणायैव सत्त्वमाकाशादौ परोपगते रूपादौ च तदभावेऽपि भावादिति चेत्, सत्यम्, सत्त्वमात्रस्य न व्याप्तिः, अवयव्यादिसत्त्वस्य तु विवाद एव। कुत एतत्? स्वबुद्धित इति चेत्, न, तन्निषेधप्रसङ्गात्। न हि स्वयं बुद्धिव्याप्ततया बुध्यमानस्यैव तत्सत्त्वस्य निषेधनम्। परबुद्धितः इति चेत्, परस्यापि यदि तत्र प्रमाणमस्ति न तन्निषेधनम्, तदनुमानस्य तेन प्रतिक्षेपात्। तस्यैव तदनुमानेन प्रतिक्षेप इति चेत्, न, तत्प्रतिक्षेपे तस्यैवानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तन्मूलत्वात्, तेन तद्व्याप्तिपरिज्ञाने तस्येव तदुत्पत्तेः। अथ नास्ति प्रमाणम्, न तर्हि व्याप्तिनिश्चयः, तदभावे च न तन्निषेधः। सत्येव तन्निश्चये व्यापकाभावात् व्याप्य निषेधोपपत्तेरिति चेत्, न, 'प्रमाणादन्यतो वा' इत्यकृतविचारस्यैव परबुद्धिमात्रस्योपाश्रयात् कथं तदाश्रयणेन कस्यचिन्निषेधनम्, अतिप्रसङ्गात्। कथमद्वैतादेकान्तस्य? न हि तस्या प्यपरिज्ञातस्यैव निषेधः तन्निषेधानुमानस्याश्रयासिद्धिदोषात्। स्वयं परिज्ञाने च पूर्ववत्तदनुपपत्तेः। परबुद्धया तत्परिज्ञानस्य प्रमाणभावाभावाभ्यां विचारे प्रागिव दोषात्, अकृतविचारस्यैव परबुद्धिमात्रस्योपाश्रयणं तायागतस्यापि तदभीष्टबुद्धेरविशेषात्। ततः स्थितम्–'न चैकं सर्वथा तद्वृत्तेरयोगात्' इति। साम्प्रतं पूर्वपक्षसमाप्तिम् इतिशब्देन चेच्छब्देन च पराभिप्रायं द्योतयन्नाह 'इति चेत्' इति।

अत्रोत्तरमाह–

> एतत्समानमन्यत्र भेदाः संविदसंविदोः।
> न विकल्पानपाकुर्युर्निरन्तर्यानुपन्निभः ॥९२॥ इति।

एतदनन्तरोक्तं 'तत्र' इत्यादि, समानं सदृशम्। क्व? अन्यत्र। अपि शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। तदयमर्थो न केवलं बहिरर्थे अपि तु अन्यत्रापि विज्ञानेऽपि तस्यैव तदपेक्षया अन्यस्यात्। तथा हि–विज्ञानमपि सांशत्वादिना दोषेण [1]दोषवत् निरन्तरत्वात बहिरर्थवदिति। न चेदं [2]स्वतन्त्रं साधनम्, बहिरर्थे त[3]त्वतस्तद्रूपस्योपगमनानिष्टापत्तेः, अन्यथा तन्निदर्शनोपन्यासायोगात्, अपि तु प्रसङ्गापादनम्। तदपि न तत्त्वतस्तत्र तद्रूप-व्यवस्थापनार्थम् अतत्त्व स्वयमपि तदनभ्युपगमात्, अपि तु व्याप्तिविघटनार्थमेव। यदि निरन्तरत्व दोषवत्त्वेन व्याप्तं विज्ञानेऽपि तद्भवेत तत्रापि तस्य विद्यमानत्वादिति। तस्यापि बाह्यवत् परित्यागे किमवलम्बनो बहिर्र्थं दूषयेत्? निरवलम्बनस्य तत्पोपणस्याप्यनिवारणात्। ततो नास्ति तस्यं "तेन व्याप्तिः, तद्विकलेऽपि विज्ञाने तस्य भावात्। ततोऽनैकान्तिकत्वाभावो" बहिरर्थे तद्रूपसाधनमुपपन्नम्। ततो यदुक्तं न्यायवार्तिके–"यः परेण "चोदितं दोषमनु-

---

१ तदभावादि–आ०, ब०, प०। २ निषेधानुमानस्य। ३ प्रतिषेध आ०, ब०, प०। ४ –षेधोऽप्ति– आ०, ब०, प०। ५ निषेधानुपपत्तेः। ६ तदाश्र– आ०, ब०, प०। ७ दोषवत् आ०, ब०, प०। ८ स्वतन्त्रम्–आ०, ब०, प०। ९ निरन्तरत्वस्य। १० दोषवत्त्वेन। ११ निरन्तरत्वात्। १२ चोदितम् आ०, ब०, प०।

द्धृत्य 'भवतोऽप्ययं दोषः' इति ब्रवीति स निगृहीतो वेदितव्यः" [न्यायवा० ५।२।२१] इति ; तदप्रतिविहितम् ; 'दोषमनुद्धृत्य' इत्यस्यासिद्धेः, व्यभिचारोद्भावनादेव तदुद्धरणात् । 'भवतोऽपि' इत्यस्य च व्याप्तिविघटनबलेन तदुद्भावनोपायत्वात् । एतदप्यन्यत्तत्रैव[1]– "यत एवासावुत्तरं वक्तव्यप्रसङ्गं करोति अत उत्तराऽपरिज्ञानान्निगृह्यते" [न्यायवा० ५।२।२१] इति ; तदपि दुर्भाषितम् ; प्रसङ्गकरणस्यैवोक्तनीत्या सदुत्तरत्वेन तदपरिज्ञानस्याभावात् । अन्यदप्युत्तरमेवंविधे विषये सम्भवति, तस्यापरिज्ञानान्निगृह्यत इति चेत् ; न ; प्रकृतस्य परिज्ञानाज्जयस्यापि प्राप्तेः । न चैतदुभयं यौगपद्येन ; विरोधात् ।

निग्रहश्चेज्जयो नास्ति जयश्चेन्नास्ति निग्रहः ।
निग्रहश्च जयश्चेति व्याहतं युगपद् द्वयम् ॥११९॥
अपरिज्ञानमप्यस्य कस्मादप्रतिपादनात् ।
न निग्रहस्थानस्य परिज्ञानेऽपि सम्भवात् ॥१२०॥
एकदोषाभिधानेन परपक्षे हि दूषिते ।
दोषान्तरप्रवादो हि निग्रहायैव कल्पते ॥१२१॥
[3]सतो दोषान्तरस्यापि निग्रहो यदकीर्त्तनम् ।
सतो हेत्वन्तरस्यापि निग्रहः स्यादकीर्त्तनम् ॥१२२॥
ततस्तदकीर्त्तने यौगैर्निग्रहः कल्प्यते कथम् ।
इदमेव स्वयं देवैरन्यत्र प्रतिपादितम् ॥१२३॥
"वादिनोऽनेकहेतूक्तौ निगृहीतिः किलेष्यते ।
नानेकदूषणस्योक्तौ वैतण्डिकविनिग्रहः ॥" [सिद्धिवि० परि० ५] इति ;

ततो न युक्तम्–'उत्तराऽपरिज्ञानान्निगृह्यते' इति ; तदपरिज्ञानस्यैवासिद्धेः । एवमन्यदपि समानदोषापादनं निर्दोषं प्रतिपत्तव्यम् । तत्र मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं सम्भवति ।

मा भूत् 'चौरस्त्वं पुरुषत्वात्' इत्युक्ते 'भवानपि चौरः तत एव' इति प्रसङ्गकरणबुद्ध्या प्रतिब्रुवाणस्य तन्निग्रहस्थानम्, चौर्यापादनबुद्ध्या तु प्रतिवदतो भवत्येव, परापादितस्य चौर्यस्यात्मन्यभ्युपगमात्, अनभ्युपगमे हि न पुरुषत्वं तत्र हेतुर्वक्तव्यः किन्तु पदद्रव्येणानतिसृष्टेन सम्बन्धः, न चोक्तः [5]सः, उत्तरस्यापरिज्ञानेन परमतमनुजानतो भवत्येव तन्निग्रहस्थानमिति चेत् ; कस्तेन तं निगृह्णीयात् ? वादीव ; परिषद्वलादिपरिग्रहवैफल्यापत्तेः । परिषद्बलादेव एवेति चेत् ; तेनापि वादिनो गुणाभावात् जयमपश्यन्तः कथमितरं निगृह्णीयुः ? जयाभावे निग्रहानुपपत्तेः । न च तस्य स्वपक्षसाधनं गुणः, चौर्यं प्रति पुरुषत्वस्यानैकान्तिकत्वेनासाधनत्वात् । परस्य तदभ्युपगमकरणं स[6] इति चेत् ; न ; तस्याप्यन्यायनिबन्धनत्वेन

१ न्यायवार्तिके उक्तम् । २ जयपराजयौ । ३ सतो आ०, ब०, प० । ४ निग्रहस्थानम् । ५ अनतिसृष्टपरद्रव्यसम्बन्धवत्त्वादिति हेतुः । ६ गुणः ।

दोषत्वात् । विजिगीषोः कथमपि तत्करणं गुण एवेति चेत् , न , चपेटादिनापि तत्करणस्य गुणत्वप्रसङ्गात् । [1]तेन तत्करणं परिपन्थिनि सहते धर्मच्युतेरिति चेत् , व्यभिचारिहेतुना तत्करणं कथं सहेत अविशेषात् ? स्वयमपरिज्ञानादिति चेत् , न , स्वतस्तस्यापरिज्ञानेऽपि प्राश्निकवचनात् परिज्ञानोपपत्तेः, प्राश्निकैश्च तद्वचनस्यावश्यम्भावात् , अन्यथा तद्वैफल्यात् । परिज्ञातमपि सहते न्यायशास्त्रे तस्य गुणत्वेनाभिधानादिति चेत् , शास्त्रान्तरे तस्य दोषत्वेनाभिधानात् न सहेतापि । तत्कथं तस्मादेकान्तेन वादिनो जयो यत [2]इतरस्य निग्रहः स्यात् ? तत्र कथञ्चिदपि मतानुज्ञानं निग्रहायेत्यलं प्रसङ्गेन ।

कथं पुनरचेतनार्थदोषेण चेतनस्य[3] दूषणं तस्करदोषेण साधोरपि तत्प्रसङ्गादिति चेत् ; स्यादेवम् , यद्यर्थेऽप्यचेतनस्य तस्यावलम्बनम् , [4]तदभावाच्चेतने न भवेदिति । न चैवम् , अर्थेऽपि नैरन्तर्यस्य तदर्थेऽवलम्बनत्वात् , तस्य च चेतनेऽप्यविशेषात् । न च तदवलम्बनस्य चेतनभेदैः प्रतिक्षेपः, तस्यापि प्रतिक्षेपापत्तेः । तच्च दोषस्याभिधास्यमानत्वात् । तदाह–भेदाः चेतनेतरस्वलक्षणा', व्यक्तिभेदाद्बहुवचनम् । कयोस्ते ? **संविदसंविदोः** ज्ञानार्थयोः, **विकल्पान्** सांशत्वादिदोष-परामर्शान् **न अपाकुर्युः**, न प्रतिक्षिपेयुः । असंविद्ग्रहणं किमर्थम् ? तद्भेदैस्तदनपाकरणस्य परं प्रत्यपि प्रसिद्धत्वादिति चेत् , न , तस्य निदर्शनार्थत्वाद् असंविद्भेदवत् संविद्भेदा अपि तानापाकुर्युरिति । तत्र हेतुमाह–**नैरन्तर्यानुबन्धिन** इति । नैरन्तर्यं प्रत्यासत्तिः, तदनुबन्धिनस्तदवलम्बिन इति ।

नैरन्तर्यं [5]मनस्यं ते दोषोत्पत्तिनिबन्धनम् ।
चिद्भेदास्तत्प्रयुक्तस्य[6] दोषस्य क्षेपका[7] कथम् ? ॥९२४॥
[8]तस्यापि तैः प्रतिक्षेपे सान्तरत्वमबाधितम् ।
चेतनेषु भवेत्तस्य तदभावत्वनिश्चयात् ॥९२५॥
निरन्तरेतरत्वाभ्यां निर्मुक्ता यदि संविदः ।
स्थूलस्तम्भावभासोऽयं कथं तासूपपद्यताम् ॥९२६॥
अन्यथा सारवैरेव चालैरप्यणुभिः स्वयम् ।
द्रव्यनिष्पादनात्किमु[10] नैरन्तर्येण नः फलम् ॥९२७॥
यत्सांशत्वादिदोषस्य तत्राप्युद्भावनं भवेत् ।
निरन्तरत्वस्याभावः सान्तरत्वं तदुच्यताम् ॥९२८॥

भवतु सान्तरत्वमेव संवेदनानामिति चेत् , न , व्यवधानाभावे तदनुपपत्तेः । व्यवधानञ्च न समानार्थैरव्यवहितैरेव , नैरन्तर्यदोषात् । व्यवहितैरेवेति चेत् , न , तत्रापि

१ चेतोऽदिभ्य । २ इतरस्य आ०, ब०, प० । ३ –स्य भाप–आ०, ब०, प० । ४ अचेतनस्ताभावात् । ५ दोषावलम्बनत्वात् । ६ नैरन्तर्यस्य । ७ चेतोपनाम् (?) । ८ नैरन्तर्यप्रयुक्तस्य । ९ नैरन्तर्यस्यापि । १० किमु नै–आ०, ब०, प० ।

धानस्यापि सजातीयैरव्यवहितैरनुपपत्तेः । व्यवहितैरेवेति चेत् , न ; अनवस्थापत्तेः । तथा च नीलमणिसम्मतानां संवेदनपरमाणूनां परापरैरपरिमाणैः तत्परमाणुभिर्व्यवधानात् नीलव्याप्तं सकलं जगद्भवेत् ।

नीलव्याप्तं जगत्प्राप्तं पीतादिपरिवर्जितम् ।
तच्च प्रतीतिसौभाग्यप्रत्यनीकं प्रकल्पनम् ॥९२९॥
व्यवधानं विजातीयैर्यदापि स्यात्परापरैः ।
तदा नीलमणिर्नाम न कश्चिदवतिष्ठते ॥९३०॥
न मेचकमणिज्ञानमपि तत्रोपपत्तिमत् ।
तेषु पर्यन्तवत्स्वेव तथा ज्ञानप्रवर्त्तनात् ॥९३१॥
उपदानान्ययोरेवं व्यवधानप्रकल्पने ।
अतीव कालदूरत्वं संवित्त्योः सम्प्रसज्यते ॥९३२॥
ततश्चाव्यवधानेन नीलज्ञाने क्रमः क्वचित् ।
प्रतीतिपथमापन्नो भ्रश्यत्येव भवन्मते ॥९३३॥
सजातिव्यवधानेऽपि नीलसंवित्तिसन्ततेः ।
अनादिनिधनत्वाप्तिः प्रतीतिं प्रतिपीडयेत् ॥९३४॥
तस्मान्निरन्तरत्वं तद्वक्तव्यं वेदनेष्वपि ।
सांशत्वप्रचयाभावदोषं तच्च प्रकल्पयेत् ॥९३५॥

तथा हि– नीलमणिसंवेदनपरमाणूनां देशतो नैरन्तर्ये[1] मध्यवर्त्तिनः[2] षडंशाः प्राप्नुवन्ति षड्भिर्दिग्भागभिन्नैर्नैरन्तर्यादिति । [3]तैरपि व्यतिरिक्तैस्तस्य नैरन्तर्ये पुनरन्ये षडंशा इति, तैरेव सकलस्यापि गगनतलस्य व्याप्तेरनवकाशास्तदन्ये भवेयुः । तथा क्रमवतामपि तत्परमाणूनां देशतो नैरन्तर्ये मध्यवर्त्तिनो द्वौ देशौ पूर्वापराभ्यां द्वाभ्यां नैरन्तर्यात् , ताभ्यामपि तथा नैरन्तर्ये परौ उभौ देशाविति तैरेवानाद्यनन्तकालव्याप्तेः कालः कीदृगुपादानादिप्रबन्धस्य भवेत् ? सर्वात्मना तु नैरन्तर्ये परमाणुमात्रत्वं [4]प्रचयस्य, मणिपरमाणूनामेकत्रैवानुप्रवेशात् । सन्तानस्याप्येकक्षणत्वम् , एकत्रैव परापरतत्क्षणानां प्रलयस्तमयात् । न च प्रकारान्तरं नैरन्तर्यस्यास्ति यत्रायं दोषो न भवेत् । कथं नास्ति ? तेषामक्रमाणामन्योन्यात्मकतया स्थूलीभावेन क्रमवताञ्च दीर्घीभावेन नैरन्तर्यस्योप[5]पत्तेरिति चेत् ; न ; कालदैर्घ्ये क्षणभङ्गवादव्यापत्तेः, देशदैर्घ्येऽप्येवयविवत् । एकत्र [6]चलनादौ सर्वत्र तत्प्रसङ्गात् प्रचयवतामेव चलनादिः, न प्रचयस्येति चेत् ; न ; तेषां प्रचयैकरूपत्वेन रूपान्तराभावात् । भावे वा यत्रैव तेषां चलनादिस्तत्रैव प्रचयस्य तद्विकलस्य प्रतीतिप्रसङ्गात् ।

---

१ सम्बन्धे । २ परमाणोः । ३ अंशैः । ४ प्रचयस्य ता०,आ०,ब० । ५ –पपत्तिरिति आ०,ब०,प० । ६ चानादौ आ०, ब०, प० ।

तर्हि मा भूवन् तत्परमाणवः तत्सन्तानाश्च, तेषामपि बाह्यवत्प्रतिभासनात्, अद्वैतं तु संवेदनमस्त्विति चेत्, न, तस्य निरंशाणुरूपस्य निषेत्स्यमानत्वात्। नीलादिभेदाधिष्ठानमेव तदिति चेत्, किमिदं [1]तेषां तेनाधिष्ठानम्? तत्र वर्तनमिति चेत्, न, अवयविवद्वृत्तिविकल्पादिदोषानुषङ्गात्। तदात्मत्वमिति चेत्, न, अवयविनोऽपि स्वावयवापेक्षया [2]तत्प्रसङ्गात्। [3]स एव नास्ति, कपालव्यतिरेकेणाप्रतिभासनादिति चेत्, ज्ञानमपि नास्ति नीलादिव्यतिरेकेणाप्रतिभासनात्। नीलादीनामेकत्वमेव [4]तदिति चेत्, अवयव्यपि कपालानामेकत्वमेव किन्न स्यात्? विरुद्धधर्माध्यासादिति चेत्, नीलादीनां कथम्? अशक्यविवेचनत्वादिति चेत्, न, तेनापि [5]तदध्यासस्याप्रतिषेधात् [6]चित्रप्रतिभासाभावापत्तेः।

किञ्चेदमशक्यविवेचनत्वम्? युगपत्प्रतिभासनमिति चेत्; न, तथापि भेदस्यैवोपपत्तेः [7] यौगपद्यस्य [8]तन्निष्ठत्वात्। अपृथग्वेद्यत्वमिति चेत्, तदपि कुतः प्रतिपत्तव्यम्? तदेकत्वादिति चेत्, न, परस्पराश्रयात्–अपृथग्वेद्यत्वेन [9]तस्य, ततश्चापृथग्वेद्यत्वस्य सिद्धेः। नीलादिभ्य एवेति चेत्, न, तैरपि परस्परस्यापरिज्ञाने तदपेक्षस्य तद्वेद्यत्वस्यापरिज्ञानात्। परिज्ञाने तु नार्थनिषेधनम् अर्थस्याप्यन्यवत्तदुपपत्तेः। अत एव नानुमानादपि तत्परिज्ञानम्। न चानुमानमद्वैते सम्भवति विरोधात्, अद्वैतेन तस्य नैरन्तर्येतरचिन्तायां पूर्ववद्दोषाच्च। तस्मादपृथग्वेद्यत्वमशक्यविवेचनत्वम्। एकत्वेन प्रतिभासनमिति चेत्, न, कपालेष्वपि तद्भावेनावयविसिद्धेरप्रतिषेधात्। तदेवाह–'एतत्समानमन्यत्र' इति। एतत् परचिन्तितम् [10]अभेदप्रतिभासरूपमशक्यविवेचनत्वं समानमन्यत्रापि बहिरर्थावयवेष्वपि।

भवतु समानम्, तथापि [11]नावयवत्र तत्सिद्धिः, दूरविरलकेशेषु [12]तदभावेऽपि भावादिति चेत्, तेष्वपि कुतस्तदभावे तद्भावः? सन्निवेशविशेषादेकार्यकरणात्[13] तद्वासनाप्रबोधाच्चेति चेत्, न, संवेदनभेदेष्वपि तत एव तत्प्रसङ्गात्। न च [14]तत्रैकार्यकरणं नास्त्येव, शशविषाणवद्वस्तुत्वापत्तेः [15]। कार्यकारणभेदे कथमद्वैतमित्यपि न सारम्, परस्यैव दोषात्। न च [16]तद्भेदा एव 'सन्निवेशनिबन्धनं तत्प्रतिभासनम्' इत्यादिविकल्पानपाकुर्वन्ति, भेदत्वेन बाह्यभेदाविशेषात्। तदाह–संविद्वसविदोः। असविद्ग्रहणमत्रापि निदर्शनार्थम्, असंविद इव संविदोऽपि भेदा नीलादयो विकल्पान् परामर्शान् नाऽपाकुर्युः। कीदृशान्? नैरन्तर्यानुपबन्धिनः नैरन्तर्यं सन्निवेशविशेषम् उपलक्षणमिदम्–तेनैकार्यकरणादिकमपि अनुबध्नन्ति अनूपस्थापयन्ति एकप्रतिभासनमिति शीलाम् इति।

तस्यतच्चित्रमेकं[17] ते विज्ञानं तत्कथं भवेत्।
निर्बाधात्प्रतिभासाच्चेद् बाह्योऽप्यर्थस्तथेष्यताम् ॥१३६॥

---

१ नीलादिभेदानाम्। २ अद्वैतसंवेदनेन। ३ तदात्मत्वप्रसङ्गात्। ४ अवयवी। ५ ज्ञानम्। ६ विरुद्धधर्माध्यासस्य। ७ अन्यथा–विरुद्धधर्माध्यासाभावे। ८ भेदनिष्ठत्वात्। ९ एकत्वस्य। १० अभेदप्रतिभासस्वरूप–आ०, ब०, प०। ११ नावयवविवेचनत्वात् अवयवेषु अवयविसिद्धिः। १२ एकप्रतिभासाभावेऽपि। १३ –र्यकारणात्तद्वासनाप्रतिबोधाच्च–आ०, ब०, प०। १४ संवेदनभेदेषु। १५ संवेदनभेदा एव। १६ –र्भ्वेद्धि–आ०, ब०, प०।

नन्वेवमपि अवयवाविष्वग्भागलक्षण एवावयवी सिद्ध्यति । न चायं यौगस्याभिप्रेतः [1]अवयवभिन्न एव तत्र तस्याभिप्रायात् । तस्य च न सिद्धिः, तद्दूषणस्य तदवस्थत्वादिति चेत् ; भवतोऽपि चित्रैकरूपमेव संवेदनं सिद्ध्यति । न च तत्तवाभिप्रेतम् "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा" [प्र० वा० २।३।५४] इति विरोधात् । यत्त्वभिप्रेतं निरंशवेदनं तन्नाद्यापि सिद्धम्, तदप्रतिपत्तिदूषणस्याप्रतिक्षेपात् । अथ कदाचिदिदमपि [2]तवाभिप्रेतम्, यौगस्याप्यवयवाविष्वग्भावः किन्नाभिप्रेतः स्यात् ? प्रयोजनाभावादिति चेत ; न ; वहिरर्थस्थापनस्यैव प्रयोजनत्वात् । स्याद्वादानुप्रवेशस्तु भवतोऽपि, [3]चित्रैकचित्तवादस्यापि स्याद्वादत्वात् । अनुप्रविष्टस्यापि परित्यागाददोषो यौगस्यापि, तदविष्वग्भावस्य परित्यागात् । तत्परित्यागे न कश्चिदवयवी, प्रकारान्तरस्य प्रतिक्षेपादिति चेत् ; चित्रैकचित्तपरित्यागेऽपि न किञ्चिद्विज्ञानं निर्भागतद्रूपस्य प्रतिक्षिप्तत्वात् । ततो न वहिर्नान्तः किञ्चिदिति सर्वनैरात्म्यम् ।

न तस्यापि [4]निष्प्रमाणा सिद्धिरतिप्रसङ्गात् । प्रमाणञ्च न तत्र वास्तवमस्ति [5]तद्विरोधात् । अवास्तवमिति चेत् ; न [6]ततस्तस्य तत्त्वतोऽप्रतिपत्तेस्तद्विपर्ययवत् । नापि तदप्रतिपन्नमेव प्रमाणम् ; अनभ्युपगमात् । तत्प्रतिपत्तिश्च न वस्तुभूतात्प्रमाणात् ; तस्यैवाभावात् । अवस्तुभूतादिति चेत् ; न, तस्यापि तादृशात्प्रतिपत्तावनवस्थानात् ।

अपि च, किमिदमवस्तुभूतमिति ? अविद्यमानमिति चेत् ; न; तस्याऽकिञ्चित्करत्वेन प्रमाणत्वायोगात् । विद्यमानत्वेन कल्पनात्तत्त्वमिति चेत् ; कुतस्तत्कल्पनम् ? संवृतेरिति चेत् ; न; तस्या अपि मिथ्याज्ञानव्यतिरेकेणाभावात्, तस्य चोक्तनीत्या निषेधात् । संवृतेरपि संवृत्या परिकल्पनायाम् अनवस्थादोषात् । तन्न सर्वनैरात्म्यमपि तत्त्वम् ; [7]तत्र प्रमाणस्याभावात् । भावेऽपि न [8]तेन [9]तस्य परिच्छेदः, प्रतिवन्धाभावात् । न हि तन्नैरात्म्येन [10]तस्य तादात्म्यम् ; स्वयं नैरात्म्यप्रसङ्गात् । नापि तदुत्पत्तिः; [11]तस्य सर्वशक्तिवैकल्यात् । न च योग्यत्वम् ; तस्य कार्यावसेयत्वात् । न च कार्यं तत्परिच्छेदरूपमुपलब्धम् ; तत्रैव विप्रतिपत्तेः । ततो न तस्य प्रमाणोपपन्नत्वं विचारचतुराः प्रवक्तुमर्हन्ति । ये तु ब्रुवन्ति ते [12]विचारविकला इत्यावेदयति–

आहुरर्थवलायातमनर्थमविकल्पकाः । इति ।

आहुः प्रतिपादयन्ति । किम् ? **अनर्थम्** अर्थस्य ज्ञानज्ञेयलक्षणस्याभावम्, अर्थाभावेऽव्ययीभावविधानात् । कीदृशम् ? **अर्थवलायातम्**–अर्थ्यते तत्त्वनिरूपणार्थिभिरित्यर्थः प्रमाणम्, तस्य वलं विषयप्रतिवन्धस्तेनागतम् **अर्थवलायातम्** । [13]कयाहुः ? **अविकल्पकाः** न विद्यते विकल्पो निवेदितन्यायेन तस्य प्रमाणविषयत्वाभावनिर्णयो येषां ते तथोक्तास्ताथागता इति ।

---

१ अवयविभि–आ०, ब०, प० । २ –सौगतस्य । ३ चित्रैकचित्रवा–आ०, ब०, प० । ४ निष्प्रमाणसि–आ०, ब०, प० । ५ सर्वनैरात्म्यविरोधात् । ६ अवास्तवप्रमाणात् । ७ तत्प्रमा–आ०, ब०, प० । ८ प्रमाणेन । ९ नैरात्म्यस्य । १० प्रमाणस्य । ११ सर्वनैरात्म्यस्य । १२ निराचारवि–आ०, ब०, प० । १३ के आहुः ।

एतेन [1]'सकलविकल्पविकलसंवित्तिमात्रं तत्त्वमित्यपि प्रत्युक्तम्, तदेकत्वस्य नीलरूपनिषेधात्तत्त्वे प्रमाणविषयत्वासम्भवात्, तस्य तद्ग्राह्यत्वं ब्रुवतामप्यविकल्पकत्वाविशेषात्। पर्युदासमेव, ततः पर्युदस्तसकलविकल्पस्य संवेदनस्यैव तदेकत्वार्थत्वादिति चेत्, इदमप्यसङ्गतम्, यस्मात्–

विकल्पा यदि वेद्येरन् निषेध्येरन् सर्वथा ।
विकल्पान्नैव वेद्येरन्निषेध्येरन् ते क्वचित् ॥१३७॥
न चैकविषयाय तद्रूपं तदुल्लेखेन तान् क्वचित् ।
तत्रामी नेति निर्णेतुं निरङ्कुशप्रभुर्जनः ॥१३८॥
वस्तुतस्तदविज्ञानेऽप्यारोपेण प्रवेदनात् ।
पेहुमानकल्पनेषा निषेधः सम्मतो यदि ॥१३९॥
तत्र सारं विकल्पादेरारोपस्यावकल्पनात् ।
आरोपान्तरस्य क्लृप्तौ तु भवत्यन्योन्यसंश्रयः ॥१४०॥
अन्यारोपाद्विकल्पश्चेत्सोऽप्यन्यस्माद्विकल्पकात् ।
सोऽप्यारोपात्तदन्यस्मादित्थं स्यादनवस्थितिः ॥१४१॥
परकल्पनया चेत्स्युर्विकल्पास्तन्न सङ्गतम् ।
आरोपितविकल्पे यत् विकल्पविरहाश्रयः ॥१४२॥
आरोपाद्विकल्पश्चेदिदानीं तन्निषेधनात् ।
तस्माद्विकल्पासंवित्तेः तन्निषेधः क्वचित्कथम् ॥१४३॥
किञ्च तद्वेदनं यत्र विकल्पः पर्युदस्यते ।
नीलादिरूपं तच्चेत्स्यात् सावकल्पकमेव तत् ॥१४४॥
नानाभागसमावस्य तस्य स्थूलस्य दर्शनात् ।
एकानेकविकल्पस्य तत्रावश्यमवस्थितेः ॥१४५॥
तद्विकल्पव्यपेतस्य न तस्यास्ति स्वतो गतिः ।
अविवादः स्वसंवित्तेर्विवादविषयेऽप्ययात् ॥१४६॥
अन्यतोऽपि न तादात्म्यस्याप्यन्येन [4]'तादृशात् ।
प्रतिपत्तौ यतो दूरं प्रसरत्यनवस्थितिः ॥१४७॥
अतादृशान्न तद्वित्तिस्तात्त्विकी कल्पितात्कथम् ? ।
अकल्पिताच्चेदन्यैवं तदैव स्याद्विकल्पकम् ॥१४८॥

---

१ सकलं संवि– आ०, ब०, प०। २ सविशेष– आ०, ब०, प०। ३ प्रधानपद्। ४ तादृश्या आ०, ब०, प०।

तच्च सर्वविकल्पानामभावे दत्तबुद्धयः ।
बौद्धाः कथमिव ब्रूयुः विरोधापत्तिभीरवः ॥१४९॥

तदेवाह– **'आहुः'** इत्यादि । **'न'** इत्यनुवर्तनीयम् । **नाहुः** बौद्धाः । कम् ? **अनर्थम्** अर्थ्यंत इत्यर्थः सकलविकल्पाभावः तस्मादन्यं विकल्पभावम् । कीदृशम् ? **अर्थबलायातम्**, अर्थ्यमानं निर्विकल्पवेदनमर्थः तं बलयति स्थापयतीति तद्बलस्तदधिगमः, तस्मै तदर्थम् आयातम् । कस्मान्नाहुः ? **अविकल्पकाः** विकल्पानामभावं कायन्ति कथयन्ति यत इति । ततो न सकलविकल्पातीतमपि तत्त्वम्, प्रमाणप्रणयनवैकल्यात् ।

अस्तु तर्हि विभ्रममात्रं तत्त्वम्, अन्तर्बहिश्च यथाकल्पनप्रतिपत्तेः, यथाप्रतिभासनञ्च नानैकत्वादिधर्मैर्विचारायोगात् । तस्मादविद्यमानमेव सुखनीलादि सर्वमवभासते "मायामरीचिप्रतिभासवदसत्त्वेऽप्यदोषः"[1] [प्र० वार्तिकाल० २।२१०] इति वचनादिति कश्चित्; सोऽपि न विपश्चिदेव । यस्मात्–

सत्यश्चेद्विभ्रमात्मासौ सर्वथा विभ्रमः कथम् ? ।
मिथ्या चेत्; सुखनीलादि सत्यमेव प्रसज्यते ॥१५०॥
यतोऽपि विभ्रमज्ञानं विचारात्परिकल्प्यते ।
तद्विभ्रमे कथं तस्मादन्यविभ्रमवेदनम् ? ॥१५१॥
अन्यथा तत एवान्यसर्वाविभ्रमकल्पनात् ।
विभ्रमैकान्तवादोऽयं नश्येत्पर्यन्त एव ते ॥१५२॥
तदविभ्रमपक्षे तु तद्बलात्सर्वविभ्रमम् ।
न प्राज्ञा ब्रुवते ब्रूयुर्मेषकल्पाः परं परे ॥१५३॥

तदाह–**'आहुः'** इत्यादि । कम् आहुः ? **अनर्थम्**–न विद्यतेऽर्थोऽस्मिन् इत्यनर्थो विभ्रमः तम् । की शम् ? **अर्थबलायातम्**, अर्थो विचारः तस्य तत्त्वतो भावात् अन्यथा ततो विभ्रमव्यवस्थानुपपत्तेः, तस्य बलं सामर्थ्यं तेनायातम् । क आहुः ? **अविकल्पकाः** इति । अवयो मेषाः ईषदसमाप्ता[2] (कल्पप्) अवयः **अविकल्पा** अनुकम्पिताः त एवाविकल्पका विभ्रमवादिन इति । न मया तत्त्वतो भावनैरात्म्यादिकं कुतश्चित्तद्बलादागतं परिकल्प्यते यदयं प्रसङ्गः, किन्तु परपर्यनुयोगेन तद्विपर्यय[3] एव निषिध्यते । निषिद्धे च तस्मिन् तदेव तत्त्वमवशिष्यते गत्यन्तराभावादिति चेत्; न; तत्पर्यनुयोगादनर्थात्तन्निषेधे[4] अतिप्रसङ्गात् । अर्थादिति चेत्; न; तस्यैव तद्वादिनामभावात् । भावे सिद्धं स्वत एव तस्यार्थबलायातस्य परिकल्पनं तत्र चायं दोषश्चेति सूक्तम्–**'आहुः'** इत्यादि ।

---

१ –चिप्रमृतिभासवदसत्त्वमप्य–ता० । "प्रतिभासवदसत्त्वेप्यदोष."–प्र० वार्तिकाल० । २ प्रतिषु उपलभ्यमानः कोष्ठकान्तर्गतः 'कल्पप्' इति शब्दः ईषदसमाप्तौ कल्पप्प्रत्ययस्य सूचकः । ३ बहिरर्थादिसद्भावः । ४–गात्तदनर्था–भा०, ब०, प० ।

इदमेवानेकान्तवादिनमुपहसतः सौगतस्य प्रत्युपहासं दर्शयन् व्याचष्टे–

चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ॥९४॥ इति

चित्रं नानारूपं तद्ग्राह्यं चित्रपतङ्गादि, **एकम्** अभिन्नम् **इति** एवं **चेत्** यदि मन्यते जैनः **इदम्** अनन्तरोक्तं **ततश्चित्रात्** अतिशयेन चित्रं **चित्रतरं** विस्मयनीयतरम्। तथा हि–यदि नानारूपं नैकं विरोधात्, इत्यसत्येव एकत्वम्, तदभावे च न नानारूपम्, [1]तस्यापि परमाणुरूपस्याबुद्धिगोचरत्वादित्यसमेव तादृशो बहिरर्थ इति भवत्येव तद्वादिनामुपहास इति भावः। परस्य तत्र प्रत्युपहासमाह–

चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्सि चित्रतमं ततः। इति

[2]*चित्रं नानारूपं ग्राह्यं मयूरादि।* कीदृशम्? **इदं** प्रत्यक्षवेद्यं **सर्वं** निरवशेषं **वेत्सि** जानासि। कीदृशम्? **शून्यं** नीरूपम्। **'इदम्'** इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्। इदं परस्य वचनं **ततश्चित्रतरात्** अतिशयेन **चित्रं चित्रतमम्**, अनुपायस्यैव तदभाववेदनस्य प्रतिपादनात्। तत्प्रत्यक्षमेव तत्रोपाय इति चेत्, न, तेन तदस्तित्वस्यैव प्रतिवेदनात्। अत एवोक्तम् 'इदम्' इति।

सत्यम्, तेन[3] तद्भावस्य वेदनम्, तत्तु तदन्तर्गतस्यैवेति चेत्, न, बहिर्भूतस्यैवानुभवात्। भ्रान्तस्तदनुभव इति चेत्, न; सर्वदा तथैव भावात्[4]। न च [5]तादृशस्य विभ्रमः, स्वरूपेऽपि प्रसङ्गात्। तत्र प्रत्यक्षं तत्रोपायः। विरोध इति चेत्, न, तस्याप्यप्रतिपन्नस्यानुपायत्वात्। न प्रत्यक्षात्तत्प्रतिपत्तिः, तेनैकत्वाधिष्ठानस्यैव[6] नानारूपस्योपलम्भात्। न हि [7]तदेकत्वविकलस्य नानारूपस्य तद्विकलस्य चैकत्वस्य प्रत्यक्षभासनम्, तथा कदाचिदप्यसंवित्तेः। तदुक्तम्–

"न पश्यामः क्वचित्किञ्चित्सामान्यं वा स्वलक्षणम्॥"[8] [सिद्धिवि० प० २] इति।

मा भूत्ततस्[9]तत्प्रतिपत्तिर्विचारादेव तदभ्युपगमात्। तथा हि–यदि चित्रपतङ्गादौ नीलपीतादिकमेकं न तर्हि 'नाना' इति कथं चित्रत्वम्? कथञ्चिदेवैकं न सर्वथेति चेत्, तत्रापि येन स्वभावेनैकं येन च नाना तयोर्भेदे, यदेकं तदेकमेव यन्नाना तदपि नानैवेति न चित्रमेकम्, नैकं चित्रमिति कथमनेकान्तवादः? तत्रापि कथञ्चिदेव भेदादयमदोष इति चेत्, न, तत्रापि 'तत्रापि' इत्यादिप्रसङ्गानिवृत्तेरनवस्थोपनिपाताच्च। न चापर्यवसितानामेव भेदाभेदस्वभावानाम् एकत्र परिकल्पनमुपपन्नं प्रतीतिप्रत्यनीकत्वात्। ततो यदि किञ्चित्पर्यवसाने नानारूपमेकं न भवति प्रथममपि न भवेदविशेषात्, इति सिद्धस्तस्य तत्परिहारक्षमो

---

१ तस्यापरं–ता०। २ चित्रमिति ना–आ०, ब०, प०। ३ प्रत्यक्षेण। ४ सर्वदा भवतः। ५ विरोध प्रतिपत्तिः। ६ –धिष्ठा–आ०, ब०, प०। ७ प्रत्यक्षे। ८ "आसन्नतरं तु पश्यामः तयोर्भेदमलक्षणम्" इत्युत्तरार्धम्। ९ प्रत्यक्षात्।

विरोधः, तस्य वहिरर्थाभावप्रतिपत्तावुपायत्वञ्च । तेनैकस्यानेकत्वे अनेकस्य चैकत्वे निषिद्धे परिशिष्टस्याप्रतिवेदनादभावोपपत्तेरिति चेत् ; न; विचारस्याप्रमाणत्वे ततो विरोधस्याप्रतिपत्तेः ।

प्रामाण्यञ्च न प्रत्यक्षत्वेन ; ततो विरोधपरिज्ञानाभावस्य निवेदितत्वात् । अनुमानत्वेनेति चेत् ; तत्र तर्हि विरोधप्रतिबद्धं किञ्चिल्लिङ्गमङ्गीकर्त्तव्यम् अन्यथा अनुमानस्यानुत्पत्तेः । तत्प्रतिबन्धस्य च न प्रत्यक्षात्परिज्ञानम् ; तस्य विरोधाविषयत्वात् । न च विरोधमजानता कस्यचित्प्रतिबन्धः शक्यपरिज्ञानः, तन्निष्ठस्य [1]तस्य सत्येव तत्परिज्ञाने परिज्ञानोपपत्तेः । विचारादेव तस्यापि परिज्ञानं तेन विरोधस्यापि प्रतिपत्तेरिति चेत् ; न ; परस्पराश्रयात्-प्रतिबन्धपरिज्ञानाद्विचारः, ततश्च तत्परिज्ञानमिति । विचारान्तरात्तत्परिज्ञानमिति चेत् ; न ; तेनापि विरोधस्याग्रहणे तदयोगात् । ग्रहणे तु प्रकृतविचारवैयर्थ्यम् । अनुमानत्वे च विचारान्तरस्य तद्धेतोरपि प्रतिबन्धपरिज्ञानमन्यतो विचारादित्यव्य[2]वस्थितो विचारः, स कथं नाम विरोधमुपबृंहयेत् ? "स्वयं पतन्नोद्धरते पतन्तम्" [ ] इति न्यायात् । ततो नानुमानत्वेनापि विचारस्य प्रामाण्यम् । अतो विकल्पमात्रमेवेदमवस्तुसंस्पर्शिदुरागमानुरक्तानां [3]रक्तपटानाम् । न चातः क्वचिद्विरोधस्यान्यस्य वा प्रतिपत्तिः । न चैकानेकस्वभावयोरपरावपि तत्स्वभावौ, अपि तु चित्रपतङ्गे य एव नीलादीनां परस्परमेकस्वभावः स एव तयोरपि तत्स्वभावः, य एव च तेषामन्योन्यं नानास्वभावः स एव तयोरपि तत्स्वभावः, तथैव परिस्फुटज्ञानवपुषि निरुपप्लवतया प्रत्यवभासनात् , तत्कथं तदवलम्बनेनानवस्थापरिकल्पनमुपपन्नम् । तन्न विरोधादप्येकानेकात्मनो वहिर्भावस्याभावपरिज्ञानं तस्यैवाप्रतिपत्तेः ।

नापि वैयधिकरण्यात् ; तस्यापि विरोधासिद्धावसिद्धेः तन्मूलत्वात् । नाप्युभयदोषादपरिज्ञानलक्षणात् ; तत्परि[4]ज्ञानस्य प्रत्यक्षत एव प्रतिपादनात् । नापि साङ्कर्यसंशयाभ्याम् ; कथञ्चिदसाङ्कर्येणैव निःसंशयं तत्प्रतिपत्तेः । अतो निर्बाधप्रतिपत्तिविषयस्याभावमनुपायमाचक्षाणो भवत्येवातीवोपहासविषय इति युक्तमुक्तम्-'**चित्रं शून्यम्**' इत्यादि ।

ततो न यथोक्तं वाह्यमसत् , नापि विभ्रममात्रम् , सकलविकल्पविकलं वा, तत्प्रतिषेधस्याभिहितत्वात् । नापि संवृतिमात्रम् , स्पष्टप्रतीतिविषयस्य तत्त्वानुपपत्तेः । [5]तदेवाह-

तस्मान्नैकान्ततो भ्रान्तिर्नासत्संवृतिरेव वा ॥९४॥ इति ।

सुबोधमेतत् । वाशब्दादनु[6]क्तसमुच्चयः, तेन 'न सकलविकल्पविकलम्' इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् ।

भवतु तर्हि तदेकव्यक्तिसंविन्मात्रमद्वैतमिति चेत् ; तद्यदि चित्रैकरूपम्, "**चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः**" [प्र० वार्तिकाल० २।२१९] इति वचनात् ; तदाऽनुकूलमागतम् , वाह्यस्यापि तद्रूपस्यानिवारणात् । न च वाह्यमपरिज्ञानान्नास्त्येव स्वतस्तस्यापरिज्ञानेऽपि परतः

---

१ सम्बन्धस्य । २ -व्यवस्थाविचारस्य आ०, ब०, प० । ३ बौद्धानाम् । ४ -ज्ञाने तस्य आ०, ब०, प० । ५ तदाह आ०, ब०, प० । ६ -क्तः समुच्चीयते तेन सकल-आ०, ब०, प० ।

परिज्ञानात्। तस्य[1] च स्वपरविषयस्वभावद्वयाधारस्याभ्युपगमात्। 'तत्स्वभावद्वयस्याप्यपरेण तद्द्वयेन तस्याप्यपरेण तेन परिज्ञानमित्यनवस्थानम्' इत्यपि चोद्यं न चित्रैकवादिनः सम्भवति [2]तत्रापि प्रसङ्गात्।

भवतु बाह्यस्य परिज्ञानम्, तथापि कथं चित्रस्यैकत्वम्? कथं ज्ञानस्य? अशक्यविवेचनत्वादिति चेत्, न, बहिरपि तद्भावस्य निवेदितत्वात्। [3]अभिमयोगक्षेमत्वादिति चेत्, किमिदं तत्त्वादिति? सहोत्पत्तिविनाशत्वात्, सहोत्पत्तिसंवेदनत्वाद्वेति चेत्, न, तस्य सन्तानान्तरज्ञानैर्व्यभिचारित्वेनागमकत्वात्। अस्ति हि [4]तेषां तत्त्वं न चैकत्वमिति। [5]तान्येव न सन्ति अपरिज्ञानात् तत्कथं तेषु तत्त्वम्? न हि तेषां प्रत्यक्षतः परिज्ञानम्, शरीरवत्तत्रापि संशयाद्यभावापत्तेः। नाप्यनुमानात्, लिङ्गाभावात्। व्याहारादि लिङ्गमिति चेत्, कुत एतत्? तस्य संवेदनकार्यत्वेनात्मनि प्रतिपत्तेरिति चेत्, तर्हि [6]तस्य संवेदनस्य चैकमेव ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् – अन्यथा 'संवेदनस्य व्याहारादिः कार्यम्, तस्य संवेदनं कारणम्' इति परिज्ञानासम्भवात्। भवत्विति चेत्, न, तस्यापि[7] संवेदनसमयस्य व्याहारादौ तत्समयस्य च संवेदने प्रभुत्त्वाभावात्, 'तत्काले भाविनि भूते[8] वा स्वयमभावात्। अतत्कालेन च तत्प्रतिपत्तौ अतिप्रसङ्गात्। न चोभयकालत्वमेकस्य, क्षणिकत्वात्। भवतु वा [9]तस्य [10]तत्कार्यत्वम्, तथापि न गमकत्वम्, गाढस्वापादौ साम्प्रामाभेऽपि भावात्। अन्य एव स व्याहारादिः, न च तद्व्यभिचारात्तल्लक्षणस्यापि तत्रागमकत्वम्, गोपालघटिकाधूमव्यभिचारात् पर्वतधूमस्यापि पावकं प्रत्यगमकत्वापत्तेरिति चेत्, भवत्येव तथापि कथं तस्य सर्वत्र तत्कार्यत्वम्? क्वचित्तथा दर्शनादिति चेत्, न; तेन तत्रैव[11] तत्प्रतिपत्तिसम्भवात् सर्वत्र तस्य तत्राऽनवृत्तेः। व्याप्तिज्ञानादिति चेत्, कुतस्तस्योत्पत्तिः? क्वचित्तथा दर्शनादिति चेत्, न, [12]शाद्वलस्यापि सर्वत्र [13]गोमयकार्यत्वपरिज्ञानापत्तेः क्वचित्तथादर्शनस्याऽविशेषात्। न चैवम्, [14]अन्यत्रान्यतोऽपि[15] तस्योत्पत्तेः। तद्ध्यानवतः सर्वज्ञत्वापत्तेश्च। तस्मादप्रतिपन्नव्याप्तिकत्वान्न व्याहारादेस्तेषामनुमानम्, इत्यनुपलम्भात् न सन्त्येव सन्तानान्तरज्ञानानीति न तैरभियोगक्षेमत्वस्य व्यभिचार इति चेत्, कोऽयमनुपलम्भो नाम? उपलम्भनिवृत्तिमात्रमिति चेत्, न, ततो गगनकुसुमादिव कस्यचिदप्यप्रतिपत्तेः। अन्योपलम्भ इति चेत्, तेनापि कथं भवेत्प्रतिपत्तिः? तद्विविक्ततया तद्विषयस्योपलम्भादिति चेत्, अस्तु तर्हि तत्रैव तदभावो न सर्वत्र, अन्यथा प्रत्यक्षादेव स्वर्गादिविधिविषयभूतअविधिविषयात् सर्वत्र

१ अभवत्। २ चित्रज्ञानेऽपि। ३ "योगः अप्राप्तस्य विषयस्य परिच्छेदरूपेण प्राप्तिः, क्षेमः तदर्थक्रिया द्यन्नकर्षणं परिपालनम्।"–हेतुबि० टी० पृ० ६६। "अलब्धधर्मोऽनुवृत्तिः योगः, लब्धधर्मोऽनुवृत्तिः क्षेमः।"–म० भा० स्व० । ४ सन्तानान्तरज्ञानानाम्। ५ सन्तानान्तरज्ञानानि। ६ व्याहारादेः। ७ ज्ञानस्यापि। ८ व्याहारादिकाले भाविनि। ९ संवेदनकाले भूते। १० व्याहारादेः। ११ संवेदनकार्यत्वम्। १२ यत्र दृश्यते तत्रैव। १३ इन्दीवरकन्दस्यापि। १४ "पद्मात्समरसं शशाङ्क वदर्भैरिन्दीवरं गोमयात् अपग्रन्थिनिरोदकशादपि भविष्योपितलो ऐषमाः। इति पुरातनवचनम्"–ता० टि०। १५ तत्कारणात्। १६ पद्मादपि।

स्वर्गाद्यभावप्रतिपत्तेः चार्वाकस्यापि किं तत्र प्रमाणान्तरपरिकल्पनया ? यत इदं शोभेत–

"प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥"[1] [ ] इति ।

कथं वा क्वचिदपि तेषामदृश्यानां तस्मादभावप्रतिपत्तिः ? 'दृश्यानुपलम्भस्यैव[2] गमकत्वम्' इति स्वमतव्याघातात् । इदमपि भेदवादिन एव मतं नाद्वैतवादिनः तेनानुपलम्भमात्रादभावप्रतिपत्तेरभ्युपगमादिति चेत् ; न ; एवं नीलेनान्याकारस्य तेन नीलस्यानुपलम्भात्, अभावप्रतिपत्तावभिन्नयोगक्षेमत्वस्याश्रयासिद्धिप्रसङ्गात् । नीलेतरयोरन्योन्यमनुपलम्भेऽपि स्वयमुपलम्भान्नाभाव इति चेत् ; न ; सन्तानान्तरेष्वपि स्वयमुलम्भस्य भावात् । सोऽपि परेणानुपलभ्यमानो नास्त्येवेति चेत् ; न ; नीलेतरयोरपि स्वयमुपलम्भस्य परस्परानुपलम्भेनाभावापत्तेः । तन्नानुपलम्भमात्रादपि तदभावज्ञानम् ।

कथं वा तन्मात्रात्तदभावज्ञानज्ञानम्[3] ? कथं च न स्यात् ? तन्मात्रज्ञानेन तदभावज्ञानस्य तज्ज्ञानेन च तन्मात्रस्याप्रतिपत्तेः, तत्काले तस्याभावात्, उभयसमयव्यापिनश्च ज्ञानस्यानभ्युपगमात् । उभयोश्च कुतश्चिदपरिज्ञाने तद्धेतुफलभावस्याशक्यपरिज्ञानत्वात् । सत्यम् ; न वस्तुतोऽनुपलम्भस्य तज्ज्ञानहेतुत्वम् "अशक्तं सर्वम्" [प्र० वा० २।४] इति वचनात्, संवृत्या तु तदभ्युपगम्यते "संवृत्यास्तु यथा तथा" [प्र० वा० २।४] इति वचनादिति चेत् ; न ; व्याहारादेरपि तयैव[4] सन्तानान्तरपरिज्ञानहेतुत्वापत्तेः । संवृतिबलेन तत्परिज्ञानमपरिज्ञानमेवेति चेत् ; न ; तेन[5] तन्निषेधस्याप्यनिषेधत्वप्रसङ्गात् ।

अपि च, केयं संवृतिर्नाम ? तत्र हेतुफलभावमध्यारोपयन् कश्चिन्मिथ्याविकल्प इति चेत् ; न ; तस्यापि हेतुसमसमयस्य तत्फले तत्फलसमसमयस्य च हेतौ अप्रवृत्तेः, उभयसमसमयस्य च तस्यानभ्युपगमात्, कथं ततोऽप्यनुपलम्भस्य तद्धेतुत्वम् ? सत्यम् ; न तस्याप्युभयविषयत्वं वस्तुतः संवृत्यन्तरेणैव परिकल्पनादिति चेत् ; न ; तेनापि हेतुतत्फलयोरपरिज्ञाने विकल्पतद्विषयत्वस्याशक्यारोपणत्वात् । तस्यापि तदन्तरेण तद्विषयत्वपरिकल्पनान्न दोष इति चेत् ; न ; तत्रापि 'तेनापि' इत्याद्यनुबन्धादावृत्तिमतोऽनवस्थादोषस्यापत्तेः । विचाराधिष्ठिता न सम्भवत्येव संवृतिः[6], लोकबुद्ध्यैव केवलमभ्युपगम्यत इति चेत् ; न सम्यगेतत् ; लोकस्यैव सन्तानान्तरस्वभावस्याभावात् । तदयं लोकमेवानभ्युपगच्छन् तद्बुद्ध्या संवृतिमङ्गीकरोतीति कथमनुन्मत्तप्रज्ञः ?

भवतु वा संवृतिः, तथापि तया तदभावज्ञानस्य किमारोपयितव्यम् ? अनुपलम्भ-

---

१ "तदुक्तं धर्मकीर्तिना–प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः । प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥" प्र० परी० पृ० ६४ । प्रश० कन्द० पृ० २५५ । प्रमाणमी० पृ० ८ । २ "प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः–यथोक्ताया दृश्यानुपलब्धिस्तत एव ।"–न्यायवि०, टी० पृ० ४३ । प्रमाणवा० स्ववृ० १।५ । प्रमाणवार्तिकाल० ४।२६२ । ३ –दभावज्ञानं क–आ०, ब०, प० । "अनुपलम्भमात्रात् सन्तानान्तराभावज्ञानमभूदिति ज्ञानम्"–ता० टि० । ४ संवृत्यैव । । ५ संवृतिबलेन । ६ "सत्याभासः परन्तत्र न तत्त्वं परमार्थतः । विचार्यमाणशून्यत्वे संवृतिः सेति गीयते ॥"–प्र०वार्तिकाल० पृ०४८ ।

कार्यत्वमिति चेत्, न, असति तस्मिन् तदारोपणे तस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। सत्येवेति चेत्, तदापि किं तस्य प्रयोजनम्? तदभावप्रतिपत्तिरिति चेत्, न, तस्यास्तत्सत्तामात्रेणैव भावात् तदभेदात्। तत्र नित्यत्वस्य निषेधः, तस्य निर्हेतुकत्वे अवश्यं तत्प्रसङ्गादिति चेत्, न सम्यगेतदपि, यस्मात्–

नित्यत्वं तत्स्वभावत्वेन कुतश्चिन्निषिध्यते ।
तदेव तन्निषेधे हि निषिद्धं स्यादभेदतः ॥९५४॥
तदयं लाभमन्विच्छोर्मूलच्छेदस्तवागतः ।
नित्यत्वहानिकामस्य स्थाने तद्धान्युपस्थितेः ॥९५५॥
तद्रूपं चेदनित्यत्वं नित्यस्य दैवतो गतम् ।
तन्निषेधाय तत्कार्यं संस्कार्यस्याधिरोपणम् ॥९५६॥
आरोपितञ्च नित्यत्वं तत्र नास्त्येव निश्चयात् ।
निश्चयात्मानुमानञ्च प्रसिद्धं बौद्धशासने ॥९५७॥
स्वरूपे निश्चयस्तस्य नास्तीत्यपि न युक्तिमत् ।
विना तेनार्थनिर्णीतिर्नेति पूर्वं निरूपणात् ॥९५८॥
तदयुक्तस्तदारोपो वैफल्यात्संवृतेरयम् ।
दोषो न सौगतस्यास्ति तद्व्याख्यानानुवादिनः ॥९५९॥
न चासौ संवृतिः शक्या निषेद्धुं हेतुसम्भवात् ।
तत्सम्भवोऽपि तद्धेतोस्तदनादिक्रमागतात् ॥९६०॥
इति चेद् कथमेवेदं कार्यकारणतास्थितौ ।
सा तु नास्ति तवाशक्तं सर्वमित्यभिधायिनः ॥९६१॥
संवृतीनां प्रवाहेऽपि संवृत्या यदि तत्स्थितिः ।
कथमेवमतत्स्थानं यतस्तन्निर्णयो भवेत् ॥९६२॥
तस्मादयुक्तमेवेदं कीर्तितं धर्मकीर्तिना ।
"निष्पत्तेरपराधीनमपि कार्यं स्वहेतुना ॥९६३॥
सम्बध्यते कल्पनया किमकार्यं कथञ्चन ॥ [प्र० वा० ३।२६]
इति कल्पनया तत्सम्बन्धस्यैवमसम्भवात् ॥९६४॥

अथ तु स्वरूपमेव तस्य तथाऽऽरोप्यमिति चेत्, न, अनुपलम्भस्य वैफल्यापत्तेः। संवृतित एव तत्स्वरूपस्य भावात्। भवत्विति चेत्, न, अनुपलम्भवादिनोऽस्थापनाङ्गवादित्वेन निग्रहोपनिपा-

१ तत्प्रामाण्यान्तराभावे। २ तत्प्रामाण्यान्तराभावप्रतिपत्तिः। ३ तन्मानान्तराभावसत्तामात्रेणैव। ४ तदभावज्ञाने। ५ तदभावज्ञानस्य। ६ तदभावज्ञानमेव। ७ धर्मे. आ०, ब०, प०। ८ अनुपलम्भमपूर्वसमधिरोपणम्। ९ स्वरूपनिश्चयेन। १० प्र० वा० २।४। ११ संवृत्यापि इत्यत्र स्थितिः आ०, ब०, प०। १२ संवृत्या। १३ -स्वा स्वा- आ०, ब०, प०।

त्तात् । कथं वा ततस्तत्त्वतः सन्तानान्तराभावस्य परिज्ञानम् ? आरोपितस्वरूपस्य तात्त्विकप्रयोजननिबन्धनत्वानुपपत्तेः तोयादिवत् । तदप्यतात्त्विकमेवेति चेत्; न तर्हि तत्त्वतस्तदभाव इति कथन्न [1]तैरभिन्नयोगक्षेमत्वस्य व्यभिचारः ? नायं दोषः; [2]तेषामप्येकत्वेन पक्षीकरणादिति चेत्; न; व्यभिचारविषयस्य तदयोगात्, अन्यथा न किञ्चित्तत्पुत्रत्वादिकमपि व्यभिचारि भवेत्, तत्रापि व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणात् । को वा विरोधो यन्नानात्व एव [3]तेषामभिन्नयोगक्षेमत्वं न भवेत्, अदृश्यात्मना तेन साक्षाद्विरोधद्वयस्यापि[4] सर्वज्ञत्वेन वचनादेरिवासिद्धेः ? नानात्वविरुद्धेनैकत्वेन तस्य[5] व्याप्तत्वात् पारम्पर्येण [6]तेनापि विरोध इति चेत्; क्व पुनरेकत्वेन तद्व्याप्तिः प्रतिपन्ना ? प्रकृत एव चित्रज्ञान इति चेत्; तत्र यद्येकत्वप्रतिपत्तिरन्यतः, व्यर्थमभिन्नयोगक्षेमत्वम्, तस्यापि तदर्थत्वात्[7] तस्याश्चान्यत एव भावात् । अत एव तत्प्रतिपत्तौ परस्पराश्रयः—निश्चिते नानात्वविरोधे ततस्तत्प्रतिपत्तौ[8] तेन तद्व्याप्तिनिश्चयः, ततश्च[9] तद्विरोधनिश्चय इति । तन्नाभिन्नयोगक्षेमत्वं हेतुः, संशयितविपक्षव्यतिरेकत्वात्, तदपि नानात्वेन साक्षात्परम्परया च [10]विरोधासिद्धेः व्यभिचारनिश्चयाद्वा, निश्चितो ह्यत्र व्यभिचारः सन्तानान्तरज्ञानेषु व्याहारादिभेदाद् भिन्नतयैव प्रतिपन्नेषु हेतुभावात् ।

यत्पुनरत्रोक्तम्—'तद्भेदस्य साकल्येन व्याप्तिपरिज्ञाने तत्परिज्ञानवतः सर्वज्ञत्वम्, देशतस्तत्परिज्ञाने न गमकत्वं व्यभिचारसम्भवात्' इति; तदपि न युक्तम्; अभिन्नयोगक्षेमत्वेऽपि तथा प्रसङ्गात् । नायं दोषः, तत्र पक्ष एव व्याप्तिग्रहणादिति चेत्; न; व्याहारादिभेदस्यापि [11]तत्रैव तद्ग्रहणात् गमकत्वोपपत्तेः व्यभिचारदोषस्य परिहरणात् । तन्नाभिन्नयोगक्षेमत्वादेकत्वं संवेदनाकाराणाम् ।

यत्पुनः—अभेदप्रतिभासादेव निर्बाधात् तथा[12] चेत्; अर्थावयवानामप्येकत्वं तदविशेषात् । प्रतिपादितञ्चैतत्—'**एतत्समानमन्यत्र**' इति । तदेव विस्मरणशीलानामनुग्रहार्थमावेदयन्नाह—

अतश्चार्थबलायातमनेकात्मप्रशंसनम् । इति ।

अत्र **च** शब्दो भावनायाम् । **अतः** अस्मात् एकान्तविभ्रमादेर्यदन्यत् **'अन्यत्र'** इत्यनुवर्त्तमानस्य विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धात् । किं तद् ? **अनेकात्मप्रशंसनम्**, अनेकात्मनः अनेकस्वभावस्य ज्ञानस्यैव नार्थस्यानभ्युपगमात्, प्रशंसनं प्रतीतिबलेन स्तवनम् । तत्किम् ? अर्थस्य बाह्यस्य घटादेर्बलं स्वरूपादप्रच्यवनं तस्मै तदर्थम् आयातम् आगतम् **अर्थबलायातम्** । तथा हि—

चित्रमेकं यथा ज्ञानं प्रतीतिबलतो मतम् ।
मन्यतां तद्वदर्थोऽपि तत एवानुपप्लवात् ॥९६५॥

---

१ सन्तानान्तरज्ञानैः । २ सन्तानाज्ञानानामपि । ३ सन्तानान्तरज्ञानानाम् । ४ सहानवस्थापरस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधद्वयस्यापि । ५ अभिन्नयोगक्षेमत्वस्य । ६ नानात्वेनापि । ७ एकत्वप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । ८ एकत्वप्रतिपत्तौ । ९ एकत्वव्याप्तत्वात् । १० विरोधसिद्धेः आ०, ब०, प० । ११ पक्ष एव व्याप्तिग्रहणात् । १२ एकत्वं संवेदनाकाराणाम् ।

न चैकमेकरागादावित्यादिरपि[1] चोद्यवत् ।
एकानेकस्वभावेऽर्थे विरुद्धाय न कल्पते ॥९६६॥
कल्पते यत्र यौगोक्ते सोऽस्माभिरपि नेष्यते ।
न दूषयन्नतोऽस्माकं प्रतिहस्तायते भवान् ॥९६७॥
चित्रैकज्ञानवत्तत्र संशयादावपि दूषणम् ।
प्रवर्तते न निर्बाधनिर्णयाक्षेपभूषिते ॥९६८॥
अद्वैतवेदनं तस्मादेकानेकात्मकं भुवन् ।
न प्रभुर्बहिरर्थस्य तादृश प्रतिपीडने ॥९६९॥

भवतु तर्हि तदेकमेव न चित्रम्,

"[3]किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि ।
यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥" [प्र०वा०२।२१०]

इति वचनादिति चेत्, न, तादृशस्य कदाचिदपि तस्यानानुभवात् । अननुभाव्यमपि लिङ्गा दवगम्यत इति चेत्, न; तदप्रतिवेदने तत्कार्यस्वभावतया कस्यचिदपि परिज्ञानायोगात्, अतत्कार्यस्वभावस्य लिङ्गत्वानभ्युपगमात् । सुगतवचनाभिधानाद्वदवगम्यत इति चेत्, न, अद्वैतवादे सुगतस्यैवाभावात् । भाष्येऽप्युत्तरमाह–

न ज्ञायते न जानाति न च किञ्चन भाषते ॥९५॥
बुद्ध[2] शुद्धः प्रवक्तेति तत्किलैषां सुभाषितम् । इति ।

बुद्धः सुगतो न ज्ञायते न विनेयैः प्रतीयते तस्य बुद्धिरूपतयाऽनन्यवेद्यत्वात् "तस्या नानुभवोऽपरः" [प्र० वा० २।३२७] इति वचनात् । अपरानुभवभावे वा तद्गतोऽपि सर्वदर्शित्वं सकलविषयाकारगर्भस्य तेन परिज्ञानात् । तस्याप्यपरानुभवभावे तद्गतोऽपि सर्वदर्शित्वम् । तथाप्येवमिति सर्वस्यापि बुद्धमनुभवतो विनेयवर्गस्य तदनुभवाधिष्ठानस्यापि सर्वदर्शित्वान्न किञ्चिद् बुद्धेन ? बुद्धवदेव तस्यापि स्वत एव [4]तत्त्वपरिज्ञानात् । तत्र तस्यापरस्मादनुभवात्परिज्ञानम् । अनुमानादिति चेत्, न, ततोऽपि तस्य स्वरूपप्रतिवेदने पूर्ववद्दोषात्, अन्यथा [5]तद्वैयर्थ्यात् । समारोपव्यवच्छेदार्थं तद्वैयर्थ्यमिति चेत्, किं तद्व्यवच्छेदेन ?

1 न्यायवि० श्लो० ९१ । 2 –बाधोऽद्बुद्धो आ०, ब०, प० । 3 "ननु यदि सा चित्रता बुद्धावेकस्यां स्यात् तथा च चित्रदर्शनं दृष्टं भवदमध्येषु तदा किं दूषणं स्यात् ? आह–न स्यात्तस्यां मतावपि । न केवलं बाह्ये तस्यां मतावप्येकस्यां न स्याच्चित्रता । आकारनानात्वस्याभावाद्भेदस्य । मायायामपि चित्रता कथम् ? अनेकपुरुषप्रतिभासिरूप् । कथं तर्हि प्रतीतिरित्याह–यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् । यदीदम् वस्तुधर्मोऽपि तद्रूपतयावनयानां भासमानानां नीलादीनां स्वयमपरप्रेरणया रोचते तत्र तथाप्रतिभासे के वयमवधारणाय अपि निषेद्धुम् ? परन्तु न प्रतिभासो वैनि वस्तुमात्रीयम् ।"–प्र० वा० म० वृत्ति० २।२१० । 4 तत्त्वादि–आ०, ब०, प० । 5 अनुमानवैयर्थ्यात् ।

सत्यपि तस्मिन् तत्स्वरूपस्याप्रतिवेदनात्। प्रतिवेदने तु सिद्धं तद्वतोऽपि सर्वदर्शित्वं सकलार्थाकारप्रतिबद्धस्य बुद्धस्वरूपस्य तेन प्रत्यवलोकनात्। तदुक्तम्–

"समारोपव्यवच्छेदात्तत्त्वसिद्धिमनिच्छताम्।
अनुमानमनर्थं स्यादन्यथा सकलग्रहः॥" [ ] इति।

ततश्च तदवस्थं पूर्ववद्बुद्धवैयर्थ्यम्, ततो न कुतश्चिदपि तस्य परिज्ञानमित्युपपन्नमिदं **'बुद्धो न ज्ञायते'** इति।

तदनेन सुगतसन्निधानात्तत्त्वज्ञानमिति प्रत्युक्तम्; सुगतस्यापरिज्ञाने तत्सन्निधानस्यापि दुष्परिज्ञानत्वात्। अपरिज्ञातमेव तत्[2] तत्परिज्ञा[3]नस्य निबन्धनम् चक्षुरादिवद्रूपादिपरिज्ञानस्येति चेत्; भवेदेवं यदि रूपादिज्ञानवत् निरंशवेदनविषयं [4]किञ्चिद्विज्ञानं विप्रतिपत्तिमलोपलेपविकलेन प्रज्ञाप्रकाशेनोपदर्शितं भवेत्। न चैवम्, सर्वदा ग्राह्यादिभेदमलाधिष्ठानस्यैव तस्य परिज्ञानावलोकनात्। प्रतिपादितं चैतत् [5]प्राक्–**'प्रतिसंहारवेलायां न संवेदनमन्यथा'** इति। तदनेन तत्त्वज्ञानात्तत्सन्निधानपरिज्ञानं प्रत्युक्तम्; उक्तनीत्या तत्त्वज्ञानस्यैवाप्रतिपत्तेः। तन्न तत्सन्निधानात्तदवगतिः।

तद्वचनाद् **"अद्वयं यानमुत्तमम्"** [ ] इत्यादेस्तदवगतिरित्यप्ययुक्तम्; [6]तदपरिज्ञाने तद्वचनस्याप्यशक्यपरिज्ञानत्वात्। कथं वा तस्यैव वचनं प्रमाणं न रथ्यापुरुषादेरपि? तस्यैव परिशुद्धज्ञानत्वादिति चेत्; न; स्वरूपापेक्षया रथ्यापुरुषादेरपि तत्त्वात्। न सकलविषयापेक्षयेति चेत्; न; बुद्धेऽपि तदभावात्। न हि तस्यापि सर्वत्र परिशुद्धज्ञानं समकालभाविन्यभावात्, [7]तस्याकारणत्वेन तदविषयत्वात्। तदपि कारणमेव अविनाभावादिति चेत्; न; तस्यापि विषयत्वे **"नान्तोऽर्थः स्वधिया सह"** [प्र०वा०२।२४६] इत्यस्य विरोधात्। भवदपि तस्य सर्वार्थज्ञानं निराकारं चेत्; न [8]तस्यैकस्वभावस्य देशकालस्वभावभिन्नानेकवस्तुविषयत्वम् एकस्वभावज्ञानविषयत्वेन सर्वस्याप्येकत्वापत्तेः, अन्यथैकस्वभावहेतुकत्वेऽपि कार्याभेदप्रसङ्गाभावात् न नित्ये नानाकार्यविरोधः स्यात्। अनेकस्वभावमेव भवतु तदिति चेत्; कथं तदेकम्, प्रतिस्वभावं विरुद्धधर्माध्यासेन भेदोपनिपातात्? अन्यथा क्रमेणापि तदेकमेवानेकस्वभावं प्राप्नुयात्। शक्यविवेचनत्वान्नेति चेत्; किमिदं विवेचनं यच्छक्यमुच्यते? कालकृतस्तत्स्वभावानां क्रम इति चेत्; न; [9]युगपदपि देशकृतस्य [10]तस्य भावात्। ततो[11] नात्यन्ताय भेदः, तेषामभेदस्यापि प्रतिभासनादिति चेत्; न; कालभिन्नानामप्यभेदानुगमस्यावलोकनात्। मिथ्यैव तेषां [12]तदनुगमो विकल्पोपनीतत्वादित्यपि नोत्तरम्; देशभिन्नानां [13]तदनुगमस्यापि [विकल्पोपनीतत्वात्, स्पष्टप्रत्ययविषयत्वान्नेति

---

१ –ज्ञातत्वा–आ०,ब०। २ सुगतसन्निधानम्। ३ –ज्ञाननिब–आ०, ब०, प०। ४ किञ्चिज्ज्ञानं आ०, ब०,प०। ५ पृ०३१७ पं०२२। ६ सुगतापरिज्ञाने। ७ समकालभाविनोऽर्थस्य। ८ सुगतज्ञानस्य। ९ क्रमयुगप– आ०, ब०, प०। १० क्रमस्य। ११ देशकृतक्रमात्। १२ अभेदानुगमः। १३ अभेदानुगमस्यापि।

चेत् , अस्ति कालभिन्नानामपि] स्पष्टप्रत्ययविषयत्वम् । निरूपयिष्यते च तत् । अनेन एकान्तभेदप्रतिवेदन विवेचनमिति प्रत्युक्तम् , प्रत्यक्षतस्तदभावात् । अनुमानस्य च तत्पूर्वकतया तत्राप्रवृत्तेः । नापि सन्तानान्तरं प्रति नयनं विवेचनम् , तस्याप्रतीतेः अनभ्युपगमाच्च । नाप्यन्यवेद्यत्वम् , युगपद्भाविनामिव क्रमभुवामपि तेषां परेण प्रत्यक्षेणाग्रहणात् । अनुमानेन ग्रहणस्य चोभयत्राविशेषात् । ततो भवत्येव क्रमवतामपि तेषामभेदः , तद्भेदस्याभेदप्रत्यनीकत्वाभावत्वात् । तदुक्तम्–

"अन्तर्बहिर्मुखाभासादि संविद् न भिनत्ति चेत् ।
[3]अक्रमं न क्रमाधीनं भिन्द्यादेव सुखादिकम् ॥" [सिद्धिवि०प्र०परि०] इति ।

न चेदमुचितं भवताम् , सुखस्यैकान्ततः प्रतिसमयभङ्गुरत्वेन तदात्मत्वानुपपत्तेः । तच्च तज्ज्ञानस्य क्रमवदक्रमेणाप्यनेकस्वभावत्वमिति न तेन तस्याशेषपर्यवेदित्वं निराकारेण ।

नापि साकारेण , तस्याप्याकारार्पकमात्रविषयत्वेनान्यत्राप्रवृत्तेः । सर्वमपि तत्राकारार्पकमेवेति चेत् , उच्यते–पूर्वापरसमयभाविनो भावा नीलादिरूपमिव कालक्रममप्यात्मनो यदि न तत्र समर्पयन्ति कथं तस्य तद्विषयत्वं यतस्तेनाशेषज्ञत्वं सुगतस्य ? कथं वा क्वचिदुपायोपेयभावस्य परिज्ञानम् ? तस्य कालक्रमाक्रान्तत्वेन तदनवबोधे दुरवबोधत्वात् । यौगपद्याक्रान्तत्वे तु तद्भाव एव न भवेत् कस्यचिदनिष्पन्नस्यानुपायत्वात् , निष्पन्नस्यापि पुनरनुपयोगात् , स्वनिष्पत्तिसमय एवोपेयस्यापि निष्पत्तेः । अव्यभिचारादुपायत्वं न निष्पादकत्वादिति चेत् , कुतस्तर्हि तन्निष्पत्तिः ? न कुतश्चिदिति चेत् , न , नित्यसत्त्वादिप्रसङ्गात् । अन्यत इति चेत् , न, तस्यैवोपायत्वापत्तेः , न प्रकृतस्य । भवत्विति चेत् , न, तस्याप्युपेयसमसमयत्वे पूर्ववद्दोषात् । पुनरन्यतस्तन्निष्पत्तिकल्पनायाम् अनवस्थानात् । तद्भिन्नसमयत्वे तु सिद्धः कालक्रमाक्रान्तत्वसद्भावः । स च न सुगतज्ञानस्य विषयः, अनर्पिताकारत्वादिति कथं तस्य प्रामाण्यम् ? यत इदं सूक्तं भवेत्–

"हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥" [प्र० वा० १।३४] इति ।

[11]तमपि ते तत्र समर्पयन्ति पूर्वापरभावेनैव तदर्पिताकाराणां सुगतवेदने [12]व्यवस्थानादिति चेत् , उच्यते–

प्रत्याकारं यदि ज्ञानं तत्रैकान्तेन भिद्यते ।
प्रत्यर्थनियतत्वेन कथं सर्वार्थविद्भवेत् ॥९७०॥

---

१ प्रत्यक्षपूर्वकतया । २ क्रमभावेऽपि प० । क्रमभाव्यपि आ०, ब० । ३ अक्रमं तैः क्रमाधीनां आ०,ब०, प० । ४ सुखमाये । ५ भावावभिमरि–आ०, ब०, प० । ६ तज्ज्ञानमस्य आ०, ब०, प० । ७ उपायोपेयभाव । ८ एवोपाय–आ०,ब०,प० । ९ नित्यं सत्त्वा–आ०,ब०,प० । "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।"–प्र० वा० ३।३४ । १० –त्वानं तद्भि–आ०,ब०,प० । ११ असमर्पयति भावाः । १२ व्यवस्थापना–आ०,ब०,प० ।

तदाकारक्रमस्यापि परेण प्रतिवेदनम् ।
तदाकारेण तत्रापि तत्क्रमस्यान्यतो गतौ ॥१७१॥
अनवस्थानदोषः स्यात्तन्नैकान्तेन तद्विदा ।
प्रत्याकारं कथञ्चिच्चेदनेकान्तः प्रशस्यताम् ॥१७२॥
आत्मानमेव जानानः क्रमा[1]ऽनेकान्तगोचरम् ।
बुद्धः कथं ततो ब्रूयादेकान्तक्षणिकं जगत् ॥१७३॥
तदन्वयस्य मिथ्यात्वे मिथ्यैव स्यात्तथागतः ।
मिथ्या च सर्ववेदी च प्रमाणञ्चेति साहसम् ॥१७४॥
तत्र कालकलाज्ञानं तस्य स्याद्वादविद्विषः ।
सोपायोपेयविज्ञानं नास्ति तस्य तदत्यये ॥१७५॥

तदाह—**न जानाति** न वेत्ति **बुद्धः**। किम् ? **किञ्चन** उ[2]पेयादि इति तत्त्वम् । भवतु तस्याज्ञेयत्वं तत्त्वापरिज्ञानञ्च तथापि शुद्ध इति चेत् ; आह—**शुद्धः** निर्मलः। कः ? **बुद्धः** । **इति** एवम् , **तत्** क्रमायातवचनम् , केषाम् ? **एषां** बौद्धानाम् । **'किल'** इत्यरुचिद्योतने । **सुभाषितम्** अरुचिद्योतनाद् दुर्भाषितमिति यावत् । तथा हि—अपरिज्ञाते तस्मिन् कथं त[3]च्छुद्धेः परिज्ञानम् ? कथं वा तत्त्वापरिज्ञानमलप्रक्षालितस्य शुद्धेः सम्भवोऽपि यतस्तद्वचनमे[4]तेषां सुभाषितं भवेत् ?

भवतु वा परिशुद्धो बुद्धस्तथापि कथं तस्य वचनम् ? कथञ्च न स्यात् ? कारणाभावात्। तस्य[5] हि कारणं विकल्पः, "विकल्पयोनयः शब्दाः" [ ] इत्यभिधानात्[6]। न चासौ[7] बुद्धस्य[8]; विधूतकल्पनाजालत्वात् । तदभावेऽपि[9] तत्कृतात्संस्काराद्वचनमिति चेत्[10]; न; तस्यापि विकल्पत्वे तत्रासम्भवात् । अविकल्पत्वे तदुभयस्वभावविकलत्वे च [11]ततो वचनस्यानुत्पत्तेः, अन्यथा विकल्पयोनित्वनियमव्याघातात्। विकल्पादेव चिरापक्रान्तात्तस्य[12] वचनमिति चेत्, न; तस्य[13] हेतुत्वे सन्तानान्तरासिद्धेः । [14]व्याहारादेस्तत्सिद्धिरिति चेत् ; न; तस्यापि चिरापक्रान्तबुद्धिप्रभवत्वशङ्कायां ततस्तत्परिज्ञानायोगात् । तथा च न चार्वाकस्येव बौद्धस्यापि [15]परार्थं शास्त्रप्रणयनम् । बुद्धिरनुसन्धानवत्येव व्याहारादिकं जनयति आत्मनि तथैव दर्शनान्न चिरापक्रान्तेति चेत् ; विकल्पोऽपि तथाविध एव वचनमुत्पादयति, अस्मदादौ तथा दर्शनान्न चिरापक्रान्त इति किन्नेष्यते ? स्वापादौ विकल्पविकलस्यापि वचनस्योपलम्भादिति चेत् ; न; तदा[16]

1 क्रमेणैका– आ०, ब०, प० । 2 उपायादिकत्वं आ०, ब०, प० । 3 तच्छुद्धिप–आ०, ब०, प० । 4 –नमेषां–आ०, ब०, प० । 5 वचनस्य । 6 "विकल्पाः शब्दयोनयः । तेषामन्योन्यसम्बन्धो नार्थान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥" इति शेषांशः । द्रष्टव्यम्–न्यायकुमु० पृ० ५३७ टि० ७ । 7 विकल्पः । 8 शुद्धस्य–आ०, ब०, प० । 9 विकल्पाभावेऽपि । 10 चेत् त–आ०, ब०, प० । 11 संस्कारात् । 12 बुद्धस्य । 13 चिरापक्रान्तस्य । 14 व्याहारादेस्तदिति आ०, ब०, प० । 15 परार्थशा–आ०, ब०, प० । 16 स्वापादौ ।

बुद्धिविकल्पस्यापि व्यापारादेः प्रतिपत्तेः । ततश्चिरापगमन्वादिज्ञानाव्यापारादिवत्[1] न विकल्पादपि वचनमिति न कुतश्चिदपि बुद्धस्य वचनम् । तदाह–न च नैव किञ्चन किमपि उपायोपेयतत्त्व भाषते कथयति बुद्ध इति । यद्यपि नाम स्वमुखेन न च किञ्चन भाषते बुद्धस्तथापि प्रवक्त्रैव [2]कुड्यादिभ्योऽपि तत्प्रभावोपजनितस्य तत्त्वोपदेशस्य तद्वचनत्वादिति चेत्, कथं तेषामप्यविकल्पत्वे वचनम् ? विकल्पयोनित्वनियमव्याघातात् । अस्मदादिवचनस्यैव तन्नियमो न बुद्धवचनस्येति चेत्, किमिदानीं कुड्यादिभ्यस्तत्कल्पनया बुद्धादेव तदुपपत्तेः ? तथा च दुर्व्याहृतमेतत्–

"ये कल्पयन्ति कवयः सुगतस्य वाच-
स्ते कल्पनामपि मुनेः परिकल्पयन्ति ।" [ ] इति,

वाचां कल्पनाव्याप्तिवैकल्यात् ।

भवतु विकल्पत्वमेव कुड्यादीनामिति चेत्, किमिदानीं [3]तत्र बुद्धप्रभावेन ? स्वयं [4]विकल्पत्वादेव तेषां वचनोपपत्तेः । [5]तद्विकल्पत्वं तत्प्रभावादिति चेत्, न, [6]तस्य तदुपादानत्वे [7]तेषां बुद्धैकसन्तानत्वेन बुद्धस्यैव विकल्पकत्वप्रसङ्गात् । तत्सहकारित्वे तु तत्र किमुपादानम् ? कुड्यादिकमेवेति चेत्, न, तस्याचेतनत्वे [8]तत्त्वायोगात् शरीरवत् प्रागपि विकल्पत्वेन चेतनमेव [9]तदिति चेत्, न, तथाप्रतीत्यभावात् । विकल्पाच्च विकल्पे किं वा तत्सहकारित्वेनास्मदादिविकल्पवत् । [11]तत्त्वविपर्यस्तं तस्य[12] तत[13] इति चेत्, न तर्हि तत्प्रमाणम् । प्रमाणञ्च न प्रत्यक्षम्, विकल्पत्वात् । नानुमानम्, अलिङ्गजत्वादित्यन्यदेव प्रमाणमनिष्टं भवेत् । कथं वा कुड्यादिविकल्पवद्विनेयविकल्पस्यैव [14]तत्तत्त्वविषयस्य न भवेत् ? एवं हि पारम्पर्यं परिक्लृप्तं भवति–'कुड्यादिविकल्पस्य तत्तत्त्वविषयत्वम्, ततो वचनम्, ततश्च विनेयानां तत्त्वज्ञानम्' इति । एवम्भूतस्तस्य[15] प्रभाव एव नास्तीति चेत्, कथं चिन्तामणिकल्पत्वम् ? यत इदं सुभाषितम्–

"चिन्तारत्नोपमानो जगति विजयते विश्वरूपोऽप्यरूपः ॥" [ ] इति,

विचित्रप्रकारप्रदानसमर्थप्रभावे सत्येव चिन्तारत्नोपमत्वोपपत्तेः । ततो न कुड्यादिभ्योऽपि तत्प्रभावात्तत्त्ववचनमिति न ततोऽपि तस्य वक्तृत्वम् । ततस्तज्ज्ञापनं परस्य दुर्भाषणमेव । तदाह 'प्रवक्ता' इत्यादि । व्याख्यातमेतत् ।

---

१ –वर्णिविक–आ०, ब०, प० । २ "सम्भारावेधतस्तस्य पुंसश्चिन्तामणेरिव । निःसरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥"–तत्त्वसं० पञ्जि० ३५०८ । ३ कुड्यादीनां विकल्परहितत्वे । ४ कुड्यादेः । ५ विकल्पादेव आ०, ब०, प० । ६ कुड्यादीनां विकल्पत्वम् । ७ बुद्धस्य कुड्यादिविकल्पोपादानत्वे । ८ कुड्यादीनाम् । ९ विकल्पोपादानत्वायोगात् । १० कुड्यादि । ११ तन्वरवि–आ०, ब०, प० । १२ विकल्पस्य । १३ बुद्धसहकारित्वेन । १४ बुद्धसहकारतः । १५ बुद्धस्य ।

तत्र बुद्धवचनादपि निरंशस्य संविदद्वयस्य प्रतिपत्तिर्यतः सत्त्वम् । सतोऽपि भूतभवद्भव्यानां यद्यन्यतमेन कालेनावच्छेदः ; कालान्तरं तत्त्वशून्यं भवेत् । तथा कार्यस्यापि कस्यचिदभावे व्योमकुसुमादिवदवस्तुत्वम् । [1]भावे त्वद्वैतव्यापत्तिः ।

नैष दोषः ; कालस्यैवापरस्याभावात् , असता च तस्यावच्छेदानुपपत्तेः । न च कार्याभावादसत्त्वम् ; कार्येण सत्त्वव्याप्तेरभावात् । भावे कार्यसमसमयमेव कारणं स्यान्न पूर्वं कार्यस्याभावात् । तादृशस्य[2] च न तत्कारणत्वम् अपि तु तदेककारणप्रभवत्वमेव । तत्कारणस्यापि कार्यव्याप्तसत्ताकत्वे कार्यसमसमयत्वेन तदेककारणप्रभवत्वम् , तत्कारणेऽपि तथा चिन्तायामसम्भाव्येव तत्क्रमो[3] भवेत् । तथा कार्यक्रमोऽपि, कार्यस्यापि कार्यान्तरेण सत्त्वव्याप्तौ तत्समसमयत्वस्यावश्यम्भावात् । तत्सम्भवमिच्छता च न कार्यव्याप्तं कस्यचित्सत्त्वमभ्युपगन्तव्यमिति न कार्याभावात्तदद्वयस्याभावः । एतदेवाह–

न जातं न भवत्येव न च किञ्चित्करोति सत् ॥ ९६ ॥ इति ।

अत्रैवकारो भिन्नक्रमो नकाराभ्यां परो द्रष्टव्यः । **नैव जातं नैव भवति** इति **'चित्रं तदेकम्'** इति[5] **'ततः' 'तदेकम्'** इति च अनुवर्त्तयितव्यम् । तदयमर्थः–**तत्** संवेदनम् एकम् अयं **नैव जातं** नैवोत्पन्नम् , अनेन [6]तस्यातीतत्वं प्रतिक्षिप्तम् । **नैव भवति** नैव निष्पद्यते अनेनापि वर्त्तमानत्वम् । 'नैव भविष्यति' इत्यपि भावित्वप्रतिक्षेपाय द्रष्टव्यम्–उक्तस्योपलक्षणत्वात् । उपपद्येत च तत्रातीतत्वादिप्रतिक्षेपः कालस्यैव निबन्धनस्याभावात् । **न च** नैव **किञ्चित्**सजातीयमन्यद्वा कार्यं **करोति** जनयति तथापि **सत्** कार्येण सत्त्वव्याप्तेरभावात् । [7]हेतुद्वयं चैतत् [8]परस्याभिप्रायगतम् । अत्र पूर्वपक्षद्योतनं **'चेत्'** इति द्रष्टव्यम् । उत्तरमाह–

तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किन्न प्रकल्प्यते ? इति ।

सुबोधमेव । तात्पर्यमत्र–

निरंशं चेत्तदद्वैतं[9] मुक्तोपाधि कुतश्चन ।
प्रमाणादुपलभ्येत शोभेतैवं भवद्वचः ॥९७६॥
प्रमाणं तु[10] न तत्रास्ति प्रत्यक्षादीति भाषितम् ।
केवलं कल्पनैव स्यात्तदस्तित्वे निबन्धनम् ॥९७७॥
न च [11]तद्वास्तवं युक्तमन्यथा तन्निबन्धनम् ।
विषाणमपि किन्न स्यान्निशितं बुद्धमस्तके ॥९७८॥

---

१ भवत्वद्वै–आ०, ब०, प० । २ कार्यसमकालवर्तिनः । ३ कारणक्रमः । ४ –त्तद्द्वय–आ०, ब०, प० । ५ श्लोकात् । ६ तस्यापि तत्त्वं आ०, ब०, प० । ७ "श्लोके अविद्यमानं हेतुद्वयं कथमुच्यत इत्याशङ्कायामाह"–ता० टि० । ८ "सौगतस्य"–ता० टि० । ९ –तमुक्तो–आ०,ब०,प० । १० तत्र आ०,ब०, प० । ११ "कल्पनानिबन्धनं निरंशमद्वैतम्"–ता० टि० ।

अद्वये नास्ति युद्धोऽपि यत्र शृङ्गस्य कल्पनम् ।
इति चेत्कल्पना तस्य किम सत्त्वाय कल्पते ॥९७९॥
तदद्वयञ्च युद्धश्च तच्छृङ्गं चेति तत्त्वत ।
त्रितयस्याप्यवस्थाने न भेदस्तात्त्विकः कथम् ॥९८०॥
तस्मात्कल्पितमद्वैतमवस्त्येव यथोदितम् ।
तदवष्टम्भतस्तत्र बहिरर्थनिषेधनम् ॥९८१॥ इति ।

तस्मादेकव्यक्तिकमनेकव्यक्तिक वा चित्रमेव संवेदनमनुमन्तव्यम् । तच्च बहिरर्थमपि तादृशं प्रत्ययस्यापपत्ति एकरागादौ सर्वरागादेः सांशत्वादेश्च दोषस्य तद्वत्त्वाकारवच्च बहिरर्थे तदवयवेषु चाप्रवृत्तेः। यत्र तु प्रवृत्तिर्योगकल्पिते अवयविनि तदवयवेषु च तत्रास्माकमभिप्रतिरेव, ततोऽत्र तत्प्रवृत्त्या[न]कापिदप्यस्माकं परिग्लानिः । यद्येवं कुतस्तत्र तद्दोषस्य 'एतत्समानमन्यत्र' इत्यादिना समाधानम् ? आहितविषयस्याभ्युपगमनीयत्वादिति चेत्, न हीदृशम् अकलङ्कदेवस्य चेष्टितं यत्स्वयमन्यायेनापि दोषेण परपक्षं प्रतिक्षिपतीति । ततो युक्त विज्ञानवद्बर्थस्यापि प्रतीतिमत्त्वावस्थापनम् ।

इदानीं अकलङ्कदोषं दर्शयित्वा परिहर्तुमाह–

एकेन चरितार्थत्वात्तत्राऽविप्रतिपत्तितः ॥ ९७ ॥
अलमर्थेन चेन्नैवमतिरूढानुवादतः । इति ।

अलं पर्याप्तम् अर्थेन घटादिना प्रयोजनाभावात् । तदुदाहरणादिकमस्ति तस्य प्रयोजनमिति चेत्, कुतस्तदस्तित्वम् ? प्रतिभासाच्चेत्, प्रतिभासरूपमेव तर्हि तत् तद्व्यतिरिक्तस्य तदयोगात्। तच्च तद्रूपादेव घटादेरिति किं तत्रार्थस्य कारणत्वेन ? तदाह–एकेन नानाकारसाधारणेन ज्ञानेन नार्थेन तस्य 'अलम्' इति पर्युदासात्। चरितो निष्पादितोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तस्य भावात् चरितार्थत्वात् अर्थस्य। 'एकेन' इत्यपेक्षायामपि चरितशब्दस्य वृत्तिर्गमकत्वात्। तर्हि ज्ञानेनाप्यलम् अन्येन चरितार्थत्वादिति चेत्, किं तदन्यत् ? अर्थश्चेत्, न, ततो जडत्वेन ज्ञानार्थस्याधिगमस्यासम्भवात्। ज्ञानमेवेति चेत्, न तर्हि तेनालमिति शक्यम्, अभ्युपगमात्। तदाह–तत्र ज्ञाने अविप्रतिपत्तितो चोक्तपरार्थवादिनोऽपि विप्रतिपत्तेरभावात्, अन्यथा नार्थसिद्धिः स्वतस्तदयोगादिति मन्यते। 'चेत्' इति परमतं द्योतयन्नुत्तरमाह–नैवम्। एवम् 'अलमर्थेन' इति प्रकारेण। कुत एतत् ? अतिरूढस्य प्रमाणपद्धतोऽतिप्रसिद्धस्य अनुवादतोऽनुकथनात् 'अर्थस्येति'। तात्पर्यमत्र–

१ विप्रतिपत्तिः। २ –कथनमिद–ता० । ३ तत्रापत्ते आ०, ब०, प० । ४ यदन्यार्थेन आ०, ब०, प० । ५ तदाहरणादि । ६ प्रतिभासरूपादेर । ७ अर्थस्य । ८ अर्थक्रियारेन । ९ समाप्तः । १० अर्थात् । ११ ज्ञानार्थस्य आ०, ब०, प० । ज्ञानरूपत्वपीतज्ञानेः । १२ –नार्थस्येति आ०, ब०, प० ।

प्रयोजनवशादर्थः कल्पितो यदि कथ्यते ।
युज्येत तत्प्रतिक्षेपस्तदर्थस्यान्यतो[1] भवान्[2] ॥९८२॥
न चैवं मानसामर्थ्यान् ज्ञानवत्तस्य वर्णनात् ।
निषेधे मानसिद्धस्य ज्ञानं जीवति तत्कथम् ? ॥९८३॥

किं पुनस्तत्प्रमाणं यतोऽतिस्फुटत्वमर्थस्येति चेत् ? तावत् 'प्रत्यक्षम्' इति ब्रूमः । "तत्रापि[3] प्रतिभासान्तर्गतमेव नीलमवभासते नापरम्, ततः प्रतिभासव्यतिरेके न प्रमाणं ततो नाभ्युपगमः । अथ प्रतिभासान्तर्गतं तन्न प्रतिभासते प्रतिभासस्यान्तरत्वात्, नीलादेश्च बहिरवभासनात्; न व्यतिरिक्तस्य सद्भावे तस्य प्रतिभासनं स्वरूपेणापरोक्षेण तस्य प्रतिभासनात् । यथा हि–

"व्यतिरिक्तस्य सद्भावे न नीलस्यापरोक्षता ।
स्वरूपेणापरोक्षत्वान्न तस्यान्यापरोक्षता ॥"

[प्र० वार्तिकाल० ३।३३३] इति प्रज्ञाकरः ।

तत्र किं तत्प्रत्यक्षम्, यत्र प्रतिभासान्तर्गतमेव नीलमवभासेत ? नीलादन्यदेवेति चेत्; न; 'न व्यतिरिक्तस्य' इत्यादेर्विरोधात् । स एव प्रतिभासो यत्रान्तर्गमो नीलस्येति चेत्; तेन तर्हि पूर्वापरीभूतेन भवितव्यम्, अन्यथा पूर्वं विशेषणतया आत्मनः, पश्चात्तद्विशिष्टतया नीलस्य ततः परिज्ञानायोगात् । सत्येव हि प्रागुपाधिपरिज्ञाने भवत्युपाधिमत्प्रतिपत्तिः, "विशेषणं विशेष्यं च" [प्र० वा० २।१४५] इत्यादि[4] वचनात् । प्रागधिगम्यं च तद्रूपं यैवन्तर्गतनीलं[5] तन्नीलस्यापि तदन्तर्गमस्तत्रैवावभासत इति तेनापि पूर्वापरीभूतेन भवितव्यम् अन्यथा तत्रापि 'अन्यथा' इत्यादिदोषात्[6] । तद्रूपस्यापि प्रागधिगम्यस्यान्तर्गतनीलत्वे पुनरयमेव प्रसङ्ग इति अवस्थाद्विस्तारवतो नीलज्ञानस्य कथं क्षणभङ्गित्वम् ? कथं वा निर्विकल्पत्वं[7] प्रतिभासोपाधिकतया नीलं परिच्छिन्दतो विकल्पकत्वस्यैवोपपत्तेः ।

एतेन 'अन्तर्गतवर्पातं तत्' इति प्रत्युक्तम्; तुल्यदोषत्वात् । कथं वा तत्[8] पश्चान्नीलस्य विशेषणम्; विरोधात् । पीतस्य परित्यागादिति चेत्; न तर्हि पीतमेव तत्, तत्परित्यागेन नीले तत्त्यागेनापि पुना रूपान्तरे प्रवृत्तेः, व्यावृत्तादनुवृत्तस्य विरुद्धधर्माध्यासेन भेदस्यैवोपपत्तेः । यदि पुनस्तत्र न किञ्चिदप्यन्तर्गतम्; कथं तज्ज्ञानम् ? अनाकारस्यानभ्युपगमात् । अन्यथा पश्चादप्यतदाकारमेव तत् नीलविषयं भवेत् । कथं तस्य तद्विषयत्वम् ? कथं तदाकारस्य ? स्वहेतुबलात्तथैवोत्पत्तेः; समानमन्यत्र । ततो न युक्तम्–'प्रतिभासव्यतिरेके न प्रमाणम्' इति; नीलस्य तज्ज्ञानाद्व्यतिरेके तस्यैव प्रामाण्यात् ।

१ ज्ञानात् । २ वर्तत्वेः । ३ प्रत्यक्षेऽपि । ४ "...सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम् । गृहीत्वा सङ्कल्य्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा ।" इति शेषांशः । ५ यद्यनन्तर्गतं नी–आ०, ब०, प० । ६ –दन्यद्रूप–आ०, ब०, प० । ७ –ल्पकत्वं आ०, ब० । ८ कथं वा तदा–आ०, ब०, प० ।

एतेनैतदपि प्रत्युक्तम्–"यथैव ग्राहकाकारं स्वरूपेणापरोक्षो न ग्राहकान्तरभावात्, तथा तेन समानकालोऽपि नीलादिः" [प्र॰ वार्तिकाल॰ ३।३३०] इति, कथम् ? ग्राहके स्वत एव ग्राह्ये च परत एवापरोक्षत्वस्य दर्शनात्। दर्शनानुसारित्वाच्चाभ्युपगमस्य। अन्यथा "यदेव दृश्यते तदेवाभ्युपगम्यते" [प्र॰ वार्तिकाल॰ ३।३३०] इत्यसङ्गतं स्यात्। ग्राहकसमकालतया च ग्राह्यस्य स्वयं प्रकाशत्वेऽपि इदमपि नीलं तत्समकालत्वाद्धेतोः। प्रत्यक्ष-साधनस्य इतरत्रापि तुल्यत्वात्। न [1]तत्समसमयत्वमात्रेण [2]तस्य [3]तत्त्वम्, अपि तु [4]तद्रूपतया चक्षुरादेर्वोत्पत्तेरिति चेत्, न, तत्रापायत्पूर्वं पश्चादपि [5]तद्भावात्। पौर्वापर्ये तस्य प्रमाणं नास्तीति चेत्, चक्षुरादिकार्यत्वमपि कथम् ? पौर्वापर्यप्रमाणबलादेव तस्यापि परिज्ञानोपपत्तेः। तथा च दुर्भाषितमेतत्–"यथा चक्षुरादिकाद्ग्राहकाकारस्तथा तत्समानकालो ग्राह्याकारोऽपि" [प्र॰ वार्तिकाल॰ ३।३३०] इति, कल्पिते तु तस्य तत्कार्यत्वे तन्निबन्धनं स्वयं प्रकाशत्व-मपि कल्पितमेव न वास्तविकम्। तत्र च न विप्रतिपत्तिः। [6]तन्न नीलादेस्तत्प्रतिभासादेव तदन्तर्गतत्वपरिज्ञानम्।

प्रत्यक्षान्यत एवेति चेत्, न, तत्रापि विषयान्तर्गर्भस्यान्येन परिज्ञाने अनवस्था-दोषात्। अनन्तर्गामिन एव विषयस्य तेन प्रतिपत्तौ प्राच्येनापि स्यादित्ययुक्तमुक्तम्– 'प्रतिभासान्तर्गतमेव नीलमवभासते नापरम्' इति। अनन्तर्गतप्रतिभासे कथम् 'नीलं प्रतिभासते' इत्यभेदावगम इति चेत् ? न, एवमपि भेदस्यैवावगमात्। अभेदे हि 'नीलम्' इत्येव 'प्रतिभासते' इत्येव वा स्यात् न चोभयम् ? अभेदेऽप्यपोद्धारपरिकल्पनया द्वैरूप्यादेवमवगम इति चेत्, स्यादेतदेवं यद्यभेदस्य कुतश्चिदवगमः, स तु ततोऽन्यतश्च न प्रत्यक्षात्, उक्तनीत्या ततो भेदस्यैवावगमात्। तद्वैसमाविनो [7]विकल्पादित्यप्ययुक्तम्, ततोऽपि यथानुभवं प्रवृत्तात्द्वेदावगमस्यैवोपपत्तेः। अनुभवातिक्रमप्रवृत्तात्तु न [8]ततः कस्यचिदपि प्रधानादि-विकल्पादिवावगमः सम्भवति। विकल्पाद्वाभेदावगमे कथं ततो द्वैरूप्यम् ? कथं वा काल्पनिकस्यानुभवविषयत्वमुच्यते ? यत इदं सूक्तम्–

> "तस्माद्द्विरूपमस्त्येकं यदेवमनुभूयते।
> स्मर्यते च" [प्र॰ वा॰ २।३३७] इति।

अत्रापि 'एकम्' इत्यत्र 'अनुभूयते' इति 'न द्विरूपम्' इत्यत्र 'स्मर्यते' इत्यस्यैव सम्बन्धाद-दोष इति चेत्, न, अनुभवाभावे स्मरणानुपपत्तेः। उपपत्तावपि कुतो द्विरूपस्यैकस्य वेदनम् ? यत इदं शोभेत–

> "उभयाकारस्यास्य संवेदनं फलम्।" [प्र॰ वा॰ २।३३७] इति।

---

१ ग्राहकसमयसमसमयमात्रेण। तत्समयसमात्रे–आ॰, ब॰, प॰। २ ग्राह्यस्य। ३ स्वरूपेणापरोक्षत्वम्। ४ ग्राहकाकारतया। ५ ग्राहकस्य भावात्। ६ तन्नेत्य–आ॰ ब॰, प॰। ७ –गर्भस्यान्येन आ॰, ब॰, प॰। ८ भेदस्यानवगमः। ९ प्रत्यक्षसमभाविनः। १० –त्यत्तु–आ॰, ब॰, प॰। ११ विकल्पात्। १२ तत्तु–आ॰, ब॰, प॰।

अनुभवादेव स्मरणैकत्वेनाध्यवसितादिति चेत्; न; ततोऽपि द्विरूपस्यैवावगमोपपत्तेर्नैकस्य। तद्विषयत्वमपरित्यजत एव तस्य तदेकत्वाध्यवसाय इति चेत्; 'अपरित्यजतः' इति कुतः? तथा निश्चयात्; न तर्हि तद्विषये द्विरूपकल्पनं निश्चयेन तद्विरोधात्। ततो न तदेकत्वाध्यवसायादनुभवस्य द्विरूपविषयत्वमपि तु तत्त्वत एवेति वार्तिकतात्पर्यम्। अतस्तदपरिज्ञानादेवं[1] इदं निबन्धनकारस्य[2] वचनम्–"अपोद्धारपरिकल्पनया द्विरूपम्" [प्र० वार्तिकाल०]इति।

भवतु द्विरूपमनुभवात्, तथापि न नीलं बहिरर्थः, प्रतिभासैकत्वस्यापि तत्रानुभवादिति चेत्; न; तदभावस्य निवेदितत्वात्। भेदमात्रे नीलतत्प्रतिभासयोरसङ्गतिरिति[3] चेत्; न; विषयविषयिभावस्यैव तत्र सङ्गतित्वात्। 'नीलं प्रतिभासते' इत्यत्र 'नीलं प्रतिभासस्य विषयो भवति' इत्यवगमात्। कः पुनर्विषयार्थ इति चेत्? नीलार्थोऽपि कः? स्वरूपमेवेति चेत्; अपरोऽपि तदेव सर्वस्य विषयत्वमविशेषात्। स्वरूपस्येति चेत्; नीलत्वमपि स्यात्। तत्त्वे[4] यस्यैव कारणं तदेव नीलमिति चेत्; विषयोऽपि यस्यैव ज्ञानं स एव स्यात्। किं तस्य[5] ज्ञानेन[6]? कारणेनापि किम्? कारणमेव इतरेणापि[7] ग्रहणमेव। ततो युक्तं प्रत्यक्षाद् अतिरूढत्वमर्थस्य।

तथाऽनुमानादपि। ततः[8] पर्वतशिरसि पावकस्य परोक्षस्यैव प्रतिपत्तेः। परोक्षश्चार्थ एव अपरोक्षस्यैव ज्ञानस्याभ्युपगमात्। सोऽप्यपरोक्ष[9] एव महानसपावकस्यैव ततः प्रतिपत्तेः, महानसपावकश्च अपरोक्ष एव प्रतिपन्न इति चेत्; न; तथा सति सन्निहितिवदनुमानवैफल्यप्रसङ्गात्। अध्यारोपादेव तस्यापरोक्षत्वं[10] अध्यारोपश्चानुमानादेवेति चेत्; अध्यारोपितं तर्हि तस्य[10] ज्ञानत्वमर्थत्वं तु प्राकृतमिति प्राप्तम्। अध्यारोपितमेव तत्र रूपं नापरं यस्य परोक्षत्वेनार्थत्वमिति चेत्; कुतस्तदध्यारोपणम्? अनुमानाद्धूमादिति चेत्; न; तदभावे[11] तस्यैवाभावात्[12]। तद्भावे भाव इति चेत्; न; परस्पराश्रयात्–तदध्यारोपणात्[13] धूमः, धूमाच्च तदध्यारोपणमिति। अन्यतस्तदध्यारोपणं चेत्; न; तस्यापि लिङ्गत्वे पूर्ववद्दोषात्। तत्रापि लिङ्गान्तरात्तदध्यारोपेण अनवस्थादोषात्। अनुभवात्तदध्यारोपणं तु न पर्वते स्यात् तत्र पावकानुभवस्य प्रागप्रवृत्तेरिति न तत्र पावकार्थिनः प्रवर्तेरन्। अपरोक्षत्वे च तत्पावकस्य कथं तदनुमानस्य परोक्षविषयत्वम्? अतीतस्यैव तत्र तस्याध्यारोपादिति[14] चेत्; भवत्वेवम्, तथापि[15] तत्र तस्य प्रतिभासे न परोक्षत्वम्। न हि प्रतिभासवत्त्वे च परोक्षत्वमुपपन्नम्; अतिप्रसङ्गात्। अप्रतिभासे तु नाध्यारोपः; प्रतिभासव्यतिरेकेण तदप्रतिपत्तेः। प्रतिभासोऽपि–तस्यान्यत्रैव नानुमान इति चेत्; न; तस्य निषिद्धत्वात्। कथञ्चैवं प्रमाणमनुमानम्? अदर्शनसमारोपव्यवच्छेदादिति चेत्; न; तस्य[16] तुच्छस्याप्रतिपत्तेः अनभ्युपगमाच्च। दर्शनोपनयनमेव पावके तद्व्यवच्छेद[17] इति चेत्; ननु दर्शनमपरोक्षत्वमेव, तच्च विनाप्यनुमानेन

१ –देव तन्नि–आ०, ब०, प०। २ प्रज्ञाकरस्य। ३ असम्बन्धः। ४ नीलत्वे। ५ विषयस्य। ६ क्वमिति शेषः। ७ ज्ञानेनापि। ८ अनुमानात्। ९ पर्वतीयपावकः। १० पर्वतपावकस्य। ११ धूमाभावे। १२ -अध्यारोपस्यैवाभावात्। १३ तदध्यारोपेण धू–आ०, ब०, प०। १४ पावकस्य। १५ तथा हि तत्र प्रति–आ०, ब०, प०। १६ व्यवच्छेदस्य। १७ अदर्शनसमारोपव्यवच्छेदः।

तस्यास्त्येवेति न तदवच्छेदात्तस्य[1] प्रामाण्यम्, अपि तु पावकविषयत्वादेव। तदप्यपरोक्षताव्यतिरेकेणैव, अन्यथा तदपरोक्षविषयत्वप्रतिज्ञाव्याघातात्। ततो यदुक्तम्–"अनुमानमपि नापरोक्षताव्यतिरेकं साधयति" [प्र० वार्तिकाल० ३।१३३] इति, तत्प्रतिव्यूढम्, तेन तद्व्यतिरिक्तस्यैव पावकस्य व्यवस्थापनात्।

यच्चापरमुक्तम्–"यदि च दृश्यमानताव्यतिरेकेण [2]विकल्पे तद्दर्शनार्थं न प्रवर्तेत दर्शनार्थिनो वा नोपदिशेत्, न हि दृश्यमानतामप्रतियन् दर्शनार्थी भवति" [प्र० वार्तिकाल० ३।१३३] इति, तत्र किमियं दृश्यमानता पावकस्य यदप्रतिपत्तौ तद्दर्शनार्थी न भवेत्? स्वयं दर्शनात्मकत्वमिति चेत्, सत्यम्, न तस्य प्रतिपत्तिः, नापि तेनार्थित्वं लोकस्य, अर्थान्तरेणैव दर्शनेन [3]तस्य [4]तद्भावात्। दर्शनसम्बन्ध इति चेत्, न, सति दर्शनेऽनुमानवैफल्याद् अर्थित्वायोगात्। न ह्युपनतेनैव कस्यचिदर्थित्वम् अनुपनत एव तद्दर्शनात्। दर्शनयोग्यत्वमिति चेत्, अस्त्येव तस्य प्रतिपत्तिः[5], परोक्षस्यापि पावकस्य तद्योग्यस्यैवानुमितेः, व्याप्तेस्तथैव निश्चयात्। योग्यताप्रतिपत्तौ दर्शनेन कथमर्थित्वमिति चेत्? न, अन्यत्रापि शक्तिपरिज्ञानादेव फलार्थित्वोपलम्भात्। तत्र स्वयं दर्शनार्थनात्, दर्शनार्थिनः कथनाद्वा पावकानुमानस्यापरोक्षविषयत्वं तत्स्योपपादनं परोक्षविषयत्वेऽपि तद्योग्यतापरिज्ञानात्तदुपपत्तेः। स्वरूपप्रतिपत्तौ पावकस्य कथं परोक्षत्वमिति चेत्? तत्प्रतिपत्तेरस्पष्टत्वादेव। तदपि तस्याः कथमिति [6]चेत्? न, कारणभेदादिति निवेदितत्वात्। ततो युक्तम् अनुमानादप्यतिरिक्तस्वलक्षणमर्थस्य। तत इदमकीर्तिकरमेव धर्मकीर्तेः–

"दर्शनोपाधिरहितस्याग्रहात्तद्ग्रहे ग्रहात्।
दर्शनं नीलनिर्भासो नार्थो बाह्योऽस्ति केवलः॥" [प्र०वा० २।३३५] इति।

प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनोपाधिरहितस्यैव पावकादेः प्रतिपत्तेः तत्र बाह्यतयार्थत्वस्योपपत्तेः। ततः प्रतीतिबलाद्विज्ञानस्य यदस्तित्वं तदर्थस्यापि, यच्च अर्थस्यापरमार्थत्वम् अविशददर्शनपथप्रस्थायित्वात् तैमिरिककेशादिवत्, तत् विज्ञानस्यापि स्यादविशेषात्। तदाह–

कल्पना सदसत्त्वेन समा। इति।

ज्ञानस्य सत्त्वेनार्थस्यासत्त्वेन कल्पना अर्थे ज्ञाने च सदृशीति यावत्।

ननु एवमपि ज्ञानकल्पनैवास्तु, तत्र सकलसमीहितसिद्धेः, अन्यकल्पना तु सिद्धोपस्थापिनी कुतः योज्यत इति? तत्राह–

किन्तु गरीयसी॥ ९८॥
प्रतीतिप्रतिपक्षेण तत्रैका यदि नापरा। इति।

किन्तु इति[7] अवितर्कपदं तत्र तस्मिन् कल्पनासाम्ये सति एका ज्ञानकल्पना

---

१ अनुमानस्य। २ विकल्पेत प०। विकल्पेतद्दर्शनार्थे आ०, ब०। ३ भोक्तृत्व। ४ दर्शनार्थित्वात्। ५ तत्स्वरूपप्रतिपत्तौ। ६ चेत् चार–आ०, ब०, प०। ७ –ति कि–आ०, ब०, प०।

यदि स्याद् अपरा अर्थकल्पना **यदि न** स्यात्, 'स्यान्' इत्युपस्कारस्य **यदि** शब्दस्य चोभयत्र सम्बन्धात्। तत्र दूषणम्–**गरीयसी** गुर्वी नितरां ज्ञानकल्पना। तत्र निमित्तमाह–**प्रतीतिप्रतिपक्षेण** प्रतीतिर्ज्ञानस्य प्रतिपत्तिः तस्याः प्रतिपक्षः तदभावस्तेन। तथा हि–ज्ञानं नाम विषयग्रहणस्वभावमेव, प्रतीतेः "विषयग्रहणधर्मो विज्ञानस्य" [ ] इति वार्तिकाच्च। विषयभावे च ताद्रूप्याभावात्किं तस्यावशिष्येत ? यस्य [1]प्रतीतिः स्वरूपमेव तस्य विषयो न बाह्यमिति चेत्; किं पुनस्तस्य विषयत्वम् ? ग्राह्यत्वमिति चेत्; कथं ग्रहणत्वम् ? ग्राह्यस्यैव तदनुपपत्तेः। स्वभावभेदादेकस्यैव तदुभयधर्मकल्पनायामपि अनेकान्तदोषात्। संवृत्या [2]निर्दोषत्वमनेकान्तस्येति चेत्; न; बाह्यवज्ज्ञानस्याप्यपरमार्थत्वापत्तेः, निरंशस्यापि तस्य विषयविषयिभावायोगेनासम्प्रतिपत्तेः। तत इदमप्रातीतिकमेव "**स्वरूपस्य स्वतो गतिः**" [प्र०वा० १।६] इति।

इयमेव तस्य स्वतो गतिः यन्निरपेक्षं प्रकाशनम्, भेदव्यवहारस्तु तत्र काल्पनिक इति चेत्; किमिदं प्रकाशनं नाम ? जडप्रतिद्वन्द्वी धर्म इति चेत्; न; अपरिज्ञाने जडस्य क्वचित्तत्प्रतिद्वन्द्वित्वस्यापरिज्ञानात्। परिज्ञाने तु नार्थनिषेधो [3]जडस्यैवार्थत्वात्। कल्पितमेव तत्र तात्त्विकमिति[4] चेत्; ननु कल्पितत्वं कल्पनाबुद्धिविषयत्वमेव। तच्च नान्तर्गमेण; तद्बुद्धेर्जडत्वापत्त्या स्वप्रकाश[5]प्रच्युतेः। बुद्ध्यन्तरेण प्रकाशे चानवस्थानप्रसङ्गात्। अनन्तर्गमेण चेत्; कथं स्वसंवेदनमेव बुद्धिफलम् ? बाह्यसंवेदनस्यापि भावात्। तस्मादिदमप्यनुभवप्रत्यनीकमेव–

"तस्मात्प्रमेये बाह्येऽपि युक्तं स्वानुभवः फलम् ॥" [प्र०वा० २।३४६] इति

"यतः स्वभावोऽस्य यथा तथैवार्थविनिश्चयः ॥" [प्र०वा० २।३४६] इति च।

अजडस्वभावयाऽपि बुद्ध्या जडस्य निर्णयात्। तन्न जडप्रत्यनीकत्वेन प्रकाशनम्।

चिद्रूपत्वेनेति चेत्; न; चितेरपि प्रकाशपर्यायत्वात्। अपि च, अस्यां[6] यदि न काचिदपि शक्तिः कथं "स्वयं सैव प्रकाशते" [प्र०वा० २।३२७] सत्यामेव कर्तृशक्तौ 'प्रकाशते' इत्युपपत्तेः। अध्यारोपितया [7]तया प्रकाशत इति चेत्; न; तयैव तदनुपपत्तेः। न हि तच्छक्तिविकलतयैव संविदाना तामात्मन्यारोपयितुमर्हति। तद्विकलतया न संवित्तेः सदादिनैव संवेदनादिति चेत्; कथमुभयात्मा सती केनचित्संवित्तो केनचिन्नेति ? कुतश्चिददृष्टात्कारणादिति चेत्; न; बहिर्भावस्यापि इष्टानिष्टस्वरूपस्यैव केनचिदिष्टात्मना परेणानिष्टात्मना च प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। एकरूपवेदिनां रूपान्तरस्याप्रतिपत्तौ कुतस्तस्योभयात्मकत्वप्रतिपत्तिरिति ? अनेकात्मकं चार्थमेकरूपतया दर्शयतश्चादृष्टात्कथमर्थवेदनम् ? 'ततस्तिमिरादेरिवानर्थवेदनस्यैवोपपत्तेः' इति च न पर्यनुयोगः; परत्रापि तुल्यत्वात्। तथा च यथेदमुच्यते–

१ –ति स्वरू–आ०, ब०, प०। २ निर्दोषत्वेऽने–आ०, ब०, प०। ३ जलस्यै–आ०, ब०, प०। ४ –कमेवेति आ०, ब०, प०। ५ –शप्रतीतेः आ०, ब०, प०। ६ चितौ। ७ –तथा प्र–आ०, ब०, प०।

"तमनेकात्मकं भावमेकात्मत्वेन दर्शयत् ।
तददृष्टं कथन्नाम भवेदर्थस्य वेदनम् ॥" [प्र०वा० २।२४४] इति,

तथेदमपि वक्तव्यम्–

तामनेकात्मिकां बुद्धिमेकात्मत्वेन दर्शयत् ।
तददृष्टं कथन्नाम भवेद्बुद्धेः प्रवेदनम् ॥९८४॥ इति ।

ततः सर्वात्मनैव सा [1]संवित्ते इति न तथैव तदारोपः । नापि बुद्ध्यन्तरेण, तत्रापि तच्छक्तिविकल्पतया संविदाने तत्प्रतिभासायोगात् । तत्रापि बुद्ध्यन्तरेण तदारोपकल्पनायाम् अनवस्थादोषात् । तच्छक्तिमत्त्वे तु बुद्धेः कथं तदपेक्षं तत्प्रकाशनं निरपेक्षं नाम शक्तेस्तदव्यतिरेकादिति चेत् ? किं पुनस्तया[2] न व्यतिरिक्तप्रकाशनम् ? तथा चेत्, कथं तया परबुद्धिपरिज्ञानम् ? यत इदं सूक्तं स्यात्–"स्वरूपेण हि सवित्तीनां भिन्नत्वात्प्रतिपुरुषं नानाकारवेदनं युक्तम्" [प्र० वार्तिकाल० ३।३३९] इति । तासामपि कुतश्चिदाकारमुखेनैव वेदनं नान्यथेति चेत्, न, सुप्त-प्रबुद्ध जीवन-मृतेष्टानिष्टादिरूपाणां तदाकाराणां युगपदेकत्र समर्पण[3]स्याप्रतिपत्तेः ।

न ह्येकमेकं विज्ञानं साकारं परबुद्धिभिः ।
सुप्तं बुद्धं मृतं जीवदिष्टमन्यच्च दृश्यते ॥९८५॥
ततः शक्तिवशात्तासां वित्तिर्नाकारकल्पिता ।
तथार्थस्यापि तेनेदमयुक्तं कीर्तिवार्तिकम् ॥९८६॥

"तदर्थाभासतैवास्य प्रमाणं न तु सत्यपि ।
ग्राहकात्मा परार्थत्वात् बाह्येष्वर्थेष्वपेक्ष्यते ॥" [प्र० वा० २।३४७] इति ।

ग्राहकात्मन एव शक्तित्वस्य परबुद्धिप्रतिपत्तिवदर्थप्रतिपत्तावप्यपेक्षणात् ।

संविद्भेदानभीष्टौ च नापरं तत्त्वमस्ति वः ।
संविदद्वयवादस्य प्रतिक्षेपात्सविस्तरम् ॥९८७॥

तस्मादर्थोऽप्यङ्गीकर्तव्य एव, अन्यथा ज्ञानमेवास्यासिर्वाहत्वोपपत्तेः ।

भवतु बाह्यस्यापि ज्ञानम्, तस्य तु कुतः सत्यत्वम् ? कुतश्चिद्विषय[4] कश्चिदेव सत्यो न सर्वः ? प्राप्त्याविविसेपादिति चेत्, न, तत्रानवस्थाविरोधात् । तदुक्तम्–

"यथैव प्रथमं ज्ञानं तस्य प्राप्तिमपेक्षते ।
तत्प्राप्त्यापि पुनः प्राप्तेरपेक्षेत्यनवस्थितिः ॥

१ संविचेदिति आ०, ब०, प० । आत्मसंविदर्थः । २ –तीय त–आ०, ब०, प० । ३ –पा तद–आ०, ब०, प० । ४ –द्विषया–आ०, ब०, प० ।

कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एवास्तिरूपता ।
प्रथमस्यापि तद्भावे इति सर्वसमानता ॥
प्राप्तेरथापि पूर्वेण प्राप्तिरूपेण सत्यता ।
अन्योन्याश्रय इत्येकासत्यत्वेनोभयस्य तत् ॥
अथ कारणशुद्धत्वात्तज्ज्ञानस्यास्ति सत्यता ।
तज्ज्ञानस्यापि सत्यत्वं तत्कारणविशुद्धितः ॥
एवं परापरापेक्षादनवस्था प्रसज्यते ।" [प्र० वार्तिकाल० ३।३५१]

इति चेत्; न, अभ्यासे स्वतः अन्यदा परतस्तत्सत्यत्वस्य निश्चयात्। न चानवस्थानम्; पर्यन्ते कस्यचिदभ्यासवतो भावात्। अवश्यं चेदमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा[2] अर्थज्ञानवत् सन्तानभेदज्ञानस्यापि सत्यत्वानिश्चयात्, तद्विषयस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात्। न चैवं केशादेरपि तज्ज्ञानात्सिद्धिः; तत्र स्वतः परतश्चासत्यत्वस्यैव निश्चयात्। तदाह–

न हि केशादिनिर्भासो व्यवहारप्रसाधकः ॥९९॥ इति ।

केश आदिर्यस्य मशकादेस्तस्य **निर्भासः** प्रत्ययो **न हि** स्फुटं **व्यवहारप्रसाधको** व्यवहारः स्वतोऽन्यतो वा सत्योऽयमिति निश्चयः, प्रसाधकः सद्विषयत्वेन अलङ्कारको यस्य स तथोक्तः तस्माद् असन्नेव तद्विषय इति भावः। कथमसतः प्रतिभासनम्? आस्तामेतदनन्तरं निरूपणात्। पर आह–

वासनाभेदाद्भेदोऽयम् [सिद्धस्तत्र न सिद्ध्यति] । इति ।

पूर्वपूर्वविकल्पोपनीतः[3] संस्कारो **वासना,**[4] **तद्भेदो** दार्ढ्यशैथिल्यलक्षणस्तस्मात् तमाश्रित्य **अयं** प्रतीयमानो घटादिज्ञानं तथ्यं मिथ्या च केशादिज्ञानमिति **भेदो** निर्णयः 'भिद्येते भिन्नतया व्यवस्थाप्येते परस्परतः तथ्यमिथ्याज्ञाने येन स भेदः' इति व्युत्पत्तेः। संस्कारदार्ढ्यशैथिल्याभ्यामेव हि क्वचिज्ज्ञाने तथ्यमिथ्यात्वविभागविनिश्चयो न विषयभावाभावाभ्यामिति कथं तन्निश्चयात्तत्सिद्धिरिति मन्यते ?

तत्रोत्तरम्–'**सिद्धस्तत्र**' इति। अपिशब्दः द्रष्टव्यः। **तत्रापि** सन्तानभेदज्ञानेऽपि[5] **सिद्धो** निश्चितो **वासनाभेदाद् भेदोऽयम्**। [6]तथा च ततोऽपि कथं तद्भेदसिद्धिः? मा भूत्, तद्भेदस्य तज्ज्ञानसत्यत्वनिश्चयस्य च वासनाभेदादेव भावात्।

"कार्यत्वात्सकलं कार्यं वासनाभेदसम्भवम् ।
कुम्भकारादिकार्यं वा स्वप्नदर्शनकार्यवत् ॥" [प्र०वार्तिकाल० ३।३५१]

१ अन्यथा आ०, ब०, प० । अनभ्यासदशायाम् । २ –था तज्ज्ञा– आ०, ब०, प० । ३ –नीतसं– आ०, ब०, प० । ४ "वासना 'पूर्वविज्ञानकृतिका शक्तिरुच्यते ।"–प्र०वार्तिकाल० पृ० १८ । ५ –भेदादज्ञा– आ०, ब०, प० । ६ तथा च कथं ततोऽपि आ०, ब०, प० ।

इति वचनादिति चेत् , कुतः स्वप्नदर्शनस्य तद्बलभावः ? कृतभिभिप्रायादिति चेत् , न , [1]तस्य वासनाबलभावित्वे ततोऽर्थस्येव [2]तस्याप्यसिद्धेः । वस्तुतथाभावभावित्वे तु हेतो-र्व्यभिचार , तस्य कार्यत्वेऽपि [3]तद्बलभावित्वाभावात् । लोकाभिप्रायादेव तस्य तद्बलभावित्वं न स्वतः मया कृतभिभिप्रीयत इति चेत् , न , लोकस्यापि [4]तत्र तन्मात्रभावाभिप्राया-भावात् । तत्राह–

न सिद्ध्यति ।
तन्मात्रभावो दृष्टान्ते सर्वत्रार्थोपकारतः ॥१००॥
पारम्पर्येण साक्षाद्वा [परापेक्षाः सहेतवः] । इति ।

न सिद्ध्यति । स एव वासनाभेद एव तन्मात्र तस्मात् भावो जन्म । क्व ? दृष्टान्ते निदर्शने । कियति ? सर्वत्र सर्वस्मिन् स्वप्नविप्लवभाविनि विप्लवान्तरभाविनि च । कस्मात् ? अर्थस्य नीलादेर्जनकत्वेन व्यापार उपकारो न विषयत्वेन , असत एव तदा तस्य प्रति-भासनात् , तस्मात् । कथम् ? पारम्पर्येण अविप्लवे दर्शनमर्थात् ततः संस्कारस्ततश्च [5]विप्लवे नारीचौरादिदर्शनमिति परिपाटिः पारम्पर्यं तेन । दृष्टान्तमाह–'साक्षाद्वा' इति । 'वा' इति इवार्थः, साक्षात् अव्यवधानेन वा[न]विप्लवे यथा तदुपकारस्तथा पारम्पर्येणान्यदेति । सौत्रान्तिकाद्यनुगमेन चेदमुक्तम् , [6]स्वतः साक्षादपि तत्र तदुपकाराभावात् ।

चौरदर्शने दृष्टान्तो यत्र साक्षादिव पारम्पर्येण तदुपकार इति प्रदर्शयन्त प्रत्याह–

परापेक्षा[7] सहेतवः ।
विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो व्याहारादिधियो यथा ॥ १०१ ॥ इति ।

व्याहारो वचनमादिर्यस्य व्यापारस्य तस्य धियो बुद्धय । कथम्भूताः ? परं चाह्यं 'व्याहारादिकम् उपकारकमविप्लवे साक्षादिवान्यत्र' पारम्पर्येणापेक्षन्त इति परापेक्षाः, तत्र हेतुः सहेतवः सकारणिका यत इति । न हि परानपेक्षत्वे सहेतुत्व परस्यैव हेतुत्वात् । एवमपि वासनैव परमस्तु किं व्याहारादिनेति चेत् , आह–'विच्छिन्नप्रति-भासिन्य'[8] इति । विच्छिन्नं विच्छेदः देशादिनियमस्तेन प्रतिभासन्ते इति शीलस्तयोक्ताः । न हि व्याहारादिधियो वासनामात्रकारणत्वे देशादिनियमः सम्भवति । तथा हि–पूर्वं ज्ञान वासना, तच्च न सन्तानमेव, विसदृशादपि तद्धियां भावात । सा(वा)दृशादेव व्यवहितादप्यात्मा[9], तस्यापि साक्षाद्व्यवहितादेव भाव इति चेत् , कथं तेषां विसदृशैरनुपादानोपादेयैरेकसन्तानस्य एव इदं सङ्कलनम्–'[10]नीलमद्राक्षम् चौरव्यापारं पश्यामि' इति । भवतु विस दृशादपि तद्भाव

1 विपर्ययस्य । 2 स्वप्नदर्शनस्य वासनाबलभावित्वस्य । 3 वासनाबल । 4 स्वप्नदर्शने । 5 –च तत्र भवे–आ०, ब०, प० । 6 विप्लवेऽपि चौरा–आ०, ब०, प० । 7 सविकल्पादेरपरिमितेन । 8 व्यवहारा–आ०, ब०, प० । 9 –न्यथा वा–आ०, ब०, प० । 10 नीलमद्र–आ०, ब०, प० ।

इति चेत् ; कथं तर्हि नासां विच्छेदो विसदृशस्यादिच्छेदात् । तच्छक्तिप्रबोधस्य विच्छेदादिति चेत् ; न ; तस्यापि विसदृशकार्यत्वे तदयोगात् । तद्धेतुशक्तिप्रबोधविच्छेदात्तद्विच्छेदकल्पनायाम् अनवस्थादोषात् । तन्न [1]तन्मात्रभावित्वे [2]तासां देशादिनियमात्मा विच्छेदः । नाप्याकारनियमात्मा; व्याहारादिनेत्राकारान्तरेणापि विसदृशादवश्यन्तया तदुत्पत्तेः । बाह्यापेक्षायां [3]नुपपद्यते । बाह्याद् व्याहारादेरेव देशादिनियतहेतुवलान्नियमोत्पत्तेः साक्षात् , पारम्पर्येणापि तदाहितादेव संस्कारादन्तरङ्गनियमोपनीतप्रबोधात्तदुत्पत्तेः । ततो दुर्भाषितमेतत्–

"कस्यचित्किञ्चिदेवान्तर्वासनायाः प्रबोधकम् ।
ततो धियां विनियमो न बाह्यार्थव्यपेक्षया ॥" [प्र०वा० २।३३६] इति ।

यदि बाह्यान्नियमः कथं स्वप्ने स्वशिरोदारणादेर्दर्शनम् , तस्य साक्षादभावात् , प्रागप्यदृष्टेरिति चेत्; न ततोऽपि[4] । जन्मान्तरदृष्टादेव संस्काराहितज्ञानात् कुतो न सर्वदा? कुतो वा रागादीनां नियमः ? न हि तत्रालम्बनमुपयोगि, ततो रागहेतोरेव विरागस्यापि दर्शनादिति चेत् ; न; अन्तरङ्गसहायस्यैव तस्य तन्नियामकत्वात् । ततो यदा अन्तरङ्गं यन्निमित्तं च तदैव तदेव नान्यदा नान्यच्च ज्ञानरागादिकार्यमुपजायते । वासनैवान्तरङ्गं तस्या एव तद्वृत्ता स्वतः सकलप्रतिभासनियामकत्वेन संवेदनादिति चेत् ; कुतो विप्रतिपत्तिर्यतस्तत्रानुमानम् ? अनिश्चयादिति चेत्; निश्चयादप्यनिश्चितात्कुतस्तदभावः[11] ? न हि स्वतस्तस्य[12] निश्चयो वासनावत् । नाप्यन्यतः ; अनवस्थादोषात् । अनिश्चितादपि [13]स्ववेदनात्तत्र[14] [15]तन्निवृत्तौ वासनायामपि स्यादिति व्यर्थमेव तत्रानुमानम् । तस्मादचेतनमेवान्तरङ्गं तस्यैव दृष्टकारणव्यभिचारवतः कार्योत्पत्तेः । तदेव च क्षयोपशमविशेषवशाद्वाह्यतत्संस्कारसाहाय्येन क्वचिद्यथार्थमयथार्थञ्च प्रत्ययमुपजनयतीति सूक्तमेतत्–'**परापेक्षा व्याहारादिधियो विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो यतः**' इति ।

'**यथा**' इति सादृश्ये यथैताः परापेक्षास्तथाऽन्येऽपि दृष्टान्ता इत्येवं साध्यवैकल्यं दृष्टान्तस्य [16]प्रतिपाद्येदानीं तत्र सत्यपि [17]तन्मात्रभावे साध्यासिद्धिमावेदयन्नाह–

सन्निवेशादिभिर्दृष्टैर्गोपुराट्टालकादिषु ।
बुद्धिपूर्वैर्यथा तत्त्वं नेष्यते भूधरादिषु ॥१०२॥
तथा गोचरनिर्भासैर्दृष्टैरेव भयादिषु ।
अबाह्यभावनाजन्यैरन्यत्रेत्यवगम्यताम् ॥ १०३ ॥ इति ।

सन्निवेशः संस्थानविशेषः **आदि**र्येषामचेतनोपादानत्वादीनां तैः **दृष्टै**रुपलब्धैः ।

---

१ वासनामात्रभावित्वे । २ धियाम् । ३ आकारनियमात्मा विच्छेदः । ४ ज्ञानादपि । ५ बाह्यालम्बनात् । ६ ज्ञानस्य । ७ यथा आ०, ब०, प० । ८ तथैव आ०, ब०, प० । ९ वासनावता पुरुषेण । १० वासनायाम् । ११ विप्रतिपत्त्यभावः । १२ निश्चयस्य । १३ निश्चयसंवेदनात् । १४ निश्चये । १५ विप्रतिपत्तिनिवृत्तौ । १६ प्रतिपाद्ये–आ०, ब०, प० । १७ वासनामात्रजन्यत्वे ।

क्व ? गोपुराट्टालकादिषु । कीदृशैः ? बुद्धिपूर्वैः, बुद्धं बुद्धिर्विद्यते अस्येति[1] बुद्धी, बुद्धिमान् पूर्वो हेतुर्येषां तैः । यथा येनासिद्धादिप्रकारेण तत्त्वं बुद्धिपूर्वत्वं नेष्यते । क्व ? भूधरादिषु पौढैः तथा तेन प्रकारेण गोचरनिर्भासैः विषयप्रतिभासैः दृष्टैरेव भयादिषु, आदिशब्दादुन्मादादिषु । कीदृशैः ? अबाह्यभावनाजन्यैः, अविद्यमानबाह्यया वासनयैव जन्यैः, अन्यत्र तामद्विषये तत्त्वम् अबाह्यभावनाजन्यत्वं 'नेष्यते' इति गतेन सम्बन्धः इत्यवगन्तव्यम् । यथा हि-बुद्धं तादृशादेव विषयप्रतिभासित्वप्रत्ययत्वादेः[2] अन्यत्रापि भावनाजन्यत्वसाधनं तादृशस्य भयादौ तद्व्याप्तिपरिज्ञानं नान्यादृशात् । अन्यादृशाच्च तत्[3] ग्रामप्रत्ययेषु पर्वतादिषु सन्निवेशादिवत् । क्व एतत् ? अन्यत्र कुतः ? द्वय तत्र लोकस्य बुद्धिपूर्वत्वबुद्धेरभावात्, प्रकृतेऽपि भावनाजन्यत्वबुद्धेरभावात् । अपरामृष्टविशेषं [4]सामान्यमेवात्र हेतुरिति चेत्; न, बुद्धिपूर्वत्वेऽपि [5]तस्यैव तत्त्वापत्तेः । कथं पुनः सन्निवेशादिवस्तुविशेषे सति [6]दृष्टस्य [7]तन्मात्रादनुमानम्, पाण्डुद्रव्यविशेष एव धूमे दृष्टस्यानलस्य पाण्डुद्रव्यमात्रादपि [8]तत्प्रसङ्गात् । तदुक्तम्-

"वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिन ।
न युक्तानुमिति पाण्डुद्रव्यादिव हुताशने ॥" [प्र०वा० १।१४]

इत्यपि न समाधानम्, भावनाजन्यत्वस्यापि [9]तन्मात्रात्तदभावापत्तेः । ततो विषयनिर्भासादिविशेषस्यैव साध्यव्याप्तिः, तस्य च सन्निवेशादिवत्[10] धर्मिण्यभावात् न ततः साध्यसिद्धिः ।

नन्वेवं कृतकत्वादनित्यमपि न सिद्ध्येत् तस्यापि घटादौ साध्यव्याप्ततया प्रतिपन्नस्य शब्दे धर्मिण्यभावादिति चेत्, अत्राह-

अत्र मिथ्याविकल्पौघैरप्रतिष्ठानकैरलम् । इति ।

अत्रास्मिन् न्याये सति मिथ्याविकल्पौघैः असत्यविकल्पप्रबन्धैः अलं पर्याप्तम् । कीदृशैः ? अप्रतिष्ठानकैः न विद्यते परपक्ष एव दोषतया प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा येषां तैरिति । सन्निवेशाद्यसिद्धतोद्भावनपक्षेऽपि तेषां भावादिति भावः ।

यदि वा, भवतु सन्निवेशादेर्बुद्धिमतोऽपि सिद्धिः, स तु चिद्रूप एव अन्यस्य बुद्धिमत्त्वासम्भवात्, अनित्यश्च "अन्यत्रार्थक्रियाविरहात्, अविभुश्च निरंशस्य व्यापित्वायोगात् । तादृशश्च वासनारूप एव । ततो न तत्सिद्धौ काचिदस्माकं परिपीडा, परितोषस्यैव भावात् । अत एवोक्तम्-

"प्रधानानां प्रधानं तदीश्वराणां तथेश्वरः ।
सर्वस्य जगतः कर्त्री वासना देवता परा ॥" [प्र०वार्तिकाल० २।३५१]इति।

---

१ -ति बुद्धिमान् आ०, ब०, प० । "श्रीमत्पतोऽवैभवः (शाकटा० ३।२।१५२) इति सूत्रेण बुद्धशब्दात् मत्वर्थे इन्"-ता०टि० । २ विषयप्रतिभासित्वादि । ३ विषयप्रतिभासित्वसामान्यम् । ४ सामान्यमात्रस्य हेतुत्वापत्तेः । ५ बुद्धिपूर्वत्वस्य । ६ सन्निवेशमात्रात् । ७ अनुमानप्रसङ्गात् । ८ विषयप्रतिभासमात्रात् । ९ ग्रामप्रत्यये । १० नित्ये ।

तत्र सन्निवेशादेरगमकत्वं यतस्तद्विषयनिर्भासादेरपि तत्त्वमापद्यत इति । अत्रेदमाह–'अत्र' इत्यादि । अत्र सन्निवेशादिसाध्ये बुद्धिमति हेतौ ये **विकल्पौघाः** चेतनत्वं न विभुत्वं नार्थक्रियेति परामर्शप्रवास्ते **मिथ्यैव** अवस्तुविषयत्वात् । अत एव न तेभ्यः कस्यचित्प्रतिष्ठानमित्यलं नः कल्पितैरिति ।

न हि मिथ्याविकल्पेभ्यो हेतौ बुद्धिमति स्वयम् ।
चेतनत्वादिभावस्य प्रतिष्ठानं समञ्जसम् ॥१८८॥
वासनारूपता तस्य यतस्तैरुपकल्पनाम् ।
अन्यथा वासनावर्गेनर्वस्वप्रतिषेधनात् ॥१८९॥
तत्रवेशादिरूपत्वं तस्याः[1] किन्न प्रकल्पते ।
न हि बाह्यविकल्पौघैर्दोषित्वं कस्यचित्क्वचित् ॥१९०॥
तथा च वासनाहेतुवादिना[2] यदुच्यते ।
"प्रधानमीश्वरः कर्म यदन्यदपि कल्प्यते ॥१९१॥
वासनासङ्गसम्मूढचेतःप्रस्पन्द एव सः ।"
इति तद्वत्परेणापि वाच्यमीशादिवादिना ॥१९२॥
वासनैव जगद्धेतुर्नान्य इत्यपि कल्पनम् ।
प्रधानेशादिसम्बन्धमूढप्रस्पन्द एव नः ॥१९३॥

तत इदमनिच्छता सन्निवेशादेरगमक[त्व]मेव वक्तव्यम् । तद्वद्विषयप्रतिभासत्वादेरपीति न वासनामेवात्मप्रत्ययनियमः, अपि तु बाह्यमेवादेव तथैव प्रमाणतः प्रसिद्धेरिति स्थितम् ।

भवतु बहिरर्थः, स तु परमाणुरूप एव तस्यैव प्रत्यक्षत्वान्नापरस्य विपर्ययादित्युपक्षिप्य प्रत्याचक्षाण आह–

अत्यासन्नानसंसृष्टानाणूनेवाक्षगोचरान् ॥१०४॥
अपरः प्राह तत्रापि तुल्यमित्यनवस्थितिः । इति ।

अत्यासन्नान् अतिशयेन निकटवर्त्तिनः, इत्यनेनाणूनां प्रत्यक्षत्वे निमित्तमुक्तम् । यद्येवं रूपस्य रूपनैकत्वाद् यथैकप्रत्यक्षविषयत्वमेवं रसादेरपि स्यादिति चेत्; न; तस्य देशतस्तन्नैकत्वेऽपि एकप्रत्यक्षकार्यशक्तिस्तदभावात् रूपस्यैव हि रूपान्तरेण तत् न रसादेः । कार्यान्तरापेक्षायां तु तत्रापि तदस्त्येव, रूपादिसाधारणस्यैवोदकाहरणादेर्दर्शनात् । **असंसृष्टान्** संसर्गरहितान् **अणूनेव** नावयविनम् **अक्षगोचरान्** इन्द्रियज्ञानविषयान्, **अपरो** योगाचारात् अन्यः सौत्रान्तिकः **प्राह**–तत्रोत्तरम् । **तत्रापि** प्रत्यासत्तावपि न पूर्वमेव **तुल्यं**

१ वासनायाः । २ हेतुवासना यद् –आ०,ब०,प० । प्रज्ञाकरेण । प्र०वार्तिकाल० ३।३५१ । ३ प्रस्पन्द एव आ०, ब०, प० । ४–नामनादे–आ०,ब०,प० । ५ –न परो आ०, ब०, प० । ६ रसादेः । ७ नैकस्थाभावात् ८ एक प्रत्यक्षकार्यशक्त्यपेक्षया नैकत्वम् । ९ रसादेरपि । १० नैकत्वम् ।

सदृशं दूषणमिति शेषः । किं तत् ? **इत्यनवस्थितिः** इति । इति अतः प्रत्यक्षप्रतीतेः अणुविषयत्वेनानवस्थानम् ।

भवतु पूर्वं प्रत्यासत्तेरभावात्तदनवस्थानं न पश्चाद्विपर्ययादिति चेत्, न, पश्चादप्यसंसर्गात् । असंसर्गेऽप्येकदेशतया [1]तदुपपत्तिरिति चेत्, कः पुनरेकदेशः ?–

अणुश्चेत्तमिलीनानां स्वरूपामिश्रणं कथम् ?
तस्य प्रत्यणु भेदाच्चेदेको देश कथं मतः ? ॥९९४॥
एकदेशतया तस्याप्येकत्वमिति चेदसत् ।
तत्राप्येव प्रचिन्तायामनवस्थानुषञ्जनात् ॥९९५॥
स्थूलश्चेत्कल्पितत्वेन प्रत्यासत्तिर्न वास्तवी ।
इन्द्रियज्ञानवेद्यत्वं [2]तेषां तद्वच्च कथम् ? ॥९९६॥
अकल्पितश्चेन्निर्बाधो भवेदवयवी ततः
दृश्यन्तेऽणव एवेति न [3]भवद्वचनस्थितिः ॥९९७॥
शक्तिसादृश्यतस्तेषां प्रत्यासत्तेर्दृशिर्यदि ।
संसर्गेण विना तेषु व्यूहबुद्धिः कुतो भवेत् ? ॥९९८॥
घटोऽयमिति च सामान्येव चेद्व्यूहभित्कथम् ? ।
सर्वत्र शक्तिसादृश्याज्जगदेकघटं भवेत् ॥९९९॥
कार्यभेदेन भेदश्चेद्व्यूहस्य परिकल्प्यते ।
स एव शक्तिसादृश्ये कार्यभेदः कथं मतः ? ॥१०००॥
अन्यथेष्टेऽपि चैकस्मिन् तद्भेदाद् व्यूहभेदतः ।
न घटो नाम कश्चित्स्यात्परेषां[4] केनोदकं हरेत् ? ॥१००१॥
एककार्यतया तेषु व्यूहधीर्यदि तच्च नो ।
निरंशवेदनं तस्य स्वपराभ्यामवेदनात् ॥१००२॥
अनेकनीलाद्याकारभेदं चेत्किम [5]शासत ।
बहिरर्थो यतस्तस्मिन् अणुव्यूहप्रकल्पनम् ॥१००३॥
वेदनं व्यूहरूपं चेत्कार्यं तत्कल्पनं कुतः ?
तत्कार्यादन्यवस्तस्मादिति चेन्नानवस्थितेः[6] ॥१००४॥
जलाद्याहरणं तच्चेन्न जलादेरवेदनात् ।
अणुस्तोमो जलादिश्चेन्न तस्याप्यप्रसिद्धितः ॥१००५॥

---

१ तदुपपत्तेरि–आ०, ब०, प० । २ भवन्नाम् । ३ भवेद्र–आ०, ब०, प० । ४ स्पष्टेरिव नो–आ०, ब०, प० । ५ शासाम् आ०, ब०, प०, । ६ –नवस्थितिः आ०, ब०, प० ।

व्यूहादुत्पत्तितस्तत्र व्यूहज्ञानं मतं यदि ।
तन्न व्यूहानवस्थाने तदुत्पत्तेरसम्भवात् ॥१००६॥
ततस्तु तद्व्यवस्थायामन्योन्याश्रयदूषणात् ।
तन्न संसर्गवैधुर्ये व्यूहो नामोपपद्यते ॥१००७॥

भवतु संसर्गादेव [1]तेषां दर्शनमिति चेत्; न; [2]सर्वदा स्थूलस्य दर्शनात्। दर्शनजन्मा विकल्प एव स्थूलज्ञानं न दर्शनम्। न हि दर्शनमसद्विषयं युक्तम्। [3]असंश्च स्थूलाकारो बहिरवयवभेदेनादर्शनादिति चेत्; भवतु कथञ्चित्तद्भेदेनैव दर्शनम्। कथं भिन्नानामभिन्नं रूपं विरोधादिति चेत्? [4]नेदानीं विकल्पविषयत्वमपि स्थूलस्य, अनेकान्तविद्वेषे विकल्पस्याप्यभिलाप्यानभिलाप्यभेदाधिष्ठानस्यासम्भवादिति सर्वं निर्विकल्पमेव जगत्प्राप्तम्। ततः कुतो नीलादेरपि प्रतिपत्तिः निर्विकल्पस्य क्षणभङ्गादिवत् [6]तत्रापि [7]असत्कल्पत्वात्। विकल्पमेकानेकात्मकमनभिद्रुह्यतो बाह्येन किमपराद्धं यतस्तमेव तादृशमभिद्रुह्येत। [8]कुतस्तस्य [9]तादृशत्वमिति चेत्? विकल्पस्यैव पूर्वपूर्वस्मात्तादृशादेवोपादानाद् अवयवसंसर्गाद्वा। संसृज्यमानाः खल्ववयवा एव कथञ्चित्स्थूलीभवन्ति। कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां पर्यनुयुज्यमानो न सम्भवत्येव संसर्गः तत्कथं तद्वशात् [10]तेषां स्थूलीभाव इति चेत्? कथं दर्शनमपि [11]तत एव [12]तस्याप्युपपत्तेः। कुतो वा [13]ताभ्यां तत्पर्यनुयोगो [14]व्याप्त्यभावे येन केनचित्तत्प्रसङ्गात्[15]। सत्यपि ताभ्यां तस्य[16] तद्भावे[17] नैकदेशेन संसर्गेऽनवस्थानम्, नापि सर्वात्मना तस्मिन्प्रचयहानिः, परस्परानुप्रवेशस्य संसर्गस्यानभ्युपगमात्। वियोगपर्युदास एव हि संसृज्यमानपदार्थात्मा संसर्गः प्रतीयते नापरः। स च तन्तोः [18]तदन्तरेण पार्श्वदेशात्मा परमाणोस्तदन्तरेण[19] [20]सर्वात्मेति न किञ्चिदसमञ्जसमुत्पश्यामः [21]यतो न तद्वशादणव एव स्थूलीभवेयुः। तद्वशा`भ्य[22] एव स्थूलकार्यस्य तत्प्रत्ययादेर्भावात् किं स्थूलेन? पारम्पर्यपरिश्रमो ह्येवं स्यात्–तेभ्यः स्थूलस्ततश्च तत्कार्यमिति चेत्; न तर्हि नीलादिनापि किञ्चित्, तत्कार्यस्यापि तत्प्रत्ययादेस्तेभ्य[22] एव सम्भवात्। तदुक्तम्–

"स्वीकुर्वन्ति गुणानर्थां यया शक्त्याऽगुणा न किम्।
तया तत्संविदं कुर्युर्भिन्नाश्चेदेकसंविदम्॥" [सिद्धिवि० परि०] इति।

नीलादिव्यतिरेकेण नापरस्तत्स्वभावो यतस्तत्कार्यं स्यादिति चेत्; न; [23]निराकारावस्थस्य प्रधानस्यैव तत्स्वभावत्वात्। न तथा कदाचिदपि तेषां प्रतिपत्तिरिति चेत्; न;

१ परमाणूनाम्। २ सर्वथा आ०, ब०, प०। ३ असंश्चेत्स्थू– आ०,ब०,प०। ४ –भेदे वा दर्श– आ०, ब०,प०। ५ न तदानीं आ०,ब०,प०। ६ नीलादावपि। ७ अनिश्चायकत्वेन अविद्यमानवद्भावात्। ८ कुतस्तत्र ता– आ०,ब०,प०। ९ एकानेकात्मकत्वम्। १० परमाणूनाम्। ११ संसर्गवशादेव। १२ दर्शनस्यापि। १३ कार्त्स्न्यैकदेशाभ्याम् संसर्गपर्यनुयोगः। १४ व्याप्त्यभावात् ये– आ०, ब०, प०। १५ पर्यनुयोगप्रसङ्गात्। १६ संसर्गस्य। १७ व्याप्तिसद्भावे। १८ तन्त्वन्तरेण। १९ परमाण्वन्तरेण। २० सर्वात्मनेति आ०, ब०, प०। २१ यं सन्तानतद्वशादण– आ०, ब०, प०। २२ परमाणुभ्य एव। २३ निराकारावस्थानस्य आ०, ब०, प०,।

निरंशतयापि तत्स्वभावात्। यथामलकं वस्तुभूतेनैव स्थूलं किमिति बदरापेक्षयेव कपित्थापेक्षयापि न [१]तथेति चेत्? स्वहेतोस्तथैवोत्पन्नत्वात्। न हि भावाः स्वहेतुप्रकृतेस्तथाऽन्यथा वा भवन्तः पर्यनुयोगमर्हन्ति, अन्यथा पावकोऽपि धूमस्यैव(स्येव)किन्न सर्वस्य जनकः? धूमोऽपि पावकस्यैव(स्येव)किन्न सर्वस्य गमक इति पर्यनुयोगात् न कश्चिदित्थम्भावे नावतिष्ठेत। आपेक्षिकत्वाच्च स्थूलत्वस्यावस्तुत्वप्रसङ्गे कारकज्ञापकयोरपि तत्त्वापत्तेः। ततो निरवद्यप्रतिपत्तिविषयत्वात् स्थूल [२]एव च बहिर्भावो न परमाणवो विपर्ययादित्युपपन्नमुक्तम्–'इत्यनवस्थितिः' इति।

तदेवं परमाणूनां प्रत्यक्षत्वं प्रत्यासाद्य अवयविनस्तत्प्रत्याख्यानाय यौगमतमुपक्षिपति–

तत्रापि तुल्यजातीयसंयोगसमवायिषु ॥१०५॥
अत्यक्षेषु ध्रुवेष्वन्यदध्यक्षमपरे विदुः। इति।

तत्र तेषु अनन्तरोक्तेष्वणुषु अन्यद् *अर्थान्तरमवयविद्रव्यम्*–अध्यक्षम्। अपिशब्देनात्रापदर्शी द्योतयति–परमाणव एव तावन्न सम्भाव्याः कथं तत्रान्यदध्यक्षमिति। दृश्यते च अपिशब्दादसम्भावनाद्योतनं यथा–"ब्रह्माण्डं यदेतत् तत्रापि क्षितिमण्डलम्" [ ] इति।

किं पुनरवयविना परिकल्पितेन, तत्प्रयोजनस्य परमाणुष्वेव परिसमाप्तेरिति चेत्? न, [३]तेषामदर्शनात्। न चादृष्टेषु तत्समाप्तिकल्पनम्, अव्यवस्थापत्तेः। तदाह–'अत्यक्षेषु' इति अक्षज्ञानमतिक्रान्तेष्विति। प्रत्येकदशायामत्यक्षत्वेऽपि सङ्घातावस्थायां कुतो न तेषां प्रत्यक्षत्वमिति चेत्? न, तदापि नित्यत्वेन प्राच्यस्वभावापरित्यागात्। तदाह–'ध्रुवेषु' इति। अपरित्यक्तस्वस्वभावानामेव यथा द्रव्यारम्भकत्वमेवमध्यक्षत्वमपि तदा किन्न भवेदिति चेत्? भवेदेवम्, यदि तदापि तत्प्रतिभासनम्। न चेदमस्ति, स्थूलस्यैव प्रतिभासनात्। [४]तदपि परमाणुष्वेव नावयविनीति चेत्, कथमस्थूलेषु स्थूलदर्शनम्? कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तात् दूरविरलकेशवदिति चेत्, [५]किंरूपास्ते केशा यत्र [६]तद्दर्शनं निदर्शनमुच्येत? परमाणुरूपा इति चेत्, न, तत्र दर्शनस्य विचाराधिष्ठितत्वेन दृष्टान्तत्वानुपपत्तेः। स्थूलरूपा एव "या च यावती च मात्रा"[प्र०वार्तिकाल०द्वि०प०पृ०३१०] इति न्यायादिति चेत्, न, अवयविनमनभ्युपगच्छतस्तद्रूपास्ते इत्यनुपपत्तेः। परबुद्ध्या ते तद्रूपा न स्वबुद्ध्येति चेत्, स्वबुद्ध्या तर्हि किं निदर्शनं यतस्तद्दर्शनस्याणुविषयतामाचक्षीत इति न किञ्चिदेतत्। [७]ततः स्वबुद्ध्या अपि तद्रूपा[८] एव ते वक्तव्या इति [९]सिद्धं तेषु प्रत्येकं तद्दर्शनस्यावयविविषयत्वं तद्वद् घटादावपि। न च दूरविरलकेशेषु तद्दर्शनस्य विभ्रमात्कूटादावपि विभ्रमः, नीलादावपि कचित्तद्दर्शनस्य विभ्रमात् सत्यनीलादावपि तत्प्राप्तेः। ततो युक्तम् 'अन्यदध्यक्षम्' इति।

भवत्वन्यदध्यक्षम्, तत्तु स्थूलमवयवारब्धमेव, तस्यैव महत्त्वेनाध्यक्षत्वोपपत्तेर्न परमा

१ स्थूलम्। २ एवं च आ०, ब०, प०। ३ –शमं पी–आ०, ब०, प०। ४ –न्यादेवान–आ०, ब० प०। ५ –मासिरि–आ०, ब०, प०। ६ परमाणूनाम्। ७ स्थूलप्रतिभासनम्। ८ स्थूलदर्शनम्। ९ तत्र स्तु–आ०, ब०, प०। १० स्थूलरूपाः। ११ सिद्धान्तेषु आ०, ब०, प०।

ण्वारब्धं विपर्ययात्, ततो न युक्तं तत्र ग्रहणमिति चेत; न; महतोऽपि परमाण्वारब्धद्व्यणुकादिक्रमेण प्रादुर्भावात् पारम्पर्येण परमाणुनिष्टत्वेन तत्र ग्रहणोपपत्तेः। तत्र तेषु **अन्यदक्षयम् अपरे** योगा **विदुः** जानन्ति। कीदृशेष्वित्याह–**'तुल्य'** इत्यादि। समवायो वृत्तिः कार्यस्य स येषामस्तीति समवायिनः कार्योपादानहेतवः संयोगेन सहिताः समवायिनः **संयोगसमवायिनः** 'शाकपार्थिवादिवदुत्तरपदलोपी समासः। संयोगग्रहणमुपलक्षणम्–निमित्तान्तरस्यापि। साहित्यञ्च संयोगस्य तेषु समवायात्, कालदेशादेश्च संयोगादिति प्रतिपत्तव्यम्। तुल्यजातीयाश्च ते संयोगसमवायिनश्च **तुल्यजातीयसंयोगसमवायिनः** तुल्यजातीयत्वं कार्यद्रव्यापेक्षम्। कार्यस्य द्रव्यस्य हि पार्थिवस्य पार्थिवा एव, आप्यस्य चाप्या एव समवायिनो नान्य इति। एवमन्यत्रापि। तेषु **तुल्यजातीयसंयोगसमवायिषु** इति। अत्र प्रतिविधानमाह–

कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम् ॥१०६॥ इति।

तेषां वैशेषिकादीनां कथम्? न कथञ्चित्। **कार्यस्य** अवयविनोऽन्यस्य **उपरमः** कादाचित्कत्वम्। कदा? **कारणस्य** परमाणुलक्षणस्य **अक्षये** नित्यत्वेन स्वरूपावैकल्ये इति।

तात्पर्यमत्र–कार्यस्य हि कार्यत्वं सत्तासम्बन्धात्। न चासौ सतः, एतद्वैयर्थ्यात्। नाप्यसतः; खरशृङ्गादेरपि प्राप्तेः। अपि तु प्रागसतः कारणसामग्र्याः "प्रागसतः सत्तासम्बन्धः कार्यत्वम्" [ ] इति वचनात्। न च कारणस्याक्षये प्रागपि कार्यस्यासत्त्वं सत्त्वस्यैवोपपत्तेः, तत्परतन्त्रस्य तस्य सति तस्मिन्नवश्यम्भावात्। असति तस्मिन्नभावादेव तस्य तत्परतन्त्रत्वं न तु सति भावनियमादिति चेत्; सत्यप्यभावे किं निबन्धनम्? स्वभावनिबन्धनत्वे भवनस्यापि तन्निबन्धनत्वापत्तेः, नित्यत्वप्रसङ्गस्य चोभयत्राप्यविशेषात्। शक्तिवैकल्यमिति चेत्; न; पश्चादप्यभवनप्रसङ्गात्। न हि नित्यस्य पश्चादपि तद्वैकल्यप्रच्युतिः, अनित्यत्वापत्तेः। एतदर्थमेव च **'अक्षये'** इत्युक्तम्।

कथं वा शक्तिविकलस्य वस्तुत्वं व्योमकुसुमवत्? अर्थान्तरशक्तिसम्बन्धादिति चेत्; न; अनुपकारिणस्तत्सम्बन्धायोगात् अतिप्रसङ्गात्। न च शक्तिविकलस्योपकारित्वम्; अवस्तुत्वात्। पुनरप्यर्थान्तरशक्तिसम्बन्धाद्वस्तुत्वकल्पनायाम् अनवस्थापत्तेः। न च शक्तेः कुतश्चिदुपकारो नित्यत्वात्। नित्यत्वे कथं तत्कार्यस्य प्रागभाव इति चेत; न; एवमपि परस्यैव पर्यनुयोगात्। अनित्यैव शक्तिः, प्रागभाविन्यास्तस्याः कारणादुत्पत्तेरिति चेत्; न; सत्यविकले कारणे तत्प्रागभावस्याप्यनुपपत्तेः। सतोऽपि कारणस्य स्वशक्तिवैकल्यात्तस्याः प्रागभवनमिति चेत्; न; 'पश्चादप्यभवनप्रसङ्गात्' इत्यादेराम्नायात् अनवस्थोपनिपाताच्च।

१ समवायत्र –आ०, ब०, प०। २ सत एव वै –आ०, ब०, प०। ३ "स्वकारणसत्तासम्बन्धः कार्यत्वम्"–प्रश० व्यो० पृ० १२९। "प्रागसतः सत्तासमवायो वा कार्यत्वमित्येके"–प्रश० क० पृ० १८। ४ कारणाधीनस्य। ५ कार्यस्य। ६ शक्तिवैकल्यप्रच्युतिः। ७ परस्य पर्य –आ०, ब०, प०। ८ शक्तेः। ९ चेत् तन्न आ०, ब०, प०।

किं वा शक्तिकरणे कारणस्य प्रयोजनम् ? कार्यकरणमिति चेत्, न, शक्तिकरणेऽपि [1]तदन्तरकरणापेक्षायाम् अनवस्थादोषेण कार्यानिष्पत्तेः। स्वतस्तत्करणे तु कार्यकरणमेवास्तु विशेषाभावात्।

भवतु स्वतस्तत्करणम्, तथापि न कार्यस्यानुपरमः संयोगस्यापेक्षणीयस्याभावे तदुपरमात्। संयोगापेक्षा एव हि परमाणवः कार्यारम्भिण इति चेत्, स एव तेषां कथं संयोगः ? तदुत्पत्तेरिति चेत्, अनिवृत्तः पर्यनुयोगः 'तेषामक्षये कथं तदुपरमः' इति। संयोगोऽपि तेषां [2]कर्मणः, तदपि संस्कारात्, सोऽपि कर्मणः पूर्वस्मात्, तदपि पूर्वस्मादेव संस्कारात्, यावदेवं यावदाद्यं कर्म, तत्तु तेषामात्मसंयोगात्, [3]तदनित्यत्वेन कर्माद्यनित्यत्वादुपपन्नः संयोगस्योपरम इति चेत्, न, आत्मन[4] परमाणूनाञ्च नित्यत्वे तत्संयोगस्याप्यनित्यत्वानुपपत्तेः। अपेक्ष्यस्याप्यदृष्टस्याप्यकार्यत्वेन सर्वदा सन्निधानात्। अपेक्ष्यासन्निधानात्तदसन्निधाने[5]मिति चेत्, ननु तत्रापेक्ष्यं द्रव्यादिकमेव "द्रव्यगुणकर्माणि धर्मसाधनम्"[ ] इति [6]भावत्कसूत्रात्। [7]तदपि न तदैव यैस्यादृष्टापेक्षात्मपरमाणुसंयोगादिक्रमादुत्पत्तिः, परस्पराश्रयात्–सत्यदृष्टे तदपेक्षा तत्क्रमाच्चोत्पत्तिः[10], उत्पन्नञ्च तदपेक्ष्य अदृष्टस्योत्पत्तिरिति। भवतु [11]अन्यदेवेति चेत्, न, तस्यापि परमाणूनामक्षये तत्कार्यत्वेनोपरमायोगात् सन्निसम्बन्धनस्यादृष्टस्यासन्निधानानुपपत्तेः। अक्षयेऽपि तेषाम् आत्मसंयोगादिक्रमस्य तद्धेतोरदृष्टानित्यत्वेनानित्यत्वादुपपन्नैवोपरतिः। अदृष्टानित्यत्वं चापेक्ष्यस्य द्रव्यादेरनित्यत्वादिति चेत्, न, तत्रापि 'तदपि न तदैव' इत्यादेरनुगमात् आयुक्तिदोषादनवस्थानुषङ्गाच्च। तन्न तत्संयोगकादाचित्कत्वेन कार्योपरमः।

कुतो वा तेषां संयोगादि सहकारि ? प्रतिक्षणं तत्कृतादुपकारादिति चेत्, न, [12]तस्य तेभ्यो भेदे तेषामिति व्यपदेशानुपपत्तेः। ततोऽपि भिन्नस्योपकारस्य भावात्तदुपपत्तौ अनवस्थानदौःस्थ्योपनिपातात्। [13]अभेदे तेषामनित्यत्वापत्तेः[14]। एककार्यकरणमेवोपकार इति चेत्, कुतस्तेन[15] तत्करणम् ? शक्तत्वात्, तदपि कुतः ? सति तस्मिन्नवश्यम्भावात् कार्यस्येति चेत्, न तर्हि परमाणूनां शक्तत्वं सत्स्वपि तेषु कार्यानुत्पत्तेः। सहकारिसन्निधावेव तेषां शक्तत्वमिति चेत्, न, अनित्यदोषस्योक्तत्वात्। तत्सन्निधिरेव तेषां शक्तिरिति चेत्, कथमन्यस्य अन्यत्र शक्तिः ? तेन तत्कार्यस्य करणादिति चेत्, तदपि [16]कथम् ? कथं राज

१ कार्यकार–आ०, ब०, प०। २ तदनन्तरोभावे–आ०, ब०, प०। ३ क्रियात्मा। ४ आत्मसंयोगस्यानित्यत्वेन। ५ अदृष्टासन्निधानम्। ६ –साधनानीति भावः सूत्रात् आ०, ब०, प०। ७ "तस्य तु साधनानि श्रुतिस्मृतिविहितानि वर्णाश्रमिणां सामान्यविशेषभावेनावस्थितानि द्रव्यगुणकर्माणि"–प्रश० भा० पृ० ११८। ८ द्रव्यादिकमपि। ९ द्रव्यादेः। १० आत्माणुसंयोगात् परमाणुषु क्रिया, क्रियातो विभागः, विभागात्, पूर्वसंयोगनाशः ततः परमाणुद्वयसंयोगः तेन च द्व्यणुकोत्पत्तिः, त्रिभिर्द्व्यणुकैः त्र्यणुकमित्यादिक्रमात्। ११ द्रव्यादुत्पत्ति। १२ द्रव्यादिकम्। १३ उपकारस्य। १४ उपकारसंयोगादेरभेदे। १५ –नोपपत्तेः आ०, ब०, प०। १६ 'संयोगादिसहकारित्वं' –ता०, टि०। १७ कथं राज–आ०, ब०, प०।

कार्यस्य प्रतिव्यूहेन करणमिति चेत्; न; तत्र वस्तुतस्तद्व्यूहस्यैव हेतुत्वात्, तत्पोषकत्वेन राशि [1]भक्त्या तद्धेतुत्वोपकल्पनात्। परमाणूनामपि भाक्तमेव हेतुत्वं सहकारिपोषणादिति चेत्; न; तत्पोषणेऽपि तदपरसहकारिपोषणेन हेतुत्वे अनवस्थापत्तेः। स्वतस्तत्पोषणे तु व्यर्थमेव तत्[2] कार्येणैव स्वतस्तदुपपत्तेः। एवं हि तात्त्विकं तद्धेतुत्वं भवेत्। भवतु स्वत एव [3]तत्पोषणं तत्तु सहकारिसन्निधिविशिष्टानामेव तेषां न केवलानामिति चेत्; न; तद्विशिष्टरूपस्य प्रागपि भावे ततोऽपि तत्पोषणप्रसङ्गात्, अभावे चानित्यत्वस्याभिधानात्। तदा [4]तत्सन्निध्यभाव एव [5]तेषां [6]तद्रूपाभावो न स्वरूपाभावो यदयं प्रसङ्ग इति चेत्; न; पश्चादपि तत्सन्निधिभाव एव तद्रूपभावो न स्वरूपभाव इत्यपि प्रसङ्गात्। एवञ्च तद्रूपं कारणं ब्रुवता तत्सन्निधेरेव कारणत्वमभिहितं न तेषाम्। तेषामेव विशिष्टप्रत्ययवेद्यस्वभावो विशिष्टरूपं न सन्निधिरेव; तर्हि तदभावोऽपि पूर्वं तद्वेद्यस्वभावाभाव एव न तत्सन्निधिमात्राभाव इति कथन्न अनित्यवादोपोपनिपातः।

एतेन एतदपि प्रत्युक्तं यदुच्यते परैः—"न तेषामेव कारणत्वं नापि तत्सन्निधेरेव, अपि तु तदुभयसामग्र्याः।" [ ] इति; कथम्? यथा सामग्रीभावे तदन्तर्गतसत्तात्मकत्वेन कार्योत्पत्तौ तेषामुपयोगः, तथा तदभावेऽपि तदन्तर्गताभावत्वेनैव तदनुत्पत्तौ तेषामुपयोग इत्यनित्यवादोपन्यासाप्रतिक्षेपात्। सामग्र्यभावस्य तदभावमन्तरेणापि तदनुत्पत्तिं प्रत्युपयोगे सामग्रीभावस्यापि तद्भावमन्तरेणैव किन्न तदुत्पत्तिं प्रत्युपयोगः स्यात्? सामग्रीभावे तद्भावस्यावश्यम्भावादिति चेत्; भवत्ववश्यम्भावः, अन्यथा नित्यत्वहानेः, तस्य तु कुतस्तदङ्गत्वम्? न ह्यवश्यम्भावादेव तत्त्वम्, आकाशादिभावस्यापि तत्त्वप्रसङ्गान्न नियमवती सामग्री स्यात्। अननुकृतव्यतिरेकत्वान्न तस्य तदङ्गत्वमिति चेत्; तत एव परमाणुभावस्यापि न स्यादिति कथन्न [7]तन्निरपेक्षस्यैव सामग्रीभावस्य तदुत्पत्तावुपयोगः?

सामग्रीकारणत्वे च प्रत्येकं तत्कारणत्वाभावात् कथं परमाणवः समवायिकारणम् संयोगोऽसमवायिकारणं निमित्तकारणमन्यदिति व्यपदेशः? सामग्रीकारणत्वस्य तत्रोपचारादिति चेत्; न; मुख्यकारणत्वाभावेनावस्तुत्वापत्तेः। कथं सामग्र्या अपि कारणत्वम् अवस्तूनां सामग्र्या अप्यवस्तुत्वात्? सामग्र्यास्तदभेदान्मुख्यमेव प्रत्येकमपि कारणत्वमिति चेत्; न; प्रत्येकपरिसमाप्त्या तस्यास्तदभेदे सामग्रीबहुत्वेन कार्यबहुत्वापत्तेः, कार्यानुपरमदोषाच्च परमाणूनां समग्ररूपाणामक्षयात्। बहुपरिसमाप्तौ तु कथं प्रत्येकं कारणत्वं तत्परिसमाप्त्या बहुष्वेवं [8]तत्त्वोपपत्तेः। तथा च नैकशो वस्तुत्वमकारणत्वात्। बहुशो वस्तुत्वमेव एकशोऽपि वस्तुत्वमिति चेत्; न; एकशस्तदभावस्यैव बहुशोऽपि तदभावत्वापत्तेः। बहुशस्तद्भाव एव दृश्यते कारणत्वादिति चेत्; न; एकशोऽपि विपर्ययात् तदभावस्यैव दर्शनात्।

---

१ "उपचारेण"–ता० टि०। २ सहकारिपोषणम्। ३ सहकारिपोषणम्। ४ सहकारिसान्निध्यभाव। ५ परमाणूनाम्। ६ तत्पोषणाभावः। ७ परमाणुनिरपेक्षस्यैव। ८ कारणत्वोपपत्तेः।

एकदाभावस्तुत्वे न परमाण्वादेर्नित्यत्वम्, अकारणवत्त्वेऽपि सत्त्वाभावात्। न ह्यवस्तुनः स्वत सत्तासम्बन्धाद्वा सत्त्वं व्योमकुसुमादावपि प्रसङ्गात्। सतश्चाकारणवतो नित्यत्वम् "सदकारणवन्नित्यम्।" [वै०सू० ४।१।१] इति वचनात्। एकदा च कारणत्वेन वस्तुत्वे सामग्र्याः प्रागपि सत कार्यस्यावश्यम्भावात् कथञ्च मुख्यः कारणभावो यत इदं विश्वरूपस्य सूक्तम्- "तथा च मुख्यः कारकव्यपदेशो यदा सहकारिसहितं स्वरूपं कार्यं जनयति सोऽन्यदा गौणः" [ ] इति। तच्च "द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते" [वै०सू० १।१।१०] इत्युपपन्नम्, आरम्भकाणामिवारम्भ्यस्यापि प्रागसत्त्वाभावेनारम्भ्यस्यानुपपत्तेः।

अथ वा, कारणस्याक्षये सेयं कार्यस्य परम्परया तस्यैवानुत्पत्तिः उपरमः कथम्? न कथञ्चित्। तत एव कारणादेकस्य[2] परस्य पुनरप्यपरस्योत्पत्तेः। सहकारिवैकल्यादनुत्पत्तिरित्यप्ययुक्तम्, सहकारिप्रतीक्षणस्य प्रतिक्षिप्तत्वात्। न च तद्वैकल्यम्, प्रागिव पश्चादप्यवयवसंयोगस्य भावात्, तस्य[3] च द्रव्यारम्भे [4]निरपेक्षत्वात्। "संयोगस्य द्रव्यारम्भे निरपेक्षकारणत्वात्" [ ] इत्यात्रेयवचनात्। तद्वैकल्येऽपि कारणप्रतिबन्धादनुत्पत्तिरिति चेत्, न, सति शक्ते हेतौ तदयोगात्।

कार्यमपि प्रतिबन्धे शक्यमेवेति चेत्, न, कार्यबन्ध्योपनिपातात् हेतोरुत्पत्तिस्तस्य बन्धश्च कार्यमिति। हेतोः हेतुत्वमेव तेन[5] प्रतिबध्यत इति चेत्, किं तस्य हेतुत्वम्? स्वरूपमेवेति चेत्, न, [6]तस्योत्पन्नेऽपि कार्ये भावात्। शक्तिरिति चेत्, न, तस्या अर्थान्तरस्यानभ्युपगमात्। [7]तत्साहित्यमेव तेन तत्प्रतिबन्ध, सति [8]तस्मिन् कार्योपजननस्याप्रतिपत्तेरिति चेत्, न, तदनुत्पत्तेस्तन्मात्राधीनत्वप्रसङ्गात्। न चैतत्साध्यं भवताम्, तदुत्पत्तेरपि [9]तदभावमात्राधीनत्वेन हेतोरकिञ्चित्करत्वापत्ते। तदभावसहिताद्धेतुभावादेव तदुत्पत्तिरिति चेत्, न, तदनुत्पत्तेरपि [10]तद्भावसहिताद्धेत्वभावादेव प्राप्तेः। [11]तद्भावे हेतुभावोऽपि प्रतीयत इति चेत्, न, [12]तस्य शक्तिरूपस्य कार्यानुमेयतया कार्यानुत्पत्तावप्रतिपत्तेः। स्वरूपमेव तस्य शक्तिः, नैतस्यामप्रतिपत्तिरिति चेत्, न तर्हि तस्य प्रतिबन्ध इति [14]कथमनुत्पत्तिः अपरापरस्य कार्यस्य अक्षीणशक्तिके हेतौ [15]तदयोगात् इत्युपपन्नमेतत्-'कारणस्य' इत्यादि।

न चायं पक्षान्तरे दोषः, प्रारम्भैकस्थूलपरिणामानां तत्परिणामापरिक्षये तदपरपरिणामारम्भे शक्तिपरिक्षयात्। शक्तेश्च कथञ्चित्तच्छक्तिमदर्थान्तरत्वेन व्यवस्थापनात्।

अपि च, कुत इदं परमाणूनामाधारत्वं यतः कार्यं तेषु व्यपदिश्येत? उत्पादनादिति चेत्, न, सहकारिणामपि [16]तत्प्रसङ्गात्। स्थापनादिति चेत्, न, स्वयमस्थास्नुतयोत्प-

---

1 अन्यथा आ०, ब०, प०। 2 -स्य पुन -आ०, ब०, प०। 3 संयोगस्य। 4 "न च द्रव्यगुणकर्महेतुः द्रव्यारम्भे निरपेक्षः।"–प्रश० भा० पृ० ६१। 5 कार्येण। 6 तस्योत्पन्नेऽपि कार्ये आ०, ब०, प०। स्वरूपस्य। 7 कारणसाहित्य। 8 कारणसाहित्यप्रतिबन्धे। 9 कारणसाहित्यप्रतिबन्धमात्र। 10 कारणसाहित्यप्रतिबन्धकाभाव। 11 कारणसाहित्यप्रतिबन्धसद्भाव। तदभावादित्यादि–आ०, ब०, प०। 12 कारणसाहित्यप्रतिबन्धकाभावे। 13 हेतुभावस्य। 14 कथमुत्प–आ०, ब०, प०। 15 अनुत्पत्तेरयोगात्। 16 आधारत्वप्रसङ्गात्।

न्यस्य तदयोगात् । न हि तस्य तेभ्यः स्थितिरव्यतिरेकेण विरोधात्, स्वयमस्थास्नु च स्थितिश्च तस्येति । व्यतिरेकेऽपि कथं तया तत्तिष्ठेन्नाम ? सम्बन्धादिति चेत् ; न; अनुपकारे तदयोगादतिप्रसङ्गात् । स्थित्यापि तदन्तरस्योपकार इति चेत् ; न, तस्यापि व्यतिरेके पूर्ववत्प्रसङ्गात् । तेनापि तदन्तरकल्पनायाम् अनवस्थापत्तेः । स्थितिरेव कार्येणोपकार इति चेत् ; न ; तत्स्वरूपस्य परमाणुभ्य एव भावात् । अस्वरूपमुपकार इति चेत् ; तेनाप्यनुपकारे सम्बन्धायोगात् । ततोऽन्यस्वरूपोपकारान्तरपरिकल्पनायाम् अनवस्थोपनिपातात् । तन्नास्थास्नुतयोत्पन्नस्य कुतश्चिदवस्थापनम् । नापि विपरीतस्य वैयर्थ्यात् । सत्यपि स्थापकत्वे परमाणूनां कथं स्थाप्यस्य कुतश्चिदुपरमः ? स्थापकेष्वक्षीणेषु तदयोगात् । उपरमहेतुसन्निधानात्प्रागेव तेषां स्थापकत्वं न पश्चादिति चेत् ; न, अनित्यत्वापत्तेरावेदनात् । कार्यस्यैवायं धर्मो यत्स्थापकेषु सत्स्वपि उपरमहेतुसन्निधानादुपरमतीति चेत ; तदुपरमे कथं स्थापकत्वं तस्य स्थाप्यापेक्षत्वात् ? चित्रोपरमे कथं कुड्यस्य स्थापकत्वमिति चेत् ? न; असिद्धत्वात् । न हि सत्येव स्थापकत्वे कुड्यस्य चित्रोपरमः, तदस्थापकत्वपरिणामभाव एव तदुपपत्तेः । किमिदानीं घृष्ट्यादिना तदुपरमहेतुनेति चेत् ? न ; तत्सन्निधान एव तस्य स्वहेतुतस्तत्परिणामात् । उक्तञ्चैतत्—

"स्वतोऽन्यतो विवर्त्तेत क्रमाद्धेतुफलात्मना" [सिद्धिवि० परि० ३] इति ।

तन्न कुड्यमत्र दृष्टान्तो वैषम्यात् । तस्मादनुपरतिरेव सत्सु स्थापकेषु कार्यस्येति व्यर्था एवोपरतिहेतवो नित्यकारणवादिनाम् । तदाह—**कारणस्य** इत्यादि । **कारणस्य** परमाणुरूपस्य जातावेकवचनम् । **अक्षये** स्थापकस्वभावापरिक्षये **कार्यस्य** स्थाप्यस्योपरमः प्रध्वंसः । **कथम्** ? न कथञ्चित् ।

किञ्च तस्य तैः स्थाप्यत्वम् ? सम्बन्ध इति चेत् ? सोऽपि यदि सर्वात्मना तदनुप्रवेशः ; तदा परमाणव एव नापरं द्रव्यमिति कथन्न "सर्वाग्रहणम् अवयव्यसिद्धेः" [न्यायसू० २।१।३४] इति भवतोऽपि दोषः । एकदेशेनेति चेत् ; न ; कारणव्यतिरेकेण तदभावात् । भावे तत्रापि सर्वात्मना तदनुप्रवेशे स एव अवयव्यभावान्न तस्य नापि परमाणूनामतीन्द्रियत्वाद्ग्रहणमिति सर्वाग्रहणदोषः । तत्राप्येकदेशेन तदनुप्रवेशकल्पनायाम् अनवस्थानम् । न सर्वात्मनैकदेशेन वा सम्बन्धः; [10]तस्य भेदाभावात्, सत्येव च भेदे तन्निःशेषतायां सर्वात्मनेति, तत्सशेषतायामेकदेशेनेति चोपपत्तेः, अपि तु स्वरूपेणैव ; इत्यपि न युक्तम् ; तेनापि तदनुप्रवेशे तन्मात्रावशेषात् [11]पूर्वदोषानतिवृत्तेः । न तदनुप्रवेशः सम्बन्धः, अपि तु अजहद्रूपतया [12]प्राप्तिरेवेति चेत् ; तत्रापि न क्रमेण प्रत्यवयवं तस्य सम्बन्धः ; एकद्रव्यस्य प्रसङ्गात्, तस्य चानभ्युपगमात्, अवय-

१ कार्यस्य । २ कार्यस्य । ३ कार्यम् । ४ चित्रोपरमोपपत्तेः । ५ चित्रोपरम । ६ कुड्यस्य । ७ कार्यस्य । ८ यौगस्यापि । "अवयविद्रव्यमनभ्युपगच्छन्तं सौगतं प्रति भवता आपाद्यमानो दोषो भवतोऽपि यौगस्यापि स्यादित्यर्थः ।"—ता० टि० । ९ एकदेशाभावात् । १० अवयविनः । ११ सर्वाग्रहणप्रसङ्ग । १२ प्राप्तेरेवे—आ०, ब०, प० ।

यान्तराणाञ्च अवयविशून्यत्वापत्तेः । नापि युगपत् , अप्रतिपत्तेः । न हि यदा तदेकावयवसंम्बद्धतया विशिष्टप्रत्ययोपारूढं तदैव तदन्यावयवसम्बद्धतया शक्यं प्रतिपत्तुं विरोधात् । न हि नीलं नीलतया प्रतीयमानमेव पीततया बुद्धिशिखरमध्यारोहति, [1]ततो यथा नीलबुद्धिवेद्यं नीलमेव न पीतं तथैकावयवसम्बद्धमेव तत्[2] बुद्धिवेद्यं नावयवान्तरसम्बद्धम् । यत्तु तत्सम्बद्धं तद्द्रव्यान्तरमेव भवितुमर्हतीति कथमवयविनोऽपि एकत्वम् ? तद्बहुत्वस्यैवोपपत्तेः । न चैकावयवसम्बद्ध तत्प्रत्ययवेद्यं च तत्र भवति, अवयवान्तरापेक्षयापि तथा प्रसङ्गात् । तदन्तरस्यापि तदपेक्षत्वात् । न चैकैकसम्बन्धादन्यः तत्कलापसम्बन्धः। तस्यैव वीप्स्यमानस्य कलापगोचरतया व्यवहारोपरूढत्वात् सेनावत् । सेनास्य हि प्रतिवरु सम्भवत एव प्रसिद्धं वीप्सया तत्कलापगोचरत्वम्[3] । ततः प्रत्येकमेसम्बन्धे सम्बन्धवैकल्यमेवावयवावतः प्राप्तम् । तन्मा भूदिति प्रत्येकमेव सम्बन्धः, तत्र च प्रत्यवयव बहुत्वमेव अवयविनो नैकत्वम् । न येनात्मना तदेकावयवसम्बद्धं तेनैवावयवान्तरसम्बद्धतया वेद्यं यद्यं प्रसङ्ग[4] स्यात् , अपि तु आत्मान्तरेणैवेति चेत् , न , स्वमात्रभेदाभावात् । [5]तद्भावे निरंशत्वादव्यापत्तेः, भिन्नावयवकल्पना वैफल्याच्च । तदुक्तम्—

"एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥" [आप्तमी० श्लो० ६२] इति ।

ननु यद्यवयविनो न प्रतिपत्तिः क्व तदा क्रमयौगपद्याभ्यां वृत्तिपर्यनुयोगः ? धर्मपर्यनुयोगस्य सत्येव धर्मिण्युपपत्तेः, प्रतिपत्तावपि किं तत्पर्यनुयोगेन ? युगपदनेकावयववृत्तिमत एव तस्य[6] प्रतिपत्तेः, तथा प्रतिपन्नस्य चाशक्यप्रतिक्षेपत्वादिति चेत् ; सत्यम् , अस्ति प्रतिपत्तिः , न तु सा प्रमाणम् , तत्प्रामाण्यस्यैव वृत्तिपर्यनुयोगेन प्रतिक्षेपात् । स एव तत्प्रतिपत्त्या किन्न प्रतिक्षिप्यत इति चेत्[7] , 'नीलं तदैव कथमनीलम्' इत्यपि पर्यनुयोगः 'सर्वं सर्वात्मकम्' इति प्रतिपत्त्या किन्न प्रतिक्षिप्यते ? तस्याः प्रत्यक्षप्रत्यनीकत्वात्, न हि नीलमेव भवदनीलं प्रतिभासत इति चेत्, समानमन्यत्र, अवयविप्रतिपत्तेरपि तत्प्रत्यनीकत्वात् । न हि निरंशस्यावयविनोऽपि प्रत्यक्षे प्रतिभासनमस्ति ।

[8]प्रत्यक्षं निर्विषयमेव तर्हि स्यात् , परमाणूनामतीन्द्रियत्वेन तद्विषयत्वायोगादिति चेत् , न, कथञ्चिदवयवाभेदिनस्तस्य[9] तद्विषयत्वात्, अवयविवत् तदवयवाभेदस्यापि तत्र प्रतिभासनात् । अत एव तन्तवः पटीभूता इति व्यवहारः । न ह्ययम् अपटात्मना पटभावापत्तिमन्तरेण घटामटति । अभूततद्भावे तस्यैव च्विप्रत्ययोपपत्तेः। अवयवतद्वतोः पृथक्त्वाग्रहणादभेदप्रतिभासो न वस्तुवृत्तेन अभेदभावात्, [10]सेनावनप्रतिभासवत् । न हि [11]सेनावनप्रतिरूपतयामेवस्य भावात

1—सम्बन्धतया आ०, ब०, प० । २ तथा यथा आ०, ब०, प० । ३ अवयविद्रव्यम् । ४—मरलं कथं तत्र आ०, ब०, प० । ५ —र्व सम्ब—आ०, ब०, प० । ६ स्वमात्रभेदे । ७ अवयविनः । ८ वृत्तिपर्यनुयोग एव । ९ प्रत्यक्षम् । १० अवयविना । ११ "कर्मकर्तृभ्यां प्राक्तत्वे च्विः (शाकटा० ३।४।५५)" ता०टि० । १२ —अवयविप्रति —आ०, ब०, प० । १३ —भावन प्रति—आ०, ब०, प० । सेनावनादावनेकस्य अभेदस्य ।

त्प्रतिभासः, [1]प्रत्यासत्तावपि प्रसङ्गात्, अपि तु दूरात् पृथक्त्वापरिज्ञानादेव, तद्वत् अवयवतद्वतो-रपीति चेत्; न, स्थूलप्रतिभासस्याप्येवं परमाणुष्वेव प्रसङ्गात्। भवत्ययं प्रसङ्गो यदि परमाणवः पृथक्त्वेनापि कदाचिदुपलभ्येरन् तदा कुतश्चिदगृहीतपृथक्त्वानां तेषामेव स्थूलबुद्धिविषयत्व-मिति। न चैवम्, सर्वदा तेषामतीन्द्रियत्वेनासाक्षात्करणात्। न चातीन्द्रियाणामेव करितुर-गादीनां धवखदिरादीनाञ्च पृथक्त्वापरिज्ञानात् सेनावनबुद्धिविषयत्वमुपलब्धम्, प्रत्यासत्तौ पृथक्तया दृष्टानामेव तेषां दूरतः पृथक्त्वापरिज्ञाने तद्बुद्धिगोचरत्वप्रतिपत्तेः। अतो न सेनावनादि-प्रतिभासदृष्टान्तात् परमाणुषु स्थूलप्रतिभासोपकल्पनमुपपन्नं वैषम्यादिति चेत्; नेदानीमवयवतद्व-तोरपि पृथक्त्वापरिज्ञानादभेदबुद्धिः तयोरपि पृथक् कदाचिदप्यप्रतिपत्तेः। न हि निरंशमेवावय-विनं तदवयवकलापं च क्वचिदपि सम्पश्यामो यतस्तयोरेव कुतश्चित्पृथक्त्वापरिज्ञानादभेद-बुद्धिगोचरत्वं परिकल्पयेम।

यत्पुनरेतत्-[2]अणुषु स्थूलप्रत्ययस्य अतस्मिंस्तत्प्रत्ययत्वम्; न; प्रधानापेक्षित्वात्। भवि-तव्यं स्थूल एव [3]तत्प्रत्ययेन प्रधानभूतेन। न ह्यसति पुरुष एव पुरुषप्रत्यये स्थाणौ तत्प्रत्ययो दृष्टः। न चावयविनः सम्भवति प्रधानस्त[4]त्प्रत्ययः, [5]तदभावात्। तत्कथं परमाणुष्वप्रधानस्त-त्प्रत्ययः इति ? तदपि न युक्तम्; अवयवतद्वतोरभेदप्रत्ययस्याप्येवमभावप्रसङ्गात्। न हि तस्याप्यतस्मिंस्तत्प्रत्ययत्वेन प्रधाननिरपेक्षस्योत्पत्तिः। न च कथञ्चित्तादात्म्यमनिच्छतः कश्चिदपि मुख्यः कथञ्चिदभेदप्रत्ययः सम्भवति, तदभावे च कथं तदपेक्षी परस्परैकान्तभिन्नयोरवयवतद्व-तोस्तत्प्रत्ययः सम्भवेत्। ततो यदि पृथगपरिज्ञानयोरप्यवयवतद्वतोः पृथक्त्वापरिज्ञानादभेदप्रत्ययः परमाणुष्वेव [6]तदंशेषु ततः स्थूलप्रतिभासो भवेत्। तदाह-'**कारणस्य**' इत्यादि। **कारणस्य** पृथक्त्वापरिज्ञानलक्षणस्य **अक्षये** अवयवतद्वतोरिव परमाणुष्वपि भावे **कार्यस्य** अभेदप्रत्ययवत् स्थूलप्रतिभासनस्य **उपरमो** निवृत्तिः **कथम्** ? न कथञ्चिदिति।

अस्तु समवायात्तयोरभेदप्रत्यय इति चेत्; न; [7]तस्मात् 'इहेदम्' इति भेदप्रत्ययस्यो-पगमात्, तद्धेतोश्चाभेदप्रत्ययहेतुत्वानुपपत्तेः। कथं वा [8]ततस्तयोस्तत्प्रत्ययः ? सम्बन्धादिति चेत्; केन सम्बन्धः ? तादात्म्येनेति चेत्; न; परमतानुप्रवेशापत्तेः। सम्बन्धान्तरेणेति चेत्; न; [9]तेनाप्यसम्बद्धेन तद्योगात्। तस्यापि सम्बन्धान्तरेण सम्बन्धे अनवस्थोपनिपा-तात्। स्वत एव समवायस्य सम्बन्ध इति चेत्; न; अवयवतद्वतोरेव स्वतस्तत्प्रसङ्गात्। असम्बन्धत्वान्नेति चेत्; समवायस्य कुतः सम्बन्धत्वम् ? स्वतः सम्बन्धाच्चेत्; सोऽपि कस्मात् ? सम्बन्धत्वाच्चेत्; न; परस्पराश्रयात्-स्वतः सम्बन्धात् सम्बन्धत्वम्, ततश्च स इति।

---

१ सामीप्येऽपि। २ अणुस्थू-आ०, ब०, प०। ३ स्थूलप्रत्ययेन। ४ स्थूलप्रत्ययः। ५ -वात्कथं आ०, ब०, प०। ६ पृथक्त्वेनापरिज्ञानेषु। ७ समवायात्। ८ सम्बन्धान्तरेणापि। ९ -प्यसम्बन्धेन आ०, ब०, प०।

अथाय तस्य स्वभावो यदयमसम्बद्धोऽपि तयोरभेदप्रत्ययमुपजनयतीति, तन्न, तन्तुपटयोरिव कपालपटयोरपि तदवस्थप्रसङ्गात्। तन्तुपटयोरेव तस्य तज्जननस्वभावो न कपालपटयोरिति चेत्, कपालपटयोस्तर्हि कुतस्तत्प्रत्ययः? समवायान्तरादिति चेत्, न, "तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्"[3] [वै० सू० ७।२।२८] इति तदेकत्वकथनविरोधात्। एकस्यापि तत्र तत्र स्वभावभेदान्नायं दोष इति चेत्, न, स्वभावभेदस्य कथञ्चित्तदर्थान्तरत्वे अनेकान्तवादप्रत्युज्जीवनापत्तेः। सर्वथार्थान्तरत्वे तु कथं स[4] तस्येति व्यपदेशः? सम्बन्धादिति चेत्, न, तत्रापि प्रतिसम्बन्धं तत्स्वभावभेदकल्पनायाम् अनवस्थितिप्रसङ्गात्। ततो निर्विभाग एव समवायः, ततः कथं तन्तुपटयोरेवाभेदप्रत्ययो न कपालपटयोरप्यविशेषात्। तदाह-'कारणस्य' इत्यादि। कारणस्य समवायस्य अक्षये तन्तुपटवत्कपालपटादावपि भावे कार्यस्य पूर्वत्रेवोत्तरत्राप्यभेदप्रत्ययस्य उपरमो निवृत्तिः कथम्? न कथञ्चिदिति।

समवायस्याविशेषेऽपि समवायिनामस्ति विशेषो यतस्तन्तुष्वेव पटस्याभेदप्रत्ययो न कपालादिष्विति ततोऽयमदोष इति चेत्, किमिदानीं समवायेन? अविष्वग्भावज्ञानस्य तत्कार्यत्वेनेष्टस्य समवायिविशेषादेव भावात्। कथं चाविष्वग्भावप्रत्ययस्य मिथ्यात्वे ततः पटादेरपि प्रतिपत्तिः? मिथ्याप्रत्ययात्तदयोगात्। अन्यत एव तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्, न, युगपत्प्रत्ययद्वयस्याप्रतिवेदनात्। क्रमेण प्रतिवेदनमिति चेत्, न, तथाननुभवात्। न हि पटाविष्वग्भेदप्रत्यययोः पौर्वापर्यस्यानुभवः, तथानिश्चयाभावात्। निश्चयात्मा च भवतामनुभवः, स कथं तदभावे भवेत्? कथं वा पटादेरभेदप्रत्ययेनाप्रतिपत्तौ तदधिष्ठानत्वेनाभेदप्रतिपत्तिः 'तन्तवः पटो भवन्ति' इति? विद्यते चेयम्, तस्मादेक एवायं प्रत्ययो मिथ्यात्मेति कथमतः पटादितत्त्वप्रसिद्धिः स्यात्? यतोऽवयविव्यवस्थापनेन योगाः सौगतमतिशयीरन्।

अभेदमात्रे एवायं प्रत्ययो मिथ्या बाध्यमानत्वात् न पटादौ विपर्ययादिति चेत्, कथमेक एवायं मिथ्या च अमिथ्या च विरोधात्? अन्यथा प्रतिपत्त्यभावान्न विरोध इति चेत्, अनुकूलमाचरितम्, अत एव बहिरर्थस्याप्यवयविरूपतया नानैकस्वभावस्य सिद्धेः। ततो न निरंशावयव्यभावेऽपि प्रत्यक्षस्य निर्विषयत्वम्, जात्यन्तरविषयत्वेन सविषयत्वात्। तदुक्तम्-"जात्यन्तरं तु पश्यामः" [सिद्धिवि०परि० २] इति।

तन्न निर्विषयत्वप्रसङ्गभयात् प्रत्यक्षस्य निरंशावयविनः कल्पनमुपपन्नम्, असत्यपि तस्मिन् तद्भयाभावात्। न चैवम्, अप्रतीत एव तस्मिन् वृत्तिपर्यनुयोगः, परोपगमतस्तस्य प्रतीतेः। प्रतीयमानस्य वृत्तिमत्त्व एव प्रतीतेर्निरवसरं एव तत्र[10] तत्पर्यनुयोग इति चेत्, कथमिदानीं सर्वैकभावभावनैरात्म्यादावपि पर्यनुयोगः? तस्यापि यथाकल्पनं तद्रूपस्यैव प्रतीतेः। कल्पयत

१ भवभावमविनो। २ -पटयोरेव कपालपट-आ०, ब०, प०। ३ तत्त्वमेकत्वं भावेन सत्तया इव, यथा सर्वत्राविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्चैकत्वं सत्तायाः तथा समवायस्यापि इति भावः। ४ स्वभावभेदः। ५ -तथ्य- आ०, ब०, प०। ६ पत्र-आ०, ब०, प०। ७ -भाव ए-आ०, ब०, प०। ८ अनवस्थिति। ९ -तरत्राप्य आ०,ब०, प०। १० वृत्तिपर्यनुयोगः।

एव परमपरैस्तद्रूपं न परिस्फुटज्ञानप्रकाशमुपश्लिष्यतीति चेत् ; समानं वृत्तावपि, सापि परिकल्प्यत एव भवद्भिर्न तस्या अपि तत्प्रकाशोपश्लेषः क्वचिदपि दृश्यते । न हि निरंशं किञ्चित् क्वचित्क्रमेण यौगपद्येन वा वर्त्तमानमुपलभेमहि ।

यद्येवमनुपलम्भादेव वृत्तिवत् वृत्तिमतोऽप्यभावः साधयितव्यः किं वृत्तिपर्यनुयोगेनेति चेत् ? सत्यम् ; अस्ति ततोऽपि तदभावसाधनम् । "न पश्यामः क्वचित्किञ्चित्सामान्यं वा स्वलक्षणम्" [सिद्धिवि० परि० २] इति वचनात् । वृत्तिपर्यनुयोगस्तु व्यापकाभावादपि तदभावनिरूपणार्थः, अनेकप्रकारत्वात्तत्त्वनिरूपणस्य । व्यापिका हि वृत्तिर्वृत्तिमतः परैस्तथैव प्रतिपत्तेः । वृत्तेर्वृत्तिमद्रूपत्वे 'कथं तस्यानेकत्र वर्त्तनं युगपन्निरंशस्य' इति भवति पर्यनुयोगः ? न चैवम्, पदार्थान्तरस्य समवायस्यैव वृत्तित्वात्, तस्य चानेकत्र भावो विभुत्वात् । तदनेकत्र भाव एव वृत्तिमतोऽप्यनेकत्र भाव इति चेत्; कथं तस्य तद्धर्मो वृत्तिमतः ? तस्य तत्सम्बन्धत्वादिति चेत्; न; पटस्य तन्तुवत् कपालादिष्वपि सर्वत्र वृत्तिप्रसङ्गात् समवायस्य सार्वत्रिकत्वात् । तस्याविशेषेऽपि समवायिनः पटादेर्विशेषान्नियम इति चेत्; कस्य नियमः ? समवायस्येति चेत्; न; 'सार्वत्रिकश्च नियतश्च' इति व्याघातात् । पटादेरेवेति चेत्; किमिदानीं समवायेन ? इति न तद्रूपा वृत्तिः, समवायिविशेषस्यैव वृत्तित्वात् । तत्र चोक्तमेव दूषणम् ।

न च समवायो नाम कश्चित्; प्रमाणाभावात् । न हि तस्य प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तिः; पटतन्तुव्यतिरेकेण तदनिर्णयात्, सन्निकर्षाभावाच्च । न तावदसौ संयोगः; द्रव्य एव तदुपगमात् । नापि समवायः; तस्यान्यस्यानभ्युपगमात् । नापि संयुक्तसमवायादिः[6]; तस्यापि क्वचित्समवायाभावे समवायस्य, असम्भवात् । भवतु सम्बद्धविशेषणभाव इति चेत्; कथं समवायस्यानाश्रितत्वम् ? सति तस्मिन्नाश्रितत्वस्यैवोपपत्तेः । समवायापेक्षस्यैव तत्राश्रितत्वस्य निषेध इति चेत्; कुतो दोषात् ? अनवस्थानादिति चेत्; कुतः सम्बद्धविशेषणभावे स न भवति ? तस्य समवायादनर्थान्तरत्वात् । अर्थान्तर एव तत्प्रसङ्गादिति चेत्; न; एवं समवायस्यापि पटादेरनर्थान्तरत्वप्रसङ्गात्–[10]"अविशेषणात् विशेषणत्वस्यैव"[11] असम्बन्धादपि सम्बन्धस्यानर्थान्तरत्वाविरोधात् । तथा च स्वरूपवृत्तिरेवोक्तदोषा[12] स्यात् । तन्न अनाश्रितत्वे समवायस्य समवायान्तरवत्तद्विशेषणभावोऽपि सम्भवतीति कथं [13]ततोऽपि दर्शनं तस्य ? न चासन्निकर्षे दर्शनम्; सन्निकर्षवादवैफल्यापत्तेः । तस्मान्न युक्तमुक्तम्–"समवायस्य प्रत्यक्षेणैव प्रतिभासनात्" [ ] इति[14] । "अत एव चातीन्द्रियः" [प्रश० भा० पृ० १७४] इति प्रशस्तकरवचनविरोधाच्च ।

---

१ समवायस्यानेकत्र । २ समवायस्य । ३ अनेकवृत्तित्वरूपो धर्मः । ४ समवायस्य । ५ संयोगाभ्युपगमात् । ६ –यादि त–ता० । ७ सम्बद्धविशेषणभावस्य । ८ अनवस्थादोष । ९ पटा–आ०, ब०, प० । १० विशेषणात्मकत्वात् समवायात् यथा विशेषणत्वस्य–सम्बद्धविशेषणभावस्य अनर्थान्तरत्वं तथा सम्बन्धात्मकात् पटादेरपि समवायस्य अनर्थान्तरत्वं स्यात् विशेषाभावादिति भावः । ११ –त्वस्यैव आ०, ब०, प० । १२ –वृत्तेरेवोक्त– आ०, ब०, प० । १३ सम्बद्धविशेषणभावादपि । १४ "समवाये अभावे च विशेषणविशेष्यभावात्"–न्यायवा० १।१।४ । "तदेतत् पञ्चविधसम्बन्धसम्बन्धिविशेषणविशेष्यभावात् इन्द्रियाभाव-समवाययोर्ग्रहणम् ।......समवायस्य तु क्वचिदेव ग्रहणम्–यथा रूपसमवायवान् घटः घटे रूपसमवाय इति ।"–न्यायमा० पृ० २ ।

इह प्रत्ययापेक्षमेव तेन[1] तस्यातीन्द्रियत्वमुच्यते तस्य [2]तत्राप्रतिभासनात्, आधारस्यैव हि तत्र प्रतिभासनं न समवायस्य निर्विकल्पे प्रत्यक्षान्तर एव तस्य[3] प्रतिभासनादिति चेत्, न, तस्याधिभावनात्। अवयवावयविनोः संश्लेषज्ञानमेव तदिति चेत्, न, तत्र कथञ्चित्तादात्म्यस्यैव प्रतिभासनादिति निरूपणात्। ततो न युक्तमेतदपि व्योमशिवस्य–"निर्विकल्पके त्ववयवावयविनोः संश्लेषज्ञाने समवायः प्रत्यक्ष एव" [प्रश० व्यो० पृ० ६९९] इति। तन्न तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणम्।

नाप्यनुमानम्, तदभावात्। ननु इदमस्ति–इह [4]शाखासु वृक्ष इति प्रत्ययः सम्बन्धपूर्वक[5], निर्बाधत्वे सति इह प्रत्ययत्वात्, कुण्डे दधीति प्रत्ययवदिति चेत्, न, अतोऽपि तादात्म्यस्यैव सम्बन्धस्योपपत्तेः। ननु तादात्म्यं नाम वृक्षस्य शाखाभिस्तासां वा वृक्षेणैकत्वमेव, तत्कथं सम्बन्धः? सम्बन्धस्य द्विष्ठतयैवोपपत्तेरिति चेत्, न, एकान्तेनैकत्वाभावात् द्विष्ठताया अप्युपपत्तेः। कथं पुनर्भेदाभेदयोरेकविधेरन्यतरप्रतिषेधरूपत्वात् एकत्र धर्मिणि सम्भव इति चेत्? कथं विभ्रमेतरयोरेकत्र ज्ञाने सम्भवः तदविशेषात्? मा भूदिति चेत्; किं पुनरिदानीम् 'इह ग्रामे वृक्षाः' इति ज्ञानमभ्रान्तमेव? तथा चेत्, किं तद्व्यवच्छेदार्थेन[7] निर्बाधताविशेषणेन? भ्रान्तमेव, सम्बन्धाभावेऽपि ग्रामारामव्यवधानादर्शनादुत्पत्तेरिति चेत्, कथं ततो ग्रामादेरपि प्रतिपत्तिः मिथ्याज्ञानस्य वस्तुविषयत्वायोगात्? न च ग्रामादिरवस्त्वेव बाधाविरहात्। न च तद्विरहविषयस्यावस्तुत्वम्, अतिप्रसङ्गात्। अभ्रान्तमेव ग्रामादौ तदिति चेत्, कथमेकमेव भ्रान्तमभ्रान्तञ्च, विभ्रमेतरयोरप्येकविधानस्य इतरप्रतिषेधरूपत्वेन एकत्रायोगात्? प्रतिभासभेदेन च भेदस्यैवोपपत्तेः। विलक्षणो हि विभ्रमप्रतिभासादितरप्रतिभासः, तत्कथं तस्य तदेकविषयत्वम्? प्रतिभासस्यापि न सर्वथा भेदः, कथञ्चिदभेदस्यापि प्रतिभासनादिति चेत्, अनुकूलमाचरसि, अवयवतद्वतोरप्येवं कथञ्चिदभेदोपपत्तेः अभेदप्रतिभासाविशेषात्। अस्ति हि तत्रापि भेदवदभेदस्यापि प्रतिभासः, शाखाचलने वृक्षश्चलतीति प्रत्ययात्। न ह्यसत्यन्वयव्यतिरेके शाखाचलनं वृक्षे शक्यं प्रतिपत्तुम्। समवायाच्छक्यमेवेति चेत्, कथं ततोऽपि शाखाया वृक्षत्वेन प्रतिपत्तिः, इहेतिप्रत्ययाभावप्रसङ्गात्? न हि तद्रूपप्रतिपत्तिहेतोरेव तदधिकरणत्वप्रतिपत्तिः, विरोधात्। न हि नीलं नीलतया प्रत्याययदेव तदधिकरणतया प्रत्याययदुपलब्धम्। न च शाखावत् वृक्षस्यापि चलनादेव तत्र [6]चलनप्रत्ययः, चलनादर्शनस्यानुपलम्भात्[8] व्याप्त्या तत्प्रसङ्गाच्च। न हि निरंशस्याव्याप्त्या तत्सम्भवः, निरंशत्वव्यापत्तेः। ततः शाखाचलनमेव वृक्षस्यापि चलनमिति कथं शाखातादात्म्यं वृक्षस्य प्रतीतिसिद्धं न भवेत्, यतस्तत्रार्थान्तरसम्बन्धप्रतिज्ञा प्रतीतिप्रतिक्षिप्ता हेतवश्च विरुद्धा न भवेयुः? तदेवाह–

---

1 प्रत्यक्षरूपेण। 2 इहप्रत्यये। 3 समवायस्य। 4 "इह तन्तुषु पट इत्यादीहप्रत्ययः सम्बन्धकार्यः अबाध्यमानेहप्रत्ययत्वात्। यो योऽबाध्यमानेहप्रत्ययः स सम्बन्धकार्यो यथेह कुण्डे दधीति तथा चायमबाध्यमानेहप्रत्ययः तस्मात्सम्बन्धकार्य इति।"–प्रश० व्यो० पृ० १०९। प्रश० कन्द० पृ० ३२५। 5 -पर्यनिरि- आ०, ब०, प०। 6 चलनं तत्र प्रत्यय- आ०, ब०, प०। 7 सर्वदेशानवच्छेदेन। 8 -चस्य व्या- आ०, ब०, प०।

समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्यादिसाधनैः ।
अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरास्थितिः ॥१०७॥ इति ।

समवायस्य वृक्षाशाखादीनामयुतसिद्धानाम् अत्यन्तव्यतिरेकिणः सम्बन्धस्य **आस्थितिः** आस्था प्रतिज्ञा **लोकोत्तरा** लोकं दर्शनप्रत्ययम् उत्तरति उल्लङ्घयतीति **लोकोत्तरा** प्रत्यक्षनिराकृतेति यावत् ।

प्रत्यक्षेण हि तादात्म्यं गृह्णता वृक्षशाखयोः ।
भिन्नसम्बन्धसन्धेयं कथन्न प्रतिषिध्यते ? ॥१००८॥
ततः प्रत्यक्षनिर्लुप्तपक्षानन्तरभावतः ।
कालात्ययापदिष्टत्वं हेतूनामिति मन्यते ॥१००९॥

सिद्धिर्वित्तिस्तस्या रहस्त्यागः **सिद्धिरहः** सिद्ध्यभाव इति यावत् । कस्य ? **समवायस्य** । कैः ? **'वृक्षोऽत्र शाखासु'** इति एवं रूपं ज्ञानमभिधानञ्च **आदि**र्येषाम् 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिज्ञानाभिधानानां तान्येव **साधनानि** तैरिति । न तानि साधनानि, तद्धर्माणाम् इहप्रत्ययत्वादीनां साधनत्वादिति चेत्; न; धर्मतद्वतामविष्वग्भावापेक्ष्यैवमभिधानात् । 'यो य इहप्रत्ययः स सम्बन्धपूर्वको यथा कुण्डे बदराणीति प्रत्ययः' इति व्याप्तिदर्शनस्याप्येवमेवोपपत्तेः, अन्यथा हेतोर्व्याप्तिदर्शने कर्त्तव्ये धर्मिणस्तदुपदर्शनमसम्बद्धं भवेत् । कथं पुनरितिशब्दस्य आदिशब्देन समासः 'वृक्षः' इत्यादेस्तेनापेक्षणात् ? अनपेक्षणे तु न तद्रूपस्य बुद्ध्यादेस्तेनोपदर्शनमिति चेत्; न; तदनपेक्षतयैव प्रकृतस्य तेनोपदर्शनात् । वृक्ष इत्यादिकं तद्बुद्धौ तत्प्रकरणार्थमुक्तम् । कुतस्तैस्तस्य सिद्धिरहः ? इत्यत्राह—**अनन्यसाधनैः** यत इति । अन्यः समवायस्तस्य समवायिभ्योऽर्थान्तरत्वात्, तस्मादन्यः तादात्म्यपरिणामः तस्य साधनैः विरुद्धैरिति यावत् ।

समवायविरुद्धस्य तादात्म्यस्येह साधनैः ।
समवायस्य संसिद्धिः कथन्नामोपपद्यते ? ॥१०१०॥
तादात्म्यसाधनत्वञ्च तेषां तद्व्याप्तिनिर्णयात् ।
विभ्रमाविभ्रमाकारप्रत्यये सुपरिस्फुटम् ॥१०११॥

न हि इह विभ्रमेतराकारयोः ज्ञानमिति[1] प्रत्ययस्य तादात्म्यसम्बन्धपूर्वकत्वनिर्णयेऽपि शाखादौ इहेदम्प्रत्ययस्य तदन्यसम्बन्धपूर्वकत्वसाधनमुपपन्नम्, यथाव्याप्तिनिर्णयमेव अनुमानोपपत्तेः, अन्यथा अतिप्रसङ्गात् । 'कुण्डे दधि' इति प्रत्ययस्य तदन्यसम्बन्धपूर्वकत्वमेव प्रतिपन्नम्, तत्संयोगस्य ताभ्यामन्यत्वादिति चेत्; न; प्रत्यासत्तिपरिणामस्यैव संयोगस्यापि प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तेः, अन्यत्र विवादात् । न विवादः, अन्वयव्यतिरेकितया प्रतिभासभेदात् भिन्नस्यैव

१-सन्देह. क-आ०, ब०, प० । १ ज्ञानप्र-आ०, ब०, प० ।

संयोगस्य परिज्ञानात् । अन्वयी हि संयोगी सत्यसति च संयोगे तस्योपलम्भात्, व्यतिरेकी च संयोगः सत्यपि संयोगिनि तस्याप्रतिपत्तेः, इत्यपि न युक्तम्, तद्भेदादपि विभ्रमेतायकाराभ्यां ज्ञानस्येव कथञ्चिदेव तद्भेदपरिज्ञानात् । आत्यन्तिकभेदस्य अभेदप्रतिमासेन प्रतिक्षेपात् ।

संयोगस्यैकत्वे तद्व्यतिरेकात् संयोगिनोरप्येकत्वमिति चेत्, न, प्रतिसंयोगि भिन्नस्यैव तस्य प्रतिपत्तेः । कथमनुगतरूपाभावे 'कुण्डं संयोगि दधि संयोगि' इत्यनुगतप्रत्यय इति चेत्, कथम् 'संयोगः सम्बन्धः समवायः सम्बन्धः' इत्यनुगतप्रत्ययः, सम्बन्धरूपस्याप्यनुगतस्याऽभावात् ? भावे तस्य सप्तमपदार्थत्वापत्तेः । न हि तस्य द्रव्यादीनां पञ्चानामन्यतमत्वम्, समवायाधारतया तैरनभ्युपगमात् । अत एव न समवायत्वम्, समवायनानात्वे अनवस्थानात् । तस्मात्संयोगसमवाययोः स्वरूपमेव परस्परसादृश्यात् अनुगतप्रत्ययकारणमङ्गीकर्तव्यम्, तद्वत् दधिकुण्डयोरपि । ततो निषिद्धमेतत् व्योमशिवस्य–"भिन्नेभ्योऽनुगतप्रत्ययस्याऽदर्शनात्" [प्रश० व्यो० पृ०] इति भिन्नाभ्यामेव संयोगसमवायाभ्यां सम्बन्धप्रत्ययस्यानुगतस्योपलम्भात् । तत्र संयोगोऽपि तद्व्यतिरेकी यत्पूर्वकत्वं 'कुण्डे दधि' इति प्रत्ययस्योपकल्प्येत ?

कुतः पुनः समवायाभावे 'शाखासु वृक्षः' इति प्रत्ययः ? इति चेदाह–

अध ऊर्ध्वविभागादिपरिणामविशेषतः । इति ।

अध ऊर्ध्वं च ये विभागा मूलशाखारूपा अवयवास्ते आदयो येषां पार्श्वमध्यविभागानां तैः सह परिणामविशेषः कथञ्चिदभेदपरिणामस्तत इति ।

अभेदपरिणामाद्धि शाखाभिरिह शाखिनः ।
शाखासु वृक्ष इत्येष प्रत्ययः परिदृश्यते ॥१०१२॥
तत्कथं तद्दृशोरन्यसम्बन्धपरिकल्पनम् ।
दृष्टान्यहेतुकक्लृप्तौ हि न क्वचित्स्यादवस्थितिः ॥१०१३॥

यदि च 'शाखासु वृक्षः' इति प्रत्ययात्तत्र वृक्षस्य कार्यत्वेन वृत्तिः, 'वृक्षे शाखाः' इत्यपि प्रत्ययात्तासामपि तत्र तथावृत्तिः प्राप्नुयात् । एवञ्च 'न यावच्छाखा न तावद्वृक्षः, न यावद् वृक्षो न तावच्छाखा' इति परस्पराश्रयात् उभयाभावः पर्यवसितेत्यावेदयन्नाह–

तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥१०८॥ इति ।

तानेव प्रकृतानवयवानवयविनश्च पश्यन् प्रत्येति प्रतिपद्यते शाखा आधे-

---

१ –नौ च सं– आ०, ब०, प० । २ –रेकत्वात् ता० । ३ तदनुप– आ०, ब०, प० । द्रव्यादिपञ्चान्यतमत्वानभ्युपगमात् । ४ समवायाधारत्वादेव । ५ वृक्षे पर्यन्तेन वृत्ति । ६ –पर्यवसिता– आ०, ब०, प० । ७ "पररूपानुविधेत्यादिशाखाभेदे स्वयं कृताः । नार्थं भवीति वृक्षे स्यात् शब्दो गौरिवलौकिकम् ।"–प्र०, वा० ३।१९० । "वृक्षे शाखा शिलाश्चाम इत्येषा लौकिकी मतिः । शिलाश्मत्वपरिच्छिन्नानैरन्तर्योपलम्भनात् ॥ सौ पुनरस्तिति भवं लोकप्रतिपत्तिरनुगमे ।"–तत्त्व सं० पृ० २६७ ।

यमूता वृक्षे आधारभूते, न [1]केवलं तासु वृक्षम्, अपि तु तथापि ताः प्रत्येतीत्यपि-शब्दार्थः । कः प्रत्येति ? **लौकिकः** । लोकेन तद्व्यवहारेण चरतीति लौकिको व्यवहारीति यावत् । अनेन व्यवहारप्रसिद्धत्वात् 'वृक्षे शाखाः' इति प्रत्ययस्याशक्यापह्नवत्वमावेदयति । तदेवं समवायस्याभावात् नावयविनः तद्वृत्ता परमाणुषु वृत्तिरित्यसम्बेयासौ[3] कथं तस्य दर्शनं कथं वा तदच्छायातपनिवारणादिकम् ?

सतोऽपि केन तस्य दर्शनम् ? नित्येनात्मनेति चेत् ; न ; तथापि '**कारणस्य**' [5]इत्यादिदोषात् । तथा हि—

दर्शनं यदि नित्येन पुंसार्थस्य प्रकल्प्यते ।
नित्यं तद्दर्शनं किन्न नित्यकारणसम्भवे ? ॥१०१४॥
अन्तःकरणसंयोगाद्यपेक्ष्यस्य विग्रहाद्यपि ।
संयोगो वः कथं क्वापि समवाये निराकृते ॥१०१५॥
[6]तद्द्वयाभावतो न स्यान्निमित्तमपि किञ्चन ।
[7]समवायादिनासन्ननिमित्तं यत्परेक्षणम् ॥१०१६॥
ततोऽपेक्ष्यापेक्ष्यान्न स्यात्कदाचिदपि तद्गतिः ।
सर्वाग्रहप्रतिक्षेपः सति स्थूलेऽपि तत्कथम् ? ॥१०१७॥
ततोऽनपेक्ष एवात्मा दर्शनादि करोत्ययम् ।
तत्र तत्कार्यनित्यत्वदोषोऽयं दुरुपक्रमः ॥१०१८॥
सकृदेव च तत्कार्यं सर्वं स्यादनपेक्षणात् ।
क्षणान्तरं त्ववस्तुत्वमहेतुत्वात्प्रसज्यते ॥१०१९॥
हेतुत्वेऽपि तदा सर्वं तत्कार्यं स्यात्तथा पुनः ।
न चैवं दृश्यते तस्मान्न नित्येऽप्यस्ति हेतुता ॥१०२०॥

ततो विषयज्ञानहर्षविषादादिकार्यस्य कादाचित्कत्वं क्रमभावञ्चाभ्युपगच्छता कादाचित्की शक्तिरात्मनः क्रमभाविनी चाभ्युपगन्तव्येति कथं तस्य नित्यत्वम् ? शक्तीनां सहकारिरूपतया ततोऽत्यन्तव्यतिरेकादिति चेत् ; न; व्यतिरेके शक्तित्वाभावस्य निवेदितत्वात् । यथा पूर्वपूर्वशक्तिपरिहारेण कथञ्चिदुत्तरोत्तरशक्त्युपादानमात्मनः तथा कथञ्चित् नानात्वपारिमाण्डल्यादिपरिहारेणैकस्थूलाद्याकारोपादानं परमाणूनामप्यविरुद्धमिति [10]नावयवेभ्यः स्थूलमर्थान्तरम् ।

---

1 -के वा ता-आ०,ब०,प० । 2 -शब्द. कः आ०,ब०,प० । 3 अवयवी । 4 अवयविन. । 5 "कारणस्यात्मनो नित्यत्वे तेषां कार्यस्योपरमः कथम्"—ता० टि० । 6 संयोगसमवायाभावतः समवायसमवायिकारणाभावात् । 7 समवायादिना तत्र नि-आ०, ब०, प० । 8 -वं दो-आ०, ब०, प० । 9 सहकारिसान्निध्यं सन्निधिरित्युपगमः ।"—ता० टि० । 10 नावयविन्यः आ०. ब०. प० ।

अर्थान्तरत्वे पुनरपि तत्रास्त्यपूर्वं दूषणमाह–

तुलितद्रव्यसयोगे स्थूलमर्थान्तरं यदि ।
तत्र रूपादिरन्यश्च साक्षैरीक्ष्येत सादरैः ॥१०९॥ इति ।

तुलितानाम् उन्मानपरिच्छिन्नानां **द्रव्याणा** तन्तुवीरणादीनां **सयोगे स्थूलम्** अवयविद्रव्यम् **अर्थान्तरं** तुलितद्रव्येभ्यो भिन्न **यदि** चेत्, **तत्र** स्थूले **रूपादिः**, आदिशब्दात् रसादिश्च **अन्यः** अवयवरूपादिभ्योऽर्थान्तरभूतो न केवलम् अवयवरूपादिरेवेति **च** शब्दः । 'भवेत्' इत्यध्याहारः । भवत्येव अवयवरूपादेस्तद्रूपादिप्रादुर्भावस्य "गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते" [वैशे०सू० १।१।१०] इति वचनेनाप्यनुज्ञानादिति चेत्, आह–**ईक्ष्येत** दृश्येत **तत्र रूपादिरन्यः** । न च वीक्ष्यते । न हि तन्तुरूपादिरन्यः, अन्यश्च पटरूपादिरुपलभ्यते, तथैवासम्प्रतिपत्ते । तथापि तदुपलब्धिकल्पनायां न किञ्चित्क्वचिदेक मुपलब्ध भवेत् । उपलम्भस्याभिधानस्य आविविशेषस्य तत्राभावादनुपलम्भिरिति चेत्, क्वेदानीं तद्विशेषस्य भावः ? तन्तुरूपादाविति चेत्, पश्यत आश्चर्य यन्महति पटरूपादौ स नास्ति अमहति तन्तुरूपादौ विद्यत इति । कुतो वा तत्र तस्यास्तित्वम् ? तद्रूपादेरुपलब्धेरिति चेत्, न; तस्यापि तदवयवरूपादेर्भिन्नस्यानुपलम्भात् । पुनस्तदवयवरूपादौ तदस्तित्व परिकल्पनायामनवस्थापत्तेः । ततः क्वचिदपि कार्यद्रव्ये रूपादेः कारणरूपादिव्यतिरेकेणानुपलब्धेः निर्विषयमेवेदं सूत्रद्वयम्–"अनेकद्रव्येण समवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः । एतेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्" [वै० सू० ४।१।८,९] इति । तत्र आविविशेषाभावात्तस्यानीक्ष्यत्वम् । इन्द्रियाभावादिति चेत्, न, इन्द्रियवद्भिरुपलब्धिप्रसङ्गात् । तदाह–'**साक्षैः**' इति । सहाक्षैरिन्द्रियैर्वर्तन्त इति साक्षास्तैः स ईक्ष्येत । आदराभावात्तेति चेत्, न, आदरवद्भिस्तदीक्षणापत्तेस्तदाह–**सादरैः** आदरवद्भिः स ईक्ष्येतेति ।

तत्रैव दूषणान्तरमाह–

गौरवाधिक्यतत्कार्यभेदाश्च [आसूक्ष्मत' किल] । इति

गुरोर्भावो **गौरवं** तस्याधिक्यमतिरेक, तस्य तस्य गौरवस्य **कार्यभेदाः** फलविशेषाः तुलनविविशेषलक्षणाः ते च **गौरवाधिक्यतत्कार्यभेदाः** । चशब्दात् केवलं रूपादिरेव तत्र स्थूले 'ईक्ष्येरम्' इति वचनपरिणामेन सम्बन्धः ।

द्वितन्तुके गुरुत्वं हि तन्तुगौरवतोऽधिकम् ।
ततोऽपि च तदारब्धे द्रव्ये तदभिवृद्धिमत् ॥१०२१॥

---

१ "गौरवशब्द स्तम्भमधिनिवारमवामक इद तन्तुु प० इद गौरवेषु च्च इति वचसमाम्नात् ।"–न्या० वि० । २ –वमाय आ०, ब०, प० । ३ पश्चानात्स्य प–आ०, प०, प० । ४ व्यविशिष्ट । ५ –सि स्ते त–आ०, ब०, प० । ६ तन्तुरूपादौ । ७ व्यविशिष्टान्य । ८ "तेषां ट गुणमरपश ो गवलीना रूपादिम-सूद्"–न्या० वि० । ९ –नीक्ष्यत्वम् आ०, ब०, प० । १० मदृ द–आ०, ब०, प० ।

तावदेवं पटद्रव्यं यावत्तत्परिणामवत् ।
तत्तथा किन्न वीक्ष्येत सादरैः प्रतिपत्तृभिः ॥१०२२॥
इन्द्रियागोचरत्वाच्चेद्गुरुत्वेवं तथापि तत् ।
तुलानतिविशेषैस्तत्कार्यैः कस्मान्न दृश्यते ॥१०२३॥
तेषामपि न चादृष्टिर्भवतां हेतुसम्भवात् ।
अत एवाह तत्कार्यभेदाश्चेति विदांवरः ॥१०२४॥

अत्र परस्य परिहारं दर्शयन्नाह–

आसूक्ष्मतः किल ।
अतौल्यादर्थराशेस्तद्विशेषानवधारणम् ॥११०॥ इति ।

तद्विशेषस्य कार्यद्रव्यगतस्य गौरवाधिक्यविशेषस्य तत्कार्यविशेषस्य च **अनवधारणम्** अनिश्चयः। कस्मात् ? **अतौल्यात्** तोल्यत इति तोलः, कर्मणि घञ्, तस्य भावस्तौल्यम्, न तौल्यम् **अतौल्यं** तुलया परिच्छेत्तुमशक्यत्वं तस्मात्। कस्य ? **अर्थराशेः** अर्थानां परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकषडणुकाष्टाणुकाल्पांशुतन्तुपटानां राशेः । आ कुतः ? **आसूक्ष्मतः** आ परमाणुभ्यः परमाणूनभिविधीकृत्येति यावत् । न हि महत्यनेकद्रव्यराशौ तोल्यमाने तन्मध्यपातिनो गौरवादेः तत्कार्यस्य च प्रतिद्रव्यमियत्तयोपलक्षणम् कार्पासभारतोलने तत्पातिनोऽशुकस्येव सम्भवतीति परस्य भावः । शास्त्रकारस्तत्रारुचिं **किल**शब्देन द्योतयति । कस्मात् ? अनुपलक्षितस्य मात्रासम्प्रसिद्धेः । तथा हि–

गौरवादि पृथक् तत्र यदि नैवोपलभ्यते ।
कथं तस्यास्तितां ब्रूमो व्योमाम्भोजवदञ्जसा ॥१०२५॥
गौरवादेः क्रियायाश्च तत्कृताया असम्भवे ।
तदपेक्षं कथं तत्स्यात् समवाय्यपि कारणम् ॥१०२६॥
द्वितन्तुकादि तादृक् च कथं तद्द्रव्यमुच्यताम् ? ।
क्रियावत्त्वादिकं यस्मात्त्रितयं द्रव्यलक्षणम् ॥१०२७॥
तत्रातौल्याद्गुरुत्वादेस्तत्रास्त्यनवधारणम् ।
आहासिद्धत्वमप्यस्य हेतोः सम्प्रति शास्त्रकृत् ॥१०२८॥

ताम्रादिरक्तिकादीनां समितकर्मयोगिणाम् ।
कथमातिलकात् [स्थूलप्रमाणानवधारणे] ॥१११॥ इति ।

न हि सम्भवत इयत्त्वेनातोलनम्, अन्यथा अर्धगुञ्जापरिमाणं रक्तिका आदिर्येषां मापकादीनां ते रक्तिकादयः, ताम्रं शुल्वमादिर्यस्य सुवर्णादेः तस्य रक्तिकादयः **ताम्रादिरक्ति-**

१ तत एवाह न त–आ०, ब०, प० । २ "क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ।"–वै० सू० १।१।१५ । ३ –त्राप्यनव–आ०, ब०, प० । ४ –योगिनाम् आ०, ब०, प० ।

कादयः तेषाम्, कथं 'मानम्' इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः मानं तोलनम्। कीदृशानाम्? **समितक्रमयोगिणां** पृथगवधारिताः समिता, ते च ते पुनः क्रमेण तुलायोगिनश्च समितक्रमयोगिनः तेषाम्, आ कुतः तेषां तोलनम्? आ कुतश्च समितक्रमयोगिनस्ते? इत्याह– **आतिलकात्**। तिलपरिमाणं तिलकं तदवधीकृत्य ततः प्रभृति वा। दृश्यते हि तिलकस्यैकस्येयत्तया तोलनं पुनरतदुपरन्यासे तदधिकस्य तावदेवं यावद् रक्तिकायाः, तत्रापि तावदेवं यावन्माषकादेस्तोलनम्। एवम् अल्पस्यांशुकस्य प्रथममियत्तया पुनस्तदवयविनः क्षेपे तदधिकस्य तत्रापि तावदेवं यावत्तन्तो[1], तत्रापि तावदेवं यावदन्त्यावयविनः पटादेर्भवति तोलनम्। तत्र वस्तुराशिगतस्यापि सम्भवतः सम्भवत्यतोलनम्। यत्तु कार्पाससमारम्भपातिनोऽंशुकस्येवेति, तदपि न सारम्, निपुणवणिजां तत्रापि तोलनस्यैव प्रतीतेः। अतो यद्यतोलनम् असम्भव एव तद्विषयस्येति भावः।

महति चार्थराशौ तोल्यमाने वा कस्य प्रमाणानवधारणम्? अवयविनामिति चेत्, आह–

स्थूलप्रमाणानवधारणे ॥१११॥
अल्पभेदाग्रहान्मानमणूनामनुपज्यते। इति।

स्थूलस्य अवयविनः प्रमाणमियत्ता तस्यानवधारणमनिश्चयः तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने **मानं** परिच्छेदः 'पटोऽयं घटोऽयम्' इत्यादिना रूपेण **परमाणूनामनुपज्यते** प्राप्नोति। तथा च यतो मयं तदेवापतितं परमाणुदर्शनाद्विम्पतस्तस्यैव प्राप्तेः। तत्र हेतुमाह–'**अल्पभेदाग्रहात्**' इति। पटापेक्षया तन्तवस्तदपेक्षया तदवयवास्तदपेक्षयापि तदवयवा यावत्परमाणवः **अल्पभेदा** अवयविन एव तेषामर्थराशौ तोल्यमाने प्रत्येकमियत्तया **तदग्रहाद्**-प्रतिपत्तेः।

> अंशित्वेन पटस्येव तन्त्वादीनामियत्तया।
> अग्रहात्परमाणूनां परिज्ञानं प्रसज्यते ॥१०१९॥
> तेषामप्यपरिज्ञाने यद्दिर्शनविवर्जितम्।
> जगत्प्राप्नोति यौगानां[2] दोषोऽयं दुरुपक्रमः ॥१०२०॥

तथावयविनां यदा तदनवधारणम्। अवयवानामिति चेत्, आह–

अंशुपातानुमादृष्टेरन्यथा तु प्रसज्यते ॥११२॥ इति।

अन्यथा परपरिकल्पितावयविनां तदवधारणं नावयवानामिति प्रकारादन्येन अवयवानामपि तदवधारणमिति प्रकारेण **प्रसज्यते** प्रसक्तिर्भवति। अवयविनामेव केषाञ्चि-

---

१ -न्तौर्निमम ता०। २ -यौगिन आ०, ब०, प०। ३ अल्पभेदाग्रहादिति आ०, ब०, प०। ४ -वादीना- आ०, ब०, प०।

दल्पपरिमाणानामितरापेक्षया, अवयवत्वादिति भावहेतुः। हेत्वन्तरमाह–'अंशुपातानुमादृष्टेः' इति। महति कार्पासभारे तोल्यमाने यस्तत्रांशोः पातस्तस्य याऽनुमा तुलानतिविशेषाल्लिङ्गात्, तस्याः दृष्टेर्दर्शनाच्च अन्यथा तु प्रसज्यत इति। अपि च, परमाणुपर्यन्तंमध्यपातिनामवयवविशेषाणामशक्येयत्तातोलनानां यद्यभावः पर्यन्तोऽप्यवयवी न भवेत् तस्याप्यवयवाधीनस्यैवाभ्युपगमात्। भावश्चेत्; तत्राह–

क्षीराद्यैरविजातीयैः प्रक्षिप्तैः क्रमशो घटः।
तावद्भिरेव पूर्येत यावद्भिर्न विपर्ययैः ॥११३॥ इति।

आदौ भवमाद्यं क्षीरमाद्यं येषां नीरादीनां तैः, अविजातीयैः एकजात्यधिष्ठानैः प्रक्षिप्तैः घटे निवेशितैः। कथम् क्रमशः परिपाट्या स घटस्तावद्भिरेव तत्परिमाणैरेव पूर्येत पूर्णः क्रियेत यावद्भिः यत्परिमाणैर्न पूर्येत विपर्ययैः युगपन्निवेशितैः विजातीयैर्वा युगपन्निवेशितैः, द्रव्यस्यैकस्यैवारम्भाद्विजातीयैस्तु तस्याप्यनारम्भात्। ततो युगपत्क्रमाभ्यां तावद्भिरेव प्रक्षेपविपर्ययैरेकानेकद्रव्योत्पादनैर्घटस्यापरिपूर्णेतरतया भेदोपलब्धिर्भवेदिति भावः। एतच्छायमेव धर्मकीर्तिनापि प्रतिपादितम्–

"तस्य क्रमेण संयुक्ते पांशुराशौ सकृद्युते।
भेदः स्याद्वीरवादीनां पृथक् सह च तोलिते ॥" [प्र० वा० ४।१५७] इति।

ननु युगपन्निवेशितैरपि द्विचुलुकाद्यपरापरद्रव्यारम्भकमेणैव अन्त्यावयविन आरम्भस्ततः कथं तैरप्यपरिपूर्तिः? द्रव्यबहुत्वे परिपूर्तेरेवोपपत्तेरिति चेत्; न; सर्वैरपि क्षीरादिचुलुकैः युगपत्प्रवृत्तसंयोगैरेकस्यैव द्रव्यस्य कैश्चिदारम्भोपगमात्। येषां तु नैवमभ्युपगमः, तेषां कथं तन्तुषु पटः? न हि तैस्तस्यानारम्भे तत्र भावः। तदारम्भकाणां खण्डावयविनां तत्र भावात् तस्यापि तत्र भाव इति चेत्; न; उपचारापत्तेः। तथा च कथं तद्विषयात् 'तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययात् सम्बन्धसिद्धिः? मुख्यस्यैव 'कुण्डे दधि' इत्यादेः प्रत्ययस्य सम्बन्धपूर्वकस्योपलम्भात्। न हि मुख्ये दृष्टो धर्मोऽन्यत्र योजनमर्हति, पावकधर्मस्य काष्ठजन्मादेः माणवकेऽपि योजनप्रसङ्गात्। सम्बन्धोऽपि तत्र उपचरित एवेति चेत; कुतस्तर्हि मुख्यतस्तत्सिद्धिः? कर्पटखण्डेषु पट इति प्रत्ययादिति चेत्; न; रूढितस्तदभावात्। भावेऽपि तमेव तत्साधनमनुक्त्वा कुतः 'पदार्थप्रवेशादौ 'इह तन्तुषु पटः, इह वीरणेषु कटः' [प्रश० भा० पृ० १७१] इत्युपचरितस्य तस्योपन्यासः? सति मुख्ये गौणोपन्यासायोगात्, तस्मादिष्टसिद्धेरसम्भवात्। ततः साक्षादपि तन्तुभिः पटस्यारम्भो वक्तव्यः। तद्वत् क्षीरादिचुलुकैरप्यन्त्यस्य तद्द्रव्यस्येति न तैर्युगपन्निवेशितैर्नानाद्रव्यारम्भ इत्यपरिपूर्तिरेव तैर्घटस्य। ततः सूक्तम्–'यावद्भिर्न विपर्ययैः' इति।

---

१ "पर्यन्तशब्देन अन्त्यावयवी ग्राह्यः"–ता०टि०। २ –वावारम्भै–आ०, ब०, प०। ३ सम्बन्धस्य सि–आ०, ब०, प०। ४ प्रशस्तपादभाष्यादौ। ५ गुणोप–आ०, ब०, प०। ६ –प्यन्त्यस्य आ०, ब०, प०।

ननु यद्यवयवी नाम न कश्चित् तर्हि परमाणव एवावशिष्येरन्, तेषां चानुपलम्भात् बहिर्वस्तुदर्शनशून्यं जगत्प्राप्तमिति चेत्, न, तेषामेव कुतश्चित्कथञ्चिदेकीभूतानामुपलम्भविषयत्वात्। पटावयवानां परस्परमिव किन्न घटावयवैरप्येकीभावः भेदाविशेषादिति चेत्? भवतोऽपि[1] किन्न [2]तदवयवाः पटमिव घटमप्यात्मन्यवस्थापयन्ति तत्राविशेषात्? तस्यैव तत्र समवायादिति चेत्, न, तत्रैव प्रश्नात् 'कुतः स तस्यैव न घटस्यापि' इति? समवायस्यैवेयं शक्तिर्यत्पटमेव तत्र योजयति नापरमिति चेत्, न, स्वरूपव्यतिरेकेण शक्तेरभावात्, स्वरूपस्य च सर्वत्राविशेषात्। प्रत्यवयवि तद्विशेषकल्पनायां तु समवायस्यापि तदनर्थान्तरत्वेन प्रत्यवयवि भेदः स्यात्। तदर्थान्तरत्वे तु कथं 'ते तस्य' इति व्यपदिश्येरन्? न समवायान्तरात्, तदभावात्। स्वत एवेति चेत्, पटोऽपि स्वत एव तन्तूनामिति किं समवायेन? कथञ्चित्तस्य तदर्थान्तरत्वकल्पनं तु तेषामेवैकीभावं पुष्णातीति कथन्न परोपालम्भस्तत्रापि भवेत्–समवायविशेषाणामपि परस्परमिव पदार्थान्तरभागैरपि न कस्मादेकीभावो भेदाविशेषात्? स्वहेतुनियताच्छक्तिविशेषादिति चेत्, समानं पटावयवेष्वपीति न किञ्चिदेतत्। तदवयवी परपरिकल्पित इति कुतस्तत्र गुणकर्मसामान्यादीनां सम्भवः? तेषां तदाश्रितत्वेन तदभावे सम्भवानुपपत्तेः।

साम्प्रतं परमताक्षेपपुरस्सरं स्वमतमाह–

नांशेष्वंशी न तेऽत्रान्ये वीक्ष्या न परमाणवः[5]।
आलोक्यार्थान्तरं कुर्यात्तत्रापोद्धारकल्पनाम् ॥११४॥ इति।

अंशेषु भागेषु अंशी भागी न वीक्ष्यो न दृश्यो 'वीक्ष्याः' इत्यनेन वचनपरिणामेन सम्बन्धात्। न ते अंशा अत्र अंशिनि वीक्ष्याः। कीदृशाः स च ते च इति चेत्? अन्ये परस्परमेकान्तेन निर्भिन्नाः। परमाणवः तर्हि वीक्ष्या इति चेत्, आह– न परमाणवो वीक्ष्या इति च सम्बन्धः। न हि तेऽप्यन्योन्यमेकान्तेन भिन्नाः प्रत्यवभासन्ते। ततो न सन्त्येव परपरिकल्पिता बहिर्भावा दृश्यतयाऽभ्युपगतानां तेषामदर्शनादिति मन्यते।

कीदृशास्तर्हि बहिर्भावा इति चेत्? एकानेकरूपा जात्यन्तरमेवेति ब्रूमः, तस्यैव प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तेः। कथं तर्हि लोकस्य 'तन्तवोऽवयवाः पटश्चावयवी' इति व्यवहार इति चेत्? आह–आलोक्य प्रत्यक्षतः प्रतिपद्य। किम्? अर्थान्तरं जात्यन्तरम्। कुर्याल्लोकः। क्व काम्? अत्र अर्थान्तरे अपोद्धारस्य अवयवादिपृथक्करणस्य कल्पनाम् अभिसन्धिम्। ततोऽभिसन्धिनिबन्धन एवायं व्यवहारो न प्रत्यक्षनिबन्धन इति भावः।

---

१ भवताऽपि। २ भवयवाः। ३ तदनर्था–आ०, ब०, प०। ४ "धर्मिविशेषा भाव्यविशेषा इत्यर्थः"–ता० टि०। "समवायस्तु सम्बन्धी नित्य व्यापक एक एव स इति तार्किकरक्षास्वरूपम्"–ता० टि०। "स्वशक्त्यैव समवायस्वरूपविशेषा भाव्याः" ता० टि०। ५ –णाश्च प– आ०, ब०, प०।

जात्यन्तरस्यालोक्यत्वं ब्रुवता[1] चेदमुच्यते ।
निमित्ताभावतो नात्र संशयादिरिति स्फुटम् ॥१०३१॥

संशयादिः खलु दोषो भेदमभेदञ्च निमित्तमुपाश्रित्य प्रवर्तते । न च भेदाभेदाभ्यामत्यन्तविलक्षणे जात्यन्तरे तदुभयमस्ति यतस्तत्प्रवर्त्तनम्, अन्यथा नरसिंहेऽपि मानवगजरिपुधर्मावलम्बिनो दोषस्य प्रवृत्तिः स्यात्। मा भूत् प्रत्यक्षादिप्रमाणविषये तत्प्रवृत्तिः अभिसन्धिविषये तु स्यात्, अभिसन्धौ भेदाभेदयोस्तन्निमित्तयोः पृथगेव प्रतिभासनादिति चेत्; न; तत्रापि धर्मिणः प्रतिभासाभावात्। न चाप्रतिपन्ने धर्मिणि भेदेतराभ्यां संशयादिप्रकल्पनमुपपन्नम्। तन्न संशयादिः तत्र।

नाप्युभयदोषः; भेदेतरयोरेकस्येतरनयेनाप्रतिपत्तेः[2], युगपच्च नयद्वयस्याप्रवृत्तेः। तत्कथं प्रतिपक्षोपेक्षया[3] भेदस्यैवाभेदस्यैव वा अभिमन्यानविषयस्य उभयदोषोपनिपातेनोपहतिः सम्भवति यतस्तदभावकल्पनम्? ततो व्याधूतसंशयादिरेव जैनस्य प्रमाणविषयो नयविषयश्च बहिरर्थ इति स्थितम्।

तदेवं **'परोक्षज्ञानविषय'**[4] इत्यादिना आत्मवेदनम् **'एतेन वित्तिसत्तायाः'**[5] इत्यादिना चार्थवेदनं व्यवस्थापयता[6] कारिकोपात्तम् आत्मपदमर्थपदञ्च व्याख्यातम्।

इदानीं तदुपात्तं द्रव्यपदं व्याचिख्यासुराह–

[7]गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः ।
विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्या भेदाभेदौ रसादिवत् ॥११५॥ इति ।

द्रव्यमिति लक्ष्यस्य **गुणपर्ययवदिति**[8] च लक्षणस्य निर्देशः। गुणाश्च सहभुवो धर्माश्चेतनस्य सुखज्ञानवीर्यादयः। यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे–

"सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् ।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥" [ ] इति ।

अचेतनस्य रूपरसादयः। पर्या(र्य)याश्च क्रमभाविनः चेतनस्य सुखदुःखादयः, अचेतनस्य कोशकुशूलादयः गुणपर्ययाः[9], ते सन्त्यस्येति **गुणपर्ययवत्**। गुणादिग्रहणेन द्रव्यमात्रस्य,

---

१ –ता भेद–आ०, ब०, प० । २ भेदग्राहिणा नयेन अभेदस्य अभेदग्राहिणा च नयेन भेदस्याप्रतिपत्तेः । ३ प्रतिपक्षापेक्षया आ०, ब०, प० । ४ श्लो० १० । "परोक्षज्ञानविषयपरिच्छेदः परोक्षवत् दशमकारिकाया अपरार्धमिदम्"–ता० टि० । ५ श्लो० २६ । "एतेनेत्यादि द्वाविंशतितमकारिकेयम्"–ता० टि० । ६ तृतीयकारिकोपात्तम् । ७ "गुणाणमासवो दव्वं एकदव्वस्सिया गुणा । लक्खणं पज्जयाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥"–उत्तरा० २८।६ । "दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं । गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥"–पञ्चास्ति० गा० १० । "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्"–तत्त्वार्थसू० ५।३८ । "तं परियाणहु दव्वु तुहुं जं गुणपज्जयजुत्तु । सहभुव जाणहि ताण गुण कम-भुवपज्जउ वुत्तु ॥"–परमात्मप्र० गा० ५७ । लघी० टि० पृ० १४२ पं० २७ । ८ –ति लक्ष–आ०, ब०, प० । ९ –पर्यायाः आ०, ब०, प० ।

द्रव्यग्रहणेन च गुणादिमात्रस्य प्रतिक्षेपः तत्र प्रमाणाभावात्, निषेधमभिप्रेयते चैतत्। [1]मनुष्यस्येन तु तदुभयभेदैकान्तस्य। दृश्यत एव भेदैकान्तेऽपि तत्प्रयोगः[2] 'गोमान् देवदत्तः' इति सम्बन्धमात्रात्तत्कथं[3] तेनै तत्प्रतिक्षेप इति चेत्? न, द्रव्यतल्लक्षणयोः कथञ्चिदभेदादन्यस्य सम्बन्धस्याभावात्, समवायस्य प्रतिक्षेपात्। एकान्तभेदे कार्यकारणभावस्याप्यनुपपत्तेः।

गुणपर्ययाणां व्याख्याने 'ते' इत्यादि। 'ते' इति गुणपर्ययाः। कथं पुनर्द्रव्ये गुणीभूतानां तेषां तच्छब्देन परामर्शः द्रव्यस्यैव मुख्यतया तदुपपत्तेः? बहुवचनात् द्रव्यस्य बहुत्वेनाप्रक्रमादिति चेत्, न, गुणादीनामपि तथा[7] तदभावात्, समासात्तद्बहुत्वस्याप्रतिपत्तेः। अप्रतिपन्नमपि सम्भवति तत्र तदिति चेत्, न, द्रव्येऽपि जीवादिभेदेन तदविशेषात्, पुल्लिङ्गत्वस्यापि न विरोधः जीवादीनां पुल्लिङ्गत्वादिति चेत्, न, शब्दोपक्रमेण गुणादीनामप्रधानत्वेऽपि बुद्ध्युपक्रमेण प्राधान्यात्। बुद्ध्युपक्रमस्य च शब्दोपक्रमादेव प्रतिपत्तेरतस्य तदविनाभावात्, मुख्यत्वप्रधानतयैव तेषामुपक्रम इति चेत्, न, प्रथमं स्वरूप एवोपक्रमात् विशेष्यापेक्षया पश्चादेव प्राधान्यप्रक्लृप्तेः। द्रव्यपरामर्शोऽपि कस्मान्न भवति प्राधान्याविशेषादिति चेत्? न, प्रयोजनाभावात्। द्रव्यलक्षणस्य 'गुणपर्ययवत्' इत्यनेनैव प्रतिपादनात्। ततो गुणपर्यया[8] एव ते।

सह च क्रमश्च सहक्रमौ, ताभ्यां तत्र द्रव्ये वृत्तिः परमात्मपरिणतिर्येषां ते **सहक्रमवृत्तयः** सहवृत्तयो गुणाः क्रमवृत्तयः पर्यायाः। के पुनस्तद्गुणादय इत्याह–**विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्याः** इति। विज्ञानं ज्ञानादिचित्तम्, उपलक्षणमिदं सुखादेरपि, तस्य व्यक्तिश्च दृश्यमानं रूपं 'व्यज्यत इति व्यक्तिः' इति व्युत्पत्तेः। शक्तिश्च कार्योपजननसामर्थ्यम्, विज्ञानव्यक्तिशक्ती ते आद्ये येषां ते **विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्याः** इति। आद्यशब्दात् अन्येऽपि सहवृत्तयः सुखज्ञानवीर्यपरिस्पन्दादयः क्रमवृत्तयश्च सुखदुःखहर्षविषादादयः परिगृह्यन्ते।

कथं पुनर्व्यक्तिशक्त्योः सहभावः? तस्य भेदनिष्ठत्वात्, तयोश्च भेदाभावादिति चेत्, न, अभेदे व्यक्तिवच्छक्तेरपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्, तथा च किं [9]तदनुमानेन? विप्रतिपत्तिनिवारणमिति चेत्; सैव कुतः प्रत्यक्षविषये विप्रतिपत्तिः? अनन्तरं [10]तत्फलस्य स्वर्गादेरदर्शनादिति चेत्, न, व्यक्तावपि [11]तदभेदेन [12]तत्प्रसङ्गात्। तथा च कथं तदनुमानं धर्मिण्यसिद्धे तदनुपपत्तेः? निश्चयात्तत्र[13] विप्रतिपत्तिनिवृत्तौ शक्तावपि स्यात्। तन्न शक्तेर्व्यक्त्यभेदः, व्यक्तिदर्शननिश्चयाभ्यां तद्दर्शननिश्चयाभावात्।

एतेन [14]"सामग्री शक्तिः" इति प्रत्युक्तम्। तथा हि–

---

१ मनुष्यस्य–आ॰, ब॰, प॰। २ तत्प्रयोगो भी–प॰। तत्प्रयोग मतिमान् देव–आ॰, ब॰। ३–नातत्कथं आ॰, ब॰, प॰। ४ मनुष्यस्येन। ५ बहुत्वेन। ६ तद्विशे–आ॰, ब॰, प॰। ७ गुणादीनाम्। ८ –पर्याया आ॰, ब॰, प॰। ९ शक्त्यनुमानेन। १० ज्ञानादिफलस्य। ११ शक्त्यभेदेन। १२ विप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। १३ व्यक्तौ। १४ "न शक्त्यमीमांसकवदतीन्द्रिया शक्तिरस्माभिरभ्युपेयते किन्तु कारणानां स्वरूपं वा सहकारिसाकल्यं वा।"–न्यायवा॰ ता॰ टी॰ पृ॰ १०३। "तस्मादुत्पत्तस्थैर्यं सह कार्युपनीतस्य। न हि कल्पयितुं शक्यं शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम् ॥"–न्यायम॰ पृ॰ ४१। "किन्तु सौम्य

सामग्री यदि शक्तिः स्यात्फलात्प्रागेव [1]पश्यतः ।
इयं शक्तिरिहेत्येवं निश्चयः स्यात्तदर्थिनः ॥१०३२॥
न चैवं कार्यदृष्ट्यैव तत्र निश्चयदर्शनात् ।
न चानिश्चितमध्यक्षं सामग्रीशक्तिवादिनाम् ॥१०३३॥
सत्यामेव च सामग्र्यां मन्त्रतन्त्रादिना कथम् ।
दाहस्यानलकार्यस्य प्रतिबन्धो भवेदयम् ? ॥१०३४॥
विना मन्त्राद्यभावेन सामग्री विकलैव चेत् ।
तत[2]स्तदा कथं दाहः काष्ठादेरपि मर्त्यवत् ॥१०३५॥
सामग्र्येव न शक्तिस्तन्नापि [3]जात्यादिरेव सा ।
दृश्यमानेऽपि जात्यादौ शक्तिदृष्टेरसम्भवात् ॥१०३६॥
तत्सम्भवेऽपि मन्त्रादौ स्वतः शक्तिविनिश्चयात् ।
गुरूपदेशवैयर्थ्यं प्राप्तमेकान्तवादिनाम् ॥१०३७॥

तन्न व्यक्तिरेव शक्तिः, तद्वत्प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् ।

नापि शक्तिरेव व्यक्तिः, तद्वदप्रत्यक्षत्वापत्तेः । नाप्येकान्तेन भेदः ; शक्तिशक्तिमद्भावाभावोपनिपातात् । शक्तेर्व्यक्तौ समवायात्तद्भाव इति चेत् ; न ; [4]अशक्तिमत्त्वे तदनुपपत्तेः खरशृङ्गवत् । शक्तिमत्त्वञ्च न तयैव शक्त्या ; परस्पराश्रयात्–'तया शक्तिमत्त्वे तत्र तत्समवायः, ततश्च तया शक्तिमत्त्वम्' इति । नाप्यन्यया ; अनवस्थापत्तेः । तन्नैकान्तेन अभेदो भेदो वा तत्रोपपन्नः, कथञ्चिदेव तयोरुपपत्तेः । तदाह–'**भेदाभेदौ**' इति । केषामित्यपेक्षायां विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्यानामिति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः कर्त्तव्यः । निदर्शनमत्राह–'**रसादिवत्**' इति । रस आदिर्येषां गन्धादीनां तेषामिव तदिति । निरूपितञ्च रसादीनां भेदाभेदात्मकत्वमिति निदर्शनत्वेनोपन्यासः । यदि वा, रसादयो ज्ञाननिर्भासाः तेषामिव तद्वदिति । प्रसिद्धञ्च कर्कटीभक्षणकालभाविबोधनिर्भासानां रसरूपादीनां भेदाभेदात्मकत्वं [5]बौद्धस्य "**नीलादिश्चित्रनिर्भासः**" [प्र० वा० २।२२०] इत्यादावलङ्कारकृता तथैव निरूपणात् ।

"**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**" [त०सू० ५।३८] इति सूत्रमिदं तत्त्वार्थस्य, इदमेव च त्वया व्याचिख्यासया कारिकायामुपक्षिप्तम, तत्र किं गुणग्रहणेन 'पर्ययवद्द्रव्यम्' इत्येवास्तु गुणानामपि परिच्छिन्नायनरूपतया पर्ययेष्वेवान्तर्भावादिति चेत् ? अत्राह–

तावच्छिन्नस्वरूपसहकारिसन्निधानमेव शक्तिः । सैवेयं द्विविधा शक्तिरुच्यते–अवस्थिना आगन्तुका च । स्वाद्यवच्छिन्नं स्वरूपमवस्थिना शक्तिः, आगन्तुका तु दण्डचक्रादिसंयोगरूपा ।"–न्यायमं० पृ० ४९५ । "न हि नो दर्शने शक्तिपदार्थ एव नास्ति, कोऽसौ तर्हि ? कारणत्वम । किं तत् ? पूर्वकालनियतजातीयत्वम्, सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्व वेति '''' अनुग्राहकत्वसाम्यात् सहकारिष्वपि शक्तिपदप्रयोगात् ' ।"–न्यायकुसु० १।१३ ।

१ पश्यत· आ०, ब०, प० । २ मन्त्रादिना कस्मिन् व्यक्तिविशेषं प्रति दाहशक्तिप्रतिरोधकाले । ३ अग्नित्वादिजातिरूपा । ४ व्यक्तेः शक्तिरहितत्वे । ५ बौधस्य आ०, ब०, प० ।

सदापि सविकल्पाख्यासाधनाय क्रमस्थितेः ।
गुणपर्यययोर्नैक्यमिति सूत्रे द्रव्यग्रहः ॥११९॥ इति ।

सूत्रे 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इत्यत्र द्रव्यस्य गुणपर्ययविशेषणस्य ग्रहः उपादानम् । कस्मात् ? गुणपर्यययोर्नैक्यमिति । गुणश्च पर्ययश्च गुणपर्ययौ, तावाभेकवचनम्, तयोरैक्यमभेदो न, क्रमाक्रमभावरूपाद्विरुद्धधर्माध्यासादिति मन्यते इति हेतोः ।

यद्येवं गुणार्थिकोऽपि नयो वक्तव्यः, सति विषये [1]तद्वचनानुपपत्तेः, तत्कथं द्रव्यार्थपर्यायार्थतया द्विविधत्वमेव मूलनयस्य ? [2]पर्ययार्थ एव गुणार्थोऽपि, पर्ययशब्दस्य सहक्रमभाविधर्मसामान्यवाचित्वादिति चेत्, न तर्हि सूत्रेऽपि गुणग्रहणमर्थवत्, पर्ययशब्देनैव सामान्यवाचिना गुणानामपि प्रतिपत्तेरिति चेत्, न, ततः पर्ययप्रतिपत्तिसमय एव गुणानां तदनुपपत्तेः । न हि सामान्यशब्दाद्युगपदेव सकलस्वार्थप्रतिपत्तिः, गोशब्दस्य [3]नवार्थत्वेऽपि कदाचित्कस्यचिदेव तत प्रतिपत्तेः । तन्त्रेणानेकप्रतिपत्तिरपीति चेत्, न, तन्त्रस्य व्याख्यानगम्यत्वात्, व्याख्यानाच्च प्रतिपत्तेर्गरीयस्त्वात् । भवतु [4]समयान्तरे [5]ततस्तत्प्रतिपत्तिः तत्किं गुणग्रहणेन ? सत्यम्, प्रयोजनवशेन तद्ग्रहणात् । तर्हि तदेव तन्निमित्तं वक्तव्यं न भेद इति चेत्, न, प्रयोजनस्यापि भेदायत्तत्वेन भेदस्यैव मूलनिमित्तत्वोपपत्तेः ।

किमर्थस्तर्हि भेदग्रह इत्यत्राह–सविकल्पाख्यासाधनाय । सह विकल्पैर्भेदैर्वर्तत इति सविकल्पं युगपद्भाविनानाभेदमिति यावत्, तदाख्यया प्रतिपत्तिस्तया साधनं प्रतिपत्तिरेव तस्मै सविकल्पाख्यासाधनाय । कस्याः तदित्यत्राह–क्रमस्थितेः क्रमेण परिपाट्या स्थितिः परापरपर्ययेष्ववस्थानं तस्याः । किंकालायाः ? सदा सर्वकालभाविन्याः । अपिशब्दः क्रमस्थितेः इत्यत्र द्रष्टव्यः । तात्पर्यमत्र–

युगपद्वस्तु वक्तव्यं नानाधर्मसमाश्रयम् ।
बहिरन्तरनंशस्य तस्याप्रत्ययमामनात् ॥१०३८॥
क्रमानेकत्वमार्यं वस्तुदेवानुमन्यताम् ।
विरोधादिभयोन्मुक्तेरभयत्रापि सम्भवात् ॥१०३९॥
प्रतीतिश्च यथा तस्य प्रत्यक्षादन्यतोऽपि वा ।
प्रतीयतां तथा किञ्च क्रमानेकस्वभावभृत् ॥१०४०॥

---

१ गुणार्थिकनयावचन । २ पर्यायार्थ–आ०, ब०, प० । तत्त्वार्थवार्तिके (५।३८) तु गुणपर्ययवत्त्व द्रव्यार्थिकेनैवमोक्त इत्थं । तथाहि– 'ननु चोक्तम्–नयद्वयवस्तूपदेशौ मूलनयौ प्रणीतौ नैव चोक्तं ; द्रव्यस्य द्रव्यार्थिको गामान्यविशेषात्मेति । तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थान्तरम् । विशेषो भेदः पर्याय इति पर्यायशब्दः । तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिकः । विशेषविषयः पर्यायार्थिकः तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते । न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति विकलादेशत्वान्नयानाम् ।' –राजवा० ५।३८ । ३ "स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले" इत्यमरः । ४ समयान्तरे आ०, ब०, प० । समयान्तरे । ५ समयान्तरात् । ६ –तो प्रतीन्त्य इह–आ०, ब०, प० ।

प्रत्यक्षादपि तद्वित्तेः शक्तिसाचिव्यकाङ्क्षणात् ।
नानाद्यनन्तसंसारवित्तिदोषः प्रसज्यते ॥१०४१॥
अन्यथा कल्पनातोऽपि सर्वकालस्थितेर्ग्रहात् !
कल्पनान्तरवैयर्थ्यं प्रमाणान्तरवद् भवेत् ॥१०४२॥
कल्पनातोऽपि तद्वित्तिर्यदि नेष्येत सौगतैः ।
समारोपव्यवच्छित्तिरनुमानफलं कथम् ? ॥१०४३॥
नासतोऽस्ति व्यवच्छित्तिः समारोपस्य तत्कृता[1] ।
कल्पनाकृततद्वित्तेरारोपोऽप्यस्ति नापरः ॥१०४४॥
अनुमानमनिच्छन्तस्तद्व्यापारप्ररूपणे[2] ।
[3]शास्त्रज्ञाः स्युरतस्तेषां नाधिकारो विचारणे ॥१०४५॥
ततोऽनुमानमन्विच्छन्नेकत्वप्रतिवेदनम् ।
विकल्पाच्छक्तितो ब्रूयात्तद्वदध्यक्षतो वयम् ॥१०४६॥
विकल्पकात् क्षणक्षीणादेकत्वप्रतिवेदनम् ।
ईच्छन्[4] कथं नु तादृक्षादध्यक्षात्तन्न वाञ्छति ॥१०४७॥
विकल्पादपि तद्वित्तिर्विकल्पान्तरतो यदि ।
अनवस्थानतो न स्यादारोपस्य व्यवस्थितिः ॥१०४८॥
कथं वा वेदने जीवत्यभिलाप्येतरात्मके ।
क्रमानेकान्तरूपत्वं प्रत्यक्षस्य निषिध्यते ॥१०४९॥
स्थायिना तेन[5] यन्न स्यात्स्वपरस्थायिताग्रहः ।
देवैर्निवेदितं चैतत्स्वयमन्यत्र तद्यथा ॥१०५०॥
"द्रव्यात्स्वस्मादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परम् ।
लक्ष्यन्ते गुणपर्याया धीविकल्पाविकल्पवत् ॥" [सिद्धि० परि० ३] इति ।
अक्षव्यापारतः प्राच्यात् स्थायिप्रत्यक्षसम्भवे ।
परापराक्षव्यापारवैयर्थ्यं चेत्तदप्यसत् ॥१०५२॥
परापरोपकारस्य तेनादानात्तदात्मना ।
विकल्प इव केनापि निश्चयानिश्चयात्मनः ॥१०५३॥

ततो युक्तं यथा गुणवद्द्रव्यं तथा पर्ययवदपीति ।

अथवा, यत एव गुणवद्द्रव्यमात्मादि तत एव पर्ययवदिति सूत्रार्थः । गुणवत्त्वं हि प्रसिद्धमेव, बुद्ध्यादिभिरात्मादेः, तच्च पर्ययवत्त्वाभावेऽनुपपन्नम् । तथा हि-बुद्ध्यादेरनुत्पत्तौ [6]यदात्मादे रूपं तदेव तदुत्पत्तावपि कथं प्रागिव पश्चादपि बुद्ध्यादिमत्त्वम् ? बुद्ध्यादेर्भावादेवेति

१ अनुमानकृता । २ -पणम् ता० । ३ शास्त्रज्ञेस्युरतः आ०, ब०, प० । केवलं शास्त्रव्याख्यातरः स्युर्न तु विचारकाः । ४ बौद्धः । ५ प्रत्यक्षेण । ६ यदात्मादिरूपं आ०, ब०, प० ।

चेत्, किन्न सर्वस्यापि तद्रूपत्वं व्यतिरेकाविशेषात्। आत्मादावेव भावादिति चेत्, कः सप्तम्यर्थः ? स्वरूपमेवेति चेत्, न, प्रागिव तस्य तदर्थस्यानुपपत्तेः। समवाय इत्यप्यनेनापास्तम्। प्रागभावी स्वभावस्तस्य पश्चादिति चेत्, कुतस्तस्येति ? समवायान्तरादिति चेत्, न, तस्याभावात्। भावेऽपि प्रागिव पश्चादपि तदवस्थदनुपपत्तेः। तत्रापि प्रागभाविनः स्वभावस्य पश्चाद्भावे अनवस्थादोषात्। तादात्म्यादिति चेत्, आत्मादेरेव स तादृशः कस्मान्न भवति ? अनिष्टत्वापत्ते समवायेऽप्यविशेषात्। एवं हि समवायपरिकल्पनमदृष्टकल्पनत्वेन पापीयः परिहृतं भवति। तत सिद्धं गुणवत्त्वात् पर्ययवत्त्वमात्मादेः, पूर्वापरस्वभावयोरन्यस्यैव पर्यायार्थत्वात्।

ननु एवं बुद्ध्यादिनाप्यात्मादेः तादात्म्यादेव तद्भावोपपत्तेः किं तदर्थेन पर्ययवत्त्वकल्पनेन ? अन्यथा तदर्थेनाप्यपरपर्ययवत्त्वकल्पनेन भवितव्यं तदर्थेनाप्यपरेण तत्कल्पनेनेत्यनवस्थापत्तेरिति चेत्, सत्यमेवेदं यदि परोऽप्येवं प्रतिबुद्ध्येत। न च प्रतिबुध्यते अनेकान्तवादापत्तिभयात्, अतस्तं प्रति सैव तदापत्तिर्गुणवत्त्वेन व्यवस्थाप्यते। तच्च गुणवत्त्वं न गुणसमवायो नापि गुणतादात्म्यं यदन्यतरासिद्धं भवेत्, अपि तु गुणसम्बन्धमात्रम्। तस्य चोभयसिद्धस्य भवत्येव गमकत्वम्, अन्यथानुपपत्त्युपपत्तेः।

ननु इह गुणा बुद्ध्यादयः, ते च पर्याया एव क्रमभावात्, तद्वत्त्वं च पर्ययवत्त्वमेव। तच्चेत्सिद्धम्, न साध्यम्। असिद्धं चेत्, न साधनम्। अन्यदेव पर्ययवत्त्वं ततः साध्यमिति चेत्; न, ततोऽप्यन्यस्य तद्वत्त्वस्य साधने अनवस्थापत्तेः, असाधने साधनस्य व्यभिचारादिति चेत्, न, शक्तिव्यक्तिरूपतया साध्यसाधनयोर्भेदात्। व्यक्तयो हि बुद्ध्यादयः पर्यायाः, तद्वत्त्वेन प्रतिबुद्ध्यादिव्यक्ति भिद्यमानैः शक्तिपर्ययैस्तद्वत्त्वं द्रव्यस्योपकल्प्यते। शक्तिपर्यायाणामपरशक्तिपर्ययोपनिबन्धनत्वं यदि नास्ति व्यक्तिपर्यायाणामपि न भवेत्। अस्ति चेत्, अनवस्थानमिति चेत्, सत्यम्, अनवस्थिता एव तत्पर्याया अनन्तशक्तित्वात् भावस्य। तदेव कुतोऽवगन्तव्यम् ? व्यक्तिपर्ययात्। शक्तिपर्ययस्य ततोऽपि परस्य तत्पर्यायस्यानुमानेऽनवस्थापत्तेः, इत्यपि न युक्तम्, कतिपयतदनुमानपर्यवसाने तद्भभाविन ऊहादेव निरवधिशक्तिपर्ययपरिच्छेदोपपत्ते अनवस्थोपनिपाताभावात्। ऊहस्य चावश्याभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथा अनाद्यनन्तकालकलापस्याप्रतिपत्तेः, आत्मादौ तत्सम्बन्धात्मनो निश्चितत्वस्य व्यवस्थापनप्रसङ्गात्। ततो युक्तं गुणवत्त्वेन पर्ययवत्त्वोपकल्पनम्। सम्प्रतिपत्तिविषये गुणवत्त्वे विप्रतिपत्तिविषयपर्ययवत्त्वाविनाभावनिश्चयसद्भावात्।

अत एव च साध्यसाधनभावेन भेदात् सूत्रे गुणपर्यययोः पृथगुपादानमित्यावेदयति 'सदपि' इत्यादिना–गुणपर्यययोर्नैक्यम्। इति एवं सूत्रे द्वयग्रहः भेदः। कुतः ?

१ प्रतीभत्सैव आ०, ब०, प०। २ तदेव न कु–आ०, ब०, प०। ३ व्यक्तिपर्ययात् शक्तिपर्ययस्य। ४ शक्तिपर्यायस्य। ५ इत्यप्ययुक्तम् आ०, ब०, प०। ६ तर्कादेव। ७ –शक्तिपरि –आ०, ब०, प०। ८ –निमित्तकत्मा–आ०, ब०, प०।

इत्याह–[1]**सत्** द्रव्यम् आपिसन्त्याश्रयत्वेनागच्छती(न्ती)ति [2]**सदापिसाः, विकल्पा** गुणात्मानो भेदा यस्य तस्याख्या निर्णयः **साधनाय** निश्चयाय। कस्य? **क्रमस्थितेः**, क्रमभावित्वात् क्रमाः पर्यायास्तेषां स्थितिर्यस्मिन् तस्य क्रमस्थितेः पर्ययवतो यत इति। ततः स्थितं गुणपर्यययोर्लिङ्गलिङ्गिभावप्रतिपादनार्थमुभयोपादानं सूत्रे इति।

अनिष्टप्रसङ्गपरिहाराय कस्मान्न भवति? भवति हि गुण एव द्रव्यमित्युक्ते तत्प्रसङ्गः सत्त्वचेतनत्वादिगुणाधारतया बौद्धविज्ञानस्य बुद्धिसुखादिगुणाधिष्ठानतया महेश्वरादेश्च अक्रमस्य द्रव्यत्वप्राप्तेरिति चेत्; न; गुणवद्द्रव्यमित्युक्तेऽपि [3]तदप्राप्तेरित्यावेदयन्नाह–

गुणवद्द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः।
दुद्राव द्रवति द्रोष्यत्येकानेकं स्वपर्ययम् ॥११७॥ इति।

गुणवद्द्रव्यमिति हि सूत्रं संक्षेप्तव्यम्। न चैवम् अक्रमस्यापि विज्ञानेश्वरादेर्द्रव्यत्वापत्तिः; तत्र [4]गुणवत्त्वस्यैव गुणव्यापकानामुत्पादादीनामभावेन अभावात्। उत्पादादिव्याप्ता हि गुणाः कथं तदभावे भवेयुः वृक्षाभावे शिंशपावत्? तदिदमाह–'**उत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः**' इति। प्रागसत आत्मलाभ उत्पादः, सतो विनाशो व्ययः, कथञ्चिदवस्थानं ध्रौव्यम्, तान्यादयो व्यापकत्वेन प्रधानभूता येषां ते तथोक्ताः। अर्थक्रियाकर्तृत्वेनैव व्याप्तिर्गुणानां नोत्पादादिभिरिति चेत्; न; [5]तस्यापि उत्पादादिस्वभावत्वात्। न हि कस्यचित्प्रागिव कार्यकालेऽप्यसमर्थस्य तत्कर्तृत्वम्; प्रागपि तत्प्रसङ्गेन कार्यानुपरमापत्तेः। समर्थस्येति चेत्; तदा तर्हि समर्थीभवतः प्राच्यासमर्थस्वभावपरिहारेणावस्थायित्वमवश्यमिति कथं नोत्पादाद्यात्मकमेव तत्कर्तृत्वं भवेत्? तच्चाक्रमाद्विज्ञानादेर्व्यावर्त्तमानं गुणवत्त्वमपि व्यावर्त्तयतीति कथं तस्य द्रव्यत्वापत्तिर्यदनिष्टमापद्येत। नन्वेवं संक्षिप्तादपि सूत्रात् क्रमवत्त्वस्यापि प्रतिपत्तेः "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इति किं विस्तीर्णेनेति चेत्? सत्यमेव यदा उत्पादादिप्राधान्यं गुणानां व्याख्यायते। यदा तु न; तदा गुणवत्त्वेन [6]पर्ययवत्त्वव्यवस्थापनार्थं विस्तीर्णं सूत्रम्। किं पुनः सूत्रकारस्य संक्षिप्तमपि सूत्रमस्ति? बाढम्, कुत एतत्? निर्बन्धनकारेणोपक्षेपात्। स्वबुद्धिक्लृप्तस्योपक्षेप इति चेत्; महदिदमद्भुतम्–यत्सूत्रकारस्यासती बुद्धिः निबन्धनकारस्येति।

कस्यचिच्चोद्यम्–भवतु नाम तत्रोत्पादादित्रयं यत्र पूर्वापरौ पर्ययौ, विनाशोत्पादयोः कथञ्चिदवस्थानस्य च तत्र सम्भवात्। [10]"यत्र वर्त्तमान" एवास्ति न पूर्वापरौ अनुपलम्भात्, तत्र कथम्? यतो द्रव्यलक्षणमव्यापकं न भवेदिति? तत्राह–'**दुद्राव**' इति। दुद्राव द्रुतवद्विद्युदादि द्रव्यम्। कम्? **स्वपर्ययं** न द्रव्यान्तरपर्यायम् असङ्कीर्णतयैव प्रतिपत्तेः। अनेन

---

१ सद्द्रव्यमपि स–आ०, ब०, प०। २ सदापि सवि–आ०, ब०, प०। ३ अनिष्टप्रसक्ताप्राप्तेः। ४ गुणत्वस्यैव आ०, ब०, प०। ५ अर्थक्रियाकर्तृत्वस्यापि। ६ –त्वमा–आ०, ब०, प०। ७ पर्यायत्व–आ०, ब०, प०। ८ अकलङ्कदेवेन। ९ सूत्रकारस्य अविद्यमाना बुद्धिः निबन्धकारस्य आगता। १० "विद्युदादिद्रव्ये"–ता० टि०। ११ "पर्यय."–ता० टि०।

पूर्वपर्ययवत्त्वं तस्योक्तम् । ध्रौव्यति स्वपर्ययम् , अनेनापि परपर्ययवत्त्वम् । अत्र हेतुः द्रवति स्वपर्ययं यत इति ।

शब्दादि वस्तु दुद्राव ध्रौव्यत्यप्यात्मपर्ययम् ।
[1]यतस्तद् द्रवति व्यक्तं घटादिरिव तत्त्वतः ॥१०५४॥
पूर्वाभावे कथं तस्यानुपादाना भवेज्जनिः[2] ।
वस्तुत्वमुत्तराभावे कथं वानर्थकारिणः[3] ॥१०५५॥
सजातिकरणाभावे विजातीयकृतेरपि ।
असम्भवादिति व्यक्तं पूर्वमेवाभिवेदितम् ॥१०५६॥
अवस्तुत्वे च तद्धेतुप्रबन्धे स्यादवस्तुता ।
असम्पादयतो वस्तु यदवस्तुत्वमिष्यते ॥१०५७॥
उत्पादादित्रयं तस्माच्छब्दादावपि तत्त्वतः ।
तद्वस्तुतादिभिर्वाच्यमन्यथा तदसङ्गतेः ॥१०५८॥
शब्दादिद्रव्यमेवेदमुत्पादादित्रयस्थितेः ।
एकानेकात्मकं यदभिभिन्दन्ति विपश्चितः ॥१०५९॥
नातो लक्षणमन्यापि सूत्रसंक्षेपदर्शितम् ।
द्रव्ये सर्वत्र भावाभाव्यतिव्याप्त्यन्यतोऽगतेः ॥१०६०॥

भवतु नाम विद्युदादेरुत्पादव्ययवत्त्वम्, ध्रौव्यवत्त्वं तु कथमिति चेत् ? न, ध्रौव्यवद् विद्युदादिकम् उत्पादव्ययवत्त्वात् घटादिवदिति तदभिप्रायात् । घटादावपि ध्रौव्यवत्त्वस्यासिद्धेः साध्यवैकल्यमुदाहरणस्येति चेत् , अत्राह–

भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि ।
अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ॥११८॥ इति ।

घटादौ हि ध्रौव्यवत्त्वमनन्विच्छन्तः किमन्यत्तत्रान्विच्छेयुः ? न किञ्चिदिति चेत् , न, प्रतीतिविरोधात् । उत्पादव्ययाधिष्ठानं प्रतिक्षणं भेदमिति चेत् , तमपि कस्मादन्विच्छन्ति ? तज्ज्ञानादिति चेत् , न , तस्य तैमिरिककेशादिभेदज्ञानवदप्रामाण्ये ततस्तदन्विच्छायोगात् । न भेदज्ञानमित्येव सर्वमप्रमाणम् , बाधाविकलतया प्रामाण्यस्यापि प्रतिपत्तेरिति चेत्[4] , तर्हि **भेदस्य** घटादिप्रतिक्षणनानात्वस्य **ज्ञानात्** प्रत्ययात् **प्रतीयेते** प्रादुर्भावश्चोत्तरस्य तत्क्षणस्य , अत्ययश्च पूर्वस्य **प्रादुर्भावात्ययौ यदि** चेत , **अभेदस्य** तयोरेकत्वस्य **ज्ञानम्** **ततः सिद्धा** निश्चिता **स्थितिः** अवस्थानम् । तैरस्ज्ञानस्यापि लूनपुनर्जातनखादावप्रामाण्येऽपि घटादिपरापरपर्ययेषु बाधावैकल्येन प्रामाण्यादिति

१ यतस्तद्–आ०, ब०, प० । २ रुत्पत्तिः । ३ अर्थक्रियाननुपादकस्य । ४ चेत् न तर्हि आ०, ब०, प० । ५ अभेदज्ञानस्यापि ।

भावः। भेदाभेदात्मकं हि भवन्मते वस्तु, तस्य च तदात्मना स्थितावभेद एव, न भेदः स्यात्। अस्थितावपि भेद एव नाभेदः स्यात् तत्कथमुभयात्मकत्वं तस्येति चेति ? अत्राह– **'अंशेन केनचित्'** इति। न ह्युत्पादव्ययौ स्थितिर्वा वस्तुनः सर्वात्मना यदयं प्रसङ्गः किन्तु केनचिद्भागेनैव। भागभावे न प्रमाणमालम्बनम्[1], तत्र भेदाभेदात्मनो जात्यन्तरस्यैव नरसिंहवत् प्रतिपत्तेर्न नरसिंहयोरिव भेदेतरभागयोः। नय एव तत्रालम्बनं[2] "कुर्यात् अत्रापोद्धारकल्पनाम्" [न्यायवि० श्लो० १११] इति वचनादिति। [3]चेन्न कल्पनाविषयस्यावस्तुसत्त्वेन तन्निबन्धनस्योत्पादादेरप्यवस्तुत्वापत्तेरिति चेन ; न; बाधाभावात। न हि कल्पनाविषय इत्येव सर्वमवस्तुसत ; बाधावैकल्ये वस्तुसतोऽप्युपपत्तेः। न तद्वैकल्यं प्रमाणेनैव जात्यन्तरविपर्येण बाधनादिति चेत् ; न ; अनुप्रविष्टकल्पनाविषयस्यैव जात्यन्तरस्य तेनापि प्रतिपत्तेः। न हि सकलकल्पनाविषयप्रतिक्षेपे जात्यन्तरं नाम सम्भवति ; [4]तद्विषयसमाहारस्यैव परस्परसम्मूर्च्छनात्मनस्तत्त्वेन[5] प्रतिपत्तेः। प्रमाणं तर्हि कल्पनया बाध्येत अननुप्रविष्टस्यैव जात्यन्तरे स्वविषयस्य तया[6] ग्रहणादिति चेत ; न ; अनुप्रवेशवदननुप्रवेशेऽपि [7]तस्या औदासीन्यात्। अतो न कल्पनया प्रमाणस्य नापि तेन तस्या बाधनमिति यथास्वं वस्तुसन्तावेव तद्विषयौ। अतो युक्तम्–अंशेनैवोत्पादव्ययौ स्थितिश्चेति। ततो यदुक्तं मण्डनेन–

"उत्पादस्थितिभङ्गानामेकत्र समवायतः।
प्रीतिमध्यस्थताशोकाः स्युर्न स्युरिति दुर्घटम्॥

यस्य खलु द्रव्यात्पर्याया भिद्यन्ते तस्य द्रव्यमात्रार्थिनो द्रव्यस्थितेर्विनाशाभावात् अपूर्वस्य चानुत्पादात् मध्यस्थता, रुचकार्थिनस्तस्यापूर्वस्योत्पत्तेः प्रीतिः, वर्द्धमानकार्थिनस्तस्य[8] विनाशाच्छोक इति व्यवस्था [9]प्रकल्प्यते। यस्य तु न [10]पर्येयेभ्योऽन्यद्द्रव्यं न द्रव्यादन्ये पर्ययास्तस्योत्पत्तिस्थितिभङ्गानामेकत्र समवाये द्रव्यार्थिनो मध्यस्थता भवेन्न भवेच्च प्रीतिशोक स्याताम्, न हि तद्द्रव्यमवतिष्ठत एव विनश्यति अपूर्वश्चोत्पद्यते तत्र विनाशादपूर्वोत्पत्तेश्च प्रीतिशोकौ स्यातां न मध्यस्थता, मध्यस्थता च स्थितेः स्यादिति दुघटमापद्यते। तथा वर्द्धमानकार्थिनस्तन्नाशाच्छोक इति स्यात् न च स्यात् स्थितेः। प्रीतिश्च तस्यापूर्वस्योदयात् स्यात्। तथा रुचकार्थिनस्तस्यापूर्वस्योदयात् प्रीतिः स्यात्, न च भवेत् पूर्वस्यैव स्थितेः, विनाशाच्च शोकः स्यात्।" [ब्रह्मसि २।२४] इति।

तदिदं प्रमाणाभिप्रायेण, नयाभिप्रायेण वा दूषणम् ? आद्ये विकल्पे युक्तम् उत्पत्तिस्थितिभङ्गानामेकत्र समवाय इति, परस्पराविष्वग्भूतानामुत्पादादीनां प्रमाणतः प्रतिपत्तेः। न

---

१ –मवलम्ब–आ०, ब०, प०। २ तत्रावलम्ब–आ०, ब०, प०। ३ 'चेन्न' इतिपदद्वयमत्र सम्पातादायानमिति भाति। ४ तद्विपये समा–आ०, ब०, प०। कल्पनाविषय। ५ जात्यन्तरत्वेन। ६ कल्पनया। ७ कल्पनाया। ८ "शरावो वर्धमानक' इत्यमर."–ता० टि०। अत्र सुवर्णशरावो ग्राह्य.। ९ प्रकल्पते ता०। १० पर्यायेभ्यो–आ०, ब०, प०।

पुनर्द्रव्यार्थिन इति वर्तमानकार्यार्थिन इति च पर्यायात् द्रव्यस्य ततोऽपि पर्ययस्यापोद्धारेण तदोऽप्रतिपत्तेः । न च तथा तदप्रतिपत्तौ तदर्थिनाम्, अनपोद्धारेण तु प्रतिपत्तौ आत्यन्तरमेव प्रतीयत इति कथं द्रव्यार्थित्वं आत्यन्तरार्थित्वस्यैव सम्भवात् । तदर्थिनश्च मध्यस्थतैव सर्वदा तद्रूपाप्रच्युतेः न तदभावः । नापि प्रीतिशोकौ तन्निमित्ताभावात् । तदेवं प्रमाणाभिप्रायेण ।

नयाभिप्रायेणैवेति चेत्, तत्रापि युक्त द्रव्यार्थिनो मध्यस्थता, भवेदिति न तु न भवेदिति, तस्याभिसन्धितो द्रव्ये मध्यस्थतायां प्रयोपपत्तेर्न तदभावस्य यतो दुर्घटत्वम् । प्रीतिशोकौ स्यातामित्यप्यपेशलम्, द्रव्ये तन्निमित्तयोरुत्पादविनाशयोरभावात् "न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्" [आप्तमी० श्लो० ५७] इति वचनात् । ततः परमतानभिज्ञानादेवोक्तम्–न हि तदित्यादि आपगत इति पर्यन्तम् । तथा वर्द्धमानकार्थिनस्तन्नाशाच्छोक एव न तदभावः, तन्निमित्तस्य स्थितेस्तत्राऽभावात् । उदयव्ययाधिष्ठानत्वमेव हि पर्यायाणां न स्थितिमत्त्वम् "व्येत्युदेति विशेषात्" [आप्तमी० श्लो० ५७] इति वचनात् । नापि प्रीतिः; तस्यैव पुनरुदयाभावात् । एवं रुचकार्थिनस्तदुत्पादात् प्रीतिरेव न तदभावः, तस्यैव पूर्वमभावात् । नापि शोकः, उत्पद्यमानस्यैव नाशाभावात् । ततो वर्द्धमानकार्थिन इत्यादि शोकः स्यादिति पर्यन्तमपि परमतापरिज्ञानमेव परस्यावेदयति । यदप्यपर तस्यैव–

"नैकान्तः सर्वभावानां यदि सर्वविधागतः ।
अप्रवृत्तिनिवृत्तीदं प्राप्तं सर्वत्र हीं जगत् ॥ इति ।

यदा हि सर्वप्रकारेणानैकान्तिकत्वं भावानां तथा सति नायं लौकिकः कश्चिदभिमतसाधनप्रकारमवधार्य प्रवर्त्तेत यतो नासौ तथैव, नापि निवर्त्तेत यतो नासावतथैव, तथा दुःखहेतोर्न निवर्त्तेत यतो नासौ तथैव नापि न निवर्त्तेत यतो नासावतथैवेति कष्टां चेत दशामापद्येत ।" [प्रमाणसि० २।२५] इति,

तत्रापि न परिहरत' किमपि कष्टं नयाभिप्रायेण सर्वत्रैकान्तस्यैवोपपादनात् "तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्" [बृहत्स्व० श्लो° १०३] इति वचनात् । तथा च यत्सुखसाधनं तत्तथैव नाऽन्यथापि यतो न प्रवर्त्तेत । दुःखहेतुरपि तथैव नाऽन्यथापि यतो न निवर्त्तेत । प्रमाणार्पणेन तथाऽन्यथात्वयोर्भावात् भवत्येवायं प्रसङ्ग इति चेत्, न, प्रमाणतस्तत्प्रतिपत्तावप्यभिसन्धिविषय एव व्यवहारोपपत्तेः, अभिसन्धेश्चैकभावात्, प्रत्युत ऐकान्तिकस्य एव सुखसाधनत्वादेरप्रवृत्तिनिवृत्तिकत्वं जगतः । तथा हि स्रक्चन्दनादिकमहिविषादिकं च सन्निहितस्येवान्यस्यापि तत्कालस्येवान्यकालस्यापि यदि सुखसाधनमेव दुःखसाधनमेव वा किं प्रवृत्त्या निवृत्त्या वा ? ततो नैकान्त इत्यादि नकारवर्जं परपक्षेऽपि वक्तव्यम् ।

अथानेकान्तवदेकान्तोऽपि कश्चिदिष्यते प्रमाणविदा, भेदस्याविद्याविलसितस्येदन्तया निर्वेक्तु

---

१ भेदरूपेण । २ अभेदेन । ३ –त्याभिरूपमम् मया–आ०, ब०, प० । ४ विपमानाभिप्रायतया । ५ शोकस्य निमित्तस्य । ६ "हीं शब्दः कष्टार्थे"–प्रमाणसि०व्या० । ७ –मेव नाऽनुपस्थापन–आ०, ब० ।

मशक्यत्वादिति चेत्; मा नाम भूत् भेदे तद्दिष्टिः परमात्मनि तु भवेत्, ततो हि लोकानां सृष्टिः "स इमांल्लोकानसृजत" [ऐत० १।२] इत्यादि श्रवणात्। तस्य चैकान्ततस्तत्सृष्टिहेतुत्वे कार्यं किञ्चिद्विवक्षितदेशादिविषयेव निःशेषापरदेशादिविषयाप्युपजायेत इति तत्साङ्कर्यं तदसाङ्कर्यप्रतिपत्तिविरुद्धमापद्येत अप्रवृत्तिनिवृत्तिकं च जगद्भवेत्। अथ न तथा[1] तस्य तद्धेतुत्वं कथं कार्यं जगत्? कथञ्चित्तदभावादिति चेत्; कथं तर्हि 'जगदुत्पत्तौ स न प्रवर्तेत यतो न हेतुरेव, नापि न प्रवर्तेत यतो नाहेतुरेव' इति कष्टदशापत्तिर्भवतोऽपि न भवेत्? न भवत्येव विषयभेदात्, न हि यस्य तद्देशादित्वे स हेतुरहेतुरपि तत्रैव, अपि त्वन्यदेशादित्वे, तत्र चाप्रवृत्तिः[2], इतरत्र वृत्तावप्युपपद्यत एवेति कथं कष्टता? तदापत्तेरनुपपत्तेरेव कष्टार्थत्वादिति चेत्; तर्हि चन्दनादिरपि येनात्मना हेतुः सुखस्य न तेनैवाहेतुः अपि त्वन्येनैव, तेन च तत्राप्रवृत्तिः, इतरेण प्रवर्तमानस्यापि नानुपपत्त्या पीड्यत इति कथं परोऽपि कष्टां दशामापद्येत?।

जगद्धेतुत्वमपि परमात्मनो नेष्यते जगत एव विचारपरिशोधितस्याव्यवस्थितेरिति चेत्; कुत इदानीं[6] तत्प्रतिपत्तिः? न स्वतः; असम्प्रत्ययात् संविदद्वैतवत्।

स्वतश्चेत्परमात्मायं प्रतिपन्नः समिष्यते।
संविदद्वयमप्येवं स्वतः सिद्धं समिष्यताम् ॥१०६१॥
आत्मसंविद्द्वयस्यैवं तत्त्वतः सम्भवे; कथम्।
वस्तुभेदप्रतिक्षेपः? "नेह नानास्ति किञ्चन" ॥१०६२॥
श्रुतिभ्यस्तत्प्रतीतिश्चेत्; जगतोऽसम्भवे कथम्।
श्रुतयोऽप्युपपद्यन्तां जगदन्तर्गता हि ताः ॥१०६३॥
अबाध्यमेव हेतुत्वं तास्वन्तस्त्वं[8] गतावपि।
श्रावयन्ति यतस्तास्तं कारणात्मतयोदितम् ॥१०६४॥

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" [तैत्ति० ३।१] इत्यादिका हि श्रुतयो जगद्धेतुत्वप्रतिपादनमुखेनैव परमात्मभावं श्रावयन्ति तत्कथं तस्य न हेतुत्वं कल्पितं वा श्रुतिप्रसिद्धस्य कल्पितत्वानुपपत्तेः? परमात्मन्यपि[11] तदुपनिपातात्। ततः कारणमेव जगतः परमात्माऽनेकान्तश्चेति कथन्न तत्रापि"[10] प्रवृत्तिनिवृत्तिर्विकल्पम्? विषयभेदात्तु[12] तदभावे चन्दनकण्टकादावपि न भवेदित्ययुक्तम्–'अप्रवृत्तिनिवृत्तीदम्' इति पर्याप्तं प्रसङ्गेन।

तत उत्पादादीनां नयविषयाधिष्ठानतया साङ्कर्याभावाच्चन्निबन्धनाः शीतादयो भवन्त्येव न न भवन्ति इत्युपपन्नमुक्तं स्वामिसमन्तभद्रैः तन्मतोपजीविना भट्टेनापि–

---

१ निःशेषदेशादिविषया। २ अन्यदेशादौ। ३ –त्तिरत्र वृत्ता–प०। ४ कष्टदशापत्तेरनुपप–आ०, ब०, प०। ५ कैनोऽपि। ६ प्रकटं तत्प्रतिपत्तिः। ७ कठोप० ४।११। बृहदा० ४।४।१९। ८ प्रमाणं। ९ प्रतिपत्तावपि। १० कल्पितत्वोपनिपातात्। ११ परमात्मन्यपि। १२ प्रवृत्तिनिवृत्तिवैकल्याभावे।

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥" [आप्त०मी०श्लो० ५९]इति ।
"वर्धमानकभङ्गेन रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।" [मी०श्लो०पृ० ६१९] इति ।

ततो घटादेरमेदज्ञानेन ध्रौव्योपपत्तेर्न साध्यवैकल्यम् । नापि साधनवैकल्यम्, उत्पादादेरपि तत्र तज्ज्ञानादेव प्रतिपत्तेः ।

[1]उत्पादो नाम [2]अभूत्वा भवनम्, अभूतस्य च न भवनम्, व्योमकुसुमादिवत्, अतः कथमुत्पाद इति चेत् ? न, चक्रचीवरादिव्यापारवैफल्यापत्तेः । अभिव्यक्तिकरणात्तस्या फल्यमिति चेत्, न, अभिव्यक्तेरप्यभूतायाः करणायोगात् । अभिव्यक्त्यभिव्यक्तिकरणादिति चेत्; न, अनवस्थापत्तेः । अभिव्यक्तेरभूतायाः अपि करणं न घटादेरिति किंकृतो विभागः ? कुतो वा प्रागपि भवतोऽनुपलब्धिः ? तिरोभावादिति चेत्, [3]स यदि तस्मादन्यः कथम घटादिकस्यैव [4]तेतः सर्वस्यानुपलब्धिः ? तत्रैव तस्य भावादिति चेत्, न, 'सर्वं सर्वत्र विद्यते' इति [5]दर्शनात् । तदभिव्यक्तेस्तत्रैव भावादित्यपि न युक्तम् । [6]अत एव तदभिव्यक्त्यभिव्यक्तेस्तत्रैव भावादित्यपि, अनवस्थापत्तेश्च । तन्न तस्मादन्यस्तिरोभाव । अनन्य एवेति चेत्, कथं पश्चादुपलब्धिः[7] ? कुतश्चित्तिरोभावापगमादिति[8] चेत्, सिद्धमुत्पत्तिमत्त्ववत् व्ययवत्त्वमपीति न साधनवैकल्यं निदर्शनस्य । माध्यपक्षधर्मत्व हेतोः, शब्दविद्युदादावप्युत्पादव्ययवत्त्वस्याऽवि-प्रतिपत्तेः । अतो भवत्येव शब्दविद्युदादेरवस्थानवत्त्वप्रतिपत्तिरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयात् ।

[9]यत्पुनरेतत्–यद् यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत्तद्भावनियतं यथा अन्त्या कारणसामग्री कार्योत्पादं प्रत्यनपेक्षा तद्भावनियता, विनाशं प्रत्यनपेक्षश्च भावः, तस्मान्नश्वरस्यैव न विस्तीति, तत्र कदाऽसौ नाशः ? भावस्योत्पत्तिसमय एवेति चेत्; न, हेतोर्धर्मिविपर्ययसाधनेन [10]विरुद्धत्वो-पपत्तेः । उत्पत्तिसमयभावी हि भावो धर्मी, तस्य च तदैव नाशे कथं न विपर्ययो यतस्तं साधयन् हेतुर्विरुद्धो न भवेत् ? उत्पत्तेरूर्ध्वमिति चेत्, सोऽपि यदि भावाद्भिन्नः; कथं भावस्वरूपतया व्यपदिश्येव भावो नश्यतीति ? न ह्यन्यः अन्यरूपतया व्यपदेशमर्हत्यति[11]-

---

१ सौम्य भाराइत्ते । २ "अर्थसत्त्वमभूत्वाभवितम्"–किरणा० पृ० २१ । ३ तिरोभाव । ४ तिरो-भावतः । ५ प्रकारादेव । ६ "सर्वं सर्वत्र विद्यत इति दर्शनाश्रीयणात् तिरोभावोऽपि सर्वत्र विद्यते तत सर्वस्यानुपलब्धिप्रसङ्गः ।"–ता० टि० । ७ सर्वं सर्वत्र विद्यते इति दर्शनादेव । ८ 'न युक्तम्' इति सम्बन्धः । ९ बौद्धे । १० –बौद्धमतमिति आ०, ब०, प० । ११ बौद्धस्य मतम् । "तदयं भावोऽनपेक्षत्वात् प्रति तद्भावनियतः तद्यथा अन्त्यकारणसामग्रीकार्योत्पादनेऽनपेक्षत्वात्प्रतिबन्धा ।"–प्र० वा० स्व० वृ० ३।१९० । "यै यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियता यथाऽन्त्यकारणसामग्री स्वकार्योत्पादने नियता । विनाशं प्रत्यन-पेक्षाश्च सर्वे जन्मिनः क्षणभङ्गा भावा इति स्वभावहेतुः ।"–तत्त्वसं० प० श्लो० ३५१ । १२ विरुद्धोप–आ०, ब०, प० । १३ "सर्वस्य सर्वरूपतया व्यपदेशप्रसङ्गात्"–ता० टि० ।

प्रसङ्गात् । नायं दोषः ; भावस्यैव [1]तद्धेतुतया तद्रूपत्वेन व्यपदेशोपपत्तेर्न सर्वस्य सर्वरूपतया विपर्ययादिति चेत् ; न ; अनश्वरस्यैव भावस्य तद्धेतुत्वापत्तेः, नाशात् पूर्वं नश्वरत्वानुपपत्तेः। ततो नश्वरत्वेनार्थक्रियाकारित्वस्य व्याप्तिव्यवस्थापनं परस्यापरिज्ञानविजृम्भितमेव । अन्यतो नाशान्नश्वरस्यैव तस्य तद्धेतुत्वमिति चेत् ; न; तन्नाशस्यापि पश्चाद्भावित्वे तत्रापि 'सोऽपि यदि भावाद्भिन्नः' इत्यादेरनुबन्धात् । तन्नाशेऽपि नाशान्तरान्नश्वरस्यैव भावस्य हेतुत्वपरिकल्पनायामपरिनिष्ठापत्तेः । [2]तन्नायं भिन्न एव भावात् । अभिन्न एवास्त्विति चेत् ; न ; [3]तस्यापि तद्वद्भावरूपत्वप्रसङ्गात । कथञ्चिद्भेदस्यापि भावान्न तद्रूपत्वापत्तिरिति चेत्; कथमेवमवस्थितस्य कथञ्चिदन्यथा भाव एव नाशो न भवेत्तत्रैव लोकस्यापि नाशव्यवहारप्रतिपत्तेः। तत्र च विरुद्धो हेतुः निरन्वयविनाशसाधनाय प्रयुक्तेन तद्विरुद्धस्य सान्वयस्यैव विनाशस्य तेन साधनात् । ततः सर्वं सदुत्पादादित्रयात्मकमेव नोत्पादाद्यन्यतमैकान्तात्मकं तदप्रतिपत्तेः। एतदेवाह–

सदोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं [4]सदसतोऽगतेः । इति

'सत्' इति धर्मिणो निर्देशः प्रसिद्धत्वात , **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्** इति साध्यस्य अप्रसिद्धत्वात् "अप्रसिद्धं साध्यम्" [न्यायवि० श्लो० १७२] इत्यभिधानात् । हेतुत्वमत्र सत एव द्रष्टव्यम् । धर्मित्वं प्रत पक्षीणस्य कथं तस्य हेतुत्वमिति चेत् ; न; [6]साध्यं प्रत्यधिकरणभावेन तस्य तत्प्रत्युपक्षयेऽपि अन्यथानुपपन्नत्वेनानुपक्षयात्, [7]तस्य धर्मिभावं प्रत्यनुपयोगात् ।

प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेनासिद्धस्य कथमन्यथानुपपन्नत्वमपि साध्यवदिति चेत्? न साध्यस्यापि [8]तदेकदेशत्वेनासिद्धत्वम्, अपि तु स्वरूपेणाप्रतिपत्तेः । न चैवं सतोऽप्रतिपत्तिः धर्मित्वस्याप्यभावप्रसङ्गात् । तदयमत्र प्रयोगः–यत्किञ्चित् सत् तत्सर्वमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् अन्यथा सत्त्वानुपपत्तेः ।

असिद्धिरन्यथानुपपत्तेः साध्यस्यासम्भवात् । न हि असम्भवत्साध्यापेक्षं क्वचिदन्यथानुपपन्नत्वमुपपत्तिमत्तामुद्वहति । तस्यासम्भवश्च विचारसूक्ष्मसूचीमुखनिर्भेदभीरुत्वात् । तथा हि यदि [9]भावस्य स्वतो न सत्त्वम् ; उत्पादादियोगेऽपि न स्यात् व्योमकुसुमवत् । उत्पादादिना चासता न योगः, योगेऽपि न सत्त्वम् ; कूर्मरोमयोगेणापि तत्प्रसङ्गात् । सन्नेवोत्पादादिरिति चेत्; यदि स्वतः भावोऽपि तथैव सन्निति किं तद्योगेन ? अपरोत्पादादियोगादिति चेत् ; न ; तदुत्पादादेरप्यपरोत्पादादियोगेन सत्त्वपरिकल्पनायाम् अपरिनिष्ठापत्तेः । तन्न तद्योगो नाम साध्यं सम्भवति तत्कथं तदपेक्षमन्यथानुपपन्नत्वं सत्त्वस्येति चेत् ; न; उत्पादादेस्तद्वतो भेदैकान्त एवैवं दोषोपनिपातान्, नाभेदभावे; [10]तत्रोत्पादाद्यात्मकस्यैव [11]सत्स्वरूपतया निर्णयात् ।

---

१ नाशहेतुतया । २ नाशः । ३ नाशस्यापि । ४ द्रष्टव्यम्–अक० टि० पृ०१४२ पं०२१ । ५ द्रष्टव्यम्–अक० टि० पृ० १६२ पं० ३२ । ६ साध्यत्वं प्रत्य–आ०, ब०, प० । ७ अन्यथानुपपन्नत्वस्य । ८ प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेन । ९ यदि स्वभाव–आ०, ब०, प० । १० तत्रोत्पादात्मक–ता० । ११ सत्स्वरूप–आ०, ब०, प० ।

सतः किमिदं सत्त्वम् ? उत्पादाद्यात्मकत्वमेव नापरम्, इति । "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [त० सू० ५।३०] इति युक्तशब्दस्य चाभेदवाचिन एवोपादानात् ।

अपि च, कथमिदानीमर्थक्रियासामर्थ्यस्यापि सल्लक्षणत्वं यत इदं सूक्तं स्यात्–

"अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत् ।" [प्र० वा० २।३] इति ।

स्वयमसतस्तत्सामर्थ्येन सम्बन्धेऽपि व्योमकुसुमवत्सत्त्वानुपपत्तेः । असता च तेन तद्वदेव सम्बन्धासम्भवात् । स्वतस्तस्य सत्त्वे भावस्यापि तत एव तदुपपत्तेः तत्सम्बन्धवैफल्यात् । अपरतत्सामर्थ्यसम्बन्धात्सत्त्वे चानवस्थादोषस्याविशेषात् । एवम् "उपलम्भः सत्ता" [प्र०वार्तिकाल० २।५४] इत्यादावपि वक्तव्यम् । 'भावादभिन्नमेव तत्सामर्थ्यादिकं तदेव च भावस्य सत्त्वं नापरम् । न च तस्यापरं तत्सामर्थ्यादिरूपं सत्त्वमपेक्षणीयं स्वत एव तद्रूपत्वात्' इति समाधानं तु उत्पादात्मन्यपि सत्त्वे न वैमुख्यमुद्वहति ।

ननु उत्पादादेरपि उत्पादादिस्वभावत्वात् अस्तु उत्पादस्योत्पादात्मकत्वं स्वतो व्ययध्रौव्यात्मकत्वं तु कथमिति चेत् ? न, व्ययध्रौव्याभ्यामपि तस्य कथञ्चिदभेदात् स्वत एव तदात्मकत्वस्याप्युपपत्तेः । भावादेव उत्पादादेरभेदो न परस्परत इति चेत्, न, भावाभेदस्यैव परस्परतोऽप्यभेदत्वात् । "व्यावृत्ताश्च परस्परम्" [सिद्धिवि० परि० ३] इत्यत्यैकान्तिकव्यावृत्तेरनभिधानात् । एवं व्ययस्योत्पादध्रौव्यात्मकत्वं ध्रौव्यस्य च उत्पादव्ययात्मकत्वं स्वतः प्रतिपत्तव्यम् । तन्न तस्यासम्भवः साध्यस्य विचारवैमुख्याभावादित्युपपन्नमेव तदपेक्षमन्यथानुपपन्नत्वं साधनस्य ।

व्यभिचारादनुपपन्नमेव तस्यान्यथानुपपन्नत्वम्, व्यभिचारश्चोत्पादादीनामन्यतमैकात्मनि अन्यतमद्वयात्मनि वा भावेऽपि भावादिति चेत्, न, असतोऽगतेः । सदुत्पादादित्रयं व्याप्यव्यत्वेन व्यापकस्याभिधानात् । न विद्यते सद्धर्मिसत् असत्, तदन्यतमैकात्मकम्, अन्यतमद्वयात्मकं वा तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेन अगतेः अप्रतिपत्तेः ।

विनेश्वराभ्यां नोत्पादो न व्ययो धौव्यवेदनात् ।
प्रमाणेन विरोधाच्च न चोत्पादव्ययौ क्वचित् ॥१०६५॥
विरुद्धं हि निरंशार्थस्योत्पादविगमद्वयम् ।
तस्यांशत्वे समाधानं पुरस्तादभिधास्यते ॥१०६६॥
उत्पादध्रौव्यरूपश्च भावो हि व्ययवर्जितः ।
न प्रतीतिविदग्धस्त्रीपरिष्वङ्गसुखावहः ॥१०६७॥
व्ययवानेव भिन्नेन व्ययेन स मतो यदि ।
तदा तेनैव सर्वोऽपि भावो व्येतीह किन्न वः ? ॥१०६८॥

१ अर्थक्रियासामर्थ्येन । २ सत एव । ३ –त्वं तस्य च आ०, ब०, प० । ४ पदार्थेऽपि । ५ –कम् तदन्य –आ०, ब०, प० । ६ नाप्यते–आ०, ब०, प० ।

तद्विशिष्टतयार्थस्य नियतस्यैव वेदनात् ।
इति चेद्व्ययकालेऽपि भावस्य स्यादवस्थितिः ॥१०६९॥
अनवस्थायिनो यस्मान्न वैशिष्ट्येन वेदनम् ।
तथा च न विषादः स्यादिष्टनाशेऽपि देहिनाम् ॥१०७०॥
अस्थितस्यापि[1] वैशिष्ट्यं बुद्ध्युपस्थापितस्य चेत् ।
बुद्ध्युपस्थापनं तस्य सतश्चेत्कथमस्थितिः ? ॥१०७१॥
असतश्चेत्कथं तस्य व्ययवैशिष्ट्यवेदनम् ? ।
दृष्टं हि नीलवैशिष्ट्यं सत एवोत्पलात्मनः ॥१०७२॥
आरोपितेन रूपेण वैशिष्ट्यं तस्य चेत्सतः ।
व्ययस्तस्यापि रूपस्य भावस्यैव[2] भवेत्तदा ॥१०७३॥
ततस्तस्यापि वैशिष्ट्यमसतः कथमुच्यताम् ? ।
आरोपितेन रूपेण तस्याप्यस्तित्वकल्पने ॥१०७४॥
पूर्वदोषानिवृत्तिः स्यादनवस्थानवाहिनी ।
विशेषणत्वमप्यस्य नाशक्त[3]स्योपपद्यते ॥१०७५॥

विशिष्टप्रत्ययहेतोरेव हि नीलादेर्विशेषणत्वं दृष्टम् । न च व्ययस्य तद्धेतुत्वं शक्तिवैकल्यात्, शक्तिमत्त्वे तु भाव एव स्यात् तस्य तल्लक्षणत्वात् द्रव्यादिवत् । द्रव्यादेरपि न शक्तिमत्त्वात् भावत्वम् अपि तु भावेन सत्तापरव्यपदेशेन सम्बन्धात् । न च व्ययस्य तत्सम्बन्धो यतो भावत्वमिति चेत् ; कथं तर्हि भावस्य भावत्वम् ? तत्सम्बन्धाभावादनवस्थापत्तेः । स्वत एव भावप्रत्ययै[4]करणादिति चेत् ; द्रव्यत्वादेस्तर्हि कथम् ? न हि ततस्तत्प्रत्ययः[5]; द्रव्यादिप्रत्ययस्यैव भावात्, इत्यभावत्वमेव तस्य स्यात् । तदपि[6] नास्ति; अभावप्रत्ययकरणाभावादिति चेत्[7]; तत्तर्हि भावाभावस्वभावविनिर्मुक्तं तत्त्वान्तरं प्राप्नुयात् । तच्चानुपपन्नम् ; "सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावस्तत्त्वम्" [न्यायभा० १।१।१] इति तत्त्वनियमप्रतिपादनभाष्यव्याघातापत्तेः । नायं प्रसङ्गः स्वप्रत्ययोपजननसमर्थतया द्रव्यत्वादावपि भावत्वस्यैवोपपत्तेरिति चेत् ; अनुकूलमाचरसि, शक्तिमत्त्वस्यैव भावलक्षणत्वेनैवं प्रतिष्ठानात् । तथा च व्ययोऽपि कथन्न भावः स्वप्रत्ययशक्तेरविशेषात् ? इत्यशक्त एवासौ सर्वथा वक्तव्य[8] इति नासौ कस्यचिद्विशेषणम्, स्वानुरक्तप्रत्ययमकुर्वतस्तत्त्वानुपपत्तेः[9] । ततो न विशिष्टप्रत्ययनियमात्तन्नियमः ।

तत्कार्यव्ययनियमादिति चेत्; किं पुनर्व्ययादपि व्ययः ? तथा चेत्; न; तस्यापि भावादर्थान्तरत्वे प्राच्यप्रसङ्गस्यानिवृत्तेः, अनवस्थापत्तेश्च । अनर्थान्तरत्वे तु तद्वत्प्रथमस्यापि

१ अपि तस्यापि आ०,ब०,प० । २ भावस्येव आ०,ब० । भावस्येह प० । ३ नाशस्तस्यो-आ०,ब०,प० । ४ -यकार-आ०, ब०, प० । ५ द्रव्यत्वादेः भावप्रत्ययः । ६ अभावत्वमपि । ७ चेत्तर्हि -आ०, ब०, प० । ८ वक्तव्यमिति आ०, ब०, प० । ९ विशेषणत्वानुपपत्तेः ।

तत्त्वोपपत्तेः, सिद्धमुत्पादध्रौव्यात्मनो भावस्य व्ययात्मकत्वमपि, अन्यथा तदप्रतीतेः। एवम् उत्पादवानेव ध्रौव्यव्ययात्मा भावो नान्यथा प्रतीत्यभावात्।

भवतु व्यतिरिक्तेनोत्पादेन तद्वत्त्वं नात्मभूतेनेति चेत्, कः पुनस्तादृश उत्पादः? यौगमतः सत्तासम्बन्धः, कारणसम्बन्धो वेति चेत्, न, तत्र कारणवैफल्यापत्तेः, सत्सम्बन्धस्य नित्यत्वेन कारणनिरपेक्षत्वात्। तदुक्तम्–

"सत्ता स्वकारणाश्लेषकारणात्कारणं किल।
सा सत्ता स च सम्बन्धो नित्यौ कार्यमथेह किम्?॥" [ ] इति

तन्न सत्सम्बन्धः उत्पादः।

प्रागसत आत्मलाभ इति चेत्, न तर्हि तस्य व्यतिरेक इति आत्मभूतेनैवोत्पादेनोत्पादवान्[1] ध्रौव्यव्ययात्मा भावः, अन्यथा तदवगमाभावात्। उत्पादव्ययस्वभावमेव च ध्रौव्यम्, अन्यथा कस्याप्यपरिज्ञानात्। ध्रुवमेवात्मादि परिज्ञायत इति चेत्; कुतस्तत्परिज्ञानम्? स्वशक्तित इति चेत्, न, सर्वदा सर्वेणापि तत्प्रसङ्गादविवादापत्तेः। सामग्रीतस्तत्परिज्ञानम्, न च सा सर्वदा सर्वस्यापीति चेत्; तदशायां यदि तस्य प्राच्यं[2] तदविषयत्वं न परिक्षीयेत कथं तद्विषयत्वं[3] विरोधात्? परिक्षीयते चेत्, कथन्न व्ययः तस्यं तस्मादर्थान्तरत्वात्, न हि अर्थान्तरस्य परिक्षये तत्परिक्षयः, अतिप्रसङ्गात्। कथं तादात्म्येन[4] तेन[5] तद्विषय इति व्यपदेशः अतिप्रसङ्गस्याविक्षेपात्? सम्बन्धात्कुतश्चिदिति चेत्, न, ततोऽप्यर्थान्तरात्तदनुपपत्तेः। तत्राप्यपरसम्बन्धकल्पनायाम् अनवस्थापत्तेः[6]। तस्य[7] तस्मादनर्थान्तरत्वे तु सिद्ध तदपरिक्षये[8] प्रमातृत्व्यपरिज्ञानम्। न ह्यपरित्यक्ततदविषयत्वसम्बन्धस्वभावं[9] तद्विषयभावमनुभवति। अनुभवन्न परित्यक्तस्वभावमेवेति कथन्न व्ययः?

कथं वा नोत्पादः? पूर्वस्वभावपरित्यागस्योत्तरस्वभावोपादानात्मन एवोपपत्तेः। अनुत्पन्नोपादानस्य चावस्थानायोगेन निःशेषपरिक्षये तत्परिज्ञानस्योत्पन्नस्यापि निर्विषयत्वापत्तेः। तदेकशो द्विशो वा सम्भवन्त्युत्पादादयः, यतस्तत्रापि भावाद्व्यभिचारी हेतुर्भवेत्[10]।

ननु ध्रौव्यं नाम पूर्वस्य दधिपर्यायस्योत्तरतत्पर्यायेणैकत्वम्, तच्च तेनैव कुतो न करभपर्यायेणापि देशादिभेदस्य प्रकृतेऽप्यविशेषादिति चेत्? अत्राह–

तादात्म्यनियमो हेतुफलसन्तानवद्भवेत् ॥११९॥ इति।

तादात्म्यम् एकत्वं तस्य नियमो दधिपर्यायस्य तत्पर्यायेणैव न करभपर्यायेणेत्यव-

१ तदात्मन –आ०, ब०, प०। २ कथं पुन–आ०, ब०, प०। ३ "अथ किमिदं कार्यत्वं नामेति–स्वकारणसत्तासम्बन्धः"–प्रश० व्यो० पृ० ११९। ४ –व्यमस्ति इति आ०, ब०, प०। ५ –त्पादमात् ध्रौ–आ०, ब०, प०। ६ प्राच्यं भवति –आ०, ब०, प०। ७ परिज्ञानविषयत्वम्। ८ तदविषयत्वस्य अत्यये। अत्र 'न व्ययः' इत्यनुवर्तनीयम्। ९ अर्थान्तरभूतेन। १० तदविषयत्वपरिक्षयेण। ११ –पत्तेश्च तस्य –आ०, ब०, प०। १२ तदविषयत्वस्य। १३ तदविषयत्वापरिक्षये। १४ –स्वभावं तद्वि–आ०, ब०, प०। १५ उत्पादादिः।

धारणं **भवेदिति** तद्भावं विदधानस्तदभावं व्यवच्छिनत्ति, तदव्यवच्छेदे तद्विधानानुपपत्तेः। अत्र हेतुः **'असतो गतेः'** इति **असतः** करभपर्यायेष्वविद्यमानस्य तादात्म्यस्य दध्नो दधिपर्यायेष्वेव[1] **गतेः** प्रतिपत्तेः। तत्र दृष्टान्तः **हेतुफलसन्तानवत्**। हेतवश्च[2] फलानि च पूर्वापरदधिक्षणरूपाणि, तेषां सन्तानः, तद्वत्। यथा तेषां भेदेऽपि परस्परमेवैकः सन्तानो न करभक्षणैः तद्व्यावृत्तस्य तस्य तत्रैव गतेः, अन्यथा "**चोदितो दधि खाद**" [प्र० वा० ३।१८२] इत्यादेस्तत्रापि प्रसङ्गात्। तथा तत एव तेषां परस्परमेव तादात्म्यं न तत्क्षणैः।

अथवा हेतुफले हेतुत्वफलत्वे भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य। यदि वा, न विद्यते हेतुर्यस्य सः अहेतुः प्रध्वंसः फलं विधिः अन्यस्य फलत्वानुपपत्तेः तयोः सन्तन्यते तादात्म्येन विस्तीर्यते इति **हेतुफलसन्तानो अहेतुफलसन्तानो वा** मध्यक्षणः तस्यैव। न हि तस्य हेतुत्वमेव, स्वयमफलस्य सामान्यादिवदवस्तुत्वापत्तेः। पूर्वपूर्वापेक्षयाऽपि तस्य तत्त्वेन तत्तत्पूर्वकालभावित्वेन [3]चिरापक्रमदोषाच्च। नापि फलत्वमेव; स्वयमहेतोर्व्योमकुसुमसमत्वोपनिपातात्। उत्तरोत्तरापेक्षयापि तस्य तत्त्वेन[4] तत्तदुत्तरकालभावित्वेनातिचिरभावित्वप्रसङ्गाच्च। तथा न तस्य विधिरेव स्वभावः, तत्क्षणवत् क्षणान्तरेऽपि तत्स्वभावत्वेनाक्षणिकत्वप्रसङ्गात्। नापि नाश एव; क्षणान्तरवत् तत्क्षणेऽपि तदात्मत्वेन[5] शून्यवादोपनिपातात्। ततः पूर्वं प्रति फलत्वमुत्तरं प्रति हेतुत्वं तत्क्षणं प्रति विधित्वं क्षणान्तरं प्रति नाशत्वमिति परस्परं भिन्नावेव हेतुफलभावौ विधिविनाशौ च। न च तौ च तौ च तादात्म्येन व्याप्नुवन्ति[6] तस्मिन्नतिप्रसङ्गः; वस्तुनाद्वयापत्तेः। ततो यथा नियतप्रतीतिसामर्थ्यात् नियतमेव हेतुफलतादात्म्यं विधिविनाशतादात्म्यञ्च तत्क्षणस्य तथा द्रव्यादेः पर्यायतादात्म्यमपीति न कश्चिदुपालम्भः।

मा भूत्तत्क्षणस्यापि तत्तादात्म्यं हेतुफलभावस्य विधिविनाशभावस्य च क्वचिदनिष्टेः। अद्वैतं हि तत्त्वं तस्य निरवद्यप्रमाणविषयत्वात्, न हेतुफलभावादि विपर्ययात्। कल्पितस्य तु न दृष्टान्तत्वम्, साध्यस्यापि कल्पितस्यैव प्रसिद्धिप्रसङ्गादिति चेत्; न; अद्वैतस्यापि निर्भागपरमाणुरूपस्याप्रमाणत्वात्। नानेकस्वभावत्वे तु नाद्वैतं तद्द्वयस्यापि तादृशस्याऽनिषेधोपपादनात्।

भवतु [7]तदुभयमपि क्षणिकमेवेति चेत्; अत्राह—

भिन्नमन्तर्बहिः सर्वं युगपत्क्रमभावि नः।
प्रत्यक्षं न तु साकारं क्रमयुक्[8]क्रमयुक्तिमत् ॥१२०॥ इति।

सर्वं निरवशेषम् **अन्तश्चेतनं भिन्नं बहिश्चाचेतनं भिन्नम्** अनेकस्वभावं **युगपत्** अक्रमेण 'यत्' इति शेषः। तत्रोत्तरम्–**क्रमभावि** क्रमेण भवनशीलम् अन्तर्बहिः

1 –येष्विव आ०, ब०, प०। 2 "हेतुत्वेन"–ता० टि०। 3 चिरविनष्टदोषात्। 4 फलत्वेन। 5 तदात्म–आ०, ब०, प०। 6 व्याप्नोति त–आ०, ब०, प०। 7 "संविदर्थद्वयम्–ता० टि०। 8 –क्रमयुगवत् आ०, ब०, प०।

सर्वं भिन्नमिति सम्बन्धः । कुत एतत् ? प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवेद्यं यत इति । निरूपितं चैतत् ।

ननु यदि प्रत्यक्षमक्रमं न तेनापरक्रमप्रतिपत्तिः । सक्रमं चेत्, न, तत्क्रमेणाप्यपरिज्ञातेन तदनुपपत्ते, तत्परिज्ञानस्याप्यपरतत्क्रमेण परिकल्पनायामनवस्थापत्तेरिति चेत्, अत्रोत्तरम् 'न तु' इत्यादि । प्रत्यक्षमित्यत्रापि सम्बन्धनीयम् । प्रत्यक्षं प्रत्यक्षप्रमाणं साकारं स्वपरनिर्णयात्मकं न तु नैव अयुक्तिमत् अपि तु युक्तिमदेव । कीदृशं सत् अयुक्तिमच्च भवति ? क्रमयुक्त क्रमेण अपरापरोल्लेखिपर्यायरूपेण युक्तमुपपन्नम् । प्रत्यक्षक्रमस्यापरतत्क्रमेण परिज्ञानानभ्युपगमात् । न च तावता तस्यापरिज्ञानमेव प्रत्यक्षपरिज्ञानस्यैव तत्क्रमपरिज्ञानत्वात्, प्रत्यक्षतत्क्रमयोः कथञ्चिदेकत्वात् । अवश्यं चैवमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा युगपद्भावितदपरापरस्वभावपरिज्ञानस्याप्येवमयुक्तिमत्त्वापत्तेः । ततो युक्तं युगपदिव क्रमेणाप्यनेकस्वभावं सर्वम्, प्रत्यक्षतस्तथैव प्रतिपत्तेः ।

एतदेव लोकप्रसिद्धेनोदाहरणेन दर्शयन्नाह–

प्रत्यक्षमतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् । इति ।

प्रत्यक्षं विशदं व्यवसायात्मकं ज्ञानं तेन प्रतिपुरुषं सम्यगबाधितत्वेन वेद्यो ज्ञातव्यो 'विशेष' इति वक्ष्यमाणमिहाकृष्य सम्बन्धनीयम् । विशेषश्च द्रव्यपर्यायात्मा भावः, तस्यैकान्तव्यतिभिन्नद्रव्यपर्यायाभ्यां भिद्यमानतया विशेषाभिधानोपपत्तेः । अत्रोदाहरणम्– कुण्डलमादिर्येषां प्रसारणोत्फणविफणाद्यवस्थाभेदानां तेषु सर्प इव तद्वत् ।

सर्पस्तावदनुस्यूतः कुण्डलायमनादिषु ।
प्रत्यक्षेणैव संवेद्यो विवादस्तत्र ते कथम् ? ॥१०७६॥
प्रत्यक्षेऽपि विवादश्चेदविवादः क्व कल्प्यताम् ? ।
कल्पनैवान्वयज्ञानं प्रत्यक्षमेति चेन्मृषा ॥१०७७॥
अन्वयज्ञानतोऽन्यस्य प्रत्यक्षस्याप्रवेदनात् ।
अवेदनाभिमानस्ते निश्चयाभावतो यदि ॥१०७८॥
सनिश्चयं[1] चेदप्यत्र कथं नाम न निश्चयः ।
अनिश्चयं चेत्सर्वत्र सर्वं प्रत्यक्षमुच्यताम् ॥१०७९॥
ततोऽनुवृत्तसर्पादिज्ञानं प्रत्यक्षमेव तत् ।
विशदत्वेन निर्भासात् सुरमीक्षादिबोधवत् ॥१०८०॥
वैशद्यं च यथा तस्य मुख्यमेव न कल्पितम् ।
निरूपितं तथा पूर्वमिति नेह निरूप्यते ॥१०८१॥

---

१ परदर्श–आ०, ब०, प० । २ तुलना–"तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः । पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥"–मी० श्लो० पृ० ६९५ । प्रमाणमी० १११ । ३ –यं चिद –आ०, ब०, प० । ४ –न्न छ–आ०, ब०, प० ।

ततो द्रव्यादिरूपत्वं वस्तुनोऽध्यक्षतोऽधुना ।
पश्यन्ननाद्यनन्तेऽपि काले तत्त्वं प्रपद्यते ॥१०८२॥
पश्यतोऽपि तथा व्याप्तिं यदि नानुमितिस्तदा ।
क्षणभङ्गानुमानादेरपि देयो जलाञ्जलिः ॥१०७३॥
तस्मान्मध्यवदेवान्यकालेऽप्यर्थस्तदात्मकः ।
प्रपत्तव्योऽत एवोक्ता पूर्वश्लोके [1]सदाश्रुतिः ॥१०८४॥

ततो द्रव्यपर्यायात्मैव भावः प्रत्यक्षेण तथा प्रतिपत्तेः । यत्पुनरत्रोक्तमर्चटेन–

"अविनाशोऽनुवृत्तिश्च व्यावृत्तिर्नाश उच्यते ।
द्रव्याविनाशे पर्याया नाशिनः किं तदात्मकाः ? ॥
नष्टाः पर्यायरूपेण नो चेद्द्रव्यस्वभावतः ।
किमन्यरूपता तेषां न चेन्नाशस्तथा कथम् ॥" [हेतु०टी० पृ० १०५] इति ।

तदयुक्तम् ; द्रव्याविनाशे पर्यायविनाशस्यानभ्युपगमात् , सर्पादेरेव नश्यतः पर्यायत्वात् अनश्यतश्च द्रव्यत्वात् । कथमेकस्यैव नाशश्च अनाशश्चेति चेत् ? प्रतीतिरेव प्रष्टव्या सैवमुपदर्शयति न वयं तदुपाध्यायतया तदुपदर्शितमनुमन्यमानाः । प्रतीतिरेव पृच्छ्यत इति चेत् ; कुतो वस्तुव्यवस्था ?

प्रतीतिरेव वस्तूनां व्यवस्थाया निबन्धनम् ।
तत्र चेन्नास्ति विश्वासो विनष्टा तद्व्यवस्थितिः ॥१०८५॥
निर्विकल्पप्रतीतेस्तु तद्व्यवस्थोपकल्पनम् ।
कुर्वन्तः कामयन्तेऽमी वन्ध्ययाऽपि सुतोद्भवम् ॥१०८६॥

ततः प्रतीतिबलावस्थापितत्वादुपपन्नमेकस्यैव नाशश्चानाशश्चेति । तथा जातिश्चाजातिश्चेति । तथा च–

"एकं जातमजातं च नष्टानष्टं प्रसज्यते ।
द्रव्यपर्याययोरेकस्वभावोपगमे सति ॥" [हेतु० टी० पृ० १०५]

इत्ययमनुपालम्भ एव, स्याद्वादिनामभिमतत्वात् । यद्येवं द्रव्यपर्याययोः कथं स्वालक्षण्यभेदो यतस्तन्नानात्वप्रकल्पनमिति चेत् ? विनाशाविनाशरूपतया भेदस्यापोद्धरणात् । तदपि कल्पनयैव नयनामधेयया न प्रत्यक्षादिप्रतीत्या, तत्र जात्यन्तरस्यैव भेदाभेदैकान्तविलक्षणस्य प्रतिभासनादिति निवेदितमसकृत् ।

ततो यदुक्तम्–"ततो लक्षणभेदेन तयोर्नैव विभिन्नता ।" [हेतु०टी० पृ० १०५] इति; तत्तथैव प्रत्यक्षादिप्रतीत्यपेक्षया । कल्पनापेक्षया तु न तथा, तत्र तल्लक्षणभेदस्य प्रतीतेः ।

---

१ सदागमः । २ "उत्पत्तिश्चानुवृत्तिश्च"–ता० टि० ।

कथं पुनर्द्रव्यपर्याययोः तदात्मकमेकं वस्तु द्वयस्योपपत्तेः, अभेदेऽप्यन्यतरस्यैव सम्भवात् । कथञ्चिदभेदे तु ताभ्यामभेदरूपस्याभेदे तद्द्वैत एव स्यात् । भेदे तु परस्परविविक्ताः त्रयः स्वभावा नैकस्वदात्मार्थः, तेषामप्यभेदरूपस्यापरस्य कल्पनायामनन्तस्वभावत्वमेकस्यापतितः (तम्)परापरतत्स्वभावपरिकल्पनस्यापरिनिष्ठानात् । न च तदभ्युपगमो वस्तुतत्त्वभाविज्ञाने तदनवभासनादिति चेत्, न, एकान्ततत्त्वद्वैताभेदयोः प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात् । न च कथञ्चिदभेदेऽपि ताभ्यामन्यस्तदभेदरूपम्, यतोऽयं प्रसङ्गः किन्तु स्वरूपमेव, द्रव्यस्य पर्यायेण पर्यायस्य द्रव्येणाभेदः, तथैव प्रत्यक्षादितः प्रतिपत्तेः । अवश्यं चैतदेवमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा विकल्पस्यापि स्वविषयापेक्षया निर्विकल्पेतरात्मनो ज्ञानस्याभावप्रसङ्गात् । शक्यं हि तत्रापि वक्तुम्–तदात्मनोर्भेदे ज्ञानद्वयम्, अभेदेऽन्यतरत्वम्, कथञ्चिदभेदे प्राग्वत्प्रसङ्ग इति । ततस्तत्राप्ययमेव परिहारः, स्वरूपमेव तस्यैताभ्यां तयोश्च तेनाभेदः तथैव निरवद्यस्वसंवेदनाध्यक्षतोऽधिगमादिति । ततः प्रमाणप्रथमज्ञानवैचेदमपि तेनाभिहितम्–

"एकान्तेन विभिन्ने च ते स्यातां वस्तुनी सर्वे ।
तयोः केन विभिन्नाभ्यामभिन्नस्य विभेदतः ॥
तेषामभेदसिद्ध्यर्थमभिन्नो यदि कल्प्यते ।
अन्यस्वभावतस्तस्यापि तदभेदप्रसिद्धये ॥
कल्पनीयः स्वभावोऽन्यः तथा स्यादनवस्थितिः ।
न चानन्तस्वभावत्वसमर्थसामर्थ्यभाविनि ॥
ज्ञानेऽवभासते तेन तथैवोपगमो भवेत् ।" [हेतु० टी० पृ० १०५] इति ।

तथेदमपि–

"ऐकान्तिकस्त्वभेदः स्याद्भिन्नाद् भिन्नयोर्यदि ।
भेद एव विशीर्येत तदेकात्म्यतिरेकतः ॥" [हेतु०टी० पृ० १०५] इति ।

द्रव्यपर्यायाभ्याम् अन्यस्याभेदरूपस्याभावे तस्मात्तयोर्विकल्पतदाकारयोरिवाभेदपरिग्रहणस्यैवानुपपत्तेः । यदप्युक्तम्–

"अभेदस्यापरित्यागे भेदः स्यात्कल्पनाकृतः ।
तस्याश्चितथभावे वा स्यादभेदे मृषार्थता ॥
अन्योन्याभावरूपाणामपराभावहेतुकः ।
एकभावो भवतस्तस्मान्नैकस्य स्याद् द्विरूपता ॥"[हेतु०टी०पृ० १०६] इति,

तदपि तथैवेरिव विकल्पज्ञानस्यापि द्वैरूप्यं प्रतिविदध्यात् अविशेषात् । एकरूपमेव

---

१ –त्यः स–आ०,ब०,प० । २ भेदे स–आ०,ब०,प० । ३ अत्र विपर्ययेणि द्वन्द्व । ४ विकल्पोऽपि । ५ विकल्पस्य । ६ निर्विकल्पेतराभ्याम् । ७ अर्थातेन । ८ "यः पुनः स्वभाव यस्य सर्वभेदानुगतः तै ई वस्तुनी स्यातामिति भावः"–हेतु० टी० टि० पृ० १०५ । ९ "तयोरेकेन न भिन्नाभ्याम् इति वा पाठः"–ता० टि० । १० इत्येन भास–आ०, ब०, प० । ११ तस्यापि तदभावे आ०, ब०, प० । भेदस्य ।

वस्तुतस्तज्ज्ञानम् अभिलाप्याकारस्य तत्र कल्पितत्वादिति चेत् ; न ; स्वतस्तत्कल्पनस्य प्रत्यक्षवदसम्भवात् , अन्यतश्चानवस्थापत्तेः ।

कुतो वा परस्पराभावरूपत्वं भेदाभेदयोः ? प्रत्यक्षादिप्रमाणादिति चेत् ; न ; तत्र सम्मूर्च्छिततदुभयस्वभावस्यैव सर्पादेर्भावस्य प्रतिभासनात् । नयादिति चेत् ; न ; तत्रापि सम्यगभिसन्धिरूपे प्रतिभासमानस्याप्येकस्य अपराभावत्वेनाप्रतिभासनात् , अपरत्र विधिवत् प्रतिषेधस्याप्यनभिसन्धेः । एकावधारणाभिसन्धिस्तु मिथ्यैव प्रमाणव्यापारप्रतिद्वन्द्वित्वादिति न तद्बलेनान्योन्याऽभावरूपत्वं द्रव्यपर्याययोः, यतो द्रव्यस्यैव पर्यायरूपतया पर्यायस्यैव च द्रव्यरूपतया एकस्यैव द्वैरूप्यं न भवेत् । यदप्युक्तम्–

"अन्योन्याभावरूपाश्च पर्यायाः स्युर्न भेदिनः ।
तद्विनाशे[ऽ]विनाशि स्याद् द्रव्यं वा कथमन्यथा ॥" [हेतु०टी०पृ० १०६]इति;

तत्रापि पर्यायाणामभेदित्वं नाशित्वञ्च द्रव्यस्य यदि कथञ्चित् ; अनुमतमेव, द्रव्यमेव नश्यति पर्यायनाशात् , पर्याया एव तिष्ठन्ति द्रव्याविनाशादिति प्रतीतिबलेनाप्यनुज्ञानात् । एकान्तेन तु तत्कल्पनमनुपपन्नं तद्बलेन प्रतिक्षेपात्; अन्यथा विकल्पज्ञानमपि तदाकारवदेकान्तेन व्यावृत्तमेव नानुवृत्तमिति प्रत्याकारं तद्भेदान्नोभयात्मकमेकं तद्भवेत् । तथा तदाकारयोरप्येकान्तेनाभेद एवेति निर्विकल्पकमेव तत् न कश्चिदपि विकल्प इति तन्निबन्धनस्य वाच्यवाचकव्यवहारस्याभावात् कथमनेकान्तदोषोद्घोषणम् । विकल्पकमेव वा तदिति कथं तत्स्ववेदनस्य प्रत्यक्षत्वं कल्पनापोढस्यैव तदुपपत्तेः । नाप्यव्यतिरिक्तस्यानुमानत्वमिति अन्यदेव तत्प्रमाणं प्रमाणद्वयनियमव्याघाताय कल्प्येत । न चाऽस्वसंविदितमेव तत् "सर्वचित्तचैत्तानाम्" [न्यायबि० पृ० १९] इत्यादेर्विरोधात् । ततः कथञ्चिदेव तज्ज्ञानस्य व्यावृत्तत्वमभिन्नत्वञ्च तदाकारयोरिति प्रतीतिवशात् प्रतिपत्तव्यम् । तथा द्रव्यस्य नाशित्वमभिन्नत्वञ्च पर्यायाणामिति न कश्चिद्व्याघातः ।

ततो यथा नेदं विकल्पे दूषणम्–'तद्धर्मयोराकारयोः तस्य तत्र वा तयोरनुप्रवेशे ऐकान्तिकौ भेदाभेदौ, अननुप्रवेशे धर्मधर्मिणोः भेद एव नापरः' । तथाहि–येनात्मना ज्ञानं तदाकाराविति च यदि तेन भेदः, तदा भेद एव नैकस्य द्वैरूप्यम् । न च ज्ञानतदाकाराभ्यामपरस्वभावो यन्निमित्तस्तयोरभेदः । सतोऽपि [10]तस्माद्यदि ज्ञानतदाकारयोरभेदः तदा [11]स एव न ताविति तयोः स्वभावहानिः [12]तस्मात्तयोर्भेदोऽप्यस्तीति चेत् ; तत्रापि येनात्मना ज्ञानं तदाकारौ तदन्यश्चेति यदि तेन भेदः; तदा भेद एव तेषामप्यभेदसिद्धये [13]परस्वभावकल्पनायां पूर्वप्रसङ्गाऽनिवृत्तिः, धर्मित्वञ्च तस्यैव स्यात्तदायत्तत्वात् ज्ञानतदाकारयोः । न चापरिनिष्ठितापरापरस्वभावं तज्ज्ञानं प्रतीयते इति । कस्मात् ? एकान्ततोऽनुप्रवेशस्य, ज्ञानतदाकारव्यतिरिक्तस्य तद्भेदरूपस्य चानभ्युपगमात् । न चैवं भेद एव तयोः ; स्वत एव कथञ्चित्परस्पराभिन्नतया निर्बाधप्रतीत्युपारूढत्वात् । तथा

---

१ विकल्पज्ञानम् । २ –माणभेदादिति आ०,ब०,प० । ३ –कमेतन्न कश्चिद्विक–आ०,ब०,प० । ४ प्रत्यक्षत्वोपपत्ते. । ५ त[illegible] आ०,ब०,प० । ६ यदा आ०,ब०,प० । ७ सप्तमीद्विवचनम् । ८ विकल्पस्य । ९ विकल्पे । १० अपरस्वभाव[illegible] । ११ अभेद एव । १२ अपरस्वभावात् । १३ –द्पर–आ०,ब०,प० ।

द्रव्यपर्यायात्मकेऽपि वस्तुनि । अत इदमपि प्रतीतिमलानमिज्ञतयैव तेनोक्तम्–

"ऐकान्तिकावनन्यत्वाद्भेदाभेदौ तयोर्ध्रुवम् ।
अन्योन्य वा तयोर्भेदो नियतो धर्मधर्मिणोः ॥
तयोरपि भवेद् भेदो यदि येनात्मना तयोः ।
पर्यायो द्रव्यमित्येतद्यदि भेदस्तदात्मना ॥
भेद एव तथा च स्यान्न चैकस्य द्विरूपता ।
द्रव्यपर्यायरूपाभ्यां न चान्योऽस्तीह कश्चन ॥
स्वभावो यन्निमित्ता स्याद्ययोरेकत्वकल्पना ।
ततस्तयोरभेदे हि स्वात्महानिः प्रसज्यते ॥
तस्य भेदोऽपि ताभ्याञ्चेद् यदि येनात्मना च ते ।
धर्मी धर्मस्तदन्यश्च यदि भेदस्तदात्मना ॥
भेद एवाथ तत्रापि तेभ्योऽन्यः परिकल्प्यते ।
तेषामभेदसिद्ध्यर्थं प्रसङ्गः पूर्ववद्भवेत् ॥
न चैवं गम्यते तस्माद्वादोऽयं जाल्मकल्पितः ।" [हेतु॰ टी॰ पृ॰ १०७] इति ।

नन्विदं प्रागेव प्रतिपादितम् 'एकान्तेन विभिन्ने च' इत्यादिना । न चातिव्यवधान तदनुस्मरणाय पुनरपि प्रतिपाद्येत तस्माद्विस्मरणशील इवाय प्रतिभातीति चेत्, किम् इदमस्योपादानेन ? साक्षादेव क्षणिकपक्षस्य तच्छीलत्वोपपत्तेः । ततो निर्दोषत्वादनेकान्तस्य न तद्वादी जाल्मः, तत्र अमूर्तं दोष घोषयतोऽर्थस्यैव (र्थटस्यैव) जाल्मत्वात् ।

विकल्पस्योभयरूपत्वं निर्विकल्प सविकल्पख्यात्याप्तिभ्यामेव न वस्तुतः तत्कथ तद्वदन्यत्रापि वास्तवत्वमनेकान्तस्येति चेत्, तस्य स्वरूपमपि अस्वरूपख्यातिरेवेति अभाव एव विकल्पस्य । तथा च अनुमानस्यापि तद्रूपस्याभावात् निष्प्रयोजनत्व सर्वहेतूनामिति किं तत्पूर्वपादनाय (तत्प्रतिपादनाय) हेतुबिन्दुः तद्विवरणं चार्च (चार्चट) स्य ? ततो वस्तुत एवोभयरूपत्वमनुमानविकल्पस्येति कथं तद्वदन्यत्रापि निर्दोषत्वमनेकान्तस्य न भवेत् ? एतदेव पूर्वमुक्तम्–

"तादात्म्यनियमो हेतुफलसन्तानवद्भवेत्" [न्यायवि॰ श्लो॰ ११९] इति ।

सः अनेकान्तः आत्मा यस्येति तस्य भावः तादात्म्यम्, तस्य नियमः निर्दोषत्वेन अवश्यम्भावः । सै च, हेतुफलम् अनुमानविकल्पः, स एव स्वाकारयोः सन्तन्यमानत्वात् सन्तानः, तस्येव तद्वदिति । धर्मात्रवाप्य एव अनेकान्तवादः इत्यर्च (त्यर्चट) प्रत्येवमुच्यताम्–

अर्चटघटक, तवस्माद्धुरम धुस्तर्कपक्षपक्षपक्षनात् ।
स्याद्वादाचलविदलनपुक्षुर्न तवास्ति नयवज्रः ॥१०८७॥ इति ।

---

१ "आत्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्"–ता॰ टि॰ । २ विकल्पस्वरूपस्य । ३ नियमः । ४ सामर्थ–आ॰, ब॰, प॰ । ५ –द्वतास्य आ॰, ब॰, प॰ ।

तदेवं मूलकारिकानिर्दिष्टयोः द्रव्य-पर्यायपदयोः व्याख्यानं कृत्वा सामान्यविशेषपदयोस्तद्दर्शयति–

समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यो[1] व्यपेक्षया ॥१२१॥ इति ।

समानः सदृशः स चासौ **भावश्च** आत्मलाभः स एव **सामान्यम्**, 'नैकं सकलव्यक्तिगतम्' इति **समान**शब्देन, 'नापि तद्वतोऽर्थान्तरम्' इति च **भावपदेन** प्रदर्शयति ।

न हि सामान्यं तदाधारसमस्तव्यक्तिगतमेकं सम्भवति; व्यक्त्यन्तरालेऽपि तदुपलम्भप्रसङ्गात् । व्यक्तावेव तदुपलम्भो व्यक्तेस्तन्निमित्तत्वात् नान्यत्रेति चेत्; न; उपलभ्येतरस्वभावतया तस्य भेदापत्तेः । ततो व्यापि सामान्यं तथैवोपलभ्यत इति कथन्नान्तरालेऽपि तदुपलब्धिः? व्यक्तिष्वेव भावादिति चेत्; तदन्तरालेष्वसतः कथमेकत्वम्? अनुगतप्रत्ययात्; कः प्रत्ययस्यानुगमः? एकत्वमिति चेत्; न; प्रतिव्यक्ति 'खण्डो गौः मुण्डो गौः' इति तद्भेदस्यैवोपलम्भात् । प्रत्ययत्वं सामान्यमिति चेत्; तस्याप्येकत्वं तद्व्यक्तिषु कुतः? तदन्यस्मादनुगतप्रत्ययादिति चेत्; न; तत्रापि 'कः प्रत्ययस्यानुगमः' इत्यादेरावृत्तेरनवस्थापत्तेश्च । तन्नैकं सत्त्वमन्यद्वा सामान्यम् ।

नापि भावादर्थान्तरम्; भावस्यासत्त्वापत्तेः । सत्त्वेन सम्बन्धान्नेति चेत्; न; सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वात्, असतश्च तदधिकरणस्यानुपपत्तेः काकदन्तवत् । प्रागेवाऽसत्त्वं तत्सम्बन्धात् न तत्समये इति चेत्; न; किं पुनस्तत्सम्बन्धः कादाचित्को यत एवम्? तथा चेत्; कुतस्त[2]स्यापि सत्त्वम्? अन्यस्मात् तत्सम्बन्धादिति चेत्; सोऽपि कथमसतः व्योमकुसुमवत्? तस्यापि प्रागेव तत्सम्बन्धादसत्त्वं न तत्समय इति चेत्; न; तत्रापि 'किं पुनः' इत्यादेर्दोषापदपरिनिष्ठानाच्च । अकादाचित्कस्तु नित्य एवेति न तदपेक्षं भावस्य प्रागसत्त्वम् । भवतु स्वरूपसत्त्वापेक्षमेवेति चेत्; सति तस्मिन् किमन्यसत्त्वसम्बन्धेन? कारणेन त[3]त्सम्बद्ध एवोत्पाद्यत इति चेत्; भवेदेवं यदि सत्त्वद्वयमुपलभ्येत । न चैवम्; 'घटोऽस्ति, पटोऽस्ति' इत्यादावेकस्यैव आत्मभूतस्य तस्योपलम्भात् ।

घटोऽस्तीति प्रत्ययः विशेषणापेक्षः, विशिष्टप्रत्ययत्वात, दण्डीति प्रत्ययवत्, यच्चापेक्ष्यं विशेषणं तद् अर्थान्तरं सत्त्वम्, तत्कथं तस्याऽप्रतिपत्तिरिति चेत्? न; स्वरूपसत्त्वस्यैव कल्पनापृथक्कृतस्य विशेषणत्वोपपत्तेः । दण्डीत्यत्र वस्तु भिन्नमेव विशेषणं दृष्टमिति चेत्; किं तत्तादृशम्? दण्ड इति चेत्; तर्हि 'देवदत्ते दण्डः' इत्येव प्रत्ययः स्यात् 'उत्पले नीलम्' इतिवत्, न 'दण्डी' इति । दण्डसम्बन्ध एव; तस्यैव मत्वर्थीयेनाभिधानादिति चेत्; न; तस्यापि स्वरूपप्रत्यासत्तेरन्यस्याऽप्रतिपत्तेः, अकारणाच्च ततो दण्डीत्यत्र तत्प्रत्यासत्तेरिव सद्द्रव्यमित्यादौ

१ –पोऽन्यव्यपे–आ०, ब०, प० । २ सम्बन्धस्यापि । ३ तत्सम्बन्ध–आ०, ब०, प० । ४ –त्यापत्ते– आ०, ब०, प० ।

स्वरूपसत्त्वस्यैव अभिसन्धिपृथक्त्वस्य विशेषणत्वोपपत्तेः नार्थोऽर्थान्तरस्य सत्त्वस्य प्रतिपत्तिः ।

अर्थान्तरमेव द्रव्यादेः सत्त्वम्, तस्मिन् भिद्यमानेऽप्यभिद्यमानत्वात्, प्रदीपादेः पर्वतवत् । न चाभिद्यमानत्वमसिद्धम्, 'सद् द्रव्यम्, सन् गुणः, सत् कर्म' इति सर्वत्र द्रव्यादौ सच्छिब्दस्य सत्प्रत्ययस्याविशेषादिति चेत्, कस्तस्याऽविशेषः ? न तावदेकत्वम्, प्रतिद्रव्यादि तद्भेदस्यैव प्रतिपत्तेः । नापि सादृश्यम्, तद्दशायां विपयस्यापि सदृशस्यैव प्रसिद्धेः, तस्य च प्रतिद्रव्यादि भिद्यमानत्वात् ।

यत्पुनः तद्भेदे साधनान्तरम्–"विशेषलिङ्गाभावाच्च" [वैशे० सू० १।२।१७] इति, तदपि न, द्रव्यादिभेदज्ञानस्यैव तल्लिङ्गत्वात् । अभिन्नं हि द्रव्यादिभ्यः सत्त्वं प्रतीयते 'सद् द्रव्यादिकम्' इति द्रव्यादिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः । समवायात्तथा प्रतीतिः नाऽभेदादिति चेत्, न, अभेदादेव 'एको भावः' इत्यादौ तत्प्रतीतेर्दर्शनात् । न हि भावाद् अर्थान्तरमेकमेकत्वं तत्समवायि सम्भवति, संख्याया गुणत्वेन द्रव्यसमवायित्वात् भावस्य च परसामान्यस्य अद्रव्यत्वात् । तस्मादभेद एव तस्य संख्यादिति तन्निबन्धनैव तत्सामानाधिकरण्यप्रतीतिः, तद्वत् सद् द्रव्यादिकमित्यपि, अन्यथा हेतुफलभावस्याप्यव्यवस्थितिप्रसङ्गात् । ततो द्रव्यादिवत् तदभेदेन प्रतीयमानं भिन्नमेव सत्त्वम् । यद्येवं कथं तदात्मना सर्वैकत्वप्रतिज्ञानं जैनस्येति चेत् ? सङ्ग्रहनयेन तन्मात्रस्यैवापोद्धारादिति ब्रूमः । तत्र एकमर्थान्तरमेव द्रव्यादेः सत्त्वं सम्भवति । तद्वत् द्रव्यत्वादिकमपि, तस्यापि 'पृथिव्यादि द्रव्यम्, रूपादिर्गुणः, उत्क्षेपणादि कर्म' इति पृथिव्यादिसामानाधिकरण्यतया प्रतीतेः, तदनर्थान्तरभावस्य तद्भेदस्य च उपपत्तिबलायातत्वात् । ततः सूक्तम्– '**समानभावः सामान्यम्**' इति ।

अन्यो विसमानभावः विशेषः, विसदृशपरिणामादेव भावेषु व्यावृत्तप्रत्ययस्योपपत्तेः । नित्यद्रव्येषु अन्त्यविशेषेभ्यो भिन्नेभ्य एव तदुपपत्तिरिति चेत्, कथमव्यावृत्तेषु तेभ्यस्तदुपपत्तिः ? तेषां तत्र समवायादिति चेत्, स किम् अव्यावृत्तानि व्यावर्त्तयति ? तथा चेत्, न; व्यावृत्तेस्तदुपपत्तेः विसदृशपरिणामसिद्धेः । अतद्रूपत्वे कथं तया तानि व्यावृत्तानि ? व्यावृत्त्यन्तरकरणादिति चेत्, न, अनवस्थापत्तेः । न व्यावर्त्तयति व्यावृत्तिप्रत्ययं तूपजनयतीति चेत्, न, अव्यावृत्तेषु तत्प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् अलोहिते लोहितप्रत्ययवत् । न चायं भ्रान्तः, योगिनां भावात् । न हि तेषां भ्रान्तिः, निरुपप्लवज्ञानवतामेव तत्त्वोपपत्तेः । ततः तुल्याकृतिगुणक्रियेष्वपि परमाणुषु परस्परासम्भवी कश्चिद् रूपादिव्यतिरेकी परिणतिविशेषो वक्तव्यः यतो योगिनामयं प्रत्ययः इति सिद्धो विसदृश-

---

1 सादृश्यस्य । 2 द्रव्याभेद–आ०, ब०, प० । 3 सामानाधिकरण्यप्रतीतेः । 4 भावसमवायि । 5 एकत्वस्य । 6 भावात् सामान्यात् । 7 –व्याप्यव–ता० । 8 द्रव्यादेव तद्–आ०, ब०, प० । 9 "अन्तेषु भवा अन्त्याः स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः । विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः ।"–प्रश० भा० पृ० १६८ । 10 विशेषेभ्यः । 11 चेत् कि–आ०, ब०, प० । 12 –वृत्तो व्या–आ०, ब०, प० । 13 नित्यद्रव्यरूपत्वे । 14 व्यावृत्तिप्रत्ययमपि । 15 योगिज्ञानोपपत्तेः ।

परिणामः। ततो यदुक्तम्–"योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु चान्यनिमित्तासम्भव एभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः तेऽन्त्या विशेषाः।" [प्रश० भा० पृ० १६८] इति ; तदयुक्तम ; अन्यनिमित्तसम्भवस्य निर्बाधात्, व्यावृत्तिप्रत्ययादेव अवगमात्। अन्त्यविशेषनिबन्धनत्वे तन्निर्बाधत्वानुपपत्तेः। ततो निष्प्रयोजनमेव तत्कल्पनं वैशेषिकस्य। ततः स्थितम्–'**समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यः**' इति।

सामान्यविशेषयोः अपेक्षाकृतत्वान्न वस्तुस्वभावत्वम्। न हि वस्तुस्वभावाः [1]पुरुषेच्छया भवन्ति, तदनियमेन तेषामप्यनियमप्रसङ्गादिति चेत्; अत्राह–'**व्यपेक्षया**' इति। अपेक्षा पुरुषेच्छा, तदभावो **व्यपेक्षा,** तया सामान्यं विशेषश्च, ततो वस्तुस्वभावौ च। न हि सामान्यविशेषस्वभावत्वे भावः पुरुषेच्छामपेक्षते, स्वहेतोरेव तथोत्पत्तेः। तर्हि कथं खण्डापेक्षया 'समानः' इति, कर्कापेक्षया च 'विलक्षणः' इति मुण्डे प्रत्यय इति चेत्? एवमपि प्रत्ययस्यैव [2]तत्कृतत्वं न सामान्यविशेषयोः। प्रत्ययोऽपि नीलादिप्रत्ययवत् तन्मात्रादेव कस्मादभवन् अपेक्षामनुसरतीति चेत्? सत्यम्; नानुसरत्येव प्रत्यक्षप्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानस्य तु सैव सामग्रीति तदेव[3] तामनुसरति। न हि प्रतियोगिप्रतीक्षामन्तरेण एकत्ववत् सादृश्यवैसदृश्ययोरपि प्रत्यभिज्ञानं सम्भवति। तदेवं द्रव्यपर्याययोरिव सामान्यविशेषयोरपि लक्षणोपपत्तेः उपपन्नं तदात्मकत्वमर्थानाम्।

अनुपपन्नमेव 'एकं च द्व्यात्मकञ्च' इति विरोधादिति चेत; कुतो विरोधः? एवमेवेति चेत्; न किञ्चित्तत्त्वं भवेत स्वेच्छाविरोधस्य सर्वत्र सम्भवात्। प्रमाणत इति चेत्; क्व तेनासौ प्रतिपन्नः? घटे घटयोश्च, तत्र एकत्वद्वित्वयोः द्वित्वैकत्वविरुद्धयोरेव प्रतिपत्तेरिति चेत्; कीदृशो घटो यत्र तत्प्रतिपत्तिः? सामान्यमात्रं विशेषमात्रं वेति चेत; न किञ्चित्तत्त्वं तथाप्रतीत्यभावात्। सामान्यविशेषात्मा चेत्; न तर्हि विरुद्धमेकस्य द्वैरूप्यम् विरोधव्यापारितेनापि प्रमाणेन तदविरोधस्योपदर्शनात्। सामान्यविशेषाभ्यामिव पटकुटीभ्यामपि घटस्य द्व्यात्मकत्वं[4] किन्न भवतीति चेत्? भवत्येव यदि प्रमाणमुपदर्शयति। न चैवम्, अतो न भवति। ततो यदुक्तं मण्डनेन–"**नेदृशानां विप्रतिपिद्धार्थानां ज्ञानानां प्रामाण्यमेव युज्यते संशयज्ञानवत्**" [ब्रह्मसि० पृ० ६३] इति; तदसम्बद्धम्; तदर्थविप्रतिपेधस्यैव कुतश्चिदप्रसिद्धेः। तदप्रामाण्यात्तत्सिद्धौ परस्पराश्रयः–'तत्प्रसिद्ध्या तदप्रामाण्यम्, ततश्च तत्प्रसिद्धिः' इति।

यच्चापरम्–"**संशयविषयोऽपि द्व्यात्मा स्यात् [5]द्व्याभासत्वात्तस्य**" [ब्रह्मसि०

---

१ "पौरुषेयीमपेक्षाञ्च न हि वस्त्वनुवर्तते"–ब्रह्मसि० २।६। २ अपेक्षाकृतत्वम्। ३ प्रत्यभिज्ञानम्। "एकस्य द्व्यात्मकता विरोधवती, एकञ्च द्व्यात्मकञ्चेति विप्रतिपिद्धम्।"–ब्रह्मसि० पृ० ६३। "परस्परस्वभावत्वे स्यात्सामान्यविशेषयो। साङ्कर्यं तत्त्वतो नेदं द्वैरूप्यमुपपद्यते॥"–तत्त्वसं० श्लो० १७२२। हेतु० टी०पृ० १०५। प्र० वार्तिकाल० १।२५। ब्र० सू० शा० भा० २।२।३३। ४ –त्वं न आ०, ब०, प०। ५ "द्वयोराभासः प्रकाशो यस्यासौ द्व्याभासः तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्"–ता० टि०।

पृ० ६३] इति, तदपि भवत्येव, यदि संशयः प्रमाणम्, प्रमाणोपदर्शितस्यैव वस्तुरूपत्वोपपत्तेः। अन्यथा सर्वस्य सर्वार्थसिद्धेः नाभेदवादी[1] [2]समतिशयीत। यदि च विरोधात् न स्यात्मकं वस्तु कथं ब्रह्मणः प्रतिपन्नेतरस्वभावत्वम्? प्रतिपन्नमेव ब्रह्म तत्प्रमाणात् नाप्रतिपन्नमिति चेत्, न, भेदविवेकेनाऽप्रतिपत्तेः। तेनापि प्रतिपत्तौ न तत्र भेदविभ्रमः स्यात्, न हि शङ्खे पीतविवेकेन प्रतिपन्ने पीतविभ्रमः। विवेकस्याऽनिश्चयाद्विभ्रम इति चेत्, न, प्रतिपत्तेरेव[3] निश्चयत्वात्, अन्यथा आनन्दादेरप्यनिश्चयेन विभ्रमविपयत्वे प्रमाणवेद्यमेव ब्रह्म न भवेत्–'विभ्रमाश्चानन्त्यञ्च तद्रूपञ्च' इति विरोधात्। प्रतिपत्तेरपि आनन्दाद्यावेव निश्चयो न तद्विवेक इति चेत्, न, प्रतिपत्तेरपि निश्चयेतरात्मत्वानुपपत्तेः विरोधात्। अन्यथा ब्रह्मण एव प्रतिपन्नेतरस्वभावत्वमविरुद्धं साधयति ततो नेदमत्र दूषणम्–

"एकत्रमविरोधेन भेदसामान्ययोर्यदि।

न द्व्यात्मता [4]भवेत्तस्मादेकनिर्भक्तभागवत् ॥" [प्रमाणसि० २।१८] इति।

अन्यथा ब्रह्मण्यप्येव भवेत्–

एकत्वमविरोधेन प्रतीतेतरयोर्यदि।
न द्व्यात्मता भवेत्तस्मादेकनिर्भक्तभागवत् ॥१०८८॥ इति।

तदेवं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकस्य भावस्य प्रपञ्चोक्तमुपसंहृत्य दर्शयन्नाह–

स्वलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम्।
समर्थं स्वगुणैरेकं सहक्रमविवर्तिभिः ॥१२२॥ इति।

लक्ष्यते द्रव्यन्भावेन गृह्यते येन तल्लक्षणम्, स्वं स्वरूपं लक्षणं यस्य तत् स्वलक्षणम्, चेतनमन्यद्वा वस्तु, न हि तस्यान्येन लक्षणम्। अन्येनैव क्रियावत्त्वादिना[5] द्रव्यस्य लक्षणमिति चेत्, गुणादेरपि तेन कस्मान्न लक्षणम्? द्रव्य एव तस्य भावादिति चेत्, अलक्षिते तस्मिन् 'तत्रैव' इति कुतः? लक्षितमेव तत् [6]अन्येनेति चेत्, न, क्रियावत्त्वादेः लक्षितलक्षणत्वेन वैयर्थ्यापत्तेः। अन्यस्यापि तस्माद्द्वयन्तरत्वं चेत्; तेनापि द्रव्यस्यैव[7] लक्षणं न गुणादेरपि। द्रव्य एव तस्यापि भावादिति चेत्, न, 'अलक्षिते तस्मिन्' इत्यादेरनुवृत्त्या चक्रकादनवस्थितेश्च। अनयोस्तरत्वञ्चेत्; न, क्रियावत्त्वादेरेव तत्त्वापत्तेः। तत्र अन्येन तल्लक्षितम्। क्रियावत्त्वादिनैवेति चेत्, न, परस्पराश्रयात्– 'लक्षिते तस्मिंस्तत्रैव क्रियावत्त्वादि', तेन तल्लक्षणम्' इति।

---

१ –भर्तिदनमति–ता०। –भारतेनमति–आ०, ब०, प०। –वादी लमति–ता० टि०। २ भेदवादिनम्। ३प्रतिपत्तेरपि आ०, ब०, प०। ४ "भवेदेकत्रानिर्भक्तभागवत्"–प्रमाणसि०। ५ "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यम् (वैशे० सू० १।१।१५) इति वचनात्"–ता० टि०। ६ "लक्षणान्तरेण"–ता० टि०। ७ –न तस्य –आ०, ब०, प०।

अपि च, तेन[1] तल्लक्ष्यमाणं रूपं यदि द्रव्याद्भिन्नमेव कुतस्तल्लक्षितं स्यात्? तेनापि तस्य लक्षणादिति चेत्; न; तत्राप्येवं प्रसङ्गाद् अपरिनिष्ठापत्तेः। अभिन्नश्चेत्; तदपि स्वतो गुणादेर्व्यावृत्तम्, अव्यावृत्तं वा?

व्यावृत्तं तच्च चेद् द्रव्यं स्वत एव गुणादिकात्।
क्रियावत्त्वादिनान्येन ततो व्यावर्त्तते कथम्? ॥१०८९॥
न हि स्वरूपमन्येन शक्यते कर्त्तुमन्यथा।
अन्यथाऽऽत्मान्यनित्यं स्यात् परिणामप्रकल्पनात्॥१०९०॥
व्यावृत्तबुद्धि[2]हेतुत्वात् स[3] तद्व्यावर्त्तको यदि।
अव्यावृत्ते कथं तस्मिन् तद्बुद्धिर्न मृषा भवेत्॥१०९१॥
मृषाबुद्धिकराद् द्रव्यं व्यावृत्तश्चेद् गुणादिकात्।
चन्द्रश्चन्द्रान्तरादेव व्यावृत्तस्तद्वतो भवेत्॥१०९२॥
व्यावृत्तमेव तत्तस्मात् स्वभावेनोपगम्यताम्।

तथा सति तदेव स्यात्, न च तयोरेकान्तस्य लक्षणम्। यमात्मानमाश्रित्य 'बाढमिदमस्माद् व्यावृत्तम्' इति प्रतिपत्तिः स एव असाधारणत्वात् तस्य लक्षणमुपपन्नं नापरं विपर्ययात्। ततः सूक्तम्-'**स्वलक्षणम्**' इति।

कथं पुनरभेदे लक्ष्यलक्षणभावः? तत्र हि लक्ष्यमेव लक्षणमेव वा स्यात्। न च तयोरेकाभावे अन्यतरस्य सम्भवः परस्परापेक्षित्वादिति चेत्; न; प्रवृत्ति व्यावृत्तिरूपतया तदु[4]पपत्तेः। न हि वस्तुनः प्रवृत्तिरेव रूपम्; पररूपादिनापि तत्प्रसङ्गात्। नापि व्यावृत्तिरेव; स्वरूपादिनापि तदापत्तेः। अपि तु प्रवृत्ति-व्यावृत्ती द्वे अपि, तत्र प्रवृत्तिरूपेण लक्ष्यम्, लक्षणञ्च तदेव व्यावृत्तिरूपेण। वस्तु हि प्रवर्त्तमानम् अन्यासाधारणेन आत्मनैव शक्यं लक्षयितुं नान्यथा। तथा च सत्प्रत्ययहेतुत्वेन सत्त्व[5]स्य द्रव्यादिप्रत्ययहेतुत्वेन च [6]द्रव्यत्वादेरसाधारणात्मनैव[7] परैरपि[8] लक्षणमभ्युपेतम् ततो नाभेदे लक्ष्यलक्षणभावानुपपत्तिः।

भवतु स्वलक्षणम्, तत्तु विजातीयादिव सजातीयादपि विलक्षणमेवेत्यत्राह-**समानं** सदृशं केनचित् **स्वलक्षणं** नैकान्तेन विलक्षणमेव तथा प्रतीतेः। कल्पनयैव तथेति चेत्; न; प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। न हि तत्प्रतीतं कल्पनया; वैसदृश्येऽपि[9] प्रसङ्गात्। खण्डप्रत्यक्षं मुण्डे नास्ति तत्कथं तत्सादृश्यं प्रत्यक्षप्रतीतमिति[10] चेत्? वैसदृश्यमपि कथं [11]तत्प्रत्यक्षस्य कर्कादावप्यभावात्। कर्कादिविशिष्टतयैव तस्याऽप्रतिपत्तिः स्वरूपतस्तु प्रतिपत्तिरेवेति चेत्; न; सादृश्यस्या-

१ तेन लक्ष्य -आ०, ब०, प०। २ -वृत्तिबुद्धि -आ०, ब०, प०। ३ क्रियावत्त्वादिः। ४ लक्ष्यलक्षणभावोपपत्तेः। ५ "परसामान्यस्य"-ता० टि०। ६ "अपरसामान्यस्य"-ता० टि०। ७ -णात्मन्येव आ०, ब०, प०। ८ नैयायिकादिभिरपि। "लक्षणमसाधारणो धर्मः"-प्रश० व्यो० पृ० १८९। ९ वैसादृश्येऽपि आ०, ब०, प०। १० प्रतीयते इति ता०। ११ खण्डप्रत्यक्षस्य।

त्यैवं प्रतिपत्तेः । भवतु वैसदृश्यमपि कल्पनयैवेति चेत्, नेदानीं स्वलक्षणं नाम किञ्चित्, सदृशेतराकारव्यतिरेकेण तस्याऽप्रतिभासनात् । तस्माद्वस्तुसदेव सादृश्यम् । अपि च,

> पूर्वानुभूतसादृश्यं जलादेर्दृश्यते न चेत् ।
> स्नानपानादिसामर्थ्यं कुतस्तस्यावगम्यताम् ? ॥१०९३॥
> कल्पनासिद्धसादृश्याद् वस्तुसामर्थ्यवित् कथम् ?
> अनुमानादनभ्यासे स्नानार्थी यत्प्रवर्तताम् ॥१०९४॥
> तत्समर्थतया येन वस्तु तोयादि वाञ्छता ।
> समं तोयादिनान्येन तद्ग्राह्यं मनीषिणा ॥१०९५॥

तदाह– 'समर्थम्' इति । *अर्थक्रियायां शक्त यतः ततः* 'समानम्' इति ।

[1]यदि गोत्वं नाम सामान्यमन्यत् सादृश्यान्नास्ति कुतो बाहुलेयादौ गोबुद्धिः ? शावलेयसादृश्यादेवेति चेत्, ननु ततः 'शावलेय इव' इति, भेदविभ्रमे 'शावलेयोऽयम्' इति वा प्रत्ययः स्यात् न 'गौः' इति, शावलेयस्य अगोत्वात् । गोत्वे [2]तस्यैव कथमन्येषु अत्यन्तसदृशेष्वपि तद्बुद्धिः गोरूपस्याभावात् । शावलेयस्वभाव हि गोरूपम्, तत्कथं तदन्येषु ? व्यक्तिसङ्करापत्तेः । तत्र तत्सादृश्यादन्यत्र तद्बुद्धि । अन्यसादृश्यादिति चेत्, न, अन्यस्यापि प्रसिद्धस्य गोरभावात् । तस्मात् तद्बुद्धिरन्यत एव अभिवैकरूप्यात् [3]सामान्यादिति चेत्, न, शावलेयसादृश्यादेव तदुपपत्तेः । भवतु ततः शावलेयबुद्धिः, गोबुद्धिस्तु कथमिति चेत्, न, गवानभिज्ञस्य शावलेय एव गौरिति सङ्केतात् । [4]कर्कादावपि [5]तत्सङ्केताद्बुद्धिरिति चेत्, भवतोऽपि किम ? सामान्यस्य तद्विषयस्याभावादिति चेत्, परस्यापि सादृश्यस्याभावात् । सादृश्यात्तद्बुद्धिः गवयेऽपि कस्मान्नेति चेत्, सामान्यादपि कस्मान्न ? सत्त्वादेस्तत्रापि भावात् । तद्विशेषादेव समानं न सन्मात्रादिति चेत्, समानमन्यत्र, सादृश्यमात्रादपि [6]तदनभ्युपगमात् । [7]सादृश्याद(द्)गोत्वे शावलेयत्वं कथमिति चेत् ? सामान्यादपि तत्त्वे कथम् ? अन्यतः सामान्यादिति चेत्, सादृश्यादप्यन्यत एवास्तु, सामान्यवत् सादृश्यस्यापि अनेकधा वस्तुषु भावात् । ततो न सूक्तमेतत् कुमारिलस्य–

> "सारूप्यमथ सादृश्य कस्य केनेति कथ्यताम् ।
> न तावच्छावलेयेन बाहुलेयादय' समाः ॥
> विशेषरूपतो येऽपि तत्तत्स्नानादिभिः समाः ।
> शावलेय इवेति स्यात् तत्र बुद्धिर्न [9]गौरिति ॥

१ वस्तुतो यदि आ०, ब०, प० । २ "भाइ भाइ"–ता० टि० । ३ शावलेयस्यैव । ४ "व्यक्तिभिन्ना-तम्व्यापित्वं सामान्यं मीमांसकैरिष्यते तत्र दूषणं ग्रन्थान्तरे उच्यम्–शास्त्रस्यं येन्यतं पातैर्मेयित्वमन्यजातय । अतोऽव्यापय कैरेवद्यानन्वयी न किम्"–ता० टि० । ५ भेदाभावी । ६ "शावलेय एव गौरिति सङ्केतात्"–ता० टि० । ७ अभिमतबुद्धभमभ्युपगमात् । ८ अनेकस्मात्सम्भ्यमिगमसादृश्यात् । ९ "गौरिव"–मी० श्लो० ।

शाबलेयोऽयमिति वा भ्रान्त्या गौरिति नास्ति तु ।
शाबलेयस्वरूपश्च न गौरित्यवतिष्ठते ॥
तदन्येषु हि गोबुद्धिर्न स्यात् सुसदृशेष्वपि ।
दृश्यते सा न[1] चान्यत्वे गोरूपं तत्र विद्यते ॥
न चान्यो गौः प्रसिद्धोऽस्ति यत्सादृश्येन गौर्भवेत् ।"
[मी० श्लो० आकृति० श्लो० ६७-७१] इति ।

प्रतिपादितन्यायेन शाबलेयस्यैव गोरूपतया व्यवस्थितौ तत्र गृहीतसङ्केतस्य बाहुलेयादावपि तत्सदृशे गोबुद्धेः तद्व्यवहारस्य च सम्भवात् । सादृश्यमेव तत्र नास्तीति चेत्; कथम् 'अयमनेन सदृशः' इति प्रत्ययः ? तदवयवसादृश्यादिति चेत्; न; अवयवानां तद्वतो भेदे यौगमतानुप्रवेशात् । अभेदे कथं [2]तत्सादृश्यम् अवयविसादृश्यमेव न भवेत् ? यतो 'न तावत्' इत्यादि सुभाषितम् । यदि सादृश्यात् बाहुलेयादौ गोबुद्धिः कदाचित् कस्यचित् क्वचिच्च स्यात् मैत्रे चैत्रबुद्धिवत्, भ्रान्तिश्च[3] तद्वदेव । न चैवम्, सर्वदा सर्वेषाञ्च भावात्, निर्बाधत्वेनाभ्रान्तत्वाच्च । निर्बाधभ्रान्तिकल्पने सर्वज्ञानमिथ्यात्वापत्तेः । न चैकोऽपि कश्चिद्गौः तद्विशेषस्य क्वचिदपरिज्ञानात् । बभूव पूर्वमिति चेत्; न; तस्य अस्मदादिभिरप्रतिपत्तेः । तन्न तत्सादृश्यात् क्वचिद् गोबुद्धिः । भवन्ती वा बाहुलेयवत् महिष्यादावपि भवेत् तत्सादृश्यस्य तत्रापि भावात् । न हि तस्य क्वचित्परिसमाप्तिः अनवधित्वात्, ततो न तद्वशाल्लभ्यते गोबुद्धिरिति चेत्; तन्न; यस्माद् भवत्येव बाहुलेयादौ गोबुद्धिः विभ्रमो यदि तद्विषयस्तत्र न स्यात् मैत्रे चैत्रबुद्धिवत् । अस्ति च तत्र तद्विषयः सादृश्यविशेषः तत्रैव तद्बुद्धेः सङ्केतात् । अत एव सर्वदा सर्वेषामपि तदुपपत्तिः । एकगोत्वनिबन्धनत्वे तु भवत्येव विभ्रमः प्रत्यक्षेणैव तद्गोत्वविविक्तवस्तुविषयेण बाधनात् । न च तद्विभ्रमे सर्वज्ञानमिथ्यात्वम्; बाधावत एव तदुपपत्तेः । न[11] चैको गौः कश्चिन्नास्ति प्रथमसङ्केतविषयस्यैव तत्त्वात् । न च तत्र विशेषाग्रहणम्; सादृश्यविशेषस्योपलम्भात् । न च तन्निबन्धना बुद्धिः महिष्यादावपि; तत्र [12]तदभावात् । [13]अन्यतस्तु सादृश्यान्न भवत्येव, सामान्यान्तरादपि प्रसङ्गात्, तस्यापि निरवधित्वात् । ततः सुलभैव सादृश्यविशेषाद् गोबुद्धिः । इति दुर्भाषितमेवेदमपि [14]तस्य-

"न चापि स इति ज्ञानं सदृशेष्वस्ति सर्वदा ।
सर्वपुंसामतो भ्रान्तिर्नैषा बाधकवर्जनात् ॥
सर्वज्ञानानि मिथ्या च प्रसज्यन्तेऽत्र कल्पने ।
विशेषग्रहणाभावादेको गौः कश्च कल्प्यताम् ॥

---

१ "न चान्यत्र"-मी० श्लो० । २ अवयवसादृश्यम् । ३ भ्रान्तिश्चेत्तद्वदेव ता० । ४ कश्चिदेव गौः आ०, ब०, प० । ५ सादृश्यस्य । ६ -माप्तेरनवधि-आ०, ब० प० । ७ सादृश्यवशात् । ८ बाहुलेयादौ । ९ -पपत्तेः आ०, ब०, प० । १० -पये बाध-आ०,ब०,प० । ११ न चैका गौ. आ०, ब०, प० । १२ तद्भावा -आ०, ब०, प० । १३ अन्यवस्तु आ०, ब०, प० । १४ कुमारिलस्य ।

> अभूव यद्यसौ पूर्वं नास्मदादेस्तदग्रहात् ।
> सादृश्यस्यावधिर्नास्ति ततो गोधीन लभ्यते ॥"
>
> [मी० श्लो० आकृति० श्लो० ७१-७४] इति ।

तन्न सामान्यात्मना स्वलक्षणस्य सङ्करोऽपि ।

नापि शक्त्यात्मना, तस्यापि प्रतिव्यक्ति भिन्नस्यैव भावात् । अभिन्न एवासौ मृत्पिण्डादीनाम् । न हि मृत्पिण्डशक्तरेव दण्डादिष्वभावे तेषां[1] तत्कार्ये व्यापारः तदन्यकारणवदिति चेत्, न, सर्वशक्तिसाकल्येऽपि तदुपपत्तेः[2] । यथा[3] मृत्पिण्डस्तत्र शक्तः तथा दण्डादिरपीति शक्तिसाङ्कर्ये तूपादान एव सहकारिण्येव चैकस्मिन् सर्वशक्तीनां भावात् तदन्यतमस्यैव तत्कार्यं स्यान्न सर्वेषाम्, वैयर्थ्यात् । एवमपि सामग्र्या एव जनकत्वं नैकस्येति चेत्, न, सर्वशक्तिसाकल्ये तद्विरोधात् । न तद्विरोधः प्रत्येकदशायां तत्साकल्यस्य तिरोधानादिति चेत्, इतरदशायां कुतस्तदभिव्यक्ति ? सामग्रीशक्तेरिति चेत्, न, शक्तिसाङ्कर्यवादिनः तच्छक्तेरपि प्रत्येकं भावात्, तदापि[4] तदभिव्यक्तेः । तथापि [5]तस्याजनकत्वे समुदायस्यापि न स्यात् तत्रापि अभिव्यक्तशक्तिसाकल्यादन्यस्य तज्जनननिमित्तस्याभावात् । सामग्रीशक्त्या चाऽनभिव्यक्तया न तदभिव्यक्ति[6] कार्यवत् । न च स्वतस्तद्व्यक्तिः प्रत्येकशक्तिवत् । सामग्र्यन्तरशक्त्या तद्गतावनवस्थानम् । सामग्री च यावदेकशक्तिमभिव्यनक्ति तावत् कार्यमेव कुर्वीत किं पारम्पर्येण? तन्न शक्तिसाङ्कर्यादेककार्यत्वम् उपादानादीनाम्, अपि तु तत्साम्यादेव । अत एव बहुष्वेव कार्यं नैकस्मिन् । तत्साङ्कर्ये त्वितरनिरपेक्षमेकस्मिन्नेव स्यात् उपादानेतरशक्तीनां तत्रैव भावात् । तन्न शक्तिरूपेणापि सङ्कीर्णं वस्तु । तदाह– 'असङ्कीर्णम्' इति ।

नन्वसङ्करो नाम स्वलक्षणानामितरेतराभावात्मा भेद एव । तस्माच्च तेषामन्योन्यगतत्वे तदभावरूपत्वात् किन्नाम स्वलक्षणम् ? एकरूपत्वाच्च केन वा किमसङ्कीर्णं भवेत् ?

अपि च, भेदस्य वस्तुरूपत्वे न क्वचिदेकत्वं भेदेन [7]तस्य विरोधात् । ततः परमाणुरपि भिन्न (न्न) एव । न चैकाभावे तत्समुच्चयरूपमनेकमपि । न च तृतीयः[8] कश्चित्प्रकार इति निःस्वभावत्वमेव स्वलक्षणस्य स्यात् । तदुक्तम्–

"न भेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसङ्गतः ।" [प्रमाणसि० ७।५] इति ।

अथ मा भूदयं दोष इति तस्य तेभ्योऽर्थान्तरत्वमिष्यते [9]स तर्हि नीरूप एव स्यात् वस्तुव्यतिरेकिणः प्रकारान्तरासम्भवादिति न तद्बलेन तेषामसाङ्कर्यम्, नीरूपस्य क्वचिदनुपयोगादिति साङ्कर्यमेव प्राप्तम् । इदमप्युक्तम्–

---

१ दण्डादीनाम् । २ तत्कार्ये व्यापारोपपत्तेः । ३ यैव रूपेण । ४ प्रत्येकदशायामपि । तथापि आ०, ब०, प० । ५ प्रत्येकस्य । ६ मतत्स्वभावम् । ७ तद्रूपस्य । ८ "परमाणुरपि भेदादनेकात्मक इति चेत्. तथा च तत्समुदायस्याप्यभेदोऽप्यस्यात्मा नावकल्पते"–प्रमाणसि० पृ० ४८ । ९ –न प्र–आ०, ब०, प० । १० इतरेतराभावात्मा ।

"अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते।" [ब्रह्मसि० १।५] इति चेत्; उच्यते–

यत्तावदुक्तम्–'भेदात् स्वलक्षणानामनर्थान्तरत्वे तद्वदेकत्वम्' इति ; तन्न ; भेदस्यैकस्याभावात्, प्रतिस्वलक्षणं परिसमाप्तिमत एव तस्योपगमात्। नापि तद्वदभावरूपत्वम्; एकान्ततस्तेषां [1]तदनर्थान्तरत्वस्याभावात्। कथञ्चिदभावरूपत्वं[2] तु न दोषाय, इष्टत्वात्।

यदन्यदप्युक्तम्– 'मा भूदयम्' इत्यादि ; तदपि न सुन्दरम् ; अर्थान्तरत्वस्यापि एकान्तेनां[3]ऽविभावनात्। अनेकान्तव्यतिरेकात्तु न नीरूपत्वमेव विपर्ययस्यापि भावादिति [4]कथं सति तस्मिन्[5] साङ्कर्यं तेषाम्, [6]तस्य तद्रूपत्वात्[7]। उक्तञ्च– "नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च" [बृहत्स्व० श्लो० ४२] इति।

यदप्यभिहितम्– 'भेदस्य वस्तुरूपत्वे' इत्यादि ; तदपि न मनोज्ञं प्राज्ञानाम् ; तथा हि– [8]यद्येकत्ववत् स्वरूपत एव भेदः स्यात् तदा तेनैकत्वं परिपीड्यत विरोधात्। न चैवम्, तस्य परोपाधित्वात्। परतो हि स्वलक्षणानि भिद्यन्ते न स्वतः। न चोपाधिभेदे विरोधः यतस्ततस्तस्य[9] परिपीडनात् एकसमुच्चयात्मनोऽनेकस्याप्यनुपपत्तेः, प्रकारान्तरापरिज्ञानाच्च निःस्वभावत्वं तेषामनुपज्येत।

कथञ्चैवं वादिनां ब्रह्मणोऽपि निःस्वभावत्वं न भवेत? शक्यं हि वक्तुम्– प्रपञ्चविवेकस्य [10]तत्स्वभावत्वे न तस्यैकत्वं विवेकेन तद्विरोधिना परिपीडनात्, तदभावे च नानेकत्वं तस्य तत्समुच्चयरूपत्वात्, न च प्रकारान्तरम्, ततो निःस्वभावमेव तदिति। नास्त्येव तस्य तस्माद्विवेकः, "सर्वगन्धः सर्वरसः" [छान्दो० ३ १४।४] इत्यादिना तस्य सर्वात्मत्वश्रवणादिति चेत्; न; निर्मुक्त्यभावप्रसङ्गात्। प्रपञ्च एव हि अशनायापिपासादिरूपः संसारः, तस्माच्च [11]तस्याविवेके कथमुपायेनापि निर्मुक्तिः? न हि तेन तस्य[11] स्वभावाद्वियोगः पावकस्येव औष्ण्यात्। स्वभावतश्चाविवेके[12] तस्य संसारः। भवन्नपि वियोगः कुतश्चिदेव स्यात् न सर्वस्मात्, तत्प्रबन्धस्य अनन्तत्वेन अनुच्छेद्यत्वात्। ततो नित्यनिर्मुक्तं [13]तदिच्छया तद्विविक्तमेव एष्टव्यम्। अथ नास्त्येव प्रपञ्चः "नेह नानास्ति किञ्चन" [बृहदा० कठो० ४।११] इत्यादि श्रुतेः तत्कथं तस्य तस्माद्विवेकः? असतः प्रतियोगित्वानुपपत्तेरिति चेत्; किमपेक्षं तर्हीदम्–"अस्थूलमनण्वह्रस्वम् (मनणु-ह्रस्वम्)" [बृहदा० ३।८।८] इति, "स एष नेति नेत्यात्मा"[बृहदा० ३।९।२६] इति च? अविद्याकल्पितप्रपञ्चापेक्षमिति चेत्; तत्प्रपञ्चात्तर्हि तद्विवेको वक्तव्यः, अन्यथोक्तदोषात्। न तस्य तस्माद्विवेको नाप्यविवेकः तदुभयं प्रति [14]तस्यावस्तुत्वेन अपादानत्वायोगादिति चेत्; न, नेति नेति निषेधानुपपत्तेः, विवेकस्यैव निषेधार्थत्वात्। अपि च,

---

१ अभावाभिन्नत्वस्याभावात्। २ –त्वं न आ०, ब०, प०। ३ –न्तेनाभावात् आ०, ब०, प०। ४ कथं तत्र सति त –आ०,ब०,प०। ५ स्वरूपावस्थाने। ६ साङ्कर्यस्य। ७ नीरूपत्वरूपत्वात्। ८ यदेकत्व– आ०, ब०, प०। ९ एकत्वस्य। १० ब्रह्मस्वभावत्वे। ११ ब्रह्मणः। १२ प्रपञ्चादभेदे। १३ ब्रह्म। तत्तथेच्छ आ०, ब०, प०। १४ प्रपञ्चस्य।

स्वभावस्तादृशस्तस्य यदि संसार उच्यते ।
न भवस्यैव निर्मुक्तिस्तस्स्वभावापरिक्षयात् ॥१०९६॥
निर्मुक्तिर्यदि तस्यैव संसारः कथ्यतां परः ।
संसारेण विना यस्मान्निर्मुक्तिर्नावकल्प्यते ॥१०९७॥
जीवानामेव संसारनिर्मुक्तिर्नैव तस्य चेत् ।
जीवेभ्यस्तदभिन्नश्चेत् न तस्येत्युच्यतां कथम्? ॥१०९८॥
मुखात्तत्प्रतिबिम्बानामनन्यत्वेऽपि संवृतः ।
माऽशुद्ध्यादिर्यथा तस्य तथेहापीति चेन्मृषा ॥१०९९॥
तेषां तस्मादभेदेऽपि तेभ्यस्तच्छुद्धेदवर्णनात् ।
स्वयमेव तथा ब्रह्म जीवेभ्यो यदि भिद्यताम् ॥११००॥
अविविक्तं कथन्नाम कथ्यतां तत्प्रपञ्चतः ।
यत्र तत्र प्रवर्तेत निःस्वभावत्वकल्पनम् ॥११०१॥

तस्मात्तत्राप्ययमेव परिहारः—स्वोपाधेरेकत्वस्य न परोपाधिना भेदेन बाधनमिति, तथा लक्षणेऽपि । कुतः पुनः परोपाधित्वं भेदस्य ? तदपेक्षणात् । तदपि किमर्थम् ? स्वरूपलाभार्थमिति चेत्, न, तस्य वस्तुस्वभावत्वेन तद्धेतोरेव भावात् । न हि वस्तुनः स्वहेतोरुत्पत्तिः भेदविकलस्यैव । परतोऽपि, परस्पराश्रयतया तदभावप्रसङ्गात्– 'सति वस्तुभेदे परम्, परतश्च तद्भेदः' इति । पश्चाच्च हेत्वन्तरादुत्पद्यमानः कथं वा वस्तुनः स्वभावः स्यात् कार्यान्तरवत् ? वस्तुहेतोरुत्पत्तौ च किं तस्य परापेक्षया प्रयोजनं स्वरूपस्य वस्तुकारणादेव भावात् ? नार्थक्रिया परासन्निधानेऽपि तदर्थक्रियादर्शनात् । [11]प्रतीतिश्चेत्, न तर्हि भेदः परापेक्ष, तद्विषयायाः प्रतीतेरेव तदपेक्षत्वात् । न हि तस्याः तदपेक्षत्वं तद्विषयस्यापि; रूपादिप्रतीतेः चक्षुराद्यपेक्षत्वेन रूपादावपि तत्प्रसङ्गात् । न च प्रतीतेरपि तदपेक्षत्वम्, परस्पराश्रयात्–'प्रसिद्धं हि परमपेक्ष्य वस्तुभेदप्रतिपत्तिः, तत्प्रतिपत्त्या च परप्रसिद्धिः' इति । न च वस्तुमात्रादनवगृहीतभेदाद् भेदसिद्धिः, एकस्मिन्नपि तत्प्रसङ्गात् । तन्न अपेक्षा नाम काचिद् वस्तुधर्मः ।

पुरुषधर्मे एवास्तु, पुरुषेणैव कस्यचित् कुतश्चित् भेदस्यापेक्षणादिति चेत्, न, वस्तुनि तदपेक्षानुवर्तनस्यासम्भवात् । न हि पुरुषस्य भेदापेक्षया वस्तु भिन्नं भवति, अन्यथा खदिरः कोविदारोऽपि स्यात् [12]तथापि तदपेक्षासम्भवात् । तदुक्तम्–

"पौरुषेयीमपेक्षाञ्च न हि वस्त्वनुवर्तते" [प्रमाणसि० २।६] इति ।

---

१ भवस्य । २ प्रतिबिम्बपतः । ३ प्रतिबिम्बानाम् । ४ मुखभेद । ५ परापेक्षणात् । ६ –नास्ते त–भा०, ब०, प० । ७ 'न हि' इत्यन्वयः । ८ भेद । ९ भेदस्य । १० प्रयोजनम् । ११ प्रतीतेः परापेक्षत्वम् । १२ तेन रूपेणापि, खदिरस्य कोविदाररूपेणापि । १३ न हि स्वभ–भा०, ब०, प० ।

सर्वनिषेधे क्व आगमः, किं वा प्रत्यक्षं यो येन विरुद्ध्यत इति चेत्; न; सर्वाभेदेऽपि तुल्यत्वात्। सत्यम्; न वस्तुतः तत्रापि तदुभयम्, अविद्यानिवन्धनं तु विद्यत इति चेत्; न; अन्यत्रापि संवृतिनिवन्धनस्य भावात्। सैव कथं तत्रेति चेत्? अविद्या कथमितरत्र? अथाविद्या विद्याऽद्वैतप्रतिवन्धिनी न भवति तस्याः सर्वाकारैर्वक्तुमशक्यत्वादिति चेत्; न; संवृतेरपि [1]तथात्वेन नैरात्म्यवादप्रतिवन्धित्वानुपपत्तेः।

अथ विधिसमय एव तस्य स[2] व्यापारः कथं विध्यनुवादेन भवेत्? [3]अपूर्वप्रसिद्धतया विधेरनुवादायोगात्। नापि तत्पश्चाद्भावी स[4] तस्य व्यापारः तदा प्रत्यक्षस्यैवाऽभावात् इति न प्रत्यक्षात् [5]विधेयासत्त्वव्यवच्छेदः। मा भूदिति चेत्; विधिरपि न भवेत्, तस्य तद्रूपत्वात् "विधेर्विधेयासत्त्वव्यवच्छेदरूपत्वात्" [ब्रह्मसि० पृ० ४७] इति मण्डनवचनात्। मा भूद् विध्यनुवादेन तदसत्त्वव्यवच्छेदः प्रत्यक्षात्[6] तद्रूपतयैव तदुपगमात्, तदनुवादेन तु तद्व्यवच्छेदः प्रत्यभिज्ञानादेव प्रत्यक्षविहिते घटे तदनुवादेन तत्र स्मरणोपनीतस्य तदभावस्य 'नायमिह' इति प्रत्यभिज्ञया प्रतिपत्तेरिति चेत्; 'भूतले न घटः' इत्यपि प्रतिपत्तिस्तत[7] एवेत्यलमभिनिवेशेन। यदि विधिप्रत्यक्षत एव अन्यव्यवच्छेदः; स तर्हि भूतले घटादेरिव प्रतिक्षणपरिणामादेरपि स्यात् [8]तद्विविक्ततयापि तस्य प्रतिपत्तेरिति चेत्; अस्ति प्रतिपत्तिः न तु प्रमाणम्, अर्थक्रियाकारित्वादिलिङ्गोपनीतेन तत्परिणामानुमानेन वाध्यमानत्वात्, न तर्हि घटादिव्यवच्छेदेऽपि प्रमाणम्, आम्नायेनैव अभेदविषयेण वाधनादिति चेत्; न; तस्य प्रतिविधास्यमानत्वात्। ततो भेदस्य प्रत्यक्षत[9] एव प्रतिपत्तेरुपपन्नमुक्तम्–'**स्वलक्षणमसङ्कीर्णम्**' इति। **असङ्कीर्ण**पदेन स्वलक्षणस्य विशेषात्मकत्वं **समान**पदेन च सामान्यात्मकत्वमुक्तम्। अतः सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वं वस्तु सविकल्पकमेव नाऽसहायस्वभावम्। अत एवाह– '**सविकल्पकम्**' इति।

सत्यम्; अस्ति भेदस्य प्रत्यक्षादिना प्रतिपत्तिः, न तु वस्तुसत्त्वम्, आम्नायेनैव अभेदविषयेण वाधनात्। न चैवम् आम्नायस्यापि भेदविशेषस्य [10]तस्मादसिद्धिः–वाध्यमानत्वेन अप्रमाणत्वादिति मन्तव्यम्; तत्त्वावेदनलक्षणस्यैव प्रामाण्यस्य [11]तत्र तेन[12] वाधनान्न व्यवहाराविसंवादलक्षणस्य[13], अवस्तुविषयत्वेऽपि अविद्यासंस्कारस्थैर्येण सम्भवात्[14]; तस्य च न तेन वाधनम् अविरोधात्। कथमेवं प्रत्यक्षादेः [15]तदपेक्षेणैव तेन वाधनमिति चेत्? न; स्वरूपप्रतीतिं प्रत्येव [16]तस्य तदपेक्षत्वात् न स्वार्थप्रतीतिं प्रति लब्धस्वरूपस्य स्वत एव तदुपपत्तेः, अन्यथा प्रामाण्यमेव न स्यात् स्वकार्यं प्रति निरपेक्षतयैव [17]तदुपपत्तेः। स्वरूपप्रतीतिहेतुत्वस्य तु न तेन वाधनं तत्त्वा-

---

१ वक्तुमशक्यत्वेन। २ असत्त्वनिषेधः। ३ पूर्वमप्रसिद्धतया। ४ असत्त्वनिषेधः। ५ विधेयासत्त्वस्य व्य–आ०, ब०, प०। ६ प्रत्यक्षत्वात् आ०, ब०, प०। ७ प्रत्यभिज्ञातः। ८ प्रतिक्षणपरिणामविविक्ततया। ९ प्रत्यक्ष एव ता०। १० प्रत्यक्षात्। ११ प्रत्यक्षे। १२ आम्नायेन। १३ स्य वस्तु–आ०, ब०, प०। १४ "प्रत्यक्षादीनां तु व्यावहारिकं प्रामाण्यम्, अविद्यासंस्कारस्य स्थेम्ना व्यवहारविपर्ययाभावात्।"–ब्रह्मसि० पृ० ४०। १५ प्रत्यक्षापेक्षेणैव। १६ आम्नायस्य प्रत्यक्षापेक्षत्वात्। १७ प्रामाण्योपपत्तेः।

चेदनभागस्यैव बाधनात् तत्रैव विरोधात्। [1]तदविरोधादाम्नायस्यैव किन्न प्रत्यक्षादिना बाधनमिति चेत्? न, प्रत्यक्षादितः [2]तदपेक्षतया परत्वेन आम्नायस्यैव बलीयस्त्वात्। बलीयसा हि दुर्बलस्य बाधनं लोकवत् न तेन तस्य। [3]दृश्यते च पूर्वापरभावेन परस्य बलीयस्त्वम्, यथैकस्य ज्ञानात् द्वित्वज्ञानस्य सतोऽपि त्रित्वज्ञानस्य तस्य तदुपमर्देनोपपत्तेः। ततो न भेदस्य वस्तुसत्त्वम् [4]तत्प्रत्ययशायी तस्यावेदनस्य "इदं सर्वं यदयमात्मा" [बृहदा० २।४।६] इति, "आत्मैवेदं सर्वम्" [छान्दो० ७।२५।२] इति, "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" [छान्दो० ३।१४।१] इति चाम्नायेन सर्वाभेदमवबोधयता बाधनात्। तत्र वस्तुतः स्वलक्षणस्यासङ्कीर्णस्य प्रतिभासमात्रादेव व्यवहारप्रसिद्धप्रामाण्यात् तदुपपत्तेरिति चेत्, किमिदम् आम्नायस्य अभेदविषयत्वम्? तत्परिज्ञानत्वमिति[5] चेत्, न, अचेतनत्वात्। तत्परिज्ञानं प्रति हेतुत्वमिति चेत्, तत्परिज्ञानमपि यदि विषयाव्यतिरिक्तं तर्हि तस्य स्वतत्त्वया[6] प्रतिपत्तौ भेद एव तदर्थः स्यान्नाभेद इति कथं तेन मतभावे: भेदविषयस्य बाधनम्? एकवाक्यतया तदुपोद्बलनस्यैवोपपत्तेः। अप्रतिपत्तौ च व्यतिरेकस्य तदव्यतिरेकात् तत्परिज्ञानस्यापि न प्रतिपत्तिरिति कथं ततः सर्वाभेदस्याधिगतिः? प्रतिपन्नतरगवादपि ततस्तत्प्रसङ्गात्। व्यतिरेकेणैव तस्याप्रतिपत्तिर्न रूपान्तरेणेति चेत्, न, प्रतिपन्नेतरयोरेकत्र विरोधात्। अविरोधे वा भेदाभेदयोरपि तत्र तदुपपत्तेः कुतो न तस्यावेदनमेव प्रामाण्यम् आम्नायवत् मतभावेऽपि भवेत्? अव्यतिरिक्तमेव [7]तत्त्वमिति चेत्, न, नित्यत्वेन अकार्यत्वापत्तेः। नित्यो हि तद्विषयः सर्वाभेदलक्षणः परमात्मा "[8]स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म" [बृहदा० ४।४।२५] इति श्रवणात्। कथं तदव्यतिरेके तत्परिज्ञानस्यानित्यत्वं यत आम्नायादुत्पत्तिः। तत्र तस्माद्व्यतिरिक्तम्। नाप्यव्यतिरिक्तम्, मायामयत्वेनावस्तुत्वात्, वस्तुन्येव (न्येव) व्यतिरेकेतरविकल्पोपपत्तिरिति चेत्, न तर्हि तस्य कार्यतापि, अवस्तुनि तस्या अप्यप्रसिद्धेः। तत्र आम्नायस्य स्वतः तत्परिज्ञानहेतुत्वेन वा तद्विषयत्वम्, यतस्तेन प्रत्यक्षादेर्भेदविषयस्य प्रतिपीडनमुपपद्येत। [9]सत्यप्याम्नायात् ब्रह्मणः परिज्ञाने–

ब्रह्म तच्चेत् समर्थं न खपुष्पाद् भिद्यते कथम्?।
प्रतिभासबलाच्चेन्न तस्यासत्यपि दर्शनात् ॥११०३॥
विना कार्येण सामर्थ्यमपि तस्य न युज्यते।
कार्यार्थमेव यल्लोके तत्प्रसिद्धिपदं गतम् ॥११०४॥
कार्यमस्ति प्रपञ्चश्चेत् नियतस्तस्मात् [10]तद्यदि।
भिन्नमेव कथन्न स्यादसङ्कीर्णं स्वलक्षणम्? ॥११०५॥

---

१ विरोधाविरोधात्। २ प्रत्यक्षादिपरतया। ३ "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्"–मी०सू० ६।५।५४। ४ भेदप्रत्ययशायी। ५ –मिति–आ०। ६ विषयाव्यतिरिक्तत्वेन। ७ विषयात् परिज्ञानम्। ८ स एष–आ०,ब०,प०। ९ सत्यस्याम्ना–आ०, ब०, प०। १० प्रपञ्चात्मकं कार्यम्।

प्रपञ्चोऽन्योन्यभिन्नोऽपि न भिन्नः परमात्मनः ।
तस्य तत्परिणामत्वात् सुवर्णात्तद्विकारवत् ॥११०६॥
इति चेत्किन्न [1]तद्व्यापी तथैवासौ[2] प्रकाशते ।
सत्यज्ञानस्वभावोऽयं यदाम्नायेषु पठ्यते ॥११०७॥
तथा तस्य प्रकाशे च कथमुक्तमिदं [3]श्रुतौ ।
"एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ॥"११०८॥ इति ।

कुतो वा देवदत्तादेर्न [4]तथा सम्प्रतिपत्तिः जीवस्य तस्य तद्विकारत्वात् । न हि प्रकृतिधर्मः स्वप्रकाशः विकारे [5]तस्यातद्रूपतया ततो भेदादिति चेत् ; न ; "तत्त्वमसि" [छान्दो० ६।८।७] इत्यादि श्रुतिभ्यः परमात्मरूपताया एव जीवे प्रतिपत्तेः । अन्यथा कथं तस्य[6] ज्ञानादमृतत्वस्याप्यवक्लृप्तिः विकारस्य प्रकृतावेव प्रलयात् । न च प्रलयरूपमेव अमृतत्वम् ; अशुद्धिपरिक्षयविशिष्टस्य स्वरूपस्यैव [7]तत्त्वेन ब्रह्मविदां प्रसिद्धत्वात् । तन्न विकारात्मत्वे जीवस्य तदवक्लृप्तिः । तथा च भागवतं भाष्यम्–"विकारात्मकत्वे हि जीवस्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसम्बन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत" [ब्र० शा० भा० १।४।२२] इति ।

भवतु तर्हि देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातोपाधिसम्पर्ककलुषीकृतत्वात्तस्य[8] ततो भेद इति चेत् ; कस्य तत् कालुष्यम् ? जीवस्येति चेत् ; ननु जीवः परमात्मैव, "अनेन जीवेनात्मना" [छान्दो० ६।३।२] इति श्रवणात्, ततः 'तस्यैव तत्कालुष्यं ततश्च भेदः' इति रिक्ता वाचो युक्तिः । ततः सत्यपि देहेन्द्रियाद्युपाधिभेदे परमात्माऽभिन्न एव जीव इति कथमसावात्मानं प्रतिपद्यमानः सर्वव्यापिनमेव न प्रतिपद्यते ? [9]घटाकाशस्यापि कथन्न तथा प्रतिपत्तिः तस्यापि पराकाशादभिन्नत्वादिति चेत् ? भवत्येव यदि तस्यापि स्वतः प्रतिपत्तिः, न चैवम्, अचेतनत्वेन परत एव तस्य प्रतिपत्तेः । तच्च संसारिज्ञानम् । न च तस्य सकलात्मनि वस्तुनि प्रवृत्तिः शक्तिवैकल्यादिति उपपन्ना गुहोदरगतेन तदवच्छिन्नतयैवाकाशस्य प्रतिपत्तिः । योगिज्ञानापेक्षया तु नायं प्रश्नः, तेन पराकाशाऽभिन्नस्यैव तस्य परिच्छेदात् । ततो यदि सकलभेदव्याप्येको ज्ञानात्मा तदा तथैव तस्य प्रकाशात् तस्येव तदभेदेन जीवानामपि तत्राविप्रतिपत्त्या भवितव्यम् । न चैवम्, तन्न तदभेदेन तत्परिणामत्वं प्रपञ्चस्य ।

न च प्रपञ्चो नाम कश्चिदस्ति वस्तुभूतः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" [छान्दो० ६।८।७] इत्यादिभिः श्रुतिभिः परमात्मन एव तात्त्विकस्योपदर्शनात् न प्रपञ्चस्य । तत्र "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः" [ऋक्सं० ४।७।३३] इत्यादिभिः मायारूपत्वस्यैव निवेदनात् । तद्रूप एव स तत्परिणाम इति चेत् ; कथं नित्यशुद्धत्वं तस्य ? प्रपञ्चरूपावाप्तेरेवाऽशुद्धित्वात् । तदवाप्तेश्च तत्परिणामित्वेऽवश्यम्भावात् सुवर्णादे रुचकादिरूपावाप्तिवत् ।

१ प्रपञ्चव्यापी । २ परमात्मा । ३ कठोप० ३।१२ । ४ स्वप्रकाशरूपत्वेन । ५ तस्य तद्रूप–आ०, ब०, प० । ६ जीवस्य । ७ अमृतत्वेन । ८ जीवस्य । ९ घटाकाशस्यापि–आ०, ब०, प० ।

कथं वाऽनुच्छित्तिधर्मत्वम् ? "अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा" [बृहदा० ४।५।१४] इत्याम्नायते ? कुतश्चिदसिद्धेः, तदनर्थान्तरस्योच्छित्तौ तस्याप्युच्छित्तेः । अर्थान्तर तु कथं स तस्य परिणामो घटवत् पटस्य ? विभ्रमादिति चेत्, न तर्हि तत्र परमात्मनो वस्तुभूतेनोपादानत्वमिति क्व तथा तस्य सामर्थ्यं तत्र ?

भवतु निमित्तत्वेनैव कुलालादिवत् घटादाविति चेत्, कथमिदानीम् "आत्मनि विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" [ ] इति आत्मविज्ञानेनैव सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायेत ? उपपन्नं ह्यस्यात्मनः तदुपादानत्वे तज्ज्ञानादेव प्रपञ्चस्यापि ज्ञानं तस्य तदव्यतिरेकात् न निमित्तत्वे, कुलालज्ञानादेव घटादेरपि ज्ञानप्रसङ्गात् । श्रुतिविरोधश्चैवम्, श्रुतिभिः "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्य आकाशं प्रत्यस्तम(स्तं)यन्ति" [छान्दो० १।९।१] इत्यादिभिः आत्मन्युपादानत्वस्यैव निवेदनात् । अनुपादाने तेषां तत्र प्रलयानुपपत्तेः । कथं वा निरुपादानस्य निमित्तादेवोत्पत्तिः ? अस्त्येवोपादानं प्राच्यः प्रपञ्च इति चेत्, न तर्हि सर्गादौ तस्य तं प्रत्युपादानत्वम् अभावात् ? "सदेव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" [छान्दो० ६।२।१] इत्यात्मन एव सद्रूपस्य तदा सत्त्वश्रवणात् । अथास्त्येव तदापि तत्प्रपञ्चः 'आत्मैव एकमेव' इत्यवधारणं तु नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य तस्याभावादिति चेत्, किमेवं तदा तथाविधस्य प्रधानस्यैव तदुपादानत्वम भवति ? तस्याऽचेतनत्वेन ईक्षितृत्वायोगात्, ईक्षावत एव तदुपादानं श्रूयते "स ईक्षाञ्चक्रे स प्राणमसृजत" [प्रश्नो० ६।३।४] इत्यादेराम्नायात्, न चाम्नायादन्यस्य तत्त्वम् प्रमाणाभावात्, अनुमानादेस्तद्विषयस्य परैरप्रमाणीकरणादिति चेत्, न, अविद्यात्मनः प्रपञ्चस्याप्यचेतनत्वाविशेषात् । विद्यासाहचर्यात्तस्य चेतनत्वे चितिशक्तिसाहचर्यात् प्रधानस्यापि तत्त्वमिति कथमेतावता, यत ईक्षापूर्वं जगद्धेतुत्व तस्यापि न भवेत् आम्नायार्थस्य ? यथात्र तत्र तन्निषेधे निर्बन्धो भाष्यकारस्य । तत्र प्रपञ्चस्योपादानत्वेन आत्मनो निमित्तत्वम् ?

कुतो वा तत्र तस्योपादानत्वमन्यत्र शक्तेरिति चेत्, न, कार्यस्य प्रपञ्चस्यावस्तुत्वे वस्तुत्वविषयायाः शक्तेरसम्भवात् । निष्पत्तये हि शक्तिः । न चाऽवस्तुनो निष्पत्तिः । तत्कथं तस्यां शक्तिः ? साध्यवस्तुभूतैव कार्यवदिति चेत्, कथं परमात्मनो वस्तुभूतस्यैव ? सम्बन्धादिति चेत्, न, सोऽप्यव्यतिरेकः, विरोधात् । तदुत्पत्तिरिति चेत्, न, तत्रापि वाच्यवाचकसम्बन्धपरिकल्पनायामपरिनिष्ठानात् । प्रपञ्चस्य प्रकाशनमेव निष्पादनम्, न च

१-त्याम्नायते कु- आ०,ब०,प० । २ प्रपञ्चपरामि । ३ वस्तुभूतेनोपा-आ०, ब०,प० । ४ "आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्"-बृहदा० ४।५।६ । ५ आत्मविज्ञानेनानात्मा प्रतिपाद्यते"-ता० टि० । ६ "समुत्पन्ने तत्रैव प्रलयं यान्ति"-छान्दो० । ७ भूतानाम् । ८ "उत्पत्तिप्रलयाद्वयम्"-ता०टि० । ९ सर्गादौ । १० नामरूपाभ्याम । ११ "नेत्रनिर्माण"-ता०टि० । १२ "आत्मव्याख्यात"-ता०टि० । १३ "यतोन ईक्ष्यते"-आ० टि० । १४ ब्रह्मसू० भा० १।१।५ । १५ शङ्कराचार्यस्य । १६ वस्तुभूते आ०,ब०,प० । १७ तदुत्पत्तिः ।

तच्छक्तिरवस्तुभूतेव, असदपि चन्द्रद्वित्वादिकं प्रकाशयतश्चक्षुरादेः वस्तुत एव शक्तेरिति चेत्; न; चक्षुरादौ दोषतः तच्छक्तिभावात्। न चात्मनि कश्चिद्दोषः, "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" [श्वेता० ६।१९] इति तत्र निर्दोषताया एव श्रवणात्। ततः शक्तिवैकल्यात् अवस्तुभूतैवासाविति कथं तदाम्नायस्य प्रामाण्यं यतस्तेन प्रत्यक्षादेर्भेदविषयस्य बाधनम्? शक्तिमत्त्वे तु वास्तवमेतत्कार्यं तत्प्रतिभिन्नश्चाभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा तत्त्वानुपपत्तेः।

ततो यथा समर्थत्वादात्मा कार्याद्विभिद्यते।
असमर्थात्प्रधानादेरपि तत्कार्यजन्मनि ॥११०९॥
न च तद्भेदविज्ञानमाम्नायेनोपपीड्यते।
तथैव स्तम्भकुम्भादिर्यथास्वं कार्यजन्मनि ॥१११०॥
समर्थो भिद्यते तत्रासमर्थादन्यतः स्वयम्।
नैकत्वाम्नायतो बाधा तज्ज्ञानस्यापि युज्यते ॥११११॥
न ह्यसौ ब्रह्म-तत्कार्यभेदज्ञानमपीडयन्।
स्तम्भादिभेदनिर्भासबाधाय भवति प्रभुः ॥१११२॥
तस्मात् सामर्थ्यलिङ्गोत्थमनुमानमबाधितम्।
परस्परमसङ्कीर्णं वस्तु वक्त्येव निश्चयात् ॥१११३॥

इदमेवाह 'समर्थम्' इति। यस्मात् स्वकार्ये **समर्थं** शक्तं **स्वलक्षणम्** तस्मात् **असङ्कीर्णम्** इति। स्वलक्षणस्य स्वरूपमाह- '**स्वगुणैरेकम्**' इति। स्वग्रहणेन परगुणैरेकत्वाभावमावेदयन् "**चोदितो दधि खाद**" [प्र० वा० ३।१८२] इत्यादेरनवकाशत्वं दर्शयति। गुणशब्देन च, तस्य सामान्यवाचित्वात् गुणपर्यययोरुभयोरपि ग्रहणम्, अत एवाह- '**सहक्रमविवर्तिभिः**' इति। सूत्रे तु पृथक्पर्ययोपादानस्य प्रतिपादितमेव प्रयोजनम्। कुतः पुनरेवं स्वलक्षणमिति चेत्? आह- '**समर्थम्**' इति।

अर्थक्रियासमर्थं यत् स्वलक्षणमुदीरितम्।
तद्द्रव्यपर्ययात्मैव बुद्धिमद्भिर्निरुच्यते ॥१११४॥
न द्रव्यं न च पर्यायो नोभयं व्यतिभेदवत्।
शक्तमर्थक्रियायां यत् तत्प्रतीतिर्न विद्यते ॥१११५॥
निवेदयिष्यते चैतत् यथास्थानं सविस्तरम्।
विस्तरं स्थीयतां तस्मादिदानीमुच्यते परम् ॥१११६॥

'सहविवर्तिभिरेकम्' इत्येतदसहमानस्य मतमाशङ्कते-

यदि ज्ञेयपरावृत्तेरेकज्ञानमनेकतः। इति।

---

१ -दि च-आ०, ब०, प०। २ एकत्वाम्नाय.। ३ -यन् आ०, ब०, प०। ४ प्र० वा० २।३। ५ परस्परानपेक्षम्।

एकज्ञानादि तदेकसिद्धिः, तस्यैकस्य नानावयवसाधारण्य(ण)स्थूलस्य ज्ञानमतीन्द्रियम् एकज्ञानम् न तस्मादेवैकस्मात्, अपि तु अनेकतः अनेकस्मात् परमाणोः। कीदृशात्? शेषपरामृष्टेः शेषाः तज्ज्ञानं प्रत्यहेतवः प्रत्येकावस्थाः परमाणवः तेभ्यः परामृष्टिः सञ्चयलक्षणा यस्मिन् तस्मादिति। तथा हि-घटादावेकज्ञानं मञ्चितानेकनिबन्धनम् एकज्ञानत्वात् दूरविरलकेशेषु तज्ज्ञानवत्। ततो न तद्बलात् अक्रमादनेकस्वभावस्यैकस्य सिद्धिरिति परस्याकूतम्। 'यदि' इति तदभ्युपगमद्योतनार्थम्। अत्रोत्तरमाह-

अनर्थमन्यथाभासम् [अनंशाना न राशयः] ॥१२३॥ इति।

'एकज्ञानम्' इत्यनुवर्तते। तत् न विद्यते अर्थः अर्थक्रियासमर्थः यस्मिंस्तत् अनर्थम्, 'नञोऽर्थात्' [शाकटा० ४।१।२२८] इति[1] कप्रभावः, समासान्तस्यानित्यत्वात्। अथवा अर्थो न भवतीत्यनर्थः स्थूलाकारः, सोऽस्यास्तीत्यनर्थम्, अभ्रादिषु[2] दर्शनादकारप्रत्ययात्। अनर्थत्वे निमित्तम् 'अन्यथाभासम्' इति। अर्थो येन व्यवस्थितोऽनेकाऽस्थूलप्रकारेण तस्मादन्येन एकस्थूलप्रकारेण भासः परिच्छेदो यस्मिन् तत् अन्यथाभासम्। यत् अन्यथाभासं तदनर्थम् यथा दूरविरलकेशेषु स्थूलैकज्ञानम्, तथा च घटादावपि तज्ज्ञानम्, तथा च कथं तस्य प्रत्यक्षत्वं भ्रान्तत्वात्? स्थूलाकार एव तस्य [3]तत्त्वं न नीलादाविति चेत्, कथमेकस्यैव तत्त्वमतत्त्वञ्चापि रूपम्? अन्यथा घटादेरपि नानैकरूपत्वस्याविरोधात् न स्थूलाकारेऽपि तस्य विभ्रम इति कथं तत्रापि तत्प्रत्यक्षं न भवेत्? दूरे तदाकारस्य असत एव दर्शनान्नैवमिति चेत्, नीलादावपि नैवम्, तस्यापि क्वचिदसत एवोपलम्भात्। यत्र बाधोपनिपातः तत्रैव तस्यासत्त्वं न सर्वत्रेति चेत्, न, स्थूलाकारेऽपि तुल्यत्वात्।

कथं वा दूरोपलम्भस्य तदाकारस्यासत्त्वम्? प्रत्यासत्तौ तद्विविक्तानामेव केशानामुपलम्भादिति चेत्, कीदृशास्ते केशाः? स्वावयवापेक्षया स्थूला एवेति चेत्, असन्त एव वस्तुतः तर्हि तेऽपीति कथं तेषां सञ्चयः? कथं वा स्थूलघनज्ञानहेतुत्वम् असतां तदयोगात्। निरंशपरमाणुस्वभावा एवेति चेत्, न तेषां प्रत्यासत्तावप्युपलम्भ इति कथं ततस्तदाकारस्यासत्त्वं यतस्तद्विदर्शनात् घटादावपि तदसत्त्वम्?

भवतु स्थूलवत् नीलादावपि तस्य नानावयवसाधारणतया सविकल्पत्वेन विभ्रम एव "सर्वमालम्बने भ्रान्तम्" [ ] इति[4] वचनात्। प्रत्यक्षत्वं तु तस्य व्यवहारप्रसिद्धादविभ्रमादिति चेत्, न तर्हि ततो बहिर्निरंशार्थसिद्धिः अतदाकारत्वात्, अन्यथा आकारवादव्याघातात्। ततः स्थूलार्थस्यैव सिद्धिश्चेत्, न तर्हि तस्य निर्विकल्पकत्वम्, तद्विषयस्य साधारणतया सविकल्पकत्वेन तत्सामर्थ्यजन्मनि [5]तस्मिन्नपि तत्त्वस्यैवोपपत्तेः।

---

1 इतिसूत्रेण विहितस्य कप्रत्ययस्याभावः। 2 "अभ्रादिभ्यः"-शाकटा० २।३।१३२। 3 प्रत्यक्षत्वम्। 4 "परमार्थतस्तु सर्वमालम्बने भ्रान्तमेव।"-प्र० वार्तिकाल० २।१०१। 5 तदाकारज्ञानस्य। 6 ज्ञानेऽपि।

ततो यदुक्तम्–"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमर्थसामर्थ्यादुत्पत्तेः" [ ] इति; तत्र अर्थो यदि परमाणुः; असिद्धो हेतुः। स्थूलश्चेत्; उक्तनीत्या विरुद्धः। ततो यदि भ्रान्तम्; न निर्विकल्पम्, तच्चेत्; न भ्रान्तम्, इति महानयं सङ्कटप्रवेशः परस्य। ततः सिद्धं प्रत्यक्षत एव सहविवर्तिभिरेकं स्वलक्षणम्। व्यावहारिकमेव तत्तथा न तात्त्विकमिति चेत्; न; व्यवहारादन्यस्य तत्त्वस्याभावात्, अप्रतिपत्तेः। तत्र सञ्चितपरमाणुनिबन्धनत्वं प्रत्यक्षस्य। निरस्तश्च तत्सञ्चयः सान्तरनिरन्तरचिन्तया। तदेवाह– **अनंशानां न राशयः**। राशिबहुत्वापेक्षया बहुवचनम्। ततो निषिद्धमेतत् अर्चस्य–

"भागा एवावभासन्ते सन्निविष्टास्तथा तथा।" [हेतु० टी० पृ० १०६] इति; सन्निवेशस्यैव अनंशेष्वभावात्, स्थूलप्रतिभासस्यैव च भागप्रतिभासविरोधिनोऽनुभवात्।

कुतः पुनरिदमवगन्तव्यम्–'**क्रमविवर्तिभिरेकम्**' इति? प्रत्यक्षत इति चेत्; न; तेन क्षणभङ्गिना सन्निहितस्यैव गुणस्य[2] ग्रहणात् न परापरसमयभाविनां तदा तस्याभावात्। तथापि ग्रहणे देशकालव्यवहितस्य सर्वस्यापि ग्रहणात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वं प्रमाणान्तरवैयर्थ्यञ्च प्राप्नुयात्। न च तेषामग्रहणे तदेकत्वं स्वलक्षणस्य शक्यमवगन्तुम्, व्यापकप्रतिपत्तेर्व्याप्यप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वादिति चेत्; भवेदेवम्, यदि तस्य क्षणभङ्गः सिद्धो भवेत्, न चैवम्। तथा हि–[3]न तस्य स्वत एव तत्सिद्धिः; तेन पूर्वापरयोरग्रहणे तद्व्यावृत्तिरूपस्य तस्य दुरवबोधत्वात् व्यावृत्तिप्रतिपत्तेः व्यावर्त्यप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात्।

ग्रहणञ्च [4]यद्यतत्कालेन; बहिर्विवर्तानामपि भवेत्। तत्कालेन चेत्; व्याहतमेतत्–"तत्कालेनैव तत्कालव्यावृत्तिरात्मनो गृह्यते" [ ] इति। नाप्यन्यतः प्रत्यक्षात्; [5]अत एव, अनभ्युपगमाच्च [6]तद्भङ्गस्य तत्स्वभावत्वात्। पूर्वापरापरिज्ञानेऽपि भवत्येव स्वतः प्रतिपत्तिरिति चेत्; तद्विपर्ययस्यापि किन्न तथा बहिरन्तश्च प्रतिपत्तिः तस्यापि कथञ्चित्तत्स्वभावत्वस्याविशेषात्? क्षणिकतयैव उभयत्रापि वस्तूनां प्रतिभासनादिति चेत्; न; [8]एकतयापि प्रतिपत्तेर्दर्शनात्। अध्यारोपितमेवैकत्वं तत्र विकल्पेन प्रतीयते न वास्तवमिति चेत्; विकल्पेनापि कथमतदाकारेण तस्य ग्रहणम् आकारवादवैफल्यप्रसङ्गात्? तदाकारत्वञ्च न सर्वथा तद्वद्वस्तुत्वापत्तेः। न चावस्तुना तत्प्रतिपत्तिः; अन्यत्रापि ज्ञानवैयर्थ्यापत्तेः।

---

१ "अर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवादित्याह। तद्धि अर्थस्य सामर्थ्येनोत्पद्यमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात्।"–प्र० वार्तिकाल० २।१९२। २ गुणग्रह–आ०, ब०, प०। ३ "न तस्य स्वत एव तत्सिद्धिरित्यत्र न तस्य प्रत्यक्षान्तरात्तत्सिद्धिरिति वक्तव्यम्। तत्कालेनैव तत्कालव्यावृत्तिरात्मनो गृह्यत इत्यत्र आत्मशब्देन प्रथमप्रत्यक्षं ग्राह्यम्''' ''' ''''''''' ननु तत्कालेन त्रिकालानुयायिना प्रत्यक्षान्तरेण प्रथमप्रत्यक्षस्य तत्कालव्यावृत्तिर्गृह्यत इत्यत्र व्याहत्यभावात् व्याहतमेतदित्युक्तं कथं युक्तं स्यादिति न शङ्कनीयम्; प्रत्यक्षस्य यथा कालत्रयवृत्तित्वेनाक्षणिकत्वं तथा प्रकृतप्रत्यक्षस्यापि अक्षणिकत्वं सम्भवत्यविसंवादात्, तथा परस्य क्षणभङ्गो न सिध्यतीत्यभिप्रायेणोक्तत्वात्।"–ता० टि०। ४ यद्यतत्कालेन आ०, ब०, प०। ५ "तथा हीत्यादि प्रतिपादितप्रक्रियात एव।"–ता० टि०। ६ तद्भागस्य आ०, ब०, प०। ७ –त्वस्यावि–आ०, ब०, प०। ८ अक्षणिकतया।

[1]वस्तुनैव विकल्पान्तरेण ग्रहणमिति चेत् , न , तत्रापि 'कथमतदाकारेण' इत्यादे[2]र्भ्रमणाद्-परिनिष्ठानाच्च । कथञ्चित्तदाकारस्य तु नानेकान्तविद्विषामुपपन्नम् । तदुक्तम्–

"विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्"[आप्तमी० श्लो० ३] इति ।

वस्तुतो विविक्त एव विकल्पस्तदाकारात , अविवेकस्तु विभ्रमादिति चेत् , विवेकस्य प्रतिपत्तौ कथं विभ्रमः ? निश्चयाभावादिति चेत् , न , प्रत्यक्षेऽपि तदापत्तेः । तथा च कथमेतत्– "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।" [प्र० वा० २।१२३] इति , तद्विभ्रमाक्रान्तात्तेन तत्स्वभावप्रसिद्धेरयोगात् । तत्र तथाकारस्यासन्निधानान्न विभ्रम इति चेत् , इतरत्र कुतस्तत्सन्निधानम् ? वासनात इति चेत् , न , तस्याः प्रत्यक्षसमयेऽपि भावात् । तस्या[3] अपि न प्रबोधः तद्धेतोरभावात् पश्चात्तु प्रत्यक्षादेव तत्कालापरापरविषयात् तत्प्रबोधे युक्तं तत्सन्निधानं तदविवेकविभ्रमश्च [4]विकल्प इति चेत् , कुतस्तर्हि प्रधानादिवासनाप्रबोधः तत्तद्विकल्पः । न चायं नास्त्येव , तदुत्तमुपलम्भात् । अदृष्टबलात्तु प्रत्यक्षेऽपि स्यात् । तत्र तद्विवेकप्रतिपत्तौ तद्विभ्रमः ।

सत्यमिदम् , न हि विकल्पस्यापि स्वतस्तद्विभ्रमः, विकल्पान्तरादेव तद्भावादिति चेत् , न [5]ततोऽपि , तदविषयात , तदयोगात् । तद्विषयत्वे च पूर्ववत्प्रसङ्गात् । तत्रापि [6]तदन्तरात्कल्पनायाम् अनवस्थापत्तेः ।

मा भूद्विकल्प एवेति चेत् , किमिदानीं कल्पनापोढग्रहणेन व्यावर्त्याभावात् ? किं वाऽभ्रान्तग्रहणेन मानसवदैन्द्रियस्यापि विभ्रमस्य तुल्यन्यायतयाऽनुपपत्तेः । ततः सति विभ्रमे तद्विवेकः तज्ज्ञानस्याऽप्रतिपन्न एव वक्तव्यः । न च तावता बोधरूपतयाऽपि तस्याऽप्रतिपत्तिरेव विभ्रमासिद्धिप्रसङ्गात् "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति" [ ] इति वचनात् । भवत्येवमिति चेत् , सिद्धा तर्हि क्षणभङ्गस्यापि प्रत्यक्षे तद्वदप्रतिपत्तिः । एतदेवाह–

तथाऽयं क्षणभङ्गो न ज्ञानांशः संप्रतीयते ।
अर्थाकारविवेको न विज्ञानांशो यथा क्वचित् ॥१२४॥ इति ।

तथा तेन प्रकारेण अयं परप्रसिद्धः क्षणभङ्गः न सम्प्रतीयते । कीदृशः ? ज्ञानांशः ज्ञानस्य प्रत्यक्षादेः अंशो भाग । क्व क इव ? इत्याह क्वचित् विकल्पादौ विभ्रमज्ञाने यथा येन तदनुभवाभावप्रकारेण अर्थाकारात् स्थूलादिलक्षणात् विवेको नानात्वं न सम्प्रतीयते । कीदृशः विज्ञानांश इति । तदंशत्वञ्च तस्मात् प्रतिपन्नात् अप्रतिपन्नस्येव कथञ्चि-दभेदात् ।

प्रत्यक्षे यदि क्षणभङ्गस्य न स्वतः प्रतिपत्तिः, मा भूत् अनुमानात्तु भवत्येव । तथा हि

१ वस्तुन्येव–आ०, ब०, प० । २ वासनाया । ३ न बोधः आ०, ब०, प० । ४ "इ..."– ता० टि० । तदभीप्सार्थः । ५ ततोऽप्यतद्वि–आ०, ब०, प० । ६ तदनन्तरा–आ०, ब०, प० । ७ तत्त्वसं० प० पृ० ४०१ । तुलना–तत्त्वसं० श्लो० २००१ ।

यदैव हेतुः तदैव फलं यथा प्रदीपकाल एव प्रकाशः, वर्तमानसमय एव च प्रत्यक्षहेतुश्चक्षुरादिव्यापारः ततः प्रत्यक्षमपि तदैव न पूर्वं नापि पश्चात् तदा तन्नियम एव च तस्य क्षणभङ्ग इति चेत्; कुतस्तत्सम[1]यनियमः तद्व्यापारस्य? प्रत्यक्षस्य तत्समयनियमादिति चेत्; न; परस्पराश्रयात्-पूर्वेणोत्तरस्य तेन च पूर्वस्य सिद्धेः। तद्विषयात्प्रत्यक्षादिति चेत्; ततोऽपि कस्मात्तस्य तन्नियम एवावगम्यते न पूर्वापरसमयव्यापित्वमपि? तस्यापि क्षणभङ्गादिति चेत्; न तस्यापि स्वतः प्रतिपत्तिः पूर्ववद्दोषात्। अनुमानादनन्तरोक्तादिति चेत्; न; तत्रापि 'कुतस्तत्समयनियमः' इत्यादेरुपस्थानादनवस्थितेश्च। तन्नातोऽनुमानात् तत्प्रतिपत्तिः। नापि वस्तुत्वादिलिङ्गोत्थात्; ततः परिणामस्यैव सिद्धेरिति निवेदनात्।

तन्न 'क्षणभङ्गात् प्रत्यक्षस्य ततः एकत्वस्यापरिज्ञानम्[2]'; तद्भङ्गस्यैवासिद्धेः। कथञ्चित्तद्विपर्ययस्य[3] तु प्रतीतेः भवत्येव ततस्तत्परिज्ञानमित्यनयैव कारिकया निवेदयति-**तथा अयं** लोकप्रसिद्धः **क्षणभङ्गोनः** कथञ्चिदक्षणिकात्मा **ज्ञानांशः** प्रत्यक्षादिज्ञानभागो द्रव्यापरनामा **सम्यग्** अकल्पितत्वेन **प्रतीयते**। कथं पुनरवग्रहादिपरापरपर्यायाणां भेदे सति तदात्मनः प्रत्यक्षस्य क्षणभङ्गोनत्वमिति चेत्? न; भेदवदभेदेनापि प्रतीतेः। प्रतीते[4] च पर्यनुयोगानुपपत्तेः। प्रतीतिरेव कुतस्तथेति चेत्? स्वत एव चित्रज्ञानवत्। अस्ति हि नीलपीतादिनानाकारव्यापिनो ज्ञानस्य स्वतः प्रतिपत्तिः। एतदेवाह- '**अर्थ**' इत्यादिना। अर्थान् नीलपीतादिस्वलक्षणपरमाणून् आकारयन्ति अनुकुर्वन्तीत्य**र्थाकाराणि**, तानि च तानि **विवेकोनानि** च अनेन तदेकत्वसाधनं परकीयमशक्यविवेचनत्वं सूचितम्। **अर्थाकारविवेकोनानि** च तानि **विज्ञानानि** च नीलाद्यवभासरूपाणि तेषाम् **अंशो** व्यापकभागः स **यथा** अनुभवगतत्वेन **क्वचित्** चित्रैकज्ञानवादिमते **सम्प्रतीयते** तथा प्रागुक्तोऽपि इत्येवं व्याख्यानार्थमेव चोभयत्रापि अंशग्रहणम्, [5]अन्यथैवमेव ब्रूयात्-

तथायं क्षणभङ्गोनविज्ञानस्य प्रतीयते।
अर्थाकारविवेकोनविज्ञानस्य यथा क्वचित् ॥११७॥ इति।

चित्रञ्च विज्ञानमवश्याभ्युपगमनीयमेव क्षणभङ्गैकान्तवादिनोऽपि इति, अन्यथा सर्वभावनिःस्वभावतापत्तेः। निरूपितञ्चैतत्- "चित्रमेकमनिच्छद्भिः" [पृ० २५६।] इत्यादौ। ततः प्रत्यक्षत एव निर्व्याकुलतया बहिरन्तश्च स्वगुणपर्यायतादात्म्यस्य प्रतिपत्तेः सूक्तमुक्तम्- '**स्वगुणैरेकं सहक्रमविवर्त्तिभिः**' इति।

एवं स्थिते परिणामस्य निर्व्याकुलत्वात् तमेव वस्तुलक्षणमागमाविरोधेन कथयन् तल्लक्षणं तत्त्वार्थसूत्रेण[6] दर्शयति-

तद्भावः परिणामः [स्यात्सविकल्पस्य लक्षणम्]। इति।

---

१ -मयस्तद्व्या- आ०, ब०, प०। २ इत्युक्तं घटते इत्यन्वय.। ३ -पर्ययस्तु प्रतीतेः आ०, ब०। ४ प्रतीतौ च आ०, ब०, प०। ५ अन्यथैवमेवं ब्रू- आ०, ब०, प०। ६ त० सू० ५।४१।

अतश्च समानश्रुतिकत्वेन एकोच्चारणगम्यमनेकं वाक्यमुन्नयति–'तैः स्वरूपादिभिः भवनम् आत्मलाभः तद्भावः स परिणामः' इत्येकम्। अनेन च पररूपादिना भवनं प्रत्याचक्षाणः साङ्ख्यमतं प्रत्याचष्टे। सर्वभेदरूपेण आत्मानं प्रतिलभमानस्य प्रधानस्य प्रतीतौ कथं तत्प्रत्याख्यानम्? अस्ति हि प्रधानस्य प्रतीतिरानुमानिकी। तथा हि– 'ये यदन्वितास्ते तद्धेतुका यथा मृदन्विताः शिवकादयो मृद्धेतुकाः, सुखाद्यन्विताश्च भेदा महदादयः', तस्मात्तद्धेतुकाः। यश्च सुखदुःखमोहात्मकत्वेनान्वयी तद्धेतुः तत्प्रधानमिति चेत्, न, सुखाद्यन्वयस्य भेदेष्वप्रतिभासनात्। न हि यथा शिवकादिषु मृदन्वयः तथा भेदेषु सुखाद्यन्वयः प्रतिभासते, अन्यथा प्रधानमेव प्रतिभासित भवेत् तदन्वयस्यैव तत्त्वात्। यथा च किं तत्रानुमानेन प्रत्यक्षप्रतिपन्ने तद्वैयर्थ्यात् मृदादिवत्, अन्यथा मृदादावपि तत्कल्पनायां निदर्शनान्तर तत्रापि तत्कल्पनायां तदन्तरमित्यनवस्थापत्तेः, सत्यम्, न तस्य भेदेषु अन्वितत्वेनैवानुमानं प्रतिपन्नत्वात्, अपि तु सर्गप्राग्भाविनो निर्भेदस्य। तस्य चातिसूक्ष्मत्वेनानुपलब्धेर्न वैयर्थ्यमनुमानस्येति चेत्, मा भूद्वैयर्थ्यम्, असम्भवस्तु स्यात् निदर्शनाभावात्। शिवकादिरेव निदर्शनमिति चेत्; भवत्येव निदर्शनं यदि तत्रापि मृद्रूपं नि दमेव कारणमिति प्रसिद्धम्। न चैवम्, तदप्रतिपत्तेः। न हि निर्भेदस्य सामान्यस्य प्रतिपत्तिः। भेदान्वितस्य तु प्रतिपत्तौ कथं निर्भेदत्वं प्रधानस्य? अन्यतः प्रतिपत्तौ तद्विपरीतस्यापि कल्पनमिति चेत्, किमिदं विपरीतत्वम्? अनाधारत्वमिति चेत्; न; तदकल्पनात्। अनियताधारत्वमिति चेत्, न तर्हि प्रधानस्यापि निर्भेदत्वम्, अनियतभेदत्वस्यैवोपप •। तत्र निर्भेदस्य प्रधानस्य हेतुरयं यस्य सर्गप्राग्भाविनः सूक्ष्मत्वेनानुपलम्भस्य महदादेस्तत्कार्यात् प्रतिपत्तिः। ततो न युक्तमुक्तम्–

"सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च॥" [सां० का० ८] इति।

भवतु सभेदमेव सर्वदा तदिति चेत्, न तर्हीदमुपपन्नम्– "प्रकृतेर्महान्" [सां०का० २२] इति, तद्भेदात् 'महान्' इत्युपपत्तेः। तद्भेदस्य सतोऽपि महदुत्पत्तावनन्वयात् प्रकृतेस्तु विपर्ययादेवं वचनमिति चेत्, न तर्हि महदादेरहङ्कारादिरपि तस्यापि भेदत्वेन तदुत्पत्तावनन्वयात्, इत्यसङ्गतमेतत् "महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" [सां० का० ३] इति। विकृतित्वस्यैव तत्र सम्भवात् प्रकृतित्वस्य। "मूलप्रकृतिः" [सां० का० ३] इत्यपि न चतुरम्, भेदानुगतायाः प्रकृतेरपि भेदान्तरकार्यत्वस्यावश्यम्भावात् मूलत्वस्य

---

१ "सुखदुःखमोहसमन्विता हि सुखादयोऽन्योन्यव्यापारलक्षणा प्रतीयन्ते। यानि च यद्रूपसमनुगतानि तानि तत्स्वभावाव्यक्तकारणकानि, यथा मृद्धेमपिण्डसमनुगता घटमुकुटादयो मृद्धेमपिण्डाव्यक्तकारणका इति कारणसमन्वयात् भेदानामिति नियम।"–सां० त० कौ० पृ० १०८। सां० का० अनुम० १५। २ प्रधानत्वात्। ३ भगवान्–आ०, ब०, प०। ४ –त्यामिनप्रति–आ०, ब०, प०। ५ यथा महानसे धूमादिरादि अग्निप्रतिपत्तावपि अनुमानान्निपरीतस्य नार्थ्यतार्थ्याभावे कल्पनं भवति तथैवेति भावः। ६ –भेदस्यैवोपपत्तेन नि–आ०, ब०, प०। ७ "प्रकृतिसरूपं विरूपञ्च"–सां० का०।

अविकृतिस्वस्यासम्भवात् । तन्न एकप्रधानहेतुकत्वं जगतः प्रातीतिकम्, तद्भेदस्य भिन्नोपादानतायामेव प्रतीतिभावादित्युपपन्नं स्वरूपादिभिरेव तस्य भवनम् ।

तथा, 'तस्यैकस्य भावः तद्भावः स परिणामः' इत्यन्यत्[1]; अनेनापि 'अवयवा एव नावयवी' इति प्रतिक्षिप्तम्; तेषामेव कथञ्चिदेकभावस्य अवयविनोऽपि प्रतीतेः । अन्यथा शून्यवादापत्तेर्निरूपितत्वात् । कथं पुनरनेकभावस्यापरित्यागे [2]तेषामेकभावः ? प्राच्याकारपरित्यागाजहद्वृत्तिकस्यैव उत्तराकारोपादानस्य परिणामस्योपगमात्[3] । तत्परित्यागे च कथं तस्य स्थवीयस्त्वम्[4] अनेकावयवसाधारणत्वाभावादिति ? कल्पयतोऽप्यवयविनं न परमाणुवादाद्विमुक्तिरिति चेत्; न; कथञ्चिदेव तस्य परित्यागात् । अनेकभावस्य हि अनेकभावापत्तियोग्यतयैव प्रत्येकदशाभाविन्या परित्यागः न पुनरेकभावापत्तियोग्यतया परस्परसमवायसमयभाविन्या । तथापि तत्परित्यागे तदेकभावस्यैवानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । ततः सत्यप्येकभावे कथञ्चिदनेकभावस्यापरित्यागान्न परमाणुवादापत्तिः । एवमपि अवयवस्य अवयवान्तरेणैकभावे पररूपेणापि भावः प्रतिपन्नो भवति, तथा च [5]नैः स्वरूपादिभिरेव भावः तद्भावः' इति व्याख्यानं व्याकुलीभूतं भवति । न चैवं दधिभक्षणे चोदितस्य करभेऽपि निवृत्तिः दध्नस्तेनाप्येकभावसम्भवादिति चेत्; न; तदेकभावस्य तत्तद्रूपतया[7] चित्रैकसंवेदनवन्नियमेन ततस्तस्य पररूपत्वाभावात् तथा प्रतीतेः । न चैवं दध्नोऽपि करभेणैकभावः प्रतीत्यभावात् । सम्भावनया तु तद्भावे अतिप्रसङ्गात् । दधिक्षणस्य उत्तरतत्क्षणेनेव करभक्षणेनापि एकसन्तानत्वापत्तौ भवन्मतेऽपि दधिखादने चोदितस्य करभेऽपि प्रवृत्तिप्राप्तेः । ततः प्रातीतिकमिदम्— 'तस्यैकस्य भावः तद्भावः' इति ।

तथा, 'तेन परस्परैकत्वेन द्रव्यपर्यायाणां भावः तद्भावः परिणामः' इत्यपरम्[8]; अनेनापि द्रव्यात् पर्यायाणां तेभ्यश्च तस्य आत्यन्तिकं भेदं प्रत्याचष्टे, कथञ्चिदभेदस्यापि प्रतिपत्तेः । मिथ्यैवेयम्[9]; भेदप्रतिपत्त्या बाध्यमानत्वादिति चेत्; कुतस्तत्प्रतिपत्तिः ? प्रत्यक्षादिति चेत्; न; अभेदप्रतिपत्तेरपि तत एव भावेन बाध्यत्वायोगात् । कथमुभयोरेकतो भावो विरोधादिति चेत् ? किमिदानीं भेदप्रतिपत्तिरेव ? तथा चेत्; [10]कस्याः [11]तया बाधनम् ? अभेदसंस्कारपरिपाकोपनीताया अभेदप्रतिपत्तेरेवेति चेत्; न तस्याः सहभावो ज्ञानोत्पत्तिर्यौगपद्यस्यानिष्टस्य प्रसङ्गात् । नाऽपि पश्चात्; प्रतिपत्तिभेदस्याप्रतिवेदनात् । अप्रतिवेदनं लघुवृत्तेरिति चेत्; न; प्रतिपत्त्योरपि [12]तदव्यतिरेकेण तत्प्रसङ्गात् । प्रतिविदितेतरात्मकत्वे तु तयोः; भेदाभेदात्मकत्वेन किमपराद्धं भवतो यत्तदेव द्रव्यपर्याययोर्न क्षम्यते ? तन्न इयमन्यैव अभेदप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षात्, प्रत्यक्षादेवैकस्मान् भेदवदभेदस्याऽपि प्रतिपत्तेः । एवमपि भेद एव तस्य[13]

1 वाक्यमित्यन्वयः । 2 अवयवानाम् । 3 "पूर्वाकारपरित्यागाजहद्वृत्तोत्तराकारान्वयप्रत्ययविषयस्योपादानत्वप्रतीतेः ।"—अष्टसह० पृ० ६५ । 4 नित्यत्वम् । 5 –भागस्यै–आ०, ब०, प० । 6 –रेणैव भावे आ०, ब०, प० । 7 तदतद्रूपतया ता० । 8 वाक्यमित्यन्वयः । 9 अभेदप्रतिपत्तिः । 10 तस्यास्तथा बा–आ०, ब०, प० । 11 भेदप्रतिपत्त्या । 12 लघुवृत्त्यभेदेन । 13 प्रत्यक्षस्य ।

प्रामाण्यम् नाभेदे, तस्यासत एव समवायोपनीतस्य तत्र प्रतिभासादिति चेत् , कथं तदेवं प्रमाणतदाभासत्वाभ्यां भिन्नम् ? अभिन्न तथैव दर्शनादिति चेत् , न , तद्दर्शनस्य तदभेदवत् द्रव्यपर्यायाभेदेऽपि तद्दर्शनस्य प्रामाण्योपनिपातात । अथ तस्याऽपि तत्र तन्मेऽप्यसे समवायोपनीतस्य असत एव तस्य तत्र प्रतिभासनादिति , तन्न , तत्राऽपि 'कथं तदेव' इत्यादेरनुपक्रमात् अनवस्थितेश्च ।

तस्माद् दूरं गतेनाऽपि प्रमाणेतरभागयोः ।
एकत्वं तात्त्विकं वाच्यमनवस्थानभीरुणा ॥११८॥
द्रव्यपर्यायतादात्म्यं निर्बाधज्ञानबोधितम् ।
तद्वदेवानुमन्तव्यं न्यायमार्गानुवर्तिना ॥११९॥
न च नास्त्येव तद्ज्ञानमास्ते शेते च माणवः ।
इत्यासनादभेदेन माणवस्यावबोधनात् ॥१२०॥
अपह्नवे तु तस्य स्याद् भेदज्ञानमपह्नवम् ।
निद्राधियं जगत्प्राप्य तदभेदान्यवर्जनात् ॥१२१॥
समवायादभेदश्चेत् असन्नेवावभासते ।
भेदः सर्वोऽप्यसन्नेव किन्नैकस्मात्प्रकाशताम् ? ॥१२२॥
पञ्चैव परं तत्त्वं न भवेत् सर्वशक्तिमत् ।
पर्यालोच्येदमेवोक्तं मण्डनेन मनीषिणा ॥१२३॥

"समवायसामर्थ्याच्चेत् भेदवतोरभेदावभासः, हन्तैकस्यैव वस्तुनः सामर्थ्यविशेषात् नानावभासोऽभ्युपेयताम् व्यर्था वस्तुभेदकल्पना" [ब्रह्मसि० पृ० ६१] इति । तन्न तत्राभेदप्रतीतिः असती मिथ्या वा, इत्युपपन्नमेतत्–'तेन अन्योन्यात्मकत्वेन भावस्तद्भावः परिणामः' इति ।

स किमित्याह–स्यात् स विकल्पस्य लक्षणम् इति । स परिणामो विकल्पस्य विविधं स्वभावानुरूपेण 'धीभिः कल्प्यत इति विकल्पः, चेतनेतरलक्षणो भावः तस्य लक्षणं स्वरूपं स्यात् भवेत् , प्रत्यक्षेण विषयस्य तथैव प्रतिपत्तेरिति भावः ।

तत्रैवानुमानमाह–

तदेव वस्तु साकारमनाकारमपोद्धृतम् ॥१२५॥ इति ।

वस्तु चेतनमन्यच्च धर्मि तदेव परिणामलक्षणमेव नैकान्ततः क्षणिकं कूटस्थं वा इत्येवकारः । कुतः इत्याह साकारम् इति । आ समन्तात् क्रियन्ते कार्याणि यैस्त आकाराः शक्तिपर्यायाः तैः सह वर्तत इति साकारं सशक्तिकं यत इति ।

१ प्रत्यक्षमेव । २ प्रत्यक्षभेददर्शनस्य । ३ द्रव्यपर्यायाभेददर्शनस्य । ४ प्रत्यक्षाभेददर्शनस्यापि ५ प्रसङ्गभेदे । ६ अभेदस्य । ७ भेदे एव तयोरभे–ता० । ८ तीर्थे आ०, ब०, प० । ९ –ण तद्विप– आ०, ब,० प० ।

सशक्तिकमपि क्षणिकमेव किन्न भवतीति चेत् ? उच्यते—ततो यदि स्वकाल एव कार्यं तत्कार्यमपि[1] तदैव[2] तदेवं[3] तत्कार्यमपि इति निरवकाशः[4] सन्तानः तन्निबन्धनो व्यवहारश्च । पश्चादिति चेत् ; कः पश्चादर्थः ? तद्विनाशश्चेत् ; सोऽपि यदि कार्यमेव; तदा 'कार्यं कार्यम्' इत्युक्तं भवेत् ; तच्चानुपपन्नम्; भेदाभावात् । भेदे तु[5] नाद्यं कार्यं तदन्यस्याभावात्, भावे स एव दोषः तद्यौगपद्यात्[6] सन्तानवादो निरवकाश इति । कार्यादन्य एव नाशश्चेत् ; न सोऽपि कारणसमसमयः पूर्ववद्दोषात् । पश्चादेवेति चेत् ; न; 'तत्राऽपि कः पश्चादर्थः' इत्याद्यनुगमादव्यवस्थितिदोषानुषङ्गात् । तन्न[7] नाशः पश्चादर्थः । दर्शननिवृत्तिस्तर्हि तदर्थः, कारणदर्शननिवृत्तौ कार्योदयादिति चेत् ; न ; अवृत्तदर्शनस्य अकारणत्वप्रसङ्गात् । न च सर्वं वृत्तदर्शनमेव संसारिणः; सर्वदर्शित्वापत्तेः । सर्वदर्शिनोऽपि न तत्र तन्निवृत्तिः तद्दशायामसर्वदर्शित्वापत्तेः । एतेन दर्शनविषयत्वमेव वर्तमानत्वमिति[8] प्रत्युक्तम् ; देशादिव्यवहितत्वेन[9] अवृत्तदर्शनस्य अवर्तमानत्वप्रसङ्गात् । योग्यपेक्षया च सर्वस्य वर्तमानत्वे कथमुपायोपेयभावेन तत्त्वदेशना ? सहभाविनां[10] तद्भावस्यानभ्युपगमात् । तन्न निवृत्तिरपि तदर्थः ।

नाऽपि कालविशेषः ; तस्यानिष्टेः ।

भवतु कार्यमेव तदर्थः ; न चोक्तो दोषः ; तदर्थस्य आधारत्वानवक्लृप्तेः[11], 'नीलादिनेव पश्चात्त्वेनाऽपि[12] स्वरूपेण भवति कार्यम्'[13] इत्येवावकल्पनात्, कालविशेषस्याप्येवमेव पश्चात्त्वोपपत्तेः, तदन्तरापेक्षया[14] तत्त्वावक्लृप्तौ अनवस्थानस्याप्यवकल्पनादिति चेत् ; कुतस्तस्य तत्त्वप्रतिपत्तिः ? प्रत्यक्षादिति चेत् ; न ; ततः कारणस्याप्रतिपत्तौ 'अत इदं पश्चात्' इत्यप्रतिपत्तेः । न च ततः[15] कार्यसहचरात् कारणस्य तत्सहचराद्वा कार्यस्य प्रतिपत्तिः असन्निधानात् । असन्निहितविषयत्वे च अतिप्रसङ्गात् । उभयसहचरत्वे च क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् । तन्न प्रत्यक्षात्[16] तत्प्रतिपत्तिः । तज्जन्मनो विकल्पादिति चेत् ; न ; तस्यावस्तुविषयत्वेनाऽप्रमाणत्वात् । न चाप्रमाणिकैव तत्त्वप्रतिपत्तिः[17] ; प्रमाणव्युत्पादनप्रयासवैफल्योपनिपातात् । तन्न कश्चिदपि पश्चादर्थो निश्चयविषयः ।

भवतु वा, तथाऽपि कुतस्तदा कार्यम् ? कारणसामर्थ्याच्चेत् ; न ; तदभावात् । प्राच्यादेवेति चेत्[18] ; अक्षणिकादपि ततस्तथा किन्न कार्यं यतः सत्त्वं ततो व्यावर्तेत ? कार्यकालेऽपि तस्य भावादिति चेत् ; भवतु, न विरोधः । न हि कारणभावेन कार्यविरोधः, तदभावेनैव विरोधस्य सम्भवात्, अन्यथा मृतादपि शिखिनः केकायितं स्यात् । कथं

१ कार्यकार्यमपि । २ कारणकारणकाले । ३ कार्यकार्यस्य कार्यमपि । ४ सकलोत्तरोत्तरक्षणानामेकस्मिन्नेव क्षणे निपतनात् द्वितीये च निरन्वयविनाशात् समाप्तः सन्तानव्यवहार इति भाव. । ५ तु साध्यं का—आ०, ब०, प० । ६ तन्नाशः आ०, ब०, प० । ७ दर्शननिवृत्तिः । ८ "दृष्टताऽतीतकालत्वं दृश्यता वर्तमानता । भाविता द्रक्ष्यमाणत्वमिति कालव्यवस्थितिः॥"—प्र०वार्तिकाल० १।१२७ । ९ दशादि—आ०, ब०, प० । १० उपायोपेयभावस्य । ११ —वक्लृप्ति. आ०,ब०,प० । १२ पश्चात्तेनापि आ०,ब०,प० । १३ कार्यमेवेत्येवा— आ०,ब०,प० । १४ तदनन्तर—आ०, ब०, प० । १५ प्रत्यक्षात् । १६ —ज्ञात्प्रति— आ०, ब०, प० । १७ तत्प्रति— आ०, ब०, प० । १८ चेदाक्षणिकादापि आ०, ब०, प० ।

पुनः नित्यादेकस्वभावात् कालभिन्नमनेकं कार्यम् ? तत्स्वभावभेदादेव तदुपपत्तेः, तदभ्युपगमे च कथं तदेकम् ? तदनर्थान्तरत्वेन तत्रापि भेदस्यैवोपपत्तेरिति चेत्, कथमिदानीं प्रदीपादेरपि क्षणिकादेकस्वभावादेव देशभिन्नस्य कार्यस्य कज्जलादेरुत्पत्तिः ? स्वभावभेदावक्लृप्तौ निरंशत्वादभ्यापत्तेः। 'एकोऽपि स्वभावस्तस्य तादृश एव यतो नानादेशमनेकं कार्यम्' इति प्रतिवचनं न नित्यपक्षेऽपि वैमुख्यमुद्वहति, नित्यादप्येकस्वभावादेव कालभिन्नस्य कार्यस्योत्पत्तेः, न देशदेशेन भेदः क्षणिकवत्। तदुक्तम्–

"प्राक् शक्तावस्वरात्[1] कार्यं पश्चात् किंभाविनश्वरात्।
कार्योत्पत्तिर्विरुध्येत न वै कारणसत्तया॥
यद्यदा कार्यमुत्पित्सु तत्तदोत्पादनात्मकम्।
कारणं कार्यभेदेऽपि न भिन्नं क्षणिकं यथा॥" [सिद्धिवि०परि० ३] इति।

तन्न क्षणिकात् कार्यम्।

नाप्यक्षणिकात्, यतो यथैकस्वभावादेव देशादिभिन्नं कार्यम्, क्षणिकादपि किन्न स्यात्? तस्यैव कार्यकालप्राप्त्यभावात् तत्प्राप्तस्यैव कारणत्वादिति चेत्, अनुत्पन्नस्य कार्यस्य कः कालो यस्य प्राप्तिः ? उत्पन्नस्येति चेत्, न परस्पराश्रयात्–तत्प्राप्तात् उत्पत्तिः, उत्पन्नस्य च कालभावात् तत्प्राप्तिरिति। तत्प्राप्त्या च कारणत्वे अतिप्रसङ्गः–सर्वस्य नित्यस्य एकत्र कार्ये तत्त्वापत्तेः। प्राप्तमपि तत्र यदेव समर्थं तदेव कारणं न सर्वमिति चेत्, पर्याप्तं प्राप्त्या, तद्विकलस्यापि सति सामर्थ्ये तद्भावाविरोधात्। प्राप्त्यभावे तदेव कथमवगम्यत इति चेत् ? न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदवगमात्। तावपि प्राप्तिभावाभावावेवेति चेत्, कुत एतत् ? तथा प्रतीतेरिति चेत्, क प्रतीतिः ? नित्य एवेति चेत्, न, क्षणिकवन्निरंशस्य तस्याप्रतिपत्तेः। तन्न एकस्वभावं तत्कारणम्। स्वभावभेदस्य तु तदनर्थान्तरस्यावक्लृप्तौ तन्निरंशतावस्य व्याघातः, अर्थान्तरस्य तु सहकारिसन्निधिरूपस्यावकल्पनं प्रागेव निवारितम्। तन्न नित्यादपि कार्यं क्षणिकवत्। 'प्राक् शक्तात्' इत्यादिकन्तु देवैः साम्यापादनबुद्ध्यैवाभिहितं न वस्तुतः तत्कारणत्वनिवेदनबुद्ध्या। कथमन्यथा "मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः" [लघी०श्लो० ४१] इति तद्वचनं न विरुध्येत ? ततः क्षणिकादिलक्षणात् विपक्षात् बाधकप्रमाणबलेन व्यावर्तितस्य साकारत्वस्य निश्चितान्यथानुपपत्तिकत्वेन गमकत्वोपपत्तेः अविरुद्धम् ततो वस्तुनः परिणामलक्षणत्वसाधनमिति" सूक्तमेतत्–'तदेव वस्तु साकारम्' इति।

नन्वेवं वस्तुवत् तद्धर्माणामपि शक्तिमत्त्वेन तल्लक्षणत्वे क्रमाक्रमाभ्यामनेकान्तात्मकत्वम्, पुनस्तद्धर्माणामपि तथा तत्त्वमिति एकवस्तुधर्मैरेव सकलस्यापि जगतोऽभिव्याप्तत्वात्

१ क्षणिकादित्थ– आ०, ब०, प०। २ कार्यभेदेन नित्यस्य स्वभावभेदः। ३ नश्वरं वा– आ०, ब०, प०। ४ तत्त्वैतत्य– आ०, ब०, प०। ५ क्षणिकस्य। ६ कार्यदेशतत्प्राप्त्या। ७ कारणत्वापत्तेः। ८ सामर्थ्यमेव। ९ अन्वयव्यतिरेकावपि। १० अकलङ्कदेवैः। ११–धनत्वमिति आ०,ब०,प०। १२ क्रमाक्रमाभ्यामनेकान्तात्मकत्वम्।

वस्त्वन्तरतद्धर्माणामवकाशः स्यादिति चेत् ; आह– **अनाकारमपोद्धृतम्** इति । न विद्यते आकारोऽनेकान्तरूपस्वभावो यस्य तत्–**अनाकारं** वस्त्विति सम्बन्धः । कीदृशं तथा ? **अपोद्धृतं** द्रव्यरूपतया पर्यायेभ्यः तद्रूपतया द्रव्यात् परस्परतश्च नयबुद्ध्या पृथक्कृतम् , अपृथक्कृतस्यैव अनेकान्तात्मत्वोपगमादिति भावः । यद्येवं व्यभिचारी हेतुः साकारत्वादिति, तेषां शक्तिमत्त्वेऽपि परिणामलक्षणत्वाभावादिति चेत् ; न ; तेषां पृथक्शक्तिमत्त्वाभावात् । न चैवमवस्तुत्वमेव नयबुद्ध्याऽपि वस्तुतादात्म्यस्याप्रतिक्षेपात् दुर्नयत्वानुपङ्गात् । ततो नयार्पणया एकान्तात्मकत्वं प्रमाणार्पणया त्वनेकान्तात्मकत्वं वस्तुन इति व्यवस्थितम् ।

यत्पुनरिदम् अनेकान्तनिराकरणाय व्यासस्य सूत्रम्–"नैकस्मिन्नसम्भवात्" [ब्रह्मसू० २।२।३३] इति । अस्यार्थः–नानेकान्तवादो युक्तः । कुत एतत् ? एकस्मिन् धर्मिणि सदसत्त्वनित्यानित्यत्वनानैकत्वादीनां विरुद्धधर्माणामसम्भवादिति, तत्राह–

भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात् । इति ।

परिणामलक्षणमेव वस्तु । कुतः ? **भेदानां** सदसत्त्वादीनाम् । कीदृशानाम् ? **बहुभेदानाम्** अनेकप्रकाराणां **तत्र** तस्मिन् परप्रसिद्धे **एकत्रापि** "एकमेवाद्वितीयम्" [छान्दो० ६।२।१] इत्याम्नातेऽपि न केवलं स्याद्वादिप्रसिद्धे जीवादावेव इत्यपिशब्दः **सम्भवात्** । तथा हि–

व्यावृत्तं चेन्न तद्ब्रह्म प्रपञ्चादवकल्प्यते ।
तस्याप्यवस्तुरूपत्वं तद्वदेव प्रसज्यते ॥ ११२४ ॥
तस्मादिव स्वरूपाच्च तच्चेद् व्यावृत्तमुच्यते ।
नैरात्म्यवादनिर्मुक्तिः कथं ते ब्रह्मवादिनः ? ॥ ११२५ ॥
स्वरूपादनिवृत्तं तत् व्यावृत्तं चेत् प्रपञ्चतः ।
सदसद्धर्मभेदोऽयं कथं तत्रे न सम्भवी ? ॥ ११२६ ॥
प्रपञ्चात्तद्विवेकश्चेत् कुतश्चिदवगम्यते ।
प्रपञ्चाधिगमस्तत्र न भवत्येव सर्वथा ॥ ११२७ ॥
तद्विवेकवदन्यच्च तद्रूपञ्चेन्न वेद्यते ।
सर्वथा तदनिर्भासं न प्रधानाद्विभिद्यते ॥ ११२८ ॥
सत्यज्ञानात्मना वित्तिः तस्य नो चेद्विवेकतः ।
विदिताविदितात्माऽयं तत्र भेदोऽस्तु सम्भवी ॥ ११२९ ॥
अमृतत्वञ्च नित्यञ्चेन तस्य ब्रह्मविवेकतः ।
मुमुक्षूणां प्रयासस्य किमन्यत्फलमुच्यताम् ॥ ११३० ॥

१–सत्त्वे परि– आ०, ब०, प० । २– द्वाद एवे– आ०, ब०, प० । ३ प्रपञ्चवदेवा ४ ब्रह्मणि ।

संसारस्य निवृत्तिश्चेत् मुक्तौ संसारिता कथम् ? ।
विभ्रमाच्चेत् स एवायं सत्यां मुक्तौ कथं भवेत् ? ॥११३१॥
कथञ्चिदेव तन्नित्यममृतत्वं यदीष्यते ।
नित्यानित्यस्वभावोऽयं भेदो ब्रह्मणि सम्भवेत् ॥११३२॥
एवं वस्तुप्रभेदस्य तन्निर्भेदस्य सम्भवे ।
परिणामस्वरूपत्वं तस्य केन निवार्यते ॥११३३॥
तदनेकान्तविद्वेषे न ब्रह्म व्यवतिष्ठते ।
तस्माद्ब्रह्मविलोपीदं सूत्रं व्यासोपवर्णितम् ॥११३४॥

यत्पुनः सर्वमनेकान्तात्मकमेव इति निर्धारणे भाष्यकारस्य दूषणम्–"नैतिमम्[1], निरङ्कुशं ह्यनेकान्तं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात् स्यादस्ति स्यान्नास्ति इत्यादि विकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात् ।" [ब्रह्म०शां० २।२।३३] इति, तदपि भवत्येव यदि धर्मिण्येव तस्य निर्धारणवदनिर्धारणमपि । न चैवम्, तत्र निर्धारणस्यैव भावात्, अनिर्धारणं तु धर्मापेक्षया तद्भावात्[2], धर्माणाञ्च तत्कल्पितानां ब्रह्मण्यपि निवेदनात् ।

यच्च तस्येदमपरम् – "एवं सति कथं प्रमाणभूतः सन् तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिषु अनिर्धारितासु उपदेष्टुं शक्नुयात् ?" [ब्रह्म० शां० २।२।३३] इति, तदपि न सुन्दरम्, स्वरूपादिना प्रमाणादीनां सत्त्वेन निर्धारणात्, तथा तदनिर्धारणं तु पररूपादिना तद्भावात्[3] । एवमन्यदपि तस्य दुर्विलसितमपासितव्यम् । ततो यदुक्तम्– "अनिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन् मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात्" [ब्रह्म० शां० २।२।३३] इति, तत्र कथमनिर्धारितार्थं शास्त्रम् ? प्रकारान्तरेण चेत्, न, तस्याभावात् । तत्प्रकारेण चेत्, कथं तत्प्रणयतो मत्तादिसादृश्यम् ? प्रमाणोपपन्नवस्तुवादिनः तदनुपपत्तेः, अन्यथा वेदोऽपि मत्तादिवदनुपादेयवचनः स्यात्, तेनापि सदसदादिस्वभावं ब्रह्मोपदिशता 'सदेव तत् असदेव वा' इत्यनिर्धारितस्यैव तस्य प्रणयनात् । अथ ब्रह्मणि परमार्थसति न प्रपञ्चो नाम कश्चिदस्ति यद्विवेकस्य तत्र रूपान्तरत्वात् सदेव इत्यनिर्धारितं[4] तद्रूपेणेति चेत्, न तर्हीदानीमनेकान्तदोषोऽपि, तस्यापि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन तद्भावे सम्भवाभावादित्यलमतिनिर्बन्धेन ।

---

१ ब्रह्म आ०, ब०, प० । २ धर्मिणि । ३ निर्धारणाभावात् । ४ निर्धारणधर्माणाम् । ५ तन्मया । ६ सता- त्मकत्वम् । ७ "सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् ।"–तै० उ० २ । ६ । "सच्च मूर्तं त्यच्चामूर्तमभवत् निरुक्तं नाम निष्कृष्य समानासमान- जातीयेभ्यो देशकालविशिष्टतयेदं तदित्युक्तमनिरुक्तं तद्विपरीतं निलयनं नीडमाश्रयो अनिलयनं तद्विपरीतं विज्ञानं चेतनमविज्ञानं तद्रहितमचेतनं पाषाणादि सत्यं अनृतं च तद्विपरीतम् ।"–तै० उ० शां० भा० २ । ६ । "सदसच्चाहमर्जुन"–भ० गी० ९ । १९ । ८ त्यनन्तर्गतत्वात् आ०, ब० । ९ –तं त तद्रू– आ०, ब०, प० ।

स्यान्मतम्[1]–सति सामान्ये सम्भवत्येकत्र भेदः तस्यैव एकार्थत्वात् । न च तदस्ति; व्यक्तिभ्योऽर्थान्तरत्वेन अप्रतिपत्तेः । न च ता एव सामान्यम् ; अनन्वितत्वात् । कथञ्चिदन्वयकल्पनायाम्; अनवस्था[2]पनिपातात् । तद[3]भावे कथं धर्मिधर्मादिव्यवस्था ? सामान्यरूप एव हि शब्दो धर्मी तस्य साध्यसाधनधर्मसाधारणत्वात् । धर्मोऽपि साध्यमनित्यत्वं तद्रूपमेव, तस्य पक्षसपक्षसाधारणत्वात् । अन्यथा तदंशव्याप्तेरभावप्रसङ्गात् । हेतुधर्मोऽपि कृतकत्वादिः [4]तत्साधारण एव, अन्यथा[5] अनैकान्तिकत्वप्रसङ्गात्; इत्यपि न मन्तव्यम्; व्यावृत्तिभेदतस्तदुपपत्तेः । अशब्दव्यावृत्तिः शब्दो धर्मी, धर्मश्च अकृतकत्वा[6]दिव्यावृत्तिः कृतकत्वादिरिति पर्याप्तमेतावता किं तदर्थेन[7] वस्तुभूतसामान्यपरिकल्पनेन ? परिकल्पितेऽपि तस्मिन् तद्भेदस्य अवश्याभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथा भेदव्यवहारप्रच्युतेः । सामानाधिकरण्यादिव्यवहारस्यापि तत एवोपपत्तेः । तद्भेदस्य[8] वस्तुसत्त्वेऽन्वितत्वे च सामान्यस्यैव शब्दान्तरमिदमित्यपि न मन्तव्यम्; कल्पनयैव तस्य तद्रूपत्वात् न वस्तुतः । कल्पनैव[9] हीयम् अवस्तुसन्तमपि वस्तुसन्तमिव अनन्वितमप्यन्वितमिव अभिन्नमपि भिन्नमिव स्ववासनाप्रकृतेरुपदर्शयन्ती धर्मिधर्मभावादिसामान्यप्रयोजनमुपकल्पयति । तदुक्तम्—

"संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः ।
रूपमेकमनेकञ्च तेषु बुद्धेरुपप्लवः ॥" [प्र०वा० ३।८६] इति ।

[10]तन्नैकत्र भेदसम्भवः तस्यैवैकस्याभावादिति, तत्राह–

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ॥१२६॥
ततः सर्वा व्यवस्थेति नृत्येत्काको मयूरवत् । इति ।

अन्वयः अनुगमः खण्डादिषु गौरिति तन्तुषु अयं पट इति रुचकादौ तदेवेदं सुवर्णमिति रूपः, सोऽ**न्यस्य** कर्कादेः वीरणादेः मृदादेश्च **व्यवच्छेद** एव नापरः । तथा सर्वस्मात् सजातीयात् विजातीयाच्च व्यतिरिच्यते भिद्यते इति **व्यतिरेकः** स एव **स्वलक्षणम्** न पूर्वोक्तम् । **ततः** तस्मादन्वयात् स्वलक्षणाच्च **सर्वा** निरवशेषा **व्यवस्था** स्वाभिमतवस्तुव्यवस्थितिः **इति** एवं **नृत्येत्** [11]नृत्तं कुर्यात् काक इव **काकः** सौगतः तद्व्यवस्थात्मनि नृत्यक्रियायामुपायात्मनः पिच्छभारस्याभावात् मयूर इव **मयूरो** जैनः तत्र तस्य [12]तद्भारस्य निवेदनात् स इव तद्वदिति । सौगतस्यापि उक्त एव तत्रोपायः अन्वयः स्वलक्षणञ्च तत्कथमेतदिति चेत् ? न तावत् स्वलक्षणं तत्रोपायः; तस्य–

१ बौद्धस्य । २ "सौगत एव परेणापाद्यमानं दूषणमनुवदति"–ता० टि० । ३ सामान्याभावे । ४ सपक्षसाधारण एव । ५ "पक्षमात्रे कृतकत्वास्याङ्गीकारप्रकारेण असाधारणानैकान्तिकत्वम्"–ता० टि० । ६– त्वाव्यावृत्तेः कृ– आ०, ब०, प० । ७ "अनित्यः शब्द इति"–ता० टि० । ८ अतद्भेदस्य । ९– नैव ह्यवस्तु आ०,ब०,प० । द्रष्टव्यम्– प्र०वा०स्ववृ० ३।७८९३ । १० "भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगत ।" –प्र० वा० ३।८९ । ११ नृत्यं कु– आ०, ब०, प० । १२ तद्भावस्य आ०, ब०, प० ।

व्यतिरेकैकरूपं तेषामन्यस्माद् विविच्यते ।
तथा स्वतोऽपि नीरूपं वस्तुपाय कथितकथम् ? ॥११३५॥
अन्यस्मादेव तेस्यास्ति विवेको न स्वतो यदि ।
कथं तयैकरूपत्वमविवेकविवेकयोः ॥११३६॥
अविवेकविवेकाभ्यां तदभेदस्य सम्भवे ।
तदेव वस्तु सामान्यं तत्कथं तन्निषिध्यताम् ॥११३७॥
न च तत्कस्यचिद्रूपं स्वालक्षण्यविरोधतः[1] ।
अस्पृष्टं कल्पनाभिर्यल्लक्ष्यतेऽन्यैः स्वलक्षणम् ॥११३८॥
वस्तुसामान्यसंसिद्धेः[2] तद्दोषेणेह[3] भिद्यता ।
स्वरूपतोऽपि व्यावृत्तमेकान्तेन तदिष्यताम् ॥११३९॥
स्वलक्षणे चासत्येवमन्यव्यावृत्तय क्व ताः ।
न हि व्यावृत्तकाभावे सन्ति तास्तदुपाश्रयाः ॥११३०॥
तदभावे कथन्नाम कल्प्यन्तां तन्निबन्धनाः[4] ।
जातयो बहुधा भिन्ना यतः सूक्तमिदं यथा ॥११४१॥
"ततो यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥" [प्र०वा० ३।४०] इति ।
जात्यभावे कथञ्च स्यात् धर्मिधर्मादिसम्भवः[5] ।
अनुमानव्यवस्था ते यत्तत्तेनावकल्प्यताम् ॥११४२॥

सत्यपि स्वलक्षणस्य व्यावृत्तिभेदे कथं तन्निबन्धनस्य सामान्याकारस्य विकल्पात्मपि प्रतिपत्तिः ? कथञ्च न स्यात् ? तस्यावस्तुत्वेन सर्वकारणत्वात्[6] । अकारणस्यापि स्वहेतुजनितात् शक्तिविशेषात् प्रतिपत्तौ कैमर्थक्याद् वस्तुन्यपि स्वज्ञानं प्रति कारणत्वपरिकल्पनम्, तस्यापि ततः शक्तिविशेषादेव तादृशात् प्रतिपत्तिसम्भवात् ? सर्वस्यापि वस्तुनः तत एव प्रतिपत्तिः स्यात् कारणत्वाविशेषादिति चेत्, अवस्तुनोऽपि स्यात्, तथा च शब्दविकल्पेनैव [7]शब्दस्य सत्त्वकृतकत्वादिकमपि प्रतीयता निरवशेषजातिविशेषाधिष्ठानतया शब्दधर्मिणः [8]प्रतिपत्तेः हेतुसाध्यविकल्पानां कथन्न कैमर्थक्यम्[9] ? यत इदं सुभाषितम्—

"ततो यो येन धर्मेण विशेषः सम्प्रतीयते ।
न स शक्यस्ततोऽन्येन तेन भिन्ना व्यवस्थिति ॥" [प्र०वा० ३।४१] इति ।

शक्तिनियमादकारणस्यापि तस्य नियतस्यैव प्रतिपत्तिः न सर्वस्येत्यपि समाधान न वस्तुप्रति

---

१ स्वलक्षणम् । २ स्वलक्षणस्य । ३ तद्दोषेनेह जा०, ब०, प० । ४ व्यावृत्त इव व्यावृत्तक । ५ कथं साधु सम्मता सति– जा०, ब०, प० । ६ निकल्पमानाऽकारणत्वात् । ७ शब्दसत् जा०, ब०, प० । ८– पत्तिहेतुसा– जा०, ब०, प० । ९ कैमर्थ्यमिति प्रश्नः ।

लक्षणे च प्रमाणमिति चेत् ; न; तत्रापि सम्भवक्रमाभ्यां वस्तुभूतानेकधर्माधिष्ठानस्यैव भावस्य प्रत्यवभासनात् न निरंशक्षणिकपरमाणुरूपस्य नाप्यवस्तुसामान्यात्मनः ।

भवत्वेवम्, तथापि तदेव तत्र प्रमाणमिति चेत्; आह—'**प्रामाण्यं नागृहीतेऽर्थे**' इति। प्रमाणभावः **प्रामाण्यम्** अविसंवादित्वम्, अन्यद्वा प्रत्यक्षादेः **न** सम्भवति । कस्मिन् ? **अर्थे** स्वलक्षणादौ । कथम्भूते ? **अगृहीते** अप्रतिपन्ने । असम्बन्धेन प्रामाण्यस्य अत्रैव निराकरणादिति भावः । ततः किम् ? इत्याह–'**प्रत्यक्ष**' इत्यादि । व्याख्यानमत्र पूर्ववत् ।

भवेदपि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं तत्रार्थप्रतिभासात्, नानुमानस्य तत्रावस्तुविषयत्वेन तदभावात् । तत्रापि खण्डादयोऽर्था एव अतत्कार्येकारिकर्कादिव्यावृत्तिविशिष्टाः प्रतिभासन्ते, त एव च तेषां सामान्यं नापरमेकं गोत्वादि तद्व्यवहारस्य तादृगर्थगोचरैरेव ज्ञानाभिधानैः प्रवर्तमानत्वेन मिथ्यार्थत्वात् । तदुक्तम्–

> "[3]अर्थज्ञाने निविष्टास्ते (अर्था ज्ञाननिविष्टास्ते) यतो व्यावृत्तिरूपिणः ।
> तेनाभिन्ना इवाभान्ति व्यावृत्ताः पुनरन्यतः ॥
> त एव तेषां सामान्यं समानाकारगोचरैः ।
> ज्ञानाभिधानैर्मिथ्यार्थो व्यवहारः प्रतायते ॥" [प्र० वा० ३। ७७-७८]

इति चेत् ; कथं पुनर्भेदस्य तत्स्वभावस्यापरामर्शे तेषां प्रतिभासनम् ? 'त एव प्रतिभासन्ते न प्रतिभासन्ते च' इति व्याघातात् । भेदरूपेणैवाप्रतिभासनं न रूपान्तरेणेति चेत् ; न ; निरंशवस्तुवादिनामेकत्र रूपभेदाभावात् । कल्पनया तद्भेदे कल्पितमेव रूपान्तरं तत्प्रतिभासिसामान्यं नार्थस्वरूपम्, इत्ययुक्तमुक्तम्–'**त एव तेषां सामान्यम्**' इति । कथञ्चैवं "**पररूपं स्वरूपेण**" [प्र०वा० ३।७०] इत्यादिना संवृतिस्वरूपमेव सामान्यम् भावनानात्वप्रच्छादनमिति पूर्वं प्रतिपाद्य इदानीमन्यथावचनमुपपन्नं विस्मरणशीलतापत्तेः ? तन्न ततोऽर्थप्रतिभासनम् , अप्रतिभासिते च न तस्य प्रामाण्यम् । तदाह–'**प्रामाण्यम् नागृहीतेऽर्थे**' इति । यदि स्यात् ; नित्यत्वाद्यनुमानस्यापि किन्न स्यात् ? तस्य तत्र प्रतिबन्धस्याप्यभावादिति चेत् ; क्षणक्षयाद्यनुमानस्य कुतस्तत्र प्रतिबन्धः ? प्रत्यक्षादिति चेत् ; न ; परकल्पितस्य तस्यैवाप्रतिपत्तेः । प्रतिपत्तावपि ततो नार्थवत् तत्कार्यस्यानुमानस्य परिज्ञानम् ; स्वयं तदाकारत्वेन सविकल्पकापत्तेः । न च उभयोरपरिज्ञाने तत्सम्बन्धस्य परिज्ञानम्, "**द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्**" [प्र० वार्तिकाल०१।१] इति स्वयमेवाभिधानात् । विकल्पादपि न तत एव तस्य प्रतिपत्तिः ; तेन स्वग्रहणेऽपि अर्थस्याग्रहणात् । विकल्पान्तरेणापि स्वांशमात्रपर्यवसायित्वेन तद्व्यतिरिक्तस्य तस्याग्रहणात् । न च तद्[10] अनुमानादन्यदेव; तृतीयस्यापि

---

१ "विषयविषयिभावसम्बन्धाभावेन" –ता०टि० । २ "न हीतरप्रतिपन्नयोस्तयोस्तद्विषयत्वमित्यादिना"– ता० टि० । ३ "अर्था ज्ञाननिविष्टास्ते यतो व्यावृत्तरूपकाः"–प्र० वा० । ४ "अनुमानात्"–ता०टि० । ५ नित्यत्वाद्यनुमानस्य । ६ नित्यत्वादौ । ७ क्षणक्षयादौ । ८ क्षणक्षयाद्यनुमानत एव । ९ प्रतिबन्धस्य । १० विकल्पान्तरम् ।

प्रमाणस्य प्रसङ्गात्। अनुमानमेव अर्थक्रियाप्राप्तिलिङ्गजमिति चेत्, न, तस्यापि तत्रागृहीते प्रतिबन्धात् प्रामाण्ये 'कुतस्तत्र प्रतिबन्धः' इत्यनुपङ्गात् अनवस्थापत्तेश्च।

तदनेन [1]मणिप्रभामणिज्ञानस्यापि मणौ प्रतिबन्धश्चिन्तयितव्यः। तत इदमपि निर्विषयमेव परस्य भाषितम्–

"लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि।
प्रतिबन्धात्तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम्॥" [प्र० वा० २।८२] इति।

कीदृशो वा सोऽर्थो यत्र तस्य प्रतिबन्धः, यतोऽप्यर्थक्रियावाप्तिः? एकान्तनिरंशक्षणिकपरमाणुलक्षण इति चेत्, न, तादृशस्य मणेरप्यप्रतिपत्तेः। तत इदमशक्योपपादनमेव–

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥
यथा तथा[ऽ]यथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्॥" [प्र०वा० २।५७ ५८]इति।

दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च परकल्पितस्यार्थस्याभावे तदर्थक्रियाया यथासम्भवात् 'विशेषोऽर्थक्रियां प्रति' इति, 'अर्थक्रियानुरोधेन' इति च वक्तुमशक्यत्वात्।

नन्वेवंविचारे नानुमानं न च तदभ्यासज प्रत्यक्षमिति सकलव्यवहारविलोपः, ततो व्यवहारं परिपालयता तत्प्रामाण्यमकृतविचारमेवाभ्युपगन्तव्यमिति चेत्, न, नित्यत्वाद्यनुमानस्यापि तथा तदभ्युपगमप्रसङ्गात् व्यवहारस्य प्रायशः तद्विषयत्वेवोपपत्तेः। तदाह– '**प्रत्यक्षेतरगोचरौ**' प्रत्यक्षादितरदनुमानं तस्य गोचरौ विषयौ **कथं न प्रकल्प्येते**? प्रकल्प्येते एव, कथमित्यस्य प्रक्रान्तेन तथा सम्बन्धात्। कौ? **तद्गोचरौ कथं न प्रकल्प्येते भेदाभेदौ**। भेदश्च, उपलक्षणमिदं नित्यत्वादेः, अभेदश्च, इदमप्युपलक्षणं व्यापित्वादेः, तौ इति। अभेदस्यैव तद्गोचरत्वप्रकल्पना वक्तव्या न भेदस्य तत्र सौगतस्यापि (व्यावि-) प्रतिपत्तेरिति चेत्, न, दृष्टान्तार्थत्वात् तद्वचनस्य। यथा भेदस्याकृतविचारमेव तद्गोचरत्वं तद्वदभेदस्यापि वक्तव्यमिति। कैः पुनस्तौ तथा कथम प्रकल्प्येते? इत्याह– **आत्मविकल्पकैः**। आत्मानं कूटस्थनित्यमीश्वरादिकं ये विशेषेण कल्पयन्ति नैयायिकादयः तैरिति। ततो नित्यत्वाद्यनुमानभ्युदासेन क्षणिकत्वाद्यनुमानस्यैव प्रामाण्यं व्यवस्थापयता वस्तुग्राहित्वं तस्याभ्युपगन्तव्यम्। तथा च सिद्धं तद्वदेव सम्भवत्क्रमानेकधर्माधिष्ठानभावविकल्पस्यापि वस्तुविषयत्वं निर्बाधत्वात्, अन्यथाऽर्थवेदिनि संवेदनस्यैवाप्रतिपत्तेरिति स्थितं सामान्यविशेषात्मकत्वं प्रत्यक्षविषयस्य।

साम्प्रतमुक्तमेवार्थमनुग्रहपरत्वात् शिष्याणामनुस्मरणाय श्लोकानां विंशत्या

---

[1] –भिन्नमिति आ०, ब०, प०। २ –भासमेव –ता०।

सङ्गृह्य कथयन्नाह–

उत्पादविगमध्रौव्यद्रव्यपर्यायसङ्ग्रहम् ॥१२८॥

सद्भिन्नप्रतिभासेन स्याद्भिन्नं सविकल्पकम् । इति ।

सद् अर्थक्रियासमर्थमिदं धर्मि, तत्रेदं साध्यम्–**उत्पादविगमध्रौव्याण्येव द्रव्यम्** "उप्पायट्ठिदिभंगा हवंति दव्वियलक्खणं एयं ।" [सन्मति० १।१२] इति वचनात्, तत्र **पर्यायाश्च** तेषां **सङ्ग्रहः** परस्परतादात्म्येन स्वीकारो यस्मिन् तत्तथोक्तम् । कुत एतत् ? इत्यत्राह–**सविकल्पकम्** सांशं यतः । निरंशत्वे हि तत्सङ्ग्रहत्वं सतो न स्यात् । सविकल्पकत्वे हेतुमाह–**स्यात्** कथञ्चिद् **भिन्नं** भिन्नतया प्रतिपन्नम् । केन ? **भिन्नप्रतिभासेन** ।

यद्येवं भिन्नमेव तदस्तु नाभिन्नमित्यत्राह–

अभिन्नप्रतिभासेन स्यादभिन्नम् [स्वलक्षणम्] ॥१२९॥ इति ।

सुबोधमिदम् । सामान्यमेव तादृशमिति चेत्; आह–**'स्वलक्षणम्'** इति ।

कथं पुनः परस्परविरुद्धभेदाभेदधर्माधिष्ठानमेकं वस्त्विति चेत् ? आह–

विरुद्धधर्माध्यासेन स्याद्विरुद्धं न सर्वथा । इति ।

एतदेव कुत इत्याह–

असम्भवदतादात्म्यपरिणामप्रतिष्ठितम् ॥१३०॥

असम्भवंश्चासावतादात्म्यपरिणामश्च **असम्भवदतादात्म्यपरिणामः** सम्भवतादात्म्यपरिणाम इत्यर्थः । तत्र **प्रतिष्ठितं** प्रमाणेन पूर्वं स्थापितं यत्त ति । अनेन भेदाभेदयोरेकत्र समवाय एव न तादात्म्यमिति प्रतिक्षिप्तम् ।

पुनरपि तद्विशेषणमाह–

समानार्थपरावृत्तमसमानसमन्वितम् । इति ।

समानार्थाः शक्तिसादृश्येन तुल्याः मृत्पिण्डस्य दण्डादयः तेभ्यः **परावृत्तम** पसृतम् । अनेन साङ्ख्यकल्पितं वस्तुसाङ्कर्यं प्रतिक्षिप्तम् । **असमानो** विसदृशपरिणामः तेन **समन्वितं** सङ्गतम् । अनेनापि 'सर्वमेकान्तेनाभिन्नम्' इति ब्रह्मवादिमतं प्रतिध्वस्तम् । कुतः पुनः तदित्थमित्याह–

[प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च परोक्षं स्वप्रदेशतः ।] ॥१३०॥

प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवेद्यं यतः । क्व ? **'बहिरन्तश्च'** इति । यद्येवं प्रत्यक्षत एव तथा तस्य प्रतिपत्तेः, प्रमाणान्तरस्य वैफल्यमिति चेत्; आह–**'परोक्षं स्वप्रदेशतः'** इति । ततो न तद्वैफल्यमिति भावः । कथं पुनरेकमेव स्वलक्षणं तथा प्रत्यक्षं परोक्षञ्चेति चेत् ? अत्राह–

सुनिश्चितमनेकान्तमनिश्चितपरापरैः । इति ।

१ –भंगा भवन्तिद –ता० । २ अनेकभेदा–आ०, ब०, प० ।

अनेकान्तम् अनेकस्वभावं वस्तु सुनिश्चितं सुविवेचितं पूर्वमेव न पुनर्विविच्यते। कैस्तदनेकान्तम् ? अनिश्चितैः अप्रत्यक्षविषयैः परैरुत्तरकालभाविभिः अपरैश्च पूर्वकालभाविभिः प्रदेशैः । ततः प्रत्यक्षं पर्येषणं तदैवेति ।

स्यान्मतम्–उपादानोपादेयलक्षणसन्तानादन्यत् क्रमानेकान्तं परमाणुसमुदायादवयव्यादेरर्थान्तरमक्रमानेकान्तमपि दुर्विवेचममेवेति तत्राह–

सन्तानसमुदायादिशब्दमात्रविशेषतः ॥१३१॥ इति ।

सन्तानसमुदाययोः आदिशब्दादवयव्यादेश्च यौगकल्पितस्य शब्द एव तन्मात्रम् तेनैव विशेषोऽनेकान्तात् नार्थतः, अनेकान्तस्यैव सन्तानादित्वात् ततः ।

[तथा सुनिश्चितस्तैः [तु] तत्त्वतो विप्रशंसतः ।]

तैः तथा सुनिश्चितः तत्त्वतो वस्तुतः विप्रशंसतः प्रशंसनमुपपादनं प्रशंसा तदभावो विप्रशंसम्, अर्थाभावेऽव्ययीभावात् ततः इति ।

एतदुक्तं भवति–एकत्वाभावे यथा दधिक्षणस्य तदुत्तरक्षणेनैकः सन्तानः तथा किन्न करभक्षणेनापि, यतो दधिभक्षणे चोदितः करभेऽपि न प्रवर्तेत ? तत्कार्यकारणत्वाभावादिति चेत्, इतरस्य कुतस्तत्त्वम् ? तदनन्तरं नियमेन भावादिति चेत्, न, तस्यापि तथैव भावात् । अनुपादेयत्वाभेति चेत्, इतरस्य कुतस्तदुपादेयत्वम् ? सादृश्यादिति चेत्, न, योगीतरज्ञानयोरप्येकसन्तानत्वापत्तेः, वस्तुतस्तस्याभावाच्च । कल्पनारोपितस्य करभक्षणेऽप्यनिवारणात् । तदेकत्वाभावे सन्तानः ।

नाप्यवयवी, तस्याप्यवयवानामन्योन्याभेदरूपत्वेन तदभावेऽनुपपत्तेः । तेषां समुदाय एवावयवी नाभेद इति चेत्, सोऽपि यथैकव्यूहगतानामन्योन्यं तथा किन्न व्यूहान्तरगतैरपि, यतो घटमानयेत्युक्ते पटेऽपि न प्रवर्तेत ? शक्तिसाधर्म्याभावादिति चेत्, विवक्षितानामपि तदेकरूपत्वे कथं भेदः तदन्यतमवत् ? वैधर्म्यस्यापि भावादिति चेत्, साधर्म्यवैधर्म्ययोरिव किमवयवानामेव कथञ्चिदभेदो यतः स एवावयवी न भवेत् ? तदाभेदमनिच्छतो भिन्नेषु साधर्म्यस्यापि सम्भवो यतो व्यूहनियमः । तदुक्तम्–

"सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यञ्च निरङ्कुशः ।
प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥" [आप्तमी० श्लो० २९] इति ।

यच्च मतम्–उपादेयेनैवोपादानस्यैकसन्तानत्वं नान्येनेति, तत्रोपादानमपि न प्रत्यभिज्ञानादन्यत सम्यक्समर्थनम् । ततोऽपि न मिथ्यार्थात् नापि सादृश्यार्थात्, अपि तु प्रमाणात्, अपि तु कथञ्चिदेकत्वभूतार्थादविसंवादेन । ततः तत्समर्थनादप्यनेकान्तमेव सुनिश्चितमित्यावेदयन्नाह–

१–त्रि–आ०, ब०, प० । २ वरमतन्त्र । ३ 'समासान्त मात्रान्त ... वचनम् –आ० टि० । ४ –न्यमतत्वम्भे आ०, ब०, प० ।

प्रत्यभिज्ञाविशेषात्तदुपादानं प्रकल्पयेत् ॥१३२॥
अन्योन्यात्मपरावृत्तभेदाभेदावधारणात् ।
मिथ्याप्रत्यवमर्शेभ्यो विशिष्टात् परमार्थतः ॥१३३॥ इति ।

तत् विवक्षितं वस्तु **उपादानम्** उत्तरस्य कार्यस्य सजातीयं कारणं **प्रकल्पयेत्** समर्थयेत् सौगतो यतः, तस्माच्च सुनिश्चितमनेकान्तमिति । कुतस्तत्प्रकल्पयेत् ? प्रत्यभिज्ञैवान्यस्मात् विशिष्यमाणत्वात् विशेषस्तस्मात् **प्रत्यभिज्ञाविशेषात्** । इदमेवाह- **मिथ्याप्रत्यवमर्शेभ्यो** लूनपुनर्जातनखकेशाद्येकत्वप्रत्यभिज्ञानेभ्यः, उपलक्षणमिदम्, तेन सादृश्यप्रत्यभिज्ञानेभ्यश्च **विशिष्टात्** तत्त्वतः **परमार्थतः** । कुतस्तदित्थम् ? **अन्योन्यमात्मानौ परावृत्तौ** च यौ **भेदाभेदौ** तयोरवधारणात् निश्चयनात् ।

तदिति स्मरणम् इदमिति च प्रत्यक्षम्, न ताभ्यामन्यत् प्रत्यभिज्ञानं यतस्तयोरवधारणमिति चेत् ? अत्राह-

तथा प्रतीतिमुल्लङ्घ्य यथास्वं स्वयमस्थितेः ।
नानैकान्तग्रहग्रस्ता नान्योन्यमतिशेरते ॥१३४॥ इति ।

नानाऽनेकरूपाः क्षणिकाद्येकान्ता **नानैकान्ताः** त एव **ग्रहाः** व्यामोहनिबन्धनत्वात् **तैर्ग्रस्ता** वशीकृताः सौगतादयो **नान्योन्यं** न परस्परम् **अतिशेरते** अतिशयं लभन्ते । कस्मात् ? **यथास्वं** स्वमतानतिक्रमेण **स्वयम्** **आत्मना** **अस्थितेः** अवस्थानाभावात् । किं कृत्वा अस्थितेः ? **तथा** तेन तदिदमित्युभयोल्लेखाभेदप्रकारेण वा या **प्रतीतिस्तामुल्लङ्घ्य** प्रतिक्षिप्य । तथा हि-

यथा न प्रत्यभिज्ञानं प्रत्याकारं विभेदनात् ।
तद्वत् प्रत्यणु निर्भेदात् प्रत्यक्षमपि नो भवेत् ॥ ११४३॥
अनुमानञ्च तत्पूर्वं प्रत्यक्षासम्भवे कथम् ? ।
तदत्यये कुतस्तत्त्वं सौगताः साधयन्त्यमी ॥ ११४४॥
अद्वैतशून्यवादौ तु प्रागेव प्रतिभाषितौ ।
अनेकाकारमेकं तत् प्रत्यक्षं युक्तकल्पनम् ॥११४५॥
तदिदं द्वितयोल्लेखं तद्वत् प्रत्यवमर्शनम् ।
भेदेतरात्मनोऽर्थस्य ततः किन्नावधारणम् ॥ ११४६ ॥
तत्प्रतीत्यपलापे तु तदन्यार्थाप्रवेदनात् ।
एकान्तवादिनः सर्वे नान्योन्यमतिशेरते ॥ ११४७ ॥

भवतु तत्र सुनिश्चितमनेकान्तं यत्र पूर्ववदुत्तरस्यापि दर्शनम्, प्रत्यभिज्ञानस्य

१ -भयोलेखाभे- आ०, ब०, प० । २ विभेदत' आ०, ब०, प० ।

तभिप्रायहेतोस्तत्र सम्भवात्, यत्र तु पूर्वस्यैव दर्शनं न परस्य तत्र कथं [2] चेत्? न ह्यप्रतिपन्नस्य पूर्वाभेदेनान्यथा वा प्रत्यभिज्ञानं सम्भवतीति चेत्, अत्राह–

शब्दादेरुपलब्धस्य विरुद्धपरिणामिनः।
पश्चादनुपलम्भेऽपि युक्तोपादानवद्गतिः ॥१३५॥ इति।

शब्दस्य आदिशब्दात् विद्युदादेश्च उपलब्धस्य मध्यावस्थायां प्रत्यक्षस्य विरुद्धपरिणामिनो विरुद्धो दृश्यादृश्यः स एव परिणामः स विद्यतेऽस्येति विरुद्धपरिणामी तस्य। पश्चात् उत्तरकालम् अनुपलम्भेऽपि अदर्शनेऽपि युक्ता उपपन्ना गतिरनुमानिकीति। निदर्शनमुपादानस्येव उपादानवदिति।

एतदुक्तं भवति शब्दादेरुत्तरपरिणामस्यायोग्यत्वेनादर्शनेऽपि अनुमानतोऽवगमात् कथम् प्रत्यभिज्ञानं यतस्तत्रापि सुनिश्चितमनेकान्तं न भवेदिति युक्तम्–उपादानस्योपलब्धाच्छब्दादेरनुमानम् तस्य निरुपादानस्यायोगात्, नोपादेयस्य, कारणस्य कार्यवत्त्वनियमाभावादिति चेत्, अत्राह–

तस्यादृष्टमुपादानमदृष्टस्य न तत्पुनः।
अवश्यं सहकारीति विपर्यस्तमकारणम् ॥१३६॥ इति।

तस्य उपलब्धस्य शब्दादेः अदृष्टम् अनुपलब्धम् उपादानं पूर्वशब्दाद्युपादानम् अदृष्टस्य उत्तरतत्परिणामस्य तत् शब्दादि पुनरिति वितर्के न उपादानम् इति एवं सौगतेन विपर्यस्तं वैपरीत्यं नीतम् शब्दादिकमवस्तुकृतमिति यावत्। अत्र निमित्तम्–अकारणमजनकं यत इति। न हि अकारणस्य वस्तुत्वं व्योमकमलवत्। सजातीयमकुर्वतोऽपि विजातीयस्य योगिज्ञानादेः करणात् कथमकारणत्वं तस्येति चेत्? आह–अवश्यं नियमेन सहकारि योगिज्ञानादिकार्यं तथिर्य नेति सम्बन्धः, सजातीयमतन्वतो रूपादेरिव तदयोगात्, अन्यथा तस्यापि कदाचित् तदेव स्यात् न सजातीयोपादानत्वमित्यसङ्गतमिदं भवेत्–"रूपादे रसतो गतिः" [प्र॰वा॰३।८] इति, तस्यासन्तानितस्य रसकाले सम्भवाभावात्। ततः सजातीयवद् विजातीयेऽपि तस्याकारणत्वादवस्तुत्वमापतत् तत्कारणपरम्परामप्यवस्तुभूतामुपकल्पयेत्। न चैवम्, अतस्तस्योभयत्रापि कारणत्वादुपपन्ना तस्मादुपादानवदुपादेयस्यापि प्रतिपत्तिः। कथमेवं कार्यस्वभावानुपलब्धिभेदेन त्रिविधमेव लिङ्गं कारणस्यापि लिङ्गत्वात्? तस्य स्वभावहेतावन्तर्भावादिति चेत्, न, साध्यादर्थान्तरत्वेन स्वभावहेतुत्वानुपपत्तेः। तथाविधस्यापि तत्साधर्म्यात् तत्त्वमविरुद्धमेव। नैरपेक्ष्यञ्च तस्य तत्साधर्म्यम्। प्रसिद्धं हि कृतकत्वादेस्तद्धेतोरनित्यत्वादौ नैरपेक्ष्यम्, तस्य तन्मात्रानुबन्धित्वात्, तथा कारणस्याप्यन्त्यक्षणप्राप्तस्य कार्ये तस्यापि तन्मात्रा-

१ कथं चेत्सम्भवाभ्य–आ॰, ब॰ प॰। २ "सुनिश्चितमनेकान्तमित्यत्रापि सम्बन्धः।"–ता॰ टि॰। ३ युक्त भाति आ॰, ब॰, प॰। ४ अनुमानमिति सम्बन्धः। ५ –सत्वं पूर्व–आ॰, ब॰, प॰। ६ अकारण त्वम–आ॰, ब॰, प॰। ७ तदकारितायोगात्। ८ –सन्तभाव इति आ॰, ब॰, प॰। ९ तत्समपि विरु–आ॰, ब॰, प॰। १० 'नैरपेक्ष्यम्' इत्यन्वयः।

नुबन्धित्वाविशेषादिति चेत्; किमिदं तस्य तन्मात्रानुबन्धित्वम् ? न सहभावनियमः; पश्चादेव भावात्। स्वकालेऽवश्यम्भाव इति चेत्; न, कार्यहेतोरपि तद्धेतुत्वप्रसङ्गात्। न हि तस्मिन्नपि सति स्वकालेनावश्यम्भावः कारणस्य, कार्यहेतोर्गमकत्वाभावप्रसङ्गात्। तदायत्तेः[1] स तस्य नेति चेत्; माभूत् तथापि तन्मात्रानुबन्धिनस्तस्य प्रत्यायने नैरपेक्ष्यस्य कृतकत्वादिसाधर्म्यस्याविशेषात्, तथा चैकः स्वभावहेतुः स्यान्नापरः, अनुपलब्धेरपि तद्विशेषत्वेनाभ्युपगमात्। ततो यथा तत्साधर्म्येऽपि कार्यस्य ततो भेद एव साध्यादर्थान्तरत्वात् तथा कारणस्यापि। ततो निराकृतमेतत्—

"हेतुना यः समर्थेन कार्योत्पादोऽनुमीयते।
अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः॥" [प्र०वा० ३।६] इति।

एवं सति सङ्ख्याव्याघात इति चेत्; भवतु परस्यैवायं दोषः। न दोषः, तस्य स्वभावान्तर्भावाभावेऽपि कार्यहेतावन्तर्भावात्, कारणमप्यवश्यम्भावि कार्यं कार्यान्न विशिष्यते इत्यभ्युपगमादिति चेत्, एवमपि कार्यमेवैको हेतुर्भवेत् स्वभावस्यावश्यम्भाविसाधर्म्यैव तत्कार्यतापत्तेः[2]। तद्भेदे कथं तत्कार्यतेति चेत् ? भावनता कथम् ? भेदकल्पनाचेत्; न; तत एव तत्कार्यत्वस्याप्युपपत्तेः। तादात्म्यादेव गमकत्वे किं तत्कार्यत्वेनेति चेत् ? न; तत एव गमकत्वे किं तादात्म्येनेत्यप्युपनिपातात्, प्रत्युत तत्कार्यत्वमेवात्रोपपन्नकल्पनम्, साध्यसाधनभावभेदानुकूलत्वात्, न तादात्म्यं विपर्ययात्। तन्नायमत्र परिहार इति लिङ्गसङ्ख्याविरोधि चतुर्थमेव तल्लिङ्गमिति कथं न परस्यायं दोषः ? निगमयन्नाह—

तदेवं सकलाकारं तत्स्वभावैरपोद्धृतैः।
निर्विकल्पं विकल्पेन नीतं तत्त्वानुसारिणा॥१३७॥
समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यताम्। इति।

तत् उक्तलक्षणं स्वलक्षणम्[3] **एवम्** अनेन प्रकारेण सकलाः सम्पूर्णाः आकाराः गुणपर्यायलक्षणा यस्य तत् **सकलाकारम्**। कैस्तथेत्याह—तस्यैव **स्वभावाः** स्वधर्माः तैरेव नान्यदीयैः। अस्तु तैस्तत्र समवेतैस्तत्तथेति चेत्; आह— **निर्विकल्पम्** तेभ्यस्तस्य पृथक्त्वं विकल्पः तस्मान्निष्क्रान्तम्। कथञ्चित्तदव्यतिरिक्तं तथैव प्रतीतिभावादिति भावः। यदि वा, यैमात्मानमाश्रित्य भेदो यञ्चाश्रित्याभेद इति यो विकल्पः सौगतादेः तस्मान्निष्क्रान्तम्। प्रत्यक्षतः तत्रात्मभेदस्याप्रतिपत्तौ तथा विकल्पस्यानुपपत्तेः। [6]यद्येवं कथं तत्र सामानाधिकरण्यादिकं तस्य भेदोपाश्रयत्वादिति चेत् ? न; तैरेव तत्स्वभावैः नयबुद्ध्या पृथक्कृतैः तदुपपत्तेः। तदाह—**तत्स्वभावैरपोद्धृतैः** परस्परतो निष्कृष्टैः। केन ? **विकल्पेन**

१ तदायत्ते स्वत–आ०, ब०, प०। २ –र्यतापत्तेः आ०, ब०, प०। ३ –अगमकेन आ०, ब०, प०
४ कैस्तथे –आ०, ब०, प०। ५ "यदि न भेदः सामान्यविशेषयोः यमात्मानमाश्रित्य सामान्यं विशेष इति तेनात्मना भेदस्तदा व्यतिरेक एव ..."–प्र० वा० स्ववृ० ३। १८०। ६ यद्येवं आ०, ब०, प०।

नयापरनामधेयेन नीतं प्रापितम् । काम् ? समानाधारम् गौः शुक्लः इत्यादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्त-भेदस्यैकमधिकरणम्[1], सामान्यञ्च गवां गोत्वमिति, विशेषणं च भेदकं नीलमिति, विशेष्यञ्च भेद्यमुत्पलमिति, तेषां भाव **समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यताम्** । विकल्पस्यावस्तुविषयत्वेन मिथ्यैव तभिधन्धनं तज्जयनमिति चेत् ? न; तद्वस्तुविषयत्वस्य व्यवस्थापितत्वात् । अत एवोक्तम्-**तत्त्वानुसारिणा** इति । कथं पुनस्तत्रासतां तेषां तेनाध्य-पोहार इति चेत् ? न, प्रमाणतोऽनेकधर्माधिष्ठानतया वस्तुनः प्रतिपत्तौ तदसत्त्वायोगात् । अत एवाह-

'भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात् ।'

यद्येवं प्रमाणत एव भेदविषयात् सामानाधिकरण्यादिव्यवहारोपपत्तेः किं तदर्थेन नयकल्पनेनेति चेत् ? न, भेदभ्यामेदोपश्लिष्टस्यैव तेन प्रतिपत्तेः अगुणप्रधानभावेन चोपेक्षिताभेदो गुणप्राधानभावी च भेदः प्रस्तुतव्यवहारोपयोगी, न च तस्य नयादन्यतः प्रतिपत्ति[2] । न चैवं व्यवहारानङ्गमेव प्रमाणम्, आपोद्धारिकव्यवहारस्यातन्निबन्धनत्वेऽपि सकलधर्मकलापाक्रान्तजीवादिपदार्थव्यवहारस्य तेत एवोपपत्तेः ।

तदेवं वस्तुभूतादेव धर्मभेदात् व्यवहारोपपत्तौ यत्परं व्यावृत्तिभेदेन जातिभेदोपक-ल्पनं तस्यायुक्तस्य तत्कल्पनकृताव्याख्यानमीदृशं दर्शयन्नाह-

अत्र दृष्टविपर्यस्तमयुक्तं परिकल्पितम् ॥१३८॥
मिथ्याभयानकग्रस्तैर्मृगैरिव तपोवने । इति ।

अत्र एतस्मिन् वस्तुनि कथितव्यवहारनिमित्त यज्जातिकार्तं परिकल्पितं स्वेच्छाविरचितम् । कीदृशम् ? दृष्टात् प्रत्यक्षप्रतिपन्नात् वस्तुभूताद् धर्मभेदात् विपर्यस्तं विपरीतम् अवस्तुरू-पमिति यावत्, तत् अयुक्तम् अवस्तुत्वेन व्यवहारफलेनासम्बन्धात्, अन्यत एव च तस्य भावाच्च प्रतिपत्तिफलेन वा । नियेदितं चैतत् । कैस्तत्परिकल्पितम् ? भयानकाः भयहेतवोऽ-नेकान्तविषयाः संशयादयः, मिथ्या च ते भयानकाश्च मिथ्याभयानकास्तेषां दोषाभासत्वेन साक्षाद् भयानकत्वाभावात् तैर्ग्रस्ता वशीकृता **मिथ्याभयानकग्रस्ताः** तैः सौगतैः । अत्र निदर्शनं **मृगैरिव तपोवने** । यथा मृगैः मिथ्याभयानकभरतैः क्षेमस्थानेऽपि वैपरीत्यं कल्प्यते तथा विवेकविकलैः सौगतैरपि वस्तुनि वस्तुभूतानेकधर्माधारे निरुक्षेपमिश्रेयसाभ्यु-दयनिबन्धने संशयादिमिथ्यादोषविभीषिताविवेकनविह्वलैः व्यवहारार्थमवस्तुभूतभेदाधारत्वं परिकल्पितमिति ।

मिथ्याभयानकत्वमेव तेषां दर्शयन्नाह-

१-करणं च ता आ०, ब०, प० । २ न्यायवि० श्लो० १२२ । ३ प्रमाणतः । ४ -त्याभावत्वेन आ०, ब०, प० । ५ वरिपते आ०, ब०, प० ।

यस्यापि क्षणिकं ज्ञानं तस्यासन्नादिभेदतः ॥१३९॥
प्रतिभासभिदां धत्तेऽसकृत्सिद्धं स्वलक्षणम् । इति ।

तात्पर्यमत्र–संशयादिभयादनेकान्तं परित्यजतो ज्ञानम् आसन्नादिविषयमेकमनेकार्थम्, प्रत्यर्थनियतं वा भवेत ? तत्राद्यविदम्– अत्र च अपिशब्दो भिन्नप्रक्रमत्वात तस्येत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तदयमर्थः– **यस्य** सौगतस्य **क्षणिकं ज्ञानं तस्यापि** न केवलं जैनस्य **प्रतिभासभिदां** वस्तुभूतमाकारभेदं तज्ज्ञानं **धत्ते** । कुतः ? **आसन्न आदिर्यस्या**सन्नतरादेः तद्विषयस्य तस्य **भेद**स्तमाश्रित्य तत् इति । आसन्ने हि तद्विशदं विशदतरमासन्नतरे [1]विशदतमं चासन्नतमे इति । भवत्वेवमिति चेदाह– **असकृद**नेकवारं **सिद्धं** यन्निश्चितं प्राक् **स्वलक्षणम्** अन्यत्रापि योग्यम् , तदपि प्रतिभासभिदां धत्ते, निर्दोषप्रतिपत्तिविषये तत्रापि संशयादेः तज्ज्ञानवदनवतारात । द्वितीयेऽप्याह–

विलक्षणार्थविज्ञाने स्थूलमेकं स्वलक्षणम् ॥१४०॥
तथा ज्ञानं तथाकारमनाकारनिरीक्षणे । इति ।

अर्थस्यासन्नादेः विज्ञानम् **अर्थविज्ञानं विलक्षणं** च तत्परीक्षावलेन प्रतिपरमाणु भिन्नमर्थविज्ञानं च तस्मिन्नपि, अपिशब्दस्यात्रापि योजनात् । **स्थूलं** नानावयवसाधारणम् [2]**एकम्** अवयवैः कथञ्चिदव्यतिरिक्तं **स्वलक्षणं** चेतनाचेतनलक्षणं प्रतिभातीति शेषः । कुत एतत् ? **तथा** तेन स्थूलमेकमिति प्रकारेण **ज्ञान**मनुभवो यत इति । ततोऽनुभवविरुद्धं प्रत्यर्थनियतज्ञानकल्पनं परस्येति भावः । तथा ज्ञानेऽपि कस्मान्न तद्ग्राह्यं विलक्षणमेव भवतीति चेत् ? आह– **तथाऽऽकारं** विलक्षणाकारं स्वलक्षणं भवति । कदा ? **अनाकारनिरीक्षणे** सति निर्विकल्पदर्शनेन स्थूलैकविज्ञाने । न हि अतज्ज्ञानात् तत्सिद्धिः । ततोऽपि तत्सिद्धौ दूषणमाह–

अन्यथार्थात्म[3]नोस्तत्त्वं मिथ्याकारैकलक्षणम् ॥१४१॥ इति ।

अन्यथा अन्येन स्थूलज्ञानात् सूक्ष्मसिद्धिप्रकारेण **अर्थात्मनोः** विषयविषयिणो**स्तत्त्वं** क्षणक्षयनैरंश्यनानात्वादिकं **मिथ्या** वितथं किं तर्हि स्यात् ? आकारेषु ग्रामारामादिप्रपञ्चरूपेष्वेकमनुगतं लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् **आकारैकलक्षणं** [4]परब्रह्म तत्तत्त्वमिति सम्बन्धः । एवं मन्यते–

वनादौ स्थूलसंवित्तेर्भेदो यत्तत्त्वतो यथा ।
घटादावपि तद्बुद्धिस्तथायत्तैव कल्प्यते ॥११४८॥
यथा तरङ्गचन्द्रेषु भेदबुद्धेरिव त्वया ।
परस्या अपि तद्बुद्धेरेकार्थानत्वमुच्यताम् ॥११४९॥ इति ।

---

१ तद्विशद –आ०, ब०, प० । २ एकमवयवम् आ०, ब०, प० । ३–त्मनस्तत्त्वं आ०, ब०, प० । ४ परं ब्रह्म आ०, ब०, प० ।

भवतु निर्विकल्पादेव दर्शनाद्विलक्षणं तत्त्वमिति चेत्, कथं तत्र स्थूलप्रतिभासः ? विभ्रमादिति चेत्, न, तद्विवेकस्य दर्शनेन तदयोगात्। सत्त्वादिरूपस्यैव तत्र दर्शनं न तद्विवेकस्येति चेत्, अत्राह–

विज्ञानप्रतिभासेऽर्थविवेकाप्रतिभासनात्।
विरुद्धधर्माध्यासः स्याद् व्यतिरेकेण चक्रकम् ॥१४२॥ इति।

विज्ञानस्य उपलक्षणमिदं तद्विषयस्य च प्रतिभासे सत्त्वादिरूपेण ग्रहणे तत्रस्यार्थात् स्थूलाद्याकाराद् विवेकस्तस्याप्रतिभासनाद् विरुद्धयोर्दृश्यादृश्ययोः धर्मयोरध्यासः स्याद् भवेत्, तथा सति सुनिश्चितमनेकान्तमनवद्यमिति मन्यते। भवतु तर्हि तस्य तस्माद् व्यतिरेक एवेति चेत्, न, तथा सत्यविवेकप्रसङ्गात्, व्यतिरेके तस्या तदसम्भवात्। एवञ्च सिद्धमिदम्– स्थूलमेकं स्वलक्षणं तथा ज्ञानं यत इति। पुनरपि तस्य तस्माद् विवेकपरिकल्पनायां चक्रकमिदम्– विज्ञानप्रतिभास इत्यादि। तत्रापि भवत्वित्यादि प्रथमे चक्रकम् तथेत्यादेरनुषङ्गात्। एतदेवाह– व्यतिरेकेण अर्थविवेकस्य विज्ञानाद् भेदेन कृत्वा चक्रवदावर्तमानमाक्षेपसमाधानं चक्रकं स्यादिति सम्बन्धः। तन्न जीवति स्थूलज्ञाने निर्भागज्ञानसम्भवो यतः परमाणुसिद्धिः। तदसिद्धौ यदन्यत् प्राप्तं तदप्याह–

प्रतिक्षणं विशेषा न प्रत्यक्षाः परमाणुवत्। इति।

क्षणं क्षणं प्रति प्रतिक्षणं परमाणूनां ये विशेषाः निरन्वयविनाशलक्षणाः ते न प्रत्यक्षाः प्रत्यक्षविषया न भवन्ति। निदर्शनं परमाणव इव तद्वत्। ते च तद्विशेषाश्च कथोपपत्त्या न प्रत्यक्षाः ? इत्याह–

अतदाभतया बुद्धेः [अर्थाकारविवेकवत्] ॥१४३॥ इति।

बुद्धेः प्रत्यक्षरूपायाः स्थूलावभासित्वेनान्विताकारावभासित्वेन च अतदाभतया परमाणुतद्विशेषावभासित्वाभावेन।

स्यान्मतम्– प्रत्यक्षं परमाणुतत्प्रतिक्षणभङ्गविषयमेव स्थूलादिबुद्धिस्तु[1] कल्पनैव केवलं निर्विषया न प्रत्यक्षमिति, तन्न, तद्विवेकेन प्रत्यक्षस्याप्रतिवेदनात्। अस्त्येव तथा तस्य स्वतः प्रतिवेदनमविवेकविभ्रमस्तु विकल्पादेव कुतश्चिदिति चेत्, न तावदसौ दर्शनविकल्पाभ्यां प्रागेव, निमित्ताभावात्, तयोरेवैकप्रवृत्तिकारणयोस्तन्निमित्तत्वेन परैरभ्यनुज्ञानात्। नापि युगपत्, युगपद्विकल्पद्वयानभ्युपगमात्। न पश्चादपि, दर्शनविकल्पयोस्तदानीमतिक्रमेण तद्विभ्रमस्य निर्विषयत्वापत्तेः। पूर्वञ्च तत्र सर्वेषां विवेकाङ्गीकारस्यैव प्रसङ्गात्। सम्भवतोऽपि तस्य कुतः प्रतिपत्तिः ? स्वसंवेदनादेव प्रत्यक्षादिति चेत्, न, तस्य विभ्रमाद्व्यतिरेके

१ भ्रमारम्भतया आ०, ब०, प०। २–बुद्धस्तु आ०, ब०, प०। ३– दनमिति वि–आ०, ब०, प०।
४ –धर्मविवे–आ०, ब०, प०।

प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । व्यतिरेके च तस्य तद्वद् वेदने विभ्रमासम्भवात् । विकल्पान्तरात् तत्सम्भवे चानवस्थानस्य निवेदितत्वात् । अवेदने तु यथा न तस्य प्रत्यक्षत्वं बुद्धेरतदाभत्वादेव नान्यतो विभ्रमात्, तथा प्रतिक्षणविशेषाणां तद्धर्मिणां परमाणूनामपि । एतदेवाह– **अर्थाकारविवेकवत्** इति । **अर्थो** दर्शनविकल्पैकत्वरूपो विभ्रमाकारः तस्माद् **विवेको** विकल्पस्वसंवेदनस्य स इव तद्वत् **प्रतिक्षणं विशेषा न प्रत्यक्षाः परमाणवश्चेति** ।

एवञ्च यज्जातं परस्य तद्दर्शयन्नाह–

अत्यन्ताभेदभेदौ न तद्वतो न परस्परम् ।
दृश्यादृश्यात्मनोर्बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्गयोः ॥१५५॥ इति ।

बुद्धिनिर्भासश्च स्वसंवेदनात्मा **क्षणभङ्गश्च** तयोः उपलक्षणमिदम् । तेन[1] नीलादिक्षणभङ्गयोरित्यपि द्रष्टव्यम् । तयोः **तद्वतः** तदधिकरणात् ज्ञानादर्थाच्च **अत्यन्तौ** ऐकान्तिकौ **अभेदभेदौ** तादात्म्यव्यतिरेकौ **न** नापि **परस्परम्** । कीदृशयोः ? **दृश्यादृश्यात्मनोः** दृश्यात्मा नीलादिर्बुद्धिनिर्भासश्च अदृश्यात्मा क्षणभङ्गस्तयोरिति ।

कुत एतत् ? [2]इत्यत्राह–

सर्वथार्थक्रियायोगात् [तथा सुप्तप्रबुद्धयोः ।] इति ।

तथा हि[3]– यदि नीलादिक्षणभङ्गयोः बुद्धिनिर्भासक्षणभङ्गयोश्च तद्वत एकान्तादव्यतिरेकः तदा[4] पिण्डस्योपसंहारात् परमाणुरेवावशिष्येत् तस्य चाप्रतिपत्तेरभावो ब्रह्मवदिति । ततः **सर्वथा** सर्वेण यौगपद्येन क्रमेण वेति एकस्वभावेनानेकस्वभावेन वेति प्रकारेण **अर्थस्य** कार्यस्य **क्रिया** निष्पत्तिः तस्या **अयोगात्**, नीरूपात्तदनुपपत्तेः ।

एवं यदि नीलादेः क्षणभङ्गोऽव्यतिरिक्तः तद्वदेव दृश्यः स्यात्, तथा च किं तदनुमानस्य[5] फलम् ? निश्चय इति चेत्; किं तदभावे[6] न भवेत् ? व्यवहार इति चेत्; न; नीलादिदर्शनादेव तदुपपत्तेः। तत्रापि निश्चयादेव स इति चेत्; स एव तर्हि क्षणभङ्गस्यापि निश्चयः स्यादव्यतिरेकादिति न तत्फलं तदनुमानस्य । नापि समारोपव्यवच्छेदः; निश्चिते समारोपाभावात् । एतदेवाह–**सर्वथा** सर्वेण दर्शनहेतुत्वेन निश्चयनिमित्तत्वेन समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च प्रकारेण **अर्थक्रियायाः** क्षणभङ्गानुमितेः **अयोगादिति** । नीलादेः क्षणभङ्गादव्यतिरेके तु साध्यान्तःपातित्वेन धर्मिहेतुदृष्टान्तानामसम्भवादनुमानानुपपत्तेः सुव्यक्तमेतत्–'**सर्वथाऽर्थक्रियायोगात्**' इति । तन्नैकान्तेन तयोः परस्परं तद्वतश्चाभेदो नापि भेदस्तद्वतः, नीलादेर्बुद्धिनिर्भासस्य च नित्यत्वापत्तेः, नित्याच्च, क्रमयौगपद्यादिना सर्वप्रकारेण **सर्वथाऽर्थक्रियायोगात्** ।

भवतु कथञ्चिदेव तयोस्तद्वतः परस्परं चाभेदो भेदो वेति चेत्; अत्राह–

1 तेन क्षण–आ०, ब०, प० । 2 इत्याह आ०, ब०, प० । 3 –हि नी–आ०,ब०,प० । 4 तदापि पि–आ०, ब०, प० । 5 क्षणभङ्गानुमानस्य । 6 निश्चयाभावे ।

तथा सुप्तप्रबुद्धयोः।
अज्ञयोर्यदि तादात्म्यमभिज्ञानमनन्यवत् ॥१४५॥ इति।

सुप्तश्च गाढनिद्राविष्टः। उपलक्षणमिदम्– तेन मूर्च्छितश्च। प्रबुद्धश्च प्रत्यस्तस्वप्नप्रबोधः। इदमप्युपलक्षणम्–तेन जागरितश्च। तयोः सुप्तप्रबुद्धयोः मूर्छितजागरितयोश्च। तादात्म्यम् एकत्वं तथा तेनानन्तरोक्तेन कथञ्चिदिति प्रकारेण। कीदृशयोः ? अज्ञयोः जीवभागयोः।

अस्तु नाम तद्भागत्वं प्रबुद्धजागरितयोः विज्ञानस्वभाववत्त्वात् न सुप्तमूर्छितयोः विपर्ययादिति चेत्, न, विज्ञानस्यैव क्षणभङ्गादिविज्ञानवत् निश्चयविकलस्य सुप्तादित्वात्। स्वापादौ तस्याभाव एव किन्न स्यादिति चेत् ? क्षणभङ्गादावपि किन्न स्यात् ? नीलादावपि तत्प्रसङ्गादिति चेत्, अन्यत्रापि प्राणाद्यभावप्रसङ्गादिति ब्रूमः। प्राणादेव तदा प्राणादिर्न विज्ञानादिति चेत्, न, तर्हीदानीं सन्तानान्तरप्रतिपत्तिः देहान्तरभाविनो व्याहारादेरपि व्याहारादिमत्त्वेन बुद्धिपूर्वत्वाभावात्। अस्तु सामग्र्यज्ञानादेव स इति चेत्, कथं क्रमवत्त्वम् ? न ह्यक्रमात् क्रमवतोऽस्योत्पत्तिः, "नाक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र०वा० १।४५] इत्यस्य विरोधात्। क्रमवांश्चापरापरः प्राणादिस्तदवस्थायामुपलभ्यते ततस्तत्कारणेन ज्ञानेनापि क्रमवता तदा भवितव्यम्। ततस्तस्य निश्चयवैकल्यमेव स्वापादिर्नाभावः। तदपि निश्चय स्वरूपमेव ज्ञानत्वात् प्रबोधज्ञानवत् किन्न भवतीति चेत् ? भवतोऽपि क्षणभङ्गादावपि तत् समारोपविकलमेव तत्त्वावलीढिवत् किन्न स्यात् ? तत्त्वाविशेषेऽपि आवरणवशात् क्वचित्तद्वैकल्ये निश्चयवैकल्यमपि स्यात्। ततो युक्तं सुप्तादेरप्यात्मभागत्वम्।

कुतस्तयोस्तादात्म्यम् ? इत्याह–अभिज्ञानम् इति। अत्र च 'यदि' इत्येतत्स व्यवधानीयम्। तच्च निपातत्वात् यत इत्यत्रार्थे द्रष्टव्यम्। तदयमर्थः– अभिज्ञान 'य एवाहं सुप्तः स एव प्रबुद्धः' इति प्रत्यभिज्ञानं सुप्तप्रबुद्धसङ्कलनात्मकम्, यदि यत इति। न हि सुप्तात् प्रबुद्धस्यात्यन्तव्यतिरेके तस्य तदेकत्वसङ्कलनं युक्तम्, अन्यसुप्तापेक्षयापि प्रसङ्गात्। सन्तानभेदाभेदेति चेत्, न, सन्तानव्यवस्थाया अप्येकत्वाभावेऽनुपपत्तेः। चिन्तितञ्चैतत्।

स्यान्मतम्– व्यवसायात्मन एव ज्ञानात् संस्कारः "व्यवसायात्मनो दृष्टेः संस्कारः" [सिद्धिवि०परि० १] वचनात्, सुप्तज्ञानस्य चाव्यवसायस्यात् कथं ततः संस्कारो यतः स्मृतिरूपवर्ती प्रत्यभिज्ञानमवकल्पयेदिति ? मा भूत् तत्कृतः संस्कारः, आप्रस्थानकृतस्तु संस्कारोऽप्युत्थानावस्थायां विकासमुपनीयमानः स्मृत्युपस्थापनद्वारेण जागरितेनेव सुप्तेनापि प्रबुद्धस्यैकत्वं सङ्कलयति। कथमन्यकृतात् संस्कारादन्यत्र सङ्कलनमिति चेत् ? न, अत्यन्ताय तयोरन्यत्वाभावात्। न चेदं सङ्कलनं भ्रान्तं यतस्तदेकत्वं न साधयेत्। तदाह–अनन्यवत्।

१ निश्चयस्य। २ स्वापादौ। ३ विभ्रमम्। ४– विकल्पमेव आ०, ब०, प०। ५ तत्सङ्कलनं- आ०, ब०, प०। सुप्तज्ञानात्मा:। ६ अभिप्रायः एवार्थकः।

अन्यः कल्पितरूपो विभ्रमनामा विषयो यस्य तदन्यत् तस्मादन्यद्- **अनन्यवत्** वास्तवतत्तादात्म्यविषयं बाधकाभावादिति यावत् ।

इदानीं तेन द्रव्यपर्यायादीनामन्योन्यात्मकत्वेन भाव इति परिणामलक्षणं सङ्गृह्य दर्शयन्नाह-

संयोगसमवायादिसम्बन्धाद्यदि वर्तते ।
अनेकत्रैकमेकत्रानेकं वा परिणामिनः ॥१४६॥ इति ।

संयोगश्च समवायश्च संयोगसमवायावादी यस्य संयुक्तैकार्थसमवायादेः स एव **सम्बन्धः** तस्मात् **यदि** चेत् **वर्तते**, किं किम् ? **अनेकत्र** शरीरदेशेषु **एकम्** आत्मद्रव्यं संयोगेन शरीरं समवायेन, **एकत्र** शरीरे **अनेकं** कटककुण्डलादि संयोगेन, कटकत्वादि संयुक्तसमवायेन, रूपसंस्थानादि समवायेन वा, रूपत्वादि समवेतसमवायेन, शरीरसमवेते रूपादौ तस्य समवायात् । एवमन्यत्रापि योज्यम् । वेति समुच्चयार्थम् । तत्र समाधानम्- **परिणामिन** इति । परिणाम उक्तलक्षणो विद्यतेऽस्येति परिणामी भावः तस्य **परिणामिनः** संयोगसमवायादिसम्बन्ध इति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । तथा हि- अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः । प्राप्तिश्च यदि शरीरादर्थान्तरम् ; कथं प्राप्तं शरीरमिति तद्रूपतया तत्र प्रत्ययः ? सम्बन्धादिति चेत ; ततोऽपि ताद्रूप्यस्य सम्भवे सिद्धः परिणामः । शरीरस्यैव ततोऽतद्रूपस्य तद्रूपतयोत्पत्तेरसम्भवे कथं ततोऽपि तथा प्रत्ययः ? कथं वा तस्याभ्रान्तत्वम् अतस्मिंस्तद्ग्रहात् ? भ्रान्ताच्च कथं ततः ताद्रूप्यवत् शरीरस्यापि प्रतिपत्तिः ? ताद्रूप्य एवासौ भ्रान्तो न शरीर इति चेत् ; कथमेकस्यैव भ्रान्तिरभ्रान्तिश्च स्वरूपं विरोधात् ? अविरोधे वा कथमेकस्यैव क्रमेणाप्राप्तिः प्राप्तिश्च स्वरूपं न भवेत् ? इति सिद्धः परिणामिन एव संयोगसम्बन्धः ।

तथा समवायोऽपि शरीरस्य तदाधारे तदवयवकलापे इहेति प्रत्ययहेतुः । तदाधारत्वञ्च तत्कलापस्य यदि यावद्द्रव्यभावि ; सशरीरस्यैव तस्य प्रतिपत्तिः स्यात् आधेयविरहितस्याधारस्यासम्भवात् । अयावद्द्रव्यभाविनोऽपि तस्माद् व्यतिरेके 'तदाधारस्तत्कलापः' इति न तद्रूपतया तत्प्रतिपत्तिः । सम्बन्धात्तथा तत्प्रतिपत्तौ : तद्विभ्रमेतरकल्पनायां च पूर्ववत्प्रसङ्गात् । अव्यतिरेके सिद्धस्तत्कलापः परिणामी प्रागतदाधारस्य तदाधारतया तद्रूपस्य व्यवस्थायां परिवर्तनादिति समवायोऽपि परिणामिन एव । एवं संयुक्तसमवायादिरपि ।

नन्वेवमशक्यपरिहारत्वे परिणामस्य किमवयवैवगुणविशेषेभ्यो गुण्यवयविसामान्यानामर्थान्तरत्वेन ? अवयवादीनां तद्रूपेणापि परिणामोपपत्तेरिति चेत ; अभिमतमेवैतत् । अत एवेदमपि व्याख्यानम्- अवयवादय एवावयव्यादिरूपेण **परिणामिनः** परिणामशीला इति ।

---

१ क्वचिदन्-आ०, ब०, प० । २ -द्रव्यसंयो-आ०, ब०, प० । ३ -वायादिः स-आ०, ब०, प० । ४ -मिन यद्येवं आ०, ब०, प० । ५ किमवयवैव गु-आ०, ब०, प० । ६ तद्रूपत्वेनापि आ०, ब०, प० । अवयव्यादिरूपेणापि ।

तदेवमवस्थितं यौगपद्यक्रमाभ्यां सामान्यविशेषात्मकं स्वलक्षणम् ।

भवेत्तु सामान्यम्, तत्तु विजातीयव्यावृत्तिरूपमेव तस्य निर्बाधत्वेन वस्तुषु भावात्, अर्थक्रियायाश्च तदुपाश्रयस्यैव तत्रोपपत्तेः । पावकादिव्यावृत्तिमत एव तोयादेः स्नानादितत्क्रियादर्शनात् । सामान्यवादिभिरपि तस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथा कर्कादिपरिहारेण खण्डादावेव गोत्वमिति नियमायोगादिति चेत्, अत्राह–

अतद्धेतुफलापोहमविकल्पोऽभिजल्पति । इति ।

सामान्यमिति वक्ष्यमाणमिहाकृष्य सम्बन्धनीयम् । तदयमर्थः–न विद्येते तस्य खण्डादेः हेतुफले तत्कारणकार्ये येषां ते **अतद्धेतुफलाः** कर्कादयः तेभ्योऽपोहो व्यावृत्तिः तं **सामान्यमभिजल्पति** कथयति । **अविकल्पो** विकल्पज्ञानरहितः सौगतः । न हि सामान्यमनिश्चिन्वतः तज्ज्ञानसम्भवः । तस्य हि न स्वालक्षण्यमेव रूपम्, अभिजल्पसम्बन्धाभावापत्तेः । तदभिसम्बन्धिनोऽपि रूपस्य तत्र भावे कथं सामान्यप्रतिक्षेप तस्यैव साधारणात्मनस्तत्स्यात् ? असाधारणत्वे प्रत्यसङ्केतादेस्तत्राप्यसम्भवात् । भवदपि सामान्यं तदवास्तवमेवापोहत्वादिति चेत्, कथमभिजल्पसम्बन्धं प्रति योग्यत्वम् ? तस्य वस्तुधर्मत्वात् । तदपि कल्पितमेवेति चेत्, न, तेनैव तदयोगात् । सति तद्योग्यत्वे तस्य विकल्पकत्वं विकल्पत्वे च तेन तत्कल्पनमिति परस्पराश्रयात् । विकल्पान्तरात् तत्र तत्कल्पनमिति चेत्, न, तत्रापि तदन्तरात् तत्कल्पनेऽनवस्थापत्तेः । तथापोहवादिनो विकल्पसम्भवः । तदसम्भवे च कुतो व्यावृत्तिसामान्यप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षस्यातद्विषयत्वात् ? कुतो वाभिजल्पः तस्य तद्योनित्वेन तदभावे नोपपत्तेरिति मन्यते ।

साम्प्रतं तस्य वस्तुषु भावादीनां वस्तुसामान्यसाधनत्वेन विरुद्धत्वमावेदयन्नाह–

समानाकारशून्येषु सर्वथानुपलम्भतः ॥१४७॥
तस्यवस्तुषुभावादि साकारस्यैव साधनम् । इति ।

तस्यवस्तुषुभाव आदिर्यस्यार्थक्रियाश्रयत्वादेः तत **तस्यवस्तुषुभावादि ।** कथं पुनः सुबन्तसमुदायस्य समासस्तस्यासुबन्तत्वात् ? सुबन्तस्य हि सुबन्तेन समास इति वैयाकरणन्यायः । समासेऽपि कथं सुपोऽलुग्भाव इति चेत् ? न, तत्समुदायत्वाभावात् । न हि 'तस्यवस्तुषुभाव' इति सुबन्तसमुदायोऽयम्, अपि तु तदर्थविषयं तत्प्रतिरूपकमखण्डमेव प्रातिपदिकम्, तस्य च सुबन्तत्वादुपपन्नः समासः, तद्विधायिनः सुपो लुक् च । न च सुबन्तरमस्ति यत्रालुग्भाव पर्यनुयुज्येत । तत किमित्याह–**साकारस्यैव** । आकारवत एव न नीरूपस्य सामान्यस्य **साधनं** वस्तुषु परि

---

१ पौद्गः प्राह । २ तत्राभावे आ०,ब०,प० । ३ बौद्धस्य । ४ तद्योगित्वेन आ०,प०,प० । ' विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः ।"इत्यभिधानात्। ५ "सुप्सुपा"–जैनेन्द्र० १।३।३। ६ यत्र तुम्या–आ०,ब०,प०।

णामभिभावलक्षणेषु भवनादे[1]स्तत्रैव प्रतिपत्तेः। क्षणक्षीणपरमाणुरूपाणि स्वलक्षणान्येव वस्तूनि तत्र च तेष्वेव[2] भावादि[3]: प्रतीयते न साकारस्येति चेत ; न; तेषामेव प्रमाणाभावेनाप्रतिपत्तेः। न हि तदप्रतिपत्तौ तत्र भावादेरन्यतरस्य वा प्रतिपत्तिः सम्भवति। तदेवाह–समानश्चासौ मान-सहित आकारश्च **समानाकारः** तेन **शून्येषु** व्यावर्णितस्वलक्षणेषु। कथं तच्छून्येषु? **सर्वथा** सर्वेण प्रत्यक्षविषयत्वेनानुमानविषयत्वेन च प्रकारेण **अनुपलम्भतः** तस्य वस्तुषु भावादेरिति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः।

कथं पुनस्तेषां समानाकारशून्यत्वम्, यावता प्रत्यक्षमेव तेषु प्रमाणमिति चेत्? तदपि यथाकल्पनम्, यथाप्रतिभासं वा[4] भवेत? न तावदाद्यम्; तस्याप्रतिपत्तेः। न हि निर्विकल्पं प्रत्यक्षं क्वचिदपि दृश्यते यतः तत्स्वलक्षणप्रतिपत्तिः। "प्रथममिन्द्रियज्ञानं[5] तदेव[6] दृश्यते केवलं तत्पृष्ठभाविनैकस्थूलविकल्पेन प्रत्यूहान्न निश्चीयत इति चेत् ; कथमनिश्चितं तदास्ति? कथं वा प्रामाणम्? अन्यथैवमपि स्यात्– सकलमपि प्रत्यक्षं व्यावृत्तवस्तु-विषयमेव केवलं भेदविकल्पेन प्रत्यूहान्न निश्चीयत इति। भेदाभावे प्रत्यक्षादन्यो विकल्प एव न सम्भवतीति चेत ; न ; अनेकान्ताभावेऽपि तदसम्भवस्य निवेदितत्वात्। अविचारि-तरम्यया तु कल्पनया तत्सम्भवस्योभयत्राविशेषात्, तथा च सर्वाभेदरूपस्य पुरुषस्य प्रसिद्धेः "यः[7] सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो लोकेभ्योऽन्तरो यं सर्वे लोका न विदुर्यस्य सर्वे लोकाः शरीरं यः सर्वान् लोकानन्तरो यमयति स आत्मान्तर्याम्यमृतः" [बृहदा० ३।७।१५] इत्याद्याः श्रुतयोऽर्थवत्यो भवेयुः।

न चैवं निर्विकल्पा भ्रान्तिरपि। शक्यं हि वक्तुम्–'पश्यन्नयमेकमेव चन्द्रमसं पश्यति द्वित्वारोपविकल्पात्त्र पुनर्निश्चिनोति' इति। तथा च अर्थमभ्रान्तग्रहणं[8] कल्पनापोढपदेनैव द्वित्वभ्रान्तेर्विनिवर्तनात्। निर्विकल्पैव तद्भ्रान्तिः इन्द्रियभावाभावानुरोधित्वेनैन्द्रियत्वादर्थ-सन्निधिसापेक्षत्वात् प्रतिसङ्ख्यया[9] चानिरोध्यत्वादिति चेत ; न; तत एव जातिप्रतिपत्तेरप्यमान-सत्त्वापत्तेः। तदुक्तम्–

"न चेदं व्यवसायात्मप्रत्यक्षं मानसं मतम्।
प्रतिसङ्ख्यानिरोध्यत्वादर्थसन्निध्यपेक्षणात्॥" [सिद्धिवि०परि० १] इति।

तत्र तद्भावाभावानुरोधित्वादिकमध्यारोपितमेव न तात्त्विकमित्यपि नोत्तरम्; द्वित्वभ्रान्तावपि तथैव तत्प्रसङ्गात्।

अपि च[10] विषयसरूपं तत्प्रत्यक्षम् अन्यथा वा? तत्राद्ये विकल्पे वस्त्वेव सामान्यं सारू-

1 –रूपादिस्त–आ०, ब०, प०। २ "नीरूपस्य सामान्यस्य"–ता० टि०। ३ भवनादिः आ०, ब०, प०। ४ वा न स–आ०, ब०, प०। ५ प्रथमेन्द्रिय–आ०, ब०, प०। ६ निर्विकल्पमेव। ७ "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो···"–बृहदा०। ८ प्रत्यक्षलक्षणे। ९ चानुरोध्य–आ०,ब०,प०। १० विषयस्वरू–आ०, ब०, प०।

प्यस्यैव ग्रहणात्। तदपि यथाप्रतिभासमेवेति चेत्, न, भ्रान्तत्वेनाप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। एतेन कल्पितमिति प्रत्युक्तम्। कल्पिताकारस्यापि प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। सर्वथा च विषयसारूप्ये विषयत्वम् तथापि अदृष्टत्वापत्तेः, न स्वतः प्रतिपत्तिः। अन्यथाऽस्य सरूपात् प्रतिपत्त्यनवस्थापत्तिः। असरूपात् प्रतिपत्तौ विषयस्यापि मत एव प्रतिपत्तेः व्यर्थं तत्रापि सारूप्यकल्पनम्। असरूपमपि नाप्रतिपन्नमेव तत्प्रमाणम् अनभ्युपगमात्। प्रतिपत्तौ च प्रतिपत्तिरन्यस्य व्यापारस्य स्वरूपपर्यवसानात् कुतस्तया विषयप्रतिपत्तिः? व्यापारान्तरादिति चेत्, न, उभयव्यापारसम्भवे तस्य वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकस्य तस्याप्यनिवारणात्। तत्र यथाकल्पनम्। नापि यथाप्रतिभासम्, तत्र स्वपरव्यवसायात्मनि यदि एकत्र नानावयवसाधारणस्य स्थूलस्यैव प्रतिपत्तेः। तत्र प्रत्यक्षात् स्वलक्षणप्रतिपत्तिः।

नाप्यनुमानात्, तस्य विकल्पनिषेधेन निषेधात्[1], प्रत्यक्षाभावेऽनवतारात्। ततो वस्त्वेव सामान्यं तदन्यापोहात्मकत्वहेतूनां विरुद्धत्वात्।

व्याख्यातम्—खण्डादीनां कर्कादिभ्य इव परस्परतोऽपि[2] भेदाविशेषेऽपि 'स एव सामान्यं गोत्वं बिभ्रति न कर्कादय.' इत्यत्र तन्नियता शक्तिरेवावलम्बनम्, तया च तत्करणमकृत्वा किम् तद्व्यवहारमेवानुगतप्रत्ययादिरूपं ते कुर्वीरन्? एवं हि कल्पनागौरवं परिहृतं भवति लोके: सामान्यं तद्व्यवहारश्चेति। तत्र सामान्यमर्थवदिति, तदयुक्तम्, एवं हि विशेषाणामप्यपरिहृत्य नवसङ्गात। शक्यं हि वक्तुम्—यथा प्रत्यासत्त्या गोत्वमेव खण्डादीन् विशेषान् बिभर्ति नाश्वत्वं तथा तद्विशेषव्यवहारमेव कुर्वीतान् तद्विशेषैरिति। एवञ्च न कश्चिदपि विशेषो जीवितुमर्हति सर्वविशेषव्यवहाराणां सन्मात्रादेव महासामान्यादुपपत्तेः। विशेषाभावे कथं तद्व्यवहारः तस्यापि विशेषरूपत्वादिति चेत्? सामान्याभावेऽपि तद्व्यवहारः कथं तस्याप्यनुगतप्रत्ययादेः सामान्यरूपत्वात्। कल्पित एव व्यवहारो विचारपीडां न सहत इति चेत्, न, विशेषव्यवहारस्यापि तादृशत्वात्। कथं पुनरेकस्वभावात् सामान्याद् देशकालादिभेदी तद्व्यवहारः, कारणभेदादेव कार्यभेदस्योपपत्तेरिति चेत्? न, कारणकारिकार्यभेदेऽपि तद्धेतोः पावकस्य भेदाभावात्। तत्रापि शक्तिभेदादेव तद्भेद इति चेत्, कुतस्तद्व्यतिरेकात् शक्तिमतोऽपि न भेदः? तथा मात्रेण तद्देशकालविशेषादिति चेत्, सदृशमत्र—अनर्थान्तरशक्तिमताशिना तत्र विरुद्धत्वे अर्थान्तरत्वापत्तेः किम् विरुद्धत्वमिति। व्यतिरिक्तैव शक्तिरादेः इति चेत्, न, तत एव तादृशविशेषः नाभिमतो भेदव्यवहारः। नापि तासां, तेन तद्भेदस्य करणादिति चेत्, न, तत्रापरस्यैव तद्भेदेन करणेऽनवस्थानात्। अथ कारणे पावकभेदेन भिन्नशक्ति ... पावकमेव न कुर्यात्? तथा च पावकवदेव तद्भेदः सामान्यादेव तद्व्यवहारभेदनिर्माणसामर्थ्योपपत्तेः व्यर्थमेव तदर्थं भावभेदपरिकल्पनम्। तदेव व्यक्तेन—

---

1 ...—प्र०, ब०, प० । 2 — ... —प्र०, ब०, प० । 3 — ... —प्र०, ब०, प० । 4 — ... —प्र०, ब०, प० । 5 ... —प्र०, ब०, प० । 6 ... —प्र०, ब०, प० । 7 ... —प्र०, ब०, प० । 8 — ... —प्र०, ब०, प० ।

"अर्थक्रियाकृते भेदे रूपभेदो न लक्ष्यते।
दाहपाकादिभेदेन कृशानुर्न हि भेदवान्॥
यथैव भिन्नशक्तीनामभिन्नं रूपमाश्रयः।
तथा नानाक्रियाहेतू रूपं किन्नाभ्युपेयते॥
एकस्यैवेष महिमा भेदसम्पादनासहः।
वह्नेरिव यदा भावभेदकल्पस्तदा मुधा॥" [ब्रह्मसि० २।७-१०] इति।

तदेव सामान्यं नोपलभ्यते भेदस्यैव बहिरन्तश्चोपलम्भात्, तदुपलम्भे वा न भेदव्यवहारः तस्य संहृताखिलभेदरूपत्वात् तत्कथं तत्र तस्य सामर्थ्यम्, असति तदनुपपत्तेरिति चेत्? न; विशेषाणामपि परपरिकल्पितानामप्रतिपत्तेः। प्रतिपत्तौ वा न सामान्यव्यवहारः [3]संहृताखिलसामान्यरूपत्वात्तेषाम्, तत्कथं तत्र तेषामपि सामर्थ्यम् असति तदनुपपत्तेः। कल्पनया सत्त्वमिति चेत्; न; तस्या एव भेदाप्रतिपत्तावसम्भवात्। निवेदितञ्चैतत्। एतदेवाह–

न विशेषा न सामान्यं तान् वा शक्त्या कयाचन ॥१४८॥
तद्बिभर्त्ति स्वभावोऽयं समानपरिणामिनाम्। इति।

अत्र द्वितीयो[4] नञ् तदित्यनेन सम्बन्धनीयः। वाशब्दश्चार्थः। तदयमर्थः–**तद्** अनन्तरोक्तं सामान्यं ब्रह्मवादिपरिकल्पितं **कयाचन** भिन्नयेतरया वा **शक्त्या** प्रत्यासत्त्यपरसञ्ज्ञया **तान्** विशेषान् ग्रामारामादिरूपान् **न बिभर्त्ति** वा न स्वीकरोति यथा। उपलक्षणमिदम्–नापि तद्व्यवहारं करोति। तथा **विशेषाः** सौगताभिमताः **सामान्यं** गोत्वादि **न** बिभ्रति **बिभर्त्तीत्यस्य** वचनपरिणामेन सम्बन्धात्। इदमप्युपलक्षणम्–तेन तद्व्यवहारमपि न कुर्वन्ति, तेषामपि तत्सामान्यवदप्रतिपत्तिविषयत्वेन खपुष्पतुल्यत्वात्। मा भूत् तत्कल्पितानां[5] तेषां तद्भरणं त्वत्परिकल्पितानां भवेत् त्वया तत्प्रतिपत्तेरभ्युपगमादिति चेत्; न, तत्रापि तदसम्भवात्। न हि तेऽपि विशेषाः कयाचिदपि शक्त्या सामान्यं बिभ्रति, स्वयं तद्रूपत्वेन तदाधारत्वानुपपत्तेः। तत्र तत्रापीयं प्रक्रियाऽवकल्पते। तदाह- **स्वभावोऽयं** सामान्यरूपः। केषाम्? **समानपरिणामिनां** स्वहेतुसामग्रीतः सादृश्यपरिणामापत्तिमताम्। भिन्नमेव सामान्यं विशेषेभ्यस्तदाधेयञ्च 'खण्डादिषु गोत्वम्' इति प्रतिपत्तेः, तत्कथं ते तत्र बिभ्रतीति चेत्? अत्राह–

अप्रसिद्धं पृथक्सिद्धम् [उभयात्मकमञ्जसा] ॥१४९॥ इति।

प्रकर्षेण प्रत्यक्षलक्षणत्वेन सिद्धं निश्चितं प्रसिद्धं तदन्यद् **अप्रसिद्धम्**। किं वत्? **पृथक्सिद्धं** विशेषेभ्योऽर्थान्तरत्वेन सिद्धं निष्पन्नं सामान्यम्। न हि प्रत्यक्षे सामान्यस्य

१ -हेतुरूपं आ०, ब०, प०। २ -तथा बुद्धा आ०, ब०, प०। ३ संहृतानि- आ०, ब०, प०।
४ -यो न तदि- आ०, ब०, प०। ५ बौद्धकल्पितानां विशेषणाम्।

विशेषेभ्यो भेदस्तदाधेयत्वं वा प्रत्यवभासते, कथञ्चित् तदव्यतिरेकस्यैव तस्य तत्रावभासनात्। तथापि तत्र तदवभासकल्पनायां भवन्तु कुशलिनस्तायागताः 'परस्परविश्लेषिणामणूनामेव तत्रावभासनम्' इति तेषामपि शक्यत्वात् परिकल्पनस्य। खण्डादिषु गोत्वमिति तु प्रतिपत्तिरपोद्धारिकी व्यवहारार्था न तावता तस्य तदाधेयत्वम्, अन्यथा तेषामपि तदाधेयत्वं भवेत्- "सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः" [युक्त्यनु० श्लो० ४१] इत्यपि प्रतीतेः। कीदृशं तर्हि तत्त्वम्? इत्याह- उभयात्मकमञ्जसा इति। सामान्यविशेषोभयस्वभावं तत्त्वम् अञ्जसा परमार्थेनेति।

तथासत्त्वेऽपि वस्तुनः सामान्यमेकमेव [1]सर्वसर्वगतं न प्रतिव्यक्ति भिन्नं सदृशपरिणामलक्षणम्। तदुक्तम्-

"यथा च व्यक्तिरेकैव दृश्यमानः पुनः पुनः।
कालभेदेऽप्यभिन्नैवं जातिर्भिन्नाश्रया सती॥
कार्त्स्न्यावयवशो वृत्तिपृच्छा जातौ न युज्यते।
न हि भेदविनिर्मुक्ते कार्त्स्न्यभेदविकल्पनम्॥"[मी०श्लो०वन० ३२ ३३]

इति चेत्, न, व्यक्तिर्यन्तरालेऽपि तस्योपलम्भप्रसङ्गात्। अनभिव्यक्तेर्नेति चेत्, व्यक्तावपि न भवेत्, तदन्तरालगतात् तद्गतस्य तद्रूपस्याभेदात्। भेदे व्यक्तिगतमेव तत्सामान्यमस्तु तत एव तत्प्रयोजनपरिसमाप्तेः किमर्थं तदन्तराले तत्कल्पनम्। प्रतिव्यक्ति तस्य भेदे कथमभेदप्रत्ययः 'खण्डो गौर्मुण्डो 'गौरिति' इति चेत्? अभेदेऽपि कथं क्वचिदभिव्यक्तिरनभिव्यक्तिश्चान्यत्र [2]व्यक्तेरतद्रूपत्वात्? न हि व्यक्तिर्विषयस्वभावो येन तद्भावेतराभ्यां तस्य भेदः अपि त्वन्यैव ततः, तत्प्रतिपत्तिरूपत्वादिति चेत्, कथमेवं [3]तदन्तराले [4]तदप्रतिपत्तावनभिव्यक्तिरुत्तरम्? तयात्वप्रतिपत्तेरेव प्रतिपादनात्। तत्पर्यनुयोगे तस्या एवोत्तरत्वानुपपत्तेः। कुतश्च तस्याभिव्यक्तिः? यत्र [5]तत् तत इति चेत्, न, सर्वतः स्यात्, सर्वसर्वगतत्वेन तस्य सर्वत्र भावात्। यस्य सामर्थ्यं तत इति चेत्, [6]तदपि यदि सामान्यरूपं सर्वसर्वगतञ्च स एव दोषः- तदन्तरालेऽपि ततस्तदभिव्यक्तिरिति। नायं दोषः, [7]तस्य तत्रानभिव्यक्तत्वेनानभिव्यञ्जकत्वात्। इतरत्र कुतस्तदभिव्यक्तिः? अन्यस्मात् सामर्थ्यादिति चेत्, न, तदपीत्यादेः तत्राप्यनुषङ्गादनवस्थापत्तेश्च। असर्वगतमेव तदिति चेत्, न, सर्वगतसामान्यप्रतिज्ञाव्यापत्तेः। सामान्यादन्यदेव सामर्थ्यम् असर्वगतमनभिव्यक्तञ्च, अन्यथा पूर्ववद् दोषादिति चेत्, ततोऽपि[13] यद्यभिव्यक्तिस्तद्व्यापिनी, सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गः, सर्वगतसामान्यव्यापिन्या तदभिव्यक्त्या [14]तदव्यतिरिक्तसकलवस्तुव्याप्तेरवश्य-

---

१ सर्वं सर्व- आ०, ब०, प०। २ -स्ततस्तत- आ०, ब०, प०। ३ -व्यक्तिगतम्- आ० ब०, प०। ४ गौरिति चेत् आ०, ब०, प०। ५ "अभिव्यक्तेः"- ता० टि०। ६ व्यक्त्यन्तराले। ७ सामान्याप्रतिपत्तौ। ८ "अनभिव्यक्तेर्न सामान्यप्रतिपत्तिः" इत्युत्तरम्। ९ अनभिव्यक्तस्यापि। १० सामान्यम्। ११ सामर्थ्यमपि। १२ समस्त्यस्य। १३ असर्वगतसामर्थ्यादपि। १४ तदभिव्यक्ति- आ०, ब०, प०।

स्भावात्। वक्ष्यति चैतत्– नित्यमित्यादिना[1]। यदि न तद्व्यापिनी कथं तदभिव्यक्तम्, अभिव्यक्तिव्याप्तस्वभावस्यैवाभिव्यक्तत्वोपपत्तेः। खण्डशोऽभिव्यक्तमप्यभिव्यक्तमेवेति चेत्; न, तस्य खण्डाभावात्। तद्भावे वा कथं तत्र कार्त्स्न्यावयवशो वृत्तिपर्यनुयोगो नोपपद्यते यत इदं सूक्तम्–'कार्त्स्न्यावयवशो वृत्तिः' इत्यादि। अपि च–

ब्राह्मण्यमपि सामान्यं यदि सर्वगतं तदा।
शूद्रादिष्वपि तद्भावाज्जातिसाङ्कर्यमागतम् ॥११५०॥
व्यक्ताव्यक्तविभागस्तु निर्विभागे न युक्तिमान्।
कुतो वा तदभिव्यक्तिर्व्यक्तिभ्यस्तदसम्भवात् ॥११५१॥
कौण्डिन्यादेर्न हि व्यक्तेस्तद्व्यक्तिरुपलक्ष्यते।
अन्यथानुपदेशः स्यान्निश्चयस्तत्र गोत्ववत् ॥११५२॥
उपदेशसहायैव व्यक्तिस्तद्व्यञ्जिका यदि।
केवलैव समर्था चेत् सहायापेक्षणेन किम् ॥११५३॥
केवला[3] न समर्था चेत् सहायापेक्षणेन किम्।
सहाय एव सामर्थ्यं तस्यामित्यपि नोत्तरम् ॥११५४॥
स्वतः सामर्थ्यशून्यत्वे तद्योगात् खपुष्पवत्।
स्वतोऽपि यदि सामर्थ्यं सहायो नैव कार्यकृत् ॥११५५॥
सत्येव सचिवे तच्चेत् तत्कृतं स्यात्तथा सति।
वृथा तत्करणं [4]जातेर्व्यक्तिरेवास्तु तत्कृता ॥११५६॥
एवं हि न प्रसज्येत पारम्पर्यपरिश्रमः।
सचिवेन विनाप्यस्ति तच्चेत् कुर्वीत किन्न तत् ॥११५७॥
कार्यं कार्यकृतेऽप्यस्ति सामर्थ्यमिति साहसम्।
अन्योन्यजन्यसामर्थ्यं व्यक्तितत्सचिवद्वयम् ॥११५८॥
कार्यकृच्चेन्न शूद्रादावप्येवं तत्प्रसञ्जनात्।

कौण्डिन्यादिवत् [5]सूतमागधादिरपि ब्राह्मण्यस्य व्यक्तिरेव, तत्रापि तस्य तदुपदेशस्य च सर्वगतसामान्यवादिमतेन भावात्। ततस्तत्रापि तदभिव्यक्तौ कथं याजनाध्यापनादयः कर्मविषयो न भवेयुः, आचारसाङ्कर्यं न भवेत्? तदेवं क्षत्रियत्वादयोऽपि [6]चिन्त्याः। तत्र तस्य सर्वसर्वगतत्वं तद्वद् गोत्वादेरपि। व्यक्तिसर्वगतस्य तु प्रत्यन्तरालं विच्छेदे नानात्वम्, अन्यथा[7] सर्वसर्वगतादविशेषः। ननु [8]तादृशेन सामान्येन तदात्मकत्वं भावस्य सादृश्यात्मनैव

१ न्यायवि० श्लो० १५५। २ –व्यक्त्यासक्ते. आ०, ब०, प०। ३ केवलं न–आ०, ब०, प०। ४ जातव्यक्ति–ता०। ५ ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतः। क्षत्रियायां वैश्याज्जातो मागधः। ६ ऊह्यम्–प्र० वार्तिकाल० १।२। ७ –था सर्वग–आ०, ब०, प०। ८ सर्वगतेन।

[1]मेन तदुपपत्तेः। कथं तस्यापि विशेषेणैकत्वं विलक्षणत्वादिति चेत्? कथं रूपेण संस्थानस्य तदविशेषात्? मा भूत्, संस्थानस्यैवाभावादिति चेत्, न, दर्शनात्। न हि पश्यन्नपि वैपुल्यस्थौल्यादिकं न पश्यति, तदपह्नवे रूपदर्शनेऽपि तदापरोक्षकत्वं जगद्भवेत्।। रूपमेव संस्थानम् सत्येव तदुपलम्भे तस्य दर्शनात् नापरमिति चेत्, न, तत एव रूपस्यापि संस्थानादन्यस्याभावप्रसङ्गात्। दूरविरलदेशादौ केवलस्यापि रूपस्य दर्शनमिति चेत्, न, तमन्धकारादौ केवलस्यापि मयूरादिसंस्थानस्योपलम्भात्। संस्थानमेव तत्र भवति यथा-दृष्टस्याप्राप्तेः, तस्यैव संस्थानत्वे भ्रान्तिरपि स्यात्, न चैवम्, स्पष्टस्यैव प्राप्तेः। न च तयोरेकत्व प्रतिभासभेदेन भेदस्यैवोपपत्तेः, तस्माद् भ्रान्तमेव तद्दर्शनम् विसंवादादिति चेत्, न, अस्पष्टतायामेव विसंवादात्, न संस्थाने। तदव्यतिरेकात् तत्रापि विसंवाद एवेति चेत्, न, एकान्ततस्तदभावात्, अन्यथा अस्पष्टमित्येव स्यात् प्रतिभासो न स्थूलमिति। कथं वा तत्संस्थानस्यावस्तुत्वे लिङ्गत्वम्? अविनाभावनियमादिति चेत्, न, तन्नियमस्यापि तदुत्पत्तितादात्म्ययोरेवाभ्यनुज्ञानात्। अत एवोक्तम्–

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात्॥" [प्र० वा० ३।३०] इति।

न चावस्तु कस्यचित्कार्यम्; व्योमकुसुमादिवत्। नापि स्वभावः। स्वभावत्वेऽपि साध्यस्य तस्मादेकान्तेनाभेदे तदप्यवस्त्वेव स्यात्। न च तत्साधने प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः पुरुषार्थाभावात्। साधितात् ततो वस्तुसाधनमिति चेत्, न, तस्यापि तस्मादेकान्तेनाभेदे पूर्ववद्दोषादनवस्थानुषङ्गाच्च। कथञ्चित् तदव्यतिरेकपरिकल्पनया तत्साध्यवस्तुत्वपरिपालनं व्यामलितोपलम्भसंस्थानस्यापि वस्तुत्वमवस्थापयति, तस्यापि व्यामलितत्वात् कथञ्चिदेवाव्यतिरेकात्। मा भूल्लिङ्गत्वमपि तस्येति चेत्, कथं तर्हि तत्र प्रतिपन्नप्राप्तिव्यभिचारस्यानुमानादविसंवाद? यत इदं सूक्तम्–

"मर्मवं[2] प्रतिभासोऽस्य न संस्थानविवर्जित।
एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत्॥" [प्र०वार्तिकाल० १।१] इति।

कथं पुनः अनुमानादप्यविसंवाद तद्विषयस्याप्यस्पष्टावभासित्वेनावस्तुत्वाविशेषात्, तत्रापि तत्प्रतिभासलिङ्गोपजनितादनुमानाद् अविसंवादपरिकल्पनायामनवस्थापत्तिरिति चेत्, अयमपि परस्यैव दोषः। न दोषः, व्यवहारभङ्गभयादकृतविचारस्यैवानुमानप्रामाण्यस्याभ्यनुज्ञानादिति चेत्, न, तथा दर्शनस्यैव तदङ्गीकारोपपत्तेः। एवमप्यवास्तवमेव संस्थानं व्यावहारिकस्याप्यस्यावस्तुविषयत्वात्, ततः सांवृतमेव तत् अस्थूलप्रतिभासस्या स्थूलादेः संवृत्या परिकल्पनादिति चेत्, अत्राह–

1 सामान्येन। २ –मन्यप्रतिभासि–आ०, ब०, प०।

सन्निवेशादिवद् वस्तु सांवृतं किन्न कल्प्यते । इति ।

सन्निवेशो रचनाविशेषः संस्थानमिति यावत् । स **आदि**र्यस्य सदृशपरिणामादेः स इव तद्वत् "सुप इव" [शाकटा० ३।३।२] इति प्रथमान्तात् वत् प्रत्ययः । **वस्तु** रूपादिः **सांवृतं** संवृतेः कल्पनाया आगतम् **किं** कस्मात् **न कल्प्यते** ? कल्प्यत एव शक्यं हि वक्तुम्–अरूपादिव्यावृत्त्या रूपादिरपि कल्पनोपदर्शित एव न तात्त्विक इति । रूपाद्यभावे कस्यारूपादेः व्यावृत्तिरिति चेत ? स्थूलादेरभावेऽपि कस्यास्थूलादेः व्यावृत्तिः ? रूपादेरेव, तस्यैव स्थूलादितया परिकल्पनादिति चेत् , अन्यत्रापि स्थूलादेरेव, तस्यैव रूपादितया परिकल्पनादिति समानश्चर्चः ।

भवतु वस्त्वपि सांवृतमेवेति चेत् ; कुतस्तस्य परिज्ञानम् ? अवस्तुत्वेन स्वतस्तदयोगात् । अन्यत इति चेत ; न ; ततोऽप्यतदाकारात्तदसम्भवात् । तदाह–

अप्रसिद्धं पृथक्सिद्धम् [उभयात्मकमञ्जसा]

अप्रसिद्धं प्रमाणनिश्चि॑ न भवति । किम् ? **पृथक्** ज्ञानादर्थान्तरतयाऽनाकारार्पकत्वेन **सिद्धं** निष्पन्नं सन्निवेशादि रूपादिकम्; सर्वथा तदाकाराच्च न ततस्तस्य परिज्ञानं तस्यापि तद्वदवस्तुत्वात् । पुनस्तदन्यस्य सर्वथा तदाकारस्य कल्पनायामनवस्थापत्तेः । कथञ्चित्तदाकारत्वे च सिद्धं तद्वास्तवेतरस्वभावं तदाह–'**उभयात्मकम्**' इति । भवतु ततः किम् ?-इत्यत्राह–**अञ्जसा** इत्यादि । सन्निवेशादि वदन्तीति सन्निवेशादिवदो जैनाः ? [२]विच्येवं रूपात तेषां **वस्तु** रूपस्थूलादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकं **सांवृतं** भवदभिप्रायेण **किन्नेष्यते** ? इष्यत एव । कथम् ? **अञ्जसा** परमार्थेन । तात्पर्यमत्र–

सत्येतरस्वभावं चेदेकं वस्तूपगम्यते ।
वस्तुतस्तर्हि रूपादिसंस्थानाद्यात्मकं [३]तथा ॥ ११५९ ॥
तथा च तद्वत्सामान्यविशेषात्मापि तत्त्वतः ।
वक्तव्यं वस्तु तद्बुद्धिदेवताकोपभीरुभिः ॥ ११६० ॥
अनेकान्तात्मके भावे सत्येवमुपपादिते ।
खण्डशोऽपि परिज्ञानं न वस्तुषु विरुध्यते ॥ ११६१ ॥
निरंशार्थप्रवादे हि वस्तुनः सर्वथाग्रहात् ।
न क्वचिद्विभ्रमो नाम भवेदित्याह शास्त्रकृत ॥ ११६२ ॥

समग्रकरणादीनामन्यथा दर्शने सति ॥१५०॥
सर्वात्मनां निरंशत्वात् सर्वथा ग्रहणं भवेत् । इति ।

अन्यथा अनेकान्तादन्येन प्रकारेणैकरूपेण **दर्शने** अभ्युपगमे **सति** विद्यमाने सौगताद॑ नां **सर्वथा** सर्वेण चन्द्रादेर्वर्तुलत्वादिनेवैकादित्वादिनापि प्रकारेण **ग्रहणं भवेत् ।**

१ –पादिक. सा–आ०, ब०, प० । २ विच् प्रत्यये सति । ३ तदा आ०, ब०, प० ।

कुतः ? निरंशत्वात् निर्भागत्वात् । न हि निर्भागं वस्तु गृहीतमगृहीतञ्चोपपन्नं विरोधात् । भवत्येव तथा ग्रहणं केषाञ्चिदिति चेत्; आह–सर्वात्मनाम् सर्वेषां भ्रान्तानामभ्रान्तानां[1] चात्मनां पुरुषाणाम् । कीदृशानाम् ? समग्रकरणादीनां करणमिन्द्रियमादिर्येषामालोकादीनां ते करणादयः, समग्राः सम्यगभिमुखाः कार्योत्पादने करणादयो येषां तेषामिति । यथा सामग्रीसद्भावात् चन्द्रादौ वर्तुलत्वादेर्ग्रहणं तैमिरिकादिभिस्तथैकत्वादेरपि सर्वेषविशेषात् । तथा च न विभ्रमो नाम कश्चिदपीति व्यर्थस्तन्निवृत्त्यर्थः प्रयास इति मन्यते ।

भवतु तस्यैकत्वादिनैव वर्तुलत्वादिनाप्यग्रहणमेवेति चेत्, आह–

नौयानादिषु विभ्रान्तो न न पश्यति बाह्यतः ॥१५२॥ इति ।

नौयानमादिः येषामाशुभ्रमणादीनां तेषु निमित्तेषु सत्सु **विभ्रान्तः** प्रतिपत्ता **न न पश्यति** पश्यत्येव । क्व ? **बाह्यतो** बहिस्तयाप्रतीतेरिति भावः ।

पश्यन्नप्यसदेव पश्यतीति चेत्, आह–

न च नास्ति स आकारः ज्ञानाकारेऽनुपप्लुतः । इति ।

सः[2] वर्तुलत्वादिः **आकारो न च** नैव **नास्ति** विद्यत एव बाह्यतस्तत्प्रतीतेरविसंवादादिति भावः । बाह्यस्यादर्शनमसत्त्वञ्च ब्रुवतो दोषमाह–**ज्ञानाकारेऽनुपप्लुतः** ज्ञानस्याकारः स्वरूपं **तत्रानुपप्लुतः** भ्रान्तिः न पश्यतीत्यस्य नास्तीत्यस्य च तस्मात् । बाह्यतो न न पश्यति न च नास्तीति सम्बन्धः–

यदा बाह्यतयैवार्थं न पश्यत्यन्तरप्यसौ ।
भ्रान्तश्चैतन्यशून्यत्वं तदा प्राप्नोति मानवः ॥११६३॥
चैतन्यरहितश्चासौ मृत एव कथं भ्रमी ।
मिथ्याज्ञान्येव यल्लोके भ्रमीति प्रथितो बुधैः ॥११६४॥
भ्रान्तिमात्रं बहिर्भ्रान्तश्चाभ्युपेतवतोऽपि न[3] ।
स्वतोऽन्यतो वा तद्वित्तिरिति पूर्वं निरूपितम् ॥११६५॥
भ्रान्तं बाह्यतो ज्ञानमभ्रान्तं चान्तरिष्यते ।
द्वित्वादिनैव चन्द्रादिर्विभ्रान्त्योऽस्तु नान्यथा ॥११६६॥
विवेको विप्लवाकाराद् यदि विज्ञानचन्द्रयोः ।
तद्ग्रहे विप्लवाकारः क्व वराकः प्रवर्तताम् ॥११६७॥
तदग्रहे कथं विधिर्विभेदस्तयोरपि[4] ।
तस्मात् द्वयेतरासत्त्वमनेकान्तावलम्बनम् ॥११६८॥

---

१ 'अभ्रान्तानाम्'–ता० टि० । २ स च–आ०, ब०, प० । ३ ना आ०, ब०, प० । ४ –सिरपि भे–आ०, ब०, प० ।

इदमेवाह–

तस्माद् दृष्टस्य भावस्य न दृष्टस्सकलो गुणः ॥१५३॥ इति ।

तस्मात् प्रागुक्तादनेकान्तात् तमाश्रित्य **दृष्टस्य** उपलब्धस्य **भावस्य** चन्द्रादेः **न दृष्टो** नोपलब्धः **सकलः** समग्रो **गुणः** स्वभावः विभ्रमाकारविवेकादिलक्षणो नैकान्तात् तत्र दृष्टस्यादृष्टस्वभावविरोधात् । भवतु दृष्ट एव तत्र सकलोऽपि गुण इति चेत् ; उक्तमत्र-कुतो विभ्रम इति । अन्यत इति चेत् ; न ; ततोऽप्यचन्द्रप्रतिभासात् तत्र विभ्रमे अतिप्रसङ्गात् । नापि चन्द्रप्रतिभासात्, तत्रापि सर्वगुणतयैव तस्य प्रतिभासात् । तत्राप्यन्यतो विभ्रमकल्पनायामनवस्थापत्तेः । ततो यदुक्तम्–

"तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ।" [प्र०वा० ३।४४] इति;

तदुपपद्यत एवैकान्तो यदि लभ्येत । इदं तु न युक्तम्–

"भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते ।" [प्र०वा० ३।४४] इति ;

सर्वात्मना वस्तुदर्शने भ्रान्त्यभावस्य निवेदितत्वात् ।

तदेवं रूपसंस्थानात्मकत्ववत् इतरेतरात्मकत्ववच्च सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि व्यवस्थिते सति यत्परस्यापद्यते तदाह–

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् । इति ।

प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवेद्यं [1]ज्ञानज्ञेयलक्षणं वस्तु **कल्पनापोढं** जात्यादिकल्पनारहितं यत्परस्येष्टं तत् **प्रत्यक्षेण आदि**शब्दादनुमानादिना च **निराकृतम्** । अनेन "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" [प्र० वा० २।१२३] इत्यस्य पक्षाभासत्वं ब्रुवता न हेतुभिः [2]परित्राणमित्यावेदितं भवति ।

निगमयन्नाह–

अध्यक्षलिङ्गतस्सिद्धमनेकात्मकमस्तु सत् ॥१५४॥ इति ।

सत् विद्यमानम् **अनेकात्मकम्** अनेकस्वभावम् **अस्तु** भवतु । कुतः ? **सिद्धं** निश्चितं यतः । कुतस्सिद्धम् ? **अध्यक्षलिङ्गतः** अध्यक्षञ्च लिङ्गञ्च ताभ्यां ततः । न हि प्रमाणसिद्धे [3]वस्तुन्यनस्तुद्धारः[4] प्रेक्षावता युक्त इति भावः । भवतु नाम प्रत्यक्षात् तत् [5]सिद्धं तस्य निश्चितलक्षणत्वात्, लिङ्गात्तु कथं तस्य निश्चेष्यमाणलक्षणत्वादिति चेत् ; न ; तस्यापि विषयतः प्रत्यक्षनिश्चयादेव निश्चयात् । न हि प्रत्यक्षविषयादन्यथा [6]तस्य विषयः प्रत्यक्षबाधितत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चैवं पुनस्तन्निश्चयकरणस्यापार्थकत्वम् ; तस्य लक्षणविप्रतिपत्ति-

---

१ ज्ञानं ज्ञे-आ०, ब०, प० । २ "न तस्य हेतुभिस्त्राणमुत्पतन्नेव यो हत ।"-ता० टि० । ३ वस्तुन्य-वस्तुका-आ०, ब०, प० । ४ अस्वीकारः । ५ सिद्धं निश्चि-आ०, ब०, प० । ६ लिङ्गस्य ।

निराकरणार्थत्वेन सार्थकत्वात् । स्वमतानुरागपरवशचेतसो मत्सरित्वादनेकात्मके वस्तुनि नास्तुद्वारमनुमन्यत इति चेत्, न, प्रमाणालोकप्रकाशिते वस्तुनि सत्पुरुषाणां पुरुषार्थभङ्गभीरुतया मत्सराद्यनुपपत्तेः । एतदेवाह–

सत्यालोकप्रतीतेऽर्थे सन्तः सन्तु विमत्सराः । इति ।

सुबोधमेतत् ।

साम्प्रतं सत्तापरिणामं सामान्यमनभ्युपगच्छतो वैशेषिकादेः तद्व्यवहार एव न सम्भवति, तत्परिकल्पितस्य सामान्यस्यानुपपत्तेरिति दर्शयितुं प्रथमं तावत् परसामान्यं सत्त्वमेव प्रत्याचष्टे । समानन्यायतया तत्प्रत्याख्यानादेव द्रव्यत्वादेरपरसामान्यस्यापि प्रत्याख्यानोपनीतात् (पतिपातात्)–

नित्यं सर्वगतं सत्त्वं निरंशं व्यक्तिभिर्यदि ॥१५४॥
व्यक्तं व्यक्तं सदा व्यक्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् । इति ।

अत्र द्वितीयव्यक्तशब्दो व्यञ्जकपर्यायः व्यक्तं करोति व्यञ्जयतीति [1]वचनादपि (वचादपि) व्यक्तमिति व्युत्पत्तेः । तदयमर्थः– सत्त्वं सामान्यं व्यक्तिभिः द्रव्यादीनामन्यतमैर्विशेषैः व्यक्तं प्रकटीभूतं यदि चेत, व्यक्तं व्यञ्जकं द्रव्यादिषु सद्द्रव्यं [2]सन् गुणः सत्कर्मेति च प्रत्ययस्योपजनकम् । अत्र दूषणम्–व्यक्तं प्रकटीभूतं भवेदित्युपस्कारः । किम् ? त्रैलोक्यं त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् [3]चातुर्वर्ण्यादिवत् व्युत्पत्तिः । कदा तद् व्यक्तम् ? सदा सर्वकालम् ।

न चैवं सत्यसर्वज्ञः कश्चिदभ्युपपद्यते ।
सति किञ्चिदपश्यता सर्वेणाशेषार्थावलोकनात् ॥११६९॥

यदा च यत्र च [4]तदस्ति तदैव तत्रैव तत्कार्ये सर्वदा सर्वत्रेति चेत्, भवेदेव यदि तदनित्यमसर्वगतञ्च । न चैवम्, नित्यसर्वगतस्यैव तस्याभ्युपगमात् । तदाह– 'नित्यं सर्वगतम्' इति । तादृशस्याप्यभिव्यक्तिसहायस्यैव तस्य तत्प्रत्ययहेतुत्वम्, न च सर्वत्र सर्वदा तदभिव्यक्तिः, तदयमदोष इति चेत्, न, द्रव्यादीनां तदभिव्यञ्जकानां सर्वदा सर्वत्र च भावात् । तैरप्यभिव्यक्तैरेव [5]तदभिव्यक्तिर्नापरैरिति चेत्, न, सत्त्वेन [6]तदभिव्यक्तौ परस्पराश्रयात्–[7]तेन तदभिव्यक्तिः, अभिव्यक्तैश्च [8]तैस्तस्याभिव्यक्तिरिति । द्रव्यत्वादिभिरभिव्यक्तिरिति[9] चेत्, न, तैरप्यनभिव्यक्तैस्तदभिव्यक्तौ सत्त्वेनापि[10] स्यात् अविशेषात् । पृथिव्यादिरूपाद्युत्क्षेपणादिभिरभिव्यक्तैरेवेति चेत्, न तैरप्यनभिव्यक्तैः, अनवस्थापत्तेश्च । तन्न सामान्यधर्मैस्तदभिव्यक्तिः । स्वरूपेणैव निर्विकल्पकप्रत्यक्षविषयेणेति

१ वचनादपि प०, प० । "अच् पचादिभ्यश्च"–अष्टा० ३।१।१३४ । २ सद्गुणः आ०, प, प० । ३ चतुर्वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम् । ४ "सत्तम्"–ता० टि० । ५ सत्ताभिव्यक्तिः । ६ द्रव्याद्यभिव्यक्त्या । ७ सत्त्वेन । ८ द्रव्यादिभिः । ९ "द्रव्यादीनाम्"–ता० टि० । १० अनभिव्यक्तेन अभिव्यक्तिः स्यात् ।

चेत्; तदपि यदि [1]नाभावविलक्षणम्, कथं तत एवाभिव्यक्तिः सत्त्वस्य नाभावादपि ? तत्रैव तस्य विद्यमानत्वादितरत्र विपर्ययादिति चेत्; न; तत्रेति सप्तम्यर्थस्य कारकविशेषत्वात्, न चाभावाभेदिनः कारकत्वम्; अशक्तेः। शक्तेरेव कारकत्वेन न्यायविदां [2]प्रसिद्धत्वात्। शक्तिभावे तु भवत्येवाभावविलक्षणं तत्, तथा च तत एव भावप्रत्ययोपपत्तेरलमर्थान्तरेण भावेन[3] प्रयोजनाभावात्। शक्तेः शक्तिमदनर्थान्तरत्वात्, तेषां च परस्परतो व्यावृत्तेः कथं सत्सदित्यनुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वम्, अनुवृत्तरूपस्यैवानुवृत्तबुद्धिनिबन्धनत्वोपपत्तेरिति चेत्? कथमिदानीं तेषामेवेदमभिव्यञ्जकमिदमभिव्यंञ्जकं[4] तत्त्वस्येत्यनुगतप्रतिपत्तिनिमित्तत्वम्? न हि तेषामनुगमः परस्परतः; भावसाङ्कर्योपपत्तेः। अननुगमेऽपि शक्तिसादृश्यात् तेभ्य एव तत्प्रत्यय इति चेत्; कथमेवं भावप्रत्यय एव तेभ्यो न भवेत्। तथा च प्रतिद्रव्यं भिद्यते भावः एकद्रव्येन्द्रियसन्निकर्षादुपलभ्यमानत्वात्, रूपादिवदिति।

अत्र यदुक्तमात्रेयेण–"प्रतिद्रव्यं भिद्यते भावः" इति ब्रुवाणो भवान् भावं धर्मिणं प्रतिपद्यते वा, न वा? यदि न प्रतिपद्यते; हेतुराश्रयासिद्धो भवति। अथ प्रतिपद्यते; येनैव प्रमाणेन[5] सत्सदित्यनुवृत्तप्रत्ययेन भावं धर्मिणं प्रतिपद्यते तदेव प्रमाणं तस्याश्रयं[6]-भेदेऽप्यभेदकत्वमनुशास्ति" [ ] इति; तदप्रतिविहितम्; अनुवृत्ताभिव्यञ्जकप्रत्ययेनेव अनुवृत्तभावप्रत्ययेनाप्येकस्य भावस्याप्रतिवेदनात्। तन्नैवं तस्य कुतश्चिदभिव्यक्तिः सम्भवति स्वयमेवाभावात्। भवतोऽपि यद्यभिव्यक्तिरनर्थान्तरम्; तर्हि तद्वदेव तस्यासिद्धत्वात्, सतोऽपि विशेषलिङ्गात् न तस्य भेदः तदभेदप्रतिवेदिना [7]सल्लिङ्गाविशेषेण सत्सदित्यनुवृत्तप्रत्ययरूपेण बाध्यमानत्वादिति चेत्; ततोऽपि न तस्यैकत्वं तद्भेदनिवेदन(ना)-विधुरेण विशेषलिङ्गेन बाध्यमानत्वात्। नैष दोषः ततोऽपि सर्वथा तद्भेदस्याप्रतिवेदनादिति चेत्; किमिदानीमेकानेकरूपो भावः? तथा चेत्; न; सांशत्वापत्तेः। न[8] चायमभ्युपगमो भवतां तदाह– **निरंश**मिति। ततो नानर्थान्तरं ततोऽभिव्यक्तिः।

भवत्वर्थान्तरमेव, तस्यास्तत्प्रतिपत्तिरूपत्वादिति चेत्; तत्सहायमपि सत्त्वं किन्न सर्वं सर्वदाऽभिव्यनक्ति? सर्वस्य सर्वदाप्यग्रहणात्, गृहीतमेव हि द्रव्यादिकं तेन स्वविशिष्टतयाऽभिव्यज्यते दण्डेनेव देवदत्तः, न चार्वाग्दर्शिनां सर्वदा सर्वग्रहणे कश्चिदुपाय इति चेत्; न; सत्त्वस्याप्यग्रहणप्रसङ्गात्। न हि निरवशेषदेशकालकलाकलापावलोकनविकलस्य नित्यसर्वगतं सत्त्वं शक्यपरिज्ञानम्। न चापरिज्ञातेन तेन तद्विशिष्टतया द्रव्यादिप्रतिपत्तिः "नागृहीतविशेषणा विशेष्यबुद्धिः" [ ] इति[9] [10]न्यायादतिप्रसङ्गात्। तदनवलोकने तदपेक्षं

1 नाभावलक्षण–आ०, ब०, प०। २ "न हि द्रव्यं कारकम्, किं तर्हि शक्तिः"–काशि० २।३।७। ३ "सत्वेन"–ता० टि०। ४ –व्यञ्जकं सर्वस्य–आ०, ब०, प०। ५ –णेनैव स–आ०, ब०, प०। ६ –श्रयभेदस्य भेद–आ०, ब०, प०। ७ सल्लिङ्गाविश्लेषेण आ०, ब०, प०। ८ न चायमभ्यु–आ०, ब०, प०। ९ "विशिष्टबुद्धिरित्येह न चाज्ञातविशेषणा ॥८८॥"–मी० श्लो० अपोह०। लौकिक० तृ०। १० न्यायादिति प्र–आ०, ब०, प०।

नित्यसर्वगतत्वमेव न गृह्यते । न सत्त्वमपि तस्य तस्मादर्थान्तरत्वादिति चेत्, कथमेवं तत्र तद्रूपव्यपदेशः– 'नित्यं सर्वगतञ्च सत्त्वम्' इति ? सम्बन्धादिति चेत्, न, तेनापि ताद्रूप्यस्यानवकल्पनात् । अवकल्पने तु स एव प्रसङ्गः–तदनवलोकने तद्रूपं न शक्यपरिज्ञानमिति । न ताद्रूप्यस्य तेनावकल्पनम्, तद्रूपज्ञानस्यैवावकल्पनादिति चेत्, न; अतद्रूपे तद्रूपज्ञानस्य मिथ्यात्वात्, वस्तुतस्तदनित्यमसर्वगतञ्च प्राप्तम् । तथा च कथमेतत्–'एको भाव' इति, प्रतिदेशकालभेदं भिद्यमाने तस्मिन्नेकत्वानुपपत्तेः ? ततो वास्तवमेव तस्य नित्यसर्वगतत्वमिति कथं सर्वदेशकालविशेषापरिज्ञाने तस्य परिज्ञानं यतः कश्चित् कदाचिदपि तत्प्रत्ययं कुर्वीत ?

एतेनावयविज्ञानमपि प्रत्युक्तम्, अवयविनोऽपि स्वारम्भकसकलावयवपरिज्ञानाभावे तद्व्यापिरूपस्य दुष्परिज्ञानत्वात् । तदपरिज्ञाने तद्व्यापित्वमेव तस्य न ज्ञायते न स्वरूपमिति चेत्, न, तस्य तस्मादर्थान्तरत्वात् । अर्थान्तरत्वे कथं तत्र तद्व्यपदेशः– स्वारम्भकावयवव्याप्यवयवीति ? सम्बन्धादिति चेत्, न, तेनापि ताद्रूप्यस्यानवकल्पनात्, अवकल्पने तु पूर्ववद्दोषात् । अतद्रूपे तद्रूपज्ञानस्य तेनावकल्पने वस्तुतस्तद्व्याप्येवावयवीति कथमूर्ध्वाधःपार्श्वभागादिष्वेक एव स्तम्भो भवेत् ? यतः सौगत तद्भाववादिनमतिशयीत वैशेषिकः । तत्र स्वारम्भकनिरवशेषावयवापरिज्ञाने तत्परिज्ञानमुपपन्नम् । तथा च यदुक्तमात्रेयेण– "यदुपलब्धिकारणोपपन्नं वस्तु तद्विशेषणत्वेनोपलभ्यते नासौ न सर्वाधारविशेषणत्वेन । एतेनावयविद्रव्यमपि व्याख्यातम्, येषामवयवानामुपलब्धिकारणमस्ति तैः सहोपलभ्यतेऽवयवी येषां नास्ति न तैः सह" [ ] इति, तदपीत परीक्षापथपरिभ्रष्टानामेव तस्याचष्टे; निरवशेषाधारावयवव्यापित्वभावयोर्भावावयविनोः कतिपयाधारावयवगोचरतया परिज्ञानस्यासम्भवात् । सम्भवतोऽपि अतद्रूपतया मिथ्यात्वापत्तेः । अतः कतिपयाभिरपि व्यक्तिभिरभिव्यज्यमानं सत्त्वं सर्वसाधारणेनैव रूपेणाभिव्यज्यत इति सूक्तम्– 'सैषा व्यस्त त्रैलोक्यम्' इति ।

नन्वेवमपि द्रव्यगुणकर्मणामेव ततोऽभिव्यक्तिः तत्रैव तस्य भावात्–"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" [वैशे० १।२।७] इत्यभिधानात्, न सामान्यसमवायविशेषाणां विपर्ययात् । न च द्रव्यादित्रयमेव त्रैलोक्यम्, तस्य पदार्थसमितेरेकरूपत्वादिति चेत्, आह–'सचराचरम्' इति । चरत्यभिव्यक्त्या स्वेन परस्य बुद्धिं गच्छतीति चरं द्रव्यादित्रयम्, अचरं तद्विपरीतं सामान्यादित्रयम्, ताभ्यां सह वर्तत इति सचराचरं त्रैलोक्यमिति ।

ननूक्तम्–'सामान्यादौ सत्त्वाभावाच्च ततस्तदभिव्यक्तिः' इति, चेत्, द्रव्यादौ कुतस्तद्भावः ? समवायादिति चेत्, न, तस्य सामान्यादावपि भावात्, अन्यथा 'द्रव्यादिसमवेतं सामान्यम्, नित्यद्रव्यसमवेता विशेषाः' इति च प्रत्ययाभावप्रसङ्गः । समवाये तु नितरामनुपपत्तिः,

१ तद्रूपदेश । २ तदनवलोकनस्वरूपदर्शनम् । ३ तद्भाव–आ०, ब०, प० । ४ " सा सत्ता"–वैशे० । ५ न पूर्व आ०, ब०, प० । ६ –व्यक्तिरिति चेत् आ०, ब०, प० । ७ समवाय ।

तत्कृतो यद्यन्यत्र तद्भावो[1] नितरामात्मनि इति न्यायात्। यदि पुनः सत्यपि समवाये न सामान्यादौ तद्भावो[2] द्रव्यादावपि न भवेदविशेषात्। विशेषकल्पनाया तु नैकः समवायः स्यात्। तद्विशेषेऽपि[3] द्रव्यादीनां विशेषो यतस्तत्रैव सत्त्वं न सामान्यादाविति चेत्, तर्हि द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषाणामन्त्यविशेषाणाञ्च तत एव तत्रैव भावोपपत्तेः कैमर्थक्यात् समवायकल्पनम् ? यदि पुनः समवायात् द्रव्यादिवत् द्रव्यत्वादावपि सत्त्वं पृथ्वीत्वाद्यवान्तरसामान्यमपि किन्न भवतीति चेत् ? अयमपि भवत एव पर्य्यनुयोगो यः समवायकृतं द्रव्यादौ सत्त्वमन्वाह, नास्माकं विपर्ययात। ततो युक्तं द्रव्यादिवद् द्रव्यत्वादौ सामान्ये[4] विशेषसमवाययोश्च सत्त्वोपपत्तेः सचराचरं त्रैलोक्यं ततो व्यक्तं भवेदिति।

यत्पुनरिदं सूत्रम्–"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु[5] स भावः" [वैशे० १।२।७३] इति, तत्रैव भाष्यञ्च[6] "परस्परविशिष्टेषु द्रव्यगुणकर्मस्वविशिष्टं सदिति यतोऽभिधानं प्रत्ययश्च भवति स भाव इति। उपलक्षणार्थञ्चैतत् सूत्रम्, तथा द्रव्यमिति [7]यतः पृथिव्यादिषु तद् द्रव्यत्वं गुण इति यतो रूपादिषु तद्गुणत्वं कर्मेति यत उत्क्षेपणादिषु तत्कर्मत्वम्" [ ] इति। तत्र यदि सत्त्वादयो न सन्ति कथं तेभ्यः क्वचिद् व्योमकुसुमेभ्य इव सदाद्यभिधानस्य[8] प्रत्ययस्य च प्रवृत्तिः ? सन्त्येवोपचारतस्त इति चेत्, न; तत्कुसुमेष्वपि तदनिवारणात। किं वा सद्भिस्तेषां[9] साधर्म्यं यतस्तत्र सत्त्वमुपचर्येत ? सद्विशेषणत्वमेव, तथा च भाष्यम्–"यथा च सन्ति द्रव्यगुणकर्माणि सतामपि द्रव्यगुणकर्मणां विशेषणं तथा सामान्यविशेषसमवाया इति सन्त इव सन्त इत्युच्यन्ते।" [ ] इति चेत्; न; परस्पराश्रयापत्तेः–सति द्रव्यादीनां सत्त्वे तद्विशेषणत्वेन सत्त्वादेः सत्त्वम्, सता च तेन सम्बन्धाद् द्रव्यादीनां सत्त्वम् पृथिव्यादीनाञ्च द्रव्यादित्वमिति। तन्नोपचारतस्तेषां सत्त्वम्।

नापि सत्तासम्बन्धात; सत्तासम्बन्धे हि सामान्यादीनामपरजातित्वप्रसङ्ग इति स्वयमेव तन्निराकरणात्। भवन्तु तर्हि स्वत एव ते सन्त इति चेत्; कथं तर्हीदं भाष्यम्–"सामान्यविशेषसमवायानां तु सदित्यभिधानप्रत्ययावौपचारिकौ" [.] इति ? वस्तुभूतस्वरूपसत्तानिबन्धनयोस्तयोरौपचारिकत्वानुपपत्तेः। स्वतश्च तेषां सत्त्वे तद्वद् द्रव्यादीनामपि स्यादविशेषात्। एतदेवाह–

सत्तायोगाद्विना सन्ति यथा सत्तादयस्तथा ॥१५५॥
सर्वेऽर्था देशकालाश्च सामान्यं सकलं मतम्। इति।

सत्तया महासामान्येन **योगः** सम्बन्धः तस्माद् **विना** तमन्तरेण **यथा** येन

---

१ समवेतत्वम्। २ सत्त्वभाव। ३ समवायाविशेषेपि। ४ समान्येनवि–आ०, ब०, प०। ५ –कर्मसु इति आ०, ब०, प०। ६ "परस्परविशिष्टेषु द्रव्यगुणकर्मस्वविशिष्टा सत्सदिति प्रत्ययानुवृत्तिः सा चार्थान्तराद्भवितुमर्हतीति यत्तदर्थान्तरं सा सत्तेति सिद्धा।"–प्रश० भा० पृ० १६५। ७ "अभिधानं प्रत्ययश्च भवतीति सम्बन्धनीयम्, एवं गुणत्वकर्मत्वयोरपि।"–ता० टि०। ८–न प्रत्ययप्रवृ–आ०, ब०, प०। ९ सामान्यादीनाम्।

सत्तादिष्वप्यपरसत्तासम्बन्धकल्पनायामनवस्थितिरिति प्रकारेण तेषु तत्प्रतीत्यभावप्रकारेण वा, **सन्ति विद्यन्ते सत्तादयः** आदिशब्दाद् द्रव्यत्वादयश्च । **तथा** तेन प्रकारेण **अर्थाः** द्रव्यादयः "द्रव्यगुणकर्मस्वर्थः" [वैशे० ८।२।३] इति वचनात्, **सर्वे निरवशेषाः** सन्तीति सम्बन्धः । न हि तत्राप्यर्थान्तरस्य सत्त्वस्य प्रतिपत्तिः, रूपमेवानवलोकनात् । सम्बन्धात् तदनवलोकनमिति चेत्, न, सर्वथाप्यनवलोकनप्रसङ्गात् । [1]तद्भेदाद्रूपात् तदस्याप्यं नयोर्न्तरत्वात् । यथापि[2] [3]तस्यावलोकने नानेकान्तप्रतिक्षेप अवलोकितानवलोकितरूपत्वेन तस्यावश्यम्भावात्, तथा च सामान्यविशेषात्मकत्वेनैव किन्न स्यात्, यतः प्रतीतिमतिलङ्घ्य सत्त्वमर्थान्तरं परिकल्प्येत ? कथं वानवस्थानिर्मुक्तिः ? सत्तादिषु सत्त्वान्तरस्याभावादिति चेत्, न, तीव्रति सत्प्रत्यये तदभावस्यासम्भवात् । औपचारिक एव स [4]तत्र माणवके सिंहप्रत्ययवदिति चेत्, न, बाधकाभावे [5]तत्त्वानुपपत्तेः । [6]तत्र [7]तदन्तरानवलोकनमेव बाधकमिति चेत्, यद्येवं प्रतिपद्यसे द्रव्यादिष्वपि तन्माभूत्, अनवलोकनस्याविशेषात् । अनवलोकितमपि[8] सत्प्रत्ययादवगम्यत इति चेत्, न तर्हि तत्प्रत्ययस्यानवलोकनं बाधकमिति कथं सत्त्वादिष्वपि सत्त्वान्तरं नावगम्येत यतोऽनवस्थानं न प्राप्नुयात् ? तस्मात् स्वत एव द्रव्यादयः सन्ति, पृथिव्यादीनि द्रव्याणि रूपादयो गुणाः उत्क्षेपणादीनि कर्माणीति वक्तव्यम्, प्रतीतिव्यापारस्यैवमेवानुभवात् ।

नन्वेवं सत्त्वादीनां [9]पृथगभावे कथं [10]दृष्टान्तत्वम् ? परप्रसिद्धयेति चेत्, न, तस्याः प्रमाणत्वे तथा तदभावानुपपत्तेः । अभ्युपगममात्रत्वे तु तद्विषयनिदर्शनबलादवस्थाप्यमानं तद्द्रव्यादिगतसत्त्वमपि तादृशमेव भवेदिति चेत्, सत्यम्, न हि वयं दृष्टान्तबलात् तत्र तत्सत्त्वमवकल्पयामो निरपवादात्[11] तत्प्रतीतिबलादेव तदवकल्पनात् । सत्त्वादिनिदर्शनोपदर्शनं तु परस्य तद्वलात्तिलङ्घनमवस्थापयितुम्–'यदि द्रव्यादिषु तद्बलमतिलङ्घयसि किन्न सत्त्वादिष्वपि लङ्घयसनवस्थादोषमस्माकर्षसि ?' इति । भवति चैवमवस्थापनम्[12]–"स्ववाग्[13](पाश)बद्धा वादिनो न विचलिष्यन्ति" [   ] इति न्यायात् । कुतो वा सत्त्वादीनां सामान्यरूपत्वं यतस्तत्र सामान्यान्तराभावः ? समानप्रत्ययहेतुत्वादिति चेत्, न, देशकालावस्थासंस्कारादेरपि तद्रूपत्वापत्तेः । अस्ति हि तस्यापि[14] तत्प्रत्ययहेतुत्वम्–'दाक्षिणात्योऽयम् अयमपि दाक्षिणात्यः' इति देशात्, 'प्रावृषिजोऽयम् अयमपि प्रावृषिजः' इति कालात्, 'बालोऽयम् अयमपि बालः' इत्यवस्थातः, 'पण्डितोऽयम् अयमपि पण्डितः' इति संस्काराच्च तत्प्रत्यय

---

१ अनवलोकितत्वपरिशेषात् । २ अर्थात् योरन्य स्थान्तरस्य । ३ अनवलोकितत्वस्मात्भेदेऽपि । ४ रूपान्तरस्य । ५ –त्वेनैव आ०, ब०, प० । ६ सत्तादिषु । ७ औपचारिकत्वानुपपत्तेः । ८ सामान्यादिषु । ९ सत्तान्तर । १० सामान्यम् । ११ पृथगभावे आ०,ब०,प० । १२ "स्ववाग्वद्धा यान्ति यथा गतारयः" इति–ता०टि० । १३–वाग्बद्धा–आ०, ब०, प० । १४ –एवं स्ववाग्बद्धा इत्यादि नियन्त्रिता आ० । 'अस्मिन् पाठे स्ववचनपाशनिबद्धा वादिनः' इत्यर्थो ज्ञेयः । १५ "स्ववाग्बद्धा वादिनो न विचलिष्यन्ति"–प्रमेयक०पृ०११२ । १६–तिप्रत्यय– आ०, ब०, प० ।

प्रादुर्भावस्यावलोकनात् । अथ तत्रापि देशादेर्धर्मविशेषाणामुत्पत्तौ तदधिष्ठानाः सामान्यविशेषा एव तत्प्रत्ययहेतवो न देशादय इति चेत्; न; तेभ्य एव तद्दर्शनात् । अन्यतस्तत्परिकल्पनायां सर्वत्र हेतुफलभावनियमनिर्लोपापत्तेः । अतो देशादय एव तद्धेतव इति भवत्येव तेषां सामान्यरूपत्वम् । तदेवाह–**देशकालाश्च** । च शब्दादवस्थादयश्च **सामान्यं** भवेयुरिति वाक्यशेषः । तथा च यदुक्तम्–"सामान्यादयो न सत्तासम्बन्धवन्तः, अवान्तरसामान्यविकलत्वात्, ये तु तत्सम्बन्धवन्तो न ते तद्विकलाः यथा द्रव्यादयः तद्विकलाश्च सामान्यादयः, तस्मान्न तत्सम्बन्धवन्तः" [ ] इति; तत्प्रतिव्यूढम्; देशादिवदन्येषामपि द्रव्यगुणकर्मणां क्वचित् कथञ्चित् कदाचित् सामानप्रत्ययहेतुत्वेन सामान्यरूपतोपपत्तौ न सत्तासम्बन्धो नावान्तरसामान्यमित्युभय[1]व्यावृत्त्या वैधर्म्योदाहरणत्वानुपपत्तेः । समानप्रत्ययहेतुरेव सामान्यं देशादयस्तु नैवम्, विशेषप्रत्ययस्यापि तत एव भावादिति चेत्; न तर्हि सत्त्वद्रव्यत्वादयोऽपि सामान्यं समानप्रत्ययवत् [2]प्रागभावादिरूपादिव्यावृत्तिप्रत्ययस्यापि तत एव भावादिति न किञ्चिदेतत् । स्याद्वादिनां तु नायं दोषः सर्वस्यापि विशेषात्मकत्ववत् सामान्यात्मकत्वस्यापि प्रतीतिबलेन तैरभ्युपगमात् । तदाह– **सकलं** चेतनेतररूपं वस्तु **मतम्** अङ्गीकृतं सामान्यमिति सम्बन्धः ।

सकलमपि यदि सामान्यं तर्हि सन्मात्रमेव जगत् प्राप्तम्, तस्माद्व्यतिरेके सामान्यरूपत्वानुपपत्तेः, अभिमतञ्चैतद् ब्रह्मविदाम्–सकलभेदकलापमलविकलस्य तन्मात्रस्यैव[4] ब्रह्मरूपतया तैरभ्युपगमादिति चेत्; कुतस्तदभ्युपगमः ? स्वेच्छानिबद्धादभ्युपगमात् तत्सिद्धावतिप्रसङ्गात् । प्रतिभासबलोपनिबद्धादिति चेत्; न; निर्भेदस्याप्रतिभासनात् । न हि निर्भेदस्य सतः प्रतिभासनम् जीवपुद्गलादिभेदतत्प्रभेदपरिकलितशरीरतया भेदरूपस्यैव तस्य प्रत्यवभासनात् । कथमन्यथा संसारतत्कारणादिः, तस्य भेदरूपत्वेन तदभावेऽनुपपत्तेः ? मा भूदिति चेत्; न; "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" [कठ० ४।१०] इत्यादेर्वचनस्य निर्विषयत्वापत्तेः । भवतु भेदप्रतिभासः स तु अविद्यारूपवारवनितास्वैरविलासपरिकल्पितत्वेनातत्त्वविषय एवेति चेत्; कथं तस्यार्थान्तरत्वे ब्रह्मणः तात्त्विक एव भेदो न भवेत् ? तस्यासत्त्वादिति चेत्; न; 'असंश्च प्रतिभासश्च' इति व्याघातात् । भावाभावाभ्यामनिर्वचनीयत्वादिति चेत्; न; तद्रूपस्याप्यसत्त्वे भेदप्रतिभासत्वानुपपत्तेः । सत्त्वे भेदतात्त्विकत्वस्य[5] तदवस्थत्वात् । तस्यापि ताभ्यामनिर्वचनीयत्वकल्पनायां प्राच्यप्रसङ्गानिवृत्तेरनवस्थापत्तेश्च[6] । ततस्तस्यानर्थान्तरत्वे तु ब्रह्मापि तद्वत् तद्विलासपरिकल्पितं भवेत् । न चैवम्, तस्य निरवद्यविद्यारूपतया परैः प्रतिज्ञानात्[7] । नायं दोषः तस्य ततो भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्यत्वादिति चेत्; न; तद्रूपस्यासत्त्वे प्रतिभासत्वासम्भवात् । सत्त्वेऽप्य-

१ साध्यहेतूभय । २ प्रागभावा–आ०, ब०, प० । प्रागभावादिव्यावृत्तिप्रत्ययः सत्त्वात्, रूपादिव्यावृत्तिप्रत्ययः द्रव्यत्वात् । ३–पविक– आ०, ब०, प० । ४ सन्मात्रस्यैव । ५ –तात्त्विकस्त्व आ०, ब०, प० । ६–प्रसङ्गानतिवृ– आ०, ब०, प० । ७ परिज्ञा– आ०, ब०, प० । "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"–बृहदा० ३ । ९ । २४ ।

र्थान्तरत्वेऽनर्थान्तरत्वे च पूर्ववत्प्रसङ्गात्। तस्यापि ताभ्यामनिर्वचनीयत्वकल्पनायाम् अनवस्थानोपनिपातात्।

स्यान्मतम्-अयमेव अविद्यासुरवधूविलासप्रपञ्चस्य स्वभावो यदुरुविचारपरशुपरिपातासहिष्णुत्वम्। तत्सहिष्णुत्वे तत्प्रपञ्चत्वपरित्यागापत्तेः।

"अविद्याद्विधाऽविद्यात्वं विचारं सहते यदि।
न्यायघातासहिष्णुत्वमविद्यालक्षणं यतः॥" [ ]

इति वचनादिति चेत्, न, तत्स्वभावस्यापि तेनैवासत्त्वयोस्ताभ्यामनिर्वचनीयत्वे च भेदाभेदयोस्ताभ्यामनिर्वचनीयत्वे च पूर्ववत्प्रसङ्गात् तस्यापि तत्पविघातासहिष्णुत्वस्याप्यवर्णनायामनवस्थितेरप्रतिक्षेपात्। ततो दूरं गत्वापि तात्त्विकं तदर्थान्तरञ्च तद्रूपमभ्युपगन्तव्यमिति कथं न भेदो वास्तवो यतस्तदात्मकमेव सत्त्वं न भवेत्? तदाह-

सर्वभेदप्रभेदं सत् सकलाङ्गशरीरवत् ॥१५६॥ इति।

भेदाश्च जीवपुद्गलादयः प्रभेदाश्च तेषामवान्तरविशेषाः, जीवस्य संसारिणो मुक्ताः त्रसस्थावराः सकलेन्द्रिया विकलेन्द्रियाः सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिन इति, पुद्गलस्य पृथिव्य आपस्तेजांसि वायव इति भेदप्रभेदाः, सर्वे निरवशेषा भेदप्रभेदा यस्मिंस्तत् सर्वभेदप्रभेदं सत् सत्त्वं भावप्रधानस्याभिधेयत्वात्। सकलेत्यादि तत्रैव निदर्शनम्। सकलान्यङ्गानि करचरणादीनि यस्य तच्च तच्छरीरं च तदिव तद्वदिति। तात्पर्यमत्र-यथा न पाणिपादादेरर्थान्तरं शरीरं तद्भाव एवोपलभ्यमानत्वात्। न हि तदर्थान्तरत्वे तस्य तद्भाव एवोपलब्धिः, गोरभावेऽप्यश्वस्योपलम्भात्। न चैवम् अतोऽनर्थान्तरमेव ततस्तत्। उक्तञ्चैतत्-"भावे चोपलब्धेः" [ब्रह्मसू० २।१।१५] इति। अतश्च तस्य ततोऽनर्थान्तरत्वं यस्तत्प्रत्यक्षतस्तथैवोपलभ्यते। न हि गवाश्ववत् पाण्यादिशरीरयोर्भेदेनोपलब्धिः, परस्पराविष्वग्भावेनैवोपलब्धेः। न चोपलब्धेर्लक्षणान्तरम्, अतिप्रसङ्गात्। इदमप्युक्तम्-"भावाच्चोपलब्धेः" [ब्रह्मसू० २।१।१५] लक्षणान्तरं इति। तथा तत एव सद्रूपमपि भेदादनर्थान्तरमभ्युपगन्तव्यम्। न हि तस्यापि भेदाभावेऽपि भेदादन्यत्वेनाप्युपलब्धिः, सत्त्वेव द्रव्यादौ भेदे तत्प्रभेदे च तदनर्थान्तरत्वेन च सर्वत्र सर्वदापि प्रतिपत्तेः। तदनर्थान्तरत्वे तस्य भेदस्येव भेदान्तरं प्रति तस्याप्यननुगमनं न भवेत्, तथा च "तदन्तरस्य सर्वस्याप्यसत्त्वादेकभेदमात्रमेव सद्रूपं प्राप्तम्। तच्च प्रतीतिविरुद्धमिति चेत्, न, शरीरेऽप्येव प्रसङ्गात्। न हि तस्यापि पाण्यादेरव्यतिरेके तेनैव तदन्तरं प्रत्यनुगमन-

---

१ भद्रुतसि-आ०, ब०, प०। २ स्यादविद्या-आ०, ब०, प०। ३ न्यायघातस-ता०। ४ "अविद्याया अविद्यात्वं इदमेव तु लक्षणम्। मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते॥"-बृ० सं० वा० श्लो० १८१। ५ सद्रूपत्वा-आ०, ब०, प०। ६ भता स्या-आ०,ब०,प०। ७ पृथिव्यापस्ते-आ० ब०, प०। ८ सद्रूपान्तरम्। ९ 'लक्षणान्तर' इति पदं सम्प्रत्यप्रासङ्गिकमिति भाति। १० "भावाच्चोपलब्धेरिति वा सूत्रम्"-ब्रह्म० शा० भा०। ११ भेदान्तरस्य। १२ पाण्यादिभेदेन। १३ अवयवान्तरम्।

मिति तस्याशरीरत्वादेकावयवमात्रमत्र तदपि प्रतीतिविरुद्धं प्राप्नुयात् । स्वत एव पाण्यादेः शरीरत्वं नैकशरीरानुगमनादिति चेत् ; द्रव्यादेः सत्त्वमपि तथैव किन्न स्यात् ? सत्त्वबहुत्वापत्तेरिति चेत् ; शरीरबहुत्वापत्तेरितरदपि न भवेत् ।

ननु शरीरं नाम कणादस्य परम्परया परमाणुकार्यम् , परमाणुभ्यां हि संयोगसहायाभ्यां द्व्यणुकम् , द्व्यणुकाभ्याञ्च चतुरणुकमुत्पद्यते, यावदन्त्यावयवि शरीरमिति तन्मतप्रसिद्धेः । परमाणवश्च नित्याः ते च यदि प्रवृत्तिस्वभावाः; सर्वदा तत्कार्याणामुत्पत्तिरेव नोपरमः । निवृत्तिस्वभावत्वे नोत्पत्तिः । उभयस्वभावत्वं तु विरोधादसम्भाव्यम् । अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात् प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसन्निधानात् नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गः । अतत्त्वेऽप्यदृष्टादेः ; नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । तस्मादनुपपन्नः परमाणूनां कारणभाव इति कथं तद्द्व्यणुकादिरन्त्यावयविपर्यन्तः कार्यप्रबन्धो यस्य स्वावयवभेदाभेदपरिचिन्तया [2]परिक्लिश्नीम इति चेत् ; न ; सद्रूपस्याप्यौपनिषदस्यैवमसम्भवात् । तदपि यदि प्रवृत्तिस्वभावम् ; सृष्टिरेव सर्वदा जगत इति कथं प्रलयो महाप्रलयो वा ? निवृत्तिस्वभावं चेत् ; सर्गाभावात् कथं जगत्प्रपञ्चप्रतिभासः ? तदुभयस्वभावत्वं पुनस्तत्रापि निष्कलैकस्वभावे विरोधादेवासम्भाव्यम् । अनुभयस्वभावञ्चेत् ततोऽपि कथं जगदुत्पत्तिस्थितिविपत्तयो[3] यत इति ? निमित्तवशादेव तस्य [4]प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा न स्वत इति चेत् ; तदपि निमित्तं यदि नित्यमव्यतिरिक्तञ्च ततः ; किमभ्यधिकमभिहितम् ? व्यतिरिक्तञ्चेत् ; कथमद्वैतम् तत्त्वम्? अपि च प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्यतरैव तस्यापि स्वभावो नोभयम् , विरोधाविशेषादिति सम एव दोषः–प्रवृत्तिस्वभावत्वे सर्ग एव जगतः, निवृत्तिस्वभावत्वे च न प्रपञ्चप्रतिभास इति । तस्याप्यनुभयस्वभावस्य निमित्तवशात् प्रवृत्तिनिवृत्तिपरिकल्पनायाम् ; अयमेव प्रसङ्गोऽनवस्थापत्तिश्च । तन्न तन्नित्यमनित्यमपि ।

ब्रह्मणश्चेन्न तत्कार्यं जगद्ब्रह्मकृतं कथम् ?
कार्यं चेत् नित्यकार्यस्य कदाचिद्भवनं कथम् ? ॥ ११७० ॥
सर्गप्रलययोर्येन कादाचित्कत्वमुच्यताम् ।
कादाचित्कनिमित्ताच्चेत् तत्कादाचित्ककल्पनम् ॥ ११७१ ॥
तत्राप्येवं प्रसङ्गे किन्नानवस्थितिरापतेत् ।
अनादेस्तत्प्रबन्धस्य न चेद्दोषोऽनवस्थितिः ॥११७२॥
क्रमे सति प्रबन्धः स्यादक्रमाच्च क्रमः कथम् ? ।
अक्रमं च मतं ब्रह्म कूटस्थं यत्तदिष्यते ॥११७३॥

---

१ शरीरत्वमपि । २ परिक्लिश्नीम आ०, ब०, प० । ३ –यो नियतः आ०, ब०, प० । ४ प्रवृत्तेर्निवृ– आ०, ब०, प० ।

प्रबन्धवद्भिमिथ्यावेभिमितं तत्प्रबध्यते ।
प्रबन्धवत्त्वं तस्यापि परस्मादेव तादृशात् ॥११७४॥
तथा सत्यम (न) तस्यानादोर्णाभिर्मुच्यसे कथम् ।
तथोपनिषदं सत्त्वमप्युत्पत्त्यादिकारणम् ॥ ११७५॥

सत्यम्, अकारणमेव ब्रह्म तस्य नित्यनिरञ्जनरूपतया शान्तात्मनः कस्यचित्प्रवृत्तिनिवृत्त्योरसम्भवात्, अविद्योल्लासस्य तु जगत्कारणस्य तदभ्यन्तरीयकत्वात् तदपि तत्कारणमावेदयन्ति मुनयः । नहि विद्यासम्पर्कविकलस्तदुल्लासः प्रतिभासरहितस्य तस्यासम्भवात्, प्रतिभासस्य च विद्यारूपत्वादिति चेत्, कुतस्तथाभूतस्य परिज्ञानम् ? "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्" [छान्दो० ६ । २ । १] इत्यादेराम्नायादिति चेत्, न, तस्यापि निरंशपरमाणुरूपस्याऽप्रतिवेदनात् । स्थूलत्वे तु नानावयवसाधारणत्वमवश्यम्भावि, तस्य तदन्तरेणानुपपत्तेः । तथा च तदेव स्वावयवेभ्योऽनर्थान्तरं भवत्प्रस्तुते वस्तुनि निदर्शनम्, शरीरग्रहणस्योपलक्षणत्वादिति सिद्धो नः सिद्धान्तः । तस्याप्यविद्योल्लासनिबन्धनत्वेन न स्वावयवेभ्यो भेदो नाप्यभेदो वस्तुसद्विषयत्वात् तद्विकल्पस्येति चेत्, कथमिदानीं तद्बलात् तत्त्वतो ब्रह्मसिद्धिः अवस्तुसतस्तदनुपपत्तेरतिप्रसङ्गात् । माभूत्तत्त्वप्रतिपत्ति तदुपकल्पितादन्यत एव ज्ञानात् तत्परिज्ञानोपगमादिति चेत्, न, तत्रापि तस्येत्यादेरनुगमादनवस्थापत्तेश्च । ततो दूरमनुसृत्यापि किञ्चित्तात्त्विकमेव तज्ज्ञानमनर्थान्तरञ्च स्वावयवेभ्यो वक्तव्यं तथा च सिद्धं तद्वदेव सद्रूपस्यापि भेदप्रमेयरूपतत्त्वं(रूपत्वम्) तथैव निर्बाधावबोधादित्युपपन्नमुक्त 'सकलाङ्गशरीरवत्' इति ।

यस्य तु मतम्—साध्यवैकल्यं निदर्शनस्य शरीरस्यापि तदङ्गेभ्यो नियमेनानर्थान्तरत्वाभावादिति, तदपि दुर्मतम्; जीवस्यनर्थान्तरत्वपरिज्ञाने तदनुपपत्तेः । समवायादेव तत्परिज्ञानं नानर्थान्तरत्वादिति चेत्, कः पुनः संयोगात् समवायस्य विशेषो यतस्तत एव तत्परिज्ञानं न संयोगादपि । अयुतसिद्धसम्बन्धत्वमेवेति चेत्, न तावदियमयुतसिद्धिरपृथग्देशत्वम्, शरीरतदङ्गयोस्तदभावेन समवायाभावापत्तेः । नहि तयोरपृथग्देशत्वम्, शरीरस्य तदङ्गदेशत्वात् तदङ्गानाञ्च तदारम्भकदेशत्वात् । अवयवमहिम्नस्तु लौकिकस्य पृथग्देशत्वस्याभावादपृथग्देशत्वं तयोरिति चेत्; न, करतलगतयोः कुवलयामलकयोरपि तथात्वेन समवायापत्तेः । नाप्यभिन्नकालत्वम्, अत एव । न च शरीराभिन्नकालत्वं तदङ्गानाम्, प्रागपि भावात्, अन्यथा तदारम्भकत्वानुपपत्तेः । शरीरस्यैव सम्बन्धापेक्षमभिन्नकालत्वम्, नहि शरीरमन्यदाऽन्यदा च सम्बन्धः । सम्बध्यमानस्यैव तस्योत्पत्तेरिति चेत्; कुत एतत् ? तत्सम्बन्धस्य तदेकसामग्र्यधीनत्वादिति चेत्, न, तस्य नित्यस्योपगमात् । तदुत्पत्तिसमये तस्य भावादिति चेत्, तत एव कुवलयमप्यामलकेन तादृशमेवोत्पद्येत । आमलकस्याकारणत्वान्नेति चेत्, न तेनापि तत्सम्बन्धविमुक्ता

१ आम्नायस्यापि । २ भेदाभेदविकल्पस्य । ३ आम्नायप्रभवम् । ४ आम्नायतो ब्रह्मप्रतिपत्तिः । ५ तैरेवमि–आ०, ब०, प० । ६ करतलामलकयोरपि । ७ एवसम्भवप–आ०, ब०, प० ।

देरनिवारणात्, तथा च तत्सम्बन्धोऽपि समवाय एवेति न संयोगस्यावकाशः कश्चित्।

का चेयमुत्पत्तिर्यस्याः सम्बन्धाभिन्नकालत्वम्? प्रागसतः शरीरस्यात्मलाभ एवाभावविलक्षण इति चेत्; न; तस्य द्रव्यादिष्वनन्तर्भावे सप्तमस्य पदार्थस्य प्रसङ्गात्। अन्तर्भावोऽपि न सामान्यादित्रयतया; तस्य नित्यत्वेनानुत्पत्तिरूपत्वात्। नापि गुणकर्मत्वेन; शरीरस्य द्रव्यत्वोपगमात्। द्रव्यत्वेनैवेति चेत्; कुतस्तस्य तत्त्वम्? स्वत एवेति चेत्; न; द्रव्यत्वकल्पनावैफल्योपनिपातात् द्रव्यत्वसम्बन्धादिति चेत्; न; सम्बन्धाधीनस्य स्वभावस्यातात्त्विकत्वात् स्फटिकोपरागवत्। संयोगायत्तमेव स्वरूपमतात्त्विकं न समवायाधीनमिति चेत्; न; तादात्म्याभावस्योभयत्राविशेषात्। ततो वस्तुतः सप्तम एव पदार्थ इति दुस्तरो व्याघातः परस्य। तत्र प्रागसत आत्मलाभ उत्पादः। तर्हि भवतु सत्तासम्बन्धः कारणसम्बन्धो वा स इति चेत्; कथमेवमुत्पादसम्बन्धयोरभिन्नकालत्वं तस्य भेदनिष्ठत्वात्? सम्बन्धस्यैवोत्पादत्वे च भेदासम्भवात्। तन्नाभिन्नकालत्वमयुतसिद्धिः। अभिन्नस्वभावत्वमिति चेत्; सिद्धस्तर्हि तादात्म्यपरिणाम एव समवायः, तत्रैव सति तत्स्वभावत्वोपपत्तेरिति न साध्यवैकल्यं निदर्शनस्य।

नापि साधनवैकल्यम्; निर्बाधतादात्म्यप्रत्ययविषयत्वस्य शास्त्रकारहृदयगतस्य साधनस्य दार्ष्टान्तिकवत् तत्रापि भावात्। ततो युक्तमेव तत्–'सर्वभेदप्रभेदात्मकं सत्, निरवद्यतादात्म्यप्रत्ययविषयत्वात्, स्वाङ्गप्रत्यङ्गात्मकशरीरवत्' इति। सद्रूपाव्यतिरेके कथं भेदप्रभेदौ भावानामिति चेत्? न; तथात्वेनापि प्रतिभासात्। नहि सद्रूपतयैव भावाः प्रत्यवभासन्ते सद्रूपेणेव समविषमपरिणामाविष्टानभेदप्रभेदरूपेणापि[1] परिस्फुटज्ञानवपुषि तेषां निरपवादतया प्रत्यवभासनात्, निरवद्यप्रतिभासोपाध्यायत्वाच्च भावतत्त्वप्रतिष्ठायाः। तदाह—

तत्र भावाः समाः केचिन्नापरे चरणादिवत्। इति।

तत्र तस्मिन्नुक्तरूपसद्रूपे सति **भावा** जीवादयः **समाः** परस्परं समानपरिणामरूपा नाभेदिनः। तथा च दुराम्नातमेतत्–

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" [श्वेता० ६।११] इति।

जीवानां प्रतिशरीरं सदृशपरिणामाविष्टानतया भेदिनामेव प्रतिभासनान्नाभेदिनाम्। उपाधिभेदादेव तत्र भेदप्रतिभासो न स्वरूपभेदादिति चेत्; न; सर्वाभेदवादिनामुपाधिभेदस्यापि वस्तुवृत्तेनाभावात्। सोऽपि[3] परोपाधिभेदोपनीतात् तत्प्रतिभासादेव न तत्त्वत इति चेत्; न; अनवस्यादोषात्। नचापरापरापरिमितोपाधिभेदप्रतिभासा युगपदनुभवपारिजातशीतलच्छायामण्डलपिण्डीभूताः[4] प्रत्यवलोक्यन्ते येनैवं तत्त्वस्थितिं प्रति विलब्धबुद्धयः[5] सुखमध्यासीमहि। वस्तुतश्चोपाधिभेदव्यवस्थापने न प्रतिभासभेदादन्यन्निबन्धनम्[6]। अतस्तत एव युग-

१ "सामान्य" –ता० टि०। २ भेदप्रभेदरूपेणापि। ३ उपाधिभेदोऽपि। ४ –वपारिजात–आ०, ब०, प०। ५ "विस्रब्धविश्वस्तविचः, समौ विस्रम्भविश्वासौ इत्यमरः। विस्रब्धविस्रम्भशब्दावेकधातुसमुत्पन्नौ"–ता० टि०। ६ –दन्यनि– आ०, ब०, प०।

यदनेककायगोचराणां जीवानामपि भेदोपपत्तेः समाना एव ते परस्परं नाभेदिन इत्युपपन्नमुक्तम्– **'समा भावाः'** इति ।

यद्येवमेकशरीराधिष्ठानानामपि पूर्वापरचित्तक्षणानां सादृश्यमेव परस्परं नैकत्वमिति चेत्, अत्रोत्तरम्– **'केचिन्नापरे'** इति । **केचित्** नानादेहगह्वरपरिवर्तिन एव ते **समा नापरे** नैकवपुःसम्पर्किणस्तत्र भेदवदभेदस्यापि तत्प्रतीतिबलेनावस्थापनात् । अभिहितञ्चैतत्– 'भेदज्ञानात्' इत्यादिना । यदि वा **केचित्** जीवा एव परस्परं **समा** नापरे जीवपुद्गलादयस्तेषां परस्परतो विसदृशपरिणामाधिष्ठानतया प्रतीतेः । अत्रोदाहरणम्–**'चरणादिवत्'** इति । **चरण आदि**र्येषां करशिरःपृष्ठोदरादीनां ते इव तद्वदिति । यथा चरणादीनामेक शरीरात्मकत्वेऽपि भेदाभेदरूपत्वं परस्परतः समविषमात्मकतया भिन्नरूपतयैव प्रतीतेः । चरणादयो हि चरणादिभिः समा न करादिभिः, तेऽपि तदन्तरैः समा न चरणादिभिरिति, तथा सद्द्रव्यपर्यायैकसत्त्वेऽपि जीवपुद्गलादीनामिति ।

साम्प्रतं प्रस्तुतप्रस्तावार्थविस्तारमुपसंहर्तुं दर्शयन्नाह–

एकानेकमनेकान्तं विषमञ्च समं यथा ॥ १५७ ॥
तथा प्रमाणतः सिद्धमन्यथाऽपरिणामतः । इति ।

सदित्यनुवर्तते तद्विषयविषयिरूपं वस्तु **एकम्** अनुगतरूपापेक्षया, **अनेकं** व्यावृत्ताकारापेक्षया । अनेन द्रव्यपर्यायरूपत्वमुक्तम् । तथा **विषमं** विसदृशरूपं **'च'** शब्दः समुच्चये द्रष्टव्यः । **समं च** न केवलं **विषमम्**, अपि तु **समं च** सदृशपरिणामि च । इत्यनेन सामान्यविशेषात्मकत्वं निवेदितम् । अत एव **अनेकान्तम्** अनेकस्वभावम् । न चेदं वाङ्मात्रमपि, **यथा** येन प्रस्तुतप्रस्तावप्रपञ्चितप्रकारेणानेकान्तं वस्तु भवति **तथा** तेन प्रकारेण **सिद्धं** निश्चितम् । कुतः **प्रमाणतः** प्रत्यक्षादन्यतश्च, तस्यापि तद्विषयत्वेन निरूपयिष्यमाणत्वात् । यद्येकं कथमनेकं विरोधादिति चेत्? अत्रोत्तरम्–**'अन्यथा'** इत्यादि । **अन्यथा** अन्येनैकान्तप्रकारेण विषयग्रहणव्यापारः परिणामस्तदभावाद् **अपरिणामतः** प्रमाणस्येति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धः । तथा हि यद्येकमनेकात्, तदपि एकत्वादेकान्ततो व्यावृत्तं प्रमाणतोऽवगम्येव भवत्येव तद्भेदस्य विरोधः प्रमाणप्रत्यनीकत्वात् । न च तस्य तादृशस्य प्रतिपत्तिः, अन्योन्यात्मन एवावगमात् । न च प्रमाणावगते विरोधः, वस्तुमात्रेऽपि तत्प्रसङ्गेन नैरात्म्यवादोपनिपातात् ।

क्षणिकमेव वस्तु प्रत्यक्षतोऽवगम्यत इति चेत्, तत्पुनः प्रत्यक्षं व्यावहारिकं वा स्यात्तस्येदं लक्षणम्–"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्" [प्र०वा० १।३], पारमार्थिकं वा यस्यापीदं

---

१ यद्येकमेव शरीराधिष्ठानामपि आ०, ब०, प० । २ "भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि । अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ॥"–ता०टि०। न्यायवि० श्लो० ११८ । ३ न परे ता०। ४ –तेः तत्रो–ता०। ५ –पुद्गलानामि–आ०, ब०, प० । ६ –स्य दर्श–आ०, ब०, प० ।

लक्षणम् –"अज्ञातार्थप्रकाशो वा" [प्र०वा० १।३] ? व्यावहारिकमिति चेत्; ननु तन्निश्चयात्मकमेव, तथैव व्यवहर्तृषु प्रसिद्धेः, अन्यथा "मनसो[1]" [प्र०वा० २।१३३] इत्यादिना तत्प्रसिद्धिप्रतिपादनस्यानुपपत्तेः। न च ततः क्षणिकस्य प्रतिपत्तिः, निर्विवादत्वेनानुमानवैफल्यापत्तेः। द्वितीयविकल्पेऽपि कुतस्तदनुमानस्य प्रामाण्यम् ? समारोपव्यवच्छेदादिति चेत्; कोऽयं समारोपो नाम ? क्षणिकेऽक्षणिकज्ञानमिति चेत्; उच्यते–

कालत्रयानु[2]यायिनमिह न क्षणिकं वदन्ति विद्वांसः ।
प्रत्यक्षादिव तत्र क्षणिकज्ञानात्सुबोधं वः ॥११७६॥
न ह्यक्षणिकं ज्ञानं वस्तुबलादस्ति बौद्धसिद्धान्ते ।
कल्पितरूपं कथमिव तत्कस्यापि प्रतीतिकरम् ॥११७७॥
तस्याप्यक्षणिकत्वं क्षणिकज्ञानान्न शक्यकल्पनकम् ।
अक्षणिकञ्च न किञ्चिद्विज्ञानं तात्त्विकं भवताम् ॥११७८॥
कल्पितमक्षणिकं तद्यदि पुनरुच्येत पूर्ववद्दोषः ।
पुनरपि तद्वद्वचने कथमनवस्थानतो मुक्तिः ? ॥११७९॥
तन्न समारोपोऽयं शक्यपरीक्षस्ततः कथं [3]ब्रूयुः ।
तद्विच्छित्तिविधानात् प्रमाणमनुमानमिति बौद्धाः ? ॥११८०॥

अपि चैवं कथं नीलादिविकल्पस्यापि न प्रामाण्यम् ? नीलादौ विपरीतसमारोपाभावादिति चेत्; क्षणिके कुतस्तद्भावः ? साधर्म्य[4]दर्शनादिति चेत्; न; नीलादेरपि पीतादिना कथञ्चित्तद्दर्शनात्। सर्वथा क्षणिकेऽपि तदभावात्। न तत्र समारोपः प्रतीयत इति चेत्; इतरत्र कुतस्तत्प्रतीतिः ? स्वत इति चेत्; न; अस्वलक्षणत्वे तदयोगात्। प्रत्यक्षं हि स्वसंवेदनम्, तत् कथमस्वलक्षणविषयं भवेत् ? स्वलक्षणात्मैव स इति चेत्; न तर्हि समारोपाकारत्वं स्वलक्षणस्यातद्रूपत्वात्। अन्यत एव तस्य तदाकारत्वं न स्वत इति चेत्; कथमन्यकृतस्य स्वतो वेदनम् ? तदप्यन्यत एवेति चेत्; न, तस्याप्यतदाकारत्वे तदयोगात्। तदाकारत्वे तदपि न स्वलक्षणमिति तस्यापि न स्वसंवेदनादवगतिः। स्वलक्षणमेव तत्, तदाकारत्वन्तु तस्याप्यन्यत एवेति चेत्, न, तत्रापि कथमित्यादेरनुपङ्गादनवस्थानदोषपाषाणदूरपरिपातनस्य दुरपाकरत्वात्। तन्न समारोपस्यैवाप्रतिपत्तेः तद्व्यवच्छेदः फलमनुमानस्य। अनिश्चितार्थनिश्चय इति चेत्; किं पुनः प्रत्यक्षतः स नास्ति ? नास्त्येव तस्यानिश्चयरूपत्वादिति चेत्; कथं प्रामाण्यम् ? प्रामाण्ये वा किमनुमानेन ? त[5]त्कृतनिश्चयाभावेऽपि तत्प्रामाण्यस्याविघातात्, अस्ति च तत्। ततो न प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तिः क्षणिकस्य।

---

१ "मनसोर्युगपद्वृत्तेः सविकल्पाविकल्पयोः। विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति॥"–ता० टी०। २ यायिनमिति न प०।–यायिनमपि न आ०, ब०। ३ ब्रूयात् आ०, ब०, प०। ४ साधर्म्याभावात्। ५ अनुमानकृत

नाप्यनुमानात् , प्रत्यक्षतः तदप्रतिपत्तौ तत्तस्तद्धेतुसम्बन्धस्यापरिज्ञानात् । अनुमानात्तत्परिज्ञाने, तत एव परस्पराश्रयस्य, अन्यतश्चानवस्थानस्य प्रसङ्गात् । न च प्रमाणान्तरम् , अनभ्युपगमात् । तत्र क्षणिक प्रमाणवेद्यं तदनेकत्वे भवदात्मनि क्रमत एकत्वपतो विरुध्यात् ।

नापि नित्यम् । नहि तत्रापि प्रत्यक्षं प्रमाणम् , तद्धि तद्धेतुकम् , अतद्धेतुकं वा ? तद्धेतुकत्वे विषयस्य सहकारणैकस्वभावस्य नित्यत्वात् कथं तज्ज्ञानोपरमः ? सामग्रीचैकस्यादिति चेत् , न, विषयस्यैव तत्त्वे तदयोगात् । अन्यस्य तत्त्वे कथं विषयहेतुकं तज्ज्ञानम् ? विषयश्चान्यश्च सामग्रीति चेत्, न, प्रत्येकं तयोस्तत्त्वे ज्ञानानुपरमस्य तदवस्थत्वात् । सम्भूय तत्त्वे कथं प्रत्येकं कारणत्वं यतः समवायि किञ्चिद् अन्यदसमवायि निमित्तञ्चापरं कारणमुच्यते ? नहि सामग्र्या एव कारणत्वे तद्भेदः, तस्या एकत्वेन समवाय्यादीनामन्यतमत्वस्यैवोपपत्तेः । न च तदन्यतमसमवायात्कार्यम् , त्रिभ्यः कारणेभ्यः कार्यमिति भवतामभ्युपगमात् । कुतो वा प्रत्येकमकारणत्वे वस्तुत्वं व्योमकुसुमादिवत् ? सत्तासम्बन्धादिति चेत् , ननु सोऽप्याधाराधारभाव एव । न चाकिञ्चित्करत्वे तद्भावः, खकुसुमादिष्वेव । सामग्रीकारणत्वस्य तत्रोपचारात् नाकिञ्चित्करत्वमिति चेत न, तदायत्तस्य सत्तासम्बन्धस्याप्युपचरितस्यैव प्रसङ्गात् , संवृतिसत्ताया एव प्राप्तेः । अथ संवृतिसत्त्वासंभवदशायामपि वस्तुतः कारणत्वमिति यथार्थं हेतुफलभावं तास्विकीमवस्थामास्तिघ्नुवीत ? ततः प्रत्येकमेव कारणत्वात् कथमुपरमस्तज्ज्ञानस्य ? समग्रभावदशायामेव तद्भावादिति चेत्, न तर्हि तन्नित्यम्, प्रागकारणस्य तद्दशायां कारणतया परिणामात् । तन्न तद्धेतुकं प्रत्यक्षम् ।

नाप्यतद्धेतुकम्, नित्येश्वरहेतुकत्वे तत्राप्यनुपरमदोषस्य तदवस्थत्वात् , अन्यथा कार्यैकत्वादेः तेन व्यभिचारापत्तेः । नचानुपरतस्यैव तस्य भावः, तद्वतो विषयान्तरपरिज्ञानाभावानुषङ्गात्, युगपदनुत्पादनस्यानभ्युपगमात् । तन्न प्रत्यक्षात्तत्परिज्ञानम् ।

नाप्यनुमानात् , तस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वेन तदभावेऽनवतारात् । किं वा तत्र लिङ्गम् ? कार्यमेव, कारणभावादेव तस्योपपत्तेरिति चेत् , न , अनुपरतस्यासिद्धेः । उपरतिमत्तस्तु उपरतिमत एव तस्य सिद्धिर्न नित्यस्य । ततो न युक्तमुक्तम्– तस्य कार्यं लिङ्गमिति । अकारणवत्त्वमिति चेत , न , प्रागभावेन व्यभिचारात् , तस्य तत्त्वेऽप्यनित्यत्वात् । सोऽपि नित्य एवेति चेत , कुतो न कार्यकालेऽपि तत्प्रतिपत्तिः । कार्येण प्रच्छादनादिति चेत, प्रच्छादनप्रागभावेन तर्हि व्यभिचारः, तस्याऽकारणवत्त्वेऽप्यनित्यत्वात् । सोऽपि नित्य एवेति चेत् , न , तत्रापि 'कुतो न' इत्यादेरावर्त्तनाद् अनवस्थापत्तेः । न चापरापरस्यापरिमितस्य प्रच्छादनस्य प्रतिपत्तिः । तस्मादनित्य एव स इति कथन्न व्यभिचारः । समवायित्वे सत्यकारणवत्त्वादिति हेतोर्विशेषणात् , प्रागभावस्य च समवायित्वादिति चेत् , कुतो

1 –न्यासंप्रज्ञानात् आ०, ब०, प० । २ –न च तत्रा–प० । तपरता–आ०, ब० । ३ –पमम आ०, ब०, प० । ४ "सामग्रीचै"–ता० टि० । ५ –दुकं ज्ञानमा०, ब०, प० । ६ –यमिप त–आ०, ब०, प० । ७ प्रतिपद्यमानस्य । ८ –त्वे सत्त्व कारणत्व–आ०, ब०, ।–त्वे तत्त्व कारणता प० ।

इत्येवास्तु निर्दोषत्वादिति चेत्, उच्यते कीदृशं तज्ज्ञानं यदेवं प्रत्यक्षतया लक्ष्येत ? निरंशक्षण-क्षीणपरमाणुरूपमिति चेत्, न, विकल्पदशायां तदप्रतिपत्तेः। विकल्पस्यैव 'नीलमहं वेद्मि' इत्याकारस्यानुभवात्, न तद्व्यतिरिक्तस्य दर्शनस्य। अस्त्येव तस्याप्यनुभवः, केवलं विकल्पैकत्वेनाध्यवसायान्न पृथगनिश्चय इति चेत्, कथमनिश्चितमनुभूतं नाम बुद्धिव्यतिरिक्तचैतन्यवत् ? कथं वा तद्रूपं प्रतिभासनं भावानां क्षणिकतया व्यवहारहेतुः; निश्चितस्य तस्यानुपपत्तेः, असिद्धत्वात्। अनिश्चितस्यापि सिद्धत्वे हेतोरपि स्यादित्यसङ्गतमिदम्–"हेतोस्त्रिष्वपि" [प्र० वा० ३।१४] इत्यादि। विचारतो विधत एव निश्चयस्तस्य, अनिश्चयस्तु नीलादिवत् प्रत्यक्षजन्मनो निश्चयस्याभावादिति चेत्, किमेव्येवमप्यनुमानेन ? व्यवहारस्य नीलादिवत् क्षणक्षयेऽपि तन्निश्चयादेवोपपत्तेः अन्यथा नीलादावपि ततस्तदनुपपत्तेस्तस्य निदर्शनत्वाभावप्रसङ्गात्। तत्राप्यनुमानत एव तदुपपत्तिकल्पनायामनवस्थोपनिपात –परापरतन्निदर्शनस्य तद्व्यवहारकारणानुमानप्रबन्धस्य चावश्यकल्पनीयत्वात्। तत्र विकल्पदशायां तदप्रतिपत्तिः। विकल्पसंहारवेलायामिति चेत्, न, तद्वेलाया एवानवलोकनात्। तदा तत्प्रतिपत्तौ वा कुतस्तत एव क्षणक्षयेऽपि व्यवहारो न भवेत् ? विपरीतारोपादिति चेत्, न, विकल्पसंहारश्च विपरीतारोपश्चेति व्याघातात्, तदारोपस्यैव विकल्पत्वात्। कथं नीलादावपि कुतस्ततो व्यवहारः ? तदारोपाभावादिति चेत्, न, निरंशे वस्तुनि भागतस्तदनुपपत्तेः। कल्पनिकस्य च सांशत्वस्य तद्दशायामसम्भवात्। तत्र समारोपात् ततस्तद्व्यवहाराभावः। नापि पाटवाद्यभावात्, नीलादावपि तदापत्तेः। तत्र पाटवादिभावे वा न प्रतिभासनमेव तद्व्यवहारहेतुः, अपि तु पाटवादिविशिष्टम्, तस्य च क्षणक्षयेऽभावादसिद्धो हेतुः। यच्च तत्रावभासमात्रम्, तस्य नीलादावभावात् साधनवैकल्यञ्च दृष्टान्तस्य। ततो दुर्भाषितमिदम्–"यद्यथाऽवभासते तत्तथैव व्यवहारमवतरति यथा नीलं नीलतयाऽवभासमानं तथैव तद्व्यवहारमवतरति, अवभासन्ते च सर्वे भावाः क्षणिकतया" [ ] इति। ततो निर्विशेषमेव समारोपवैकल्यादिकं चित्रादिनीलादिक्षणक्षयादिविषयमन्वेषणीयम्।

तथा च सति निःशेषधर्मव्यवहृतेस्ततः।
प्रत्यक्षादेव सिद्धत्वात् व्यर्थस्तत्साधनभ्रमः ॥११८१॥
अस्ति चायं प्रयासस्ते तत्र तत्र तदुच्यते।
क्षणक्षयनिरंशत्वाविकल्पत्वादिसाधनम् ॥११८२॥
तत्र ज्ञानं किमप्यस्ति क्षणक्षीणमनंशकम्।
नापि चित्रं क्रमेणापि तच्चित्रत्वप्रसञ्जनात् ॥११८३॥
क्षणभङ्गाविकल्पत्ववार्ताप्यत्र न युज्यते।
तस्मादसम्भवादेवापायुक्तं नाध्यक्षलक्षणम् ॥११८४॥

---

१ –रोपसमारो–आ०, ब०, प०। २ –त्वादीन्–आ०, ब०, प०।

इदमेवाह–

अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षाभम् [पटीयसाम्] ॥१५८॥ इति ।

न विद्यते विकल्पो [1]जात्यादियोजनरूपः प्रतिभासो यस्मिंस्तद् **अविकल्पकम्** **अभ्रान्तं** तिमिराशुभ्रमणाद्यनाहितविभ्रमं परोक्षमर्थज्ञानम् । तत्किम् ? प्रत्यक्षमिवाभाति न प्रत्यक्षमेवेति **प्रत्यक्षाभं** तस्यैवासम्भवात्, असम्भवश्च तत्र प्रमाणाभावात् । अत एवोक्तम्– **अन्यथाऽपरिणामतः** इति । सम्भवेऽपि क्व तस्य प्रत्यक्षत्वम् ? दृश्ये जलादाविति चेत्; न; तस्याप्यनुभवाविष्टित्वेनाप्रवृत्तिविषयत्वात् । प्रवर्त्तकस्य च प्रत्यक्षत्वमनुमतं भवतां प्राप्ये भाविनीति चेत्; न; तस्य तेनाप्रतिपत्तेः । अप्रतिपन्नेऽपि प्रत्यक्षत्वे अतिप्रसङ्गात् । दृश्यप्रतिपत्तिरेव तस्यापि[2] प्रतिपत्तिस्तयोरेकत्वादिति चेत्; उच्यते–

वस्तुतो यदि तद्भावः क्षणभङ्गि जगत्कथम् ? ।
सवृत्त्या यदि तन्न स्यात् प्रत्यक्षमविकल्पकम् ॥११८५॥
न ह्येकत्वोपसम्पृक्तदृश्यप्राप्योपलम्भनम् ।
अविकल्पकमध्यक्षमाचक्षाणाः[3] परीक्षकाः ॥११८६॥
क्षणक्षयित्वं प्रत्यक्षवेद्यमित्यपि [4]वः कथम् ।
परमार्थपथे वस्तेन्न तत्र तदसम्भवात् ॥११८७॥
नित्यानित्यादिनिःशेषविकल्परहितं यतः ।
अद्वैतमेव तत्रार्थः स्वसंवेदनगोचरः ॥११८८॥

भवतु वर्त्तमानविषयमेव प्रत्यक्षम्, न च तस्याप्रवर्त्तकत्वम्, उपलम्भपरितोषमात्रादेव तदुपपत्तेः, भाविनि तु तस्य तत्त्वं व्यवहर्तृजनाभिप्रायादेव न तत्त्वत इति चेत्; नन्वेवं क्षणभङ्गादावपि तस्यैव प्रामाण्यात् किमर्था तत्र प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः ? समारोपव्यवच्छेदस्य विहितोत्तरत्वात् । निश्चयार्थेति चेत्; नीलादावपि किन्न तत्प्रवृत्तिः ? प्रत्यक्षादेव तस्य निश्चयादिति चेत्; कथमेवन्न तस्यानिश्चयरूपत्वात् ? निश्चयहेतुत्वादिति चेत्; न; निर्विकल्पत्वात् । निर्विकल्पं हि प्रत्यक्षं कथं निश्चयहेतुः अर्थवत् ? निश्चयसंस्कारादेव विनिश्चयः प्रत्यक्षस्य तद्धेतुत्वं तत्संस्कारप्रबोधादिति चेत्; न; तत्प्रबोधस्याप्यर्थादेवोपपत्तेः । एतच्चोक्तम्–

"अभेदात्सदृशस्मृत्यामर्थाकल्पधियां न किम् ।
संस्कारा विनियम्येरन् यथास्वं सन्निकर्षिभिः ॥" [सिद्धिवि० परि० १] इति ।

तन्न प्रत्यक्षान्निश्चयः । भवन्नपि कथं नीलादावेव न क्षणक्षयादावपि यतस्तत्रैव

---

१ "जातिः क्रिया गुणो द्रव्यं संज्ञा पञ्चैव कल्पनाः । शब्दो जाति शिवो दण्डी कल्पनाः स्युर्यथाक्रमम् ॥"– ता० टी० । २ –विप्रति– आ०, ब०, प० । ३ पाठेऽयं– आ०, ब०, प० । ४ नः आ०, ब०, प० ।

प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः ? दर्शनपाटवादेरुभयत्राविशेषादिति निरूपितत्वात् । अपेक्षणे च निश्चयस्य तस्यैव मुख्यं प्रामाण्यं भवेत् स्वार्थव्यवसायं प्रत्यनपेक्षत्वेन साधकतमत्वात्, न प्रत्यक्षस्य विपर्ययात् । अविसंवादस्यापि तदायत्तत्वात्, सत्येव हि तस्मिन्नीलादौ तदवलोकनाम् असति च क्षणक्षयादौ सत्यपि प्रत्यक्षे विपर्ययात् । इदमेवाह—

पटीयसाम् ।

अविसंवादनियमादक्षगोचरचेतसाम् । इति ।

अक्षेभ्यश्चक्षुरादिभ्यो यानि **गोचरचेतांसि** विषयज्ञानानि तेषां **पटीयसां** व्यवसायात्मनाम् **अविसंवादस्य नियमः** तेषामेवाविर्तं तेषामसत्येवेति चावधारणम्, तस्मात् । **अविकल्पकं प्रत्यक्षाभम्** इति । न हि तेषामेवावधारितोऽविसंवादो निर्विकल्पस्य, विरोधात् । न च तमन्तरेण प्रामाण्यम्, तस्य तेन व्याप्तत्वात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । न चाप्रमाणस्य प्रत्यक्षत्वम्, इत्युपपन्नम् अविकल्पकमित्यादि । न च तेषामप्रामाण्यम्, अविसंवादस्य तत्रावश्यम्भावात् । द्विचन्द्रादिचेतसां तु व्यवसायत्वमेव नास्ति, विधूतबाधस्यैवावसायस्य व्यवसायोपपत्तेः । कथं पुनः व्यवसायरूपत्वे तच्चेतसामविकल्पकत्वम्, विकल्पविशेषस्यैव व्यवसायत्वात् ? असति चाविकल्पत्वे कथं प्रत्यक्षाभत्वचिन्तनम् ? स्वसंवेदनादाविति चेत्, न, तस्यापि भवन्मतेन मानस्याविशेषात्, अन्यथा प्रामाण्यानुपपत्तेरिति चेत्, सत्यम्, नास्त्येव तेषामविकल्पकत्वं तत्प्रतीतेः, विकल्पानुत्पादाच्च । न ह्यविकल्पाद्विकल्पोत्पत्तिः । भवत्येव तत्संस्कारसहायादिति चेत्, न, तदाकारस्यापि तत्संस्कारसहायादनाकारादेव ततो भावप्रसङ्गात्, तथा च कथं विकल्पमुद्रायाकारलेशदर्शनात् दर्शनेऽपि तत्कल्पनम् ? तत्कल्पने वा विकल्पकल्पनमपि स्यादविशेषादिति न तेषामविकल्पकत्वम् । अविकल्पकस्य प्रत्यक्षाभत्वचिन्तनं तु पराऽभ्युपगमप्रसिद्धस्यैव न वस्तुवृत्तप्रवृत्तस्य, तत्र तदनुपपत्तेः । अथ किमर्थमत्र बहुवचनम्, एकवचनमेवास्तु शास्त्रव्यवहारस्य तथैव बाहुल्यात्, यथा "व्यवसायात्मनो दृष्टेः" [सिद्धिवि० परि० १] इति, "प्रमाणस्य फलम्" [सिद्धिवि० परि० १] इति च, छन्दोभङ्गस्याप्यभावादिति चेत् ? न, तस्य युगपद्भाविदर्शनबहुत्वनिवेदनेन तद्विकल्पबहुत्वनिवेदनार्थत्वात् । विकल्पजननाद्धि प्रत्यक्षप्रामाण्ये शष्कुलीभक्षणादौ युगपद्भाविरूपादिदर्शनजन्मनो विकल्पानामपि यौगपद्यप्रसङ्गः, कारणयौगपद्ये कार्यक्रमायोगात् "नाक्रमात् क्रमिणो भावाः" [प्र०वा० १।४५] इत्यस्य विरोधात् । न चैक एव तज्जन्मा विकल्पः, तदशब्दादिदर्शनानामन्यतमस्यैव प्रामाण्यप्रसङ्गात् । एकस्याप्यनेकाकारत्वान्नेति चेत्, न, युगपदेकस्यानेकाभिलाप्याकारत्वे अनेकविकल्पेन किमपराद्धं यतः स एव युगपन्न भवेत् ? तथा च कथम् अश्वविकल्पयौगपद्यात् गोदर्शनस्य निर्विकल्पत्वं विकल्पत्वेऽपि तदविरोधात् रूपादिविकल्पवत् । तन्न विकल्पजननात् प्रत्यक्षप्रामाण्यम्, विकल्पस्यैव मुख्यतस्तदुपनिपातात् । विकल्पानामयथार्थत्वान्नेति चेत्, अत्राह—

१ –मेव नास्ति ते–आ०, ब०, प० । २ –त्वमविक–आ०, ब०, प० ।

सर्वथा वितथार्थत्वं सर्वेषामभिलापिनाम् ॥१५९॥
ततस्तत्त्वव्यवस्थानं प्रत्यक्षस्येति साहसम् । इति ।

सर्वथा सर्वेण स्वलक्षणप्रकारेण सामान्यप्रकारेण च **वितथार्थत्वं** मिथ्यार्थत्वं **सर्वेषां** लिङ्गजानामन्येषाञ्च निरवशेषाणाम् **अभिलापिनां**[1] विकल्पानाम् **इति** एवं साहसम् अनालोचितं चेष्टितं प्रमाणाभावादिति भावः । तथा[2] हि—स्वतो वा तेषां मिथ्यार्थत्वमवगम्येत, अन्यतो वा ? स्वतश्चेत् ; तेन यदि मिथ्यार्थत्वं सत्यार्थत्वमेव नीलादिना भवेत्, गत्यन्तरासम्भवात् । सत्यार्थत्वं चेत् ; न ; सर्वथा वितथार्थत्वप्रतिज्ञाविरोधात् । अस्तु नीलादिनैव वितथार्थत्वम्, न वितथार्थत्वेनापि, कथञ्चिदेव तदङ्गीकारादिति चेत् ; कथमेवं प्रधानादिना वितथार्थत्वेऽपि नीलादिना सत्यार्थत्वन्न भवेत् ? यत इदं सूक्तं स्यात्–"**वितथार्था नीलादिविकल्पा विकल्पत्वात् प्रधानादिविकल्पवत् ।**" [ ] इति । स्वतोऽपि वितथार्थत्वावगमे च किमर्थमिदमनुमानम् ? समारोपव्यवच्छेदार्थम्, सत्यार्थसमारोपस्यानेन व्यवच्छेदादिति चेत् ; न ; तस्यैव तत्त्वानुपपत्तेः । न हि स्वयं वितथार्थत्वमवगच्छत एव विपरीतारोपत्वं विरोधात् । अन्यस्य तत्र तत्त्वमिति चेत् ; न; तस्यापि स्वत एवारोप्याकारेण मिथ्यार्थत्वस्यावगमात् । अवगत तद्रूपस्याव्यवच्छेदेऽपि न दोषः, पुरुषार्थप्रतिबन्धाभावात् । तत्राप्यन्यस्य तदारोपत्वकल्पनायामनवस्थापत्तिः । तन्न स्वतस्तेषां वितथार्थत्वावगमः । नापि परतः, प्रत्यक्षस्य तत्राव्यापारात् । न हि तेन विकल्पानां प्रतिपत्तिः सामान्यविषयत्वापत्तेः, तेषां सामान्याकारत्वात् । तथा चेत ; व्याहतमेतत्[3]–"प्रमाणं द्विविधं प्रमेयद्वैविध्यात् [प्र० वार्तिकाल० २।११२] इति । न च तदप्रतिपत्तौ तद्धर्मस्य परिज्ञानम् ; तस्य तत्प्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् । नापि परतो विकल्पात्[4] ; तस्याप्रामाण्यात् । प्रमाणमेव लिङ्गजो विकल्प इति चेत् ; कुत एतत् ? साध्यप्रतिबन्धादिति चेत् ; न; साध्यस्यैव व्यवस्थितस्याभावात् । भावेऽपि कुतः प्रतिबन्धस्य परिज्ञानम् ? तत एव विकल्पादिति चेत् ; तथा[5] साध्यस्यैव ततः किन्न परिज्ञानम् ? तस्यावस्तुविषयत्वादिति चेत्; प्रतिबन्धस्यापि न स्यादविशेषात् । अवस्त्वेव प्रतिबन्ध इति चेत् ; न; अवस्तुतया वस्तुत्वात्, अन्यथा तथा निर्धारणायोगात् । प्रतिबन्धेऽपि प्रतिबन्धादेव तस्य[6] प्रामाण्यं न परिज्ञानादिति चेत् ; न; तत्रापि कुत इत्यादेरावृत्तेरव्यवस्थितेश्च । तन्न तत एव तत्परिज्ञानम् । नाप्यन्यतः तद्विकल्पात ; तस्यापि प्रतिबन्धादेव प्रामाण्यात्, तत एव च तत्परिज्ञानस्यासम्भवात् । अन्यतस्तद्विकल्पात् तत्परिकल्पनायां चापरिनिष्ठानात ।

किं वा तद्वितथार्थत्वप्रतिबद्धं लिङ्गं यतस्तदनुमानविकल्पः ? विकल्पत्वमेवेति चेत् ; कुतस्तस्य सत्यार्थत्वाद् व्यावृत्तिः यतोऽनैकान्तिकत्वन्न भवेत् ? प्रधानादिविकल्पे तद्विपर्ययेण साहचर्यदर्शनादिति चेत् ; न ; तन्मात्रात्[7]तदनुपपत्तेः, कथमन्यथेन्द्रियज्ञानत्वस्यापि न ततो

१ अभिलापाना–आ०, ब०, प० । २ तथापि आ०, ब०, प० । ३ "मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्..."–प्र० वा० २।१ । ४ विकल्पान्तरस्या–आ०, ब०, प० । ५ तदा आ०, ब०, प० । ६ विकल्पस्य । ७ साहचर्यमात्रात् ।

व्यावृत्तिः द्विचन्द्रादिज्ञाने तस्यापि तत्साहचर्यावलोकनात्? तथा च विकल्पानामेव वस्तुविवेकशक्तिवैकल्यं नेन्द्रियबुद्धेरिति कुतः प्रतिपद्येमहि? यतस्तत्प्रभावात् क्षणभङ्गादिवस्तुयाथात्म्यमवबुध्यमानाः पुरुषार्थसिद्धौ बुद्धिमवस्थापयेम[1]। निर्बाधस्यैवेन्द्रियज्ञानस्य सत्यार्थत्वम्, न च तस्य विपक्षेण साहचर्यं तदयमदोष इति चेत्, न, विकल्पेऽपि समानत्वात्। न हि तस्यापि तन्मात्रत्व[2] तदर्थत्वं बाधावैकल्यविनिश्चयाधिष्ठानस्यैव तदुपगमात्, तस्य च दुरवबोधविपक्षसाहचर्यसम्भवत्वात्। तत. सूत्रम्-'**सर्वथा**' इत्यादि।

द्वितीयमपि विकल्पार्थवैतथ्यवादिनं साहसमाह– **तत** इत्यादि। ततस्तेभ्यो वितथार्थेभ्यो विकल्पेभ्यः **तत्त्वव्यवस्थानं** सत्त्वेन प्रमाणत्वेन व्यवस्थानं निर्णयः। कस्य? **प्रत्यक्षस्य** नीलादिदर्शनस्य "यत्रैव जनयेदेनाम्" [ ] इत्यादिवचनात्, **इति साहसम्**। तथा हि–

निश्चयाद्वितथार्थाच्चेत्प्रमाणं नीलदर्शनम्।
मरीचिदर्शनं किन्न तोयनिर्णयतो भवेत्? ॥११८९॥
एकत्वाध्यवसायस्याभावाद् दृश्यविकल्प्ययोः।
इति चेत्सोऽपि मिथ्यार्थस्तद्विक्षेपकरः कथम्? ॥११९०॥
तदर्थस्यापि दृश्यैकत्वेन निश्चयतो यदि।
नास्यापि वितथार्थस्य प्राप्त्यदोषानतिक्रमात् ॥११९१॥
एकत्वाध्यवसायस्य तत्राप्यन्यस्य कल्पनम्।
अनवस्थाख्यानागपाशमन्धान्न मुच्यते ॥११९२॥
स्यान्मतं व्यवहारेण प्रमाणं नीलदर्शनम्।
व्यवहारे विचारश्च न कार्यस्तत्समयागमात् ॥११९३॥
केवलं स यथा लोके तथैव ह्यनुमन्यताम्।
व्यवहारार्थिभिस्तस्मैरपीति तदप्यसत् ॥११९४॥
नीलदर्शननिर्णीततदर्थैकत्वनिश्चयः।
इत्यस्य व्यवहारस्य लौकिकेष्वप्रवेदनात् ॥११९५॥
अस्त्येवायं विमोहात्तु भवन्तो न वदन्ति चेत्।
विमोहो निश्चयाधीने व्यवहारे कथं भवेत्? ॥११९६॥
विमोहस्य बलीयस्त्वादाहार्यत्वेति चेदयम्।
शास्त्रेणापि निवर्तेत कथमेवं यदुच्यते ॥११९७॥
"प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्।" [3]इति।

---

१ –येमहि वि–आ॰, ब॰, प॰। २ –त्रत्वात्–आ॰, ब॰, प॰। ३ प्र॰ वा॰ १।७।

तत्रायं लोकरूढोऽस्ति व्यवहारो भवन्मतः ।
तल्लोपायैव चेष्टन्ते यतो व्यवजिहीर्षवः ॥११९८॥

ततो युक्तमुक्तम्–'**ततः**' इत्यादि । अथवा, **प्रत्यक्षस्य तत्त्वं** निर्विकल्पत्वं तस्य **व्यवस्थानं तत इति साहसम्** । न ह्ययथार्थादनुमानविकल्पात्तद्व्यवस्थापनमुपपन्नम् ; अस्ति चैतत्परस्य– "प्रत्यक्षं निर्विकल्पम् अर्थसामर्थ्यादुत्पत्तेरुत्तरार्थक्षणवत्" [ ] इत्यादेः "न सन्ति प्रत्यक्षे कल्पनाः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलम्भात्, भूतले घटवत्" [ ] इत्यादेश्च तद्व्यवस्थापनयोगस्य दर्शनात् । भवत्येव तादृशादपि ततः सम्बन्धबलात् तस्य व्यवस्थापनमिति चेत ; न तद्बलस्य प्रत्यक्षादवगतिः ; अद्यापि तस्याव्यवस्थितत्वात् । व्यवस्थितमेव तत्[2] स्वतोऽपि[3] तस्य तत्त्वव्यवस्थितेः "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।" [प्र०वा० २।१२३] इति वचनादिति चेत ; किमिदानीमनुमानेन ? व्यामोहविच्छेद इति चेत् , सति व्यामोहे कथं व्यवस्थितत्वम् अतिप्रसङ्गात् ? तन्न ततस्तदवगमः । नापि तद्विकल्पात् ; तस्य तदवगमात्पूर्वं विकल्पान्तरवदप्रमाणत्वात् । तदवगमे प्रमाणत्वमिति चेत ; न ; परस्पराश्रयात्–तदवगमात्प्रामाण्यम् सति च तस्मिंस्तदवगम इति । नापि तद्विकल्पान्तरात ; तत्राप्येवं प्रसङ्गादव्यवस्थितिदोषाच्च । ततो विकल्पबलादेव विकल्पानां वितथार्थत्वं प्रत्यक्षतत्त्वञ्च व्यवस्थापयतां (ना)' न सर्वथा वितथार्थत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तथा च सिद्धं नीलादिविकल्पस्यापि सत्यार्थत्वं निरुपद्रवत्वादिति तस्यैव तत्र प्रामाण्यं निरपेक्षतया तद्व्यवसायं प्रति साधकतमत्वात , अविसंवादनियमाच्च, न निर्विकल्पस्य विपर्ययादिति प्रत्यक्षाभासमेव तत्, न प्रत्यक्षम , इत्ययुक्तं परकीयं तल्लक्षणमिति भावो देवस्य । प्रतिषिद्धमेवमविकल्पकमिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।

इदानीं मानसमपि तत्प्रत्यक्षं प्रतिषेद्धुं कारिकापादत्रयेण परप्रसिद्धं[4]तत्स्वरूपमुपदर्शयति–

अक्षज्ञानानुजं स्पष्टं तदनन्तरगोचरम् ॥१६०॥
प्रत्यक्षं मानसं चाह [भेदस्तत्र न लक्ष्यते ।] इति ।

आह धर्मकीर्तिः । किम् ? **प्रत्यक्षम्** । कीदृशम् ? **मानसं** मनसः पूर्वज्ञानादागतं न केवलमैन्द्रियमेवेति । **च**शब्दः मानसत्वमेव दर्शयति । अक्षज्ञानं चक्षुरादिकार्यं रूपादिप्रत्यक्षं तस्य कार्यं यदनुजं तत्सदृशतयोत्पन्नम् अनोः सादृश्यार्थत्वात तत् **अक्षज्ञानानुजम्** । अनुजपदेनाक्षज्ञानमानसयोरुपादानोपादेयभावमावेदयति, हेतुफलयोस्सादृश्यनिबन्धनस्य तद्भावस्य परैरभ्युपगमात । **स्पष्टं** विशदम् अन्यथा प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । प्रत्यक्षत्वे निमित्तमाह–तस्याक्षज्ञानार्थस्या**नन्तरो** द्वितीयो नीलादिक्षणोऽक्षज्ञानसमसमयो **गोचरो** विषयो यस्य तत्तथोक्तम् । कथं पुनस्तच्छब्देनाक्षज्ञानार्थस्य परामर्शः ? कथञ्च न स्यात् ? अप्रक्रमात,

---

१ अनुमानविकल्पात् । २ प्रत्यक्षम् । ३ स्वत एव । ४ "स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तत् मनोविज्ञानम् ।"–न्यायवि० पृ० १७ । प्र० वा० २ । २४३ ।

तच्छब्दस्य च प्रक्रान्तपरामर्शित्वादिति चेत्, न, विषयिप्रक्रमादेव नान्तरीयकतया विषयस्यापि प्रक्रमात्। एवमपि युवस्यैव विषयिणः किमपरामर्श इति चेत्? न, तद्विषयतया मानसस्य परैरनभ्युपगमात्। तदभ्युपगमस्य पातेन प्रतिपादनात्। तथा च परस्याभ्युपगमः–"इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा जनितं मानसम्" [प्र० वार्तिकाल० २।२४३] इति।

तदिदानीं निराकुर्वन्नाह– भेदस्तत्र न लक्ष्यते। इति। भेदो व्यतिरेक इन्द्रियज्ञानात् तत्र मानसे न लक्ष्यते न दृश्यते। तथा हि तेन्द्रियज्ञानात्पूर्वम्, सह, पश्चाद्वा स तत्र लक्ष्येत? न तावत्पूर्वम्, तत्कार्यस्य ततः पूर्वमसम्भवात्। नापि सह, कार्यकारणयोः सहभावानुपपत्तेः, युगपत्प्रत्यक्षद्वयस्याप्रतिवेदनाच। न हि तदैव मानसमिन्द्रियजञ्च प्रत्यक्षद्वयमनुभवादर्शविशदवपुषि प्रतिफलितमवलोकयामो यतस्तथावकल्पयेम अनियमप्रसङ्गात्। न ह्यनयोः लौकिकावकल्पनस्य नियमः–'इयसेव सत् न तत्त्रयादिकम्' इति, स्वेच्छानिबन्धनस्य तत्राप्यनिवारणात्। नापि पश्चात्, तदेन्द्रियव्यापारे तेऽप्रत्यक्षतापत्तेरेव तत्रोपपत्तेः। अतद्व्यापारे न विशदप्रतिभासप्रतीतिः। न कल्पनया तदस्तित्वम्, अन्धादावप्यविशेषात्। नन्वयमेव तस्य तस्माद्भेदो यन्निश्चयरूपत्वम्। निश्चयरूपं हि मानसमवलोक्यते 'इदं नीलम्, इदं पीतम्' इत्युल्लेखवतस्तस्योपलम्भात् न तथेन्द्रियज्ञानस्येति चेत्, एवमिन्द्रियज्ञानस्यैव निश्चयरूपत्वे को दोषः? तद्विषये कथं संशयादिः निश्चयविरोधादिति चेत्? मानसविषयेऽपि कथं तदविरोधात्। न भवत्येवेति चेत्, किमिदानीमनुमानेन, समारोपस्यानुत्पन्नस्य व्यवच्छेदासम्भवात्? यत्र मानसं तत्रोत्पन्न एव संशयादिरिति चेत्, न, सर्वेन्द्रियज्ञानस्य तत्कारणे मानसस्यासम्भवानुपपत्तेः। सम्भवोऽपि तस्य नीलादावेव न क्षणभङ्गादावत एव तत्र संशयादिव्यवच्छेदार्थमनुमानमिति चेत्, न, निरंशवस्तुवादिनो भागशो वस्तुपरिच्छेदस्यासम्भवात्। न च निश्चयानिश्चयरूपतया व्यावृत्तेन्द्रियस्य प्रत्यक्षद्वयम्, अनुपलक्षणात्।

यत्पुनरेतत्–समानकालमाकारद्वयमिन्द्रियमैन्द्रियं मानसञ्च, तस्य चैकत्वाध्यवसायाद् विवेकेनानुपलक्षणमिति, तत्र कुतस्तदध्यवसायः? न तावदैन्द्रियात्, तस्याध्यवसायस्वभावत्वात्। न ह्यनध्यवसायोऽध्यवसायप्रतीत्युपपन्नम्, अलोचनो लोकप्रतीतिवत्। एकसंवेदनमेव तदध्यवसायो नैकत्वविकल्पनं तथाविकल्पमेवैन्द्रियस्याप्यक्षस्यापीति चेत्, उच्यते–

> संवेदनं चेद्भ्रान्तं तथ्यमेकत्वमापतेत्।
> आकारद्वयमित्यादि तन्मिथ्यैव भवद्वचः ॥११९९॥
> भ्रान्तमेव तदिदं चेत्तत्प्रत्यक्षं कथं मतम्?।
> अभ्रान्तत्वं यतो बौद्धैर्युक्तमध्यक्षलक्षणम् ॥१२००॥

---

१ इन्द्रियमनात्। २ इन्द्रियप्रत्यक्षया। ३ मानसप्रत्यक्षस्य। ४ क्षणभङ्गादौ।

एकत्वभागे प्रत्यक्षं तन्मा भूदिति कल्पने ।
"प्रत्यक्षवेद्यमेकत्वम्" इत्युच्चैर्घुष्यते कथम् ? ॥१२०१॥
अभिप्रेत्य चिदाद्यंशं प्रत्यक्षं यदि तन्मतम् ।
वाच्यः स एव तद्वेद्यः कथमेकत्वमुच्यते ? ॥१२०२॥
प्रत्यक्षांशोत्कथञ्चिच्चेद् विभ्रमस्याविभेदनात् ।
प्रत्यक्षवेद्यमेकत्वमित्युक्तं व्यक्तया गिरा ॥१२०३॥
निर्णयादविभेदोऽपि भवेदेवं तथा सति ।
"इदमित्यक्षविज्ञानं[2]" न ततो मानसं परम् ॥१२०४॥

कुतश्चायं प्रत्यक्षस्य स्वरूपे विभ्रमः ? कारणदोषादिति चेत् ; न–

"हेतुदोषात् प्रमेये धीरतथापीति युक्तिमत् ।
स्वरूपेऽपि कथं युक्ता हेतुदोषशतादपि ॥" [ ]

इत्यस्य विरोधात् । अनेन कारणदोषादपि स्वरूपविभ्रमाभावस्य प्रतिपादनात् । ततो नैन्द्रियादेकत्वाध्यवसायः । मा भून्मानसादेव तदभ्युपगमादिति चेत् ; न ; तस्यापि स्वरूपेऽध्यवसायशून्यत्वात् , स्वरूपस्य च प्रत्यक्षैकत्वेनाध्यवसेयतया प्रस्तुतत्वात् ।

अपि च, तदध्यवसायो यद्यर्थाध्यवसायसमसमयः ; तदा "न च युगपदनेकविकल्पसम्भवः" [ ] इत्यस्य विरोधः । तद्भिन्नसमयश्चेत् ; न ; तदुभयास्मकस्य मानसस्याक्षणिकत्वप्रसङ्गात् । तन्न मानसादपि तदध्यवसायः । नापि ज्ञानान्तरात् ; तस्यापि तत्समयस्यानुपलक्षणात् । एकत्वाध्यवसायादनुपलक्षणमिति चेत् , न ; तदन्यतोऽध्यवसायेऽनवस्थोपपत्तेः । भिन्नसमयत्वे तु तस्य न ततस्तयोरेकत्वाध्यवसायः ; तत्समये तयोरेवाभावात्, असतोश्चाविवेकनिश्चयानुपपत्तेः । तन्न तयोरेकत्वाध्यवसायाद् भेदस्यानुपलक्षणम् अपि त्वभावादेवेत्युपपन्नम्–'भेदः' इत्यादि ।

शान्तभद्रस्त्वाह–यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य तस्माद्भेदो न लक्ष्यते कार्यतो लक्ष्यत एव । कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण, कादाचित्कत्वात् । न चाक्षज्ञानमेव तस्य कारणम् ; सन्तानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरतज्ज्ञानवत् । ततोऽन्यदेवाक्षज्ञाना[3]त्कारणम् , तदेव च मानसं प्रत्यक्षमित्येतदेव दर्शयित्वा प्रत्याचिख्यासुराह–

अन्तरेणेदमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत् ॥१६१॥
सन्तानान्तरवच्चेतः समनन्तरमेव किम् । इति ।

अन्तरेण विना **इदम्** अनन्तरोक्तं मानसं प्रत्यक्षम् **अक्षानुभूतम्** ऐन्द्रियज्ञानविषयीकृतं नीलादि **न विकल्पयेत्** नीलादिकमिदमिति नानुस्मरेल्लोकः सौगतो वा । सत्यपि

---

१ –शा क–आ०,ब०,प०। २ "इदमित्यादि यज्ज्ञानमभ्यासात्पुरतः स्थिते। साक्षात्करणतस्तत्तु प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥"–प्र० वार्तिकाल० २।२४३ । ३ –त्त्कर–आ०, ब०, प० ।

मानसप्रत्यक्षे तदनुभूतमेव विकल्पयति नाक्षानुभूत तत्किमक्षग्रहणेन ? यदि तदानीमर्थवत् यदि सति तस्मिंस्तदनुभूत विकल्पयेत्, न चैवम्, अतोऽनुभूतग्रहणमेव कर्तव्यमिति चेत्, अन्यथा तर्हि व्याख्यास्यामः–अनुभवनमनुभूतम्, अक्षाणां कार्यमनुभूतम् **अक्षानुभूतम्** अक्षज्ञानमिति यावत्, तत्कथं **इदमन्तरेण न विकल्पयेत्** न विकल्पं नीलादिस्मरणं कुर्यात्। अत्र चोपपत्तिः–**सन्तानान्तरवत्** इति। सन्तानस्यान्तरं भेदः स विद्यतेऽस्येति **सन्तानान्तरवत् अक्षानुभूतम्**। एतच्च हेतुपदं द्रष्टव्यम्–सन्तानान्तरवत्त्वादिति, विषाणी गौरित्युक्ते विषाणित्वादितिवत्। तद्वत्त्वञ्च तस्य तेन यौगपद्यात् "मनसोर्युगपद्वृत्ते" [प्र० वा० २। १३३] इति वचनात्। न च युगपद्वृत्ता उपादानोपादेयत्वं तन्निबन्धनं चैक-सन्तानत्वम्। उदाहरणस्य तु प्रसिद्धसन्तानान्तरवदनुभूतस्य सुगमत्वात् अनुपन्यासः। श्लोकच्छन्दः परिपूरणार्थोऽयम्। अत्रोत्तरम्–'चेतः' इत्यादि। **एवकारः** किमोऽनन्तरं द्रष्टव्यः। चेतो मानसं प्रत्यक्षं **समनन्तरम्** उपादान **किमेव** नैव, विकल्पस्येति शेषः। न हि मानसं विकल्पस्योपादानमुपपन्नम्, इन्द्रियज्ञानसमभाविनस्तस्य ततः प्रागेव भावात्, तस्य चेन्द्रिय ज्ञानकार्यतया पश्चादेवोत्पत्तेः। न च साम्यपि सर्वेनन्तरमिति प्रज्ञाकरादन्यस्य मतम्। तत्रापि **चेत इन्द्रियज्ञान समनन्तरम्** उपादानं मानसस्य **किमेव** नैव, अपि तु विकल्पवदुपादेय-मेव स्यात्। तथा चेत्, न, मानसस्य निरुपादानत्वापत्तेः। तदेवाह–चेत इति। एवकार-श्चेतःशब्दात्परो द्रष्टव्यः। मानसस्य समनन्तरं चेत एवास्ताम्। अन्यदित्यवधारणम्, किं न किञ्चित्। तत्तर्हि मानसमेव तस्य समनन्तरमिति चेत्, न, तर्हीदमुपपन्नम् "इन्द्रियज्ञानेन" [प्र० वार्तिकाल० २। २४२] इत्यादि। इन्द्रियज्ञानं तस्योपादेयमुपादानं चेति चेत्, किमेवं विकल्प एव न भवेदविशेषात् ? तदेवाह–चेत एव इन्द्रियज्ञानमेव **समनन्तरं** मानसस्य किं कस्मात्, विकल्पोऽपि स्यात्। एवञ्च 'विकल्पान्मानस ततश्च विकल्पः' इत्यन्योन्यसंश्रय इति मन्यते। भवत्ययं प्रसङ्गो यदि तयोः परस्परतः आत्मलाभाद्धेतुफलभावो भवेत्, एका-निष्पत्तावन्यानिष्पत्तेः। न चैवम्, कुतश्चित् कस्यचिदात्मलाभस्यैव विधाराधिष्ठितस्याप्रति-ष्ठानात्, अत एवोक्तं "निष्पत्तेरपराधीनम्" [प्र० वा० २। २६] इत्यादि, अपि तु नान्तरीयकत्वात्। न हि स्वकालभाविनं विकल्पमन्तरेण मानसम्, नापि तादृशं तदन्तरेण विकल्पः, ततो न परस्पराश्रय इति चेत्, न, तत एव सन्तानभिन्नयोः युगपद्वृत्तिचित्तयोरपि तद्भावापत्तेः। न हि विना देवदत्तचित्तेन यज्ञदत्तादेश्चित्तम्, तदेकचित्तस्यैव जगतः प्राप्तेः तत्सम्बन्ध स्याविच्छेदात्, न चैवम्, अतोऽस्ति तयोरप्यविनाभावान्मिथो हेतुफलभाव इति कथं सन्तानान्तर-चित्तपरिहारेण मरणचित्तादुत्तरभवादिचित्तस्यैवानुमानं यतो निश्चिता परलोकसिद्धिर्योगस्य ? तत्र भाविनो मानसाद्विकल्पः। भवतु पूर्वस्मादेव, पूर्वाक्षज्ञानजन्मन इति चेत्, तस्याक्षज्ञानेन यदेकसन्तानत्वम्, तदुपादेयस्य विकल्पस्यापि स्यात्, देवदत्तेनेव तत्पौत्रस्य। तथा चाक्षज्ञानादेव

१–तत्कर्तुं आ०,ब०,प०। २ किमनन्तरं आ०,प०,प०। ३ –तद्मा–आ०,ब०,प०। ४ उपादानम्। ५–तत्प्रसाद–आ०, ब०, प०। ६–ज्ञाने स–आ०,ब०, प०।

विकल्प इति किं मानसेन ? तदाह–**चेत** इति । **चेत एव** अक्षज्ञानमेव न मानसम् । **किं** कस्मात् **न विकल्पयेत्** इति सम्बन्धः । कीदृशम् ? **समनन्तरं** परेण मानसस्योपादानमुक्तं यदि भिन्नसन्तानत्वम्; तर्हि यथा ततो न विकल्पस्तथा मानसमपि न भवेत् । न हि मण्डूकस्य पिता [1]गण्डूपाद् भवति । तदाह–**चेत** इति । **चेतः** अक्षज्ञानं **समनन्तरं** मानसस्योपादानं **किमेवं नैव** विकल्पवत् । तत्रैव दोषचयमाह–

शष्कुलीभक्षणादौ चेत्तावन्त्येव मनांस्यपि ॥१६२॥
यावन्तीन्द्रियचेतांसि प्रतिसन्धिर्न युज्यते ।

शष्कुल्या भक्ष्यविशेषस्य **भक्षणमादिर्यस्य** तदा घ्राणादेस्तस्मिन्, **चेत्** यदि **तावन्त्येव** तत्परिमाणान्येव न न्यूनान्यधिकानि वा **मनांस्यपि** मानसप्रत्यक्षाण्यपि, न केवलमक्षज्ञानानीत्यपिशब्दः । **यावन्ति** यत्परिमाणानि **इन्द्रियचेतांसि** इन्द्रियप्रत्यक्षाणि **प्रतिसन्धिः** प्रत्यवमर्शो **न युज्यते** । तात्पर्यमत्र–यथेन्द्रियज्ञानपरिमितानि मनांसि तथा तज्जन्मानो विकल्पा अपि तत्परिमाणा एवेति कथमयमेकः परामर्शः–'रूपादिकमहमेवानुभवामि' इति ? तदभावे च रूपादीनां कथमेकघटादिव्यवहारविषयत्वम् ? एकप्रत्यवमर्शबलादेव तदुपगमात् ।

"एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी ।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता ॥" [प्र०वा० ३।१०८]

इति वचनात् । तन्न तावत्त्वं मनसामुपपन्नम् ।

अथैकमेव सकलरूपादिविषयं तेभ्यो मनस्तदाह–

अथैकं सर्वविषयमस्तु इति ।

सुबोधमेतत् । अत्रोत्तरम्–

किं वाक्षबुद्धिभिः ॥१६३॥ इति ।

अक्षबुद्धिभिः अक्षज्ञानैः **किं वा** किमिव तदेकम्, न किञ्चिदिह निदर्शनमस्ति । जलाहरणादिकमस्त्येव, तस्य घटादिव्यपदेशभाजोऽनेकस्मादेव रूपादेरेकस्य भावादिति चेत्; न; तस्य तत्रानुपादानत्वात्, एकान्ततस्तदनेकत्वस्य चाप्रसिद्धेः । एकोपादानमनेकमिव तदुपा[3]दानमेकमपि कस्मान्न भवति ? दृश्यते हि नीलैकज्ञानोपादानं कर्कटीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपञ्चकमिति चेत्; न; तस्याप्यसिद्धेः, रूपादिविषयस्यैकस्यैव मेचकस्य प्रतीतेः । '**यावन्तीन्द्रियचेतांसि**' इति तु परप्रसिद्धैवाभिहितः । तन्न युक्तम्–**एकम्** इत्यादि ।

साम्प्रतं मनसामक्रमोत्पत्तावुक्तं प्रतिसन्ध्यभावं क्रमोत्पत्तावपि दर्शयन्नाह–

---

1 गण्डूपाद् मत–आ०, ब०, प० । किञ्चुलुकः । 'केंचुआ' इति भाषायाम् । 2 "विकल्प."–ता०टि० ।
3 अनेकोपादानम् ।

क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्तिविकल्पोऽस्य विरुध्यते । इति ।

क्रमेण मनसाम् **उत्पत्तौ** अभ्युपगम्यमानायां **सहैवोत्पत्तिर्यस्य** रूपादिपरामर्शस्य सोऽयं प्रतीयमानो **विरुध्यते** । तस्युपादानक्रमे [1]तदनुपपत्तेः । ततो रूपे मनः, पुनस्तद्विकल्पः, ततो रसे मनः, पुनस्तद्विकल्पः, तथान्यत्रापीति विकल्पैर्मनोभ्यवहितैः मनोभिश्च विकल्पव्यवहितैर्भवितव्यम् । न चैवम्, प्रतीत्यभावादिति भावः ।

स्यान्मतम्–पश्चादेक एव तेभ्यस्तद्विकल्प इति, तन्न, इन्द्रियज्ञानक्रमोत्पत्तावप्येवं तद्भावप्रसङ्गात् । भवत्विति चेत्, अत्राह– 'क्रम' इत्यादि । **क्रमोत्पत्तौ** इन्द्रियचेतसां **सहोत्पत्तेरिन्द्रियज्ञानयुगपदुत्पादस्य** **विकल्पो** निश्चयः "तस्मात् सन्तु सकृद्धियः ।" [प्र० वा० २।१३७] इत्ययं परस्य प्रसिद्धो **विरुध्यते** । कथं वा मनसां प्रत्यक्षत्वम् यदि न स्वसंवेदनम् ? तद्रूपस्यैव स्वयं तदभ्युपगमात् । स्वेदने तु तत एव तत्प्रसिद्धेः किं [2]विकल्पतः ? तदनुमानेन निश्चयार्थम्, तन्निश्चितस्यैव सिद्धत्वात्, स्ववेदनस्य चाविकल्पत्वेनानिश्चयत्वादिति चेत्, न, विकल्पस्याप्येवं स्वतोऽसिद्धिप्रसङ्गात्, तदनुभवस्याप्यनिश्चयत्वात् । निश्चयान्तरात्तत्सिद्धिकल्पनायाम् अनवस्थोपनिपातात्, असिद्धस्य चाङ्गित्वात् । अनिश्चयेऽपि तत्प्रसिद्धौ मनसामपि स्यादविशेषादिति व्यर्थमेव ततस्तदनुमानम् । इदमेवाह–

अध्यक्षादिविरोधः स्यात्तेषामनुभवात्मनः ॥१६४॥ इति ।

आत्मनोऽनुभवः **अनुभवात्मा**, [4]'राजदन्तादिषु दर्शनात् आत्मशब्दस्य परनिपातः, ततोऽनुभवात्मनः स्वानुभवस्य **तेषां** मनसां सम्बन्धिन **'उत्पत्तावपि'** इति सम्बन्धः । तत्र दूषणम्–अभ्यासमादिर्यस्य तद् **अध्यक्षादि** अनुमानमिति यावत्, तस्य **विरोधो** [5]वैकल्येन परिपीडनं **स्याद्** भवेदिति । अथवा, तेषामिति सहोत्पत्तिविकल्पपरामर्शः प्रक्रमात् । बहुवचनं पुनर्व्यक्तिबहुत्वापेक्षम्, तेषाम् । [6]कस्यां किम् ? **अनुभवात्मनः** अनुभव आत्मा स्वभावो यस्य तद् **अनुभवात्म**, प्रक्रमाद् मानसं प्रत्यक्षम्, तस्मात् । उत्पत्तावविकल्पस्याभ्युपगम्यमानायाम् **अध्यक्षेण आदिग्रहणादनुमानेन च विरोधो** बाधः **स्यात्** । प्रत्यक्षेण तावद्भवति तत्तत्तदुत्पत्तेर्बोध', तेनेन्द्रियज्ञानादेव तदुत्पत्तिप्रतीतेः, तथा ह्यनुभवः– 'मया युगपच्चक्षुरादिना रूपादिकमन्वभावि' इति । तद्वदनुमानेनापि, तेनापि तस्मादेव तदुत्पत्तेरध्यवसायात् । यथा हि– यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तस्यैव कार्यं कुम्भकारादेरिव(रिव)कुम्भादिः, अनुविदधते चेन्द्रियस्यान्वयव्यतिरेकौ तद्विकल्पा इति । अनुकृतान्वयव्यतिरेकादन्यस्य च तद्धेतुत्वकल्पनायां न कथंचिद् कश्चिन्नियतो हेतुः फलं वा भवेत् । तत्र [7]भ्रान्तमनुपयोगी' स्यात् ।

---

१ सहोत्पन्नमनुपपत्तिः । २ निश्चयस्तद–आ०, ब०, प० । ३–र्थं न तन्नि–आ०, ब०,प० । ४ "राजदन्तादिषु परम्"–पा० सू० २।२।३१ । ५ –कल्पनायां च–आ०, ब०, प० । ६ तस्यां आ०, ब०, प० । ७–श्री न्यायात् ता० ।

धर्मोत्तरस्त्वाह[1]–न प्रत्यक्षादिप्रसिद्धत्वात् मानसं प्रत्यक्षमिष्यते यतोऽयं दोषः किन्त्वागमाधीनत्वात्। तत्र च परे दोषमुद्भावयन्ति—यदि मानसमपि किञ्चित्प्रत्यक्षं तर्हि नान्धो नाम कश्चित् लोचनविकलस्यापि तत्सम्भवादिति तत्परिहाराय[2] तल्लक्षणप्रणयनम् 'इन्द्रियज्ञानेन' इत्यादि। न हीन्द्रियज्ञानमन्धस्य यतस्तदुपादानस्य मानसप्रत्यक्षस्य तत्र भावात्तद्व्यवहारो[3] न भवेदिति। तत्रोत्तरमाह–

वेदनादिवदिष्टं चेत्कथं नातिप्रसज्यते। इति।

वेदना सुखाद्यनुभूतिरा**दि**र्यस्य संज्ञादेस्तत् **इष्टम्** अभिमतम् प्रत्यक्षं **चेत्** यदि। दूषणमत्र–'**कथम्**' इत्यादि सुबोधम्। तथा हि–

अस्वसंवेदनं तच्चेत् प्रत्यक्षत्वेन[4] गम्यते।
ऐन्द्रियादिकमप्येवं तथा चातिप्रसञ्जनम् ॥१२०५॥
"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य" इत्यादि[5] निर्विषयं भवेत्।
आगमादेव तत्सिद्धं कथमस्तु स्ववेदने ॥१२०६॥
बुद्धेश्चैतन्यमप्यन्यत् [6]प्रत्यागमनिरूपितम्।
भवेदित्यपि [7]बुद्धोक्तं कथन्नातिप्रसज्यते? ॥१२०७॥
प्रमाणबाधस्तुल्योऽयमुभयत्रात एव हि।
'**अध्यक्षादिविरोधः स्यात्**' इत्यभाणि मनीषिणा ॥१२०८॥

यत्पुनरुक्तम्–विप्रतिपत्तिनिराकरणाय तल्लक्षणमुच्यत इति; तत्राह–

प्रोक्षितं भक्षयेन्नेति दृष्टा विप्रतिपत्तयः। ॥१६५॥ इति।

प्रोक्षितं मन्त्रिताभिरद्भिरभ्युक्षितं **भक्षयेत्** मांसमिति वैदिकाः। तदुक्तम्–

"प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां तु काम्यया।
यथा विधिनियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये॥" [मनु० ५।२७] [8]इति।

न भक्षयेत्प्रोक्षितमपि तु 'पात्रपतितं त्रिकोटिशुद्धम्' इति [9]बौद्धाः, **इति एवं दृष्टाः** उपलब्धा **विप्रतिपत्तयो** बहुवचनमन्यासाम् अपि तासाम् 'यागात्स्वर्गः, चैत्यवन्दनात्[10] [11]स्वर्गः' इत्यादीनां परिग्रहार्थम्। तथा च तन्निवर्तनार्थमपि प्रमाणशास्त्रे तल्लक्षणमभिधातव्यमिति भावः, तत्त्वपरिच्छेदं प्रत्युपयोगित्वेन [12]तं प्रत्यनुपयोगात्। तदेवाह–

---

१ "एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम्, न त्वस्य साधकमस्ति प्रमाणम्, एवं जातीयकं तद्यदि स्यात् न कश्चिद्दोषः स्यादिति वक्तुं लक्षणमाख्यातमस्येति।"–न्यायबि०टी०पृ०१९। २ यदा चेन्द्रियज्ञानविषयोपादेयभूतः क्षणो गृहीतस्तदा इन्द्रियज्ञानेनागृहीतस्य विषयान्तरस्याग्रहणादन्धबधिराद्यभावदोषप्रसङ्गो निरस्तः।"–न्यायबि० टी० पृ० १९। ३ अन्धादिव्यवहार। ४–न क्षाम्यते आ०,ब०,प०। ५ द्रष्टव्यम्–पृ०४६९ टि० ७। ६ सांख्यागम। ७ बुद्धशोक्तं आ०,ब०,प०। ८ इतीनि आ०,ब०,प०। ९ "तर्हि खो अहं जीवक ठानेहि मंसं अपरिभोगं ति वदामि दिट्ठं सुतं परिसंकितं ··· खो अहं जीवक ठानेहि मंसं परिभोगं ति वदामि अदिट्ठं असुतं अपरिसंकितं"–मज्झिम० जीवकसुत्त। १० वैदिकानाम्। ११ बौद्धानाम्। १२ विप्रतिपत्तिनिराकरणं प्रति।

एक्षणं तु न कर्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु । इति ।

सुगमः कर्तव्यमित्यतः परो द्रष्टव्योऽवधारणार्थम् । तदयमर्थः–एक्षणं न कर्तव्यमेव, प्रस्तूयते प्रमाणफलत्वेनाधिक्रियते इति प्रस्तावो हेयोपादेयतत्त्वनिर्णयस्तत्र अनुपयोगीनि मानसमांसभक्षणादीनि तेषु । बहुवचनं मांसभक्षणादिनिदर्शनपरिग्रहार्थम् । तत्र धर्मोत्तरमतमपि न्यायधर्मोद्यनपेतम् ।

साम्प्रतम् 'अविकल्पकम्' इत्यादिना सामान्यतः प्रतिक्षिप्तमपि स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण प्रतिक्षिपन्नाह–

अध्यक्षमात्मवित्सर्वज्ञानानामभिधीयते ॥१६६॥
स्वापमूर्च्छाद्यवस्थोऽपि प्रत्यक्षी नाम किं भवेत् ।

अध्यक्षं कल्पनाविभ्रमविकलत्वेन आत्मवित् आत्मवेदनम् अभिधीयते सौगतैः । तत् सर्वज्ञानानां विकल्पेतरभेदाधिष्ठानानिरवशेषप्रभेदानाम्, तदुक्तम्–"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" [न्यायबि० पृ० १९] इति । अत्रदूषणम्–स्वापश्च स्वप्नदर्शनविकलोऽवस्थाविशेषो न तद्दर्शनवान्, तदवस्थस्य स्वयमपि प्रत्यक्षत्वोपगमात् । मूर्च्छा च मर्मप्रहारादिनिमित्तचित्तव्यामोहः, स्वापमूर्च्छे ते आदी यस्योन्मादादेः स स्वापमूर्च्छादिः स्वनिमित्तकस्याविशेषेण स्वाप एव मूर्च्छादेरन्तर्भावेऽपि पृथगुपादानम्, निमित्तभेदतो भेदस्यापि भावात् । अन्यदेव हि भासादश्रमनादिकं निमित्तं स्वापस्यान्यदेव च विक्षेपोपयोगादिकं मूर्च्छादेः । तथा कार्यभेदादपि, सुप्तस्य निर्भयशिष्ये स्वेषु (?) च शरीरं तद्विपरीतं मूर्च्छितादेरपि । स एवावस्था यस्य सोऽपि न केवलं तद्विपरीत इत्यपि शब्दः प्रत्यक्षी प्रत्यक्षवान् नाम स्फुटं किम भवेत् ? नकारस्य पूर्वश्लोकादनुवृत्तेः, भवेदेव । तत्राप्यात्मसंविदो भावात्, तथा च कथमवस्थाचतुष्टयप्रसिद्धेति भावः ।

तदवस्थस्य ज्ञानमेव नास्ति, तद्भावे जाग्रत इव तदवस्थाविरोधात्तत्र कथमात्मवेदनम् ? यतोऽयं प्रसङ्ग इति प्रज्ञाकरो ब्रह्मवादी च, तेनापि तदवस्थायां जीवस्य परमात्मरूपसम्पन्नतया विशेषविज्ञानोपरमस्योपगमात् । "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" [बृहदा० ४।३।२१] इति श्रुतेः ।

तत्रोत्तरं दर्शयति–

विच्छेदे हि चतुःसत्यभावनादिर्विरुध्यते ॥१६७॥ इति ।

---

१ तुलना–"सुप्तः स्वप्नादिभिरपि नोपलब्धमिति, मूर्छितस्य देहो भवति, भवानर्थं च पश्यन्, विस्फारिते नेत्रे । सुषुप्तस्तु प्रथमतस्तुल्यमानं पुनःपुनरुच्छ्वसिति निमीलिते चास्य नेत्रे भवतः । निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः, सुषुप्तश्रमादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य ।"–शा० भा० ३।२।१० । २ –निर्भयन्तिभीरवु वा० ता० । ३ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयावस्था । ४ "सविदन्नभाव एव सुप्त मूर्च्छितोन्मत्तादौ विशेषः"–प्र० वार्तिकाल० ११५० । ५ "सुषुप्तिर्नाम शानगम्यो जीवस्यावस्थाविशेषः । अत्र च श्रुतिः–'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्'"– बृ० उ० ४।३।१९ ।

स्वापादौ **विच्छेदे** उपरमे विज्ञानानामिति सम्बन्धः **हि** यस्मात् **चतुःसत्यं** दुःखसमुदयनिरोधमार्गलक्षणं तस्य **भावना** प्रबुद्धेन मुहुर्मुहुश्चेतसि परिमलनं[1] सा **आदिर्यस्य** गुणादिप्रकाशस्य ब्रह्मलोकात् प्रत्यागमस्य च स **विरुध्यते** । तस्मात् सन्ति तदा विज्ञानानीति कथन्न कथितो दोषः ? तथा हि–यदि स्वापादौ ज्ञानविच्छेदः कुतः प्रबुद्धस्य तत्सत्यभावनं सन्निहितस्य तद्बीजस्याभावात् ? जाग्रदवस्थाभाविन इति चेत्; न; तस्य चिरनष्टत्वेन कारणत्वानुपपत्तेः, अन्यथा आत्मदर्शनबीजादपि चिरप्रहीणादेव सुगतस्य जन्मदोषसमुद्भवलक्षणायाः पुनरावृत्तेः सम्भवात्, असम्भवदर्थमेतद्भवेत्– "अपुनरावृत्त्या गतस्सुगतः" [ ] इति[2] । यदि पुनस्तस्य सम्यग्ज्ञाननिर्लुप्तशक्तिकत्वान्न कालान्तरेऽपि तत्फलम् ; चतुःसत्यभावनाफलमपि तद्बीजान्न भवेत्, तस्यापि स्वापादिनिर्लुप्तशक्तिकत्वात् । दृश्यत इति चेत्; सत्यम्; दृश्यते, चिरनष्टादिति तु न दृश्यते, सन्निहितादपि[3] तदुपपत्तेः । यदि सन्निहितज्ञान एव स्वापादिः कथमवस्थान्तराद्विशिष्यत इति चेत् ? आस्तामेतत् । अपि च, कथमेवं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रवर्त्तमानस्य नियमेनाविसंवादः ? जाग्रज्ज्ञानात् प्रबोधचित्तवत् [4]चिरकालापक्रान्तादपि जलपात्रकादेस्तदुत्पत्तिपरिकल्पनायां[5] नियमतस्तदर्थक्रियाप्राप्तेरसम्भवात् । तद्रूपत्वाच्चाविसंवादस्य[6] । ततो न सुभाषितमेतत् "न[7] ज्ञाभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते ।" [ ] इति । ततः सन्निहितादेव ततस्तदुत्पत्तिमभ्युपगच्छता चतुःसत्यभावनापि सन्निहितहेतुकैवाभ्युपगन्तव्या । न च तद्भावना नेष्यत एव; तन्मूलत्वात् सकलगुणदोषप्रकाशरूपस्य योगिज्ञानस्य । तदुक्तम्—

"बहुशो बहुधोपायं कालेन बहुनाऽपि च ।
गच्छन्त्यभ्यस्यतस्तस्य गुणदोषाः प्रकाशताम् ॥" [प्र० वा० १।१३७] इति ।

तथा यदि स्वापादौ परमात्मसम्पन्नतया विशेषविज्ञानविकलो जीवः कथं तस्य[8] पुनरुत्थानम् ? तस्य तद्विज्ञानमूलत्वात्, तस्य च तदानीमभावात् । लेशतस्तद्भावेऽपि तदात्मापत्तेरनुपपत्तेः[9] निवृत्तनिश्शेषाविद्यासंस्पर्शं हि परमात्मरूपम्, तत्कथं तदापन्नस्य जीवस्यापि [10]तल्लेशसंस्पर्शः तद्रूपस्यैव तत्प्रसङ्गात् । भवतु जाग्रत्समयभाविन एव विशेषज्ञानात्तस्य पुनरुत्थानमिति चेत्; न, संसारसमयभाविनस्ततो मुक्तस्यापि तत्प्रसङ्गात् । [11]तस्य विद्याबलोपरमितस्य न तद्धेतुत्वमिति चेत्; स्वापादिविलोपरतस्य[12] कथम् ? शास्त्रप्रामाण्यात्, श्रावयति हि शास्त्रम्—"पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति" [बृहदा० ४।३।१७] इत्यादिकं सुषुप्तादेः पुनरुत्थानम्, ततो युक्तं तद्बलनिर्लुप्तस्यापि तद्धेतुत्वम्, अन्यथा तदनुपपत्तेः । न चैवं मुक्तस्य

---

१ परिमेलनं आ०, ब०, प० । २ द्रष्टव्यम् पृ० २६ टि० ६ । ३ सन्निहितादेव । ४ चिरकालप्रोक्तादपि –आ०, ब०, प० । ५ ज्ञानोत्पत्ति । ६ "उक्तञ्च सुगतेन–प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्" [प्र०वा०१।३]–ता० टि० । ७ नाभ्यामर्थं आ०, ब०, प० । ८ पुनरुत्थानस्य । ९ परमात्मापत्तेः । १० अविद्यालेश । ११ संसारसमयभाविनः । १२ –परहितस्य आ०, ब०, प० ।

पुनरुत्थानम्, निरवधिनिर्मोक्षस्यैव श्रवणात्। तत्र विशायन्तरातस्य तत्कारणत्वनिर्णयोऽयमुपपत्तिधुर इति चेत्, नन्वेवं शास्त्रमेवाप्रमाणं स्यात्, निरवयवपरमात्मसमापन्नत्वेन शासितयोः सुषुप्तनिर्मुक्तयोः पृथक्करणेन मिथ्याव्यापारत्वात् द्विचन्द्रादिबोधवत्। नास्त्येव तेन तयोः पृथक्करणं तदाभासयोरेवोपाधिगतयोः पृथक्करणात्, तयोश्च जलसूर्यादिवद्भेदस्यैव प्रसिद्धेरिति चेत्, भवत्वेवं तेन तयोः पृथक्करणम्, परमात्मापत्तिस्तु कथं भ्रान्त्यैव अवस्तुनो वस्तुरूपापत्तेर्विरोधात् अवस्तुनस्तदन्यरूपापत्तिवत्? कथं तर्हि जलसूर्यादेर्जलापुपरमे सूर्यापत्तिरिति चेत्, न, तत्राप्याधारोपरतौ उपरमस्यैवोपलम्भात् न तदापत्तेः। एवमत्राप्युपाध्युपरमे तदाभासयोरुपरतिरेव स्यान्न तदापत्तिः अवस्तुत्वात्। ननूपाध्यनुप्रविष्टः परमात्मैव जीवो न तदाभास एव, "हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" [छान्दो० ६।३।२] इत्यादौ जीवस्यात्मत्वेन निर्देशात् कथं तस्यावस्तुत्वम्? अतो न तदापत्तिरिति चेत्, न तदपि साधु, लौकिकाविवेकाभिप्रायात् तथा निर्देशात् आभासस्यैवात्मत्वेन। अत एवात्रार्थे सूत्रं भाष्यं च–"आभास एव च" [ब्रह्मसू० २।३।५०] इति। "आभास एव जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यादिवत् प्रतिपत्तव्यो न स एव साक्षान्नापि वस्त्वन्तरम्" [ब्र०शा० २।३।५०] इति। ततो न स्वापाद्यवस्थायां विज्ञेयविज्ञानयोर्विशाम्यपदेशात् अन्यरूपापत्तिः, उपरतौ च न तयोरुन्मज्जनम्, तादृशयोरुन्मज्जने च न प्रबुद्धस्यानुभूतस्मरणादिकं जीवान्तरवत्। अस्ति चेदम्। तस्मादच्युतप्रच्छिन्नसन्तान एव स्वापादिः निश्चयवैकल्यात् जाग्रत्स्वप्नदशाभ्याम्, अपरित्यक्तशरीरत्वाच्च चतुर्थावस्थातो विशिष्यते।

स्वसंवेदनमात्रस्य तु प्रत्यक्षत्वमाचक्षाणानां न तस्य जाग्रदादेर्विशेषः, तदात्मनैव तस्यापि प्रत्यक्षत्वात्। तत्र निश्चयविकल्पविनिर्मुक्तमेव प्रत्यक्षम्।

अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह–

प्रायशो योगिविज्ञानमेतेन प्रतिवर्णितम्। इति।

योगिविज्ञानं चतुरार्यसत्यगोचरं बुद्धज्ञानम् **एतेन** निर्विकल्पप्रत्यक्षवादेन **प्रतिवर्णितं** प्रतिपादितं भवतीति शेषः। कीदृशम्? **प्रायशः** प्रकृष्टमयशोऽप्रामाण्यलक्षणं यस्य तादृशमिति। तदपि हि कल्पनापोढत्वादेव प्रत्यक्षम्, अन्यथा तल्लक्षणस्याव्याप्तिदोषात्। न च तत् स्वसत्तामात्रेण विनेयानां प्रमाणम्, अपि तु सोपायहेयोपादेयतत्त्वोपदेशात्। "ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये।" [प्र० वा० १।३२] इति वचनात्। सोऽपि न निर्विकल्पात्, नाप्यचेतनात् कुड्यादेः, "विकल्पयोनयः शब्दाः" [ ] इति वचनात्। न विकल्पसंस्कारात्, योगिनस्तदभावे विधूतकल्पनाजालत्वविरोधात्। ततः सविकल्पमेव तदभ्युपगन्तव्यम्। तथा च सिद्धमिन्द्रियादि-

१ प्रपदार–आ०,ब०,प०। २ "आत्मनेति वचनात् स्वात्मनोऽव्यतिरिक्तेन चैतन्यस्वरूपतयाऽवधारितेन।" –छान्दो० शा० भा०। ३ –सकलेन च आ०, ब०, प०। ४ तत्सत्तामा–आ०, ब० प०।

प्रत्यक्षमपि सविकल्पं प्रत्यक्षत्वात् योगिप्रत्यक्षवदिति । कीदृशञ्च तन्निर्विकल्पकम् ? निराकार मेकशक्तिकञ्चेति चेत् ; न; तस्यानेकविषयत्वाभावानुपङ्गात् , अन्यथा नित्यस्यापि तादृशो ऽनेककार्याविरोधात् न तत्प्रतिषेधः तथा च–

अशेषज्ञतयेष्टस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाद्यशस्स्थितेः ।
प्रायशो योगिविज्ञानमेतेन प्रतिवर्णितम् ॥१२०९॥
साकारमेकाकारं तदेतेनैव निरूपितम् ।
अनेकशक्तिकं तच्चेदनेकाकारमप्यलम् ॥१२१०॥
नानाशक्तितदाकारसाधारणतया स्थितम् ।
निर्विकल्पं कथन्नाम तद्भिन्नजातिकल्पनाम् ॥१२११॥

तथा च–

अविकल्पतयेष्टस्य विकल्पत्वाद्यशःस्थितेः ।
प्रायशो योगिविज्ञानमेतेन प्रतिवर्णितम् ॥१२१२॥

साम्प्रतं साङ्ख्यस्य प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्याचक्षाण आह–

श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु ॥१६८॥
प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिस्तद्विकारानुकारिणी । इति ।

श्रोत्रमादिर्यस्य चक्षुरादेस्तस्य **वृत्ति**र्विषयाकारपरिणतिः **यदि** चेत् **प्रत्यक्षम्** ननु बुद्धिवृत्तिरेवाध्यवसायरूपा साङ्ख्यस्य प्रत्यक्षं "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" [सां०का० ५] इति वचनात् , तत्कथं श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षमाशङ्क्यत इति चेत् ; न; [3]तद्वृत्तेरपि बहिरिन्द्रिय प्रणालिकयैव भावात् तद्वृत्तेरेव तत्त्वोपपत्तेः । सति हीन्द्रियाणामालोचने मनसि सङ्कल्प ततोऽहङ्कारेऽभिमानः, ततश्च बुद्धावध्यवसाय इति तत्सिद्धान्तप्रसिद्धेः । अत्र दूषणम्- **तैमिरिक आदिर्येषां** कामलिकादीनां तेषु **प्रसङ्गः** श्रोत्रादिवृत्तिप्रत्यक्षत्वस्य । तथा च द्विचन्द्रादिर तात्त्विक एव भवेदिति भावः । तद्वृत्तिरेव सा न भवति यतोऽयमतिप्रसङ्ग इति चेत् अत्रोत्तरम्–**किं** कस्मात् **अतद्वृत्तिः** चन्द्रद्वित्वालोचनादिः, तस्य श्रोत्रादेर्विकारमनुकरोतीत्ये शीला न भवेदेव । भवति च, तिमिरादिना विकृत एव [5]श्रोत्रादौ तद्वृत्तेर्भावात् । आसादित ध्यवसायनिबन्धनमेव वृत्तिस्तद्वृत्तिर्न वृत्तिमात्रम् ; इत्यपि न युक्तम् ; [6]"**शब्दा[दिषु पञ्चा नामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।**" [सां०का० २८] इति तन्मात्रस्यैव तद्वृत्तित्ववचनात्

१ एकशक्तिकात् । २ "श्रोत्रादिवृत्तिः भ्रान्तेपि न हि नाम न विद्यते । न च ज्ञानं विना वृत्तिः श्रोत्रादे पद्यते ॥"–प्र० वार्तिकाल० २।३०० ।–अकलङ्क० टि० पृ० १६२ । वार्षगण्यस्य । ३ बुद्धिवृत्तेरपि । ४ "... रूपं पश्यति, मनः सङ्कल्पयति, अहङ्कारोऽभिमानयति बुद्धिरध्यवस्यति ।"–सां० का० माठर० ३० । ५ श्रो... दतद्वृ आ०, ब०, प० । ६ "शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः"–सां० का० ।

साम्प्रतं नैयायिकस्य प्रत्यक्षलक्षणमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह–

तथाक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धदर्शनम् ॥१६१॥
व्यवसायात्मसंवाद्यव्यपदेश्यं विरुध्यते । इति ।

अक्षम् इन्द्रियम् **अर्थः** तद्विषयो **मनस्कारो**ऽन्तःकरणं **सत्त्वम्** आत्मा तेषां **सम्बन्धः** आत्मा मनसा युज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति क्रमेण सन्निकर्षः। तस्य कार्यं **दर्शनं** विषयज्ञानम् **अक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धदर्शनं** प्रत्यक्षमिति प्रकृतेन सम्बन्धः । इह स्वरूपमात्रग्रहणमेव कर्त्तव्यम्, न सम्बन्धग्रहणं तदर्थस्यार्थादेव प्रतिपत्तेः । न हि विषयज्ञानं कुर्वदक्षादिकं परस्परमसन्निकृष्टमेव कर्तुमर्हति, परस्परं सन्निकर्षवत एव दण्डादेर्घटादिकर्मणि व्यापारात्, तदक्षादेरपि तादृशस्यैव विषयज्ञाने व्यापारोपपत्तेर्भवति तत्कार्यदर्शनप्रतिपादनबलादेव तत्सम्बन्धप्रतिपत्तिः, अतो न कर्त्तव्यं सम्बन्धग्रहणमिति चेत्, सत्यम्, तथापि तत्क्रियते संयुक्तसंयोगादेः सम्बन्धान्तरस्य प्रतिक्षेपेणाभिमतस्यैव संयोगादिसम्बन्धषट्कस्य परिग्रहार्थम् । एवमपि बन्धग्रहणमेवास्तु तेनैव प्रत्यासत्तिमात्रेण तत्षट्कस्यावबोधात् सम्बन्धस्तु [3]किमर्थं इति चेत् ? न, तस्य 'सम् निश्चितो बन्धः सम्बन्धः' इति व्याख्यानार्थत्वात् । निश्चयश्च सम्बन्धस्य कश्चित् कस्यचित् नापरस्य । तथा हि–चक्षुषो घटादिना संयोगः सम्बन्धो निश्चितो द्वयोरपि द्रव्यत्वात् । तद्द्वारेण रूपादिना संयुक्तसमवायोऽन्यस्यासम्भवात् । रूपत्वादिना तु तत्समवेतेन संयुक्तसमवेतसमवायः तस्यैव परिशेषात् । श्रोत्रस्य तु शब्देन समवायः । शब्दत्वेन समवेतसमवायः । समवायाभावाभ्यां पुनरिन्द्रियस्य सम्बन्धविशेषणभावः, समवायिनो घटतदवयवा इति घटादिविशेषणत्वेन समवायस्य प्रतिपत्तेः, अघटं भूतलमिति भूतलविशेषणत्वेन च घटाभावस्याधिगमात् । तदेवमयमत्र सम्बन्ध इति निश्चयद्योतनार्थमुपसर्गोपादानम् । एवं निश्चयरूपेणापि सन्निकर्षपदस्य व्याख्यानात् ।

तदेव प्रत्यक्षमनभिमतव्यवच्छेदार्थं विशिनष्टि **व्यवसायात्म** । व्यवसायो निर्णय आत्मा स्वभावो यस्य तत् तथोक्तम् । अनेन संशयज्ञानस्य व्यवच्छेदः, तस्याक्षादिसम्बन्धदर्शनरूपत्वेऽपि व्यवसायस्वभावाभावात् । संवादोऽव्यभिचारः सोऽस्यास्तीति **संवादि** अनेनापि विपर्ययज्ञानस्य । तस्योक्तरूपस्य व्यवसायात्मनोऽपि व्यभिचारभूमित्वात् । व्यपदेशार्हं व्यपदेश्यम् तदर्हत्वञ्च तत्कार्यत्वात्, न व्यपदेश्यम् **अव्यपदेश्यम्** अशब्दजन्यमिति यावत् । अनेनापि शब्दसन्निकर्षाभ्यामुपजनितस्य 'इदं रूपम् इत्यादिज्ञानस्य' तस्योभयजन्मनोऽपि शाब्दतया लोकेऽधि(भि)मतत्वात् । तदनेन "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्यायसू० १।१।४] इति सूत्रमुपदर्शितम् । यदेवमक्षार्थसम्-

१ "चत्वारीमं प्रमाणं चतुष्टयसन्निकर्षात् प्रवर्तते, तत्र यथा व्यापारो विषये चतुष्टयसन्निकर्षात् ज्ञानमुत्पद्यते आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति, सुखादौ तु त्रयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात्, आत्मनि तु योगिनो द्वयोरात्ममनसोरेव संयोगात् ज्ञानमुत्पद्यते तृतीयस्य प्रमाणस्य व्यापारस्य तत्राभावात् ।"–न्यायमं० पृ० ७० । २ –तदोपगमात् आ० ब०,प० । ३ किमर्थमिति आ०,ब०,प० । ४ सम्बन्धेति आ०,ब०,प० । ५ "प्रत्यक्षेद इति सम्बन्ध" –ता०टि० । ६ "प्रत्यक्षेण"–ता०टि० ।

णमेव कर्तव्यम् तस्यैव प्रत्यक्षकारणतया सूत्रे निर्देशात्, न मनस्कारसत्त्वग्रहणं विपर्ययादिति चेत्, न; तस्यापि तत्कारणत्वात्, सूत्रे तु तदवचनं साधारणकारणत्वात्। साधारणं हि कारणं मनस्कारादि; प्रत्यक्षवदनुमानादावपि भावात्। अक्षादेस्तु तत्रोपादानं प्रत्यक्षं प्रति तस्यासाधारणहेतुत्वप्रतिपादनार्थं न तु कारणान्तरव्यवच्छेदार्थम्। तथा च न्यायभाष्यम्–"नेदं कारणावधारणमेतावत्प्रत्यक्षकारणमिति। किं तर्हि? विशिष्टकारणवचनम्। यत्प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते। यत्तु समानमनुमानादिज्ञानस्य न तन्निवर्त्यते।" [न्यायभा० १।१।४] इति। यद्येवं सूत्रवदत्राप्यसाधारणमेव कारणं वक्तव्यं नेतरदिति चेत्; न; तत्रापि दूषणदर्शनार्थत्वात्तद्वचनस्य, ततः कुचोद्यमेतत्। तर्हि सुत्रद्वमिदं प्रत्यक्षलक्षणमिति चेत्, आह–**विरुध्यते** विचारेण पीड्यत इत्यर्थः। कथमित्याह–'**तथा**' इति। वीप्सागर्भमिदम्।

तद्व्ययमर्थः–तेन तेन विशेषणरूपेण विशेष्यरूपेण तत्समुदायरूपेण च प्रकारेणेति। तथा हि– विशेषणं तावद्व्यवसायात्मकमिति विरुध्यते, निवर्त्याभावात्। संशयज्ञानं निवर्त्यमिति चेत्; न; तस्य सन्निकर्षपदेनैव निवर्तनात्। सन्निकर्षजमेव तदपीति चेत्; कस्य सन्निकर्षः? स्थाणुपुरुषयोरन्यतरस्य, उभयस्य वा? न तावत्तदुभयस्य; एकत्रैकहेलया तस्यासम्भवात्। सम्भवे तज्ज्ञानस्य संशयत्वानुपपत्तेः। न हि वस्तुसति संशयो नाम अतिप्रसङ्गात्। अन्यतरस्य तु सन्निकर्षे तस्यैव तत्र प्रतिभासनं भवेत् कथमितरस्य? असन्निकृष्टस्यापि प्रतिभासने अन्यत्रापि सन्निकर्षकल्पनावैफल्यात्। सन्निकृष्ट एवान्यतर इतरेणापि रूपेण प्रतिभासते नापरः कश्चिदसन्निकृष्ट इति चेत्; न; इतराकारस्य तत्राभावे तेन सन्निकर्षानुपपत्तेः। रूपान्तरसन्निकर्षस्तु नेतरप्रतिभासकारणम् अतिप्रसङ्गात्। तन्न संशयज्ञानस्य सन्निकर्षजत्वम्। नापि विपर्ययज्ञानस्य; विपरीताकारस्य तत्राविद्यमानत्वेन सन्निकर्षानुपपत्तेः। रूपान्तरसन्निकर्षाच्च न तत्प्रतिभासनमिति निवेदनात्। तद्वदव्यभिचारीत्यपि विरुध्यते; विपर्ययज्ञानस्यापि सन्निकर्षवचनेनैव निवर्तनात्। तद्वदव्यपदेश्यमित्यपि। ननु च व्यपदेश्यं ज्ञानं शब्दसहायादिन्द्रियसन्निकर्षादेव भवति, तत्कथं तस्य तत्पदेन निवर्तनमिति चेत्? कोऽसौ शब्दस्तस्य सहायः? सङ्केत्यमान इति चेत्; प्रत्युत्पन्नविषयदर्शनस्य, तद्विपरीतस्य वा? न तावत्तद्विपरीतस्य; अदृष्टे विषये 'अयमस्य वाचकः शब्दः' इति सङ्केतस्यासम्भवात्। स्मर्यमाणे सम्भव इति चेत्; सत्यम्; न चासौ सन्निकृष्टः। सन्निकृष्टे चेयं चिन्ता। भवतु प्रत्युत्पन्नतद्दर्शनस्यैवासौ सहाय इति चेत्, यद्येवं तद्दर्शनस्यैवासौ सहायो न सन्निकर्षस्य, तत एव तत्सहायाद्व्यपदेश्यज्ञानस्योत्पत्तेः। [5]तदभावे सत्यपि सन्निकर्षे पूर्वमनुत्पत्तेः। अथ तदप्यपरिभ्रष्टसन्निकर्षमेव तज्जनयति; जनयतु तथापि न सन्निकर्षस्य तत्कारणत्वम्। 'इदमेवम्' इति चेत्, इदमेवंशब्दाभ्यां तद्दर्शनस्यैव तत्पुरस्सरतया प्रतिवेदनात्। न हि

१ –मिति कि तर्हि विशिष्टकारणमिति किं तर्हि –ता०। २ तन्निवर्तते –आ०,ब०,प०। ३ –स्य वाचकः शब्द इति वा आ०, ब०, प०। ४ तद्दर्शनादेव। ५ तद्दर्शनाभावे।

सन्निहित इत्येव सन्निकर्षोऽपि कारणम्, सन्निधानस्याकारणेऽपि सम्भवात्। अत एव वक्ष्यति–

“सन्निधानं हि सर्वस्मिन्नव्यापारेऽपि तत्समम्” [न्यायवि० श्लो० ३०१] इति।

यदि च, ‘इदं रूपम्’ इत्यादिज्ञानं सन्निकर्षजम्, ‘अयं स गवयः’ इत्यपि स्यात्, सन्निकृष्ट एव गवये तस्याप्युत्पत्तेः। तथा च तद्व्यवच्छेदार्थं पदान्तरमास्थातव्यम्, अन्यथा तस्य प्रत्यक्षत्वेन [1]प्रमाणान्तरत्वाभावानुषङ्गात्। तदन्तरञ्च तदिदं भवतामुपमानाख्यम्। तस्योपमानवचननिमित्तत्वेन व्यपदेश्यत्वादव्यपदेश्यपदेनैव व्यवच्छेद इति चेत्, न, व्यपदेशसाधकतमस्यैव व्यपदेश्यत्वोपगमात्। न चोपमानस्य व्यपदेशसाधकतमत्वम्, साधर्म्यस्य साधकतमत्वेनोपगमात्। अन्यथा तस्यापि ‘इदं रूपम्’ इत्यादिज्ञानवत् शाब्दत्वोपपत्तेर्न प्रमाणान्तरत्वं भवेत्। प्रमाणान्तरस्यापि तस्य व्यपदेशादुत्पत्तेर्व्यपदेश्यत्वमिति चेत्, न, रूपमित्यादिज्ञानस्यापि प्रमाणान्तरस्यैव तथा व्यपदेश्यत्वप्रसङ्गात्। तथा चानुपपन्नमिदं भाष्यम्– “नामधेयशब्देन च व्यपदिश्यमानं शाब्दम्” [न्यायभा० १।१।४] इति। व्यपदेशस्यैव तत्र साधकतमत्वं लोको व्यपदिशति–रूपमिदमित्येतद्वचनात् मया प्रतिपन्नं न तु प्रत्यक्षादिति इति तद्व्यवहारप्रतिपत्तेः, ततः शाब्दमेव तत्र प्रमाणान्तरमिति चेत्, न, इतरत्रापि तुल्यत्वात्–गवयोऽयमित्याप्तवचनान्मया प्रतिपन्नं न प्रत्यक्षादिति इत्यपि लोकव्यवहारोपलम्भात्। तथापि तस्याशाब्दत्वेनाव्यपदेश्यपदेन व्यवच्छेद इत्यास्थातव्यमेव पदान्तरम्। नास्थातव्यम्, सन्निकर्षवचनेनैव तस्य व्यवच्छेदात्। न हि तस्य सन्निकर्षादुत्पत्तिः, गवयदर्शनादेराप्तवचनसहायात्तस्योत्पत्तेरिति चेत्, सिद्धस्तर्हि ‘इदं रूपम्’ इत्यादिज्ञानस्यापि तत एव व्यवच्छेदः, तस्यापि नीलादिदर्शनादेव शब्दसहायादुत्पत्तेर्न सन्निकर्षात्। अत एव विशदरूपेणापि दर्शनमेव पुरस्कृत्य संकेतकरणमुपदर्शितम्– “यदेतत्पश्यसि तस्य गोशब्दो वाचकः।” [ ] इति।

तद्दर्शनं पुरोधाय शब्दः सङ्केतितः कथम्।
तदन्यस्य सहायत्वं सन्निकर्षस्य गच्छतु ॥१२१३॥
सन्निकर्षपदेनैव तस्याप्येव व्यवच्छिदि।
इयमव्यपदेश्योक्तिरव्यावर्त्या विरुध्यते ॥१२१४॥

[2]नैवमव्यपदेश्यपदं विशेषणार्थं प्रयुक्तस्य अपि सूत्रपदद्वयनिषेधार्थम् [3]अव्यपदेश्यम् अवक्तव्यम्। किं तत्? चिरन्तनैर्नैयायिकैस्तद्विशेषणत्वेनाभिहितमव्यभिचारीति व्यवसायात्मकमिति च पदद्वयम्। तत्प्रयोजनस्यान्यत एव भावादिति व्याख्यानदर्शनात्। तत इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्येव लक्षणमस्तु निर्दोषत्वादिति, सोऽपि न निर्दोषवादी, सन्निकर्षस्यैवात्ममनसोरसम्भवात्, तस्य च यथास्थानं निषेधयिष्यमाणत्वात्। भावेऽपि कथं सन्निकर्षस्य कादाचित्कत्वम्? न हि नित्यहेतुकस्यानित्यत्वम्, हेत्वनित्यत्वादेव तत्कार्य-

१ उपमानप्रमाणस्याभावानुषङ्गात्। २ “उपक्षेपरहिततदर्थतया अभिप्रेतार्थमाह”–ता० टि०। ३ अव्यपदेश्यमव्यपदेश्यम् न कथनीयमित्यर्थः।

नित्यत्वोपपत्तेः । निरूपितञ्चैतत्[1] 'कारणस्य' इत्यादिना । नापीन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षः ; प्रमाणाभावात् । [2]व्यवधाने सत्यग्रहणं दृश्यते, तत्र यदि सन्निकर्षनिरपेक्षमेवेन्द्रियज्ञानं व्यवधानेऽपि स्यात , न चैवम् , अतोऽस्ति सन्निकर्षस्तयोः यदभावाद्व्यवधाने सति नार्थज्ञानमैन्द्रियमित्यनुमानतस्तत्प्रतिपत्तेः कथं प्रमाणाभाव इति चेत् ? कोऽसौ सन्निकर्षो नाम यस्य ततः प्रतिपत्तिः ? प्राप्तिविशेष इति चेत् ; तस्यापि प्राप्तिमतो व्यतिरेके तेन तयोस्तदपरस्तद्विशेषो वक्तव्यः ? तदभावे तत्सहायतया प्रत्यक्षज्ञानहेतुत्वानुपपत्तेः । अपरतद्विशेषस्यापि ततो व्यतिरेके तत एव पुनरपरस्तद्विशेषो वक्तव्य इत्यपर्यन्तास्तद्विशेषाः प्रसज्येरन् । न च तेषां प्रमाणतः प्रतिपत्तिः । अथ पर्यन्ते कश्चिदव्यतिरिक्त एव तद्विशेषो भवति योग्यतारूपस्तद्यमदोष इति ; तन्न ; प्रथमत एव तदभ्युपगमप्रसङ्गात । प्रथमतस्तादृशस्य तद्विशेषस्य न प्रतिपत्तिरिति चेत् ; पश्चात् कुतः प्रतिपत्तिः ? प्रागुक्तान्लिङ्गादेवेति चेत् ; न ; तस्य प्रागप्यविशेषात् । भवतु तद्रूप एव प्रागपि तद्विशेष इति चेत ; न तर्हि नयनघटयोः संयोगः श्रवणशब्दयोर्वा समवायो व्यतिरिक्तः, तदभावे च न तत्समुदायरूपसंयुक्तसमवायादिरपीति न युक्तं षोढात्वव्यावर्णनं सन्निकर्षस्य ।

योग्यतैव यदि प्राप्तिर्गोलकादेव तादृगात् ।
रूपज्ञप्तेर्वृथा चक्षुरश्मीनां परिकल्पनम् ॥ १२१५ ॥

तत [3]इन्द्रियेत्याद्यपि विरुध्यते ।

न वा विरुध्यताम , तथापि ज्ञानमिति विशेष्यं पदं विरुध्यते; विनापि तेन ज्ञानस्यैव प्रतिपत्तेः, तदन्यस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षादनुत्पत्तेः । सुखादिरपि तत एवोत्पद्यत इति चेत्; न; [4]तस्यापि ज्ञानत्वात् । विषयपरिच्छित्तिरूपमेव ज्ञानम् "अर्थग्रहणं बुद्धिः" [न्यायभा० ३।२।४६] इति वचनात । न च सुखादिस्तत्परिच्छित्तिरूपः, आह्लादादिरूपतयैव प्रतिभासनादिति चेत् ; न , अज्ञानत्वे स्वतःप्रतिभासाभावप्रसङ्गात् । प्रतिभासोऽपि तस्य परत एव घटादिवत् , 'सुखादिः प्रतिभासते' इति प्रतिभाससामानाधिकरण्यं तु प्रतिभासाभेदोपचारादेव 'घटः प्रतिभासते' इतिवत् न वस्तुतः प्रतिभासरूपत्वादिति चेत् ; किमिदानीं तस्य वस्तुसद्रूपम् ? आह्लादादित्वमिति चेत् ; न ; तस्य [5]सामान्यरूपत्वात् । तद्रूप एव सुखादिरपीति चेत् ; यदि मुख्यतः ; न तर्हि तस्य तत्सन्निकर्षादुत्पत्तिः नित्यत्वात् । उपचारतश्चेत् ; कथं वस्तुतस्तस्य तद्रूपत्वम् ? उपचरितस्य वस्तुसत्त्वानुपपत्तेः । कुतश्चोपचारः ? सम्बन्धात् ; [6]सम्बद्धो हि सुखादिराह्लादादित्वेन [7]ताद्रूप्यतयोपकल्प्यत इति चेत् ; न; स्वयमनिर्धारितासाधारणरूपत्वे सम्बन्धस्यैव दुरवगमत्वात् । न हि

---

१ श्लो० १०६ । "कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्योपरमः कथम्" –ता० टि० । २ "न च व्यवहितार्थोपलब्धिरस्ति तस्मान्न प्राप्यकारीति ।"–न्यायवा० पृ० ३५ । न्यायकुमु० पृ० २८ टि० १२ । पृ० ७७ टि०२ । ३ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यादि प्रागुक्तं सूत्रम्"–ता० टि० । ४ सुखादेः । ५ जात्यात्मकत्वात् । ६ सम्बन्धो हि सुखादेरा –ता० । ७ तद्रूपतया आ०, ब०, प० ।

किञ्चिदियम्भावानवधारितं केनचित्सम्पन्नमिति शक्यमध्यवसातुम् । तत्रोपचारतोऽपि तस्य तद्रूपत्वमिति कथमिन्द्रियसन्निहितादर्थाद्व्योमकुसुमस्येवोत्पत्तिः ? भवन्ती[1] चेयं कुतोऽवगन्तव्या ? न तावत् स्वत एव, अनुपलब्धत्वात् । नान्यतोऽपि सुखादिसन्निकर्षात् संयुक्तसमवायादुत्पन्नात्; तत्र सुखादेरेव ग्रहणात् । नाप्यर्थसन्निकर्षात्, संयोगादेरुपजातेन तेनाप्यर्थस्यैव चन्दनवनितादेः परिज्ञानात् । न चोभयोरेकज्ञानाविषयत्वे तयोः कार्यकारणभावो निर्णयविषयतां नेतुं पार्यते । पार्यत एव तदुभयज्ञानजन्मना सङ्कलनेनेति चेत्, तस्य प्रत्यक्षत्वे तदिन्द्रियं वक्तव्यं यतस्तस्योत्पत्तिः ? मन एवेति चेत्, कस्तस्यार्थेन सन्निकर्षः ? संयुक्तसंयोगादिरिति चेत्, न, तस्य सन्निकर्षनियमं व्यवस्थापयता विद्वद्रूपेण प्रतिक्षेपात् । नयनादिकमेवेति चेत्, न, तस्य सुखविषयत्वासम्भवात्, सुखादेर्घटादिवत् प्रेक्षितप्रत्यन्तरप्रत्यक्षविषयत्वापत्तेश्च । तन्न तत्प्रत्यक्षम् । नाप्यनुमानम्, लिङ्गाभावात् । तद्भावभावित्वं लिङ्गमिति चेत्, न, तस्यापि सुखादिबहिरर्थयोरेकज्ञानाविषयत्वे दुरवगमत्वादित्युक्तत्वात् । न चैतदुपमानं शाब्दं वा सादृश्यशब्दानपेक्षणात् । न चाप्रमाणतस्तदवगमः । तन्न तस्य तस्मादुत्पत्तिः, इत्ययुक्तं तदवच्छेदेनाप ज्ञानग्रहणम् । तन्नावयवशो विचार्यमाणमिदमविरुद्धम् । नापि समुदितम्, असम्भवदोषात् । न हि परपरिकल्पितमस्वसंवेदनं ज्ञानं सम्भवति, "विमुग्ध" इत्यादिना तस्य [निराकरणात्] ।

अव्यापकत्वाच्च, अव्यापकं हीदं लक्षणं सुखादिप्रत्यक्षेण । तदपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षत्वात् नीलादिप्रत्यक्षवत्, ततः कथमव्याप्तिरिति चेत् ? उच्यते—सतो यदि सुखादिरव्यतिरिक्तः, न तस्येन्द्रियसन्निकर्षः, भेदभावे तस्याप्यभावात् । 'तद्भावेऽपि न किञ्चिच्चेत्', तस्य प्रत्यक्षार्थत्वात्, तस्य च निष्पन्नत्वात् । व्यतिरिक्तश्चेत्, न, प्रमाणाभावात् । 'सुखादिस्तत्प्रत्यक्षात् व्यतिरिक्तः तद्विषयत्वात् कलशादिवत्' इत्यनुमानं प्रमाणमिति चेत्, न, 'अनुष्णो दहनो द्रव्यत्वाज्जलवत्' इत्यस्यापि प्रमाणत्वापत्तेः । पक्षस्योष्णत्वप्रत्यक्षेण बाधनाद्धेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वात् नेति चेत्, प्रकृतस्यापि न भवेत् सुखादेस्तदव्यतिरेकस्यापि स्वत एवावभासनात् । व्यतिरिक्तश्च ततः पूर्वं यद्यननुभव एवास्ते ततोऽपि पूर्वं तथैवास्त इति नित्य एवायमतः कथं चन्दनवनितादेरुत्पद्येत ? यदि पुनस्तत्रापि तस्यानुभवो न तर्हि तस्य तस्मादिन्द्रियसन्निहितादुत्पत्तिः सहैव तेनोत्पत्तेरिति कथं न लक्षणस्याव्याप्तिः ?

तथा चक्षुषानेनापि, न हि चक्षुषोऽपि घटादिसन्निकर्षः प्रमाणाभावात् । 'चक्षुर्घटादिकं प्राप्तं प्रकाशयति बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्', इत्यनुमानमत्र प्रमाणमिति चेत्, न;

१ भवति चेयं आ०, ब०, प० । २ प्रतिपत्त्यन्तर– आ०, ब०, प० । ३ श्लो० १९ । ४ सुखादिप्रत्यक्षात् । ५ सन्निकर्षाभावे । ६ इन्द्रियसन्निकर्षाभावे सुखादिप्रत्यक्षसद्भावेऽपि । ७ सन्निकर्षेण । ८ प्रत्यक्षत एव । ९ "चक्षुःश्रोत्रे प्राप्यार्थं परिच्छिन्दाते बाह्येन्द्रियत्वात्त्वगिन्द्रियवत् ।"–न्यायवा० ता० पृ० ७३ । न्यायकुमु० पृ० ७५ टि० २ ।

तैमिरविषयस्य केशमशकादेरप्रकाशनप्रसङ्गात्। न हि तस्य चक्षुषा प्राप्तिः, अविद्यमानत्वाद्व्योमकुसुमादिवत्। प्राप्त एवाक्षिपक्ष्मादिस्तेन तथा प्रकाश्यत इति चेत्; न; तत्रैव तस्य तत्प्रकाशनापत्तेः न दूरपुरोवर्तिन्याकाशे। न हि चन्द्रमसः प्राप्तादन्यत्र तद्द्वित्वप्रकाशनम्। यदि च पक्ष्मादेः प्राप्तिर्भवतु तस्य प्रकाशनं कथं केशादेः? सोऽपि तस्यैव स्वभाव इति चेत्; कथं तत्प्रकाशस्य मिथ्यात्वम्? अविद्यमानत्वादिति चेत्; कथमविद्यमानस्तत्स्वभावो व्याघातात्? अविद्यमानस्याप्राप्तस्यापि प्रकाशनमिति चेत्; विद्यमानस्यापि स्यादविशेषात्। विद्यमानं सर्वमपि किन्न प्रकाश्यत इति चेत्? इतरदपि किन्न? योग्यतानियमादिन्द्रियस्येति समानमन्यत्रापि। तन्न तस्य घटादिना सन्निकर्षः संयोगः तत एव न तद्गतेन रूपादिना संयुक्तसमवायो न रूपत्वादिना संयुक्तसमवेतसमवायो न समवायाभावाभ्यां सम्बद्धविशेषणभाव इति सुश्लिष्टं चक्षुर्ज्ञानेनाव्यापकत्वं लक्षणस्य।

यदपि मतं नेदं प्रत्यक्षस्य लक्षणम्, अपि तु तत्फलस्य प्रत्यक्षं प्रत्यक्षफलमिति व्याख्यानादिति; तदपि न सम्यङ् मतम्; तत्राप्युक्तदोषाणामनपवर्तनात्। कुतश्चेदमेव न प्रत्यक्षम्? विषयाधिगमस्यानुपजननादिति चेत्; न; अव्यतिरिक्तस्योपजननात्। अव्यतिरिक्तं हेतुरेव फलमेव वा स्यान्नोभयमिति चेत्, न; पूर्वापरतया व्यतिरेकस्यापि भावात्। पौर्वापर्येणापि कथमेकस्य द्वैरूप्यमिति चेत्? अपौर्वापर्येण कथम्? तथापि माभूदिति चेत्; नेदानीं सामान्यविशेषाकाराभ्यां निर्णयेतरस्वभावं संशयज्ञानम्, अव्यभिचारीतरात्मकं विपर्ययज्ञानं वेति किं तद्व्यवच्छेदाय व्यवसायात्मकमव्यभिचारीतिवचनेन? [7]यौगपद्येन द्वैरूप्यस्याविरोधे क्रमेण किमपराद्धं यतस्तेनापि तदविरुद्धन्न भवेत्? क्षणिकत्वात् ज्ञानस्येति चेत्; न; अहमेव नीलं दृष्ट्वा पीतं पश्यामीत्यनुगतरूपस्यापि तस्य सङ्कलनात्। आत्मन एवेदं सङ्कलनं न ज्ञानस्येति चेत्; न; ज्ञानादन्यस्य तस्य तत्रानवभासनात् व्यपदेशवत्, अन्यथा व्यपदेशस्यापि तत्र सर्वत्राभावसनमिति निष्फलमव्यपदेश्यमिति विशेषणमसम्भवात्। अपरिज्ञातशब्दार्थसम्बन्धस्याव्यपदेश्यमेव प्रत्यक्षमिति चेत्; अगृहीतभवत्सङ्केतस्याव्यतिरिक्तात्मविषयमेव प्रकृतमुपसङ्कलनमिति समानमुत्पश्यामः। यदि तदेवानुगमरूपं किन्तत्रेन्द्रियव्यापारेणेति चेत्? न; तेन तदात्मन एव विषयविशेषाधिगमस्य तत्रोपस्थापनात्। तन्नेदमेकान्ततः [10]फलमेव प्रत्यक्षस्य, प्रत्यक्षत्वस्यापि भावात्। किञ्चेदानीं प्रत्यक्षम्? यत [11]इदमुत्पद्यते तदिति चेत्; तदपि यदीदृशम्[12]; नेदं तत्फलं परिकल्पयितव्यम्, उक्तन्यायेन प्रत्यक्षत्ववत्तस्यैव फलत्वस्याप्युपपत्तेः। भवतु अन्यादृशमप्यचेतनमिन्द्रियालोकादि, चेतनमपि

१ चक्षुषा। २ केशादिरूपेण। ३ पक्ष्मादेः। ४ एव तद्ग-ता०। ५ सम्बन्धविशेषणभावेनेति आ०, ब०, प०। ६ "फलविशेषणपक्षमेव सम्मन्यामहे। तत्र च यद्वैयधिकरण्यं चोदितं तद्यत शब्दाध्याहारेण परिहरिष्यामः यत एवं यद्विशेषणविशिष्टं ज्ञानाख्यं फलं भवति तत्प्रत्यक्षमिति सूत्रार्थः।"-न्यायमं० पृ० ६१। न्यायवा० ता० पृ० १०८। ७ यौगपद्ये द्वै-आ०, ब०, प०। ८ आत्मन.। ९ सङ्कलने। १० फलत्वमेव आ०, ब०, प०। ११ ज्ञानम्। १२ ज्ञानात्मकम्।

संशयस्मरणादिकमिति चेत्, न, तत्रोपचारतो मुख्यतश्च प्रामाण्यस्यैव प्रतिक्षिप्तत्वात्। न चाप्रमाणं प्रत्यक्षं तस्य तद्विशेषत्वात्। तन्न नैयायिकस्य प्रत्यक्षलक्षणमुपपन्नम्।

यत्पुनरिदं मीमांसकस्य–"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म प्रत्यक्षम्।" [जै० सू० १।१।४] इति, तदप्येतेन प्रत्युक्तम्, सम्प्रयोगस्य संनिकर्षपर्यायत्वे नैयायिकवद्दोषात्। यच्चेदं तस्यानुमानम्–प्राप्यकारि चक्षुरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवदिति, तत्र किमिदं चक्षुर्नाम? गोलक एवेति चेत्, न, तत्राप्राप्यकारित्वस्यैव प्रतीतेः। तन्निर्गतो रश्मिप्रसर इति चेत्, तस्यापि किमिदं प्राप्यकारित्वम्? प्राप्य संनिपत्य विषयं तज्ज्ञानजननमिति चेत्, क्व तज्जननम्? आत्मनीति चेत्, न, तत्रापि संनिकर्षगते तदप्रतीतेः। न हि विषयसंनिकर्षसंनिहिते आत्मनि ज्ञानमिति कस्यचिदपि प्रतिपत्तिः। तथापि तत्कल्पनायां तत्त्वापित्वकल्पनमपि स्यात्, अविशेषात्। नचासंनिकर्षे दूरग्रहणम्, तस्य संनिहितत्वेन तदपेक्षया तदसम्भवात्। असंनिहिताधिष्ठानाऽपेक्षया तत्सम्भव इति चेत्, किमेतदधिष्ठानम्? गोलकरूपं शरीरमिति चेत्, न, तस्यापरिज्ञानात्। यदि हि तदपि परिज्ञायेत भवेदितो दूरं नगरमिति प्रतिपत्तिर्नान्यथा। न च तस्यै नगरज्ञानेन परिज्ञानम्, असन्निकर्षात्। असन्निकृष्टस्यापि ग्रहणे नगरेऽपि सन्निकर्षवैयर्थ्योपनिपातात्। न च यावन्न तेन तज्ज्ञानं तावत्तदपेक्षया नगरदूरत्वस्य ततः प्रतिपत्तिः। तन्न अधिष्ठानापेक्षयापि तत्सम्भव इत्ययुक्तमुक्तम्—

"विच्छिन्न इति बुद्धिः स्यादधिष्ठानमपेक्ष्य च।"

[मी० श्लो० १।१।४ श्लो० ५७।] इति।

भवतु शरीरगत एवात्मनि तज्जननम्, दूरादिप्रतिपत्तेरपि तदपेक्षयैव भावादिति चेत्, कथमिन्द्रियाप्रमार्गसंनिकर्षाद् दूरवर्तिनस्तन्मूलगते तत्र तज्जननम् इन्द्रियान्तरेष्वेवमदर्शनात्? तत्राऽदृष्टस्यापि चक्षुषि कल्पनायां परमप्राप्यकारित्वमेव कल्पयितव्यम्। तत्र रश्मिप्रसरेण बहिर्वर्त्यपरनाम्ना प्रयोजनम्, तत्येव प्राप्यकारित्वे तत्साफल्यात्।

कथञ्च तस्य चक्षुष्ट्वम्? कथञ्च न स्यात्? गोलकस्यैव तत्त्वात्। तदपि चक्षुरुपकाराय तत्रैव चिकित्साविधानात्। न हि तदुपकारायान्यत्र तद्विधानमुपपन्नम्, अतिप्रसङ्गात्। अनैकान्तिको हेतुः–तदर्थस्य पादयोरपि तद्विधानस्योपलम्भादिति चेत्, न, पादमार्गेण तत्रत्यस्यैव सामर्थ्यात्। अत्रापि गोलकमार्गेण रश्मिप्रसरगतस्यैव तस्य तदर्थमिति चेत्, न, अञ्जनादिरूपस्य तद्विधानस्य बहिःप्रसरतोऽनुपलम्भात्। अन्तःप्रसङ्गो घृतादिरूपस्यापि तद्विधानस्यानुपलम्भ एवेति चेत्, सत्यम्, स तु शरीरबहिर्भागेन व्यवधानात्। न चैवमत्र केनचिद् व्यवधानम्, अत उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याभावादेवानुपलम्भो

१ "सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः। प्रयोग इन्द्रियाणाञ्च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते॥"–मी०श्लो० १।१।४ श्लो० ३८। २ "तयोश्च प्राप्यकारित्वमिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्।"–मी०श्लो० १।१।४ श्लो०। ४४। ३ संनिहितत्वमपि आ०, ब०, प०। ४ आत्मनो व्यापकत्वे। ५ गोलकस्य। ६ नगरज्ञानेन। ७ –भावत आ०, ब०, प०। ८ रश्मिप्रसरस्य। ९ चक्षुष्ट्वम् आ०, ब०, प०। १० गोलकमपि।

घटादिवत्। ततो गोलकमेव चक्षुः, तच्च शरीर एव वृत्तिमत् न बहिरिति प्रतिषिद्धमेतत्–

"केचित्तस्य शरीराच्च बहिर्वृत्तिं प्रचक्षते।
चिकित्सादिप्रयोगश्च योऽधिष्ठाने प्रयुज्यते॥
सोऽपि तस्यैव संस्कार आधेयस्योपकारकः।
तद्देशश्चापि संस्कारः सर्वव्याप्त्यर्थं इष्यते॥
चक्षुराद्युपकारश्च पादादावपि दृश्यते।
तस्मान्नैकान्ततः शक्यं संस्कारात्तत्र वर्तनम्॥"।

[मी० श्लो० १।१।४। श्लो० ४४–४६] इति।

यत्पुनः पक्षान्तरम्–इन्द्रियाणामर्थे व्यापारः तत्प्रगुणतयाऽवस्थानं वा कार्यविशेषा शक्तिर्वा सम्प्रयोग इति, तदपि न सारम्; सत्यार्थस्य स्वप्नज्ञानस्य तदभावेऽपि भावेन लक्षणस्याव्याप्तिदोषात्। न हि तत्र सम्प्रयोगः, पिण्डीपिहितलोचनस्यापि तद्भावात्। अस्त्येव शक्तिलक्षण इति चेत्; न; तस्यापि विस्फारित एव अक्षणिक स (अक्षणि स) म्भवात्[3] न पिहिते अतिप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षमेव तत्र भवतीति चेत्; किमिदानीं भवेन्नाम प्रमाणं सत्यार्थत्वात्? नानुमानाद्यन्यतमम्, तल्लक्षणाऽनन्वयात्। सप्तमन्तु प्रमाणमनिष्टमापद्यते। ततः प्रत्यक्षमेव तदभ्युपगन्तव्यं निर्बाधस्पष्टनिर्भासत्वात् जाग्रत्प्रत्यक्षवत्, लोकप्रसिद्धत्वाच्च। तत्र तद्विद्यमानोपलम्भनमेव अविद्यमानोपलम्भनस्यापि तस्य बहुलमुपलम्भात्। तत्कथं तस्य धर्मे प्रत्यनिमित्तत्वम्, यतस्तत्र चोदनैव प्रमाणमवसीयते? नन्वेवं लोक एवाविद्यमानोपलम्भनस्यासत्सम्प्रयोगजस्य च तत्प्रत्यक्षस्य सम्भवे योगिप्रत्यक्षमपि तादृशमर्थासि (मर्थात् सि) ध्यतीत्यपबद्धमेतत्—

"न लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्षं योगिनामपि।
प्रत्यक्षत्वेन तस्यापि विद्यमानोपलम्भनम्॥
सत्सम्प्रयोगजत्वञ्चाऽप्यर्वाक्प्रत्यक्षवद् भवेत्॥"

[मी० श्लो० १।१।४, श्लो० २८-२९]

इति चेत्; सत्यम्; अस्त्ययमपि परस्य दोषः। तन्नैवमपि प्रत्यक्षं शक्यलक्षणम्।

पुनरपि नैयायिकस्य विरुद्धं दर्शयति–

नित्यः सर्वगतो ज्ञः सन् कस्यचित्समवायतः॥१७०॥
ज्ञाता द्रव्यादिकार्थस्य [नेश्वरज्ञानसंग्रहः।] इति।

---

१ "यदि वार्जवस्थानं सम्प्रयोगोऽत्र वर्ण्यते। योग्यतालक्षणो वान्यः संयोगः कार्यलक्षितः॥" –मी० श्लो० १।१।४, श्लो० ४२। २ नेत्रे। ३ –म्भावात् न बहिरेति प्र०–आ० ब०, प०। ४ प्रत्यक्षम्। ५ धर्मे। ६ –लम्भस्यास –आ०, ब०, प०। ७ –मर्थो सि आ०, ब०, प०।–मर्थो मि –ता०। वारङ्गमठीयताडपत्रे –मर्थो मि। ८ –त्यपबद्ध–बा०, ता०। ९ –कस्यार्थेति आ०, ब०, प०।

नित्योऽप्यचेतनादिस्वभाव आत्मा **सन्** विद्यमानो **विरुध्यत** इति सम्बन्धः । तस्याकिञ्चित्करत्वेन व्योमकुसुमादविशेषादिति प्रतिपादनात् । अत एव **सर्वगतः** सर्वमूर्तैः सम्बद्ध इति । **ज्ञो** ज्ञातेति च विरुध्यते अमतस्तदुभयाऽसम्भवात् । कुतश्च तस्य ज्ञत्वम् ? स्वत एवेति चेत् न ज्ञानकल्पनावैफल्यात् । ज्ञानसम्बन्धादिति चेत् , न , तत्सम्बन्धादपि ज्ञानवानित्येव स्यात् न ज्ञ इति । ज्ञशब्दादपि तद्रूपत्वं प्रतीयत इति चेत , न , ताद्रूप्यस्य प्रतीतेः । अन्यथा न किञ्चिदतः प्रतीयेत । ताद्रूप्यमपि तत्सम्बन्धादेव प्रतीयत इति चेत् , कुतो न देवदत्ते दाण्डरूप्यप्रतिपत्तिः ? समवायस्यैव तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वात् न संयोगस्येति चेत् , मिथ्यैव तर्हि तत्प्रतिपत्ति , अतद्रूपे ताद्रूप्यग्रहणात् । तथा च कथं ततः आत्मतत्त्वप्रतिपत्तिः ? आत्मन्यमिथ्यात्वादिति चेत् किं पुनरेकमेव ज्ञानं मिथ्या चामिथ्या च ? तथा चेत , न , क्रमेणाप्यपरापरस्वभावस्य तथाऽऽपत्तेः[1] । एवञ्च सर्वैर्यान्वितरूपे [2]शास्त्रप्रयोजनपरिनिष्ठानाम् व्यर्थमात्मा तत्परिकल्पनम् विभिन्नज्ञानकल्पनं च स्वत एव ज्ञत्वात् । विभिन्नज्ञानसमवायाच्च ज्ञत्वे गगनादावपि प्रसङ्गः तत्रापि तदविशेषात् । तन्न समवायेन किञ्चित् । नापि ततो ज्ञत्वमात्मनस्तदाह-**कस्यचित्** अर्थान्तरज्ञानस्य **समवायतः** इति विरुध्यते , स्वत एवात्मनो ज्ञत्वेन तद्वैयर्थ्यात् । ततश्च '**इच्छादिकस्यार्थस्य ज्ञाता**' इत्यपि विरुध्यतेऽतिप्रसङ्गात् । ततो न तादृशं विज्ञानं प्रत्यक्षं तत्फलं चोपपन्नमिति भावः ।

अव्यापकश्च प्रत्यक्षलक्षणं परस्य,तेनेश्वरज्ञानस्यासङ्ग्रहादित्याह-'**नेश्वरज्ञानसंग्रहः**।' इति । न हि तस्य[3] नित्यस्य इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं विरोधात् । अथ तन्न प्रत्यक्षमपि, किमिदानीं प्रमाणान्तरमिति चेत् , न , तस्यापि नित्यस्यासाधकतमत्वात् । नापि तत्[4] फलम् , अनुत्पत्तिमत्त्वात् । स्वविषयाव्यभिचारात् केवलं प्रमाणमेवेति चेत् , न , तस्य प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावे प्रमाणचतुष्टयनियमव्यापत्तेः । अन्तर्भावश्च प्रत्यक्ष एव नानुमानादौ , असन्नापविक्षेपापत्तेः ।

भवतु तदप्यनित्यमेवेति[5] केचित् , तन्न,तस्यापि स्वविषयत्वे तत्सन्निकर्षजत्वाभावात् । अस्वविषयत्वे सर्वविषयत्वायोगात् । अन्यस्य [6]तद्विषयत्वेऽनवस्थापत्ति , अन्यस्यापि तदन्यविषयत्वात् । अथ एकेन तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य अन्येन च तस्य ग्रहणाद्यमदोषो ज्ञानद्वयभावादीश्वरस्येति चेत् , न , एवमपि स्वसंवेदनस्यावश्यम्भावात् । न हि तदेकं ज्ञानं स्वरूपमप्रतियत् तद्व्यतिरिक्तसर्वान्तरगतस्वविषयज्ञानं प्रतिपत्तुमर्हति, विषयज्ञानस्य स्वविषयतया प्रतिपत्तेः स्वप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात् । यच्च ज्ञानद्वयकल्पनमर्थवत् । प्रतिक्षिप्तश्चाय पक्षः प्रागिति नेह प्रतन्यते । ततो नानित्यस्यापि तज्ज्ञानस्य तेन संग्रह इति लक्षणान्तरमेव तत्र

1 ताद्रूप्यविपर्यत । २ "ज्ञानाद्भिन्नो न नाऽभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथञ्चन । ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥"–ता० टि० । ३ ईश्वरज्ञानस्य । ४ ईश्वरज्ञानम् । ५–मानामविनेते–आ०, ब०, प०, भा०, ता० । ६–त्वेति चेत् आ०, ब०, प० । ७ स्वप्रकाशोत्पत्तेः । ८ ज्ञानान्तरपरिग्रहम ।

वक्तव्यमिति मन्यते । भवतापि कस्मादतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरं नोन्यत इति चेत् ? अत्राह—

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।
अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥१७१॥ इति ।

लक्षणं 'स्पष्टं प्रत्यक्षम्' इत्येतत् **समं** सदृशं त्रिष्वपि प्रत्यक्षेषु । कस्तर्हीन्द्रियादिप्रत्यक्षादतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य विशेष इति चेत् ? **एतावान् विशेषोऽशेषगोचरम्** । निःशेषद्रव्यपर्यायपरिच्छेदरूपम् अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् । क्रमेण तद्गोचरमितरदपि प्रत्यक्षमिति चेत्; आह– **'अक्रमम्'** इति । इन्द्रियायत्तत्वे कथमितरवत्तदप्यक्रमं तद्गोचरमिति चेत् ? आह— **करणातीतम्** । करणानीन्द्रियाण्यतीतमतिक्रान्तं निरपेक्षत्वात् । तस्यैव समर्थनम् **'अकलङ्कम्'** इति । अविद्यमानज्ञानावरणादिकल्मषमित्यर्थः । तथा हि—यज्ज्ञानं स्वविषये निरावरणं तदक्रममकरणञ्च तं प्रत्येति यथा सत्यस्वप्नज्ञानम्, तथा चातीन्द्रियप्रत्यक्षम् । निरावरणत्वं तस्योत्तरत्र समर्थनात् । अनावरणमपि नियतगोचरमेव तत् तत्स्वभाव्यादस्मदादिज्ञानवदिति चेत्; न; अस्मदादिज्ञानस्याप्यावरणवशादेव असर्वार्थत्वं न स्वाभाव्यादिति निरूपणात् । तत्केषां प्रत्यक्षम् ? इत्याह–**महीयसाम्** । अर्हतामिति[1] । भवतु तर्हि तत्सुगतस्यैव तत्रैव तल्लिङ्गस्य तत्त्वोपदेशस्य भावादिति चेत्; सत्यमिदं यदि तत्त्वोपदेश एव तत्र भवेत् । न चैवम् । अत एवाह–

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासि भावप्रवादं
चक्रे लोकानुरोधात्पुनरपि सफलं नेति तत्त्वं प्रपेदे ।
न ज्ञाता तस्य तस्मिन्न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चि-
दित्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥१७२॥ इति ।

ज्ञात्वेत्यनन्तरम् अपि चेत्येतद् द्रष्टव्यम् । तदयमर्थो **ज्ञात्वापि च** प्रतिपद्यापि च । किम् ? **विज्ञप्तिरेव** न बहिरर्थ इति । यदि वा, सैव सकलविकल्पमलविकला न भेदो नाम कश्चिदिति **तन्मात्रम्** । कीदृशम् ? **परं** प्रकृष्टं तस्यैव निःश्रेयसत्वेनोपगमात् । किं चकार ? **बहिर्भासिभावो**[2] बहिरर्थः तस्य **प्रवादं** तदस्तित्वोपदेशं **चक्रे** चकार । कुतः ? **लोकानुरोधात्** विनेयाभिरुचेः । ननु यदि बहिर्भावं न प्रतिपद्यते कथं तत्प्रवादकरणं सुपुप्तवत्? कथं वा विनेयानुरोधः ? तस्यापि विज्ञप्तिबहिर्भूतत्वेन तेनाप्रतिपत्तेरिति चेत्; न; एवमपि परस्यैव दोषात् । यदि विज्ञप्तिमात्रमेव ज्ञातं तदेवोपदेष्टव्यं सत्यत्वात् नापरं विपर्ययात् । संवृत्या तदपि तत्त्वमेवेति चेत्; न; विकल्पस्यैव संवृतित्वात् । तस्य चैकान्तवादे[3] निषिद्धत्वात् । तन्न संवृतिसत्योपाश्रयः तत्त्वोपदेशः सुगतस्योपपन्न इति चेत्;

१ –सां महतामि–आ०,ब०,प० । २ विज्ञप्तिबहिर्भूतमपि । ३ –वादिनि आ०, ब०,प० ।

सत्यम् । अत एवास्य ग्राम्यभाषित्वमाह–**इति** एवम्प्रायाम् **प्रलपति** बहुजल्पति । कः ? **व्याकुलात्मा** इति कर्तव्यबुद्धिविकलः आप्तः समागतः, बहिर्नैरात्म्येनोपगमात् । कथं प्रलपति इति ? **अश्लीलं** ग्राम्यम् । कुतस्तस्य व्याकुलत्वम् ? **जडधीर्यतः** । तत्त्वमपि कुतः ? **प्रमत्तो** दुर्वासनामदिरापरवशो यत इति ।

तर्हि विज्ञप्तिमात्रमेव तेन तत्त्वमुपदिष्टमस्तु "अद्वय ज्ञानमुत्तमम्" इति वचनादिति चेत्, न, तस्यापि चित्रैकरूपत्वे अनेकान्तवादप्रत्युज्जीवनात् । परस्परव्यावृत्तानेकनीलादिरूपत्वे च सन्तानभेदानिराकरणात् । न तत्राप्यसौ तिष्ठति अपि तु **पुनरपि** तत्क्षोदादूर्ध्वमपि **सकलं** चेतनमन्यच्च **तत्त्वं नेति प्रपेदे** भगवान् । तदेव तर्हि तत्त्व तेनोपदिश्यतामिति चेत्, न, तत्राप्यश्लीलमित्यादेर्दोषात् । कुत एतत् ? न **ज्ञाता तस्य** सर्वाभावस्य यत इति । न हि सर्वाभावे तज्ज्ञानमपि विरोधात् । तत एव न तत्फलस्यापि परिज्ञानम्, इत्याह–**तस्मिन्** सर्वाभावे न च नैव फलं तत्साध्यम् **अपरम्** अर्थान्तरम् अन्यस्य तत्फलस्यानुपपत्तेः, **ज्ञायते** ज्ञानस्यैव तदा अनुपपत्तेः । तत्र तदभावतत्त्वमपि शक्योपदेशं न च फलमपि तस्य सम्भवतीत्याह–**नापि किञ्चन** । फलमिति सम्बन्धः । दुःखोपशमनादेस्तदाऽपि स्वत एवाभावादिति देवस्याभिप्रायः ।

प्रस्याद्वादमतिसागराम्बुनिपतेः श्रीहेमसेनादपि
व्यक्तं सन्मनसो मनीषिहृदय विद्यारयापाल्यः ।
तस्य न्यायविनिश्चयस्य विवृतः प्रस्ताव आद्यो मया
प्रत्यक्षप्रतिपत्तये वितरतु श्रेयांसि भूयांसि नः ॥

इत्याचार्यस्याद्वादविद्यापतिविरचिते न्यायविनिश्चयकारिकाविवरणे प्रत्यक्षप्रस्तावः प्रथमः ।

---

१ –मुत्तमम् आ०, ब०, प० । "तथा चोक्तम्–अद्वयं ज्ञानमुत्तमम्"–प्र० वार्तिकाल० १,० । २ विज्ञप्तिमात्रेऽपि । ३ सर्वाभाववादे ।

शुद्धयः

पृ०	पं०	अशुद्धयः	शुद्धयः
८	८	सिद्ध्येति	सिद्ध्ये इति
१२	२७	इद	इदं
१५	१४, २०	प्र० वा०	प्र० वार्तिकाल०
२७	१०	सवार्थमेव	सर्वार्थमेव
२७	१२	अत्मना	आत्मना
२८	४	पदाथतत्त्व	पदार्थतत्त्व
४०	१०	विरोवेन	विरोधेन
५७	२१	शब्दतादितरत्वेन	शब्दताद्वितत्वेन
७६	१६	तत्प्रमाण्य	तत्प्रामाण्य
९७	१२	सत्ययस्वप्नादि	सत्यस्वप्नादि
१०२	२३	सर्वग्रभावा–	सर्वग्राभावा–
१०४	१०	कल्पनाया	कल्पनया
११३	२६	स्वंपूर्वार्था	–स्वपूर्वार्था
१५७	२९	–रुत्पनव	–रुत्पानव
२१०	१५	सम्त्रोघन	सम्बोधन
२४६	७	सुरवदिक	सुखादिक
२५२	१	गत्तः	गर्त्तः
२५७	५	नातोऽथः	नातोऽर्थः
२६०	२१	प्रतीतः	प्रतीति.
२६१	२०	निर्विपत्वन्नाम	निर्विषयत्वन्नाम
२६४	१७	ग्राह्यकता	ग्राहकता
३२१	२७	जना सक्ता	जनाः सक्ता
३२४	१५	धीनुरमा	धीरनुमा
३२९	१४	विशेपाश्चेन्	विशेषाच्चेत्
३७३	१४	स्वतः	स्वतः
३९४	१६	प्रतिक्षेपाय	प्रतिक्षेपाय

प्रस्तावना

१६	२६	निश्चत	निश्चित
१६	३९	धृष्टि	दृष्टि
१६	३३	द्योसन	द्योतक
१८	५	अनन्य	अनन्त
२४	८	शाश्वत दोनों	शाश्वत और अशाश्वत दोनों